अध्याय पृष्ठ

रामोपाख्यानपर्व

पतिव्रतामाहात्म्य पर्व

कृते प्राप्ते क्रियावांश्च जनस्तथा ॥ ७ ॥आरामाश्चैव चैत्याश्च तडागावसथास्तथा । पुष्करिण्यश्च विविधा देवतायतनानि च ॥ ८ ॥ यज्ञक्रियाश्च विविधा भविष्यन्ति कृते युगे । ब्राह्मणाः साधवश्चैव मुनयश्च तपस्विनः ॥ ९ ॥ आश्रमाः सह पाषण्डाः स्थिताः सत्यजनाः प्रजाः । प्रयन्ति सर्ववीजानि रोप्यमाणानि चैव ह ॥ १० ॥ सर्वेष्वृतुषु राजेन्द्र सर्वं सस्यं भविष्यति । नरा दानेषु निरता व्रतेषु नियमेषु च ॥ ११ ॥ जप्ययज्ञपरा विप्रा धर्म्मकामा मुदा युताः । पालयिष्यन्ति राजानो धर्म्मेणेमां वसुन्धराम् ॥ १२ ॥ व्यवहाररता वैश्या भविष्यन्ति कृते युगे । षट्कर्मनिरता विप्राः क्षत्रिया विक्रमे रताः ॥ १३ ॥ शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च। एष धर्म्मः कृतयुगे त्रेतायां द्वापरे तथा ॥ १४ ॥पश्चिमे

की वेदविहित क्रियाएं करेंगे वगीचे, मंदिर, सरोवर, धर्मशालाएं, नानाप्रकारकी सरसियें, देवालय तथा अनेकों यज्ञ क्रियाएं भी देशमें होने लगेंगी महात्मा ब्राह्मण और तपस्वी मुनि सत्यका आश्रय लेंगे ॥ ७-९ ॥ तथा पहिले जो आश्रम पाखण्डी थे वे फिर सत्यधर्मका आश्रय लेंगे और प्रजा भी सत्यवादी होगी, करे हुए कर्मोंके वीज दृढ़ होजाने पर भी ज्ञानवलसे उनका नाश होगा अथवा जिन २ औषधियोंके वीज वोये जावेंगे वे २ फिर उगेंगे ॥१०॥ हे राजन् ! उस युगमें सव ऋतुओंमें सव प्रकारका धान्य होगा मनुष्य दान, व्रत और नियम पालनेमें तत्पर रहेंगे ॥ ११ ॥ और सत्ययुगमें ब्राह्मण धर्म साधन की इच्छासे, हर्षमें भरकर सदा गायत्री आदिका जप करेंगे, यज्ञकी क्रियाओंमें लगे रहेंगे और राजे धर्मानुसार पृथ्वी पालेंगे, वैश्य अपने व्यवहार में लगे रहेंगे, तैसे ही ब्राह्मण षट्कर्म में परायण रहेंगे, पराक्रम करनेमें परायण रहेंगे, तथा शूद्र तीनों वर्णोंकी लगे रहेंगे, सत्युगमें इस प्रकार धर्म चलता है, त्रेता, द्वापर

नृप ः। उवाच वचनं धीमान् परमं परमद्युतिः॥२१॥युधिष्ठिर उवाच। कस्मिन् धर्मे मया स्थेयं प्रजाः संरक्षता मुने। कथञ्च वर्त्तमानो वै न च्यवेयं स्वधर्म्मतः॥ २२॥ मार्कण्डेय उवाच। दयावान् सर्वभूतेषु हिते रक्तोऽनसूयकः। सत्यवादी मृदुर्दान्तः प्रजानां रक्षणे रतः २३ चर धर्म्मं त्यजाधर्मं पितॄन् देवांश्च पूजय। प्रमादाद्यत् कृतं तेऽभूत् सम्यग् दानेन तज्जय॥२४॥ अलन्ते मानमाश्रित्य सततं परवान् भव। विजित्य पृथिवीं सर्वां मोदमानः सुखी भव ॥२५॥ एष भूतो भविष्यश्च धर्मस्ते समुदीरितः। न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदतीतानागतं युधि ॥ २६ ॥ तस्मादिमं परिक्लेशं त्वं तात हृदि मा कृथाः प्राज्ञास्तात न मुह्यन्ति कालेनापि प्रपीडिताः ॥ २७ ॥ एष कालो महाबाहो अपि सर्वदिवौकसाम्। मुह्यन्ति हि प्रजास्तात कालेनापि प्रचोदिताः ॥ २८ ॥ मा च तत्र विशंका भूद्यन्मयोक्तं तवा-

---

युधिष्ठिरने बूझा कि—हे मुने! प्रजाकी रक्षा करते समय किस धर्मका वर्त्ताव करूँ और मैं कैसे व्यवहार करनेसे स्वधर्मसे भ्रष्ट नहीं होजाऊँगा यह मुझसे कहो?मार्कण्डेय बोले कि—हे राजन्! तुम सब प्राणियोंके ऊपर दया रक्खो प्राणियोंका हित करो उन से प्रेम रक्खो किसीसे डाह मत करो सत्य बोलो कोमलता रक्खो जितेन्द्रिय रहो प्रजाकी रक्षामें सावधान रहो धर्माचरण करो अधर्मका त्याग करो, पितर तथा देवताओंकी पूजा करो प्रमादसे जो कुछ उलटा काम होगया हो उसको दान आदिसे जीतो अभिमानको दूर करो सदा अपनेका पराधीन समझे रहो और सब पृथ्वीको जीतकर प्रसन्न हो सुख भोगो ये भूत तथा भविष्यकाल में करनेके धर्म तुम्हें बताए ॥ २१—२६ ॥ हे तात! पृथ्वी पर भूत तथा भविष्य वृत्तान्त कुछ भी तुम्हारा अनजाना नहीं है अतः तुम मनमें दुःख आदि क्लेशको स्थान मत दो ॥ २७॥ हे तात! बुद्धिमान् पुरुष कालसे पीडित होनेपर भी घबड़ाते नहीं हैं, हे महाभुज! ऐसा समय देवताओंको भी मोहित करदेता है॥२८॥

इति वनपर्व—उत्तरखण्डकी विषयसूची समाप्त

जनमेजय उवाच ॥ भूय एव ब्राह्मणानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि पांडवानां यथाचष्ट मार्कंडेयो महातपाः ॥ १ ॥ वैशम्पायन उवाच भूय एव ब्राह्मणमाहाभाग्यं वक्तुमर्हसीत्यब्रवीत् पांडवेयो मार्कंडेयम् अथाचष्ट मार्कंडेयोऽपूर्वमिदं श्रूयतां ब्राह्मणानां चरितम्॥२॥अयोध्यामिक्ष्वाकुकुलोद्वहः पार्थिवः। परीक्षिन्नाम मृगयामगमत् ॥३॥ तमेकाश्वेन मृगमनुसरन्तं मृगो दूरमपाहरत् ॥ ४ ॥ अध्वनि जातश्रमः क्षुत्तृष्णाभिभूतश्चैकस्मिन्देशे नीलं गहनं वनखंडमपश्यत् ॥ ५ ॥ तच्च विवेश ततस्तस्य वनखंडस्य मध्येऽतीव रमणीयं सरो दृष्ट्वा साश्व एव व्यगाहत ॥ ६ ॥ अथाश्वस्तःस बिसमृणालमश्वायाग्रतो निक्षिप्य पुष्करिणीतीरे संविवेश। ततः शयानो मधुरं गीतमशृणोत् ॥ ७॥स श्रुत्वाचिंतयन्नेह मनुष्यगतिं पश्यामि कस्य

वैशम्पायन कहते हैं कि—तिसके पीछे पाण्डुपुत्र धर्मराजने मार्कण्डेयजीसे कहा कि—हे महाराज! आप हमसे और भी ब्राह्मणोंका महाभाग्यशाली चरित्र कहो ॥ १ ॥ मार्कंडेय बोले कि—मैं तुमसे ब्राह्मणों का एक अपूर्व चरित्र कहता हूं उसे तुम सुनो ॥ २ ॥ अयोध्यापुरीमें इक्ष्वाकुवंशी परीक्षित नामक एक राजा राज्य करता था, वह एक समय घोड़े पर चढ़ मृगया के लिये गया ॥ ३ ॥ तहां एक मृगके पीछे दौड़ा उस समय वह मृग उस राजाको दूर तक खेंचकर लेगया ॥ ४ ॥ मार्गमें राजा को बड़ा परिश्रम हुआ तथा वह भूख और प्याससे व्याकुल होगया, तब उसने भटकते २ एक जगह एक वनका हरियाला भाग देखा ॥ ५ ॥ वह राजा उस वनमें पहुंचगया और उस वन के मध्यमें अत्यन्त रमणीय सरोवरको देखकर तहां घोड़े सहित विश्राम किया, उस सरोवरमें अपने आप नहाया और घोड़े को भी न्हिलाया॥ ६ ॥ फिर कमल और भसीड़ोंके टुकड़ोंको घोड़े के पास डालकर,सरोवरके किनारेपर विश्रामके लिये सोगया इतने में ही उसे मधुर संगीतकी ध्वनि सुनाई दी ॥ ७ ॥ उस संगीत

राजानं परिवार्यातिष्ठत् पर्याश्वस्तश्च राजा तयैव सह शिविकया प्रायादवघोटितया स स्वं नगरमनुप्राप्य रहसि तया सहास्ते॥१४॥ तत्राभ्याशस्थोऽपि कश्चिन्नापश्यदथ प्रधानामात्योऽभ्याशचरास्तस्य स्त्रियोऽपृच्छत्॥१५॥किमत्र प्रयोजनं वर्त्तते इत्यथाब्रुवंस्ता स्त्रियः॥ १६ ॥ अपूर्वमित्र पश्याम उदकं नात्र नीयत इत्यथामात्योनुदकं वनं कारयित्वोदारवृक्षं बहुपुष्पफलमूलं तस्य मध्ये मुक्ताजालमयीं पार्श्वे वापीं गूढां सुधासलिललिप्तां स रहस्युपगम्य राजानमब्रवीत् ॥१७॥ वनमिदमुदारमनुदकं साध्वत्र रम्यतामिति ॥ १८॥ स तस्य वचनात्तयैव सह देव्या तद्वनं प्राविशत् स कदाचित्तस्मिन् का

बैठेहुए राजाको घेरलिया राजाने भलीप्रकार विश्राम किया फिर उस स्त्रीके सहित,घोट कर साफ कीहुई चमकदार सुन्दर पालकी में बैठकर अपने नगरमें आया और उस स्त्रीके साथ एकान्तमें रहनेलगा ॥ १४ ॥ राजमहलमें रहनेवाले मनुष्योंमेंसे भी कोई उनके दर्शन नहीं करने पाता था इसके पीछे प्रधान मंत्रीने राजा के पास रहनेवाली स्त्रियोंसे बूझा कि–॥ १५ ॥ महाराजा कहां रहते हैं ? और इसप्रकार छिपे रहनेका क्या कारण है ? तब दासियें बोलीं कि—॥ १६ ॥ हम तो नयी ही बात देखरही हैं, राजाके पास पानी नहीं जाने पाता है क्योंकि–राजा एक नवीन रानीको लाये हैं, वह पानीको नहीं देखती है यह सुनकर कार्य कर्ताओंने एक जलरहित बगीचा तयार कराया और उसमें कंद तथा फलवाले बहुतसे वृक्ष लगवाकर उसके बीचमें एक अमृतकी समान मीठे जलसे भरीहुई बावड़ी बनवाई और उसके दोनों भाग मोतियोंकी जालीसे मढ़वा दिये तथा उसको भीतर चूनेसे पुतवादिया यह बावड़ी है इस बातको कोई न जानसके इसप्रकार वह बनाई थी फिर उन्होंने एकांतमें राजाके पास जाकर कहा कि–॥ १७ ॥ हे महाराज ! जलसे शून्य महाउदारभावोंसे भरपूर एक मनोहर वन तैयार है, आप उस वनमें पधारकर भलीप्रकार क्रीड़ा करिये ॥१८॥ राजा मंत्रीके वचन सुनकर उस नयी रानी

मार्कण्डेय उवाच ॥ ततश्चोरक्षयं कृत्वा द्विजेभ्यः पृथिवीमिमाम् वाजिमेधे महायज्ञे विधिवत् कल्पयिष्यति ॥ १ ॥ स्थापयित्वा च मर्यादाः स्वयम्भुविहिताः शुभाः । वनं पुण्ययशःकर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति ॥ २ ॥ तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः । विप्रैश्चोरक्षयेचैव कृते क्षेमं भविष्यति ॥ ३ ॥ कृष्णाजिनानि शक्तीश्च त्रिशूलान्यायुधानि च । स्थापयन् द्विजशार्दूलो देशेषु विजितेषु च ॥४॥ संस्तूयमानो विप्रेन्द्रैर्मानयानो द्विजोत्तमान् ॥ कल्की चरिष्यति महीं सदा दस्युवधे रतः ॥ ५ ॥ हा मातस्तात पुत्रेति तास्ता वाचः सुदारुणाः । विक्रोशमानान् सुभृषं दस्यून्नेष्यति संक्षयम् ॥ ६ ॥ ततोऽधर्मविनाशो वै धर्मवृद्धिश्च भारत । भविष्यति

युधिष्ठिर बोले कि—फिर भगवान् कल्कि चोरोंको नष्ट करके अश्वमेध नामक महायज्ञ करेंगे और शास्त्रमें कहे अनुसार यह सब पृथिवी ब्राह्मणोंको दान देंगे॥१॥ तथा ब्रह्माकी स्थापित की हुई शुभ मर्यादा को फिर स्थापित करके इस जगत्में पवित्र यश और कार्योंको अटलरूपसे स्थापित कर सुंदर वनोंमें चले जायंगे ॥ २ ॥ मनुष्य उनके श्रेष्ठ स्वभावके अनुसार वर्त्ताव करेंगे, ब्राह्मण चोरों का नाश करेंगे तब ही जगत्में कुशलक्षेम होगा ॥ ३ ॥ ब्राह्मणोंमें सिंहसमान बलवान् कल्कि भगवान् देशों को जीतकर अपने अधीन करेंगे और तिन देशोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंके कर्मोंको फिरसे स्थापित करेंगे, बड़े २ ब्राह्मणोंका सन्मान करेंगे, उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मण उनकी स्तुति करेंगे और भगवान् [illegible] सदा चोरोंके संहारमें प्रवृत्त होकर पृथ्वीपर विचरेंगे।४-[illegible] तब चोर हाय माता ! हाय पिता ! हाय पुत्र ! इस प्रकार दारुण वाणी में कहकर जोरसे रोने लगेंगे, परंतु कल्कि उनका संहार कर डालेंगे ।६। ऐसा करनेसे हे भरतवंशी राजन् ! अधर्मका नाश होगा, धर्मकी वृद्धि होने लगेगी, लोग श्रेष्ठ प्रकार

सहसा दीर्णा रणे वानरपुङ्गवाः ॥ ६ ॥ ततस्तान् सहसा दीर्णान् दृष्ट्वा वानरपुङ्गवान् । निर्ययौ कपिशार्दूलो हनूमान्मारुतात्मजः ७ तं दृष्ट्वावस्थितं संख्ये हरयः पवनात्मजम् । महत्या त्वरया राजन् संन्यवर्त्तन्त सर्वशः॥८॥ततः शब्दो महानासीत्तुमुलो लोमहर्षणः। रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥९॥ तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे घोरे रुधिरकर्दमे । धूम्राक्षः कपिसैन्यन्तद्द्रावयामास पत्रिभिः ॥ १० ॥ तं स रक्षो महामात्रमापतन्तं सपत्नजित् । प्रतिजग्राह हनुमांस्तरसा पवनात्मजः ॥ ११ ॥ तयोर्युद्धमभूद्घोरं हरिराक्षसवीरयोः । जिगीषतोर्युधान्योऽन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव ॥ १२॥ गदाभिः परिघैश्चैव राक्षसो जघ्निवान् कपिम् । कपिश्च जघ्निवान् रक्षः सस्कन्धविटपैर्द्रुमैः ॥ १३ ॥ ततस्तमतिकोपेन साश्वं सरथसार-

को देखते ही एकसाथ रणभूमिमेंस भागनेलगे ॥ ६ ॥ बड़े २ वानरोंको रणभूमिमेंसे एकसाथ भागतेहुए देखकर कपियोंमें सिंहसमान पवनकुमार हनुमान् रणभूमिमें लडनेको आये और पवनकुमारको संग्रामभूमिमें खड़े देखकर वनार चारों ओरसे बड़े वेगके साथ लौटे और रणभूमिमें आनेलगे ॥ ७ ॥ ८ ॥ फिर परस्पर जूझनेके लिये दौडतीहुई रामकी और रावणकी सेनाने रोमाञ्च खडे करनेवाला महाघोर शब्द किया ॥ ९ ॥ और दोनोंकी भयानक लडाई होनेलगी, उस संग्राममें लोहूकी कीच होगई इस युद्धमें राक्षसोंके बड़े अध्यक्ष धूम्राक्षने वानरोंकी सेनाके ऊपर टूटकर बाणोंके प्रहारोंसे उसको भगादिया ॥१०॥ राक्षसोंमें श्रेष्ठ धूम्राक्षको चढकर आया देखकर शत्रुओंको जीतनेवाले पवननन्दन हनुमान् बड़ेवेगसे उस राक्षसके सामने जूझनेको खड़े होगये ॥ ११ ॥ तब इन्द्र और प्रह्लाद जैसे परस्पर विजय पानेकी इच्छासे लड़े थे, तैसे ही वानर और राक्षस दोनो वीर भी विजयकी इच्छासे परस्पर जूझनेलगे ॥ १२ ॥ राक्षस गदा और परिघोंसे वानरको मारनेलगा और वानर शाखा डालों

विन्दत ॥ २ ॥ अपत्यार्थे परं यत्नमकरोच्च विशेषतः । सा ददर्शाथ मंजूपामुह्यमानां यदृच्छया ॥ ३ ॥ दत्तरक्षामतिसरामन्वालभत शोभनाम् । ऊर्मीतरङ्गैर्जाह्नव्याः समानीतामुपह्वरम् ॥ ४ ॥ सा तु कौतूहलात् प्राप्तां ग्राहयामास भाविनी । ततो निवेदयामास सूतस्याधिरथस्य वै ॥ ५ ॥ स तामुद्धृत्य मञ्जूपामुत्सार्य जलमंतिकात् । यंत्रैरुद्घाटयामास सोऽपश्यत्तत्र बालकम् ॥ ६ ॥ तरुणादित्यसंकाशं हेमवर्मधरं तथा । मृष्टकुंडलयुक्तेन वदनेन विराजता ॥ ७ ॥ स सूतो भार्यया सार्धं विस्मयोत्फुल्लोचनः । अङ्कमारो-

---

उसकी स्त्रीका नाम राधा था और वह महाभाग्यवती स्त्री, पृथ्वी पर अनुपम रूपवती थी, परन्तु उसके कोई पुत्र नहीं हुआ था ॥ २ ॥ इसकारण वह पुत्रके लिये निरन्तर अनेकों यत्न किया करती थी, उसने दैवयोगसे गङ्गानदीमें तैरती हुई वह पिटारी देखी ॥३॥ उस पिटारीकी रक्षाके लिये उसके चारों ओर दूबकी बनीहुई रस्सी लिपटरही थी और ऊपर रोलीके थापे लगरहे थे, इसकारण वह पिटारी बड़ी मनोहर दीखती थी, वह पिटारी तैरती २ गङ्गानदी की बडी २ तरङ्गोंकी टक्करोंसे किनारे पर आपहुंची, तब ॥ ४ ॥ सूतकी स्त्री राधाने किनारे पर आई हुई उस पिटारीको कुतूहलवश मनुष्योंसे रुकवाकर स्थिर कराया और फिर अपने पति अधिरथ सूतसे निवेदन किया ॥ ५ ॥ तब उसके पति अधिरथने अपने मनुष्योंको जलमें घुसाकर उस पिटारीको गङ्गामेंसे बाहर निकलवाया और दूर लिवाजाकर उसके मुखको औजारोंसे खुलवाया, तो उस पिटारीके भीतर देखा तो उसमें एक बालक दीखा ॥ ६ ॥ वह बालक तरुण सूर्यकी समान झमझमा रहा था, उसके शरीर पर सोनेका कवच था और उसका मुख दमकते हुए कुण्डलोंसे शोभा पारहा था ॥ ७ ॥ उस बालकको देखते ही दोनों स्त्री पुरुषोंके नेत्र हर्षसे खिल उठे, तदनन्तर सूत उस बालकको अपनी गोदीमें लेकर स्त्रीसे कहने

युगकाले च यः स ते संप्रकीर्त्तितः । सर्वलोकस्य विदिता युग-संख्या च पाण्डव ॥ १५ ॥ एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥ १६ ॥ एवं संसारमार्गा मे बहुशश्चिरजीविना । दृष्टाश्चैवानुभूताश्च तांस्ते कथितवाहनम् ॥ १७ ॥ इदञ्चैवापरं भूयः सह भ्रातृभिरच्युत । धर्म्मसंशयमोक्षार्थं निबोध वचनं मम ॥ १८ ॥ धर्मे त्वयात्मा संयोज्यो नित्यं धर्म्म-भृताम्वर । धर्मात्मा हि सुखं राजन् प्रेत्य चेह च विन्दिति ॥ १९ ॥ निबोध च शुभां वाणीं यां प्रवक्ष्यामि तेऽनघ । न ब्राह्मणे परिभवः कर्त्तव्यस्ते कदाचन ॥ २० ॥ ब्राह्मणः कुपितो हन्यादपि लोकान् प्रतिज्ञया । वैशम्पायन उवाच ॥ मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा कुरूणांप्रवरो

कलियुगमें जिस २ प्रकार होता है वह मैंने तुम्हें कहकर सुना दिया, तैसे ही हे पाण्डव ! तुमने लोकों के युगों की संख्या भी सुनी है, इसप्रकार वायुका कहा हुआ और ऋषियोंका बखाना हुआ भूत, भविष्य और वर्त्तमान का सब वृत्तान्त आपको कहकर सुनादिया, चिरकाल जीने वाले मैंने ऐसे संसारके बहुतसे मार्ग दृष्टिसे देखे हैं और अनुभव भी किये हैं इस कारण मैंने उन मार्गों की कथा आपको कह कर सुनादी ॥ १२—१७ ॥ और धर्मका संशय दूर करनेके लिये तुम भाइयों सहित फिर मेरे इस दूसरे कथनको भी सुनो ॥ १८ ॥ हे धर्म धारण करनेवालों में श्रेष्ठ ! जो मनुष्य धर्मात्मा होता है वह इस लोकके सुखका अनु-भव कर परलोकमें सुख पाता है ॥ १९ ॥ हे निर्दोष राजन् ! मैं तुमसे जो कुछ शुभ वाणी कहता हूं उसे तुम सुनो तुम किसी दिन भी ब्राह्मणोंका अपमान न करना ॥ २० ॥ क्योंकि-ब्राह्मण यदि क्रोधमें भरकर तीनों लोकोंके नाशकी प्रतिज्ञा करे तो यह भी कर सकता है, वैशम्पायन बोले कि-हे जनमेजय ! मार्कण्डेय के ऐसे वचन सुनकर परमकान्तिमान् महाबुद्धिमान् कुरुश्रेष्ठ राजा

नघ । अशंक्यं मद्वचो ह्येतद्धर्मलोपो भवेत् तव॥२६॥जातोऽसि प्रथिते वंशे कुरूणां भरतर्षभ । कर्मणा मनसा वाचा सर्वमेतत् समाचर ॥ ३० ॥ युधिष्ठिर उवाच ॥ यत्त्वयोक्तं द्विजश्रेष्ठ वाक्यं श्रुतिमनोहरम् । तथा करिष्ये यत्नेन भवतः शासनं विभो ॥ ३१ ॥ न मे लोभोऽस्ति विप्रेन्द्र न भयं न च मत्सरः । करिष्यामि हि तत् सर्वमुक्तं यत्ते मयि प्रभो ॥ ३२ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ श्रुत्वा तु वचनं तस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः । संहृष्टा पांडवा राजन् सहिताः शार्ङ्गधन्वना ॥ ३३ ॥ विप्रर्षभाश्च ते सर्वे ये तत्रासन् समागताः । तथा कथां शुभां श्रुत्वा मार्कण्डेयस्य धीमतः । विस्मिताः समपद्यन्त पुराणस्य निवेदनात् ॥ ३४ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि युधिष्ठिरानुशान एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

और हे तात ! समयके झपाटेमें आएहुए सब पुरुष मोह पाते हैं अत हे निष्पाप मैंने तुमसे जो कुछ कहा उसमें तुम शंका न करना ॥ २६ ॥ क्योंकि मेरे ये वचन शंका करनेयोग्य नहीं हैं और यदि शंका करोगे तो तुम्हारे धर्मका नाश होजायगा हे भरतवंशश्रेष्ठ ! तुम श्रेष्ठ कुरुकुलमें उत्पन्न हुए हो अतः मैंने जो कुछ तुमसे कहा है वह तुम्हें मन वाणी और कर्मसे करना चाहिये ॥ ३० ॥ युधिष्ठिर बोले कि—हे द्विजश्रेष्ठ ! आपने मुझसे जिसप्रकार कानों को और मनको सुन्दर लगने वाले वाक्य कहे हैं उसी प्रकार हे विभो ! मैं आपकी आज्ञाको प्रयत्न के साथ पालूंगा, हे विप्रेन्द्र ! मुझमें लोभ नहीं है, भय नहीं है और मत्सरता भी नहीं है, हे प्रभो ! आपने जो मुझसे कहा मैं ऐसा ही करूंगा, वैशम्पायन बोले कि—हे राजन् ! शार्ङ्ग धनुषको धारण करनेवाले श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए पाण्डव और श्रेष्ठ ब्राह्मण जो २ तहां इकट्ठे हुए थे वे सब मार्कण्डेयजीके मुखसे श्रेष्ठ कथाएं तथा प्राचीन चरित्रोंको सुनकर प्रसन्न हुए और विस्मित हुए ॥ ३१-३५ ॥ एकसौ इक्यानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६१ ॥

स्वज्वयं गीतशब्द इति॥ ८॥ अथापश्यत् कन्यां परमरूपदर्शनीयां पुष्पाण्यवचिन्वतीं गायन्तीञ्च। अथ सा राज्ञः समीपे पर्यक्रामत् ॥ ९ ॥ तामब्रवीद्राजा कस्यासि भद्रे का वा त्वमिति । सा प्रत्युवाच कन्यास्मीति तां राजोवाचार्थी त्वयाहमिति ॥ १० ॥ अथोवाच कन्या समयेनाहं शक्या त्वया लब्धुं नान्यथेति। राजा तां समयमपृच्छत्।कन्योवाच, नोदकं मे दर्शयितव्यमिति॥ ११॥ स राजा तां बाढमित्युक्त्वा तामुपयेमे कृतोद्वाहश्च राजा परीक्षित् क्रीड़मानो मुदा परमया युक्तस्तूष्णीं संगम्य तया सहास्ते ॥ १२ ॥ ततस्तत्रैवासीने राजनि सेनान्वगच्छत् ॥ १३ ॥ सा सेनोपविष्टं

(गान) को सुन कर वह विचारने लगा कि-यहां मनुष्योंकी तो आवाजाई दीखती नहीं फिर यह गानकी ध्वनि किसकी है? ८ इस प्रकार वह विचार कररहा था कि-इतनेमें ही उसने अद्भुतरूप वाली एक दर्शनीय सुन्दर कन्या देखी, वह कन्या फूल चुनतीर गीत गारही थी, थोड़े समय पीछे जब वह कन्या राजाके समीपमें आकर घमने लगी ॥ ९ ॥ तब राजाने उससे बूझा कि—हे भद्रे ! तू किसकी पुत्री है ? और तू कौन है ? उस कन्याने उत्तर दिया कि—मैं कन्या हूं, तब राजा ने उस कन्यासे कहा कि-मैं तुझसे कुछ लेना चाहताहूं,तेरा स्वामी बनूं यह मेरी याचना है ॥ १० ॥ यह सुनकर वह कन्या बोली कि—मैं नियमके साथ आपके संग विवाह करसकती हूं नियमके विना मेरा विवाह होना असंभव है राजाने उस कन्यासे बूझा कि—तेरा नियम क्या है ? कन्याने उत्तर दिया कि—मुझे तुम जल न दिखाना ॥ ११ ॥ राजाने कहा अच्छा इस प्रकार कन्या के नियमको स्वीकार कर राजाने उसको विवाह लिया और विवाह होनेके पीछे राजा परीक्षित उस श्रेष्ठ कन्याके साथमें रहताहुआ परम आनन्दसे विहार करने लगा॥१२॥जब उस राजाको आनेमें देर हुई तो उसकी सेना उसके पीछे २ उसको ढूंढनेके लिये चल पड़ी और जहां राजा बैठा था तहाँ पर आपहुंची॥ १३॥ सबने

नने रम्ये तयैव सह व्यवाहरदथ क्षुत्तृष्णार्दितः श्रान्तोऽतिमुक्तकागारमपश्यत् ॥ १६ ॥ तत् प्रविश्य राजा सह प्रियया सुधाकृतां विमलां सलिलपूर्णां वापीमपश्यत् ॥ २० ॥ दृष्ट्वैव च तां तस्याश्च तीरे सहैव तया देव्यावातिष्ठत ॥ २१ ॥ अथ तां देवीं स राजाब्रवीत् साध्ववतर वापीसलिलमिति । सा तद्वचः श्रुत्वावतीर्य वापीं न्यमज्जन्न पुनरुदमज्जत् ॥ २२ ॥ तां स मृगयमाणो राजा नापश्यद्वापीमथ निःस्राव्य मण्डूकं श्वभ्रमुखे दृष्ट्वा क्रुद्ध आज्ञापयामास स राजा ॥ २३ ॥ सर्वत्र मण्डूकवधः क्रियतामिति यो मयार्थी स मां मृतमण्डूकोपायनमादायोपतिष्ठेदिति ॥ २४ ॥ अथ मण्डूकवधे घोरे क्रियमाणे दिक्षु सर्वासु मण्डूकान् भयमावि-

के साथ रमणीय वन में गया और विहार करने लगा, एक समय उसको भूख और प्यास लगी उसकी पीडासे वह थक गया था इतनेमें उसको वासंती लताका मण्डप दीखा ॥१६॥ तब वह अपनी प्रियाके साथ उस वासंतीमण्डपमें गया और तहां उसने चूने से पुती हुई निर्मल जलसे भरीहुई एक बावड़ी देखी ॥२०॥ उस बावडीको देखते ही राजा उस रानी सहित बावडीके तट पर जाकर खड़ा हुआ और उसने रानीसे कहा कि–देवि! आहा कैसी अच्छी बावड़ी है तू इस बावड़ीके जलमें उतर॥२१॥ रानी राजाके कहने को सुनकर बावड़ीमें उतर पड़ी और उसने जलमें गोता लगाया परन्तु वह फिर जलमेंसे बाहर न निकली ॥ २२ ॥ राजाने बावडीके जल में उसे बहुत ढूंढा परंतु वह न दिखाई दी, तब उसने बावडीका जल उलिचवा दिया और फिर देखा तो उस बावडी में एक बिलके भीतर एक मेंडकको ही पाया उसको देखकर राजाको क्रोध आगया और राजाने आज्ञा दी कि–॥ २३ ॥ जहां २ मेंडक हों तहां २ सब स्थानोंमें उनका नाश करो, तथा जिसका मुझसे कुछ काम हो वह भी मरेहुए मेंडककी भेंट लेकर सामने आवे ॥ २४ ॥ राजाकी आज्ञा होने पर मेंडकोंका महाभ-

वेश ते भीता मण्डूकराज्ञे यथावृत्तं न्यवेदयन् ॥ २५ ॥ ततो मंडूकराट् तापसवेषधारी राजानमभ्यगच्छदुपेत्य चैनमुवाच ॥ २६ ॥ मा राजन् क्रोधवशं गमः प्रसादं कुरु नार्हसि मण्डूकानामनपराधिनां वधं कर्त्तुमिति श्लोकौ चात्र भवतः ॥ २७ ॥ मा मण्डूकान् जिघांस त्वं कोपं सन्धारयाच्युत । प्रक्षीयन्ते धनोद्रेका जनानाम विजानताम् ॥ २८ ॥ प्रतिजानीहि नैतांस्त्वं प्राप्य क्रोधं विमोक्ष्यसि । अलं कृत्वा तवाधर्मं मण्डूकैः किं हतैर्हि ते ॥ २९ ॥ तमेवंवादिनमिष्टजनशोकपरीतात्मा राजाथोवाच ॥ ३० ॥ न हि क्षम्यते तन्मया हनिष्याम्येतानेतैर्दुरात्मभिः । प्रिया मे भक्षिता

यंकर संहार होने लगा, तब मेंडकोंको बड़ा भय लगा, और सब मेंढक भयभीत होकर अपने राजाके पास गए और जो कुछ हुआ था वह सब वृत्तान्त निवेदन किया ॥ २५ ॥ तदनंतर मण्डूकराजाने तपस्वीका वेश धारण कर उस राजाके पास जाकर कहा कि—॥ २६ ॥ हे राजन् ! तुम क्रोधके अधीन न होओ किन्तु हमारे ऊपर प्रसन्न होओ निरपराध मेंडकोंको मारना आपको योग्य नहीं है, इस वृत्तांतके विषयमें इस प्रकार दो श्लोक हैं ॥ २७ ॥ हे दृढ़चेता राजन् ! तुम मण्डूकोंका नाश न करो, कोपको रोको अज्ञानी पुरुषोंका सम्पत्तिका और धनका बढ़ाव नष्ट होजाताहै ॥२८॥ तू यह समझ रख कि-इन मेंडकोंका नाश कराने पर भी स्त्रीके शोकसे उत्पन्न हुए क्रोधसे न छूट सकेगा अतः तू अधर्म करना छोड दे, क्योंकि—मेंडकोंको मारनेसे तुझै क्या फल मिलेगा ? ऐसे वचन सुनकर स्त्रीके वियोगसे खिन्न होरहा है मन जिसका ऐसे उस राजाने इसप्रकार कहतेहुए मंडूकराजको उत्तर दिया कि—॥२९॥ हे विद्वन् ! मैं मेंडकोंके अपराधको नहीं सहूंगा किंतु उनका नाश ही करूंगा, क्योंकि— वे दुरात्मा मेरी स्त्रीको खा गए हैं,अतः मुझै वे मेंडक सर्वथा मारने ही चाहिये, तुम मेरे इस काममें बाधा डालते हो; यह आपको

सर्वथैव मे वध्या मण्डूका नार्हसि विद्वन्मामुपरोद्धमिति ॥३१॥ स तद्वाक्यमुपलभ्य व्यथितेन्द्रियमनाः प्रोवाच प्रसीद राजन्नहमायुर्नाम मण्डूकराजो मम सा दुहिता सुशोभना नाम तस्या हि दौःशील्यमेतद्बहवस्तया राजानो विप्रलब्धाः पूर्वा इति ॥ ३२ ॥ तमब्रवीद्राजा तस्यास्म्यहमर्थी सा मे दीयतामिति॥३३ ॥अथैनां राज्ञे पितादादब्रवीच्चैनामेनं राजानं शुश्रूषस्वेति ॥ ३४ ॥ स एवमुक्त्वा दुहितरं क्रुद्धः शशाप यस्मात्त्वया राजानो विप्रलब्धा बहवस्तस्माद् ब्रह्मण्यानि तवापत्यानि भविष्यंत्यानृतिकत्वात्तवेति ३५ स च राजा तामुपलभ्य तस्यां सुरतगुणनिबद्धहृदयो लोकत्रयैश्वर्यमिवोपलभ्य हर्षेण बाष्पकलया वाचा प्रणिपत्याभिपूज्य मण्डू-

उचित नहीं है ३०-३१राजाकी इस वात को सुनकर मँडूकराजकी इन्द्रियें और मन व्याकुल होगए और वह वोला कि—हे राजन् ! हमारे ऊपर कृपा करो,मैं आयु नामक मंडूकराज हूं और आपकी जो रानी थी वह मेरी पुत्री है तथा उसका नाम सुशोभना है उसका ऐसा ही बुरा स्वभाव है, उस कन्याने पहिले भी इसीप्रकार वहुतसे राजाओंको छला है ॥३२॥ तव राजा वोला कि मैं उस कन्याके लिये वावलासा होगया हूं अतः तू मुझे वह कन्या अर्पण कर ॥ ३३ ॥ इस पर उस मंडूकराजने वह कन्या उसे देदी और उससे कहा कि—तू इस राजा की सेवा कर ॥ ३४ ॥ इस प्रकार पुत्री से कहकर मँडूकराजने उस कन्याको शाप दिया कि—तूने वहुतसे राजाओंको छला है, अतः तेरे असत्यभाषी होनेके कारण तेरे पुत्र सदाचार आदि ब्राह्मणोंके कर्मोंसे शून्य होंगे । ३५ । उस मँडूकराजकी कन्याके सुरतसमागम और गुणों पर राजाका मन मोहित होगया था, इसकारण मँडूकराजकी पुत्रीको ग्रहण करनेके अनन्तर, तीनों लोकोंका ऐश्वर्य मिलनेकी समान वह राजा प्रसन्न हुआ और मंडूकराजको प्रणाम तथा उनकी पूजा करके गद्गद वाणीसे कहने लगा कि-आपने मेरे ऊपर अनुग्रह

कराजमब्रवीदनुगृहीतोऽस्मीति ॥ ३६ ॥ स च मण्डूकराजो दुहितरमनुज्ञाप्य यथागतमगच्छत् ॥ ३७ ॥ अथ कस्यचित् कालस्य तस्यां कुमारास्त्रयस्तस्य राज्ञः सम्बभूवुः शलो दलो बलश्चेति ततस्तेषां ज्येष्ठं शलं समये पिता राज्येऽभिषिच्य तपसि धृतात्मा वनं जगाम ॥ ३८ ॥ अथ कदाचिच्छलो मृगयामनुचरन् मृगमासाद्य रथेनान्वधावत् ॥ ३९ ॥ सूतञ्चोवाच शीघ्रं मां वहस्वेति स तथोक्तः सूतो राजानमब्रवीत् ॥ ४० ॥ न क्रियतामनुबन्धो नैष शक्यस्त्वया मृगोऽयं गृहीतुं यद्यपि ते रथे युक्तौ वाम्यौ स्यातामिति ततोऽब्रवीद्राजा सूतमाचक्ष्व मे वाम्यौ हन्मि च त्वामिति । स एवमुक्तो राजभयभीतः सूतो वामदेवशापभीतश्च सन् नाचख्यौ राज्ञे ततः पुनः स राजा खड्गमुद्यम्य शीघ्रं कथयस्वेति तमाह नृनिष्पे

किया हूँ ॥ ३६ ॥ इसप्रकार शिष्टाचार होनेके पीछे वह मँडूकराज जैसे आया था तैसे ही चला गया ॥३७॥ फिर वहुत दिन वीतने पर उस रानीसे राजाके शल, दल और वल, नामक तीन कुमार उत्पन्न हुए, जब वह राजा वृद्धावस्था में पहुंचा तब उसने उन पुत्रोंमें सबसे वड़े शलका राज्याभिषेक किया और तप करनेका मनमें विचार करके वनमें चलागया। ३८ । एक समय शल मृगया के लिये वनमें गया था, वह मृगको देखकर रथसहित उसके पीछे दौडा ३६ और सारथीसे कहा कि-तू मुझे झट मृगके पीछे लेचल राजा की वात सुनकर सारथीने राजासे कहा कि-॥ ४० ॥ हे महाराज ! आप इस आग्रह को छोड दीजिये, आपके रथमें वामी जातिके घोड़े जुते हों तव भी आप इस मृगको नहीं पकड सकेंगे यह सुनकर राजाने कहा कि—अच्छा तो तू मुझे वामी घोड़ों को वता दे, नहीं तो मैं तुझे मार डालूंगा इस समय सारथी राजाके भयसे डर गया और दूसरी ओर वामदेवजीके शापके भयसे डर गया, इसकारण उसने राजाको वामी घोड़े कहां हैं, यह नहीं वताया तव तो राजाने तलवार उठाकर सारथीसे फिर कहा

त्वामिति । स तदाह राजभयभीतः सूतो वामदेवस्याश्वौ वाम्यौ मनोजवाविति ॥ ४१ ॥ अथैनमेवं ब्रुवाणमब्रवीद्राजा वामदेवाश्रमं प्रयाहीति स गत्वा वामदेवाश्रमं तमृषिमब्रवीत् ॥ ४२ ॥ भगवन् मृगो मे विद्धः पलायते सम्भावयितुमर्हसि वाम्यौ दातुमिति तमब्रवीदृषिर्ददानि ते वाम्यौ कृतकार्येण भवता ममैव वाम्यौ निर्यात्यौ क्षिप्रमिति स च तावश्वौ प्रतिगृह्यानुज्ञाप्य ऋषिं प्रायाद्वामिप्रयुक्तेन रथेन मृगं प्रतिगच्छंश्चाब्रवीद् सूतमश्वरत्नाविमावयोग्यौ ब्राह्मणानां नैतौ प्रतिदेयौ वामदेवायेत्युक्त्वा मृगमवाप्य स्वनगरमेत्याश्वावन्तःपुरेऽस्थापयत् ॥ ४३ ॥ अथर्षिश्चिन्तयामास तरु-

कि–वामी घोड़े कहां हैं ? यह शीघ्र ही बतादे नहीं तो मैं तुझे मारे डालता हूं उस समय सारथीने राजाके भयसे डर कर कहा कि–वामदेवके यहां वामी जातिके दो घोड़े हैं उनका वेग मनकी समान है ४१ यह सुनकर उसराजाने कहा कि–वामदेवके आश्रमकी ओर रथको लेचल उस समय सारथिने तैसा ही किया और उस राजाने वामदेवके आश्रममें जाकर उन ऋषिसे कहा कि– ॥४२॥ हे भगवन् ! मैंने जिस मृगको बाणसे वींध दिया है वह मृग भाग गया अतः दो वामी घोड़े देकर आपको मेरी सहायता करनी चाहिये,यह सुनकर वह ऋषि राजासे बोले कि–मैं तुझे वामी घोड़े देता हूं, परंतु तू अपना कार्य पूरा होजाने पर यह घोड़े शीघ्र ही लौटादेना' राजाने उस वातको स्वीकार करके दोनों घोडोंको अपने रथमें जोड लिया और ऋषिकी आज्ञा लेकर तहांसे मृगके पाछे चला, मार्गमें जाते २ उसने सारथीसे कहा कि–ये दोनों अश्वरत्न ब्राह्मणके घर रहने योग्य नहीं हैं अतः ये घोड़े लौटाने योग्य नहीं हैं, ऐसा कहकर वह राजा अपने वींधे हुए मृगको हाथमें लिये अपने नगरमें आगया और घोडोंको महलमें बँधवा दिया ॥ ४३ ॥ अब वे ऋषि मनमें विचारने लगे कि—

णो राजपुत्रः कल्याणं पत्रमासाद्य रमते न प्रतिनिर्यातयत्यहो कष्टमिति ॥ ४४ ॥ स मनसा विचिंत्य मासि पूर्णे शिष्यमब्रवीत् गच्छात्रेय राजानं ब्रूहि यदि पर्याप्तं तदा निर्यातयोपाध्यायं वाम्याविति स गत्वैवं तं राजानमब्रवीत् तं राजा प्रत्युवाच राज्ञामेतद्वाहनमनर्हा ब्राह्मणा रत्नानामेवं विधानां किं ब्राह्मणानामश्वैः कार्यं साधु गम्यताम् ॥ ४६ ॥ स गत्वैतदुपाध्यायायाचष्ट तच्छ्रुत्वा वचनमप्रियं वामदेवः क्रोधपरीतात्मा स्वयमेव राजानमभिगम्याश्वार्थमचोदयन्न चाददद्राजा ॥ ४८ ॥ वामदेव उवाच ॥ प्रयच्छ वाम्यौ मम पार्थिव त्वं कृतं हि ते कार्यमाभ्यमशक्यम् । मा त्वाव-

---

राजकुमार तरुण है अतः वह आनन्द देनेवाले उत्तम घोड़ों को पाकर सुखमें सवारी लेता रहता होगा, देखो मेरे घोड़ोंको लौटाकर नहीं लाया है अरे ! यह तो बड़े दुःख की बात है ! ॥ ४४ ॥ इसप्रकार मनमें विचार करनेके पीछे जब एक महीना बीत गया तब उन्होंने अपने शिष्यसे कहा कि—॥ ४५ ॥ हे आत्रेय ! तू राजाके पास जाकर कह कि—"यदि आपका कार्य पूरा होगया हो तो, आप दोनों वामी घोड़ोंको हमारे गुरुजीके यहां पहुंचवादीजिये" वह शिष्य गुरुका संदेशा लेकर राजाके पास गया, और राजासे गुरुका संदेशा कहा, तब राजाने उसे उत्तर दिया कि—"यह घोड़े तो राजाओंके योग्य हैं, ब्राह्मण ऐसे घोड़ोंको रखनेके योग्य नहीं हैं, ब्राह्मणोंको इन दो वामी घोड़ोंका क्या करना है तू सीधा चला जा ॥ ४६ ॥ फिर उस विद्यार्थीने गुरुके पास जाकर राजाका उत्तर कहा, तब राजाके ऐसे अप्रिय वचन सुनकर वामदेवके मनमें क्रोध भरगया, इस कारण वे स्वयं ही राजाके यहां गए और उससे घोड़ोंको मांगा, परन्तु राजाने उन्हें भी घोड़े न दिये ॥ ४७ ॥ तव वामदेव बोले कि—हे राजन् ! तूने मेरे इन दो घोड़ोंसे अशक्य कार्य पूरा किया है, तू मुझे इन

धीद्वरुणो घोरपाशैर्ब्रह्मक्षत्रस्यान्तरे वर्त्तमानम् ॥ ४८ ॥ राजोवाच अनड्वाहौ सुव्रतौ साधुदान्तावेतद्विप्राणां वाहनं वामदेव । ताभ्यां याहि त्वं यत्र कामो महर्षेच्छन्दांसि वै त्वादृशं संवहन्ति ॥ ४६ ॥ वामदेव उवाच ॥ छन्दांसि वै मादृशं संवहन्ति लोकेऽमुष्मिन् पार्थिव यानि सन्ति । अस्मिंस्तु लोके मम यानमेतदस्माद्विधानामपरेषां च राजन् ॥ ५० ॥ राजोवाच ॥ चत्वारस्त्वां वा गर्दभाः संवहन्तु श्रेष्ठाश्वतर्यो हरयो वातरंहाः । तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहो ममैव वाम्यौ न तवैतौ हि विद्धि ॥ ५१ ॥ वामदेव उवाच ॥ घोरं व्रतं ब्राह्मणस्यैतदाहुरेतद्राजन् यदिहा जीवमानः । अयस्मया

मेरे दोनों घोड़ोंको लौटा दे, ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें कलह होनेपर वरुण अपनी भयावनी पाशोंसे बांध कर तुझे न मारैं मैं यह चाहताहूं ॥४८॥ राजा बोला कि—हे वामदेव! सकल प्रकार से सीखे हुए और अत्यन्त नम्र दो बैल ब्राह्मणोंके चढ़नेके योग्य हैं, ऐसा कहा जाता है, अतः हे महर्षे ! तुम उन दोनों वाहनों पर चढ़कर जहां जाना चाहते हो तहां चले जाओ, आप सरीखे पुरुषोंको तो वेद ही एक स्थानसे दूसरे स्थान पर लेजाते हैं ॥ ४६ ॥ वामदेव बोले कि—हे राजन् ! वेद तो मेरी समान पुरुषोंको परलोकमें उठाकर लेजातेमैं यह सच है, परन्तु इस लोक में तो हे राजन् ! मुझे तथा मेरी समान अन्य प्राणियोंको चढा कर लेजानेवाले वाहन घोड़े ही हैं॥ ५० ॥ राजाने कहा कि—अरे ब्राह्मण ! तू चार गधों पर चढ़कर चला जा, अथवा वायुकी समान वेगवाली खच्चरी अथवा खच्चरों पर चढ़कर भले ही चला जा, परन्तु घोड़े तो क्षत्रियोंकी ही सवारी हैं और ये दोनों घोड़े मेरे ही हैं, तेरे नहीं हैं, ऐसा समझ रख ॥ ५१ ॥ यह सुनकर वामदेव बोले कि—हे राजन् ! ब्राह्मणोंके धनके भोगनेको पंडित भयंकर काम कहते हैं तू भी मेरे घोड़ोंको लेना चहता है अतः लोहेके शरीरवाले, भयंकर आकारवाले, महाक्रूरकर्म करने वाले

घोररूपा महांतश्चत्वारो वा यातुधानाः सुरौद्राः । मयाप्रयुक्तास्त्व-द्वधमीप्समाना वहन्तु त्वां शितशूलाश्चतुर्धा ॥ ५२ ॥ राजोवाच । ये त्वां विदुर्ब्राह्मणं वामदेव वाचा हन्तुं मनसा कर्मणा वा । ते त्वां सशिष्यमिह पातयन्तु मद्वाक्यनुन्नाः शितशूलासिहस्ताः ५३ वामदेव उवाच ॥ ममैतौ वाम्यौ प्रतिगृह्य राजन् पुनर्ददानीति प्रपद्य मे त्वम् । प्रयच्छ शीघ्रं मम वाम्यौ त्वमश्वौ यद्यात्मानं जीवितुं ते क्षमं स्यात् ॥ ५४ ॥ राजोवाच ॥ न ब्राह्मणेभ्यो मृगया प्रसूता न त्वा शास्म्यद्य प्रभृति ह्यसत्यम् । तवैवाज्ञां संप्रणिधाय सर्वां तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम् ॥ ५५ ॥ वामदेव उवाच ॥ नानुयोगा ब्राह्मणानां भवन्ति वाचा राजन् मनसा कर्मणा वा। यस्त्वे-

तेज किये हुए भालोंसे तुझे मारना चाहनेवाले चार महादैत्य मेरी आज्ञासे तेरे शरीरके टुकड़े२ कर डालेंगे॥५२॥ राजा बोला कि-हे वामदेव ! मेरे सेवक यदि जान लें कि-यह ब्राह्मण मन, वाणी और शरीरसे हमारे राजाको मारनने को तत्पर हुआ है तो वे हाथोंमें तेज कियेहुए भाले और तलवारें लेकर मेरी आज्ञासे तुझे और तेरे शिष्यों को मारडालेंगे ॥ ५३ ॥ वामदेव बोले कि-हे राजन् ! तूने मेरे इन दोनों वामी घोड़ोंका लेते समय यह प्रतिज्ञा की थी कि-'मैं लौटा दूंगा' अतः तुझे जीवित रहना हो तो मेरे वामी घोड़ोंको लौटादे ॥ ५४ ॥ राजा बोला कि-ब्राह्मणोंके लिये मृगया नहीं रचीगई है, और तू झूठ बोलता है तोभी मैं तुझे दण्ड नहीं देता हूं, हे ब्रह्मन् ! अब आजसे मैं आपके अपराधोंको सहन करूंगा और आपकी आज्ञामें चलूंगा इससे मुझे पुण्यलोक मिलेगा॥५५॥वामदेव बोले कि-हे राजन्! ब्राह्मणोंको मन वाणी तथा शरीरसे दण्ड नहीं दियाजासकता अर्थात् ब्राह्मण दण्डके पात्र नहीं हैं। जो पुरुष धर्मपूर्वक ब्राह्मणों की सेवा करते हैं वे विद्वान् पुरुष इस लोकमें जीते हैंऔर

वं ब्रह्मतपसान्वेति विद्वांस्तेन श्रेष्ठो भवति हि जीवमानः ॥ ५६॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ एवमुक्ते वामदेवेन राजन् समुत्तस्थू राक्षसा घोररूपाः । तैः शूलहस्तैर्वध्यमानः स राजा प्रोवाच चेदं वाक्यमुच्चैस्तदानीम् ॥ ५७ ॥ इक्ष्वाकवो यदि ब्रह्मन् दलो वा विधेया मे यदि चेमे विशोऽपि । नोत्स्रक्ष्येहं वामदेवस्य वाम्यौ नैवंविधाः कर्मशीला भवन्ति ॥ ५८ ॥ एवं ब्रुवन्नेव स यातुधानैर्हतो जगामाशु महीं क्षितीशः । ततो विदित्वा नृपतिं निपातितमिक्ष्वाकवो वै दलमभ्यषिञ्चन् ॥५६॥ राज्ये तदा तत्र गत्वा स विप्रः प्रोवाचेदं वचनं वामदेवः । दलं राजानं ब्राह्मणानां हि देयमेवं राजन् सर्वधर्मेषु दृष्टम् ॥ ६० ॥ बिभेषि चेत्त्वमधर्मान्नरेन्द्र प्रयच्छ मे शीघ्रमेवाद्य वाम्यौ । एतच्छ्रुत्वा वामदेवस्य वाक्यं स पार्थिवः सूतमुवाच रोषात् ॥ ६१ ॥ एकं हि मे सायकं चित्ररूपं दिग्धं विषेण

प्रतिष्ठा पाते हैं अर्थात् दूसरे पुरुष नाश और अपयश पाते हैं ॥ ५६ ॥ मार्कण्डेय बोले कि–हे राजन् ! वामदेवने इसप्रकार कहाकि–उसी समय भयंकर रूपधारी (चार) राक्षस उत्पन्न होगए और वे शूल उठाकर राजाको मारने लगे, उस समय राजाने इसप्रकार कहा कि–॥ ५७ ॥ हे ब्रह्मन् ! यदि इक्ष्वाकुवंशी राजे, मेरा भाई दल और मेरी आज्ञामें रहने वाले ये वैश्य मुझसे कहेंगे तो भी मैं वामी घोड़े तुझै नहीं दूंगा ऐसे ब्राह्मण धर्मका आचरण करनेवाले नहीं होते हैं ॥ ५८ ॥ इसप्रकार राजा कहरहा था कि–इतनेमें ही राक्षसोंने उसे मारडाला और वह शीघ्र ही पृथ्वी पर ढह पडा, उस राजाको मराहुआ देखकर इक्ष्वाकुवंशी राजाओंने दलका राज्याभिषेक किया ॥ ५६ ॥ उस समय ब्राह्मण वामदेव,उस राजाके पास जाकर कहनेलगे कि-हे राजन् ! सब धर्मोंमें ऐसा कहा है कि जो ब्राह्मणोंकी वस्तु हो वह उनको लौटाकर देदेय हे राजन् ! तू अधर्मसे डरताहो तो मेरे वामी घोडों को मुझै आज ही शीघ्र देदे, वामदेवके ऐसे वचन सुनकर उस राजाने क्रोधपूर्वक सारथीसे कहा कि–॥ ६०–६१ ॥ मेरा संग्रह

हर संगृहीतम् । येन विद्धो वामदेवः शयीत संदश्यमानः श्वभि-रार्तरूपः ॥ ६२ ॥ वामदेव उवाच ॥ जानामि पुत्रं दशवर्षं तवाहं जातं महिष्यां श्येनजितं नरेन्द्र । तं जहि त्वं मद्वचनात् प्रणुन्न-स्तूर्णं प्रियं सायकैर्घोररूपैः ॥ ६३ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ एवमुक्तो वामदेवेन राजन्नन्तःपुरे राजपुत्रं जघान । स सायकस्तिग्मतेजा विसृष्टः श्रुत्वा दलस्तत्र वाक्यं वभाषे ॥ ६४ ॥ राजोवाच ॥ इ-क्ष्वाकवो हन्त चरामि वः प्रियं निहन्मीमं विप्रमद्य प्रमथ्य । आनीय तामपरस्तिग्मतेजाः पश्यध्वं मे वीर्यमद्य क्षितीशाः ॥ ६५ ॥ वाम-देव उवाच ॥ यस्त्वमेनं सायकं घोररूपं विषेण दिग्धं मम संदधा

करके रखा हुआ विचित्र दीखनेवाला विष से बुझा हुआ एक वाण ला कि-मैं उससे इस वामदेवको वींध डालूं वाणके महा-रसे व्याकुल हुए इस वामदेव को कुत्ते टुकड़े २ करके खायँ ६२ वामदेव बोले कि-हे राजन् ! मैं जानता हूं कि-तेरे तेरी रानी से उत्पन्न हुआ शोणजित् नामक दश वर्षका पुत्र है अतः तू मेरे वचनोंसे अधीन होकर घोर वाणोंसे उस अपने प्रिय पुत्रको शीघ्र ही मार डाल ॥ ६३ ॥ मार्कण्डेय वोले कि-हे राजन् ! वामदे-वके इसप्रकार कहते ही उसके धनुषमेंसे तीक्ष्ण वाण छूटे और उन्होंने अन्तःपुरमें जाकर राजपुत्रको मारडाला इस समाचा-रको सुनकर दल बोल उठा ॥ ६४ ॥ राजा बोला कि-हे इक्ष्वाकुवंशी राजाओं ! मैं आज तुम्हारा प्रिय कार्य करता हूं, आज इस ब्राह्मणके टुकड़े २ करके इसे मारडालूंगा हे राजाओं ! और तीक्ष्ण धार वाले वाण ले जाओ तथा मेरे शरीरका पराक्रम देखो यह कहकर विषसे बुझा दूसरा वाण ले राजाने ऋषिकी ओर ताका ॥ ६५ ॥ तब वामदेव बोले कि-तू इस विषसे बुझे वाणको मेरी ओर खेंचता है परन्तु हे राजन् तू मेरे ऊपर वाण नहीं छोड़सकेगा तथा धनुष पर वाणको चढ़ा

सि । न त्वेतं त्वं शरवर्षं विमोक्तुं सन्धातुं वा शक्यसे मानवेन्द्र ॥ ६६ ॥ राजोवाच ॥ इक्ष्वाकवः पश्यत मां गृहीतं न वै शक्नोम्येष शरं विमोक्तुम् । न चास्य कर्त्तुं नाशमभ्युत्सहामि आयुष्मान् वै जीवतु वामदेवः ॥ ६७ ॥ वामदेव उवाच ॥ संस्पृश्यैनां महिषीं सायकेन ततस्तस्मादेनसो मोक्ष्यसे त्वम् । ततस्तथा कृतवान् पार्थिवस्तु ततो मुनिं राजपुत्री बभाषे ॥ ६८ ॥ राजपुत्र्युवाच ॥ यथायुक्ता वामदेवाहमेनं दिने दिने सन्दिशन्ती नृशंसम् । ब्राह्मणेभ्यो मृगयती सूनृतानि तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम् ६६ वामदेव उवाच ॥ त्वया त्रातं राजकुलं शुभेक्षणे वरं वृणीष्वाप्रतिमं ददामि ते । प्रशाधीमं स्वजनं राजपुत्रि इक्ष्वाकुराज्यं सुमहच्चाप्यनिंद्ये ॥ ७० ॥ राजपुत्र्युवाच ॥ वरं वृणे भगवंस्त्वेवमेतं विमुच्यतां किल्विषादद्य भर्त्ता । शिवेन चाध्याहि सपुत्रबान्धवं वरो

भी नहीं सकेगा ॥ ६६ ॥ राजा बोला कि—हे इक्ष्वाकुवंशी राजाओं ! इन मुनिने मेरे हाथको स्थगित (सुन्न) करदिया है इसे तुम देखो, अब मैं बाण नहीं छोड़सकता इससे मैं इसे मारना नहीं चाहता, बड़ी आयुवाला यह वामदेव भले ही जीता रहे ॥ ६७ ॥ वामदेव बोले कि—तूने ब्रह्महत्या करनेका प्रयत्न किया था अतः तू इस बाणसे अपनी पटरानीको मार कर पापसे छूट जा, उसी समय राजा ऐसा करनेको उद्यत हुआ तब पटरानीने मुनिसे कहा ॥ ६८ ॥ पटरानी बोली कि—हे ब्रह्मन् ! वामदेव ! मैं यदि प्रत्येक दिन क्रूर कर्म करनेवाले पतिको कल्याणकारी उपदेश देती होऊँ और ब्राह्मणोंकी सेवा करना चाहती होऊँ तो मुझे पवित्र लोक मिलें ॥ ६९ ॥ वामदेव बोले कि—हे सुनयने ! तूने राजकुलकी रक्षा की है अतः तू वर मांगले मैं तुझको अनुपम वर देता हूं, हे राजरानी ! तू अपने गात्रोंको सदुपदेश दे और अत्यन्त विस्तारवाले इक्ष्वाकुराज्यकी रक्षा कर ॥ ७० ॥ राजरानी बोली कि—हे भगवन् ! हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! मैं वर मांगती हूं कि-मेरे ये

हतो ह्येष मया द्विजाग्र्य ॥ ७१ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ श्रुत्वा वचः स मुनी राजपुत्र्यास्तथास्त्विति प्राह कुरुप्रवीर । ततः स राजा मुदितो बभूव वाम्यौ चास्मै प्रददौ संप्रणम्य ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मंडूकोपाख्याने द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ मार्कण्डेयमृषयो ब्राह्मणा युधिष्ठिरश्च पर्य्यपृच्छन्नृषिः केन दीर्घायुरासीद्वको मार्कण्डेयस्तु तान् सर्वानुवाच ॥ १ ॥ महातपा दीर्घायुश्च वको राजर्षिर्नात्र कार्या विचारणा ॥ २ ॥ एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सह भारत । मार्कण्डेयं पर्यपृच्छद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥ वकदाल्भ्यौ महात्मानौ श्रूयेते चिरजीविनौ । सखायौ देवराजस्य तावृषी लोकसम्मतौ ॥ ४ ॥ एतदिच्छामि भगवन् वकशक्रसमागमम् । सुखदुःखसमायुक्तं तत्त्वेन कथयस्व

पति आज ही पापसे छूटजाय और अपने भाई तथा पुत्रोंसहित सुख भोगें यह आशीर्वाद दीजिये ॥ ७१ ॥ मार्कण्डेय बोले कि हे कुरुश्रेष्ठ ! वह मुनि उस पटरानीके वचन सुनकर बोले कि— "तथास्तु,, फिर वह राजा प्रसन्न हुआ और उसने प्रणाम करके वामदेव मुनिको दोनों वामी घोड़े देदिये ॥ ७२ ॥ एकसौ बयानेवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९२ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि-फिर ऋषियोंने ब्राह्मणोंने और युधिष्ठिर ने मार्कण्डेयसे बूझा कि—वक ऋषि कौनसा काम करनेसे बड़ी आयुवाले हुए थे मार्कण्डेय ऋषिने उन सबसे कहा कि—॥ १ ॥ वक नामके ऋषि महातपस्वी और राजर्षि थे, उनकी बड़ी आयु थी इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है ॥ २ ॥ यह सुनकर हे भरतवंशी राजन् ! राजा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भाइयों के साथ मुनिसे कहा कि—॥ ३ ॥ वक तथा दाल्भ्य नामक महात्मा चिरंजीवी थे और ये लोकमान्य ऋषि इन्द्रके मित्र थे, ऐसा सुना है ॥ ४ ॥ अतः वकके और इन्द्रके सुख दुःखसे भरे

मे ॥ ५ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ वृत्ते देवासुरे राजन संग्रामे लोमहर्षणे त्रयाणामपि लोकानामिन्द्रो लोकाधिपोऽभवत् ॥ ६ ॥ सम्यग्वर्षति पर्ज्जन्ये शस्यसम्पद उत्तमाः । निरामयाः सुधर्मिष्ठाः प्रजा धर्मपरायणाः ॥ ७ ॥ मुदितश्च जनः सर्वः स्वधर्मेषु व्यवस्थितः । ताः प्रजा मुदिताः सर्वा दृष्ट्वा वलनिषूदनः ॥८॥ ततस्तु मुदितो राजन् देवराजः शतक्रतुः ऐरावतं समास्थाय ताः पश्यन्मुदिताः प्रजाः ॥ ९ ॥ आश्रमांश्च विचित्रांश्च नदींश्च विविधाः शुभाः । नगराणि समृद्धानि खेटान् जनपदांस्तथा ॥ १० ॥ प्रजापालनदक्षांश्च नरेन्द्रान् धर्मचारिणः । उदपानं प्रपां वापि तडागानि सरांसि च ॥ ११ ॥ नानाब्रह्मसमाचारैः सेवितानि द्विजोत्तमैः । ततोऽवतीर्य रम्यायां पृथ्व्यां राजञ्छतक्रतुः ॥ १२ ॥ तत्र रम्ये शिवे देशे वहुवृक्षसमाकुले ।

समागमको सुननेकी मुझे इच्छा हुई है वह यथार्थ रीतिसे कहकर सुनाइये ॥ ५ ॥ मार्कण्डेय वोले कि- हे राजन् ! देवता और असुरोंके रोंगटे खड़े करनेवाले सङ्ग्रामके अनन्तर इन्द्र तीनों लोकोंका स्वामी होगया था ॥ ६ ॥ उसके राज्य कालमें वर्षा भलीप्रकार होती थी धान्यकी उत्पत्ति भी भलीप्रकार होती थी, प्रजा नीरोग उत्तम, धर्मिष्ठ और धर्मपरायण थी ॥ ७ ॥ और सब मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक अपने२ धर्मका आचरण करते थे. हे राजन् ! सौ यज्ञ करने वाले बलासुरका नाश करनेवाले देवराज इंद्र इस प्रकार अपनी सब प्रजाको प्रसन्न देखकर प्रसन्न हुए और ऐरावत हाथी के ऊपर चढ़कर आनन्दमें रहनेवाली अपनी प्रजाको देखनेके लिये निकले, उन्होंने संसारमें विचित्र आश्रम, अनेक प्रकारकी सुन्दर नदियें, ऐश्वर्य युक्त नगर, छोटे २ ग्राम देश धर्माचरण करनेवाले और प्रजाकी रक्षा करनेमें चतुर राजे, पानी के स्थान, प्रपात, वावडी, सरोवर तथा ब्रह्मचर्यव्रत पालनेवाले ब्राह्मणोंसे सेवित सरोवर आदि सब देखे फिर सौ यज्ञ करनेवाला इन्द्र

पूर्वस्यान्दिशि रम्यायां समुद्राभ्यासतो नृप ॥ १३ ॥ तत्राश्रमपदं रम्यं मृगद्विजनिषेवितम् । तत्राश्रमपदे रम्ये वकं पश्यति देवराट् ॥ १४ ॥ वकस्तु दृष्ट्वा देवेन्द्रं दृढं प्रीतमनाभवत् । पाद्यासनार्घदानेन फलमूलैरथार्चयत् ॥ १५॥ सुखोपविष्टो वरदस्ततस्तु वलसूदनः । ततः प्रश्नं वकं देव उवाच त्रिदशेश्वरः ॥ १६ ॥ शतं वर्षसहस्राणि मुने जातस्य तेऽनघ । समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं दुःखं चिरजीविनाम् ॥ १७ ॥ वक उवाच ॥ अप्रियैः सह संवासः प्रियैश्चापि विनाभवः । असद्भिः सम्प्रयोगश्च तद्दुःखं चिरजीविनाम् ॥ १८ ॥ पुत्रदारविनाशोऽत्र ज्ञातीनां सुहृदामपि । परेष्वायत्तता कृच्छ्रं किन्नु

पृथ्वीपर उतरपड़ा और पूर्वीय देशके समुद्रके पास सघन वृक्षोंकी घटावाले रमणीय और मङ्गलमय प्रदेशमें पशु पक्षियोंसे सेवित एक रमणीय आश्रममें जा पहुंचा तहां उसे वक मुनिके दर्शन हुए॥८-१४॥ वक मुनि भी इन्द्रको देख कर मनमें वहुत प्रसन्न हुए और पाद्य, आसन, अर्घदान तथा फल और कन्द अर्पण करके उनकी पूजा की ॥ १५ ॥ फिर वल दैत्यका नाश करनेवाला और वर देनेवाला इन्द्र तहां सुखपूर्वक बैठा और उसने वक मुनिसे प्रश्न किया कि—॥ १६ ॥ हे निर्दोष मुने ! आपको जन्म लिये आज एक लाख वर्ष होगए हैं अतः हे ब्रह्मन् ! वहुत कालतक जीनेवालों पर कैसे२ दुःख पड़ते है यह मुझसे कहो, वकने उत्तर दिया कि हे इन्द्र ! वहुत समय तक जीवित रहनेवालोंको जिनसे प्रेम न हो ऐसे मनुष्योंके साथ भी रहना पडता है स्नेही पुरुषोंके मरजानेसे उनके वियोगमें ही सारा जीवन विताना पड़ता है और असज्जन पुरुषोंके साथ समागम करना पड़ता है, ऐसे दुःख वहुत समय तक जीवित रहनेवालोंको भोगने पड़ते है ॥ १७—१८ ॥ और चिरकाल तक जीते रहनेवालोंको पुत्रोंका तथा स्त्रीका नाश देखना पड़ता है, जाति वालोंका और प्रियमित्रोंका मरण भी

दुःखतरं ततः ॥ १६ ॥ नान्यदुःखतरं किञ्चिल्लोकेषु प्रतिभाति मे अर्थैर्विहीनःपुरुषः परैःसम्परिभूयते ॥ २० ॥ अकुलानां कुले भावं कुलीनानां कुलक्षयम् । संयोगं विप्रयोगञ्च पश्यन्ति चिरजीविनः ॥ २१ ॥ अपि प्रत्यक्षमेवैतत्तव देव शतक्रतो । अकुलानां समृद्धानां कथं कुलविपर्ययः ॥ २२ ॥ देवदानवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसाः । प्राप्नुवन्ति विपर्यासं किन्नु दुःखतरं ततः ॥ २३ ॥ कुले जाताश्च क्लिश्यन्ते दौष्कुलेयवशानुगाः । आढ्यैर्दरिद्रावमताः किन्नु दुःखतरं ततः ॥२४॥ लोके धर्म्यमेतत्तु दृश्यते बहुविस्तरम् । हीनप्रज्ञाश्च हृष्यन्ते क्लिश्यन्ते प्राज्ञकोविदाः ॥ २५ ॥ बहुदुःखपरिक्लेशं मानुष्यमिह दृश्यते ॥ इन्द्र उवाच ॥ पुनरेव महाभाग देवर्षि-

देखना पडता है, पराधीनतामें रहना पड़ता है तथा दुःख सहना पड़ता है, इससे अधिक और क्या दुःख होगा ? ॥ १६ ॥ जो पुरुष निर्धन होजाता है, दूसरे पुरुष उसका तिरस्कार करते हैं, संसार में इससे अधिक दुःख मुझे और कोई नहीं प्रतीत होता २० और चिरंजीवी पुरुष नीचकुलको कुलीन बनाहुआ और कुलीनों के कुलका संहार तथा संयोग वियोगको देखते हैं ॥ २१ ॥ हे शतक्रतु इन्द्र ! नीच कुलके लोगोंके भी सम्पत्तिमान् होनेपर उनके कुलमें किसप्रकार अदल बदल होती है यह तुमने भी प्रत्यक्ष देखा है ॥ २२ ॥ देव, दानव, गंधर्व, मनुष्य, सर्प और राक्षसोंमें बड़ाभारी उलटफेर होजाता है, इससे अधिक और क्या दुःख होगा ? ॥ २३ ॥ उच्चकुलमें जन्मा हुआ पुरुष दरिद्री होजाता है और नीचकुलमें उत्पन्न हुओंके अधीन होकर व्यवहार करता है तथा धन्याढ्य लोग दरिद्रियोंका अपमान करते हैं, इससे अधिक और क्या दुःख होगा ॥ २४ ॥ इस जगत्में बड़े विस्तारके साथ सब विपरीत ही देखनेमें आता है अज्ञानी पुरुष आनन्दमें रहते हैं और ज्ञानी तथा चतुर पुरुष क्लेश पाते हैं ॥ २५ ॥ इसमें भी इस लोकमें तो मनुष्यजन्म बहुतसे दुःख और क्लेशोंसे भराहुआ

गणसेवित ॥ २६ ॥ समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं सुखं चिरजीविनाम् । बक उवाच ॥ अष्टमे द्वादशे वापि शाकं यः पचते गृहे ॥ २७ ॥ कुमित्राण्यनपाश्रित्य किं वै सुखतरं ततः । यत्राहानि न गण्यन्ते नैनमाहुर्महाशनम् ॥ २८ ॥ अपि शाकं पचानस्य सुखं वै मघवन् गृहे । अर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कञ्चन ॥ २९ ॥ फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे । परस्य तु गृहे भोक्तुः परिभूतस्य नित्यशः ॥ ३० ॥ सुमृष्टमपि न श्रेयो विकल्पोऽयमतः सताम् । श्ववत् कीलालपो यस्तु परान्नं भोक्तुमिच्छति ॥ ३१ ॥ धिगस्तु तस्य तद्भुक्तं कृपणस्य दुरात्मनः । यो दत्त्वातिथिभूतेभ्यः पितृभ्यश्च द्विजोत्तमः ॥ ३२ ॥ शिष्टान्यन्नानि यो भुंक्ते किं वै

प्रतीत होता है इन्द्रने प्रश्न किया कि -हे देवर्षियोंसे सेवित महाभाग आप ! बहुतकाल तक जीवित रहनेवालोंको क्या २ सुख मिलते हैं अब यह भी मुझसे कहो बकने कहा कि-जो मनुष्य दिनके आठवें अथवा छठे भागमें अपने घरमें थोड़ासा शाक बनाता है तथा दुष्ट मित्रोंसे मिलता जुलता नहीं है, उससे बढ़कर क्या सुख होगा ? क्योंकि—ऐसा करनेसे लोग उसके दिनोंको गिना नहीं करते हैं, तैसे ही उसको बहुत खानेवाला भी नहीं कहते हैं।२६। ॥ २८ ॥ और हे इन्द्र ! जो किसीका आश्रय विना किये अपने पराक्रमसे पदार्थ पाकर अपने घरमें साग बनाता है और भोजन करता है उस मनुष्यको सुख है, क्योंकि-अपने घरमें उदारतासे फल और शाक खाना भी सुखदायक है परन्तु नित्य दूसरेके घर तिरस्कार सहकर उत्तम मिष्टान्न जीमना सुखदायक नहीं मानाजाता, इस विषय में लोगोंके अनेक मत हैं जो मनुष्य मांस खानेवाले कुत्तेकी समान परान्न खानेकी इच्छा करता है उस कृपण तथा दुष्टात्मा के जीनेको धिक्कार है, जो श्रेष्ठ ब्राह्मण सदा अतिथियोंको, प्राणियोंको और पितरोंको अन्न समर्पण करके शेष रहे हुए अन्न को खाता है इससे अधिक क्या सुख होगा ? हे नरेन्द्र ! ऐसे

सुखतरं ततः । अतो मृष्टतरं नान्यत् पूतं किञ्चित् शतक्रतो॥३३॥ दत्त्वा यस्त्वतिथिभ्यो वै भुंक्ते तेनैव नित्यशः । यावतो ह्यन्धसः पिण्डानश्नाति सततं द्विजः ॥ ३४ ॥ तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः । यदेनो यौवनकृतं तत्सर्वं नश्यते ध्रुवम् ॥३५॥ सदक्षिणस्य भुक्तस्य द्विजस्य तु करे गतम् । यद्वारि वारिणा सिञ्चेत्तद्ध्येनस्तरते क्षणात् ॥ ३६ ॥ एताश्चान्याश्च वै बह्वीः कथयित्वा कथाः शुभाः । बकेन सह देवेन्द्र आपृच्छ्य त्रिदिवं गतः ३७

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि बकशक्रसंवादे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ ततः पाण्डवाः पुनर्मार्कण्डेयमूचुः कथितं ब्राह्मणमहाभाग्यं राजन्यमहाभाग्यमिदानीं शुश्रूषामह इति तानुवाच मार्कण्डेयो महर्षिः श्रूयतामिति इदानी राजन्यानां महाभा-

---

अन्नके सिवाय दूसरा कैसा ही अन्न हो मीठा और पवित्र नहीं है ॥ २९-३३ ॥ और जो ब्राह्मण सदा अतिथियोंको अन्नके ग्रास खिलाकर स्वयं अन्नके जितने ग्रास खाता है उतने सहस्र गोदानका फल उसे मिलता है और उसने तरुण अवस्थामें जो कुछ पाप किये होते हैं-वे भी अवश्य नष्ट होजाते हैं ॥ ३४-३५॥ और जिसको जिमाकर दक्षिणा दीजाती है ऐसे ब्राह्मणके हाथमें जो जल होता उस जल का अभिषेक करनेसे मनुष्य तुरत पापों से छूटजाता है ॥ ३६ ॥ यह और दूसरी बहुतसी शुभ कथाएं बकके साथ करके उनसे आज्ञा ले इन्द्रराज फिर स्वर्गमें चलेगए ॥ ३७ ॥ एकसौ तिरानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९३ ॥ ॥ छ ॥

वैशम्पायन बोले कि-उसके पीछे पाण्डवों ने फिर मार्कण्डेयजीसे बूझा कि--आपने हमें ब्राह्मणोंका महाभाग्यशाली चरित्र सुनाया अब हम क्षत्रियोंका महाभाग्यशाली चरित्र सुनना चाहते हैं उसे कहिये महर्षि मार्कण्डेयने उनसे कहा कि-सुनो मैं अब तुम्हें

ज्यमिति ॥ १ ॥ कुरूणामन्यतमः सुहोत्रो नाम राजा महर्षीनभि-गम्य निवृत्य रथस्थमेव राजानमौशीनरं शिविं ददर्शाभिमुखं तौ समेत्य परस्परेण यथावयः पूजां प्रयुज्य गुणसाम्येन परस्परेण तुल्यात्मानौ विदित्वान्योऽन्यस्य पन्थानं न ददतुस्तत्र नारदः प्रादु-रासीत् किमिदं भवन्तौ परस्परस्य पन्थानमावृत्य तिष्ठत इति २ तावूचतुर्नारदं नैतद्भगवन् पूर्वकर्मकर्त्रादिभिर्विशिष्टस्य पन्था उप-दिश्यते समर्थाय वा आवाञ्च सख्यं परस्परेणोपगतौ तच्चावधा-नतोऽत्युत्कृष्टमधरोत्तरं परिभ्रष्टं नारदस्त्वेवमुक्तः श्लोकत्रयमपठत् ३ क्रूरः कौरव्य मृदवे मृदुः क्रूरे च कौरव। साधुश्चासाधवे साधुः

क्षत्रियोंका महाभाग्यशाली चरित्र सुनाता हूं॥ १ ॥ कुरुवंशमें जन्मे हुए सुहोत्र नामक राजा मुनियोंसे मिलकर लौट रहे थे, इतनेमें ही उन्होंने उशीनरके पुत्र राजा शिविको रथमें बैठकर आतेहुए देखा, दोनों एक दूसरेसे मिले और अवस्थाके अनुसार एकने दूसरेका सत्कार किया ये दोनों राजे गुणोंमें समान थे, इसकारण इन्होंने अपनेको समान गुणवाले समझ कर परस्पर मार्ग नहीं दिया इतनेमें तहां नारद मुनि आपहुंचे, उन्होंने बूझा कि—तुम एक दूसरेका मार्ग रोके हुए क्यों खड़े हो ? ॥ २ ॥ तब उन दोनोंने नारदजीसे कहा कि-हे भगवन् ! तुम ऐसा मत कहो क्योंकि—प्राचीनकालके धर्मव्यवस्थापकोंने कहा है कि—अपनेसे वड़े मनुष्यको तथा समर्थ मनुष्यके लिये मार्ग छोडना चाहिये, हम दोनों परस्पर मित्र हैं और विचार करनेसे हमारी उत्तमता और अधमपना जाता रहा है अर्थात् हम दोनों समान हैं इससे हम एक दूसरेको कैसे मार्ग दें ? इस प्रकार नारदसे कहा तब नारदजीने तीन श्लोक पढ़े ॥ ३ ॥ हे कुरुवंशी राजन् ! क्रूर मनुष्य कोमलके पास कोमल वनजाता है और क्रूरके सामने क्रूर होकर खड़ा रहता है, परन्तु सत्पुरुष तो खलके साथ साधुपने का व्यवहार करता है फिर सत्पुरुषके समीपमें उसमें साधुता क्यों

साधवे नाप्नुयात् कथम् ॥ ४ ॥ कृतं शतगुणं कुर्य्यान्नास्ति देवेषु निर्णयः । औशीनरः साधुशीलो भवतो वै महीपतिः ॥५॥ जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनानृतवादिनम् । क्षमया क्रूरकर्माणमसाधुं साधुना जयेत् ॥ ६ ॥ तदुभावेव भवंतावुदारौ य इदानीं भवद्भ्यामन्यतमः सोऽपसर्पतु एतद्वै निदर्शनमित्युक्त्वा तूष्णीं नारदो बभूव ॥ ७ ॥ एतच्च श्रुत्वा तु कौरव्यः शिविं प्रदक्षिणं कृत्वा पन्थानं दत्त्वा बहुकर्मभिः प्रशस्य प्रययौ । तदेतद्राज्ञो महाभाग्यमप्युक्तवान्नारदः ॥ ८ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिविचरिते चतुर्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

मार्कंडेय उवाच॥ इदमन्यच्छ्रूयतां ययातिर्नाहुषो राजा राजस्थः

नहीं रहेगी ? ॥ ४ ॥ देवता ही मनुष्यका भला करते हैं, यह कोई नियम नहीं हैं, मनुष्य भी एकगुणा उपकार करनेवालेके ऊपर सौगुना उपकार करता है,हे सुहोत्र! तुमसे उशीनर राजाका पुत्र शिवि अच्छे स्वभावका है ॥ ५ ॥ खोटे स्वभावालेको दान देकर वशमें करै, असत्यबोलनेवालेको सत्य बोलकर वशमें करै क्रूर कर्म करनेवालेको क्षमासे जीतै और असाधु पुरुषको साधुता से जीतै ॥ ६ ॥ तुम दोनों यद्यपि उदार हो परन्तु इससमय दोनों में जो उदार होगा वह अलग हटजायगा यही यहां उदारताका दृष्टान्त है, ऐसा कहकर नारद मौन होगए. परन्तु नारदजीके इन वाक्योंको सुन कर कुरुवंशी राजा सुहोत्रने शिवि राजाकी प्रदाक्षिणा कर उन्हें जानेके लिये मार्ग दिया और चलते समय उनके अनेकों चरित्रोंकी प्रशंसा करके तहांसे चलागया ॥ ७ ॥ इस प्रकार भगवान् नारदने राजा शिविका महाभाग्य वर्णन किया है ॥ ८ ॥ एकसौ चौरानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९४ ॥ ॥ * ॥

मार्कण्डेय बोले कि–हे युधिष्ठिर ! और भी एक क्षत्रियका महाभाग्यशाली चरित्र कहता हूं, तुम सुनो नहुष राजाका पुत्र

पौरजनावृत आसांचक्रे । गुर्वर्थी ब्राह्मण उपेत्याब्रवीत् भो राजन् गुर्वर्थं भिक्षेयं समयादिति राजोवाच ॥ १ ॥ ब्रवीतु भगवान् समयमिति ॥ २ ॥ ब्राह्मण उवाच । विद्वेषणं परमं जीवलोके कुर्य्यान्नरः पार्थिव याच्यमानः । तं त्वां पृच्छामि कथन्नु राजन् दद्याद्भवान् दयितश्च मेऽद्य ॥ ३ ॥ राजोवाच । न चानुकीर्त्तयेदद्य दत्त्वा अयाच्यमर्थं न च संशृणोमि । प्राप्यमर्थञ्च संश्रुत्य तञ्चापि दत्त्वा सुसखा भवामि ॥ ४ ॥ ददानि ते रोहिणीनां सहस्रं प्रियो हि मे ब्राह्मणो याचमानः । न मनः कुप्यति याचमाने दत्तं न

राजा ययाति, राजसिंहासन पर वैठा था, उस समय नगरके मनुष्योंको जोड़ सभामण्डपको भरकर वैठा था, इतनेमें एक ब्राह्मण गुरुदाक्षिणा देनेके लिये धनकी इच्छासे उस राजाके पास आकर वोला कि—हे राजन् ! मैं प्रतिज्ञाके अनुसार गुरुको गुरुदक्षिणा देनेके लिये भिक्षा मांगने आया हूं ॥ १ ॥ राजाने कहा कि—हे विप्र ! तेरी जो प्रतिज्ञा हो उसे मुझसे कह ॥२॥ ब्राह्मणने उत्तर दिया कि—हे राजन् ! इस मनुष्यलोकमें मनुष्योंसे याचना करने पर मनुष्य उससे द्वेष करते हैं, अतः तुमसे मैं बूझता हूं कि—आज तुम मुझ अपनी कोई प्रिय वस्तु दोगे क्या ? ॥ ३ ॥ राजा वोला कि— हे दानपात्र ! मैं दान करनेके पीछे किसी से उसको कहता नहीं हूं, क्योंकि—यदि दुःख हो तो ही दूसरेके आगे कहना ठीक है, परन्तु उसके सिवाय और कोई वात भी किसीसे कहनी ठीक नहीं है जो वस्तु मुझै मिलनी दुर्लभ है उसकी याचनाको मैं सुनता नहीं हूं और जो वस्तु अपनेको मिलसकनेवाली है अर्थात् स्त्री पुत्र आदि जो वस्तु है उन वस्तुओं देनेकी मैं प्रतिज्ञा करके दान देता हूं और उसमें ही आनन्द मानता हूं ॥४॥ तेरी इच्छा हो तो मैं तुझै एक सहस्र रोहणी जातिकी गौएं दूं, क्योंकि—जो ब्राह्मण मेरे पास आता है वह मुझै प्रिय लगता है परन्तु याचकको देख कर मेरे मनमें क्रोध

शोचामि कदाचिदर्थम् ॥ ५ ॥ इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय राजा गोसहस्रं ददौ मासवांश्च गवां सहस्रं ब्राह्मण इति ॥ ६ ॥ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि नाहुषचरित्रे पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

वैशम्पायन उवाच । भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यथाब्रवीत् पांडवः॥१॥ अथाचष्ट मार्कण्डेयो महाराज वृषदर्भसेदुकनामानौ राजानौ नीतिमार्गरतावस्त्रोपास्त्रकृतिनौ ॥२॥ सेदुको वृषदर्भस्य बालस्यैव उपांशु व्रतमभ्यजानन् कुप्यमदेयंब्राह्मणस्य॥३॥अथ तं सेदुकं ब्राह्मणः कश्चिद्वेदाध्ययनसपन्न आशिषं दत्वा गुर्वर्थी भिक्षितवान् ॥ ४ ॥ अश्वसहस्रं मे भवान् ददात्विति तं सेदुको ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ ५ ॥ नास्ति सम्भवो गुर्वर्थे दातुमिति ॥ ६ ॥ स त्वं गच्छ

नहीं उभरता है तैसे ही मैं जिस वस्तुको देदेता हूं उसका किसी दिनभी शोक नहीं करता॥५॥इसप्रकार कहकर उस राजाने ब्राह्मण को एक सहस्रगौएं दीं और उस ब्राह्मणने उस राजासे एक सहस्र गौएं पाई ॥ ६ ॥ एकसौ पिचानवेंवां अध्याय समाप्त ॥ १९५ ॥

वैशम्पायनने कहा कि—हे जनमेजय ! धर्मराजने मार्कंडेयसे कहा कि–हमैं और भी राजाओंका महाभाग्यशाली चरित्र कहकर सुनाओ । १ । मार्कंडेय बोले कि–हे महाराज ! सुनो पहिले वृषदर्भ और सेदुक नामक दो राजे थे वे नीतिप्रिय और अस्त्र तथा उपास्त्रविद्यामें कुशल थे ॥ २ ॥ वृषदर्भने बाल्यावस्थासे ही गुप्तरीतिमे यह व्रत धारण किया था कि–"ब्राह्मणको सुवर्ण और चांदीको छोडकर दूसरी वस्तु नहीं दूंगा,, यह बात सेदुक को मालूम होगई थी ॥ ३ ॥ एक समय कोई वेदाध्ययन करनेवाला ब्राह्मण सेदुकको आशीर्वाद देकर गुरुदक्षिणाके लिये उससे धन मांगनेलगा कि–॥ ४ ॥ आप मुझै एक सहस्र घोड़े दो तब सेदुक ने उस ब्राह्मणसे कहा कि–॥ ५ ॥ गुरुको दक्षिणा देनेकी बात मुझसे असंभव है॥ ६ ॥ परन्तु गुरुदक्षिणा देनेकी इच्छा हो तो

वृषदर्भसकाशं। राजा परमधर्मज्ञो ब्राह्मण तं भिक्षस्व। स ते दास्यति तस्यैतदुपांशु व्रतमिति ॥ ७ ॥ अथ ब्राह्मणो वृषदर्भसकाशं गत्वा अश्वसहस्रमयाचत। स राजा तं कशेनाताडयत् ॥८॥ तं ब्राह्मणोऽब्रवीत् किं हिंस्यनागसं मामिति ॥ ९ ॥ एवमुक्त्वा तं शपन्तं राजाह विप्र किं यो न ददाति। तुभ्यमुताहोस्वित् ब्राह्मण्यमेतत् ॥ १० ॥ ब्राह्मण उवाच। राजाधिराज तव समीपं सेदुकेन प्रेषितो भिक्षितुमागतः। तेनानुशिष्टेन मया त्वं भिक्षितोऽसि॥११॥ राजोवाच ॥ पूर्वाह्णे ते दास्यामि यो मेऽद्य बलिरागमिष्यति। यो हन्यते कशया कथं मोघं क्षेपणं तस्य स्यात् ॥ १२॥ इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय दैवसिकामुत्पत्तिं प्रादात्। अधिकस्याश्वसहस्र-

तू वृषदर्भके पास जा क्योंकि-हे ब्राह्मण ! वह राजा परमधर्मज्ञ है यदि तू उनसे धन मांगेगा तो वह तुझै धन देंगे क्योंकि-उन राजाने गुप्तरीतिसे प्रण किया है कि-मैं ब्राह्मणको चांदी सोनेके छोड़कर और कुछ न दूंगा ॥ ७ ॥ फिर उस ब्राह्मणने वृषदर्भ राजाके पास जाकर एक सहस्र घोडे मांगे तब राजाने उसे चाबुकसे पीटा ॥ ८ ॥ ब्राह्मणने उससे कहा कि मुझ निरपराधको तू क्यों मारता है ॥ ९ ॥ यह कहकर राजाको शाप देनेके लिये उद्यत हुआ तब राजाने उससे कहा कि-हे विप्र! जो पुरुष तुझै दान न देय उसको इस प्रकार शाप देना क्या तुझे योग्य है ? क्या यह ब्राह्मणपना गिनाजासकता है ? १० ब्राह्मण बोलाकि-हे राजाधिराज! सेदुकने याचना करनेके लिये मुझै आपके पास भेजा है तब मैं गुरुदक्षिणा लेनेके लिये याचना करने आया हूं और उसके कहने से मैंने तुझसे याचना की है॥ ११ ॥ राजा बोला कि-जिसके ऊपर चाबुकका प्रहार करें उसे वैसे ही कैसे जानेदें? अतः आज मुझै जो आमदनी होगी वह सब मैं तुझै कल प्रातःकाल दूँगा ॥ १२ ॥ इस प्रकार कह कर राजाने एक दिनकी सब आय दूसरे दिन प्रातःकाल उस ब्राह्मणको देदी अर्थात् एक

स्य मूल्यमेवादादिति ॥ १३ ॥　　छ　　॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वणि संदुकचूप-
दर्भचरिते षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

मार्कंडेय उवाच ॥ देवानां कथा संजाता महीतलं गत्वा महीपतिं शिविमौशीनरं साध्वेनं शिविं जिज्ञास्याम इति । एवं भो इत्युक्त्वा अग्नीन्द्रावुपतिष्ठेताम् ॥ १ ॥ अग्निः कपोतरूपेण तमभ्यधावदामिषार्थमिन्द्रः श्येनरूपेण ॥ २ ॥ अथ कपोतो राज्ञो दिव्यासनासीनस्योत्सङ्गं न्यपतत् ॥ ३ ॥ अथ पुरोहितो राजानमब्रवीत् । प्राणरक्षार्थं श्येनाद्भीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्यते ॥ ४ ॥ वसु ददातु अन्तवान् पार्थिवोऽस्य निष्कृतिं कुर्यात् घोरं कपोतस्य निपातमाहुः ॥ ५ ॥ अथ कपोतो राजानमब्रवीत् प्राणरक्षार्थं श्येना-

---

सहस्र घोड़ोंसे अधिक घोड़ोंका मूल्य उस ब्राह्मणको दिया ॥१३॥ एकसौ छियानवेंवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९६ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

मार्कण्डेय बोले कि–हे युधिष्ठिर ! क्षत्रियोंका दूसरा सौभाग्य चरित्र सुनो देवताओंने एक समय निश्चय किया था कि–हम पृथ्वी पर जाकर उशीनर का पुत्र राजा शिवि कैसा महात्मा है इसकी परीक्षा करें, उस समय तहां अग्नि और इन्द्र बैठे थे वे बोले अच्छा ऐसा ही करेंगे यह कह कर वे दोनों पृथ्वी पर आनेको उद्यत हुए, अग्नि कबूतरका रूप धारण करके उडा और इन्द्र बाजका रूप धारण करके मांसकी इच्छासे उसके पीछे पड़ा ।१-२। कबूतर उड़ता२ जहाँ राजा शिवि दिव्य आसन पर बैठा था तहां जाकर उसकी गोदमें बैठगया उस समय पुरोहितने राजासे कहा कि–बाजसे डराहुआ यह कबूतर प्राण बचानेके लिये आपका शरणमें आया है ॥ ४ ॥ परन्तु शास्त्रमें कपोतपात (कबूतरके गिरने) को अनिष्ट करनेवाला कहा है अतः आप अनिष्ट वस्तु के दर्शन करनेसे कपोतपात के (दोष) को दान देकर निवारण करो ॥ ५ ॥ ऐसी राजा और पुरोहितमें बात होरही थी उसी

ह्णीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्ये अङ्गैरङ्गानि प्राप्यार्थी मुनिर्भूत्वा प्राणां त्वां प्रपद्ये ॥ ६ ॥ स्वाध्यायेन कर्षितं ब्रह्मचारिणं मां विद्धि तपसा दमेन युक्तमाचार्यस्याप्रतिकूलभाषिणम् एवं युक्तमपापं मां विद्धि ॥ ७ ॥ गदामि वेदान् विचिनोमि छन्दः सर्वे वेदा अक्षरशो मे अधीताः । न साधु दानं श्रोत्रियस्य प्रदानं मामादाः श्येनाय न कपोतोऽस्मि॥८॥अथ श्येनो राजानमब्रवीत् ॥ ९॥ पर्यायेणवसतिर्मा भवेषु सर्गे जात पूर्वमस्मात् कपोतात् । त्वमाददानोऽथ कपोतमेनं मा त्वं राजन् विघ्नकर्त्ता भवेथाः॥ १० ॥ राजोवाच ॥ केनेदृशी जातु परा हि दृष्टा वागुच्यमाना शकुनेन संस्कृता । यां वै कपोतो वदते

समय कबूतरने राजासे कहा मैं अपने शरीरमेंसे कबूतर के शरीरमें आगया हूं और वाजसे डरकर प्राण वचानेके लिये आपकी शरणमें हूं अर्थात् तुम ही मेरे प्राण दो ॥ ६ ॥ मैं वेदपाठ करनेसे दुर्बल होगयाहूं ब्रह्मचारी हूं तप और दमसे युक्त हूं आचार्यको प्रिय लगनेवाले वाक्य कहनेवाला हूं और पापशून्य मुनि हूं, यह आप को विदित हो ॥ ७॥ मैंने वेदोंको पढा है, मैं वास्तवमें कबूतर नहीं हूं अतः आप मुझे वाजको न देना, क्योंकि-केवलवेदवेत्ता ब्राह्मणोंको दानदेनाही अच्छा दान नहीं कहलाता है ॥ ८ ॥ इसके अनन्तर वाजने राजासे कहा कि-॥ ९ ॥ हे राजन् ! इस संसारमें मनुष्य आवागमनमें अनेक जन्म लेता है-पिता पुत्र होता है, पुत्र पिता होता है, जो कि-एक जन्ममें माता होती है वह दूसरे जन्ममें स्त्री होती है और जो स्त्री होता है वह दूसरे जन्ममें माता होती है । अतः तू पहिले जन्ममें इस कबूतरसे उत्पन्न हुआ होगा अर्थात् यह तेरा पहिले जन्मका बाप है इसी लिये तू इसे वचाता है परन्तु हे राजन् ! तुझे मेरे भोजनमें विघ्न न डालना चाहिये ॥ १० ॥ राजाने कहा कि-यह कबूतर और वाज जैसी शुद्ध उच्चारण वाली वाणी वोलते हैं ऐसी वाणी क्या किसी दिन भी किसीने पक्षीके मुखसे सुनी है ? मैं इन दोनों पक्षियोंके

याञ्च श्येन उभौ विदित्वा कथमस्तु साधु ॥ ११ ॥ नास्य वर्षं वर्षति वर्षकाले नास्य वीजं रोहति काल उप्तम् । भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे न त्राणं लभते त्राणमिच्छन् स काले।१२। जाता ह्रस्वा प्रजा प्रमीयते सदा न वै वासं पितरोऽस्य कुर्वते । भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे नास्य देवाः प्रतिगृह्णन्ति हव्यम् ॥ १३ ॥ मोघमन्नं विदन्ति चाप्रचेताः स्वर्गाल्लोकाद्भ्रश्यति शीघ्रमेव । भीतम् प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम् ॥१४॥ उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेन अस्मात् कपोतात् प्रति ते नयन्तु ।

स्वरूपको जानकर किस प्रकार न्यायानुसार काम करूं मैं इस विचारमें पड़ा हूं ॥ ११ ॥ जो मनुष्य शरणमें आएहुए भयभीत प्राणीकी रक्षा न करके उसे शत्रुको देदेता है, तथा जो रक्षाके समय शरणागतकी रक्षा नहीं करता है उस शरणागत का त्याग करनेवाले मनुष्यके ग्राममें जल नहीं वरसता है तथा समय पर बोया हुआ वीज भी नहीं उगता है ॥ १२ ॥ और जो शरणमें आएहुए प्राणीकी रक्षा न करके शत्रुको सौंपदेता है उसके यहां उत्पन्न हुए वालक थोड़ी ही अवस्थामें मरजाते हैं और उसके पितर सदा स्वर्गमें न रहकर नरकमें गिरपड़ते है और देवता उसके हाथ के हव्यको ग्रहण नहीं करते हैं ॥ ३१ ॥ और कहा है कि–जो भयभीत होकर शरणमें आये हुए प्राणी को उसके शत्रु के हाथमें देदेता है वह उदारताहीन पुरुष जो कुछ भोजन करता है सो सब निष्फल होता है यह स्वर्गमेंसे तुरत ही नीचे गिरपड़ता है और इन्द्र आदि देवता उसके ऊपर वज्र आदिका प्रहार करते हैं ॥१४॥ अतः हे वाज ! राजा शिवि भातके साथ वृषभ रँधवा कर तुझै इस कबूतरके बदलेमें देताहै अथवा हे वाज ! तुझै जिस देशमें वड़ा आनन्द प्रतीत होता हो उस देशमें शिविवंशी तुझै मांस पहुंचावें अर्थात् तू जितना मांस चाहे उतना मांस

यस्मिन् देशे रमसेऽतीव श्येन तत्र मांसं शिवयस्ते वहन्तु ॥१५॥ श्येन उवाच ॥ नोक्षाणो राजन् प्रार्थयेयं न चान्यदस्मान्मांसमधिकं दा कपोतात् । देवैर्दत्तः सोऽद्य ममैष भक्षस्तन्मे ददस्व शकुनानामभावात् ॥ १६ ॥ राजोवाच ॥ उक्षाणं वेह तमनूनं नयन्तु ते पश्यन्तु पुरुषा ममैव । भयाहितस्य दायं ममान्तिकात् त्वां प्रापयंतु त्वं ह्येनं मा हिंसीः ॥ १७ ॥ त्यजे प्राणान्नैव दद्यां कपोतं सौम्यो ह्ययं किन्तु जानासि श्येन । यथा क्लेशं मा कुरुष्वेह सौम्य नाहं कपोतमर्पयिष्ये कथञ्चित् ॥ १८ ॥ यथा मां वै साधुवादैः प्रसन्नाः प्रशंसेयुः शिवयः कर्मणा तु । यथा श्येन प्रियमेव कुर्यां प्रशाधि मां यद्वदेस्तत् करोमि ॥ १९ ॥ श्येन उवाच ॥

तुझे दूँ परन्तु इस कबूतरको तू छोड़दे ॥ १५ ॥ बाज बोला कि-हे राजन् ! मैं बैलकी याचना नहीं करता तैसे ही इस कबूतरसे अधिक मांस की भी मुझे इच्छा नहीं है किन्तु देवताओंने जो मुझे आज भोजन दिया है वह भोजन (खाना) मुझे इस पक्षी के मरने पर मिलेगा, अतः तू मुझे इस कबूतरको ही दे ॥ १६ ॥ राजा बोला कि—मेरे मनुष्य ही इस कबूतरके बदलेमें मेरे यहांसे तेरे यहाँ सम्पूर्ण अंगोंवाला पूरा बैल पहुंचा देंगे और इस विषयमें भले मनुष्योंको साक्षीकी समान चुनले, परन्तु तू इस कबूतरको न मार ॥ १७ ॥ ओ शान्त-स्वभाव बाज ! यह कबूतर सोमयज्ञकी समान रक्षा करने योग्य है क्या इसकी तुझे मालूम नहीं है ? मैं-अपने प्राणोंको देदूँगा परन्तु इस कबूतरको न दूँगा, तू कलह मत कर ॥ १८ ॥ हे बाज! शिविवंशके राजे मेरे कर्मसे प्रसन्न होकर धन्यवादपूर्वक जिस प्रकार मेरी प्रशंसा करें और मैं जिस प्रकार इस कबूतरको तुझे विना दिये तेरा प्रिय कार्य कर सकूँ उसी प्रकार तू मुझे आज्ञा दे, तू मुझसे जैसे कहेगा मैं तैसे ही करूँगा ॥ १९ ॥ बाजने कहा

ऊरोर्दक्षिणादुत्कृत्य स्वपिशितं तावद्राजन् यावन्मांसं कपोतेन समम् । तथा तस्मात् साधु त्रातः कपोतः प्रशंसेयुश्च शिवयः कृतञ्च प्रियःस्यान्ममेति ॥ २० ॥ अथ स दक्षिणादूरोरुत्कृत्य स्वमांसपेशीं तुलया धारयन् गुरुतर एव कपोत आसीत् ॥ २१ ॥ पुनरन्यमुच्चकर्त्त गुरुतर एव कपोत एवं सर्वं समधिकृत्य शरीरं तुलायामारोपयामास । तत्तथापि गुरुतर एव कपोत आसीत् २२ अथ राजा स्वयमेव तुलामारुरोह न च व्यलीकमासीद्राज्ञ एतद्वृत्तान्तं दृष्ट्वा त्रात इत्युक्त्वा प्रालीयत श्येन अथ राजा अब्रवीत् २३ कपोतं विद्युः शिवयस्त्वां कपोत पृच्छामि ते शकुने को नु श्येनः । नानीश्वर ईदृशं जातु कुर्य्यादेतं प्रश्नं भगवन्मे विचक्ष्व ॥ २४ ॥

कि–हे राजन् ! तू अपनी दाहिनी जाँघमेंसे कबूतरकी बराबर मांस काटकर मुझे दे, ऐसा करनेसे तू कबूतरकी भली प्रकार रक्षा करसकेगा और शिविवंशी राजे तेरी प्रशंसा करेंगे और मेरा भी अभीष्ट काम होजायगा ॥ २० ॥ तब तुरन्त ही राजाने अपनी दाईं जांघमेंसे मांस काट कर तराजूके एक पलड़ेमें धरा और दूसरे पलड़ेमें कबूतरको धरा तो मांसके पिंडसे कबूतर भारी हुआ ॥ २१ ॥ राजाने दसरी वार शरीरका मांस काट कर तराजू में रक्खा तो भी कबूतर ही अधिक निकला, तब राजाने अपने सम्पूर्ण शरीरका मांस काट २ कर तराजूमें धरना आरम्भ किया तो भी वह कबूतर ही भारी रहता रहा ॥ २२ ॥ अन्तमें राजा अपने आप ही उस तराजूमें चढ़बैठा और ऐसा करनेमें उसे जरा भी क्लेश न हुआ, राजाकी ऐसी बातको देख कर " तूने कबूतरको बचालिया,, यह कह कर बाज अन्तर्धान होगया तब राजाने कहा कि–हे कबूतर ! शिवि देशके रहनेवाले सब लोग तुझे कबूतर ही जानते हैं, अतः हे पक्षिन् ! मैं तुझसे बूझता हूं कि—वह बाज़ कौन था ? असमर्थ पुरुष किसी दिन भी ऐसा नहीं करसकता, अतः हे भगवन् ! तुम मुझे इस प्रश्नका उत्तर दो

कपोत उवाच। वैश्वानरोऽहं ज्वलनो धूमकेतुरथैव श्येनो वज्रहस्तः शचीपतिः। साधु ज्ञातुं त्वामृषभं सौरथेयं नौ जिज्ञासया त्वत्सकाशं प्रपन्नौ ॥ २५ ॥ यामेतां पेशीं मम निष्क्रयाय प्रादाद्भवानसिनोत्कृत्य राजन् एतद्वो लक्ष्म शिवं करोमि हिरण्यवर्णं रुचिरं पुण्यगन्धम् ॥ २६ ॥ एतासां प्रजानां पालयिता यशस्वी सुरर्षीणामथ सम्मतो भृशम्। एतस्मात् पार्श्वात् पुरुषो जनिष्यति कपोतरोमेति च तस्य नाम ॥ २७ ॥ कपोतरोमाणं शिबिनौद्भिदं पुत्रं प्राप्स्यति नृपवृषं संहननं यशोदीप्यमानं द्रष्टासि शूरमृषभं सौरथानाम् ॥ २८ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

वैशम्पायन उवाच। भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत्

॥ २३–२४ ॥ कबूतरने उत्तर दिया कि—मैं, धुआं ही है ध्वजा जिसकी ऐसा अग्नि हूं और बाज वज्रधारी इन्द्र था, हे सुरथपुत्र हम दोनों तुझ महात्माकी साधुताकी परीक्षा लेनेके लिये आये थे ॥ २५ ॥ हे राजन् ! तुम जिस मांसकी लोथको काटकर मेरे बदलेमें बाजको देनेको उद्यत हुए थे, मैं तुम्हारे उस घावके स्थानको सुवर्णके रंगका मनोहर पवित्र और कल्याणकारी चिन्हवाला करता हूं ॥ २६ ॥ तुम अपनी इस प्रजाका पालन करो, यश प्राप्त करो, तुम देवताओंमें अतिसत्कारके पात्र बनो तुम्हारी इस जांघमेंसे एक पुरुष उत्पन्न होगा उसका कपोतरोमा नाम होगा ॥ २७ ॥ हे राजन् ! तुम्हें इस अपने शिथिल शरीरसे उत्पन्न हुए कपोतरोमा नामक पुत्रका लाभ होगा, उसको तुम सब रथियोंमें श्रेष्ठ यशसे प्रकाशवान्, शूर और शरीरके अच्छे संगठनवाला देखोगे ॥ २८ ॥ एकसौ सत्तानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९७ ॥ छ ॥

वैशम्पायन बोले कि–हे जनमेजय ! धर्मराजने मार्कण्डेयजीसे

पाण्डवो मार्कण्डेयम् । अथाचष्ट मार्कण्डेयः ॥ अष्टकस्य वैश्वामित्रेरश्वमेधे सर्वे राजानः प्रागच्छन् ॥ १ ॥ भ्रातरश्चास्य प्रतर्दनो वसुमनाः शिविरौशीनर इति स च समाप्तयज्ञो भ्रातृभिः सह रथेन प्रायाचे च नारदमागच्छन्तमभिवाद्यारोहतु भवान् रथमित्यब्रुवन् २ तांस्तथेत्युक्त्वा रथमारुरोह ॥ अथ तेषामेकः सुरर्षि नारदमब्रवीत् प्रसाद्य भगवन्तं किंचिदिच्छेयं प्रष्टुमिति ॥ ३ ॥ पृच्छेत्यब्रवीदृषिः सोऽब्रवीदायुष्मन्तः सर्वगुणसमुदिताः । अथायुष्मन्तं स्वर्गस्थानं चतुर्भिर्यातव्यं स्यात् कोऽवतरेत् । अयमष्टकोऽवतरेदित्यब्रवीदृषिः ॥ ४ ॥ किं कारणमित्यपृच्छत् । अथाचष्टाष्टकस्य गृहे मया उषितं स मां रथेनानुप्रावहदथापश्यमनेकानि गोसहस्राणि वर्णशो विवि-

---

कहा कि – हे महाराज ! हमें और भी राजाओंके महाभागशाली चरित्र सुनाओ, मार्कण्डेय बोले कि–हे धर्मराज! विश्वामित्रके पुत्र अष्टकने अश्वमेध यज्ञ आरंभ किया था, उसमें सब राजे इकट्ठे हुए थे ॥ १ ॥ प्रतर्दन वसुमना और उशीनरका पुत्र शिवि यह तीनों भाई भी उस यज्ञमें गए थे, फिर राजा अष्टक यज्ञ समाप्तकर अपने भाइयों सहित रथमें बैठ कर जारहा था,इतनेमेंही नारदजी को आते देखा तो उनको प्रणाम करके चारों भाइयोंने कहा कि-आप इस रथमें बैठें ॥ २ ॥ नारदजी उनसे "तथास्तु" कह कर रथमें बैठ गए, फिर उनमेंसे एकने देवर्षि नारदजीसे प्रश्न किया कि—मैं आपकी कृपाको पाकर आपसे कुछ प्रश्न करना चाहता हूं ॥ ३ ॥ ऋषिने कहा कि–बूझो, तब उसने बूझा कि–हम चारों चिरायु और सर्वगुणसम्पन्न हैं तथा हम चिरकाल तक भोगने योग्य स्वर्गमें जायंगे, परन्तु हम चारोंमें पहिले कौन पृथ्वी पर गिरेगा ? ऋषि बोले कि-यह अष्टक पहिले पृथ्वीपर गिरेगा ॥ ४ ॥ प्रश्न करनेवालेने बूझा कि—इसके सबसे पहिले पृथ्वीपर गिरने का क्या कारण ? ऋषिने कहा कि – मैं अष्टकके घर रहता था तब इस राजाने मुझे रथमें बैठाल कर अपने नगरकी

क्तानि तमहमपृच्छं कस्येमा गाव इति सोऽब्रवीद् मया निसृष्टा इत्ये-
तास्तेनैव स्वयं श्लाघति कथितेन एषोऽवतरेदथ त्रिभिर्यातव्यं सा-
म्प्रतं कोऽवतरेत् ॥ ५ ॥ प्रतर्दन इत्यब्रवीदृषिः तत्र किं कारणं प्रत-
र्दनस्यापि गृहे मयोषितम् । स मां रथेनानुप्रावहत् ॥ ६ ॥ अथैनं
ब्राह्मणोऽभिक्षेताश्वं मे ददातु भवान्निवृत्तो दास्यामीत्यब्रवीद्
ब्राह्मणं त्वरितमेव दीयतामित्यब्रवीद् ब्राह्मणस्त्वरितमेव स ब्राह्म-
णस्यैवमुक्त्वा दक्षिणं पार्श्वमददत् ॥ ७ ॥ अथान्योऽप्यश्वार्थी
ब्राह्मण आगच्छत् । तथैव चैनमुक्त्वा वामपार्ष्णिमभ्यदादथ प्रा-
यात् पुनरपि चान्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत् त्वरितोऽथ तस्मै

शैर कराई थी, उस समय मैंने तहां अलग २ रंगकी सहस्रों और
लक्षों गौएं देखीं, तब मैंने बूझा कि-यह गौएं किसकी हैं ? उस
समय इसने कहा कि-यह गौएं मैंने ब्राह्मणोंको दानकरके दी हैं, यह
कह कर इसने अपनी प्रशंसा की थी, अतः यह तुमसे पहिले पृथ्वी
पर गिरेगा, इसके पीछे दूसरेने बूझा कि-हम तीनों स्वर्गमें जायंगे
तब हममेंसे पहिले कौन पृथ्वीपर गिरेगा, यह बताओ ॥ ५ ॥
ऋषिने कहा कि— यह प्रतर्दन तुमसे पहिले पृथ्वीमें गिरेगा, उसने
बूझा कि—इसका क्या कारण? ऋषिने कहा कि—मैं प्रतर्दनके यहां
भी रहा हूं और यह मुझे रथमें बैठाकर नित्य फिराता था॥६॥
एक समय हम रथमें बैठकर जाते थे, तहां एक ब्राह्मणने आकर
मांगा कि-तुम मुझे घोड़ा दो, तब इसने ब्राह्मणसे कहा कि-मैं लौट-
कर आऊँगा तब तुझे घोड़ा दूँगा, तब ब्राह्मणने कहा कि—मुझे
तो अब ही दो, राजाने रथके दाहिने पहियेकी ओरका घोड़ा
खोलकर तुरन्त उस ब्राह्मणको देदिया ॥ ७॥ तदनन्तर और एक
ब्राह्मण घोड़ा लेनेकी इच्छासे तहां आगया, उसने भी हठ करके
राजासे ऐसे ही कहा, तब राजाने उसी प्रकार कहकर बाईं
ओरका घोड़ा खोलकर उस ब्राह्मणको अर्पण करदिया, फिर

अपनह्य वामं धुर्यमददत् ॥ ८ ॥ अथ प्रायात् पुनरन्य आगच्छद-श्वार्थी ब्राह्मणस्तमब्रवीदतियातो दास्यामि त्वरितमेव मे दीयता-मित्यब्रवीद् ब्राह्मणस्तस्मै दत्त्वाश्वं रथधुरं गृह्णाता व्याहृतं ब्राह्म-णानां साम्प्रतं नास्ति किञ्चिदिति ॥ ९ ॥ य एष ददाति चासू-यति च तेन व्याहृतेन तथावतरेत् । अथ द्वाभ्यां यातव्यमिति को-ऽवतरेत् ॥ १० ॥ वसुमना अवतरेदित्यब्रवीदृषिः ॥ ११ ॥ किं कारणमित्यपृच्छदथाचष्ट नारदः । अहं परिभ्रमन् वसुमनसो गृहमु-पस्थितः ॥ १२ ॥ स्वस्तिवचनमासीत् पुष्परथस्य प्रयोजनेन तमह-

---

आगे बढ़ा तो तीसरा एक ब्राह्मण घोड़ा लेनेकी इच्छासे इसके पास शीघ्रतासे आया, तब इसने दाहीं ओरका घोड़ा खोलकर उसे देदिया ॥ ८ ॥ और आगे बढ़ा तो इतनेमें ही एक चौथा ब्राह्मण घोड़ा लेनेके लिये तहां आपहुँचा तब राजाने उससे कहा कि—मैं लौटकर आऊँगा तब तुझे घोड़ा दूँगा, परन्तु वह ब्राह्मण बोला कि-मुझे तो अब ही घोड़ा दो, तब राजाने उस ब्राह्मणको भी घोड़ा देदिया और रथके अग्रभागको हाथमें पकड़कर कहा कि—अब मुझसे यदि कोई ब्राह्मण माँगेगा तो मेरे पास उसे देनेके लिये कुछ भी नहीं है ॥ ९ ॥ राजाने दान दिया यह सत्य है परन्तु उसने सकुचाते हुए दिया था, सो वह असूयायुक्त बात कहने के कारण स्वर्गमेंसे पृथिवीपर गिरेगा, तब दोनोंमेंका एक बोला कि-हम दोनोंमेंसे कौन पहिले पृथ्वीपर गिरेगा? ॥९-१०॥ ऋषिने कहा कि—तुम दोनोंमेंसे वसुमना पहिले पृथ्वीपर गिरेगा ११ तब उसने बूझा कि-इसका क्या कारण? नारदजी बोले कि मैं विचरता हुआ एक समय वसुमनाके घर गया था ॥ १२ ॥ उस समय पर्वत आकाश और समुद्रमें बेरोकटोक विच-रनेवाले पुष्परथका स्वस्तिवाचन होरहा था और मैं उस रथके लिये राजाके पास गया था, ब्राह्मणोंके स्वस्तिवाचन करनेके

मन्वगच्छं स्वस्तिवाचितेषु ब्राह्मणेषु रथो ब्राह्मणानां दर्शितः १३ तमहं रथं प्राशंसमथ राजाब्रवीद्भगवता रथः प्रशस्तः । एष भगवतो भवतो रथ इति ॥ १४ ॥ अथ कदाचित् पुनरप्यहमुपस्थितः पुनरेव च रथप्रयोजनमासीत् सम्यगयमेष भगवत इत्येवं राजाब्रवीदिति पुनरेव च तृतीयं स्वस्तिवाचनं समभावयमथ राजा ब्राह्मणानां दर्शयन् मामभिप्रेक्ष्याब्रवीत् अथो भगवता पुष्परथस्य स्वस्तिवाचनानि सुष्ठु सम्भावितानि एतेन द्रोहवचनेनावतरेत् १५ अथैकेन यातव्यं स्यात् कोऽवतरेत् पुनर्नारद आह शिविर्यायादहमवतरेयम् अत्र किं कारणमित्यब्रवीत् । असावहं शिविना समो नास्मि यतो ब्राह्मणः कश्चिदेनमब्रवीत् ॥ १६ ॥ शिवे अन्नाध्र्य-

---

पीछे राजाने वह रथ ब्राह्मणोंको दिखाया ॥ १३ ॥ मैंने उस रथकी प्रशंसा की, तव यह राजा वोला कि— आपने इस रथकी प्रशंसा करी है तो यह रथ "आपका आपका" वस इतना ही कहा परन्तु मुझे रथ नहीं दिया ॥ १४ ॥ तदनन्तर एक समय में उस रथके लिये इस राजाके पास गया, तव भी इस राजाने कहा कि— वहुत अच्छा, यह रथ आपका ही है, परन्तु रथ मुझे नहीं दिया फिर तीसरी वार स्वस्तिवाचनके समय में इस राजाके पास गया, तव भी इसने पुष्परथ ब्राह्मणोंको दिखाकर मेरी ओर देख कर कहा कि-तुमने पुष्परथके स्वस्तिवांचनोंकी भली प्रकार प्रतिष्ठा की है, ऐसी झूठी स्तुति करनेके कारण तुम दोनोंमेंसे यह पहिले पृथ्वीपर गिरेगा ॥१५॥ तदनन्तर उन चारोंमेंसे एक २ ने फिर वूझा कि यह राजा शिवि आपके साथ स्वर्गमें जाय तो पहिले पृथ्वीपर कौन गिरेगा? नारदजी वोले कि—शिवि और मैं दोनोंजने स्वर्गमें जायंगे तो पहिले मैं गिरूंगा, इस पर एकने वूझा कि— इसका क्या कारण? नारद जी वोले कि मैं शिविके समान नहीं हूं. इसका कारण सुनो, एक समय एक ब्राह्मणने राजा शिविसे कहा कि—॥ १६ ॥ हे शिवे ! मैं भोजनकी याचना करता हूं,

स्मीति तमब्रवीच्छिबिः किं क्रियतामाज्ञापयतु भवानिति ॥ १७ ॥ अथैनं ब्राह्मणोऽब्रवीत् य एष ते पुत्रो बृहद्गर्भो नाम एष प्रमाः तव्य इति तमेनं संस्कुरु अन्नं चोपपादय ततोऽहं प्रतीक्ष्य इति । ततः पुत्रं प्रमाथ्य संस्कृत्य विधिना साधयित्वा पात्र्यामर्पयित्वा शिरसा प्रतिगृह्य ब्राह्मणमभृगयत् ॥ १८ ॥ अथास्य मृगयमाणस्य कश्चिदाचष्ट एष ते ब्राह्मणो नगरं प्रविश्य दहति ते गृहं कोशागारमायुधागारं स्त्र्यगारमश्वशालां हस्तिशालां च क्रुद्ध इति ॥१९॥ अथ शिबिस्तथैवाविकृतमुखवर्णो नगरं प्रविश्य ब्राह्मणं तमब्रवीत् सिद्धं भगवन्नन्नमिति ब्राह्मणो न किंचिद्व्याजहार विस्मयादधोमुखश्चासीत् ॥ २० ॥ ततः प्रासादयद्ब्राह्मणं भगवन्

मुझे खानेको चाहिये, तब शिबिने उससे बूझा कि—आप आज्ञा दीजिये मैं क्या करूं ? वह भूखा आगन्तुक ब्राह्मण बोला कि—तू अपने बेटे बृहद्गर्भको मारडाल और उसे अच्छी प्रकार पकाकर भोजन ठीक कर तथा मेरी बाट देखता रह, मैं अभी आता हूं, राजा शिबिने तदनंतर पुत्रको काट डाला और उसे रांधकर भोजन बना लिया, ब्राह्मणको आनेमें विलंब हुआ अतः इसने एक थालीमें मांसको भरा और उस थालीको शिरपर धरकर उस ब्राह्मण को ढूंढनेके लिये यह राजा बाहर निकला ॥ १७-१८ ॥यह राजा ब्राह्मणको खोजरहा था इतनेमे ही किसीने आकर इससे कहा कि—ब्राह्मण तो क्रोधमें भर आपके नगरमें घुसकर आपके भवन को, खजानेको अस्त्रशालाका, रनवासको, घुड़शालको और हाथीखानेको जला रहा है ॥ १९ ॥ यह सुनकर भी शिबिके मुखका रंग कुछ भी न बदला, किन्तु पहिलेकी समान ही शांत बना रहा, और इसने नगरमें जाकर उस सिद्ध ब्राह्मणसे कहा कि—हे भगवन् ! भोजन तयार होगया है, यह सुनकर उस ब्राह्मणने कुछ भी उत्तर न दिया और विस्मित होकर नीचेको मुख कर लिया॥२०॥फिर शिबिने उस ब्राह्मणको

भुज्यतामिति । मुहूर्त्तादुद्वीक्ष्य शिविमब्रवीत् ॥ २१ ॥ त्वमेवतद्-
शानेति तत्राह तथेति शिविस्तथैवाविमना महित्वा कपालमभ्युद्धार्य
भोक्तुमैच्छत् ॥ २२ ॥ अथास्य ब्राह्मणो हस्तमगृह्णात् । अब्रवी-
च्चैनं जितक्रोधोऽसि न ते किञ्चिदपरित्याज्यं ब्राह्मणार्थे ब्राह्मणो-
ऽपि तं महाभागं सभाजयत् ॥२३॥ स ह्युद्वीक्षमाणः पुत्रमपश्य-
दग्रे तिष्ठंतं देवकुमारमिव पुण्यगन्धान्वितमलंकृतम् सर्वञ्च तमर्थं
विधाय ब्राह्मणोऽन्तरधीयत ॥ २४ ॥ तस्य राजर्षेर्विधाता तेनैव
वेषेण परीक्षार्थमागत इति ॥ तस्मिन्नन्तर्हिते अमात्या राजानमूचुः
किं प्रेप्सुना भवता इदमेवं जानता कृतमिति ॥ २५ ॥ शिविरुवाच
नैवाहमेतद्यशसे ददानि च चार्थहेतोर्न न भोगतृष्णया । पापैरनासे-

---

प्रसन्न करके कहा कि-हे भगवन् ! भोजन करो ! दो घटी पीछे
उस ब्राह्मणने ऊपरको मुख करके शिविसे कहा कि-॥ २१ ॥
तू ही इस मांसका भक्षण कर, तब शिविने "अच्छा" कह प्रस-
न्न मनसे आदरभावसहित उस ब्राह्मणकी पूजा की और पुत्र
की खोपड़ीके मांसको खानेकी इच्छा करने लगा ॥ २२ ॥ इतनेमें
ही उस ब्राह्मणने शिविका हाथ पकड़लिया और कहा कि-तूने
क्रोधको जीतलिया है, तेरे यहां कोई वस्तुभी ब्राह्मणको अदेय नहीं
है अर्थात् तू ब्राह्मणोंको सब कुछ देसकता है, इसप्रकार कहकर उस
ब्राह्मणने भी राजा शिविका आदर किया और राजा शिविने मुख
उठाकर देखा तो पवित्रसुगंधिवाले सजेहुए देवकुमारकी समान अपने
पुत्रको अपने सामने खड़े पाया और वह ब्राह्मण इसप्रकार सब चरित्र
करके अन्तर्धान होगया ॥ २३—२४ ॥ राजा शिविके पास जो
ब्राह्मण आया था, वे ब्रह्माजी थे और ब्राह्मणका वेश धर कर
राजा शिविकी परीक्षा लेनेको आये थे, उस ब्राह्मणके अन्तर्धान
होजाने पर कर्मचारियोंने राजा शिविसे बूझा कि -तुम तो सर्वज्ञ
हो, अतः तुमने यह काम क्या किसी इच्छासे किया था ? क्या
तुम्हें यश पानेकी इच्छा थी ? ॥ २५ ॥ शिवि बोले कि—मैं जो

वित एप मार्ग इत्येवमेतत् सकलं करोमि ॥ २६ ॥ सद्भिः सदा-ध्यासितन्तु प्रशस्तं तस्मात् प्रशस्तं श्रयते मतिर्मे । एतन्महाभाग्य-वरं शिवेस्तु तस्मादहं वेद यथावदेतत् ॥ २७ ॥ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि राजन्य-महाभाग्ये शिविचरित अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१९८॥

वैशम्पायन उवाच । मार्कण्डेयमृपयः पाण्डवाः पर्य्यपृच्छन्नस्ति कश्चिद्भवतश्चिरजाततर इति ॥ १ ॥ स तानुवाचास्ति खलु राजर्षिरिन्द्रद्युम्नो नाम क्षीणपुण्यस्त्रिदिवात् प्रच्युतः कीर्त्तिर्मे व्युच्छिन्नेति स मामुपतिष्ठदथ प्रत्यभिजानाति मां भवानिति ॥ २ ॥ तमहमब्रुवं कार्य्यचेष्टाकुलत्वान्न वयं वासायनिका ग्रामैकरात्रवासि-

---

दान देता हूं वह श्रद्धासे देता हूं, यशके लिये धन, पानेके लिये तथा ऐश्वर्य पानेकी तृष्णासे भी नहीं देता हूं, यह दान देनेका मार्ग पुण्यवानोंको चलाया हुआ है, यह विचार कर मैं दानआदि करता हूं॥२६॥सत्पुरुप जिसमार्गमें सदा चलते हैं,वही मार्ग अच्छा मानाजाता है,अतः मेरी बुद्धि भी उस कल्याणकारी मार्गका आश्रय लेती है,मार्कण्डेय कहते हैं कि—राजा शिबिका यह महासौभाग्य है, इस वातको मैं जानता हूं इससे मैंने तुम्है यथार्थरीतिसे कहकर सुनादिया॥ २७ ॥ एकसौ अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९८ ॥

वैशम्पायन वोले कि–हे जनमेजय ! फिर ऋषि और पांडवों ने मार्कंडेयजीसे बूझा कि–हे मुने ! क्या आपसे भी वहुत समय पहिले उतपन्न हुआ कोई पुरुप है ? ॥ १ ॥ मुनिने कहा कि–हाँ इन्द्रद्युम्न नामक एक राजर्पि है, जव उसका पुण्य पूरा होगया तव वह स्वर्गमेंसे पृथ्वीपर गिरपड़ा था, उसके मनमें स्वर्गसे गिरनेके कारण शंका हुई कि–मेरा पुण्य क्षीण होगया होगा इस कारण वह मुझसे बूझनेलगा कि–क्या आप मुझै पहिचानते हैं, ॥ २ ॥ मैंने उससे कहा कि–तीर्थयात्रा करनेके कारण मैं एक ग्राममें एक रात्रिसे अधिक नहीं ठहरता हूं तथा वेदमंत्रादिके जपमें

नां न प्रत्यभिजानीमोऽप्यात्मनोऽर्थानामनुष्ठानं न शरीरोपतापेना-त्मनः समारभामोऽर्थानामनुष्ठानम् ॥ ३ ॥ अस्ति खलु हिमवति प्रावारकर्णो नामोलूकः प्रतिवसति ॥ स मत्तश्चिरजातो भवन्तं यदि जानीयादितः प्रकृष्टे चाध्वनि हिमवांस्तत्रासौ प्रतिवसतीति ॥४॥ ततः स मामश्वो भूत्वा तत्रावहद्यत्र बभूवोलूकः । अथैनं स राजा पप्रच्छ प्रतिजानाति मां भवानिति ॥ ५ ॥ स मुहूर्त्तमिव ध्यात्वा-ब्रवीदेनं नाभिजानामि भवन्तमिति स एवमुक्त इन्द्रद्युम्नः पुनस्त-मुलूकमब्रवीद्राजर्षिः ॥ ६ ॥ अथास्ति कश्चिद्भवतः सकाशाच्चिरजात इति स एवमुक्तोऽब्रवीदस्ति खल्विन्द्रद्युम्नं नाम सरस्तस्मिन्नाडी जङ्घो नाम बकः प्रतिवसति सोऽस्मत्तश्चिरजाततरस्तं पृच्छेति तत

लगा रहनेके कारण मैं आपको नहीं जानता हूं और कृच्छ्र उप-वासादिसे होनेवाली देहकी पीड़ाके कारण आपके कार्योंको जान-नेके लिये प्रयत्न भी नहीं करसकता, इसकारण आपका चरित्र मैं जान सकूं यह कैसे होसकता है?॥३॥परन्तु हिमाचल पर्वत पर प्रावा-रकर्ण नामक उल्लू रहता है, वह मुझसे बहुत समय पहिले उत्पन्न हुआ है, अतः कदाचित् वह आपको जानता हो तो जानता हो, परन्तु हिमाचल पर्वत यहांसे बहुत दूर है और वह उल्लू तहां ही रहता है ॥ ४ ॥ मेरे कहनेको सुनकर राजा इन्द्रद्युम्न घोड़े का रूप धारण कर जहां पर वह उल्लू रहता था तिस हिमाचल पर्वतपर मुझे लेकर गया और फिर उस राजाने उल्लूसे,बूझा कि-हे पक्षिन् ! क्या तू मुझे पहिचानता है ?'॥ ५ ॥ राजाके प्रश्नको सुनकर वह उल्लू थोडीदेर अपने मनमें कुछ ध्यानधर कर बोला कि-"मैं आपको नहीं पहिचानता" यह सुनकर राजर्षि इन्द्रद्युम्नने उससे फिरबूझा कि-॥६॥हे उल्लू ! क्या तुझसे भी पहिले उत्पन्न हुआ कोई चिरञ्जीवी है ? वह बोला कि-हां है, इन्द्रद्युम्न नामके सरोवरमें नाडीजंघ नामक एक बगला रहता है, वह मुझसे भी बहुत पहिले उत्पन्न हुआ है, तुम उससे मुझो

इन्द्रद्युम्नो माञ्चोलूकमादाय तत् सरोऽगच्छद्यत्रासौ नाडीजङ्घा नाम बको बभूव ॥ ७ ॥ सोऽस्माभिः पृष्टो भवानिममिंद्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति स एनं मुहूर्त्तं ध्यात्वाऽब्रवीन्नाभिजानाम्यहमिन्द्रद्युम्नं राजानमिति । ततः सोऽस्माभिः पृष्टः कश्चिद्भवतोऽन्यश्चिरजाततरोऽस्तीति स नोऽब्रवीदस्ति खल्वस्मिन्नेव सरस्यकूपारो नाम कच्छपः प्रतिवसति स मत्तश्चिरजाततरः स यदि कथञ्चिदभिजानीयादिमं राजानं तमकूपारं पृच्छध्वमिति ॥ ८ ॥ ततः स बकस्तमकूपारं कच्छपं विज्ञापयामास। अस्माकमभिप्रेतं भवन्तं किञ्चिदर्थमभिप्रष्टुं साध्वागम्यतां तावदिति तच्छ्रुत्वा कच्छपस्तस्मात् सरस उत्थायाभ्यगच्छद्यत्र तिष्ठामो वयं तस्य सरस्तीरे आगतं चैनं वयमपृच्छाम भवानिंद्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति ।९। स मुहूर्त्तं

उस उल्लूकी इस प्रकारकी बातें सुन वह राजा इन्द्रद्युम्न मुझे और उल्लू को साथमें लेकर जिस सरोवर पर वह नाडीजंघ नामक बगला रहता था तहां गया । ७ । तहां जाकर हमने उससे बूझा कि–तू राजा इंद्रद्युम्नको पहिचानता है ? वह एक मुहूर्त तक ध्यान धर कर बोला कि–मैं इंद्रद्युम्न नामक राजाको नहीं जानता, फिर हमने उस बगलेसे बूझा कि–क्या तुझसे भी पहिले जन्मा हुआकोई चिरञ्जीवी प्राणी है, उसने हमें उत्तर दिया कि–हां इस सरोवरमें ही अकूपार नामक एक कछुआ रहता है वह मुझसे बहुत पहिले उत्पन्न हुआ है, कदाचित् वह इस राजाको पहिचानता हो तो उससे बूझो ॥ ८ ॥इसप्रकार कहकर वह बगला सवरोवर पर जा अकूपार नामके कछुएसे विनय करने लगा कि हम तुझसे कुछ बूझना चाहते हैं, अतः तू सुखपूर्वक हमारे समीप जलमेंसे निकल कर ऊपर आ, यह सुनकर कछुआ उस सरोवरमेंसे निकलकर किनारे पर जहां हम बैठे थे, तहां हमारे पास आया, जब वह हमारे पास आया तब हमने उससे बूझा कि– तुम राजा इन्द्रद्युम्नको पहिचानते हो ? ॥९॥ दो घड़ी तक

ध्यात्वा वाष्पसम्पूर्णनयन उद्विग्नहृदयो वेपमानो विसंज्ञकल्पः प्राञ्जलिरब्रवीत् किमहमेनं न प्रत्यभिज्ञास्यामीह ह्यनेन सहस्रकृत्वश्चितिषु यूपा आहिताः ॥ १० ॥ सरश्च दमस्य दक्षिणाभिर्दत्ताभिर्गोभिरतिक्रममाणाभिः कृतम् । अत्र चाहं प्रतिवसामीति ॥ ११ ॥ अथैतत् सकलं कच्छपेनोदाहृतं श्रुत्वा तदनन्तरं देवलोकाद्देवरथः प्रादुरासीद्वाचश्चाश्रूयन्तेंद्रद्युम्नं प्रति प्रस्तुतस्ते स्वर्गो यथोचितं स्थानं प्रतिपद्यस्व कीर्त्तिमानस्यव्यग्रो याहीति ॥ १२ ॥ भवन्ति चात्र श्लोकाः ॥ दिवं स्पृशति भूमिञ्च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः । यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥ अकीर्त्तिः कीर्त्यते लोके यस्य भूतस्य कस्यचित्

विचारनेके अनन्तर उसके नेत्र आंसुओं से भर गए, उसका हृदय विह्वल होगया, उसका शरीर कांपने लगा, वह अचेतसा होगया, और फिर वह दोनों हाथ जोडकर बोला कि—मैं राजा इंद्रद्युम्नको क्यों नहीं पहिचानूंगा ? उसने पहिले यज्ञ करनेके लिये सहस्रों वार यज्ञस्तम्भ खड़े किये थे ॥ १० ॥ और उस राजाने दक्षिणा में सहस्रों गौएं दानमें दी हैं तथा उन गौओंके विचरनेसे जो पृथ्वी खुद गई उसका ही यह सरोवर वनगया है और मैं इस सरोवरमें मैं रहताहूं ॥ ११ ॥ इसप्रकार कछुए ने राजा इंद्रद्युम्नका सव चरित्र कहकर सुना दिया, इन्द्रद्युम्नकी ऐसी कीर्त्तिको सुनकर तुरन्त देवलोकमेंसे एक दिव्य रथ नीचेको उतरा और आकाशवाणी हुई कि—तेरे लिये स्वर्गका द्वार खुला हुआ है तथा तू कार्त्तिमान् है अतः शांतचित्तसे स्वर्गमें जाकर अपने योग्य स्थानको ग्रहण कर ॥ १२ ॥ इस विषयमें इसप्रकार प्राचीन श्लोक हैं कि—पुण्यवान् पुरुषकी कीर्ति जवतक पृथ्वीमें रहती है और स्वर्गमें गाईजाती है तवतक वह स्वर्गमें रहता है और पुरुष कहलाता है॥ १३ ॥और जिस प्राणी

स पतत्यधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ॥ १४ ॥ तस्मात् कल्याणवृत्तः स्यादनन्ताय नरः सदा । विहाय चित्तं पापिष्ठं धर्ममेव समाश्रयेत् ॥ १५ ॥ इत्येतच्छ्रुत्वा स राजाऽब्रवीत्तिष्ठ तावद्यावदिमौ वृद्धौ यथास्थानं प्रतिपादयामीति॥१६॥ स मां प्रावारकर्णं चोलूकं यथोचिते स्थाने प्रतिपाद्य तेनैव यानेन संस्थितो यथोचितं स्थानं प्रतिपेदे तन्मयाऽनुभूतं चिरजीविनेदृशमिति पाण्डवानुवाच मार्कण्डेयः ॥ १७ ॥ पाण्डवाश्चोचुः साधु शोभनं भवता कृतं राजानमिन्द्रद्युम्नं स्वर्गलोकाच्चुयतं स्वे स्थाने प्रतिपादयतेत्यथैतानब्रवीदसौ ननु देवकीपुत्रेणापि कृष्णेन नरके मज्जमानो राजर्षिर्नृगस्तस्मात् कृच्छ्रात्तु पुनः समुद्धृत्य स्वर्गं प्रापित इति १८

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणीन्द्रद्युम्नोपाख्यान ऊनशताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

की अपकीर्ति जगत्में जबतक गाईजाती है तबतक वह नरकादि अधम लोकोंमें निवास करता है ॥ १४ ॥ अतः मनुष्य सदा अमर रहनेके लिये सदाचारसे वर्ताव करै और मनमेंसे पापी विचारों को निकालकर धर्मका ही आश्रय लेय ॥ १५ ॥ इसप्रकार होने वाली आकाशवाणीको सुनकर राजा इन्द्रद्युम्न बोला कि—मैं इन दोनों वृद्ध पुरुषोंको इनके स्थान पर पहुंचा आऊँ, तबतक तू यहां ही खडा रह ॥ १६ ॥ इसप्रकार देवरथसे कहकर राजा इन्द्रद्युम्न मुझै और प्रावारकर्ण उल्लूको यथोचित स्थान पर पहुंचाकर उस देवरथ नामक वाहनमें वैठ स्वर्गमें चलागया है, मैं चिरजीवी हूं, इसकारणसे मैंने यह सव देखा है, इसप्रकार पाण्डवों से मार्कण्डेयजीने कहा ॥ १७ ॥ ऋषिके वचनोंको सुनकर पांडव वोले कि—"आपने स्वर्गमेंसे गिरेहुए राजा इन्द्रद्युम्नको फिर स्वर्ग में पहुंचाकर वड़ा अच्छा काम किया,, फिर मार्कण्डेयजीने पांडवों से कहा कि—इस ही प्रकार इन देवकीपुत्र श्रीकृष्णने भी नरकमें पड़ेहुए राजर्षि नृगका उस दुःखसे छुड़ाकर स्वर्गमें भेजा था १८

एकसौ निन्यानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९९ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ श्रुत्वा स राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत्तदा । मार्कण्डेयान् महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥ युधिष्ठिरो महाराज पुनः पप्रच्छ तं मुनिम् । कास्ववस्थासु दत्त्वा दानं महामुने ॥ २ ॥ इन्द्रलोकं स्वनुभवेत् पुरुषस्तद्ब्रवीहि मे गार्हस्थ्येऽप्यथवा बाल्ये यौवने स्थाविरेऽपि वा यथाफलं समश्नाति तथा त्वं कथयस्व मे ॥ ३ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ वृथा जन्मानि चत्वारि वृथा दानानि षोडश । वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य ये च धर्मबहिष्कृताः ॥ ४ ॥ परपाकेषु येऽश्नन्ति आत्मार्थञ्च पचन्तु यः।पर्यश्नन्ति वृथा यत्र तदसत्यं प्रकीर्त्यते ॥ ५ ॥ आरूढपतिते दत्तमन्यायोपहृतञ्च यत् । व्यर्थन्तु पतिते दानं ब्राह्मणे तस्करे तथा॥ ६ ॥ गुरौ

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे महाराज ! राजा युधिष्ठिर राजा इन्द्रद्युम्नके स्वर्गमें पहुंचनेकी कथाको मार्कण्डेयजीसे सुनकर ।१। फिर उन मुनिसे बूझनेलगे कि–हे महामुने ! पुरुष कौनसी अवस्थाओंमें दान देनेसे इन्द्रलोकमें जाता है ? यह मुझसे कहो पुरुष गृहस्थाश्रम,बाल्यावस्था,तरुणावस्था और वृद्धावस्थामें दान आदि के फल कैसे पाता है यह सब मुझे बताओ ॥ २—३ ॥ मार्कण्डेय बोले कि–हे राजन् युधिष्ठिर ! चार प्रकारके जन्म वृथा हैं, सोलह प्रकारके दान वृथा हैं, पुत्रहीनका जन्म वृथा है और जो धर्मसे शून्य हैं उसका जन्म भी वृथा है ॥ ४ ॥ जो मनुष्य दूसरे के पाक(रसोई)में भोजन करता है उसका जन्म भी वृथाहै,और जो मनुष्य अपने लिये ही भोजन बनाता है अर्थात् देवता अतिथि आदिको बिना अर्पण किये ही भोजन करता है उसका जन्म भी वृथा ही मानाजाता है, इस प्रकार चार पुरुषोंका जन्म वृथा गिनाजाता है ॥ ५ ॥ जो पहिले निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य अथवा वानप्रस्थ पालता हो और पीछे गृहस्थाश्रम करनेके लिये पहिले आश्रमसे भ्रष्ट होगया हो ऐसे ब्राह्मणको दान देना वृथा है, जो धन अन्यायसे इकट्ठा किया हो उसका दान देना वृथा है, पतित

चानृतके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके । वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके ॥ ७ ॥ ब्रह्मबन्धुषु यद्दत्तं यद्दत्तं वृषलीपतौ । स्त्रीजनेषु च यद्दत्तं व्यालग्राहे तथैव च ॥ ८ ॥ परिचारकेषु यद्दत्तं वृथा दानानि षोडश । तमोवृतस्तु यो दद्याद्भयात् क्रोधात् तथैव च ॥ ९ ॥ भुंक्ते च दानं तत्सर्वं गर्भस्थस्तु नरः सदा ददद्दानं द्विजातिभ्यो वृद्धभावेन मानवः ॥ १० ॥ तस्मात् सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पार्थिव । दातव्यानि द्विजातिभ्यः स्वर्गमार्गजिगीषया ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर उवाच । चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्य वर्त्तमानाः प्रतिग्रहे । केन विप्रा विशेषेण तारयन्ति तरन्ति च ॥ १२ ॥ मार्कण्डेय उवाच । जपैर्मन्त्रैश्च

ब्राह्मणको दान देना वृथा है, तैसे ही चोरको, असत्यवादी गुरुको, पापीको, कृतघ्नीको, ग्रामयाजक(चौराये आदिका पुजापा खानेवाले) को वेद वेचनेवालों(रुपया ठहरा कर वेद शास्त्र और पुराणकी कथा कहनेवालेको) शूद्रके रसोइयोंको, नीच ब्राह्मणको, व्यभिचारिणी स्त्रीके पतिको, स्त्रियोंको, सर्पको, पकड़कर उसको खिलानेवाले ब्राह्मणको तथा सेवा करनेवाले अपने नौकरकों जो दान दियाजाता है वह दान भी वृथा है, इसप्रकार सोलह दान वृथा हैं, तैसे ही जो पुरुष अज्ञानसे मोहित हो अथवा भयसे वा क्रोधमें भरकर ब्राह्मणको दान देता है, वह पुरुष गर्भमें ही उस दान के सब फलको (कष्टरूपसे भोगता है, इसके सिवाय जो निन्दायोग्य दान ब्राह्मणोंको दियाजाता है, उसका सब फल पुरुष वृद्धावस्थामें भोगता है ॥ ६—१० ॥ अतः हे राजन् ! स्वर्गके मार्गको विजय करनेकी इच्छावाला पुरुष सब अवस्थाओंमें ब्राह्मणोंको सब प्रकार के उत्तम दान देय ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर बोले कि—हे मार्कण्डेय मुने ! ब्राह्मण चारों वर्णोंसे दान लेते हैं, अतः ब्राह्मण किन उत्तम उपायोंसे दूसरोंको तारैं और स्वयं तरैं यह मुझसे कहो ॥ १२ ॥ मार्कण्डेय बोले कि--ब्राह्मण जप मंत्र, होम और वेदादिका अध्ययन इन सबसे वेदमय नौका बनाकर दूसरोंको तारते

होमैश्च स्वाध्यायाध्यनेन चानावं वेदमयींकृत्वा तारयन्ति तरन्ति च १३ ब्राह्मणांस्तोपयेद्यस्तु तुष्यन्ते तस्य देवताः। वचनाच्चापि विप्राणां स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥ पितृदैवतपूजाभिर्ब्राह्मणाभ्यर्चनेन च । अनन्तं पुण्यलोकन्तु गन्तासि त्वं न संशयः ॥ १५ ॥ श्लेष्मादिभिर्व्याप्ततनुर्म्रियमाणोऽविचेतनः । ब्राह्मणा एव सम्पूज्याः पुण्यं स्वर्गमभीप्सता ॥ १६ ॥ श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजुगुप्सिताः । दुर्वर्णः कुनखी कुष्ठी मायावी कुण्डगोलकौ॥१७॥ वर्जनीयाः प्रयत्नेन कांडपृष्ठाश्च देहिनः ॥ जुगुप्सितं हि यच्छ्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ १८ ॥ ये ये श्राद्धे न युज्यन्ते मूकान्धव-

हैं और स्वयं भी तरते हैं ॥ १३ ॥ और जो मनुष्य ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करता है उसके ऊपर देवता प्रसन्न रहते हैं, तैसे ही ब्राह्मणोंके वचनसे भी मनुष्य स्वर्गमें जाता है, हे युधिष्ठिर ! तुम पितर देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे अवश्य ही अक्षय पुण्यलोकमें जाओगे ॥ १४—१५ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! जिस का शरीर कफ आदिसे भरगया हो और जो मरनेको उद्यत हो तथा जो चेतनारहित होगया हो उसका पुण्यसे मिलनेवाले स्वर्ग में जानेकी इच्छा हो तो वह ब्राह्मणोंकी पूजा करै, हे भरतवंशी राजन् ! पुरुष श्राद्धमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको ही जिमावे, परन्तु निंदित वर्णवाले, काले नखोंवाले, कुष्ठी, कपटी, पिताकी जीवित अवस्था में व्यभिचारसे उत्पन्न हुए अथवा माताके विधवा होने पर व्यभिचारसे उत्पन्न हुए और धनुप आदि धारण कर क्षत्रियकी वृत्ति पालनेवाले ब्राह्मणको श्राद्धमें न जिमावे क्योंकि—उनको श्राद्धमें जिमानेसे श्राद्धका फल नहीं मिलता और अग्नि जैसे काष्ठको भस्म करदेता है तैसे ही उस श्राद्धकर्ताका नाश होजाता है ॥ १६—१८ ॥ हे राजन् ! अँधे, गूंगे, वहरे आदि जो२ शास्त्रमें वर्जित वतलाये हैं उनको वेदपारंगत ब्राह्म-

धिरादयः । तेपि सर्वे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः ॥ १९ ॥ प्रतिग्रहश्च वै देयः शृणु यस्य युधिष्ठिर । प्रदातारं तथात्मानं यस्तारयति शक्तिमान् ॥ २० ॥ तस्मिन् देयं द्विजे दानं सर्वागमविजानता । प्रदातारं तथात्मानं तारयेद्यः स शक्तिमान् ॥ २१ ॥ न तथा हविषो होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः । अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिभोजने ॥ २२ ॥ तस्मात्त्वं सर्वयत्नेन यतस्वातिथिभोजने । पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ॥ २३ ॥ प्रयच्छन्ति तु ये राजन् नोपसर्पन्ति ते यमम् । देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टावमार्जनम् ॥ २४ ॥ आकल्पपरिचर्या च गात्रसंवाहनानि च । अत्रैकैकं नृपश्रेष्ठ गोदानाद्व्यतिरिच्यते ॥ २५ ॥ कपि-

---

णोंके साथ मिलाकर श्राद्धमें निमन्त्रण न देय ॥ १९ ॥ हे युधिष्ठिर ! अब दान किसको देना चाहिये यह सुनो, जो ब्राह्मण अपनेको और दाताको संसारसिंधुसे तारनेको समर्थ हो ऐसे सर्वशास्त्रवेत्ता ब्राह्मणको दान देय, जो पुरुष अपनेको और दाताको भवसागरमेंसे तारनेको समर्थ होय उसे शक्तिमान् कहतेहैं॥२० २१॥हे पृथापुत्र! अतिथियोंको जिमानेसे अग्नि जैसे प्रसन्न होते हैं तैसे ही यज्ञमें बलिदान देनेसे, पुष्पोंका हार चढ़ानेसे और चन्दनका लेप करनेसे भी प्रसन्न नहीं होते हैं ॥ २२ ॥ अतः हे राजन् ! तुम सकल प्रयत्नोंसे अतिथियोंको जिमानेमें सावधान रहो, हे राजन् ! जो अतिथियोंको पैर धोनेके लिये जल, पांवमें चुपडनेके लिये घी, दीपक,अन्न तथा रहनेके लिये स्थान देते हैं वे यमके पास नहीं जाते हैं, हे युधिष्ठिर ! देवताओंके ऊपरसे चढ़ाए हुए पुष्प उतारना, जहां जहां ब्राह्मण जीमें हों तहांसे जूठन उठाकर स्थानको साफ करना, ब्राह्मणोंकी चंदन पुष्प आदिसे पूजा करना उनके हाथ पांव दाबना इनमेंसे एक २ काम गोदानसे भी अधिक फल देनेवाला है ॥ २३–२५ ॥ हे

लायाः प्रदानात्तु मुच्यते नात्र संशयः । तस्मादलङ्कृतां दद्यात् कपिलान्तु द्विजातये ॥ २६ ॥ श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे । पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे ॥ २७ ॥ एवं विधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत । को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम् ॥ २८ ॥ एकस्यैका प्रदातव्या न बहूनां कदाचन । सा गौर्विक्रयमापन्ना हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम् ॥ २९ ॥ न तारयति दातारं ब्राह्मणं नैव नैव तु । सुवर्णस्य विशुद्धस्य सुवर्णं यः प्रयच्छति ॥ ३० ॥ सुवर्णानां शतं तेन दत्तं भवति शाश्वतम् । अनड्वाहन्तु यो दद्याद् बलवन्तं धुरन्धरम् ॥ ३१ ॥ स निस्तरति दुर्गाणि स्वर्गलोकं च गच्छति । वसुन्धरान्तु यो दद्याद् द्विजाय विदुषात्मने ॥ ३२ ॥ दातारं ह्यनुगच्छन्ति सर्वे कामाभिवाञ्छिताः

भरतवंशी राजन् ! कपिला गौके दानसे पुरुष निःसन्देह पापमेंसे छूट जाता है, अतः पुरुष कपिला गौका शृङ्गार कर वेदपाठी दरिद्र गृहस्थ अग्निहोत्री दरिद्रताके कारण स्त्री और पुत्रने तिरस्कार करके जिसको निकाल दिया हो ऐसे तथा थोड़ाभी उपकार करनेमें असमर्थ ब्राह्मणको देय, परन्तु सम्पत्तिमान् ब्राह्मणोंको न देय क्योंकि—हे भरतवंशश्रेष्ठ ! सम्पत्तिमान् पुरुषोंको देनेसे क्या लाभ है ? कुछ भी लाभ नहीं है ॥ २६–२८ ॥ हे राजन् ! एक गौ एक ही ब्राह्मणको देय, बहुतसे ब्राह्मणोंको एक गौ न देय, गौका दान लेनेवाले यदि गौ बेंचडालें तो वह गौ देनेवाले के कुलकी तीन पीढ़ियोंको नरकमें डालती है ॥ २९ ॥ और दाता तथा ब्राह्मणको कभीभी नहीं तारती है ॥ जो पुरुष सुन्दर वर्णवाले शुद्ध ब्राह्मणको सोनेका दान देता है उसे नित्य सौगुणे सुवर्णके दानका फल मिलता है और जो बली तथ जुआ उठाने में समर्थ बैल ब्राह्मणको देता है ॥ ३०–३१ ॥ वह सब दुःखों से छूटकर स्वर्गमें जाता है, जो मनुष्य विद्वान् ब्राह्मणको पृथ्वी का दान देता है उस दाताके पास उसकी सब कामनाएं पूर्ण

पृच्छन्ति चात्र दातारं वदन्ति पुरुषा भुवि ॥ ३३ ॥ अध्वनि क्षी-णगात्राश्च पांशुपादावगुंठिताः । तेषामेव श्रमार्त्तानां यो ह्यन्नं कथयेद् बुधः ॥ ३४ ॥ अन्नदातृसमः सोऽपि कीर्त्यते नात्र संशयः तस्मात्त्वं सर्वदानानि हित्वाऽन्नं सम्प्रयच्छ ह ॥ ३५ ॥ न हीदृशं पुण्यफलं विचित्रमिह विद्यते । यथाशक्ति च यो दद्यादन्नं विप्रे सुसंस्कृतम् ॥ ३६ ॥ स तेन कर्मणाप्नोति प्रजापतिसलोकताम् । अन्नमेव विशिष्टं हि यस्मात् परतरं न च ॥ ३७ ॥ अन्नं प्रजाप-तिश्चोक्तः स च सम्वत्सरो मतः । सम्वत्सरस्तु यज्ञोऽसौ सर्वं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३८ ॥ तस्मात् सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च । तस्मादन्नविशिष्टं हि सर्वेभ्य इति विश्रुतम् ॥ ३९ ॥ येषां तडागानि महोदकानि वाप्यश्च कूपाश्च प्रतिश्रयाश्च । अन्नस्य दानं

होकर उपस्थित होजाती हैं, पृथ्वीमें मार्ग भूलकर भटकते हुए शरीर में दुवले हुए, धूलसे अटे पैरोंवाले तथा परिश्रमसे व्याकुल हुए पुरुष बूझें कि-अन्नदाता कहां रहते हैं तब जो उन्हे उन दाता-ओंका पता बताते हैं वे भी निःसन्देह अन्नदाताकी समान कहाते हैं अतः तुम सब दानोंको त्याग कर अन्नदान अवश्य करो ॥ ३२-३५ ॥ क्योंकि इस लोकमें और कोई भी दान अन्नदान से अधिक तथा विचित्र फल देनेवाला नहीं है जो पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार श्रेष्ठ अन्न ब्राह्मणोंको देता है तो वह पुरुष उस अन्नके प्रभावसे प्रजापतिलोकमें जाता है क्योंकि-अन्न ही सबसे श्रेष्ठहै, उससे अधिक उत्तम कोई भी पदार्थ नहीं है ॥३६॥ ॥ ३७॥ वेदमें अन्नको प्रजापति कहा है, उस प्रजापतिको सम्व-त्सर कहा है और सम्वत्सरको यज्ञ कहा है तथा यज्ञ ही में सब वस्तु रहती हैं ॥ ३८ ॥ स्थावर और जंगम सब प्राणी यज्ञ ही से उत्पन्न होते हैं, अतः अन्न ही सब पदार्थोंसे उत्तम गिनाजाता है, ऐसा हमने सुना है ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष बहुत जल वाले सरोवर, बावड़ी, कुए तथा विश्रामके लिये धर्मशालाएं बन-

मधुरा च वाणी यमस्य ते निर्वचना भवन्ति ॥ ४० ॥ धान्यं श्रमेणार्जितवित्तसञ्चितं विप्रे सुशीले च प्रयच्छते यः । वसुन्धरा तस्य भवेत् सुतुष्टा धारा वसूनां प्रतिमुञ्चतीव ॥ ४१ ॥ अन्नदाः प्रथमं यान्ति सत्यवाक्तदनन्तरं । अयाचितप्रदाता च समं यान्ति त्रयो जनाः ॥ ४२ । वैशम्पायन उवाच । कौतूहलसमुत्पन्नः पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः । मार्कण्डेयं महात्मानं पुनरेव सहानुजः ॥ ४३ ॥ यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च । कीदृशं किंप्रमाणं वा कथं वा तन्महामुने । तरन्ति पुरुषाश्चैव येनोपायेन शंस मे ॥४४॥ मार्कण्डेय उवाच । सर्वं गुह्यतमं प्रश्नं पवित्रमृषिसंस्तुतम् । कथयिष्यामि ते राजन् धर्मं धर्मभृताम्वर ॥ ४५ ॥ षडशीतिसहस्राणि

वाते हैं, अन्नका दान देते हैं और सबके साथ मीठी वाणीसे बातचीत करते हैं वे पुरुष यमराजकी वाणी भी नहीं सुनते हैं ४० जो पुरुष श्रमसे कमाये हुए धनसे अन्न खरीद कर सुन्दर सुशील ब्राह्मणको देता है, उस मनुष्य पर सब पृथ्वी धनकी वर्षा करती हुईसी प्रसन्न होती है, अर्थात् उसे बहुतसा धन देता है ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! अन्नदाता पहिले स्वर्गमें जाता है, उसके पीछे सत्यवादी पुरुष स्वर्गमें जाता है और उसके पीछे न माँगनेवालेको दान देनेवाला स्वर्गमें जाता है, इन तीन मनुष्यों की गति एकसी होती है॥४२॥ वैशम्पायन बोले कि-हे जनमेजय! मार्कण्डेयजीके वचनको सुनकर युधिष्ठिर और उनके भाइयोंके मनमें कुतूहल उत्पन्न हुआ और उन्होंने फिर महात्मा मार्कण्डेय जी से प्रश्न किया कि-॥ ४३ ॥ हे महामुने ! मत्युलोक और यमलोकके बीचमें कितना अन्तर है ? उसका प्रमाण कितनाहै ? तथा वह किसप्रकार है और मनुष्य किसप्रका भवसागरसे तरते हैं यह मुझसे कहो ॥ ४४ ॥ मार्कण्डेय बोले कि-हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजन् ! युधिष्ठिर ! सबसे श्रेष्ठ हुआ ऋषियोंका मान्य पवित्र धर्मसंबंधी प्रश्न तुमने किया है. इसका उत्तर मैं तुम्है देता हूं हे

योजनानां नराधिप । यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ४६
आकाशं तदपानीयं घोरं कांतारदर्शनम्। न तत्र वृक्षच्छाया वा
पानीयं केतनानि च ॥ ४७ ॥ विश्रमेद्यत्र वै श्रान्तः पुरुषोऽध्वनि
कर्शितः । नीयते यमदूतैस्तु यमस्याज्ञाकरैर्बलात् ॥ ४८ ॥ नरा
स्त्रियस्तथैवान्ये पृथिव्यां जीवसंज्ञिताः । ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि
नानारूपाणि पार्थिव ॥ ४९ ॥ हयादीनां प्रकृष्टानि तेध्वानं या-
न्ति वै नराः । सन्निवार्यातपं यान्तिच्छत्रेणैव हिच्छत्रदाः ॥५०॥
तृप्ताश्चैवान्नदातारो ह्यतृप्ताश्चाप्यनन्नदाः । वस्त्रिणो वस्त्रदा यान्ति
अवस्त्रा यान्त्यवस्त्रदाः ॥ ५१ ॥ हिरण्यदाः सुखं यान्ति पुरुषा-
स्त्वभ्यलंकृताः । भूमिदास्तु सुखं यान्ति सर्वैकामैः सुतर्पिताः५२

राजन् ! मृत्युलोक और यमलोकके वीचमें एक लाख चौरासी
सहस्र कोसका अन्तर है ॥ ४५-४६ ॥ उस मार्गमें आकाश है,
तहाँ जल नहीं है और एक बीहड वनकी समान दीखता है, तहां
जानेके मार्गमें वृक्षोंकी छाया नहीं है, जल नहीं है और जहां पर
मार्गमें चलनेसे थकेहुए दुर्बल पुरुष विश्राम करैं ऐसे विश्रामस्थान
भी नहीं हैं, यमकी आज्ञामें रहनेवाले यमराजके दूत पृथ्वीके ऊ-
पर रहनेवाले स्त्री पुरुष तथा जो जो जीवनामधारी है उन सबका
वलात्कारसे इस मार्गमेंको यमलोकमें लेजाते हैं, अतः हे राजन् !
जो ब्राह्मणोंको नाना जातिके घोडोंका दान देता है वह उन वाहनों
पर चढ़कर उस मार्गमेंको जाता है, दान देने से यममार्ग सहल
होजाता है, जो पुरुष छत्रका दान करते हैं वे पुरुष छत्री लगाकर
धूपसे वचतेहुए चलते हैं ४७-५० अन्नका दान करनेवाले तृप्त हो
करस्वर्गमें जाते हैं परन्तु अन्नका दान न देनेवाले भूखे ही स्वर्गमें
जाते हैं, वस्त्रका दान करनेवाले वस्त्र पहिरकर स्वर्गमें जाते हैं और
वस्त्र का दान न देनेवाले नंगे २ ही उस मार्गमें जाते हैं ॥ ५१॥
सुवर्णका दान देनेवाले पुरुष सजकर सुखपूर्वक स्वर्गमें जाते हैं;
पृथ्वीका दान देनेवाले सब कामनाओंसे भली प्रकार संतुष्ट होते

यांति चैवापरिक्लिष्टा नराः सस्यप्रदायकाः । नराः सुखतरं यांति विमानेषु गृहप्रदाः ॥ ५३ ॥ पानीयदा ह्यतृपिताः प्रहृष्टमनसो नराः । पन्थानं द्योतयन्तश्च यांति दीपप्रदाः सुखम् ॥ ५४ ॥ गोप्रदास्तु सुखं यांति निर्मुक्ताः सर्वपातकैः । विमानैर्हंससंयुक्तैर्यान्ति मासोपवासिनः ॥ ५५ ॥ तथा वर्हिप्रयुक्तैश्च षष्ठरात्रोपवासिनः त्रिरात्रं क्षपते यस्तु एकभक्तेन पाण्डव ॥ ५६ ॥ अन्तरा चैव नाश्नाति तस्य लोका ह्यनामयाः । पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोकसुखावहाः ॥ ५७ ॥ तत्र पुष्पोदका नाम नदी तेषां विधीयते । शीतलं सलिलं तत्र पिबन्ति ह्यमृतापमम् ॥ ५८ ॥ ये च दुष्कृतकर्माणः पूयं तेषां विधीयते । एवं नदी महाराज सर्वकाम-

हुए सुखसे स्वर्गमें जाते हैं ॥ ५२ ॥ धान्यका दान देनेवाले पुरुष आनंदपूर्वक उस मार्गसे जाते हैं, स्थानका दान देनेवाले विमान में वैठकर अतिसुखसे उस मार्गमें जाते हैं ॥ ५३ ॥ जलका दान करनेवाले पुरुष मनमें आनन्दित होते हुए तृषारहित हो उस मार्ग से जाते हैं, दीपकका दान करनेवाले पुरुष दीवोंसे मार्गमें प्रकाश करतेहुए सुखसे उस मार्गमें जाते हैं ॥ ५४ ॥ गोदान करनेवाले सब पापोंसे मुक्त होकर सुखपूर्वक उस मार्गसे जाते हैं. एक मास तक व्रत करनेवाले पुरुष हंसोंसे जुतेहुए विमानोंमें वैठकर उस मार्गमें जाते हैं ॥ ५५ ॥ तथा छः रात्रितक व्रत करनेवाले पुरुष मयूरोंके विमानमें वैठकर उस मार्गसे स्वर्गमें जाते हैं, और हे राजन् ! जो पुरुष तीन रात तक एक समय भोजन करता है उसके वीचमें दो वार भोजन नहीं करता है उसको अक्षय लोक मिलते हैं, जलका गुण अलौकिक और पितृलोकमें सुखकारी कहा है अतः जिन लोगोंको मरनेके पीछे जल दिया जाता है उन लोगों के लिये तहाँ मार्गमें पुष्पोदका नामक एक नदी वनादी गई है, उस नदीके शीतल और अमृतकी समान मीठे जलको वे पीते हैं ॥ ५६—५८ ॥ परन्तु जो लोग पाप करते हैं उनके लिये

मदा हि सा ॥ ५९ ॥ तस्मात्त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनान् यथाविधि अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांशुसमन्वितः ॥ ६० ॥ पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाशया । तं पूजयाथ यत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः ॥ ६१ ॥ तं यान्तमनुगच्छन्ति देवाः सर्वे सवासवाः। तस्मिन् संपूजजिते मीता निराशा यान्त्यपूजिते ॥ ६२ ॥ तस्मात्त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनं यथाविधि । एतत्ते शतशः प्रोक्तं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६३ ॥ युधिष्ठिर उवाच ॥ पुनः पुनरहं श्रोतुं कथां धर्मसमाश्रयाम् । पुण्यामिच्छामि धर्मज्ञ कथ्यमानां त्वया विभो ६४ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ धर्मान्तरं प्रतिकथां कथ्यमानां मया नृप।सर्व-

---

पीवकी वनादी जाती है और पापी मनुष्योंको उस नदीमेंसे पीवका पान करना पड़ता है, इस प्रकार हे महाराज ! तहां सब कामनाओंको देनेवाली नदी हैं, अतः हे राजन् ! तुम भी विधिके अनुसार ब्राह्मणोंकी पूजा करो, मार्गमें चलनेसे जिसका शरीर शिथिल होगया है और धूलिसे अटगया है ऐसा अतिथि अन्न देनेवालेका नाम पता बूझता है और अन्नकी आशासे अन्नदाता के घर आता है तो ऐसे मनुष्यकी तुम्हें प्रयत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिये,अन्नके लिये वैश्वदेव होचुकनेके पीछे आया हुआ ब्राह्मण अतिथि गिना जाता है ॥ ५९-६१ ॥ और इन्द्रादि सहित सब देवता अतिथिके पीछे चलते हैं, अतः अतिथिकी पूजा करनेसे इन्द्र आदि देवता प्रसन्न होते हैं और पूजा न करनेसे निराश होकर चलेजाते हैं ॥ ६२ ॥ अतः हे राजेन्द्र ! तुम भी शास्त्रमें लिखे अनुसार इस अतिथिकी सेवा करो इस विषयमें मैंने तुम से सैंकड़ों वार कहा है, अतः तुम्हें अब जो और बात बूझनी हो वह बूझो ॥ ६३ ॥ युधिष्ठिर बोले कि—हे सार असार जाननेमें प्रवीण धर्मवेत्ता मुने ! मैं आपसे वार वार पवित्र धर्मकी कथाएं सुनना चाहता हूं, आप मुझे सुनाइये ॥ ६४ ॥ मार्कण्डेय बोले कि—हे राजन् युधिष्ठिर ! मैं तुमसे सब पापोंको नष्ट करनेवाली

पापहरां नित्यं शृणुष्वावहितो मम ॥ ६५ ॥ कपिलायां तु दत्तायां यत्फलं ज्येष्ठपुष्करे । तत् फलं भरतश्रेष्ठ विप्राणां पादधावने॥६६॥ द्विजपादोदकक्लिन्ना यावत्तिष्ठति मेदिनी । तावत् पुष्करपर्णेन पिबन्ति पितरो जलम् ॥ ६७ ॥ स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ॥ पितरः पादशौचेन अन्नाद्येन प्रजापतिः ॥६८॥ याव-द्वत्सस्य वै पादौ शिरश्चैव प्रदृश्यते । तस्मिन् काले प्रदातव्या प्रयतेनान्तरात्मना॥६९॥अन्तरिक्षगतो वत्सो यावद्योन्यां प्रदृश्यते। तावद्गौः पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुञ्चति॥७०॥ यावंति तस्या रोमाणि वत्सस्य च युधिष्ठिर । तावद्युगसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥ ७१ ॥ सुवर्णनासां यः कृत्वा सुखुरां कृष्णधेनुकाम् । तिलैः

दूसरी धर्मकी कथा कहता हूं तुम नित्य सावधान होकर मुझसे सुनो ॥ ६५ ॥ हे भरतवंशश्रेष्ठ ! श्रेष्ठ पुष्कर तीर्थमें ब्राह्मणके चरण धोनेसे जो फल मिलता है वही फल ब्राह्मणको कपिला गौका दान देनेसे भी मिलता है ॥ ६६ ॥ और ब्राह्मणोंके चरण धोनेके पानीसे जबतक पृथ्वी गीली रहती है तबतक चरण धोने वालेके पितर स्वर्गमें कमलके पत्तेमें जल पीते हैं ॥ ६७॥ ब्राह्मण का आगत स्वागत करनेसे अग्नि तृप्त होता है, आसन देनेसे इन्द्र तृप्त होता है, पैर धोनेसे पितर तृप्त होते हैं और अन्नादि देनेसे ब्रह्मा प्रसन्न होता है ॥६८॥ हे राजन् युधिष्ठिर! बछड़ेका पैर और शिर बाहर निकलाहुआ दीखे उस समय पुरुष सावधान होकर अन्तःकरणसे उस प्रसव्याही द्विमुखी गौका ब्राह्मणको दान देय ॥ ६९ ॥ क्योंकि—गौके पेटमें रहनेवाला बच्चा जबतक गौकी योनिमें आया हुआ दीखे और गर्भको गौ बाहर न निकाले उस समय तक गौको पृथ्वी जानो ॥ ७० ॥ और उसका दान करनेवाला पुरुष गौके और उसके बछड़ेके शरीरमें जितने रुएं होते हैं उतने हजार युगों तक स्वर्गमें रहकर सुख भोगता है ७१ जो पुरुष काले वर्णकी गौको सोनेकी नाक और सोनेके खुर बनवा

प्रच्छादितां दद्यात् सर्वरत्नैरलंकृताम् ॥ ७२ ॥ प्रतिग्रहं गृहीत्वा यः पुनर्ददति साधवे। फलानां फलमश्नाति तदा दत्त्वा च भारत ॥ ७३ ॥ ससमुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना। चतुरन्ता भवेद्दत्ता पृथिवी नात्र संशयः ॥ ७४ ॥ अन्तर्जानुशयो यस्तु भुंजते सक्तभाजनः। यो द्विजः शब्दरहितं स क्षमस्तारणाय वै ॥ ७५ ॥ अपानपा न गदितास्तथान्ये ये द्विजातयः। जपन्ति संहितां सम्यक् ते नित्यं तारणक्षमाः॥७६॥कव्यं हव्यञ्च यत् किञ्चित् सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति। दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलितेऽग्नौ यथा हुतम्॥७७॥ मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः। निहन्युर्मन्युना विप्रा

कर सब प्रकारके रत्नोंसे सजाकर तिलके ढेरके साथ ब्राह्मणको देता है तो उस गौके और उस बछड़ेके शरीरमें जितने रोम होते हैं उतने वर्षोंतक स्वर्गमें रहता है ॥ ७२ ॥ और ऊपर लिखीहुई काली गौका दान लेकर किसी सत्पुरुषको उसे जो दानमें देदेता है तो हे भरतवंशी राजन्! उस देनेवालेको बड़ा फल मिलता है और उसे समुद्र गुहा पर्वत वन आदि चारों दिशाओं सहित पृथ्वीके दान करनेका फल निःसन्देह मिलता है ॥ ७३–७४ ॥ और जो दोनों हाथोंको घुटनोंके बीचमें रखकर भोजन के पात्रकी ओर ही दृष्टि लगाकर भोजन करता है वह शान्त ब्राह्मण मनुष्योंको तारनेमें समर्थ है ॥ ७५ ॥ जो ब्राह्मण शराब नहीं पीता है और न किसी की निन्दा करता है तथा जो ब्राह्मण संहिताका भली प्रकार पाठ करता है वह ब्राह्मण सदा तारनेमें समर्थ है, हव्य (यज्ञबलि) और कव्य (पितरोंके लिये जो दिया जाय वह) सर्व वेदवेत्ता श्रेष्ठ ब्राह्मणको ही देना ठीक है क्योंकि—जैसे अग्निमें होमी हुई आहुति सफल होती है तैसे ही वेदवेत्ता ब्राह्मणको दी हुई वस्तु भी सफल होती है ॥७६-७७॥ हे राजन्! ब्राह्मणोंका आयुध क्रोध है, वे शस्त्रसे युद्ध नहीं करते, किन्तु जैसे इन्द्र वज्रसे असुरोंका संहार करते हैं इसीप्रकार क्रो-

वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ७८ ॥ धर्माश्रितेयन्तु कथा कथितेयं तवानघ । यां श्रुत्वा मुनयः प्रीता नैमिषारण्यवासिनः ॥ ७९ ॥ वीतशोकभयक्रोधा विपाप्मानस्तथैव च । श्रुत्वेमान्तु कथां राजन्न भवन्तीह मानवाः ॥ ८० ॥ युधिष्ठिर उवाच । किन्तच्छौचं भवेद्येन विप्रः शुद्धः सदा भवेत् । तदिच्छामि महाप्राज्ञ श्रोतुं धर्मभृताम्वर ॥ ८१ ॥ मार्कण्डेय उवाच । वाक्शौचं कर्मशौचञ्च यच्च शौचं जलात्मकम् । त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गी नात्र संशयः ॥ ८२ ॥ सायं प्रातश्च सन्ध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते । प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ॥ ८३ ॥ स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्विषः । न सीदेत् प्रतिगृह्णानो महीमपि ससागराम् ॥ ८४ ॥ ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्य्यादयो दिवि । ते चास्य

धसे मनुष्योंका संहार करडालते हैं ॥ ७८ ॥ हे निष्पाप राजन् ! मैंने तुमसे इसप्रकार धर्मसंबंधी कथा कही, इस कथाको सुनकर नैमिषारण्यवासी मुनि प्रसन्न हुए थे ॥ ७९ ॥ हे राजन् ! इस कथाको श्रवण करके मनुष्य शोक, भय, पाप तथा क्रोधरहित होकर स्वर्गमें जाता है ॥ ८० ॥ युधिष्ठिर बोले कि—हे महाबुद्धिमान् ! हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! वह कैसी पवित्रता है जिससे ब्राह्मण सदा ही शुद्ध रहता है, इसको सुननेकी मुझै इच्छा है, कहिये ॥ ८१ ॥ मार्कण्डेय जी बोले कि—हे युधिष्ठिर ! वाणीकी पवित्रता, कर्मकी पवित्रता, और जलकी पवित्रता इसप्रकार तीन प्रकारकी पवित्रता है, जो मनुष्य इस तीन प्रकार की पवित्रतासे युक्त है वह अवश्य ही स्वर्गमें वसता है ॥ ८२ ॥ जो ब्राह्मण त्रिकालसंध्या करता है और वेदमाता पवित्र गायत्री का जप करता है वह ब्राह्मण गायत्री देवीसे पवित्र होता है, उसके पाप नष्ट होजाते हैं और वह ब्राह्मण सम्पूर्ण पृथ्वीका दान लेनेपर भी दुःखको प्राप्त नहीं होता है ॥ ८३—८४ ॥ जऔर गायत्रीका जप करनेवाले ब्राह्मणके ऊपर आकाशचारी

सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराः सदा ॥ ८५ ॥ सर्वेनानुगतश्चैनं दारुणाः पिशिता शिवाः । घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति द्विजोत्तमम् ॥ ८६ ॥ नाध्यापनाद्याजनाद्वा अन्यस्माद्वा प्रतिग्रहात् दोषो भवति विप्राणां ज्वलिताग्निसमा द्विजाः ॥ ८७ ॥ दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा । ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥ ८८ ॥ यथाश्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति । एवं विद्वानविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥ ८९ ॥ प्राकारैश्च पुरद्वारैः प्रासादैश्च पृथग्विधैः । नगराणि न शोभन्ते हीनानि ब्राह्मणोत्तमैः ॥ ९० ॥ वेदाढ्या वृत्तसम्पन्ना ज्ञानवन्तस्तपस्विनः । यत्र तिष्ठन्ति वै विप्रास्तन्नाम नगरं नृपः ॥ ९१ ॥

सूर्यादि ग्रह विपरीत हों तो भी वे नित्य शांत होकर उसको महासुख देते हैं ॥ ८५ ॥ तथा भयंकर रूपवाले और स्थूल शरीरवाले सब मांसाहारी दारुण राक्षस भी वेदादिकी विधिमें चलनेवाले उस ब्राह्मणका तिरस्कार नहीं करते हैं ॥ ८६ ॥ दूसरेको वेद पढानेसे, यज्ञ करवानेसे अथवा दूसरेके पाससे दान लेने में ब्राह्मणको दोष नहीं लगता है, क्योंकि— ब्राह्मण प्रज्वलित हुए अग्नि की समान है ॥ ८७ ॥ ब्राह्मण वेद पढ़ा हो अथवा न पढ़ा हो उसके सोलह संस्कार हुए हों अथवा न हुए हों तो भी ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करना चाहिये क्योंकि — ब्राह्मण भस्मसे ढकेहुए अग्निकी समान है ॥ ८८ ॥ जैसे स्मशानमें धधकता हुआ तेजस्वी अग्नि दूषित नहीं गिनाजाता तैसे ही ब्राह्मण विद्वान् हो वा मूर्ख हो तो भी दूषित नहीं गिनाजाता, क्योंकि— ब्राह्मण महादैवत हैं ॥ ८९ ॥ हे राजन् ! नगरोंमें अनेक प्रकार के किले दरवाजे और नए २ मन्दिर हों तो भी यदि उसमें ब्राह्मण न रहते हों तो वह नगर शोभा नहीं पाते॥९०॥ परन्तु हे राजन् ! जहां वेदवेत्ता सदाचारसम्पन्न ज्ञानी और तपस्वी ब्राह्मण रहते

व्रजे वाप्यथवारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः । तत्तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थञ्च तद्भवेत् ॥९२॥ रक्षितारञ्च राजानं ब्राह्मणञ्च तपस्विनम् । अभिगम्याभिपूज्याथ सद्यः पापात् प्रमुच्यते ॥ ९३ ॥ पुण्यतीर्थाभिषेकञ्च पवित्राणां च कीर्त्तनम् । सद्भिः सम्भाषणञ्चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः ॥ ९४ ॥ साधु संगमपूतेन वाक्सुभाषितवारिणा । पवित्रीकृतमात्मानं सन्तो मन्यन्ति नित्यशः ॥९५॥ त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुण्डनम् । वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्याभिषेचनम् ॥ ९६ ॥ अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम् सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मलः ॥९७ ॥ न दुष्करमनाशित्वं सुकरं ह्यशनं विना । विशुद्धिं चक्षुरादीनां षण्णामिन्द्रि

हैं उसका नामही नगर कहाजाता है ॥९१॥ और हे पार्थ! गोठमें अथवा जंगलमें जहां कहीं बहुतसे शास्त्रोंको जाननेवाले ब्राह्मण रहते हों वह स्थान ही नगर और तीर्थ कहाता है॥९२॥ जोमनुष्य रक्षा करनेवाले राजाके अथवा तपस्वी ब्राह्मणके पास जाकर उसकी पूजा करता है तो वह तुरत ही पापोंसे छूटजाता है पवित्र तीर्थमें स्नान करना पवित्र पुरुषोंका कीर्त्तन करना और सत्पुरुषोंके साथ बातचीत करना इन कामोंको जो करता है उसे ही पण्डित श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ९३—९४ ॥ क्योंकि— सत्पुरुष नित्य साधुके समागमसे पवित्र सुभाषित स्वरूपवाली वाणीसे अपनी आत्माको पवित्र हुई मानते हैं ।९५। हे राजन्! यदि अन्तःकरण निर्मल न हो तो त्रिदण्ड धारण करना अर्थात् मन वचन और कर्म इनका वशमें रखना मौन रहना मस्तक पर जटा रखना मुंडन कराना वल्कल वस्त्र और मृगचर्म पहिरना व्रत करना तीर्थमें स्नान करना अग्निहोत्र करना वनमें रहना और शरीरको तप आदिसे सुखाना यह सब वृथा हैं ।९६–९७। विषयकी शुद्धि विना किये चक्षुः आदि छः इन्द्रियोंका उपभोग करना सहल है परन्तु

यगामिनाम्॥ ६८ ॥ विकारि तेषां राजेन्द्र सुदुष्करतरं मनः। ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः। ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ॥६६॥ न ज्ञातिभ्यो दया यस्य शुक्लदेहो विकल्मषः। हिंसा सा तपसस्तस्य नानाशित्वं तपः स्मृतम् ॥१००॥ तिष्ठन् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतः।यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १०१ ॥ नहि पापानि कर्माणि शुध्यन्त्यनशनादिभिः। सीदत्यनशनादेव मांसशोणितलेपनः ॥ १०२ ॥ अज्ञातं कर्म कृत्वा च क्लेशो नान्यत् महीपते। नाग्निर्दहति कर्माणिभाव-

---

अनुपम भोगरूपी अमृतपना बहुत कठिन है क्योंकि—वह विना परिश्रमके नहीं होसकता, हे महाराज! छः इन्द्रियोंमें वसाहुआ विकारयुक्त मन दुर्जय है, वह केवल कष्टसे वशमें किया जासकता है ॥ ६८ ॥ जो महात्मा पुरुष मन वाणी कर्म और बुद्धिसे पाप नहीं करते हैं वे ही सच्ची तपस्या करते हैं परन्तु शरीरको दुर्बल करना यह कोई तप नहीं मानाजाता ॥ ६६ ॥ जो मनुष्य पवित्र शरीर रखनेकी सुनिवृत्ति पालते हैं और कुटुम्बियों पर दया नहीं करते हैं वे शुद्ध होने पर भी पापशून्य नहीं मानेजासकते क्योंकि-उनका निर्दयीपना उनके तपका नाश करनेवाला है तैसे ही भोजन न करने आदिसे भी पाप दूर नहीं होते ॥ १०० ॥ परन्तु जो निरंतर घरमें रहकर पवित्र रहता हो अलंकृत रहता हो और जीवन पर्यन्त सब प्राणियों पर दया करता हो तो वह मुनि कहाता है सब पापोंसे छूटजाता है ॥ १०१ ॥ हे राजन्! उपवासादि कर्म करनेसे कुछ पाप कर्म नष्ट नहीं होते हैं किन्तु उपवासादि करनेसे तो उल्टा यह मांस और लोहूसे बना हुआ देह पीड़ा पाता है ॥ १०२ ॥ पुरुष कर्मके स्वरूपको समझे विना और शास्त्रके आधार विना अपने मनसे गढ़ेहुए तप्तशिला पर बैठना आदि कर्म करता है तो वह केवल क्लेश पाता है और उसके पाप नष्ट नहीं होते हैं, अग्नि मलिनचित्त जीवोंके पापों को

शून्यस्य देहिनः ॥१०३॥पुण्यादेव प्रव्रजन्ति शुध्यन्त्यनशानि च। न मूलफलभक्षित्वान्न मौनाद्वानिलाशनात्॥१०४॥ शिरसो मुण्डनाद्वापि न स्थानकुटिकासनात्। न जटाधारणाद्वापि न तु स्थण्डिलशय्यया.॥१०५॥ नित्यं ह्यनशनाद्वापि नाग्निशुश्रूषणादपि। न चोदकप्रवेशेन न च क्ष्माशयनादपि॥१०६॥ ज्ञानेन कर्मणा वापि जरामरणमेवच। व्याधयश्च प्रहीयन्ते प्राप्यते चोत्तमं पदम्॥१०७॥ वाजानि ह्यग्निदग्धानि नरो हन्ति पुनर्यथा। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशै र्नात्मा संयुज्यते पुनः॥१०८॥ आत्मना वि हीणानि काष्ठकुड्योपमानि च। विनश्यन्ति न सन्देहः फेनानीव महार्णवे॥१०९॥ आत्मानं विन्दिते येन सर्वभूतगुहाशयम्। श्लोकेन यदि वार्द्धेन

जराभी नहीं जलाता है॥ १०३॥ सत्य तो यह ही है कि—सब प्राणियोंके ऊपर दया करना तथा मन वाणी और शरीरकी शुद्धि रखना इससे ही शुद्ध वैराग्य उत्पन्न होता है और इससे ही मोक्ष मिलती है परंतु कंद और फलों का आहार करनेसे मौनव्रत धारण करनेसे पवन का आहार करनेसे शिर मुंडानेसे स्थावर गृहका त्याग करनेसे जटा धारण करनेसे सपाटभूमिमें सोनेसे नित्य भूखा रहनेसे पञ्चाग्नि तापनेसे जलमें वैठे रहनेसे पृथ्वी पर खुले स्थानमें सोनेसे मोक्ष कभी भी नहीं मिलती है ॥ १०४—१०६॥ केवल ज्ञान तथा शुद्ध कर्म करनेसे ही मनुष्य की वृद्धावस्था और व्याधियें नष्ट होती हैं तव ही मोक्ष मिलती है ॥ १०७॥ अग्निमें भूनेहुए वीज जैसे पृथ्वीमें नहीं उगते हैं तैसे ही ज्ञानरूपी अग्निसे आत्माके दुःख जल जाते हैं तव आत्मा उन दुखों के साथ संयुक्त नहीं होता है १०८ आत्मा चैतन्य है शरीर जव उससे पृथक् होजाता है और काठ तथा दीवालकी समान जड़ होजाता है तव ही महासागरमें उत्पन्न हुए ववूलेकी समान नष्ट होजाता है, इसमें सन्देह नहीं है॥ १०९॥ जो पुरुष एक श्लोक अथवा आधे श्लोकसे सव प्राणियोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले पर-

क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ॥ ११० ॥ द्व्यक्षरादभिसन्ध्याय केचिच्छ्लोकपदांकितैः । शतैरन्यैः सहस्रैश्च प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥१११॥ नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥ १२ ॥ विदितार्थस्तु वेदानां परिवेदप्रयोजनम् । उद्विजेत् स तु वेदेभ्यो दावाग्नेरिव मानवः ॥ १३ ॥ शुष्कं तर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम् । एकाक्षराभिसम्बन्धं तत्त्वं हेतुभिरिच्छसि । बुद्धिर्न तस्य सिध्येत साधनस्य विपर्ययात् ॥ १४ ॥ वेदपूर्वं वेदितव्यं प्रयत्नात्तद्वै वेदस्तस्य वेदः शरीरम् । वेदस्तत्त्वं तत्समासोपलब्धौ क्लीवस्त्वात्मा तत्सवेद्यस्य

मात्माको जानता है फिर उसे अन्य कुछ जाननेको शेष नहीं रहता है ॥ ११० ॥ कुछ पुरुष सैंकड़ों और सहस्रों उपनिषदोंके मंत्रोंमेंसे केवल "तत्,, इस दो अक्षरोंवाले मंत्रमेंसे आत्मरूपको जानलेते हैं, अहं ब्रह्मास्मि' ऐसे अपने स्वरूपको दिखानेवाले अनुभव होने का नाम मोक्ष है ॥ १११ ॥ ज्ञानी वृद्धपुरुष कहगए हैं कि–जिसके मनमें संदेह है ऐसे पुरुषको यह लोक परलोक अथवा सुख इन मेंसे कुछ भीं नही मिलता है, किन्तु जो संशयरहित शुद्ध–मनवाले श्रद्धालु हैं, उन्हें सब सुख मिलते हैं, श्रद्धा करनेका नाम मोक्ष है ॥ ११२ ॥ जिन्होंने वेदोंके अर्थको जाना है वे ही वेदोंका प्रयोजन जानते हैं, परन्तु मनुष्य जैसे दावानलसे डरते हैं तैसे ही वेदके अर्थको जाननेवाले पुरुष भी वेदोक्त कर्मोंसे डरते हैं ११३ तुम सूखे तर्कोंको छोडकर श्रुति स्मृतिका आश्रय लो अर्थात् वेद और धर्मशास्त्रके ऊपर श्रद्धा रक्खो और श्रुतिसिद्ध अविनाशी युक्तिके द्वारा अद्वितीय अविनाशी तत्त्वको जाननेकी इच्छा करो ॥११४॥ इसे लिये ही प्रयत्नपूर्वक वेदके द्वारा परमात्माके तत्त्वको जानना चाहिये, परमात्मा वेदस्वरूप है, वेद ही उनका शरीर है और वेद ही से तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु सब वेद जिसके विषैं लय पाते हैं, उस परमात्माके स्वरूपको जाननेमें जीवात्मा समर्थ नहीं

वेद्यम् ॥ १५ ॥ वेदोक्तमायुर्देवानामाशिषश्चैव कर्मणाम् । फलत्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ १६ ॥ इन्द्रियाणां प्रसादेन तदेतत् परिवर्ज्जयेत् । तस्मादनशनं दिव्यं निरुद्धेन्द्रियगोचरम् १७ तपसा स्वर्गगमनं भोगो दानेन जायते । ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः ॥ १८ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तस्तु राजेन्द्र प्रत्युवाच महायशाः । भगवन् श्रोतुमिच्छामि प्रदानविधिमुत्तमम् ॥ १९ ॥ मार्कण्डेय उवाच । यत्त्वमिच्छसि राजेन्द्र दानधर्मं युधिष्ठिर । इष्टश्चेदं सदा मह्यं राजन् गौरवतस्तथा ॥ २० ॥ शृणु दानरहस्यानि श्रुतिस्मृत्युदितानि च । छायायां करिणः श्राद्धं

है, यह परमात्मा केवल बुद्धितत्वसे ही जानाजाता है ॥ ११५ ॥ वेदमें वतायीहुई देवताओंकी परमावस्था कर्मोंके शुभ फल और देहधारियोंका प्रभाव जगत्में युगोंके अनुसार फलीभूत होते हैं ॥ ११६ ॥ इन्द्रियोंको निर्मल करनेके लिये सब कर्मोंका त्याग करना चाहिये और इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकने लिये जो अनशन उपवास कियाजाय उसको ही दिव्य उपवास समझना चाहिये ॥११७॥तप करनेसे स्वर्गमें गति मिलती है,दान देनेसे ऐश्वर्य भोगनेको मिलते हैं, ज्ञानसे मोक्ष मिलती है और तीर्थमें स्नान करनेसे पाप नष्ट होजाते हैं ॥११८॥ वैशम्पायन कहते हैं कि–हे राजेन्द्र ! इस प्रकार मार्कण्डेय मुनिने राजासे कथा कही, इसके पीछे महायशस्वी राजा युधिष्ठिर वोले कि–हे भगवन् ! मैं आपसे दानकी श्रेष्ठ विधि सुनना चाहता हूं ॥ ११९ ॥ मार्कण्डेय बोले कि–हे राजेन्द्र युधिष्ठिर ! तुम श्रेष्ठ दानधर्म सुनना चाहते हो तो दानधर्म मुझे भी सदा प्रिय लगता, है, क्योंकि–यह परमधर्म गिनाजाता है ॥ १२० ॥ हे युधिष्ठिर ! मैं तुमसे श्रुतिस्मृतिमें वताये हुए गुप्तदान कहता हूं सुनो, गजच्छाया नामक पर्वमें अथवा पीपलके पत्ते से जहां पवन चलता हो ऐसी नदी पर श्राद्ध करनेसे श्राद्ध

तत्कर्णपरिवीजिते । दशकल्पायुतानीह न क्षीयेत युधिष्ठिर॥ २१॥ जीवनाय समाक्लिन्नं वसु दत्वा महीपते । वैश्यन्तु वासयेद्यस्तु सर्वयज्ञैः स इष्टवान् ॥ २२ ॥ प्रतिस्रोतश्चित्रवाहाः पर्य्यन्योन्नानु-सञ्चरन् । महाधुरि यथा नावा महापापैः प्रमुच्यते ॥ २३ ॥ विप्लवे विप्रदत्तानि दधिमस्त्वक्षयाणि च । पर्वसु द्विगुणं दान-मृतौ दशगुणं भवेत् ॥ २४ ॥ अयनेषुविषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च । चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ॥ १२५ ॥ ऋतुषु दशगुणं

करनेवालेका पुण्य लाखों करोड़ों कल्पों तक अविचल रहता है ॥ १२१ ॥ तैसे ही जो मनुष्य, क्षुधासे पीडित प्राणीकी प्राणर-क्षाके लिये अन्न देता है, वह स्वर्गमें पूजा पाता है तथा जो मनुष्य धर्मशाला बनवाकर उसमें निराश्रय प्राणियोंको रहने देता है उसे सब यज्ञ करनेका फल मिलता है ॥ १२२॥ जिस नदीका प्रवाह पूर्वसे पश्चिमकी ओर वहता हो वह नदी तीर्थरूप मानी-जाती है, उसके तट पर सत्पुरुषोंको घोड़ोंका दान देनेसे अक्षय-फल मिलता है, जो पुरुष अतिथिको अन्न देता है उस पुरुष पर अतिथिरूप इन्द्र प्रसन्न होता है और उसे स्वर्गका अक्षय वास देता है, मनुष्य जैसे महाभाररूप और दुस्तर जलविप्लवमेंसे नौकाकेद्वारा छूटता है,तैसे ही पूर्वोक्त दाता भी महापापसे छूट-जाता है ॥ १२३ ॥ सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहणके समय जो दान ब्राह्मणको दिया जाता है वह दान श्राद्धमें दियेहुए दहीके पदा-र्थका समान अक्षय फलदायक होता है, पर्वमें दान देनेसे दुगना फल मिलता है, ऋतुमें दान देनेसे दशगुणा फल मिलता है ॥ १२४ ।' उत्तरायण तथा दक्षिणायनमें सूर्य हो तब तुला और मेषकी संक्रांतिके समय प्रातःकाल मिथुन कन्या तथा मीनकी संक्रांति में होय तो चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहणके दिन जो दान दिया जाता है वह अक्षय फल देनेवाला मानाजाता है ॥ १२५ ॥ हे राजन् ! कुछ पुरुष कहते हैं कि—जब ऋतु बदलती हो उसी दिन

वदन्ति दत्तं शतगुणमृत्वयनादिषु ध्रुवम् । भवति सहस्रगुणं दिनस्य राहोर्विषुवति चात्तयमश्नुते फलम् ॥ २६ ॥ नाभूमिदो भूमिमश्नाति राजन्नायानदो यानमारुह्य याति । यान्यान् कामान् ब्राह्मणेभ्यो ददाति तांस्तान् कामान् जायमानः स भुंक्ते ॥ २७ ॥ अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं भूर्वैष्णवी सूर्य्यसुताश्च गावः । लोकास्त्रयस्तेन भवन्ति दत्ता यः काञ्चनं गाश्च महीञ्च दद्यात् ॥ २८ ॥ परं हि दानान्न बभूव शाश्वतं भव्यं त्रिलोके भवते कुतः पुनः । तस्मात् प्रधानं परमं हि दानं वदन्ति लोकेषु विशिष्टबुद्धयः ॥ १२६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
दानमाहात्म्ये द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

दियाहुआ दान दशगुणा फल देता है, उत्तरायण तथा दक्षिणायन सूर्य हुए हों, उस दिन दियाहुआ दान सौगुणा पुण्य देता है, सूर्य तथा चन्द्रग्रहणके समय दियाहुआ दान सहस्रगुणा फल देता है और मेष तथा तुलकी संक्रांतिके दिन दियेहुए दानसे अक्षय पुण्यका लाभ होता है ॥ १२६ ॥ हे राजन् ! जो पृथ्वीका दान नहीं देता है, उसको दूसरे जन्ममें पृथ्वी नहीं मिलती और वाहनका दान नहीं करता है उसको पैरों ही चलना पड़ता है, कहनेका प्रयोजन यह है कि–जिन२वस्तुओंको जो पुरुष ब्राह्मणके निमित्त देता है दूसरे जन्ममें वह पुरुष उन २ इष्ट वस्तुओंको भोगता है, अतः ब्राह्मणोको श्रेष्ठ वस्तुएं दानमें देनी चाहियें ॥ १२७ ॥ सुवर्ण अग्निका पहिला पुत्र कहाता है, पृथिवी विष्णुकी पुत्री गिनीजाती है और गौएं सूर्यकी पुत्रियें गिनीजाती हैं, अतः जो पुरुष सुवर्ण, पृथिवी तथा गौका दान करता है, उसको तीन लोकके दानका फल मिलता है ॥ १२८ ॥ हे राजन् ! तीनों लोकोंका कल्याणकरनेवाली और नित्य रहनेवाली वस्तु दानके सिवाय और नहीं है, ऐसा श्रेष्ठबुद्धिवाले मनुष्य कहते हैं, अतः सब धर्मोंमें दानधर्म मुख्य है, यह कथा मैंने तुम्हें सुनाई अब बताओ तुम्हें कौनसी कथा सुनाऊँ ॥ १२६ ॥ दोसौवाँ अध्याय समाप्त २००

वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वा तु राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत्तथा । मार्कण्डयान्महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥ युधिष्ठिरो महाराज पप्रच्छ भरतर्षभ । मार्कण्डेयं तपोवृद्धं दीर्घायुषमकल्मषम् ॥ २ ॥ विदितास्तव धर्मज्ञ देवदानवराक्षसाः । राजवंशाश्च विविधा ऋषिवंशाश्च शाश्वताः ॥ ३ ॥ न तेस्त्यविदितं किञ्चिदस्मिन् लोके द्विजोत्तम । कथा वेत्सि मुने दिव्यां मनुष्योरगरक्षसाम् ॥ ४ ॥ देवगन्धर्वयक्षाणां किन्नराप्सरसां तथा । इदमिच्छाम्यहं श्रातुं तत्त्वेन द्विजसत्तम ॥ ५ ॥ कुवलाश्व इति ख्यात इक्ष्वाकुरपराजितः । कथं नाम विपर्य्यासाद्धुन्धुमारत्वमागतः ॥ ६ ॥ एतदिच्छामि तत्त्वेन ज्ञातुं भार्गवसत्तम । विपर्यस्तं यथा नाम कुवलाश्वस्य धीमतः ॥ ७ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ युधिष्ठिरेणैवमुक्तो

वैशम्पायन बोले कि—हे भरतवंशमें श्रेष्ठ महाराज ! महाभाग राजा युधिष्ठिर मार्कंडेयजीसे राजर्षि इन्द्रद्युम्नके स्वर्गमें जानेकी कथा सुनकर तपोवृद्ध, दीर्घायु तथा निष्पाप मार्कंडेय ऋषिसे फिर बूझने लगे कि—हे धर्मज्ञ मार्कण्डेय ! इस विश्वमें रहनेवाले देव, दानव, राक्षस, यक्ष, गंधर्व, किन्नर, नाग, अप्सरा, राजे और ऋषियोंके वंश आप जानते हैं, हे द्विजोत्तम ! इस लोकमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे आप न जानते हों अर्थात् आप सब कुछ जानते हैं और हे मुने ! तुम मनुष्य, सर्प, राक्षस, देवता यक्ष, गंधर्व, किन्नर और अप्सराओंकी दिव्य कथाओंको भी जानते हो, अतः हे द्विजोत्तम ! उन कथाओंको मुझै यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा है, अब तो आप मुझै इक्ष्वाकुवंशी अजित राजा कुवलाश्वकी कथा सुनाइये, बुद्धिमान् राजा कुवलाश्वका वास्तविक नाम पलटकर धुन्धुमार नाम किस कारण से पड़ा था ? हे भृगुवंशश्रेष्ठ ! मैं इसे यथार्थरीतसे सुनना चाहता हूं आप कहिये कि—बुद्धिमान् कुवलाश्वका नाम क्यों बदला था ? ॥ १—७ ॥ वैशम्पायन बोले कि —हे भारत ! इसप्रकार युधि-

मार्कण्डेयो महामुनिः । धौन्धुमारमुपाख्यानं कथयामास भारत ८
मार्कण्डेय उवाच । हन्त ते कथयिष्यामि शृणु राजन् युधिष्ठिर ।
धर्मिष्ठमिदमाख्यानं धुन्धुमारस्य तच्छृणु ॥ ९ ॥ यथा स राजा
इक्ष्वाकुः कुवलाश्वो महीपतिः । धुन्धुमारत्वमगमत् तच्छृणुष्व म-
हीपते ॥ १० ॥ महर्षिर्विश्रुतस्तात उत्तङ्क इति भारत । मरुधन्वसु
रम्येषु आश्रमस्तस्य कौरव ॥ ११ ॥ उत्तङ्कस्तु महाराज तपोऽत-
प्यत् सुदुश्चरम् ।आरिराधयिषुर्विष्णुं वहून् वर्षगणान् विभुः १२
तस्य प्रीतः स भगवान् साक्षाद्दर्शनमेयिवान् । दृष्ट्वैव चर्षिः प्रह्व-
स्तं तुष्टाव विविधैःस्तवैः ॥ १३ ॥उत्तङ्क उवाच । त्वया देव प्रजाः
सर्वाः ससुरासुरमानवाः । स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव
च ॥ १४ ॥ ब्रह्मवेदाश्च वेद्यश्च त्वया सृष्टं महाद्युते । शिरस्ते गगनं

ष्ठिरने महामुनि मार्कण्डेयजीसे बूझा तब वे धुन्धुमारकी कथा कह-
नेलगे ॥ ८ ॥ मार्कण्डेय बोले कि-हे राजन् युधिष्ठिर ! मैं तुमसे
राजा धुन्धुमारका धर्मसे भरीहुई कथा कहता हूं तुम सुनो ॥९॥
इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए कुवलाश्वका नाम धुन्धुमार किसप्रकार
प्रसिद्ध हुआ, उसे हे राजन् ! तुम सुनो ॥ १० ॥ हे भरतवंशी
राजन् ! उत्तङ्क नामक एक प्रसिद्ध मुनि थे, उनका आश्रम मरु-
धन्व नामक रमणीय प्रदेशमें था ॥ ११ ॥ हे महाराज ! उन
उत्तंकको विष्णुकी आराधना करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई,इससे उन
महासमर्थ मुनिने सहस्रों वर्षतक दुष्कर तप किया ॥ १२ ॥ यह
देख कर भगवान् विष्णु उनके ऊपर प्रसन्न हुए और उनको
साक्षात् दर्शन दिया, परमात्माके दर्शन होते क्षण ही ऋषि भक्ति
से नम्र होकर विविध प्रकारके स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करनेलगे
॥ १३ ॥ उत्तंकने स्तुतिकी कि-हे देव ! सब प्रजा देव, दैत्य,
मनुष्य, स्थावर जंगम प्राणी, वेदवक्ता ब्रह्मा, वेद तथा जो कुछ
जानने योग्य वस्तुएं हैं, उन सबको आपने रचा है, हे महाप्रभो !
स्वर्ग आपका शिर है, चन्द्र तथा सूर्य आपके नेत्र हैं ॥ १४ ॥

देव नेत्रे शशिदिवाकरौ ॥ १५ ॥ निःश्वासः पवनाश्चापि तेजोऽ-
ग्निश्च तवाच्युत । बाहवस्ते दिशः सर्वाः कुक्षिश्चापि महार्णवः १६
ऊरू ते पर्वतादेव खं जङ्घे मधुसूदन । पादौ ते पृथिवी देवी रोमा-
ण्योषधयस्तथा ॥ १७॥ इन्द्रसोमाग्निवरुणा देवासुरमहोरगाः ।
प्रह्वास्त्वामुपतिष्ठन्ति स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः ॥ १८ ॥ त्वयाव्या-
प्तानि सर्वाणि भूतानि भुवनेश्वर । योगिनः सुमहावीर्य्याः स्तुव-
न्ति त्वां महर्षयः ॥ १९ ॥ त्वयि तुष्टे जगत् स्वस्थं त्वयि क्रुद्धे
महद्भयम् । भयानामपनेतासि त्वमेकः पुरुषोत्तम ॥ २० ॥ देवानां
मानुषाणाञ्च सर्वभूतसुखावहः । त्रिभिर्विक्रमणैर्देव त्रयो लोका-
स्त्वया हृताः ॥ २१ ॥ असुराणां समृद्धानां विनाशश्च त्वया कृतः

पवन आपके सांस हैं, अग्नि आपका तेज है, हे अच्युत! सब दिशाएं आपकी भुजाएं हैं, महासागर आपका विशाल उदर है और हे देव ! पर्वत आपकी सांथल हैं, और आकाश आपकी जंघा हैं, पृथ्वी आपके दो चरण हैं, सब औषधियें आपके रोम हैं, इन्द्र चन्द्र–अग्नि–वरुण–देव–असुर और महानाग भक्तिपूर्वक नम्र होकर नाना प्रकारके स्तोत्रोंसे आपकी स्तुति करतेहुए आप की सेवा करते हैं, ॥ १५—१८ ॥ हे भुवनेश्वर ! तुम सब प्राणियोंमें व्याप्त हो, बड़े २ पराक्रमी योगी तथा महर्षि आपकी स्तुति करते हैं ॥ १९ ॥ आपकी स्तुति करना उचित ही है, क्योंकि–आपके प्रसन्न होने पर जगत् सुखी रहता है और आप के क्रुद्ध होने पर जगत्को महाभय प्राप्त होता है हे पुरुषोत्तम! एक तुम ही भयको नष्ट करनेवाले हो॥२०॥हे देव ! तुम देवता मनुष्य और सब प्राणियोंको सुख देते हो, हे देव! तुमने तीन पैरोंमें तीनों लोकों को हरलिया था ॥ २१ ॥ और जब असुर संपत्ति पाकर उपद्रव करनेलगे तब उनका नाश आपने ही किया था, तथा हे देव ! तुमने जब तीन पैरोंसे पृथ्वी नाप ली थी, तब देवता परमानन्दित

तव विक्रमणैर्देवा निर्वाणमगमन् परम् ॥ २२ ॥ पराभूताश्च दैत्येन्द्रास्त्वयि क्रुद्धे महाद्युते । त्वं हि कर्त्ता विकर्त्ता च भूतानामिह सर्वशः ॥ २३ ॥ आराधयित्वा त्वां देवाः सुखमेधन्ति सर्वशः । एवं स्तुतो हृषीकेश उत्तंकेन महात्मना ॥ २४ ॥ उत्तंकमब्रवीद्विष्णुः प्रीतस्तेऽहं वरं वृणु । उत्तङ्क उवाच । पर्य्याप्तो मे वरो ह्येप यदहं दृष्टवान् हरिम् ॥ २५ ॥ पुरुषं शाश्वतं दिव्यं स्रष्टारं जगतः प्रभुम् । विष्णुरुवाच । प्रीतस्तेऽहमलौल्येन भक्त्या तव च सत्तम ॥ २६ ॥ अवश्यं हि त्वया ब्रह्मन् मत्तो ग्राह्यो वरो द्विज । एवं सच्छन्द्यमानस्तु वरेण हरिणा तदा ॥ २७ ॥ उत्तंकः प्राञ्जलिर्वव्रे वरं भरतसत्तम । यदि मे भगवान् प्रीतः पुण्डरीकनिभेक्षण २८ धर्मे सत्ये दमे चैव बुद्धिर्भवतु मे सदा । अभ्यासश्च भवेद्भक्त्या त्वयि नित्यं ममेश्वर ॥ २९ ॥ भगवानुवाच । सर्वमेतद्धि भविता

हुए थे ॥ २२ ॥ हे महाकान्तिमान् ! तुम जब क्रोध करते हो तब दैत्य पराजय पाते हैं ॥ २३ ॥ और देवता आपकी आराधना करके सब सुख पाते हैं, इसप्रकार उत्तंकने विष्णुकी स्तुतिकी, तब भगवान् विष्णुने प्रसन्न होकर उत्तंकसे कहा कि—॥ २४ ॥ मैं तुझ पर प्रसन्न हुआ हूं, तू वर मांग, उत्तंकने कहा कि—हे देव ! पुरुषरूप अविनाशी दिव्य जगत्के स्रष्टा परमात्मन् ! मुझै आपके दर्शन हुए, यह ही मुझै सब वर मिल गए, विष्णु बोले कि—हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारी भक्ति और शांतिसे मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं ॥ २५–२६ ॥ अतः हे ब्रह्मन् ! तुम मुझसे अवश्य वर मांग लो इसप्रकार वारवार विष्णुने वर मांगनेके लिये आग्रह किया ॥२७॥ तब हे भरतसत्तम! उत्तंकने दोनों हाथ जोड़कर वर मांगा कि—हे कमलनेत्र परमात्मन् ! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हुए हो तो सदा मेरी बुद्धि, धर्म, सत्य, दम, शम पर रहै, हे ईश्वर ! मैं भक्तिपूर्वक आपका ही भजन किया करूँ, यह वर मुझै दो, श्रीभगवान् बोले कि—हे ब्राह्मण ! मेरी कृपासे तुम्हारी सब कामनाएं सिद्ध होंगी

मत्प्रसादात्तव द्विज । प्रतिभास्यति योगश्च येन युक्तो दिवौकसाम् ॥ ३० ॥ त्रयाणामपि लोकानां महत् कार्यं करिष्यसि । उत्सादनार्थं लोकानां धुंधुर्नाम महासुरः ॥ ३१ ॥ तपस्यति तपो घोरं शृणु यस्तं हनिष्यति । राजा हि वीर्यवांस्तात इक्ष्वाकुरपराजितः ॥ ३२ ॥ बृहदश्व इति ख्यातो भविष्यति महीपतिः । तस्य पुत्रः शुचिर्दांतः कुवलाश्व इति श्रुतः ॥ ३३ ॥ स योगबलमास्थाय मामकं पार्थिवोत्तमः । शासनात्तव विप्रर्षे धुंधुमारो भविष्यति । एवमुक्त्वा तु तं विप्रं विष्णुरंतरधीयत ॥ ३४ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुंधुमारोपाख्याने एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ इक्ष्वाकौ संस्थिते राजन् शशादः पृथिवीमिमाम् । प्राप्तः परमधर्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत् ॥ १ ॥ शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्यवान् । अनेनाश्चापि काकु-

---

तुमको योगविद्याका स्मरण होगा और उस विद्याके प्रभावसे देवता तथा तीनों लोकोंका बड़ाभारी काम होगा, इस विषयमें मैं तुमसे कहता हूं कि– धुंधु नामक एक महासुर तीनों लोकोंको नष्ट करनेके लिये महाभयंकर तप करेगा, हे तात ! उस समयमें महापराक्रमी और अजेय बृहदश्व नामक राजा होगा, उसका पवित्र और सरलबुद्धिवाला कुवलाश्व नामक पुत्र, उस धुन्धु नामक तपस्या करतेहुए दैत्यका नाश करेगा, हे विप्रर्षे ! वह श्रेष्ठ राजा मेरे योगबलका आश्रय लेकर तेरी आज्ञासे युद्धमें धुन्धुका नाश करके धुंधुमार कहलावेगा, इस प्रकार उस ब्राह्मणको वर देकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान होगए ॥ २८–३४ ॥ दोसौ एकवाँ अध्याय समाप्त ॥ २०१ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कंडेय कहते हैं कि–राजा इक्ष्वाकुके मरने पर पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ शशाद नामका परमधर्मात्मा राजा अयोध्यामें राज्य करनेलगा ॥ १ ॥ उसके ककुत्स्थ नामक पराक्रमी पुत्र

त्स्थः पृथुश्चानेनसः सुतः ॥ २ ॥ विष्वगश्वः पृथोः पुत्रस्तस्माद-द्रिश्च जज्ञिवान् । अद्रेश्च युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्यात्मजोऽभवत् ॥३ ॥ तस्य श्रावस्तको ज्ञेयः श्रावस्ती येन निर्मिता । श्रावस्तकस्य दायादो वृहदश्वो महावलः ॥ ४ ॥ वृहदश्वस्य दायादः कुवलाश्व इति स्मृतः । कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ५ ॥ सर्वे विद्यासु निष्णाता वलवन्तो दुरासदाः । कवलाश्वश्च पितृतो गुणैरभ्यधिकोऽभवत् ॥ ६ ॥ समये तं पिता राज्ये वृहदश्वोऽभ्यषेचयत् । कुवलाश्वं महाराज शूरमुत्तमधार्मिकम् ॥ ७ ॥ पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु वृहदश्वो महीपतिः । जगाम तपसे धीमांस्तपोवनममित्रहा ॥ ८ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ अथ शुश्राव राजर्षिं तमुत्तंको नराधिप । वनं संप्रस्थितं राजन् वृहदश्वं द्विजोत्तमः ॥ ६ ॥

हुआ, ककुत्स्थके अनेना नामक पुत्र उत्पन्न हुआ' अनेनाके पृथु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥२॥पृथुका विश्वगश्व नामक पुत्र हुआ विश्वगश्वके अद्रि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, अद्रिके युवनाश्व नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और युवनाश्वके श्राव नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥३॥श्रावके श्रावस्त नामक पुत्र हुआ,इस श्रावस्तने श्रावस्ता नामकी नगरी बसाई थी, उस श्रावस्तके वृहदश्व नामक महावली पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४ ॥ और उसके कुवलाश्व नामक पुत्रउत्पन्न हुआ, इस कुवलाश्वके इकीस सहस्र पुत्र थे ॥ ५ ॥ वे सब कुमार सकल विद्याओंमें निपुण, वली और किसीसे न दबनेवाले थे, राजा कुवलाश्व भी गुणोंमें पितासे अधिक था॥ ६ ॥हे महाराज! शूरवीर श्रेष्ठ धर्मात्मा कुवलाश्वकी जब राज्य करनेयोग्य अवस्था होगई तब वृहदश्वने उसका राज्याभिषेक करदिया ॥ ७॥ और पुत्रके हाथमें राज्यलक्ष्मीको सौंपकर शत्रुविनाशी, बुद्धिमान् राजा वृहदश्व तप करनेके लिये वनमें जानेको उद्यत हुआ॥ ८॥ मार्कंडेय वोले कि—हे राजन्! उस समय ब्राह्मणोत्तम उत्तंकने सुना कि—राजर्षि वृहदश्व तप करनेके लिये वनमें जानेको उद्यत

तमुत्तंको महातेजाः सर्वास्त्रविदुषाम्वरम् । न्यवारयदमेयात्मा समासाद्य नरोत्तमम् ॥ १० ॥ उत्तंक उवाच ॥ भवता रक्षणं कार्यं तत्तावत् कर्त्तुमर्हसि । निरुद्विग्ना वयं राजंस्त्वत्प्रसादाद्वसेमहि ११ त्वया हि पृथिवी राजन् रक्ष्यमाणा महात्मना । भविष्यति निरुद्विग्ना नारण्यं गन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥ पालने हि महान् धर्मः प्रजानामिह दृश्यते । न तथा दृश्यतेऽरण्ये माभूत्ते बुद्धिरीदृशी १३ ईदृशो न हि राजेन्द्र धर्मः क्वचन दृश्यते । प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः ॥ १४ ॥ रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि । निरुद्विग्नस्तपश्चर्त्तुं न हि शक्नोमि पार्थिव ॥१५॥ ममाश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु । समुद्रो वालुकापूर्ण उज्जालक इति स्मृतः ॥ १६ ॥ बहुयोजनविस्तीर्णो बहुयोजनमायतः । तत्र

है, तब महातेजस्वी उदारचित्त वह उत्तंक सर्वशस्त्रविद्याप्रवीण नरोत्तम बृहदश्वके पास गया, उसने वनमें जाते हुए राजाको रोका और इस प्रकार कहा ॥ ६—१० ॥ उत्तंकबोला कि—हे राजन् ! आपको हमारी रक्षा करनी चाहिये और आप इस योग्य हैं, हे राजन्!हम आपकी कृपासे निश्चिंत होकर रहते हैं ॥ ११ ॥ हे राजन् ! आप महात्मा हैं, आप पृथ्वीकी रक्षा करेंगे तो पृथ्वी पर शान्ति फैलेगी,अतः आपको वनमें जाना उचित नहीं है ॥ १२ ॥ हे राजन् ! प्रजाका पालन करनेसे जगत्में जैसा बड़ाभारी पुण्य मिलता है तैसा पुण्य वनमें बसनेसे नहीं मिलसकता, अतः हे राजन् ! तुम वनवासके विचारको त्याग दो ॥ १३ ॥ हे राजेन्द्र!पहिले राजर्षियोंने प्रजाको पालन कर जिस धर्मको प्राप्त किया था,तैसा धर्म आजकल कहीं भी देखनेमें नहीं आता ॥ १४ ॥ राजाको तो सदा प्रजाकी रक्षा ही करनी चाहिये और तुम प्रजाकी रक्षा करनेके योग्य हो.अतःहे राजन्! यदि तुम वनको चलेजाओगे तो मैं शांतिसे तप नहीं करसकूंगा ॥१५॥ इस का कारण तुम सुनो—मेरे आश्रमके समीप मरुभूमिके सपाट प्रदेशमें रेतेसे भराहुआ उज्जालक नामक समुद्र है॥१६॥वह बहुत योजनों

रौद्रो दानवेन्द्रो महावीर्यपराक्रमः ॥ १७ ॥ मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्नाम सुदारुणः । अन्तर्भूमिगतो राजन् वसत्यमितविक्रमः१८ तं निहत्य महाराज वनं त्वं गन्तुमर्हसि । शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम् ॥ १९ ॥ त्रिदशानां विनाशाय लोकानां चापि पार्थिव । अवध्यो दैवतानां हि दैत्यानामथ रक्षसाम्॥२०॥ नागानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सर्वशः । अवाप्य स वरं राजन् सर्वलोकपितामहात् ॥ २१ ॥ तं विनाशय भद्रं ते मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा । प्राप्स्यते महतीं कीर्त्तिं शाश्वतीमव्ययां ध्रुवाम् २२ क्रूरस्य तस्य स्वपतो वालुकान्तर्हितस्य च । सम्वत्सरस्य पर्यन्ते निःश्वासः सम्प्रवर्त्तते ॥ २३ ॥ यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना । तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् ॥ २४ ॥ आदि-

तक लम्बा और चौड़ा है, उस समुद्रकी पृथ्वीके नीचे मधुकैटभ का पुत्र धुंधु नामक एक महाभयंकर दानवेंद्र रहता है, वह दानव बड़ा वीर और पराक्रमी है॥ १७ ॥ १८ ॥ हे महाराज ! उस राक्षसको मारकर तुम वनको चलेजाना, हे राजन् ! वह दैत्य सब लोक तथा देवताओंका नाश करनेके लिये रेतीमें छिपकर महादारुण तप कर रहा है, हे राजन् ! वह दैत्य सब लोकोंके पितामह ब्रह्मासे वर पाकर देवता, दैत्य, राक्षस, नाग, यक्ष और गंधर्व आदि सबसे अवध्य होगया है अर्थात् इनमेंका कोई भी उसको नहीं मारसकता ॥ १९—२० ॥ अतः हे राजन् ! तुम वनमें जानेके विचारको छोडकर इस दैत्यका नाश करो.आपका कल्याण हो ! हे राजन् ! तुम उस दैत्यका नाश करनेसे अविनाशी अचल नित्य रहनेवाली महाकीर्तिको पाओगे, अतः यह काम करो ॥ २१–२२ ॥ वह क्रूर धुंधु दैत्य समुद्रके भीतर रेतीमें दुबक कर सोता रहता है और वर्षके अन्तमें जब सांस छोडता है तब उसकी वायुके टक्करानेसे पर्वत वन और ॥ २३ ॥ अरण्यों सहित यह पृथ्वी डगमगाजाती है, उसकी सांसकी वायुसे सात

त्यपथमाश्रित्य सप्ताहं भूमिकम्पनम् । सविस्फुलिङ्ग सज्वालं धूममिश्रं सुदारुणम् ॥ २५ ॥ तेन राजन्न शक्नोमि तस्मिन्स्थातुं स्व आश्रमे । तं विनाशय राजेन्द्र लोकानां हितकाम्यया ॥ २६ ॥ लोकाः स्वस्था भविष्यन्ति तस्मिन् विनिहतेऽसुरे । त्वं हि तस्य विनाशाय पर्याप्त इति मे मतिः ॥ २७ ॥ तेजसा तव तेजश्च विष्णुराप्याययिष्यति । विष्णुना च वरो दत्तः पूर्वं मम महीपते २८ यस्तं महासुरं रौद्रं वधिष्यति महीपतिः । तेजस्तं वैष्णवमिति प्रवेच्यति दुरासदम् ॥ २९ ॥ तत्तेजस्त्वं समाधाय राजेन्द्र भुवि दुःसहम् । तं निषूदय राजेन्द्र दैत्यं रौद्रपराक्रमम्॥३०॥न हि धुन्धुर्महा तेजास्तेजसाल्पेन शक्यते॥निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि३१

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

दिन तक आकाशमें धूल उड़ा करती है,पृथ्वी कांपा करती है,अग्नि की लपटें चिनगारियें और धुएंके ढेर भी महाभयंकर रीतिसे उडा करते हैं ॥ २४–२५ ॥-इसकारण हे राजन् ! मैं अपने आश्रममें नहीं रहसकता, अतः हे राजेन्द्र ! तुम मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये उस धुंधु दैत्यका नाश करो ॥ २६॥क्योंकि उस दैत्यका नाश होने पर मनुष्य सुखी होंगे और मैं जानता हूं कि—आप उस दैत्यका नाश करनेमें सब प्रकार समर्थ हैं ॥ २७ ॥ और हे राजन् ! विष्णु भी अपने तेजसे तुम्हारे तेजकी वृद्धि करेंगे, विष्णुने पहिले मुझे वर दिया है कि—जो राजा उस महाभयंकर दैत्यको नष्ट करेगा उस राजामें प्रथमसे ही विष्णुका अटल तेज प्रवेश करेगा ॥२८–२९॥ अतः हे राजेन्द्र ! तुम पृथ्वी में असह्य विष्णुके तेजको धारण करो, और भयंकर पराक्रमी धुंधु दैत्यका नाश करो ॥ ३० ॥ हे राजन् ! धुंधु दैत्य महाबलवान् है थोड़े बलवाला सौ वर्षमें भी उसे नहीं मार सकेगा॥३१॥ दोसो दोवाँ-अध्याय समाप्त ॥ २०२ ॥ * ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेय उवाच । स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तङ्केनापराजितः । उत्तङ्कं कौरवश्रेष्ठ कृताञ्जलिरथाब्रवीत् ॥ १ ॥ न तेऽभिगमनं ब्रह्मन् मोघमेतद्भविष्यति । पुत्रो ममायं भगवन् कुवलाश्व इति स्मृतः २ धृतिमान् क्षिप्रकारी च वीर्य्येणाप्रतिमो भुवि । प्रियञ्च ते सर्वमेतत् करिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥ पुत्रैः परिवृतः सर्वैः शूरैः परिघबाहुभिः । विसर्ज्जयस्व मां ब्रह्मन् न्यस्तशस्त्रोऽस्मि साम्प्रतम् ॥ ४ ॥ तथास्त्विति च तेनोक्तो मुनिनामिततेजसा । स तमादिश्य तनयमुत्तङ्काय महात्मने ॥ ५ ॥ क्रियतामिति राजर्षिर्जगाम वनमुत्तमम् । युधिष्ठिर उवाच । क एष भगवन् दैत्यो महावीर्य्यस्तपोधन ॥ ६ ॥ कस्य पुत्रोऽथ नप्ता वा एतदिच्छामि वेदितुम् । एवं महाबलो दैत्यो न श्रुतो मे तपोधन ॥ ७ ॥ एतदिच्छामि भगवन् याथातथ्येन वे-

मार्कण्डेय बोले कि—हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! इस प्रकार उत्तंकने राजर्षि बृहदश्वसे कहा तब राजा बृहदश्व दोनों हाथ जोड़ कर बोला कि—॥ १ ॥ हे ब्रह्मन् ! तुम मेरे यहाँ जिसलिये पधारे हो वह काम निष्फल नहीं होगा, हे भगवन् ! इस मेरे पुत्र का नाम कुवलाश्व है ॥ २ ॥ यह धीर, शीघ्रतासे काम करनेवाला और पृथ्वी पर अद्वितीय बलवान् है, यह कुमार लोहदण्ड की समान भुजावाले सब शूरवीर पुत्रोंसहित आपका मनचाहा सब काम अवश्य करेगा, हे भगवन् ! मैंने अभी अस्त्र त्यागे हैं, अतः मुझै वनमें जाने दीजिये ॥ ३-४ ॥ यह सुनकर महातेजस्वी उत्तंकने कहा कि—"तथास्तु" आप आनन्दसे वनमें जाओ फिर राजा बृहदश्व महात्मा उत्तंकका इच्छित काम करने के लिये अपने पुत्रको आज्ञा देकर स्वयं तपोवनमें चलेगये, राजा युधिष्ठिर बूझने लगे कि—हे महाराज ! हे तपोधन ! आपने जिस दैत्य का वर्णन किया, वह दैत्य कौन था ? किसका पुत्र और किसका पौत्र था ? यह जाननेकी मुझै इच्छा है, क्योंकि—हे तपोधन ! मैंने ऐसा महाबली दैत्य किसी दिनभी नहीं सुना है ॥ ५-७ ॥

दितुम् । सर्वमेव महाप्राज्ञ विस्तरेण तपोधन ॥ ८ ॥ मार्कण्डेय उवाच । शृणु राजन्निदं सर्वं यथावृत्तं नराधिप । कथ्यमानं महाप्राज्ञ विस्तरेण यथातथम् ॥ ९ ॥ एकार्णवे तदा लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे । प्रनष्टेषु च भूतेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ १० ॥ प्रभवं लोककर्त्तारं विष्णुं शाश्वतमव्ययम् । यमाहुर्मुनयः सिद्धाः सर्वलोकमहेश्वरम् ॥ ११ ॥ सुष्वाप भगवान् विष्णुरप्सु योगत एव सः । नागस्य भोगे महति शेषस्यामिततेजसः ॥ १२ ॥ लोककर्त्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः । नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम् ॥ १३ ॥ स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्य्यसमप्रभम् । नाभ्यां विनिःसृतं दिव्यं तत्रोत्पन्नः पितामहः ॥ १४ ॥ साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्यसमप्रभे । चतुर्वेदश्चतुर्मूर्त्तिस्तथैव च चतुर्मुखः ॥ १५ ॥ स्व-

---

अतः हे तपोधन ! महाबुद्धिमान् मुने ! मैं उस दैत्यके चरित्रको यथावत् सुनना चाहता हूं ॥ ८ ॥ मार्कण्डेय बोले कि हे महाबुद्धिमान्! मैं उस दैत्यका सब चरित्र यथार्थरीतिसे विस्तारपूर्वक तुमसे कहता हूं सुनो ॥ ९ ॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! जब पृथ्वी जलमय होगई और स्थावर तथा जंगमरूप सब प्राणियोंका विनाश होगया ॥ १० ॥ तब सिद्ध मुनि, जिनको जगत्का कारण, जगत्को रचनेवाला, सर्वव्यापक, सनातन, अविनाशी और सब लोकोंका महेश्वर कहते हैं ॥ ११ ॥ वह भगवान् नारायण योग धारण करके जलमें, महातेजस्वी शेषनागके फनोंपर पौढ़े । १२ । और हे महाभाग राजन् ! लोकोंको रचनेवाले उन भगवान् श्रीहरिने शेषनागके शरीरसे इस विशाल पृथ्वीको जकड़ दिया ॥ १३ ॥ भगवान् नारायणके जलमें शयन करनेके पीछे उनकी नाभिसे सूर्यकी समान कान्तिमान् एक दिव्य कमल उत्पन्न हुआ, उसमेंसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥ वे साक्षात् तीनों लोकोंके गुरु थे, उनकी कांति सूर्यकीसमान तेजस्वी थी, वे चतुर्वेदमय, चार मूर्त्तिवाले और चार मुखवाले थे ॥ १५ ॥

प्रभावाद्दुराधर्षो महाबलपराक्रमः । कस्यचित्त्वथ कालस्य दानवौ वीर्यवत्तमौ ॥ १६ ॥ मधुश्च कैटभश्चैव दृष्टवन्तौ हरिं प्रभुम् । शयानं शयने दिव्ये नागभोगे महाद्युतिम् १७ बहुयोजनविस्तीर्णे बहुयोजनमायते । किरीटकौस्तुभधरं पीतकौशेयवाससम् ॥ १८ ॥ दीप्यमानं श्रिया राजंस्तेजसा वपुषा तथा । सहस्रसूर्य्यप्रतिमम-द्भुतोपमदर्शनम् ॥ १९ ॥ विस्मयः सुमहानासीन्मधुकैटभयोस्तथा । दृष्ट्वा पितामहश्चापि पद्मे पद्मनिभेक्षणम् ॥ २० ॥ वित्रासयेतामथ ता ब्रह्माणममितौजसम् । वित्रास्यमानो बहुशो ब्रह्मा ताभ्यां महायशाः ॥ २१ ॥ अकम्पयत् पद्मनालं ततोऽबुध्यत केशवः । अथापश्यत गोविन्दो दानवौ वीर्य्यवत्तरौ ॥ २२ ॥ दृष्ट्वा तावब्रवीद्देवः स्वागतं वां महाबलौ । ददामि वां वरं श्रेष्ठं प्रीतिर्हि मम जायते २३

ब्रह्माजीका ऐसा प्रभाव था कि कोई उनका तिरस्कार नहीं कर-सकता था. महाबली और महापराक्रमी थे, एक समय महाबली मधु और कैटभ नामक दैत्य जलाकार हुए जगत्में विचरते फिरते थे, इतनेमें उन्होंने महाकांतिमान्, मुकुट तथा कौस्तुभ मणिको धारण करनेवाले, पीले रेशमी वस्त्रसे शोभित, महासौंदर्यवान् तेजस्वी, सहस्रों सूर्यकी समान कांतिवाले अद्भुत दर्शनीय, परमात्मा श्रीहरिको बहुत लम्बी चौडी शेषनाग रूपी दिव्य शय्या पर लेटे हुए देखा और कमलनेत्र ब्रह्माजीको कमलपत्र पर सोतेहुए देखा, यह देखकर मधुकैटभके मनमें बडा कौतुक हुआ ॥१६–२०॥ तिसके पीछे वे दोनों दैत्य ब्रह्माजीको महाकष्ट देनेलगे महायशस्वी ब्रह्माको जब उनसे बहुतही पीडा होने लगी, तब उन्होंने अपने आसनरूप कमल को हिलाया तब भगवान् नारायणने जाग कर देखा कि—कमल पर दो बलवान् दानव ब्रह्माजीको पीडा देरहे हैं ॥ २१ —२१ ॥ उन दोनों दैत्योंको देखकर परमात्माने कहा कि—हे महापराक्रमी दैत्यों ! आपका यहां आना बहुत अच्छा हुआ, मैं तुमको वर देना चाहता हूं;

तौ प्रहस्य हृषीकेशं महादर्पौ महाबलौ । प्रत्यब्रूतां महाराज सहितौ मधुसूदनम् ॥ २४ ॥ आवां वरय देव त्वं वरदौ स्वः सुरोत्तम । दातारौ स्वो वरं तुभ्यं तद्ब्रवीह्यविचारयन् ॥२५॥ भगवानुवाच। प्रतिगृह्णे वरं वीरावीप्सितश्च वरो मम । युवां हि वीर्य्यसम्पन्नौ न वामस्ति समः पुमान् ॥२६॥ वध्यत्वमुपगच्छेतां मम सत्यपराक्रमावेतदिच्छाम्यहं कामं प्राप्तं लोकहिताय वै ॥ २७ ॥ मधुकैटभावूचतुः ॥ अनृतं नोक्तपूर्वं नौ स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा सत्ये धर्मे च निरतौ विध्यावां पुरुषोत्तम ॥ २८ ॥ बले रूपे च शौर्ये च शमे न च समोऽस्ति नौ । धर्मे तपसि दाने च शीलसत्त्वदमेषु च ॥ २९ ॥ उपप्लवो महानस्मानुपावर्त्तत केशव । उक्तं प्रतिकुरुष्व

मुझे तुम्हारे ऊपर प्रेम उत्पन्न होगया है ॥ २३ ॥ यह सुनकर हे महाराज ! महाबली और महाअभिमानी उन दोनों दैत्योंने हँसकर भगवान्‌से कहाकि—॥ २४ ॥ हे देवश्रेष्ठ ! हम दोनों जने वर देनेवाले हैं अतः तू हमसे वर मांगले, हम दोनों तुझे वर देने के लिये आये हैं, अतः तू हमसे इच्छानुसार विना विचारे वर मांगले॥२५॥भगवान् बोले कि—हे शूरवीरों ! तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो मैं ही तुमसे वर मांगता हूं तुम दोनों सत्यपराक्रमी हो, तुम्हारी समान दूसरा कोइ भी बली नहीं हैं, सो तुम मेरे हाथसे मारे जाओ, यह ही वर मैं चाहता हूं, मैं संसारके कल्याणके लिये यही वर माना चाहता हूं ॥ २६—२७ ॥ मधु कैटभ बोले कि—हे पुरुषोत्तम ! हमने पहिले साधारण बातोंमें भी कभी झूठ नहीं बोला है, फिर दूसरे समय तो कहाँ से बोला होगा?तुम निश्चय जानो कि—हम सत्य और धर्ममें दृढ़ हैं ॥ २८ ॥ बलमें, रूपमें, शूरतामें, परिश्रममें, धर्ममें, तपमें, दानमें, शीलमें, सत्वमें तथा बाहरी इंद्रियोंको वशमें रखनेमें हमारी समान दूसरा कोई भी पुरुष नहीं है, परन्तु हे केशव ! अब हमारा विनाशकाल हमारे समीप आलगा है, अतः तुम हमारे कहनेके अनुसार काम करो, क्यों

त्वं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ३० ॥ आवामिच्छामहे देव कृतमेकं त्वया विभो । अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम ॥३१॥ पुत्रत्वमधिगच्छावस्तव चापि सुलोचन ; वर एष वृतो देव तद्विद्धि सुरसत्तम ॥ ३२ ॥ अनृतं माभवेद्देव यद्धि नौ संश्रुतं तदा । भगवानुवाच । वाढमेव करिष्यामि सर्वमेतद्भविष्यति ॥ ३३ ॥ स विचिन्त्याथ गोविन्दो नापश्यद्यदनावृतम् । अवकाशं पृथिव्यां वा दिवि वा मधुसूदनः ॥ ३४ ॥ स्वकावनावृतावूरू दृष्ट्वा देववरस्तदा मधुकैटभयो राजन् शिरसो मधुसूदन । चक्रेण शितधारेण न्यकृन्तत महायशाः ॥ ३५ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

कि- समयको कोइ भी नहीं लांघसकता । २६--३० । परन्तु हे विभो ! हे सुरवरोत्तम ! हम ऐसा चाहते हैं कि--तुम खुले हुए आकाशके स्वच्छ स्थलमें ही हमें मारो और हे सुनेत्र! मरनेके पीछे हम आपके पुत्र होकर उत्पन्न हों, हे सुरश्रेष्ठ! यह वर हम आपसे मांगते हैं यह आपको विदित हो ॥३१-३२॥ और हे देव ! आपने हमसे वर मांगने के लिये कहा था वह आपका कथन भी असत्य न हो, श्रीभगवान् ने कहा कि- अच्छा मैं तुम्हारे कथनानुसार करूंगा और ऐसा ही होगा ॥ ३३ ॥ इतना कहकर भगवान् गोविन्दने देखा तो आकाश अथवा पृथ्वी कोई भी आवरणरहित न दिखाई दिया, तव हे राजन् ! महायशस्वी मधु दैत्यको मारने की इच्छा करने वाले भगवान् ने विचार करके देखा तो अपनी दोनों जांघे आवरणरहित दिखाई दीं, उनकी ओर देख तीक्ष्ण धारवाला चक्र मारकर मधु कैटभके आवरणरहित शिरोंको काट डाला ॥ ३४--३५ ॥ दोसो तीनवां अध्याय समाप्त ॥ २०३ ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ छ ॥

मार्कण्डेय उवाच । धुन्धुर्नाम महाराज तयोः पुत्रो महाद्युतिः । स तपोऽतप्यत महन्महावीर्य्यपराक्रमः ॥ १ ॥ अतिष्ठदेकपादेन कृशो धमनिसन्ततः । तस्मै ब्रह्माददौ प्रीतो वरं वव्रे स च प्रभुम् ॥ २ ॥ देवदानवयक्षाणां सर्पगन्धर्वरक्षसाम् । अवध्योऽहं भवेयं वै वर एष वृतो मया ॥ ३ ॥ एवं भवतु गच्छेति तमुवाच पितामहः स एवमुक्तस्तत्पादौ मूर्ध्ना स्पृश्य जगाम ह ॥ ४ ॥ स तु धुन्धुर्वरं लब्ध्वा महावीर्य्यपराक्रमः । अनुस्मरन् पितृवधं द्रुतं विष्णुमुपागमत् ॥ ५ ॥ स तु देवान् सगन्धर्वान् जित्वा धुन्धुरमर्षणः । बबाध सर्वानसकृद्विष्णुं देवांश्च वै भृशम् ॥ ६ ॥ समुद्रे वालुकापूर्णे उज्जालक इति स्मृते । आगम्यच च स दुष्टात्मा तं देशं भरतर्षभ

मार्कण्डेय बोले कि—हे महाराज युधिष्ठिर ! इसके अनन्तर मधुकैटभका महाकांतिमान्, महावीर और महापराक्रमी धुंधु नामक कुमार एक पैरसे खडा होकर तपस्या करनेलगा, तपस्या करते २ उसका शरीर दुबला होगया और केवल नाडियोंसे लिपटा हुआ रहगया, तब ब्रह्माजीने उस दैत्यकुमारकी तपस्याको देख कर प्रसन्न हो, उससे वर माँगने के लिये कहा तब धुंधुने शक्तिमान् ब्रह्माजीसे वर मांगते हुए कहा कि— ॥१–३॥ देव, दानव, यक्ष, सर्प, गंधर्व और राक्षस मेरा नाश न करसकें, मैं यह वर मांगता हूं ॥३॥ यह सुनकर ब्रह्माजीने उससे कहा कि—"तथास्तु, तू जा" ब्रह्माजीके ऐसे वाक्योंको सुनकर धुंधु मस्तकसे ब्रह्माजीके चरणारविन्दोंका स्पर्श करके तहांसे चलागया ॥ ४ ॥ महावीर महापराक्रमी और क्रोधी धुंधुने वर पाकर देवता तथा गंधर्वोंका पराजय किया और अपने पिताके मरणका स्मरण करता हुआ तुरंत विष्णुके पास गया, तहां विष्णु तथा अन्य देवताओं को बहुत ही दुःख दिया ॥ ५-६ ॥ फिर हे भरतवंशश्रेष्ठ ! भयंकरपराक्रमी और दुष्टात्मा मधुकैटभका पुत्र धुंधु रेतासे भरे हुए उज्जालक नामक समुद्रमें रेतीके भीतर छिपकर, अपने बलके

॥ ७ ॥ बाधति स्म परं शक्त्या तमुत्तङ्काश्रमं विभो । अन्तर्भूमिगतस्तत्र वालुकान्तर्हितस्तथा ॥ ८ ॥ मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्भीमपराक्रमः । शेते लोकविनाशाय तपोबलमुपाश्रितः ॥ ९ ॥ उत्तङ्कस्याश्रमाभ्याशे निःश्वसन् पावकार्चिषः । एतस्मिन्नेव काले तु राजा सबलवाहनः ॥ १० ॥ उत्तङ्कविप्रसहितः कुवलाश्वो महीपतिः पुत्रैः सह महीपालः प्रययौ भरतर्षभ ॥ ११ ॥ सहस्रैरेकविंशत्या पुत्राणामरिमर्दनः। कुवलाश्वो नरपतिरन्वितो बलशालिनाम् ॥१२॥ तमाविशत्ततो विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः । उत्तङ्कस्य नियोगेन लोकानां हितकाम्यया ॥ १३ ॥ तस्मिन् प्रयाते दुर्द्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत् । एष श्रीमानवध्योऽद्य धुन्धमारो भविष्यति ॥ १४ ॥ दिव्यैश्च पुष्पैस्तं देवाः समन्तात् पर्य्यवारयन् । देवदुन्दुभयश्चापि

अनुसार समीपमें के उत्तंकके आश्रममें रहनेवालोंको महादुःख देने लगा ॥ ७-८ ॥ वह मधुकैटभका पुत्र धुंधु, भयंकरपराक्रमी तपोबलयुक्त था, वह लोकोंका नाश करनेके लिये रेतीके भीतर छिपकर सोता रहता था ॥ ९ ॥ और उत्तंकके आश्रमके समीप में मुखमेंसे श्वासरूपसे अग्निकी लपटोंको निकाला करता था, इसकारण एक समय हे भरतवंशश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! शत्रुनाशी राजा कुवलाश्व अपने बली इक्कीस सहस्र पुत्र, सेना, सवारी, तथा उत्तङ्क ब्राह्मणको साथ लेकर उस दैत्यके ऊपर चढ़गया॥१०-१२॥ उस समय उत्तंककी आज्ञासे समर्थ भगवान् विष्णुने मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये उस राजामें अपना तेज स्थापित किया ॥ १३॥ महाबली वह राजा जिस समय अपने नगरमेंसे बाहर निकला उस समय आकाशमें महाशब्द से आकाशवाणी हुई कि- 'यह अवध्य श्रीमान् राजा कुवलाश्व आज धुन्धुका नाश करके धुन्धुमार नामको धारण करेगा' ॥ १४ ॥ उस बुद्धिमान् राजाने जिस समय नगरमेंसे युद्ध के लिये प्रस्थान किया उस समय

नेदुः स्वयमनीरिताः ॥ १५ ॥ शीतश्च वायुः प्रववौ प्रयाणे तस्य धीमतः । विपांसुलां महीं कुर्वन् ववर्ष च सुरेश्वरः ॥ १६ ॥ अन्तरिक्षे विमानानि देवतानां युधिष्ठिर । तत्रैव समदृश्यन्त धुन्धुर्यत्र महासुरः ॥ १७ ॥ कुवलाश्वस्य धुन्धोश्च युद्धकौतूहलान्विताः । देवगन्धर्वसहिताः समवैक्षन्महर्षयः ॥ १८ ॥ नारायणेन कौरव्य तेजसाप्यायितस्तदा । स गतो नृपतिः क्षिप्रं पुत्रैस्तैः सर्वतो दिशम् ॥ १९ ॥ अर्णवं खानयामास कुवलाश्वो महीपतिः । कुवलाश्वस्य पुत्रैश्च तस्मिन् वै वालुकार्णवे ॥ २० ॥ सप्तभिर्दिवसैः खात्वा दृष्टः धुन्धुर्महाबलः । आसीद्घोरं वपुस्तस्य वालुकान्तर्हितं महत् । २१ । दीप्यमानं यथा सूर्यस्तेजसा भरतर्षभ । ततो धुन्धुर्महाराज दिश-

देवताओंने सब ओरसे उस पर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करके उसको ढकदिया था, उस समय देवताओंकी दुन्दुभियें किसीकी प्रेरणा के विना स्वयं ही अपने आप बजनेलगीं अर्थात् विना बजाए हुए ही बजनेलगीं, ठण्डा वायु चलने लगा और मेघ पृथ्वी पर उड़तीहुई धूलिको शान्त करनेके लिये वर्षा करन लगे ॥१५-१६॥ हे युधिष्ठिर ! जहां वह धुन्धु दैत्य था तहां आकाशमें देवताओंके विमान दीखनेलगे और महर्षि, देवता तथा गंधर्व कुवलाश्व और धुन्धुका युद्ध देखनेकी इच्छासे तहां आकर उन दोनों का युद्ध देखने लगे ॥ १७-१८ ॥ हे कुरुकुलोत्पन्न उस समय विष्णुने अपने बलको कुवलाश्वमें स्थापित कर उसके बलको बढ़ादिया और इसके उपरांत राजा पुत्रोंसहित समुद्रमें उतरा और रेतेंसे भरेहुए महासागरकी चारों दिशाओंमेंसे शीघ्रतासे खोदना आरम्भ किया, उस समुद्रको खोदते २ सातवें दिन महाबलवान् धुन्धुदैत्य कुवलाश्वके पुत्रोंकी दृष्टिमें पड़ा, उसका बड़ा और महाभयंकर शरीर रेतीके भीतर छिपरहा था ॥ १९-२१ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! धुन्धु दैत्यका शरीर तेजमें सूर्यकी समान

मावृत्य पश्चिमाम् ॥ २२ ॥सुप्तोऽभूद्राजशार्दूल कालानलसमद्युतिः कुवलाश्वस्य पुत्रस्तु सर्वतः परिवारितः ॥ २३ ॥ अभिद्रुतः शरैस्तीक्ष्णैर्गदाभिर्मुसलैरपि । पट्टिशैः परिघैः प्राशैः खड्गैश्च विमलैः शितैः ॥२४॥ स वध्यमानः संक्रुद्धः समुत्तस्थौ महाबलः । क्रुद्धश्चाभक्षयत्तेषां शस्त्राणि विविधानि च ॥ २५ ॥ आस्याद्वमन् पावकं स सम्वर्त्तकसमं तदा । तान् सर्वान्नृपतेः पुत्रानदहत् स्वेन तेजसा ॥ २६ ॥ मुखजेनाग्निना क्रुद्धो लोकानुद्वर्त्तयन्निव । क्षणेन राजशार्दूल पुरेव कपिलः प्रभुः ॥ २७ ॥ सगरस्यात्मजान् क्रुद्धस्तदद्भुतमिवाभवत् तेषु क्रोधाग्निदग्धेषु तदा भरतसत्तम ॥ २८ ॥ तं प्रबुद्धं महात्मानं कुम्भकर्णमिवापरम् । आससाद महातेजाः कुवलाश्वो महीपतिः ॥ २९ ॥ तस्य वारि महाराज सुस्राव बहु देहतः

झलझला रहा था और प्रलयकालके अग्निकी समान दमदमाती हुई कान्ति से था धुन्धु दैत्य, पश्चिम दिशाको घेरकर सोरहा था, उसको कुवलाश्वके पुत्रोंने घेरलिया ॥ २२-२३ ॥ तीक्ष्ण बाण, गदा, मुशल, पट्टिश, परिघ, पाश और तेज करने से चमकती हुई तलवारोंसे उस महाबली दैत्य पर चढ़ाई कर उसको मारनेलगे ॥२४॥ तब वह दैत्य महाक्रोधमें भरकर खड़ा होगया और उनके नाना प्रकारके शस्त्रोंको निगलने लगा ।२५। और हे राजसिंह ! पहिले जैसे भगवान् कपिलने क्रोधसे राजा सगरके पुत्रोंको जलाकर भस्म करदिया था, इसीप्रकार धुंधु ने भी उस समय मुखमेंसे सम्वर्त्तक नामक अग्नि निकाल कर उस मुखमें की अग्निसे मानो लोकोंका नाश करता हो इसप्रकार कुवलाश्व के सब पुत्रोंको अपने तेजसे भस्म करदिया, इससे सबको आश्चर्य हुआ, हे भरतश्रेष्ठ ! इसप्रकार दैत्यकी क्रोधानलसे राजपुत्रोंके भस्म होजाने के अनन्तर २६-२८ महातेजस्वी राजा कुवलाश्व,जागे हुए कुंभकर्णकी समान पराक्रमी धुंधु दैत्यसे लड़नेके लिये चला ॥ २९ ॥ हे महाराज ! उस समय उस राजाके

तदापीय ततस्तेजो राजा वारिमयं नृप ॥३०॥ योगी योगेन वह्निश्च शमयामास वारिणा । ब्रह्मशस्त्रेण च राजेन्द्र दैत्यं क्रूरपराक्रमम् ।३१।ददाह भरतश्रेष्ठ सर्वलोकाभयाय वै । सोऽस्त्रेण दग्ध्वा राजर्षिः कुवलाश्वो महासुरम् ॥३२॥ सुरशत्रुममित्रघ्नं त्रैलोक्येश इवापरः । धुन्धोर्वधात्तदा राजा कुवलाश्वो महामनाः ॥ ३३ ॥ धुन्धुमार इति ख्यातो नाम्नाप्रतिरथोऽभवत् । प्रीतैश्च त्रिदशैः सर्वैर्महर्षिसहितैस्तदा ॥ ३४ ॥ वरं वृणीष्वेत्युक्तः स प्रांजलिः प्रणतस्तदा । अतीव मुदितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥ दद्यां वित्तं द्विजाग्रेभ्यः शत्रूणाश्चापि दुर्जयः । सख्यश्च विष्णुना मे स्याद्भूतेष्वद्रोह एव च ॥ ३६ ॥ धर्मे रातश्च सततं स्वर्गे वासस्तथाऽक्षयः । तथास्त्विति

शरीरमेंसे बड़े वेगसे जल निकलनेलगा और वह जलरूपी तेज उस दैत्यके मुखमेंसे निकलतेहुए अग्निमय तेजको पी गया । ३० । परन्तु हे भरतवंशश्रेष्ठ राजन् ! योगविद्यामें प्रवीण उस राजाने योगमय जलसे उस दैत्यके मुखमेंसे उत्पन्न हुए अग्निको शांत किया और भयंकरपराक्रमी उस दैत्यको ब्रह्मास्त्र मारकर सब लोकों के कल्याणके लिये मारडाला, राजर्षि कुवलाश्व शत्रुनाशी उस महादैत्यको ब्रह्मास्त्रसे मारकर दूसरे इंद्रकी समान दिपने लगा, उदार मनवाला और अनूपम राजा कुवलाश्व इस प्रकार धंधु दैत्यको मारकर धुंधुमार नामसे प्रसिद्ध हुआ, दैत्य को मारनेके अनन्तर देवता तथा महर्षियोंने इकट्ठे हो प्रसन्न होकर राजा कुवलाश्वसे कहा कि—"हे राजन् ! तू वर मांगले,, तब राजा दोनों हाथ जोड प्रणाम कर अत्यन्त हर्षसे इसप्रकार बोला कि—॥ ३१–३२ ॥ "मैं सदा ब्राह्मणोंको धन दिया करूं, शत्रु मुझे न जीतसकें, विष्णुके साथ मेरी मित्रता हो, धर्म पर सदा प्रीति रहे और स्वर्गमें मेरा अक्षय वास हो, ये वर मुझे दो—उस समय सब देवताओंने प्रसन्न होकर उस

ततो देवैः प्रीतैरुक्तः स पार्थिवः ॥ ३७ ॥ ऋषिभिश्च सगन्धर्वै-रुत्तङ्केन च धीमता । सम्भाष्य चैनं विविधैराशीर्वादैस्ततो नृप ॥ ३८ ॥ देवा महर्षयश्चापि स्वानि स्थानानि भेजिरे । तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा युधिष्ठिर तदाऽभवन् ॥ ३९ ॥ दृढाश्वः कपिलाश्वश्च चन्द्राश्वश्चैव भारत । तेभ्यः परम्परा राजन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ॥ ४० ॥ वंशस्य सुमहाभाग राज्ञाममिततेजसाम् । एवं स निहतस्तेन कुवलाश्वेन सत्तम ॥ ४१ ॥ धुन्धुर्नाम महादैत्यो मधुकैटभयोः सुतः । कुवलाश्वश्च नृपतिर्धुन्धुमार इति स्मृतः ॥ ४२ ॥ नाम्ना च गुणसंयुक्तस्तदाप्रभृति सोऽभवत् । एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४३ ॥ धौन्धुमारमुपाख्यानं प्रथितं यस्य कर्मणा इदन्तु पुण्यमाख्यानं विष्णोःसमनुकीर्त्तनम् ॥ ४४ ॥ शृणुयाद्यः

राजासे कहा कि—"तुम्हारे मनोरथ सफल हों,, ॥ ३६ ३७ ॥ इस प्रकार वर देने पीछे हे राजन्! देवता और महर्षियोंके साथ, गन्धर्वोंके साथ तथा बुद्धिमान् उत्तङ्क के साथ बातचीत का, वे उस राजाको अलग अलग आशीर्वाद देकर अपने अपने स्थानोंको चलेगए, हे युधिष्ठिर! इस युद्धमें इस राजाके तीन पुत्र बचगए थे ॥ ३८–३९ ॥ हे महाभाग भारत! उनके नाम दृढाश्व, कपिलाश्व और चन्द्राश्व थे, इन तीनकुमारों से महापराक्रमी इक्ष्वाकु महात्मा राजाओंका वंश चला है, हे राजश्रेष्ठ! इसप्रकार उस राजा कुवलाश्वने, मधु कैटभके पुत्र महादैत्य धुन्धुका नाश करके धुन्धुमार यह नाम धारण किया था और निःशंक राजा कुवलाश्वने जैसा नाम धारण किया था वह तैसे ही गुणोंवाला था, हे राजन्! तुमने मुझसे जो चरित्र बूझा था वह मैंने तुमसे कहदिया, जिस कर्मसे धुन्धुमारका चरित्र प्रसिद्ध हुआ था वह चरित्र इसप्रकार है कि— जो पुरुष विष्णुके गुणगान से भरे इस पवित्र आख्यानको सुनताहै

स धर्मात्मा पुत्रवांश्च भवेन्नरः। आयुष्मान् भूतिमांश्चैव श्रुत्वा भवति पर्वसु । न च व्याधिभयं किञ्चित् प्राप्नोति विगतज्वरः ॥ ४५ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ ततो युधिष्ठिरो राजा मार्कण्डेयं महाद्युतिम् । पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ धर्मप्रश्नं सुदुर्विदम् ॥ १ ॥ युधिष्ठिर उवाच श्रोतुमिच्छामि भगवन् स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम् । कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मं धर्म्यञ्च तत्त्वतः ॥ २ ॥ प्रत्यक्षमिह विप्रर्षे देवा दृश्यन्ति सत्तम । सूर्याचन्द्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च ॥ ३ ॥ पिता माता च भगवन् गुरुरेव च सत्तम । यच्चान्यद् देवविहितं तच्चापि भृगुनन्दन ॥ ४ ॥ मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यस्तथा स्त्रियः ।

वह पुरुष आयुष्मान् और ऐश्वर्य वाला होताहै तथा आरोग्यवान् होकर किसी प्रकारकी भी व्याधिके भयको प्राप्त नहीं होता ॥ ४०–४५ ॥ दोसौ चारवां अध्याय समाप्त ॥ २०४ ॥ * ॥

वैशम्पायन बोले कि–हे भरतवंशश्रेष्ठ राजन् जनमेजय ! फिर राजा युधिष्ठिरने महाकांतिवान् मार्कण्डेयजीसे अतिकठिनाईसे समझमें आनेवाला धर्मसंबधी प्रश्न बूझते हुए कहा कि– ॥१॥ हे भगवन् ब्राह्मण ! आप स्त्रियोंके श्रेष्ठ महात्म्य तथा सूक्ष्म धर्म का यथार्थरीतिसे वर्णन करो मुझै उसे सुननेकी इच्छा है ॥२॥ हे विप्रर्षिसत्तम ! हे भृगुनन्दन ! सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथ्वी, अग्नि, पिता, माता, समर्थगुरु और देवताओंका उत्पन्न की हुई दूसरी जो कुछभी वस्तुएं हैं वे सब प्रत्यक्ष देवतारूपसे इस जगत्में दिखाई देती हैं ॥३–४॥ जैसे इन सब गुरुजनोंका सन्मान करना चाहिये तैसे केवल पतिकी सेवा करनेवाली स्त्रियों का भी अवश्य सन्मान करना चाहिये, पतिव्रता स्त्रियें जो पतिकी सेवा करती है वह

पतिव्रतानां शुश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे ॥ ५ ॥ पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो । निरुध्य चेन्द्रियग्राममं मनः संरुध्य चानघ ॥ ६ ॥ पतिं दैवतवच्चापि चिन्तयन्त्यः स्थिता हि याः । भगवन् दुष्करं त्वेतत् प्रतिभाति मम प्रभो ॥ ७ ॥ मातापित्रोश्च शुश्रूषा स्त्रीणां भर्त्तरि च द्विज । स्त्रीणां धर्मात् सुघोराद्धि नान्यं पश्यामि दुष्करम् ॥ ८ ॥ साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन् यद् कुर्वन्ति सदादृताः दुष्कृतं खलु कुर्वन्ति पितरं मातरञ्च वै ॥ ९ ॥ एकपत्न्यश्च या नार्यो याश्च सत्यं वदन्त्युत । कुक्षिणा दशमासांश्च गर्भं सन्धारयन्ति याः ॥ १० ॥ नार्यः कालेन सम्भूय किमद्भुततरं ततः । संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ॥ ११ ॥ प्रजायन्ते सुतान्नार्य्यो

मुझे बहुत कठिन प्रतीत होती है ॥ ५ ॥ हे अनघ प्रभो ! तुम मुझे उन पतिव्रताओंके महात्म्य सुनाओ हे प्रभो ! जो स्त्रियें अपनी इन्द्रियें और मनको रोककर मनमें देवताकी समान पतिका ही ध्यान धरती हैं वह मुझे बहुत कठिन प्रतीत होता है । ६-७ । और हे ब्राह्मण ! स्त्रियोंको माता पिता की सेवा करनी पडती है, ससुरालमें आनेपर पतिकी भी सेवा करनी पडती है अतः स्त्रियोंका धर्म बडाही कठिन है इनकी समान मैं दूसरे धर्मोंको कठिन नहीं मानता ॥ ८ ॥ हे ब्रह्मन् ! सदाचारवती जो स्त्रियें आदरपूर्वक सदा पतिकी सेवा करती हैं यह काम बडा ही कठिन है,तैसे ही पुत्र भी माता पिताके प्रति अपने जिस धर्मको पालते हैं वह भी बहुत कठिन है ॥ ९ ॥ जो स्त्रियें पतिव्रत धर्ममें परायण रहती हैं, जो स्त्रियें सत्य बोलती हैं और जो स्त्रियें कालकी साथी बनकर दश मासतक पेटमें गर्भ धारण करती हैं, उनके इस आचरणसे बढ़कर दूसरा कौनसा धर्म है ? हे श्रेष्ठ राजन् ! स्त्रियें अतुलसंकट और महावेदना सहकर भी महादुःखसे सन्तानको उत्पन्न करती हैं और पीछे बडी प्रीतिसे उन सन्तानोंको पालती

दुःखेन महता विभो। पुष्णन्ति चापि महता स्नेहेन द्विजपुङ्गव १२ ये च क्रूरेषु सर्वेषु वर्त्तमाना जुगुप्सिताः । स्वकर्म कुर्वन्ति सदा दुष्करं तच्च मे मतम्॥ १३ ॥ क्षत्रधर्मसमाचारं तत्त्वं व्याख्याहि मे द्विज । धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन महात्मनाम् ॥ १४ ॥ एतदिच्छामि भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदाम्वर। श्रोतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत ॥ १५ ॥ मार्कण्डेय उवाच । हन्त तेऽहं समाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्वचम् । तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे ॥ १६ ॥मातृस्तु गौरवादन्ये पितृनन्ये तु मेनिरे । दुष्करं कुरुते माता विवर्द्धयति या प्रजाः ॥ १७ ॥ तपसा देवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया । अभिचारैरुपायैश्चापीहन्ते पितरः सुतान् ॥ १८ ॥ एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्ल्लभम् । चिंतयन्ति सदा वीर

हैं ॥ १०—१२ ॥ हे विभो ! हे ब्राह्मण ! जो सब प्रकारसे क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं और निन्दा करने योग्य होते हैं, तो भी जो अपने कर्म को करते हैं उनके उस कर्मको मैं कठिन जानता हूं ॥ १३ ॥ हे ब्राह्मण ! क्रूर कर्मोंमें महात्माओंके धर्मका अत्यन्त अभाव होता है अतः तुम मुझसे क्षत्रियोंके धर्मका सुन्दर आचरण किसप्रकार करना चाहिये यह कहो ॥ १४ ॥ हे प्रश्नवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मन् ! हे भार्गव ! मैं आपसे इसे सुनना चाहता हूं ॥ १५ ॥ मार्कण्डेय बोले कि—हे भरतवंशश्रेष्ठ ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है उस प्रश्नका उत्तर अतिकठिन है तो भी मैं तुम्हें यथार्थ उत्तर देता हूं, उसे तुम सुनो । १६ । कुछ पुरुष माताको बड़ी मानते हैं और कुछ पुरुष पिताको बडा मानते हैं, परन्तु माताओंके कार्य अत्यन्तही कठिन हैं क्योंकि—वे बड़े बड़े कष्टोंसे सन्तानको पालकर उन्हें बडी करती हैं ॥ १७॥ तैसेही पिता भी पुत्रकी प्राप्तिके लिये तप, देवसेवा, देववंदना, तितिक्षा, और अभिचारके उपाय करके पुत्र पानेकी इच्छा रखता है । १८ । ऐसे २ कष्ट सहकर अतिदुर्लभ पुत्र को पाते हैं और फिर वह पुत्र कैसा

कीदृशोऽयं भविष्यति॥१६॥आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत यशः कीर्त्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च ॥ २० ॥ तयोराशान्तु सफलां यः करोति स धर्मवित् । पिता माता च राजेन्द्र तुष्यतो यस्य नित्यशः॥ २१ ॥ इह प्रेत्य च तस्याथ कीर्त्तिर्धर्मश्च शाश्वतः नैव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ॥ २२ ॥ या तु भर्त्त-रि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत । एतत् प्रकरणं राजन्नधिकृत्य युधिष्ठिर ॥ २३ ॥ पतिव्रतानां नियतं धर्मञ्चावहितः शृणु ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतो-पाख्याने पंचाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ कश्चिद्द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ॥ १ ॥ सांगोपनिषदो-वेदानधीते द्विजसत्तमः । स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद्वेदानुच्चारयन् स्थि-

---

उठेगा, इसकी चिन्ता करते रहते हैं।१६। हे भरतवंशी राजन् ! माता तथा पिता दोनों अपने पुत्रको यश, कीर्त्ति, ऐश्वर्य और सन्तानोंकी प्राप्ति हो यह चाहते हैं अतः जो पुरुष माता पिताकी आशाओंको सफल करता है, उसको ही धर्मवेत्ता जानो, हे राजे-न्द्र ! जिसके ऊपर माता पिता सदा प्रसन्न रहते हैं, उसकी इस लोकमें तथा परलोकमें चिरकाल तक कीर्त्ति बनी रहती है और उसे सनातनधर्मकी प्राप्ति होती है, स्त्रियोंको यज्ञ, व्रत और श्राद्ध कोईभी फल नहीं देते, किन्तु स्त्रियें तो पतिकी सेवा करनेसे ही स्वर्गको जीतती हैं, हे राजन् ! तुम इस प्रकरणके अधिकारमें पतिव्रताओंके आवश्यक धर्म सावधानीसे सुनो ।२०-२४। दोसौ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥ २०५ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेय बोले कि-हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! कौशिक नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण था, वह सदा वेद पढ़ता था, तपको ही धन मानता था, इसकारण तपस्वी और धर्मात्मा था, उसने वेद तथा उनके अंगों सहित उपनिषद् भी पढ़े थे, एक समय वह ब्राह्मण

तः ॥ २ ॥ उपरिष्टाच्च वृक्षस्य वलाका संन्यलीयत । तया पुरीष-मुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि ॥ ३ ॥ तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः । भृशं क्रोधाभिभूतेन वलाका सा निरीक्षिता ॥ ४ ॥ अपध्याता च विप्रेण न्यपतद्धरणीतले । वलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्त्वामचेतनाम् ॥ ५ ॥ कारुण्यादभिसन्तप्तः पर्यशोचत तां द्विजः । अकार्यं कृतवानस्मि रोषरागवलात्कृतः ॥ ६ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ इत्युक्त्वा वहुशो विद्वान् ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः । ग्रामे शुचीनि प्रचरन् कुलानि भरतर्षभ ॥ ७ ॥ प्रविष्टस्तत् कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः । देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः ८ शौचन्तु यावत् कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी । एतस्मिन्नन्तरे राजन्

किसी वृक्षके नीचे बैठकर वेद पढ़ रहा था ॥ १–२ ॥ उस समय वृक्षके ऊपर एक वगली (चिडिया) वैठी थी उसने ब्राह्मणके ऊपर वीट करदी ३ तव वह ब्राह्मण क्रोधमें भरकर उस वगली की ओर देख उसका अनिष्ट करनेका विचार करने लगा और वह क्रोधसे अत्यन्त पराजित होकर अर्थात् वड़े क्रोधमें भरकर उस वगलीकी ओर देखनेलगा ॥ ४ ॥ उस वगलीका उस ब्राह्मणने अनिष्ट करनेका विचार किया—वह वगली वृक्ष परसे गिरपड़ी और मरगई, परन्तु वगलीको मरीहुई देखकर उस ब्राह्मणके मनमें संताप होने लगा और वह खेद करता हुआ विचारने लगा कि—अरेरे मैंने क्रोधके वशमें होकर यह क्या अकाज करडाला॥५–६॥ मार्कण्डेय वोले कि—हे भरतवंशश्रेष्ठ ! फिर वह विद्वान् ब्राह्मण वहुत पछताकर भिक्षा मांगनेके लिये एक समीपके ग्राममें गया और ग्राममें जाकर पवित्र मनुष्योंके घर भिक्षा मांगने लगा ।७। एक समय वह कौशिक पहिले जिस गृहस्थ के यहां भिक्षा मांगने गयाथा, तहां ही फिर गया और कहने लगा कि—“भवति भिक्षां देहि,, हे पूज्य माताजी भिक्षा दो, उस घरकी स्वामिनी वरतन मांज रही थी उसने कहाकि—महाराज ! खड़े रहो इतनेमें ऐसा

क्षुधासम्पीडितो भृशम् ॥ ९ ॥ भर्त्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम। सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवहाय तम्॥ १० ॥ पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्त्तुस्तथासनम् । प्रह्वापर्यचरच्चापि भर्त्तारमसितेक्षणा ॥ ११ ॥ आहारेणाथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा। उच्छिष्टं भाविता भर्त्तुर्भुंक्ते नित्यं युधिष्ठिर ॥ १२ ॥ दैवतञ्च पतिं मेने भर्त्तुश्चित्तानुसारिणी । कर्मणा मनसा वाचा नान्यम् चित्ताभ्यगात् पतिम् ॥ १३ ॥ तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता । साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी ॥ १४ ॥ भर्त्तश्चापि हितं यत्तत् सततं सानुवर्तत । देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ॥ १५ ॥ शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रि-

हुआ कि--हे भरतवंशश्रेष्ठ ! उस स्त्रीका पति बहुत भूखा होनेके कारण भोजन करनेके लिये अकस्मात् घरमें आया, उस सतीने अपने पतिको जीमनेके लिये आया हुआ देखकर भिक्षाके लिये आये हुए उस ब्राह्मणको खडा छोडकर पैर धोनेके लिये तथा कुल्ला करनेके अपने पतिको जल दिया और बैठनेके लिये आसन देकर श्याम दृष्टिवाली तथा सरल स्वभाववाली वह स्त्री भक्ष्य भोज्य आदि चारों प्रकारके पदार्थ परोसकर अपने पतिकी सेवा करने में लगगई, हे युधिष्ठिर ! वह स्त्री सदा, पतिको जिमाकर भक्तिसे उनका उच्छिष्ट खाया करती थी पतिको ही अपना परमदेवता मानती थी, उनके मनके अनुकूल चलती थी और मन, वाणी तथा शरीरसे पतिके सिवाय किसी दूसरे का स्मरण भी नहीं करती थी, सबप्रकारसे केवल पतिकी ही सेवा करती थी ८-१३ वह सब प्रकारसे पतिका ही शरणमें रहती थी, पतिकी ही सेवा में प्रेम रखती थी, सदाचारणी पवित्र रहनेवाली घरके काममें निपुण अपने कुटुम्बका सदा भला चाहनेवाली और जिस प्रकार अपने पति का हित हो तिसी प्रकार वर्त्ताव करनेवाली थी वह सदा इंद्रियोंको वशमें रखकर देवता, अतिथि, सेवक, सास और ससुरकी सेवा करनेमें तत्पर रहतीथी

या । सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकांक्षिणम् ॥ १६ ॥ कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराथ शुभेक्षणा । व्रीडिता साभवत् साध्वी तदा भरतसत्तम । भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी १७ ब्राह्मण उवाच ॥ किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वराङ्गने । उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि ॥ १८ ॥ मार्कण्डेय उवाच॥ ब्राह्मणं क्रोधसन्तप्तं ज्वलन्तमिव तेजसा । दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येन्द्र सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥ स्त्र्युवाच । क्षन्तुमर्हसि मे विद्वन् भर्त्ता मे दैवतं महत् । स चापि क्षुधितः श्रांतः प्राप्तः शुश्रूषितो मया ॥ २० ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः । गृहस्थधर्मे वर्त्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे ॥ २१ ॥

"वह पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी सेवा कर रही थी, इतनेमें हीं भिक्षाके लिये खड़े हुए ब्राह्मणका उसे ध्यान आया, तो हे भरतवंशमेंश्रेष्ठ राजन् ! वह सुन्दर नेत्रोंवालीयशस्विनी साध्वी लज्जित होगई और भिक्षा लेकर ब्राह्मणको देनेके लिये घरसे बाहर आई ॥ १५–१७ ॥ उस समय वह ब्राह्मण बोला कि–हे सुन्दर स्त्री ! यह क्या ? तूने मुझे "खड़े रहो" कहकर रोकलिया, परन्तु जानेकी आज्ञा न दी मैं तेरे इस वर्त्तावसे अचंभेमें हूं॥१८॥ मार्कण्डेय बोले कि–हे राजन् वह ब्राह्मण मानो तेजसे जलता हो इसप्रकार क्रोधसे लाल लाल होगया, उस ब्राह्मणकी ऐसी दशाको देखकर उसे समझाती हुई वह साध्वी स्त्री कहने लगी ॥ १९ ॥ ब्राह्मणी बोली कि–हे विद्वन् ब्राह्मण ! मैं पतिको महादेवता मानती हूं वे भूँखे तथा थके हुए घर आए थे, अतः मैं उन की सेवामें लगगई इस कारण मुझे आपका ध्यान नहीं रहा था, अतः तुम्हें मेरे ऊपर क्षमा करनी चाहिये ॥ २० ॥ ब्राह्मण बोला कि—हे स्त्रि ! तूने ब्राह्मणों को बड़ा नहीं माना पतिको ही बड़ा माना ? तू गृहस्थ धर्ममें रहकर भी ब्राह्मणों का अपमान करतीहै ?

इन्द्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि । अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया ॥ २२ ॥ ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि । स्त्र्युवाच ॥ नाहं बलाका विप्रर्षे त्यज क्रोधं तपोधन ॥२३॥ अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि । नावजानाम्यहं विप्रान् देवैस्तुल्यान् मनस्विनः ॥ २४ ॥ अपराधमिमं विप्र क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ । जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यञ्च धीमताम् २५ अपेयः सागरः क्रोधात् कृतो हि लवणोदकः । तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ २६ ॥ येषां क्रोधाग्निरद्यापि दण्डकेनोपशाम्यति । ब्राह्मणानां परिभवाद्वातापिः सुदुरात्मवान् २७ अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः । बहुप्रभावाः श्रूयन्ते

॥ २१ ॥ इन्द्र भी ब्राह्मणोंसे नमता है, तब पृथ्वी पर मनुष्य उन्हें प्रणाम करें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? हे गर्वमें भरीहुई नारी! तू अनजान है, तथा तूने वृद्धोंसे ब्राह्मणोंका गौरव नहीं सुना है ॥ २२ ॥ ब्राह्मण अग्निकी समान हैं वे कोप करें तो पृथ्वीको भी भस्म करसकते हैं, वह स्त्री बोली कि—हे तपोधन! हे विप्रर्षे! मैं कोई बगली चिड़िया नहीं हूं, तुम क्रोधको छोड़ दो ॥ २३ ॥ मैं मनस्वी तथा देवताओंकी समान मान्य ब्राह्मणोंका तिरस्कार नहीं करती हूं, परन्तु तुम गुस्से होगए हो तो इस क्रोधदृष्टिसे मेरा क्या करसकते हो ? सुनो ॥ २४ ॥ हे निर्दोष ब्राह्मण ! आपको मेरा यह अपराध क्षमा करदेना चाहिये, मैं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके महाप्रभाव तथा सद्भाग्य को जानती हूं ॥ २५ ॥ अगस्त्यने क्रोधसे महासागरको पीकर उसे न पीनेयोग्य खारा करदिया है, जिनमें तप दमक रहा है ऐसे शुद्ध मनवाले मुनियोंका क्रोधानल आज तक भी न बुझ कर दण्डकारण्य में प्रज्वलित हीं दीखता है, अति-दुष्टात्मा वातापि दैत्य ब्राह्मणोंका तिरस्कार करता था, परन्तु जब वह अगस्त्यके समीप गया तो अगस्त्यजीने उसे अपने पेटमें पचालिया था, हे निर्दोष ब्राह्मण ! महात्मा ब्राह्मणोंके ऐसे २

ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ २८ ॥ क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन् प्रसादश्च महात्मनाम् । अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन् क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ २६ पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज । दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्त्ता मे दैवतं परम् ॥३०॥ अविशेषेण तस्याहं कुर्य्यां धर्मं द्विजोत्तम । शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम् ॥ ३१ ॥ बलाका हि त्वया दग्धा रोषात्तद्विदितं मया । क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ॥ ३२ ॥ यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः । यो वदेदिह सत्यानि गुरुं सन्तोषयेत च ॥३३॥ हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः । जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ॥ ३४ ॥ कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा

बहुतसे प्रभाव मैंने सुने हैं, महात्माओंका क्रोध भी बड़ाभारी होता है और प्रसन्न होना भी बहुत कुछ होता है, अतः मेरा यह अपराध आपको सहन करना चाहिये ॥ २६-२६ ॥ हे ब्राह्मण! पतिसेवा-धर्म ही मुझे अच्छा लगता है, क्योंकि-सब देवताओंसे बढ़कर मुझे अपने पति देवता हैं ॥ ३० ॥ हे द्विजोत्तम! मैं साधारण प्रकारसे पतिव्रताके धर्मको पालती हूं और मुझे पति सेवाका जो फल मिलरहा है उसे तुम देख ही रहे हो, तुमने क्रोध करके बगलीको भस्म करडाला था, यह बात मुझे पातिव्रत्यके प्रभावसे ही मालूम हुई है, हे द्विजोत्तम! मनुष्योंके शरीरमें क्रोधरूपी शत्रु रहता है ॥ ३१-३२ ॥ परन्तु जो क्रोध तथा मोहको त्यागता है, उसको ही देवता ब्राह्मण कहते हैं, जो यहां पर सत्य बोलता है और गुरुको सन्तुष्ट करता है ॥ ३३ ॥ तथा जो किसीके मारने पर भी उसको नहीं मारता है उसको देवता ब्राह्मण कहते हैं, जो जितेन्द्रिय, धर्मपर, तथा स्वाध्यायमें लगा रहनेवाला शुद्ध है ॥ ३४ ॥ और काम क्रोधको अपने अधीन रखता है देवता उसे ब्राह्मण कहते हैं, जो मनस्वी धर्मात्मा अपनी

ब्राह्मणं विदुः । यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः ३५ सर्वधर्मेषु चरतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः । योऽध्यापयेदधीयीत यजेद्वा याजयीत वा ॥३६॥ दद्याद्वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः । ब्रह्मचारी च वेदान्योऽप्यधीयाद्द्विजपुङ्गवः ॥३७॥ स्वाध्याये चाप्रमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः । यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्त्तयेत् ॥ ३८ ॥ सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः । धर्मन्तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम् ॥३९॥ इन्द्रियाणां निग्रहञ्च शाश्वतं द्विजसत्तम । सत्यार्जवं धममाहुः परं धर्मविदो जनाः ॥ ४० ॥ दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः । श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम् ॥ ४१ ॥ बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम । भगवानपि धर्मज्ञःस्वा-

---

समान सब प्राणियोंको देखता है ॥ ३५ ॥ और जिसका सकल धर्मों पर प्रेम होता है, उसे देवता ब्राह्मण कहते हैं, जो पढ़ताहै, पढ़ाता है यज्ञ करता है,यज्ञ कराता है॥३६॥तथा शक्तिके अनुसार दान देता है उसे देवता ब्राह्मण कहते हैं, जो ब्रह्मचारी रहता है, उदार स्वभाववाला होता है वेदाध्ययन करता है और स्वाध्यायमें सावधान रहता है उसे देवता ब्राह्मण कहते हैं,जो धर्म ब्राह्मणोंका कल्याण करनेवाले हों वे धर्म ब्राह्मणोंसे कहने चाहियें, अतः मैं ये सब कहरही हूं ॥ ३७–३८ ॥ सत्यवक्ताओंका मन सदा सत्य बोलनेमें प्रेम रखता है असत्यके ऊपर प्रेम नहीं करता, हे द्विजोत्तम ! वेदाध्ययन करना, अन्तरिन्द्रिय और बाह्येन्द्रियोंको वशमें रखना, सरल रहना तथा ब्रह्मचर्य पालना यह ब्राह्मणोंके नित्य धर्म हैं, इनमें भी धर्मात्मा पुरुष सत्य और सरलताको ही मुख्य धर्म कहते हैं॥ ३९–४० ॥ इनमें भी शाश्वत धर्म बड़ी कठिनता से जाननेमें आता है,वह धर्म केवल सत्यमें ही रहता है, वृद्ध पुरुष भी कहते हैं कि–वेदमें जो कुछ लिखा है वह धर्म है ॥ ४१ ॥ हे द्विजोत्तम ! वेदमें धर्म अनेकों प्रकारसे वर्णन किया हुआ पाया-

ध्यायनिरतः शुचिः ॥ ४२ ॥ न तु तत्त्वेन भगवन् धर्मं वेत्सीति मे मतिः । यदि विप्र न जानीषे धर्मं परमकं द्विज ॥ ४३ ॥ धर्मव्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम् । मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ ४४ ॥ मिथिलायां वसेद्व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति । तत्र गच्छस्व भद्रन्ते यथाकामं द्विजोत्तम४५ अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित । स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये धर्ममभिविन्दते ॥ ४६ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ प्रीतोऽस्मि तव भद्रन्ते गतक्रोधश्च शोभने । उपालम्भस्त्वयात्युक्तो मम निःश्रेयसं परम् ॥ ४७ ॥ स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने ॥ ४८ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेवभवनं

जाता है और वह धर्म बड़ा सूक्ष्म है, परन्तु हे भगवन् ! आप धर्मात्मा हैं स्वाध्यायमें सदा लगे रहते हैं और शुद्ध रहते हैं।४२। तो भी मेरी समझमें आप धर्मके रहस्यको नहीं समझते हैं, हे विप्र ! यदि तुम परमधर्मको न जानते होओ तो तुम मिथिला नगरीमें जाओ और तहां जाकर धर्मव्याधसे धर्मके विषयमें प्रश्न करो तथा अपने मनका समाधान करो वह तुम्हारे सन्देह का मिटादेगा, मिथिलामें रहनेवाला धर्मव्याध मातापिताकी सेवा करने वाला सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, वह तुम्हें भलीप्रकार धर्मोपदेश देगा, अतः हे द्विजोत्तम ! तुम्हें अच्छा लगे तो तुम तहां जाओ, तुम्हारा कल्याण हो ॥ ४३–४५ ॥ हे निष्पाप ! मैंने तुमसे जो बढ़कर बातें कही हों वह सब आपको क्षमाकरनीं चाहियें क्योंकि-धर्मको जाननेवाले पुरुष स्त्रियोंको दण्ड देना अनुचित मानते हैं ॥ ४६ ॥ ब्राह्मण बोला कि–तेरा कल्याण हो, तेरे वचन सुनकर मेरा क्रोध शांत होगया है, और मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूं, तूने मुझे बहुतसे ताने दिये हैं, परन्तु उनसे मेरा कल्याण हुआ है ॥ ४७ ॥ हे सुन्दरि ! तेरा कल्याण हो मैं अब मिथिलापुरीमें जाऊँगा और अपने कार्यको साधूंगा ॥ ४८ ॥ मार्कण्डेयजी

ययौ । विनिन्दन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ चिन्तयित्वा तदाश्चर्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः । विनिन्दन् स स्वमात्मानमागस्कृत इवाबभौ ॥ १ ॥ चिन्तयानः स्वधर्मस्य सूक्ष्मां गतिमथाब्रवीत् । श्रद्दधानेन वै भाव्यं गच्छामि मिथिलामहम् ॥ २ ॥ कृतात्मा धर्मवित्तस्यां व्याधो निवसते किल । तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टुं तपोधनम् ॥ ३ ॥ इति सञ्चिन्त्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः । बलाकाप्रत्ययेनासौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः ॥ ४ ॥ संप्रतस्थे स मिथिलां कौतूहल-

---

बोले कि—तदनन्तर उस पतिव्रता स्त्रीने कौशिकको जानेकी आज्ञा दी तब तुरत ही वह श्रेष्ठ ब्राह्मण उसके घरसे चलकर अपनी निन्दा करता हुआ अपने स्थानकी ओरको चलागया ॥ ४६ ॥ दोसौ छःवां अध्याय समाप्त ॥ २०६ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

मार्कण्डेय बोले कि—हे राजन् युधिष्ठिर ! वह ब्राह्मण उस गृहस्थ की स्त्रीके कहेहुए आश्चर्यकारक वचनोंका विचार करके अपनी निन्दा करने लगा और मानो अपने आप उस स्त्रीका अपराध किया हो तैसा अपनेको मानने लगा ॥१॥ फिर स्वधर्म की सूक्ष्म गतिका मनमें विचार करता हुआ बोल उठा कि—मुझै श्रद्धावान् बनना चाहिये और मुझै मिथिला नगरीमें जाना चाहिये ॥ २ ॥ धर्मज्ञानी आत्मवेत्ता धर्मव्याध मिथिलामें अवश्य रहता है, अतः मैं उसतपोधनसे धर्मके विषयमें प्रश्न करनेके लिये आजही जाऊं तो अच्छा हो ॥ ३ ॥ इसप्रकार अपने मनमें विचार करके उस स्त्रीके कहे हुए बगली के मरणतथा धर्मभरे वचनोंसे कौशिकके मनमें उस स्त्रीकी वातोंपर विश्वास हुआ फिर वह उत्कण्ठित होकर मिथिला नगरीकी ओर को चलदिया मार्गमें

समन्वितः । अतिक्रामन्नरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च॥ ५ ॥ ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम् । धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम् ॥ ६ ॥ गोपुराट्टालकवतीं हर्म्यप्राकारशोभनाम् । प्रविश्य नगरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्युताम् ॥ ७ ॥ पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् । अश्वै रथैस्तथा नागैर्योधैश्च बहुभिर्युताम् ॥ ८ ॥ हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम् । सोऽपश्यद् बहुवृत्तान्तां ब्राह्मणः समतिक्रमन् ॥ ९ ॥ धर्मव्याधमपृच्छच्च स चास्य कथितो द्विजैः । अपश्यत्तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम् ॥ १० ॥ मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणन्तं तपस्विनम् ।

वनोंको ग्रामोंको और नगरोंको लांघता लांघता वह राजा जनक से रक्षित मिथिला नगरीमें जापहुंचा, उस नगरी में धर्मका पालनकरनेवाले बहुतसे मनुष्य रहते थे, यज्ञोंके महोत्सव होरहे थे, नगरके द्वार अट्टालिका, महल और किलोंसे तथा सात २ मंजिली हवेलियोंसे वह नगरी सुंदर दीख रही थी, वडी २ व्यापारकी वस्तुओंसे बाजार भरपूर थे, उसमें महामार्गों (चौकों) का विभाग करके चारों ओर मार्ग बनाए गए थे बहुतसे हाथी, घोडे, रथ और योधाओंसे वह नगरी दिपरही थी, हृष्ट पुष्ट मनुष्योंसे खचाखच भरी हुई थी 'नित्य होनेवाले उत्सवोंसे गूंज रही थी, और देश विदेशके अनेकों समाचारोंसे बहुत ही सुनने योग्य थी, ऐसी नगरी को निहारता २ वह ब्राह्मण चारों ओर घूमने लगा ॥ ४—९ ॥ फिर उसने किसासे बूझा कि—इस नगरमें धर्मव्याध कहां रहता है ? तव ब्राह्मणोंने कहा कि—वह इस कसाईखानेमें जहां पशुओंको माराजाता है तहां वैठा है, उस ब्राह्मण ने जाकर देखा तो तपस्वी धर्मव्याध कसाईखानेमें वैठा है और मृग तथा भैंसेके मांसको वेच रहा है, तहां मांस खरीदनेवालोंकी बड़ा भीड जम रही थी यह देखकर ब्राह्मण एक कोनेमें वैठने

आकुलत्वाच्च कर्मणामेकान्ते संस्थितो द्विजः ॥ ११ ॥ स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा सम्भ्रमोत्थितः। आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने ॥ १२ ॥ व्याध उवाच ॥ अभिवादये त्वां भगवन् स्वागतन्ते द्विजोत्तम। अहं व्याधो हि भद्रन्ते किं करोमि प्रशाधि माम् ॥ १३ ॥ एकपत्न्या यदुक्तोऽसि गच्छ त्वं मिथिलामिति। जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमिहागतः ॥ १४ ॥ श्रुत्वा च तस्य तद्वाक्यं स विप्रो भृशविस्मितः। द्वितीयमिदमाश्चर्य्यमित्यचिन्तयत द्विजः ॥ १५ ॥ अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीदिदम्। गृहं गच्छाव भगवन् यदि ते रोचतेऽनघ ॥ १६ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ बाढमित्येव तं विप्रो हृष्टो वचनमब्रवीत्। अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहं प्रति ॥ १७ ॥ प्रविश्य च गृहं रम्य

लगा ॥ १०-११ ॥ परन्तु धर्मव्याधने ब्राह्मण को आतेहुए देखलिया था, इसकारण वह एकाएक संभ्रमसे खडा होगया और एकान्तस्थानमें जहां वह ब्राह्मण बैठा था तहां जाकर बूझा ॥ १२ ॥ धर्मव्याध बोला कि—हे भगवन्! आप भले आए, हे द्विजवर! मैं आपको प्रणाम करता हूं, मैं तो व्याध हूं आप बतलाइये मैं आपका क्या प्रिय करूं? मुझै आज्ञा दीजिये ।१३। तुमसे पतिव्रता स्त्री ने मिथिला नगरीमें आनेको कहा होगा, इससे हीं तुम यहां आये हो, आप जिस कार्यके लिये आए ह वह सब मैंने जानलिया है ॥ १४ ॥ व्याधके ऐसे वचनोंको सुन कर वह ब्राह्मण बड़ा चकित हुआ फिर मनमें विचारने लगा कि- "लो यह दसरा आश्चर्य है" तब व्याधने कहा कि–हे भगवन्! यह स्थान आपके योग्य नहीं है अतः हे निष्पाप ब्राह्मण! यदि आपकी इच्छा हो तो हम दोनों घर चलें ॥ १५-१६ ॥ मार्कण्डेय बोले कि—व्याधके इन वचनोंको सुनकर ब्राह्मण प्रसन्न हुआ और उसने व्याधसे कहा कि–अच्छा ऐसा ही करो, फिर वह धर्मव्याध ब्राह्मणको आगे करके अपने घरको चला॥ १७ ॥और

मासनेनाभिपूजितः। पाद्यमाचमनीयञ्च प्रतिगृह्य द्विजोत्तमः॥१८॥
ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत् । कर्मैतद्वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे । अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्मणा ॥ १९ ॥
व्याध उवाच । कुलोचितमिदं कर्म्म पितृपैतामहं परम् । वर्त्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ॥ २० ॥ विधात्रा विहितं पूर्वं कर्म्म स्वमनुपालयन् । प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम॥ २१ ॥ सत्यं वदे नाभ्यसूये यथाशक्ति ददानि च । देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्त्तये ॥ २२ ॥ न कुत्सयाम्यहं किञ्चिन्न गर्हे बलवत्तरम् । कृतमन्वेति कर्त्तारं पुरा कर्म्म द्विजोत्तम ॥२३ ॥

एक सुन्दर घरमें पहुंच उस अतिथि ब्राह्मणको आसन पर बैठाकर उसके पैर धो आचमन करनेके लिये जल दिया, वह ब्राह्मण हाथ पैर धो आचमन करके आनन्दसे आसन पर बैठगया और फिर उस धर्मव्याधसे बोला कि–हे तात ! यह जो मांस बेचनेका काम तुम करते हो मेरी समझमें यह तुम्हारे योग्य नहीं है, तुम्हारे इस घोर कर्मसे मुझे बड़ा पश्चात्ताप होता है ॥ १८—१९ ॥ यह सुनकर व्याध बोला कि—हे विप्र ! यह धन्धा हमारी कुलपरम्परासे है और इस कामको हमारे पिता दादा आदि करते आये हैं तथा यह काम हमारे कुलके योग्य है, आप मेरे ऊपर क्रोध न करिये ॥ २० ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! विधाताने मेरे भाग्यमें पहिले जो २ लिखदिया है उसी प्रकार मैं अपने कामको पूरा किया करता हूं, मैं प्रयत्नपूर्वक वृद्ध मातापिताकी सेवा किया करता हूं ॥२१॥सत्य बोलता हूं,किसीसे डाह नहीं करता, शक्तिके अनुसार दान देता हूं और देवता अभ्यागत तथा सेवकोंको भोजन करानेके पीछे शेष बचे हुए अन्नसे आजीविका चलाता हूं॥२२॥तैसे ही किसीका हठसे निन्दा भी नहीं करता हूं और हे द्विजोत्तम!पहिले जो कर्म किये होते हैं वे कर्म कर्त्ताके पीछे२ चला

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् । दण्डनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोको भवत्युत ॥ २४ ॥ कर्म्मशूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामं क्षत्रिये स्मृतः । ब्रह्मचर्य्यतपोमन्त्राः सत्यञ्च ब्राह्मणे सदा ॥२५॥ राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वधर्म्मनिरताः प्रजाः । विकर्म्माणश्च ये केचित्तान् युनक्ति स्वकर्म्मसु ॥ २६ ॥ भेतव्यं हि सदा राज्ञां प्रजानामधिपा हि ते । वारयन्ति विकर्म्मस्थं नृपा मृगमिवेषुभिः॥ २७ ॥ जनकस्येह विप्रर्षे विकर्म्मस्थो न विद्यते । स्वकर्म्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम ॥ २८ ॥ स एष जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत् सुतम् । दण्ड्यं दण्डे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्मिकम् २९

करते हैं ॥ २३ ॥ इस जगत्में खेती गोपालन और व्यापार इतने कर्म लोकोंकी आजीविका चलाने के लिये हैं और दण्डनीति, वेद तथा विद्या ये परलोकके साधन हैं ॥ २४ ॥ शूद्रोंका धर्म सेवा करना है क्षत्रियोंका धर्म युद्ध करना है और ब्रह्मचर्य,तपस्या वेदाध्ययन तथा सत्य बोलना इतना वस्तुएं नित्य ब्राह्मणमें रहती हैं अर्थात् ये सब ब्राह्मणोंके धर्म हैं॥ २५ ॥ राजाओंका धर्म यह है कि--अपने २ कर्मोंमें लगी हुई प्रजाकी धर्मसे सदा रक्षा किया करें इनमें जो कोई अपने कर्मको त्यागदेते हैं उन्हें राजा फिर उनके अपने कर्मपर स्थापित करता है ॥२६॥ इससे प्रजाओंको राजाओंसे सदा डरते रहना चाहिये, क्योंकि--राजा प्रजाओंके अधिपति हैं ये राजे जैसे बाण मृगको आगे जानेसे रोकता है, तैसे हीं अपनी प्रजामेंका कोई मनुष्य अपने कर्मसे भ्रष्ट होजाय तो उसको रोकते हैं ॥ २७ ॥ हे विप्रर्षे ! इस राजा जनकके राज्यमें कोईभी मनुष्य अपने कर्मसे हटकर अधर्मसे नहीं चलता है, किन्तु हे द्विजोत्तम ! चारों वर्ण अपने २ कर्मोंमें लगे रहते हैं॥ २८ ॥ और यह राजा जनक अपना पुत्र भी यदि दुराचारी और दण्ड देने योग्य होता है तो उसको भी दण्ड देता है तथा शत्रु होने पर भी जो धर्मात्मा होता है उसे दुःख नहीं देता

स युक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति । श्रीश्च राज्यञ्च दण्डश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम ॥३०॥ राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम् । सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ॥ ३१ ॥ परेण हि हतान् ब्रह्मन् वराहमहिषानहम् । न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा त्वहम् ॥ ३२ ॥ न भक्षयामि मांसानि ऋतुगामी तथाप्यहम् । सदोपवासी च तथा नक्तभोजी सदा द्विज ॥ ३३ ॥ अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान् । प्राणिहिंसारतिश्चापि भवते धार्म्मिकः पुनः ॥ ३४ ॥ अभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः संकीर्य्यते महान् । अधर्मो वर्त्तते चापि संकीर्य्यन्ते ततः प्रजाः॥ ३५ ॥ भेरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च । क्लीवाश्चान्धाश्च

है ॥ २६ ॥ और हे द्विजोत्तम ! यह जनक परम चतुर दूतोंके द्वारा धर्मपूर्वक सबको देखा करता है, क्षत्रिय-लक्ष्मी, राज्य और दण्ड के अधिकारी हैं इसकारण क्षत्रिय स्वधर्मसे बडीभारी राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं और सब वर्णोंके रक्षक राजा ही होते हैं ॥ ३०-३१ ॥ हे ब्रह्मन् ! अब मेरे विषय में सुनो कि—मैं स्वयं सूअर और भैंसोंको मारकर नहीं बेचता हूं किन्तु हे विप्रर्षे ! दूसरोंके मारेहुए भैंसे और सूअरोंको बेचनेका व्यपार करता हूं, ऐसा करने पर भी मैं मांसको नहीं खाता और स्त्रीसमागम भी विना ऋतुकालके नहीं करता हूं और हे ब्राह्मण ! मैं सदा दिनमें उपवास करता हूं और रात्रिको ही भोजन करता हूं ॥ ३२-३३ ॥ जैसे जो पुरुष पहिले व्यभिचारी होता है और पीछे शील स्वभाववाला होजाता है तैसे ही जो पहिले प्राणियोंकी हिंसामें प्रेम करता है वह पीछे धर्मात्मा होजाता है ॥ ३४ ॥ अब हे द्विज ! राजा यदि अपनी इच्छानुसार वर्ताव करता है तो धर्ममें वडा गोलमाल होजाता है और जहां अधर्मका आरंभ होता है तहांकी प्रजा वर्णसंकर होने लगती है ॥ ३४—३५ ॥ और इससे प्रजा भयंकर मुखवाली,

बधिरा जायन्तेत्युच्चलोचनाः ॥ ३६ ॥ पार्थिवानामधर्म्मत्वात् प्रजानामभवः सदा । स एष राजा जनकः प्रजा धर्मेण पश्यति ॥ ३७ ॥ अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः स्वधर्मनिरताः सदा । ये चैव मां प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः ॥ ३८ ॥ सर्वान् सुपरिणीतेन कर्म्मणा तोषयाम्यहम् । ये जीवन्ति स्वधर्मेण संयुञ्जन्ति च पार्थिवाः ॥ ३९ ॥ न किञ्चिदुपजीवन्ति दान्ता उत्थानशीलिनः । शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा धर्मनित्यता ॥ ४० ॥ यथार्हं प्रतिपूजा च सर्वभूतेषु वै सदा । त्यागान्नान्यत्र मर्त्यानां गुणास्तिष्ठन्ति पूरुषे ॥ ४१ ॥ मृषावादं परिहरेत् कुर्य्यात् प्रियम-

---

ठिगनी, कुबडी, बड़े माथेवाली, नपुंसक, अंधी बहरी और ऊँची आखोंवाली उत्पन्न होती है, इसप्रकार राजाके अधर्मसे प्रजाका नित्य ही संहार होता है, परन्तु हमारी नगरीका राजा जनक सदा प्रजाओंके कार्यका ध्यान रखता है ॥ ३६–३७ ॥ और अपने धर्ममें तत्पर रहनेवाली अपनी सब प्रजाके ऊपर नित्य अनुग्रह करता है, हे द्विज ! मेरे विषयमें यह जानो कि–इस नगरीके कुछ मनुष्य मेरी प्रशंसा करते हैं और कुछ मेरी निंदा भी करते हैं, परन्तु उन सब मनुष्योंको मैं अच्छे परिणामवाले श्रेष्ठ कर्मोंसे प्रसन्न करता हूं, इस प्रकार ही जो स्वधर्ममें चलता है, जो प्रामाणिक और नीतिके कार्यमें तत्पर रहता है तथा इन्द्रियोंको वशमें रखता है और उत्साही होता है उसको ही राजा जानो ॥ ३८–३९ ॥ जो राजे शिक्षित हैं और दूसरोंके ऊपर चढ़ाई करनेमें चतुर है वे दूसरेके भरोसे पर अपनी आजीविका नहीं करते हैं, किन्तु स्वयं ही अपनी आजीविका चलाते हैं, मनुष्य सदा शक्तिके अनुसार दान देय, दूसरोंके वचनोंको सहै, धर्मके ऊपर दृढ विश्वास रक्खे और सब प्राणियोंको उनकी योग्यताके अनुसार सन्मान करै, ये मनुष्योंके गुण त्यागगुणके विना मनुष्यों में नहीं रहते हैं, अतः पुरुष त्याग (दान) को स्वीकार करे ॥ ४०–४१ ॥ किसीसे भी झूठ न बोलना चाहिये, विना प्रेर-

याचितः । न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥ ४२ ॥ प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् । न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत् ॥४३ ॥ कर्म चेत् किञ्चिदन्यत् स्यादितरन्न तदाचरेत् । यत्कल्याणमभिध्यायेत्तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ ४४ ॥ न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत् । आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्त्तुमिच्छति ॥ ४५ ॥ कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत् । न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये ॥४६॥ अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः । महादृतिरिवाध्मातः पापो भवति नित्यदा ॥ ४७ ॥ मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं भवेत् ।

याके हरएकका हित करना चाहिये, कामना भय तथा द्वेषसे धर्मको नहीं त्यागना चाहिये, मनचीता काम होनेसे अत्यन्त प्रसन्न नहीं होना चाहिये, अनहित होनेसे दुःखी नहीं होना चाहिये, धनका संकट आपड़ने पर घबड़ाना नहीं चाहिये, और धर्मको नहीं त्यागना चाहिये ॥ ४१-४३ ॥ यदि अपनेसे कुछ विपरीत कार्य(अधर्म)होजाय तो फिर उस कार्यमें मनको न लगावे किन्तु जिससे अपना तथा दूसरेका भला हो उस कामका ही मनमें विचार करे और उस काममें मन लगावे ॥४४॥ कोई मनुष्य अपना अहित करे तो भी उसका अनिष्ट न करे, किन्तु नित्य सज्जन बनकर रहे क्योंकि—जो मनुष्य पापकर्म करना चाहता है वह स्वयं ही नष्ट होजाता है ॥४५॥ और यह जो आचरण करता है वह धर्म नहीं है, ऐसा विचार कर जो पुरुष धर्मात्मा पुरुषोंकी हँसी करते हैं उन पापी और नीच पुरुषोंका काम चोरोंके समान समझना चाहिये ॥ ४६ ॥ धर्मके ऊपर श्रद्धारहित ऐसे नास्तिक पुरुष अवश्य नरकमें पड़ते हैं, पापी मनुष्य चमड़ेकी बड़ी धौंकनी की समान भीतरी सारसे शून्य होते हैं, तो भी ऊपरसे पुष्ट (सुखी) दीखते हैं, ॥ ४७ ॥ हे द्विज ! अहंकारसे मूढ़ मूर्ख मनुष्य मनमें जो २ विचार करते हैं वे सब निःसार

दर्शयत्यन्तरात्मा तं दिवा रूपमिवांशुमान् ॥ ४८ ॥ न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया । अपि चेह मृजाहीनः कृतविद्यः प्रकाशते ॥ ४९ ॥ अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् । न कश्चिद् गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ॥ ५० ॥ विकर्मणा तप्यमानः पापाद्विपरिमुच्यते । न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते ॥ ५१ ॥ कर्मणा येन तेनेह पापा द्विजवरोत्तम । एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन् धर्मेषु परिदृश्यते ॥ ५२ ॥ पापान्यबुध्वेह पुरा कृतानि प्राग्धर्मशीलोऽपि विहन्ति पश्चात् । धर्मो राजन्नुदते पूरुषाणां यत् कुर्वते पापमिह प्रमादात् ॥ ५३ ॥ पापं कृत्वा हि मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः । तन्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः

होते हैं और दिनमें सूर्य जैसे रूपको बताता है तैसे उन की मूर्खताको उनकी अन्तरात्मा बताती है ॥ ४८ ॥ अपनी प्रशंसा करनेवाले मूढ़बुद्धि इस लोकमें प्रसिद्ध नहीं होते हैं परन्तु जो विद्यावान् होते हैं वे किसी मलीन शरीरवालेकी भी निन्दा नहीं करते हैं तथा अपनी प्रशंसा भी नहीं करते हैं तथापि वे सबमें प्रसिद्ध होजाते हैं, परन्तु इस जगत्में सर्वगुणसम्पन्न किसीका तेज झमझमाता हुआ मुझे नहीं दीखता ॥ ४९-५० ॥ जो मनुष्य पाप कर्म बनजाने पर पछताता है वह उन पापोंसे छूटजाता है तथा "आगेको ऐसा काम नहीं करूंगा,, इसप्रकार पछतानेवाला दूसरे पापसे भी छूटजाता है,हे श्रेष्ठ ब्राह्मण!इसीप्रकार शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करनेसे भी पाप नष्ट होजाता है और धर्मकी उत्पत्ति होती है, हे द्विज! ऐसा वेदोंमें देखनेमें आता है ॥५२॥ कोई मनुष्य पहिले धार्मिक हो और उससे अज्ञानमें कोई पापकर्म होगया हो तो पछतावे से उसके पापका नाश होजाता है, मनुष्य इस लोकमें प्रमाद से जो पाप करता है ऐसे मनुष्यों के पापोंको धर्म नष्ट करता है ॥ ५३ ॥ और पुरुष पापकर्म करनेके पीछे माने कि—मैं पाप करनेवाला नहीं हूं तो उस निरभिमानी पुरुष

॥ ५४ ॥ छिद्रैर्देव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः । वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ॥ ५५ ॥ पापञ्चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते । मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चन्द्रमाः॥५६॥ यथादित्यः समुद्यन्वै तमः पूर्वं व्यपोहति । एवं कल्याणमातिष्ठन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥ पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम । लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः॥५८॥ अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः । तेषां दमः पवित्राणि प्रलापाधर्मसंश्रिताः । सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः ॥ ५९ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत । शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ॥ ६० ॥ एतदिच्छामि भ-

---

को देवता अपना आन्तरिक मनुष्य मानते हैं अर्थात् वह मनुष्य निरभिमानीपनेके कारण पापमेंसे छूटजाता है ॥ ५४ ॥ जो पुरुष दूसरेका कल्याण करता है,धर्म पर श्रद्धा रखता है, किसीसे डाह नहीं रखता है और जो वस्त्रकी समान महात्माओंके छिद्रोंको ढकता है ५५ वह पुरुष पाप करने पर भी उस पापसे छूटजाता है और जैसे घनघोर वादलोंमेंसे चन्द्रमा छूटता है तैसे ही सब पापोंमेंसे छूटजाता है ॥ ५६ ॥ जैसे सूर्य उदय होतेही पहिले अँधेरेका नाश करदेता है तैसेही श्रेष्ठ कर्म करनेवाले पुरुष भी सब पापोंमेंसे छूटजाते हैं॥ ५७ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! लोभ ही पापका स्थान है, क्योंकि-लोभके वशमें हुए और वहुतसे शास्त्रोंको न जाननेवाले पुरुष ही पाप करनेलगते हैं ५८ तृणोंसे जैसे कुए ढके होते हैं तैसे ही कपटधर्मसे अधर्मी पुरुष भी ढके रहते हैं, उनके वाहरी भाग में दम, पवित्र वस्तुएं धर्मसंवन्धी वातें आदि सब होते हैं परन्तु उनके भीतर शिष्टपुरुषोंकेसा आचार परम दुर्लभ है ॥ ५९ ॥ मार्कण्डेय वोले कि–यह सुनकर महाबुद्धि कौशिक ब्राह्मणने धर्मव्याधसे प्रश्न किया कि—हे नरोत्तम ! मैं सज्जन पुरुषोंके आचार को कैसे जानूं ? ॥६०॥हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो

द्रन्ते श्रोतुं धर्मभृताम्वर । त्वत्तो महामते व्याध तद्र् ब्रवीहि यथा-तथम् ॥ ६१ ॥ व्याध उवाच ॥ यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यञ्च द्विजसत्तम । पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६२ ॥ कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम् । धर्ममित्येव सन्तुष्टा-स्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥ ६३ ॥ न तेषां विद्यते वृत्तं यज्ञस्वाध्या-यशीलिनाम् । आचारपालनश्चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ॥ ६४ ॥ गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च । एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन् शिष्टा-चारेषु नित्यदा ॥ ६५ ॥ शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः । यामयं लभते वृत्तिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा ॥ ६६॥ वे-दस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः । दमस्योपनिषत्त्यागः शि-

मैं तुमसे सज्जन पुरुषों के आचार सुनना चाहता हूं, अतः हे महाबुद्धिमान् व्याध ! तुम मुझसे शिष्टोंके व्यवहार कैसे होते हैं वे ठीक२ रीतिसे कहो ॥ ६१ ॥व्याध बोला कि हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! यज्ञ, दान, तप, वेद और सत्यता यह पांच पवित्र वस्तुएं सदा शिष्टाचारमें गिनीजाती हैं ॥ ६२ ॥ जो पुरुष निरन्तर काम, क्रोध, दम्भ,लोभ, कुटिलता इन वस्तुओंको जीतता है और अपने धर्ममें संतुष्ट रहता है उसको ही शिष्ट पुरुषोंसे सन्मान पायाहुआ शिष्ट पुरुष जानो ॥६३॥ जो अपना मनमाना वर्ताव नहीं करते हैं किन्तु याग, यज्ञादि वेदोक्त कर्म करते हैं, वेद पढते हैं, तथा आचा-रको पालते हैं, यह शिष्ट पुरुषोंका दूसरा लक्षण है ॥ ६४ ॥ और हे ब्राह्मण ! गुरुसेवा, सत्य, शांति, और दान ये चार वस्तुएं नित्य शिष्टाचारमें रहती हैं ॥ ६५ ॥ जो पुरुष शिष्टाचार पालनेके लिये सब प्रकारसे निश्चय करके उसमें मनको लगाकर जिस लोकमें गतिको पाता है, वह गति गुरुसेवा किये विना और किसी उपायसे नहीं मिलती ॥ ६६ ॥ वेद (उपनिषद्ग) का सार सत्य है, सत्यका सार दम है, दमका सार दान है और यह

ष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६७ ॥ ये तु धर्मानसूयन्ते बुद्धिमोहान्विता नराः । अपथा गच्छतां तेषामनुयाता च पीड्यते ॥ ६८ ॥ ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतत्यागपरायणाः । धर्मपन्थानमारूढाः सत्य-धर्मपरायणाः ॥ ६९ ॥ नियच्छन्ति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः । उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ॥ ७० ॥ ना-स्तिकान् भिन्नमर्य्यादान् क्रूरान् पापमतौ स्थितान् । त्यज तान् ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ॥ ७१ ॥ कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् । नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर ॥ ७२ ॥ क्रमेण सञ्चितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान् । शिष्टाचारे भवेत् साधू रागः शुक्लेव वाससि ॥ ७३ ॥ अहिंसा सत्यवचनं

सब शिष्टाचारोंमें सदा मुख्य गिना जाता है ॥ ६७ ॥ और जो पुरुष मूढ़बुद्धिसे धर्मकी निन्दा करते हैं ऐसे कुमार्गी पुरुषका अनुकरण करनेवाले दुःखी ही होते हैं ॥ ६८ ॥ जो शिष्ट होते हैं वे भलीप्रकार नियममें रहते हैं, शास्त्रोक्त काम और दान आदि कर्ममें तत्पर रहते हैं, धर्ममार्गमें चलते हैं, सत्यधर्ममें तत्पर रहते हैं ॥ ६९ ॥ सज्जन पुरुषोंके सदाचारको पालते हैं, गुरुके विचारके अनुसार चलते हैं, मर्यादाके अनुसार धर्म तथा धनकी ओर देखते हैं, वे ही श्रेष्ठबुद्धिके स्वामी होसकते हैं ॥ ७० ॥ अतः हे द्विज! तुम मर्यादाको भंग करनेवाले नास्तिक पापी विचारवाले, क्रूर पुरुषोंका साथ छोड़ा और ज्ञान पाकर धार्मिक पुरुषोंकी सेवा करो ॥ ७१ ॥ तथा काम और लोभरूपी नाकों से भरी और पंचेन्द्रिय रूपी जलसे पूर्ण हुई नदी में धैर्यरूपी नावको डालकर उसके ऊपर बैठो और जन्मके सब दुःखोंको तरजाओ ॥ ७२ ॥ हे द्विज! सफेद वस्त्रमें जैसे लाल रंग बहुत शोभा पाता है तैसे ही बुद्धि और योगसे इकट्ठा किया हुआ बहुतसा धर्म भी शिष्टाचारी-पुरुषमें भली प्रकार शोभा पाता है ॥ ७३ ॥ अहिंसा तथा सत्य बोलना ये सब प्राणियोंका परमहित

सर्वभूतहितं परम् । अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः । सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठान्तु प्रवर्त्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ७४ ॥ सत्यमेव गरीयांस्तु शिष्टाचारनिषेवितम् । आचारश्च सतां धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः ॥ ७५ ॥ यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः स स्वां प्रकृतिमश्नुते । पापात्मा क्रोधकामादीन् दोषानाप्नोत्यनात्मवान् ॥ ७६ ॥ आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः । अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ॥७७॥ अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः ऋजवः शमसम्पन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते ॥७८ ॥ त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो मनस्विनः । गुरुशुश्रूषवो दान्ताः शिष्टाचारा भवन्त्युत ॥ ७९ ॥ तेषामहीनसत्त्वानां दुष्कराचारकर्मणाम् । स्वैः

करनेवाले हैं, अहिंसा ही परमधर्म है और वह सत्यके आधारसे रहती है क्योंकि– शिष्टोंके सब कर्म सत्यका अधार रखकर आरंभ होते हैं ७४ तीनों लोकोंमें सत्य पदार्थ ही बडा है और शिष्ट पुरुषों के आचरणमें उसका ही सेवन मुख्य है और सदाचारसे चलना यही शिष्ट पुरुषोंका धर्म है, अतः जिनमें सदाचार दीखे उन्हें शिष्ट पुरुष जानना ॥७५॥ अब जानलो कि-जिसकी जैसी प्रकृति होती है वह वैसाही काम करता है, जो पुरुष पापी और आत्मज्ञानहीन होते हैं वे ही काम क्रोध आदि दोषोंके अधीन होते हैं ७६ जिस कामका आरंभ न्यायके साथ होता है उसको ही धर्म कहते हैं. और उसके विपरीत जो अनाचार होता है उसको अधर्म कहते हैं, ऐसा शिष्टोंका उपदेश है ॥ ७७ ॥ जो किसीके ऊपर क्रोध नहीं करते हैं, डाह नहीं करते हैं, अहंकार तथा मत्सरता से शून्य होते हैं, सरल और शान्तिमान् वे ही शिष्टाचारी होते हैं ॥७८॥ जो ऋग् यजु और साम इन तीनों वेदोंमें कहेहुए यज्ञोंमें कुशल हैं, पवित्र रहते हैं. सदाचार पालते हैं, मनस्वी हैं, गुरुकी सेवा करते हैं तथा जितेन्द्रिय हैं वे ही शिष्ट पुरुष हैं।७९। और ऐसे पूर्णसत्त्वगुणी अतिकठिन आचारका पालन करनेवाले

कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं सम्प्रणश्यति ॥ ८० ॥ तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् । धर्मं धर्मेण पश्यन्तः स्वर्गं यांति मनीषिणः ॥ ८१ ॥ आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः । श्रुतवृत्तोपसम्पन्नाः संतः स्वर्गनिवासिनः ॥ ८२ ॥ वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः । शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् । पारणश्चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम् ॥ ८३ ॥ क्षमा सत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम् । सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा ॥८४॥ परुषञ्च न भाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः । शुभानामशुभानाञ्च कर्मणां फलसञ्चये ॥ ८५ ॥ विपाकमभिजानन्ति ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः । न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः ॥ ८६ ॥ संतः स्वर्गजितः शुक्लाः सन्निविष्टाश्च

और अपने सत्कर्मों से सत्कार पायेहुए पुरुषोंके हिंसादि घोर पाप स्वयं नष्टहोजाते हैं ॥८०॥और इससे ही अति आश्चर्यकारी, अनादिकालसे चले आते हुए, अतोल और नित्य आदरयोग्य सदाचारको धर्मरूपसे जाननेवाले विद्वान् स्वर्गमें जाते हैं ॥ ८१ ॥ तथा जो श्रद्धावान् हैं, गर्वशून्य होकर ब्राह्मणोंका सत्कार करते हैं, शास्त्रज्ञ हैं तथा शीलवान् हैं वे पुरुष भी स्वर्गमें जाते हैं।८२। हे ब्राह्मण! धर्मके तीन भेद हैं, एक तो वेदमें जताया हुआ परमधर्म, दूसरा शास्त्रमें कहा हुआ धर्म और तीसरा शिष्टलोगोंका धर्म इसप्रकार तीन प्रकारका धर्म है, सब विद्याओंमें कुशलता, तीर्थोंमें स्नान ॥ ८३ ॥ क्षमा, सत्य, सरलता शौच इन सबोंमें सत्पुरुषोंके आचार दिखाई देते हैं जो लोग सदा प्राणियोंके ऊपर दया करते हैं हिंसा नहीं करते हैं ॥ ८४ ॥ क्रूरताभरी बातें नहीं करते हैं सदा ब्राह्मणोंके ऊपर प्रेम रखते हैं, शुभ तथा अशुभ कर्मोंके फलोंके संग्रहका परिणाम जानते हैं वे ही शिष्ट हैं और ऐसे लोगोंका शिष्ट पुरुष सन्मान करते हैं और जो पुरुष न्यायवान् हैं, गुणी हैं, सबका हित करनेमें प्रेम रखते हैं, जिन्होंने स्वर्ग

सत्पथे। दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः ॥८७॥ सर्व-पूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः। सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः॥ ७८॥ दानशिष्टाः सुखांल्लोकानाप्नुवन्तीह च श्रियम्। पीडया च कलत्रस्य भृत्यानाञ्च समाहिताः॥ ८९॥ अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः। लोकयात्राञ्च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च॥ ९०॥ एवं सन्तो वर्त्तमानास्त्वे-धन्ते शाश्वतीः समाः। अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम् ॥ ९१ ॥ अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः। धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः॥ ९२ ॥ अकाम द्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसाक्षिणः। त्रीण्येव तु सतामाहुः सन्तः

का विजय किया है, जो अहिंसारूपी शुद्ध धर्मको पालते हैं, उत्तम मार्गमें चलरहे हैं, दाता हैं, सकल पदार्थोंको बांट कर कुटुम्ब-वालोंका सत्कार करते हैं, दीनोंके ऊपर अनुग्रह करते हैं, सर्वत्र प्रतिष्ठा पाते हैं, शास्त्ररूपी धनके धनी हैं, तपस्वी हैं, तथा सब प्राणियोंके ऊपर दया करते हैं उनको शिष्ट जानो और सज्जन पुरुष उनका सन्मान करते हैं॥ ८५-८८ ॥ और जो दीन लोगों को ज्ञान आदि देकर श्रेष्ठता पायेहुए हैं वे इस लोकमें लक्ष्मी पाते हैं और मरनेके पीछे सुखकारी स्वर्ग आदि लोकोंमें जाते हैं. तथा स्त्री और सेवकोंके दुःख देने पर भी धैर्यवान् रहते हैं घवड़ाते नहीं हैं और अपनी शक्तिके अनुसार लोगोंको दान देते हैं, सत्पुरुषोंका समागम करते हैं, लौकिक व्यवहार धर्म और कल्याणको जानते हैं॥८९-९०॥ वे लोग बहुत समय तक श्रेष्ठता पाते हैं, और जिस पुरुषमें अहिंसा सत्यता दयालुता सरलता अद्रोह निरभिमान लज्जा तितिक्षा इन्द्रियनिग्रह चित्तकी एका-ग्रता उत्तम प्रकारकी बुद्धि धीरता सकल भूतोंपर दया निष्का-मता तथा अद्वेष आदि गुण रहते हैं वह सत्पुरुष कहाता है और वह मनुष्यका साक्षीभूत है, हे ब्राह्मण! सत्पुरुष तीन ही वस्तु-

पदमनुत्तमम् ॥ ९३ ॥ न चैव द्रुह्येद्दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत्। सर्वत्र च दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः ॥ ९४ ॥ गच्छन्तीह सुसंतुष्टा धर्मपन्थानमुत्तमम् । शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः ॥ ९५ ॥ अनसूया क्षमा शांतिः संतोषः प्रियवादिता । कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम् ॥ ९६ ॥ कर्म च श्रुतसम्पन्नं सतां मार्गमनुत्तमम् । शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्ममनुव्रताः ॥ ९७ ॥ प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यंते महतो भयात् । प्रेक्षंतो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ॥ ९८ ॥ अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम।एतत्ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् । शिष्टाचारगुणं ब्रह्मन् पुरस्कृत्य द्विजर्षभ ॥ ९९ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डयसमास्यापर्वणि व्याधसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

ओंकी याचना करते हैं एक तो किसी प्राणीसे द्रोह न करना दूसरे दान देना और तीसरे सत्य बोलना, सबके ऊपर दया करनेवाले करुणारसको जाननेवाले श्रेष्ठ आचारवान् धर्मका निश्चय करनेवाले और उदारमनवाले जो सत्पुरुष होते हैं वे अत्यन्त ही सन्तोषी होकर धर्ममार्गमें चलते हैं ॥ ९१–९५ ॥ डाहसे शून्य क्षमाशील शांतिमान् संतोषी, प्रिय बोलनेवाले और काम क्रोध को त्यागनेवाले, शिष्ट पुरुषोंके आचारोंका सेवन और शास्त्रज्ञान के साथ कर्ममें परायणता इतनी वस्तुएं शिष्ट पुरुषोंका आचार और महात्माओंका उत्तमोत्तम मार्ग गिनाजाता है और उसका ही धर्मात्मा लोग सदा सेवन करते हैं ॥९६–९७॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! ऐसे महात्मा पुरुष प्रज्ञारूपी भवनपर चढ़कर लोगोंके नाना चरित्रोंको निहारते हुए महाभयसे छूटजाते हैं ॥९८॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! लोगोंका चरित्र तो अधिकतर पापपूर्ण होता है, हे ब्राह्मण ! मैं जिसप्रकार जानता हूं और जिसप्रकार सुना है उसी प्रकार शिष्टाचारके गुणोंका मुख्य सब वर्णन मैंने तुम्हें सुनादिया है ॥ ९९ ॥ दोसौ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥२०७॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेय उवाच । स तु विप्रमथोवाच धर्मव्याधो युधिष्ठिर । यदहमाचरे कर्म घोरमेतदसंशयम् ॥१॥ विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् दुस्तरं हि पुराकृतम् । पुराकृतस्य पापस्य कर्मदोषो भवत्ययम् ।२। दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन् विघाते यत्नवानहम् । विधिना हि हते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत् ॥ ३ ॥ निमित्तभूता हि वयं कर्मणोस्य द्विजोत्तम । येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वै द्विज ॥ ४ ॥ तेषामपि भवेद्धर्म उपयोगेन भक्षणे । देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चापि पूजनम् ॥ ५ ॥ ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः । अन्नाद्यभूता लोकस्य इत्यपि श्रूयते श्रुतिः ॥ ६ ॥ आत्ममांसप्रदानेन शिविरौशीनरो नृपः । स्वर्गं सुदुर्गमं प्राप्तः क्षमावान् द्विजसत्तम ॥७॥ राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज । द्वे सहस्रे तु

मार्कण्डेय बोले कि—हे युधिष्ठिर ! फिर धर्मव्याधने उस ब्राह्मणसे कहा कि—मैं जो मांसका व्यापार करता हूं यह कर्म निःसन्देह महाघोर है ॥१॥ परन्तु हे ब्राह्मण! भाग्य ही बलवान् है पहिले जो कुछ कर्म किये होते हैं वे दुस्तर होते हैं और पहिले करेहुए पापसे ही यह दोष प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् ! मैं इस कर्मसे छूटनेके लिये बड़ा प्रयत्न करता हूं परन्तु भाग्यके बलवान् होनेसे मैं छूट नहीं सकता विधाताने पहिलेसे ही सब का नाश रच रक्खा है और उसका निमित्त मारनेवाला पुरुष मानाजाता है ॥ ३ ॥ हे द्विजोत्तम ! हम भी इस कर्ममें निमित्त ही हैं, मैं इन मरेहुए प्राणियोंके मांसको वेचता हूं और उन मरेहुए प्राणियोंको खानेके काममें लानेसे पुण्य होता है क्योंकि:—उनका मांस देवता,अतिथि, पितर और सेवकोंके पूजन आदिमें उपयोगी होता है ॥ ४—५ ॥ श्रुतिमें भी सुनते हैं कि-औषधियें लतायें, पशु, मृग तथा पक्षी जगत्के भोज्य और भक्ष्य पदार्थ हैं ॥ ६ ॥ हे द्विजसत्तम ! क्षमावान् उशीनरका पुत्र राजा शिवि, अपना मांस देकर अगम्य स्वर्गमें गया था ॥ ७ ॥ और हे ब्राह्मण !

वध्येते पशूनामन्वहं तदा ॥ ८ ॥ अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा । समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः ॥ ९ ॥ अतुला कीर्त्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम । चातुर्मास्ये च पशवो वध्यन्त इति नित्यशः॥१०॥अग्नयो मांसकामाश्च इत्यपि श्रूयते श्रुतिः । यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् वध्यन्ते सततं द्विजैः ॥ ११ ॥ संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन् । यदि नैवाग्नयो ब्रह्मन् मांसकामाभवन् पुरा । १२ । भक्ष्यं नैवाभवन्मांसं कस्यचिद्द्विजसत्तम॥१३॥ अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिभिर्मांसभक्षणे । देवतानां पितॄणाञ्च भुंक्ते दत्त्वापि यः सदा । यथाविधि यथाश्राद्धं न मदुष्यति भक्षणात् ॥ १४ ॥ अमांसाशी भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः । भार्य्यां

पहिले राजा रन्तिदेवकी रसोईमें प्रतिदिन दोसहस्र पशु और दो सहस्र बैल मार कर रांधे जाते थे, और राजा रन्तिदेव सदा वह मांस और अन्न अतिथियोंको देता था, जिससे उसकी बड़ी कीर्ति होगई थी, तैसे ही चातुर्मास्य यज्ञमें भी सदा पशुओंका वध किया जाता है ॥ ८—१० ॥ और वेदमें भी सुनाजाता है कि–अग्नियोंको मांस अतिप्रिय है, यज्ञमें ब्राह्मण सदा पशुओंका वध करते हैं ॥ ११ ॥ और मंत्रसे संस्कार कियाजाता है, इस कारण वे पशु स्वर्गमें जाते हैं, हे द्विजोत्तम ! यदि पहिले अग्नियोंको मांस प्रिय न होता तो कोई भी मांस भक्षण नहीं करता ॥ १२–१३॥ मुनियोंने मांसभक्षणके विषयमें विधि कही है' मुनियोंने कहा हैं, कि–जो मनुष्य यज्ञमें श्राद्धमें देवताओंको तथा पितरोंको विधिके अनुसार उनका भाग अर्पण करनेके पीछे उसे भक्षण करता है तो उसे मांसभक्षण करनेका दोष नहीं लगता है ॥ १४ ॥ वेदमें कहा है कि—ऋतु अर्थात् रजोदर्शनके पहिले दिन से लेकर जो सोलह रात्रि हैं उनमें चार रात्रि बिताकर शेष दिनोंमें स्त्रीगमनकी आज्ञा धर्मशास्त्रमें कही है इसकारण ऋतुकाल

गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः ॥१५॥ सत्यानृते विनिश्चित्य अत्रापि विधिरुच्यते । सौदासेन तदा राज्ञा मानुषा भक्षिता द्विज । शापाभिभूतेन भृशमत्र किं प्रतिभाति ते ॥१६॥ स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम । पुरा कृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन

में स्त्रीसमागम करनेवाला पुरुष ब्रह्मचारी माना जाता है, तैसे ही याग यज्ञादिमें मांस खानेवाला पुरुष भी मांसाहारी नहीं माना(१) जाता ॥ १५ ॥ हे ब्राह्मण ! ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग ये दो मार्ग हैं, उनमें कर्ममार्गमें मांसभक्षणकी विधि अधिकतामे कही है, और ज्ञानमार्गमें मांसभक्षणका निषेध किया है, अतः मैं तुमसे दोनों पक्षका निर्णय करके मांसभक्षणकी विधि कहता हूं सौदास नामक राजाने मनुष्योंका मांस भक्षण किया था, वह तो वसिष्ठजीके शापसे किया था तो भी तुम इस विषयमें क्या कहते हो ? जब तुम मेरे ऐसे वाक्योंको सुनोगे तब कहोगे कि—"मांसभक्षण करनेसे तो पाप लगता है,, तब सौदासने जो मांसभक्षण किया था,

(१) इस अध्यायको पढ़कर बहुतसे पुरुषोंको यह सन्देह होना संभव है, कि—सनातनधर्ममें प्राणिहिंसा और मांसभक्षणका पक्ष किया है परन्तु विचार करने पर इस शङ्काकी गन्ध भी नहीं रहसकती, क्योंकि—यह सब कथन एक मांसविक्रेताके मुखका है, परन्तु उसने भी सिद्धान्तमें इस कामको बुरा ही कहा है और यह भी कहा है, कि—मैं पूर्वकजन्मकी करनीवश यह धंधा करता हूँ, परन्तु मांस भक्षण नहीं करता हूँ, तथा उसने अपने धन्धेका पक्ष करनेके लिये संसारभरको हिंसासे व्याप्त बताया है, किसीको हिंसक बनाये बिना खाली छोड़ा ही नहीं है, यह एक व्याधकी अपनी समझ है सनातनधर्ममें ऋषियोंने जो धर्मका स्वरूप बनाया है उसमें सर्वथा अहिंसाका समावेश और हिंसाका बहिष्कार है । यह व्याध माता पिताकी सेवारूप धर्मके एक अंशका पालन करता था केवल इतने के लिये ही धार्मिक कहलाया है इसलिये इस विषयमें धार्मिकोंको सावधान रहकर किसी सनातनधर्म द्वेषीके बहकावेमें नहीं आना चाहिये ।

कर्मणा ॥ १७ ॥ स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते । स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ।१८। पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुञ्चति । धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्मनिर्णये ॥१९॥ द्रष्टव्या तु भवेत् प्रज्ञा क्रूरे कर्मणि वर्त्तता । कथं कर्म शुभं कुर्यां कथं मुच्ये पराभवात् । २० । कर्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत् । दाने च सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा ॥२१॥द्विजातिपूजने चाहं धर्मे च निरतः सदा । अभिमानातिवादाभ्यां निवृ-

उसका क्या अर्थ है ? हे द्विजोत्तम ! मैं जो काम करता हूं वह मेरा परंपरागत धर्म है यह मानकर मैं उसको नहीं छोड़ता हूं और पूर्वजन्ममें कियेहुए कर्मका यह फल है, ऐसा विचार कर यह मांस का व्यापार कर अपनी आजीविका चलाता हूं ॥ १६—१७ ॥ तुम मुझसे कहोगे कि-जब तुम जानते हो कि-यह अधर्म है तब इसे अब छोड़ते क्यों नहीं ? इसके उत्तरमें मुझे यही कहना है कि—हे ब्राह्मण ! जो मनुष्य अपने परम्परागत धर्मका त्याग करदेता है उसको पाप लगता है और जो अपने कर्मके अनुसार वर्त्ताव करता है वही धार्मिक है, ऐसा शास्त्रमें निश्चय किया है, ॥ १८ ॥ मनुष्य पूर्वजन्ममें जैसे कर्म करता है वे कर्म कर्त्ता प्राणीको छोड़ते नहीं हैं किन्तु उस कर्ताके पीछे २ ही चलते हैं इसलिये कर्मके निर्णयकी ओर देखतेहुए अनेकों प्रकारसे विधाताकी निश्चय कीहुई विधि इसप्रकार देखनेमें आती है कि—॥ १९ ॥ क्रूर कर्म करने वाले पुरुषको मनमें विचारना चाहिये कि—मैं किसप्रकार शुभ कर्म करूँ और किसप्रकार पापमेंसे छूटूं जो प्राणी इसप्रकार मनमें पश्चात्ताप करता है तो उसके कियेहुए घोर पातकका बहुतसा भाग नष्ट होजाता है, अतः हे द्विजोत्तम ! मैं दान सत्यभाषण, गुरुजनोंकी सेवा और ब्राह्मणों की सेवा करता हूं तथा सदा धर्ममें लगा रहता हूं और अभिमान तथा अधिक वाद विवाद मैंने त्यागदिया है ॥ २०-२१ ॥ और हे ब्राह्मण ! लोग समझते

स्तोऽस्मि द्विजोत्तम २२ कृषिं साध्विति मन्यन्ते तत्र हिंसा परा स्मृता । कर्षन्तो लाङ्गलैः पुंसो घ्नन्ति भूमिशयान् बहून् ॥ २३ । जीवानन्यांश्च बहुशस्तत्र किं प्रतिभाति ते । धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम ।२४। सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति ते । अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नंति वै भक्षयंति च ॥२५॥ वृक्षांस्तथौषधीश्चापि छिंदन्ति पुरुषा द्विज। जीवा हि बहवो ब्रह्मन् वृक्षेषु च फलेषु च २६ उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति ते । सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन् प्राणिभिः प्राणिजीवनैः । २७ । मत्स्यान् ग्रसंते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति ते । सत्त्वैः सत्त्वानि जीवंति बहुधा द्विजसत्तम ।२८। प्राणिनोऽन्योऽन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति

हैं कि–खेतीमें हिंसा नहीं है और यह काम अच्छा है परंतु उसमें बड़ीभारी हिंसा है, पुरुष हलसे पृथ्वीको खोदते हैं, तो बहुतसे प्राणी मरजाते हैं ॥ २३ ॥ तथा और भी बहुतसे प्राणियोंका नाश करते हैं, इसे क्या तुम सत्य नहीं मानते हो? हे द्विजोत्तम! जौ चोया आदि जो अन्नके बीज कहाते हैं वे सब जीव ही हैं इस विषयमें तुम्हारा क्या विचार है? मुझै तो उनके खानेमें भी दोष प्रतीत होता है, हे ब्राह्मण! पुरुष पशुओंको पकड़ कर उन को मारते हैं और खाते हैं तथा वृक्ष और औषधियोंको भी काट डालते हैं, परन्तु हे ब्राह्मण! वृक्षोंमे और फलोंमें भी बहुतसे जीव रहते हैं यह क्या तुम नहीं जानते हो? ॥ २४–२६ ॥ तैसे ही जल पीते हैं उसमें भी असंख्यों जीव होते हैं, अतः पानी पीनेमें भी मुझै दोष प्रतीत होता है,हे ब्राह्मण!यह सम्पूर्ण जगत् ही प्राणियोंसे व्याप्त है और इस जगत्में एक प्राणी दूसरे प्राणी के ऊपर ही निर्वाह करता है॥२७॥उदाहरणके लिये देखो बड़े २ मच्छ समुद्रमें रहनेवाली छोटी२ मच्छियोंको खाजाते हैं, यह क्या तुम नहीं जानते हो? हे द्विजोत्तम! ऐसे ही जगत्में देखनेपर प्रतीत होता है कि-बहुधा सब प्राणी अपने से कम बलवाले प्राणियोंके ऊपर ही अपनी आजीविका चलाते हैं २८ और प्राणी जगत्में

ते । चंक्रम्यमाणान् जीवांश्च धरणीसंश्रितान् बहून्॥२९॥पद्भ्यां घ्नन्ति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति ते। उपविष्टाः शयानाश्च घ्नंति जीवाननेकशः ३० ज्ञानविज्ञानवंतश्च तत्र किं प्रतिभाति ते । जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा॥३१॥ अविज्ञानाच्च हिंसन्ति तत्र किं प्रतिभाति ते।अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुरा ॥३२॥ कोन हिंसन्ति जीवान्वै लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम । बहुसञ्चिन्त्य इति वै नास्ति कश्चिदहिंसकः ॥ ३३ ॥ अहिंसायांतु निरता यतयो द्विजसत्तम।कुर्वन्त्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत्॥३४॥ आलद्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः । महाघोराणि कर्माणि

एक दूसरेको भक्षण करते हैं इसके विषयमें आपका क्या अभिप्राय है?और हे विप्र! पुरुष पृथ्वी पर चलते हैं तब अपने चरणोंसे पृथ्वी में रहनेवाले बहुतसे जीवोंका नाश करते हैं अतः उसमें भी मुझे दोष प्रतीत होता है, तैसे ही ज्ञानी और विज्ञानी मनुष्य भी बैठते और उठते समय सहस्रों जीवोंका संहार करते हैं, अतः मुझे तो सोने बैठनेमें भी दोष प्रतीत होता है, यह सब पृथ्वी और सब आकाश जीवोंसे भराहुआ है॥ २९-३१ ॥ उनमें मनुष्य अनजानमें सहस्रों प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, अतः इस पृथ्वी पर रहनेमें भी मुझे दोष दिखाई देता है, इसप्रकार सर्वत्र जीव-हिंसा ही होती है, कोई भी हिंसा किये विना नहीं रहता तो भी पहिले पुरुष 'हिंसा नहीं करनी चाहिये' ऐसा ही कह गए हैं, वे इस वृत्तांत से अनजान ही थे ॥ ३२ ॥ हे द्विजसत्तम ! इस संसारमें कौन पुरुष प्राणियोंकी हिंसा नहीं करते हैं ? आप बहुत गंभीरतासे विचार करेंगे तो मालूम होगा कि कोई भी प्राणी अहिंसक नहीं है ॥ ३३ ॥ परन्तु हे द्विजसत्तम ! एक यति ही अहिंसक हैं वे भी हिंसा करते हा हैं, हमसे हिंसा न होजाय इसके लिये वे अत्यन्त प्रयत्न करते हैं अतः उनसे थोड़ी हिंसा होती है ॥ ३४ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए बड़े २

कृत्वा लज्जंति वै न च ३५ सुहृदः सुहृदो यांश्च दुर्हृदश्चापि दुर्हृदः। सम्यक् प्रवृत्तान् पुरुषान्न सम्यगनुपश्यतः ॥ ३६ ॥ समृद्धैश्च न नन्दन्ति बांधवा बांधवैरपि । गुरूंश्चैव विनिन्दन्ति मूढाः पण्डितमानिनः ॥ ३७ ॥ बहु लोके विपर्य्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम । धर्मयुक्तमधर्मश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ ३८ ॥ वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्मसु । स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत् ३९

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने ब्राह्मणव्याधसंवादे अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः २०८

मार्कण्डेय उवाच । धर्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर ।

गुणोंसे युक्त पुरुष, महाभयंकर कर्म करके किसीकी परवाह नहीं करते हैं तथा उस कर्मके लिये किसीकी लज्जा भी नहीं करते हैं ॥ ३५ ॥ मित्र भलीप्रकार न्यायपूर्वक कर्म करते हैं तो भी दूसरे मित्र उनके कर्मोंकी ओर भली दृष्टिसे नहीं देखते हैं तैसे हा दुर्जन स्वयं अन्यायका वर्ताव करते हैं तो भी दूसरे दुर्जन उस कार्यको न्याय समझकर अनुमोदन नहीं करते हैं ॥ ३६ ॥ तैसे ही भाई अपने भाइयोंको धन धान्यसे भरपूर देखकर प्रसन्न नहीं होते, पण्डितपनेका अभिमान रखनेवाले मूर्ख शिष्य, गुरुओंकी भी निन्दा करते हैं ॥३७॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! इसप्रकार लोकव्यवहारमें बहुतसा उलट फेर देखनेमें आता है, जो धर्मका बात है वह अधर्मकीसी जँचती है और जो अधर्मभरी बात है वह धर्म मानी जाती है ॥ ३८ ॥ धर्म तथा अधर्मका विषय ऐसा है कि—इसमें बहुत कुछ कहाजासता है, अतः संक्षेपमें कहना यहहै कि—जो पुरुष अपने कर्ममें तत्पर रहता है, वह बड़े यशको पाता है ॥ ३९ ॥ दोसौ आठवां अध्याय समाप्त ॥ २०८ ॥ ॥ छ ॥

मार्कण्डेय बोले कि—हे सब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मराज ! धर्मव्याध फिर भी ब्राह्मणश्रेष्ठ कौशिकसे चतुराईके साथ इसप्रकार

विमर्षमभुवाचेदं सर्वधर्मभृताम्वरः ॥ १ ॥ व्याध उवाच । श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम् । सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका ॥२ ॥ प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् अनृतेन भवेत्सत्यं सत्येनैवानृतं भवेत्॥ ३ ॥ यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा । विपर्य्ययकृतो धर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ॥ ४ ॥ यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम । अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः॥ ५ ॥ विषमाञ्च दशां प्राप्तो देवान् गर्हति वै भृशम् । आत्मनः कर्मदोषाणि न विजानात्यपण्डितः ६ मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम । सुखदुःखविपर्य्यासान् सदा समुपपद्यते ॥ ७ ॥ नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम् । यो-

कहने लगा ॥ १ ॥ धर्मव्याध बोला कि—हे ब्राह्मण ! "वेदमें जो कहा है वह धर्मरूप है ऐसा वृद्ध पुरुषोंका उपदेश है वास्तवमें धर्मकी गति बड़ा सूक्ष्म है उसके अनन्तों भेद और अनन्तों शाखायें हैं॥२॥किसीके प्राणांतके समय और विवाहके अवसरमें असत्य बोलना भी धर्म माना जाता है और किसी समय सत्य भी असत्य माना जाता है ॥ ३ ॥ अतः जिसके कहनेमें भौतिक प्राणियोंका अतिकल्याण होता हो वह सत्य है ऐसा विद्वानोंने निश्चय किया है,इसप्रकार धर्म अधर्म और अधर्म धर्म मानाजाता है, तुम उस धर्मकी सूक्ष्मगति पर ध्यान दो॥४॥ हे ब्राह्मण ! जो पुरुष जैसे शुभ तथा अशुभ कर्म करता है,तैसे फल उसे अवश्य मिलते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५ ॥ मूर्ख पुरुष अपने दुष्कर्मके कारण अतिदुःखकी दशाको भोगते हैं,और उसके लिये देवताओंकी निंदा करते हैं परन्तु अपने कर्मका ओर ध्यान नहीं देते॥ ६॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मूर्ख धूर्त और चपल स्वभाववाला पुरुष नित्य सुख तथा दुःखके विपरीत भावको भोगते है, परन्तु श्रेष्ठ बुद्धि महात्माओंके उपदेश तथा पुरुषार्थ, उस पुरुषको दुःखमेंसे नहीं छुड़ाते

ऽयमिच्छेद्यथाकामं तं तं कामं स आप्नुयात् ॥ ८ ॥ यदि स्यादपराधीनं पौरुषस्य क्रियाफलम् । संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ॥ ९ ॥ दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः । भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ॥ १० ॥ वञ्चनायाञ्च लोकस्य स सुखी जीवते सदा । अचेष्टमपि चासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठति ॥११॥ कश्चित् कर्माणि कुर्वन् हि न प्राप्यमधिगच्छति देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ॥ १२ ॥ दशमासधृता गर्भे जायन्ते कुलपांसनाः । अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसञ्चितैः ॥ १३ ॥ विपुलैरभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ।

हैं,यदि पुरुषार्थका फल यदि पराधीन न होता किन्तु स्वाधीन होता तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार जिस २ वस्तुकी कामना करते वह २ वस्तु उन्हें अवश्य मिलतीं परन्तु हम देखते हैं तो प्रतीत होता है कि-नियमधारी, चतुर और बुद्धिमान् मनुष्य भी यदि अपने २ कर्मको नहीं करते हैं तो वे उसके फलको भी नहीं पाते हैं, और इस जगत्के प्राणियोंमें का हरएक मनुष्य नित्य प्राणियों की हिंसा करनेमें लगा रहता लोगोंका ठगता भी रहता है तो भी वह मनुष्य जीवनको सदा सुखमें ही विताता है, कोई मनुष्य किसी प्रकारका उद्योग न करके आनन्दमें बैठा रहता है तो भी लक्ष्मी उसकी सेवा करती है ॥ ७—११ ॥ तैसे ही कोई पुरुष कर्म करता है तो भी धनआदिक प्राप्य वस्तु उसे क्यों नहीं मिलतीं ? बहुतसे पुत्रकी इच्छावाले कृपण मनुष्य देवताओंकी सेवा करते हैं, तप करते हैं और दश महीने तक गर्भमें रहकर पुत्ररूपसे सन्तान उत्पन्न होनेके पीछे कुलमें कलंक लगानेवाले होते हैं, तव कुछ पुरुष पिताके संचित किये हुए धन धान्यादि ऐश्वर्योंके साथ ही जन्मते हैं और उनका भोग करके सुखमें दिन विताते हैं तथा श्रेष्ठ कुलीन होजाते ह, और हे द्विज ! इस संसा-

कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नास्त्यत्र संशयः ॥ १४ ॥ व्याधयो विनिवार्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव । ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निगुणैः सम्भृतौषधैः ॥ १५ ॥ व्याधयो विनिवार्य्यन्ते मृगा व्याधैरिव द्विज येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीडिताः ॥ १६ ॥ न शक्नुवन्ति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृताम्वर । अपरे वाहुवलिनः क्लिश्यन्ति वहवो जनाः ॥ १७ ॥ दुःखेन चाधिगच्छन्ति भोजनं द्विजसत्तम। इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ॥ १८ ॥ स्रोतसाऽसकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं वलीयसा । न म्रियेयुर्न जीर्येयुः सर्व स्युः सर्वकामिकाः ॥ १६ ॥ नाप्रियं प्रतिपश्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत् । उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते ॥ २० ॥ यतते च यथाश-

---

दमें मनुष्योंका रोग लगजाते हैं वे भी उनके कर्मके फल हैं, यह निश्चय जानो, परन्तु व्याधे जैसे छोटे २ मृगोंको भागतेमें रोककर उनका नाश करदेते हैं, तैसे ही नानाप्रकारकी औषधियें इकट्ठी करके रखनेवाले चतुर वैद्य उन व्याधियोंको भी नष्ट करते हैं और हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्राह्मण ! जिन लोगोंके यहां खाने पीने को वहुत होता है वे लोग संग्रहणी रोगसे पीड़ा पाया करते हैं, और नाना प्रकारके पदार्थोंको खा नहीं सकते, इस पर जरा ध्यानदो और दूसरे कितने ही मनुष्य वड़े वाहुवलवाले देखनेमें आते हैं परन्तु वे दुःख भोगते हैं और उनका खानेकोभी वड़ी कठिनाईसे मिलता है इस प्रकार हे द्विजोत्तम ! यह जगत् सहायहीन शोक तथा मोहमें डूबा हुआ आधि तथा व्याधियोंसे कुचला हुआ और परवश होकर कर्मके वलवान् प्रवाहमें नित्य तैरता रहता है जगत् यदि स्वतन्त्र होता तो सव वस्तुकी इच्छावाले सकल मनुष्य मरते भी नहीं और अप्रिय वस्तुका मुख भी नहीं देखा करते किन्तु श्रेष्ठ वस्तुओंको ही ग्रहण किया करते, तैसे ही सव ही मनुष्य सवसे ऊपरके लोकमें जाना चाहते हैं और यथाशक्ति ऐसा होने के लिये प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु तैसा होता नहीं है ॥१२-२०॥

ऽऽकिर्न च तद्वर्त्तते तथा। बहवः संप्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमंगलाः २१ महत्तु फलवैपम्यं दृश्यते कर्मसन्धिपु। न केचिदीशते ब्रह्मन् स्वयं ग्राह्यस्य सत्तम। कर्मणा प्राकृतानां वै इह सिद्धिः प्रदृश्यते ॥२२॥ यथा श्रुतिरियं ब्रह्मन् जीवः किल सनातनः। शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह॥ २३ ॥ वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत। जीवः संक्रमतेऽन्यत्र कर्मबन्धनिबन्धनः ॥ २४ ॥ ब्राह्मण उवाच। कथं कर्मविदां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः। एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन वदतांवर ॥ २५ ॥ व्याध उवाच। न जीवनाशोस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्म्रियतीति मूढाः। जीवस्तु देहा-

बहुतसे मनुष्योंके जन्मनक्षत्र एकसे होते हैं और शुभकर्म भी समान होते हैं परन्तु उन पुरुषोंके कर्मके फलोंमें बड़ा उलट-फेर देखनेमें आता है हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! कोई भी मनुष्य अपने पूर्व कर्मोंको अपने वशमें नहीं करसकता, किन्तु पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार ही इस जन्ममें फलकी प्राप्ति देखनेमें आती है ॥ २१-२२ ॥ हे ब्राह्मण ! वेदमें कहा है कि-इस लोकमें सब प्राणियोंकी आत्मा सनातन (अमर) है और देह नाशवान् है, जब शरीरका नाश कियाजाता है तब केवल शरीर ही नष्ट होता है और कर्मरूपी बंधनमें पड़ाहुआ जीव दूसरे देहमें जाकर निवास करलेता है ॥ २३-२४ ॥ ब्राह्मणने प्रश्न किया कि-हे कर्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! तुम जीवात्माको अमर बताते हो, यह कैसे होसकता है सो मुझे बताओ मैं इस विषयको ठीक २ सुनना चाहता हूं ॥ २५ ॥ व्याध बोला कि-हे ब्राह्मण ! जब देहका नाश होता है तब जीवात्माका नाश नहीं होता वह तो अमर ही रहता है, केवल मूर्ख पुरुष ही कहतेहैं कि-जीवात्माका मरण होगया यह उनका कहना मिथ्या है, देहका नाश होनेके पीछे जीव दूसरे देहमें जाकर रहता है और उसका पंचभूतोंसे बनाहुआ पुतला अपने२ मूल पदार्थोंमें

न्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २६ ॥ अन्यो हि नाश्नाति कृतं हि कर्म मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित् । यत्तेन किञ्चिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः ॥ २७ ॥ सुपुण्यशीला हि भवन्ति पुण्या नराधमाः पापकृतो भवन्ति । नरोऽनुयातस्त्विह कर्मभिः स्वैस्ततः समुत्पद्यति भावितस्तैः ॥ २८ ॥ ब्राह्मण उवाच । कथं स भवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः । जातीः पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम ॥ २९ ॥ व्याध उवाच । गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं सम्प्रदृश्यते । समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ॥ ३० ॥ यथा सम्भृतसम्भारः पुनरेव प्रजायते

मिलजाता है, यह ही इस देहका नाश जानो ॥ २६ ॥ तुमको कदाचित् शंका होगी कि—एक दुःखी होता हो तो वह अपने पापकर्म दूसरोंको भोगनेके लिये देदेय और आप दूसरेके कर्मको भोगे, ऐसा होसकता है अथवा नहीं? इसका उत्तर यह है कि—इस मृत्युलोकमें कोई भी मनुष्य किसी दूसरेके कर्मको नहीं भोग सकता किन्तु पहिले जन्ममें जिसने जो कर्म किये हैं वह उन कर्मोंके फलको स्वयं ही भोगता है क्योंकि-करेहुए कर्म विना भोगे नष्ट नहीं होते ॥ २७ ॥ पवित्र पुरुष श्रेष्ठ काम करता है और पापी मनुष्य पापकर्म करता हैं, इस संसारमें मनुष्यके कियेहुए कर्म उसके पीछे २ चलते हैं और जैसे कर्म किये होते हैं तैसे ही पूर्वकर्मोंसे युक्त होकर वह दूसरे जन्मको धारण करता है ।२८। ब्राह्मणने बूझा कि—हे श्रेष्ठ व्याध ! जीव किस लिये जन्म ग्रहण करता है और जन्मता है तो पुण्यात्मा और पापियोंके घर किस लिये जन्मताहै वह पुण्यवाली वा पापीजातिमें जन्मताहै इसका क्या कारण है? व्याध बोला कि—हे द्विजोत्तम! इस स्थूल देहसे लेकर यह जो कुछ घट पट आदि पदार्थ दीखते हैं वे सब कर्मरूप ही हैं, प्राणी कर्म रूपी बीजका ग्रहण करके शुभ कर्म किये होतेहैं तो शुभ योनिमें और पापकर्म किये होते हैं तो अशुभ योनियोंमें फिर जिस

शुभकृच्छुभयोनिषु पापकृत् पापयोनीषु ॥ ३१ ॥ शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् । मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्बिषी ॥ ३२ ॥ जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः । संचरे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ॥ ३३ ॥ तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च । जीवाः संपरिवर्त्तन्ते कर्मबन्धनिबन्धनाः ३४ जन्तुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः । तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते ॥ ३५ ॥ ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यं नवं बहु । पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वाऽपथ्यमिवातुरः ॥ ३६ ॥ अजस्रमेव दुःखार्त्तोऽदुखितः सुखसंज्ञकः । ततो निवृत्तबन्धत्वा-

प्रकार जन्म धारण करता है वह बात गर्भाधानके संस्कारों सहित मैं तुम्हें एकक्षणमें संक्षेपसे कहकर बताये देता हूं ॥ २९–३१॥ शुभ कर्म करनेसे जीव देवता होता है शुभ तथा अशुभ मिले हुए कर्म करनेसे मनुष्य होता है मोहमें डालनेवाले तामस कर्मोंके करनेसे पशु पक्षीआदितिर्यक् योनिमें उत्पन्न होता है और पापकर्म करनेसे नरकमें कीटरूपसे जन्म पाता है ॥ ३२ ॥ जन्म, मरण और बुढ़ापेके दुःखसे जीव सदा दुःखित हुआ करते हैं और अपने कियेहुए दोषोंसे संसारमें नित्य रंधा करते हैं। ३३। इस प्रकार कर्मबन्धनसे बँधाहुआ जीव सहस्रों पशु पक्षियोंकी योनिमें उत्पन्न होता है और अन्तमें नरकमें पड़ता है तथा फिर जन्म ग्रहण करता है॥ ३४॥ प्राणी मरनेके पीछे परलोकमें अपने कियेहुए पापोंसे दुःखित होता है और फिर वह उन पापकर्मोंके दुःखका नाश करनेके लिये इस लोकमें नीच जातिमें उत्पन्न होता है ॥ ३५॥ तहां भी और दूसरे नये२ बहुतसेपापकर्म करता है और जैसे रोगी कुपथ्य करनेसे दुःखी होता है तैसे ही पापी भी नये२ पापकर्म करनेसे फिर नरकमें पकता है ॥३६॥ वह सदा ही दुःखसे कातर होता है तथापि अपनेको सुखी मानता है, दुःखी नहीं मानता

णाहुदयादपि ॥ ३७ ॥ परिक्रामति संसारे चक्रवद्‌ बहु-वेदनः । स चेन्निवृत्तवन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ॥ ३८ ॥ तपोयोगसमारम्भं कुरुते द्विजसत्तम । कर्मभि बहुभिश्चापि लोकान्नश्नाति मानवः ॥ ३९ ॥ स च निवृत्तवन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः । प्राप्नोति सुकृताल्लोकान् यत्र गत्वा न शोचति ॥४०॥ पापं कुर्वन् पापवृत्तः पापस्यान्तं न गच्छति । तस्मात् पुण्यं यतेत्कर्त्तु वर्ज्जयीत च पापकम् ॥ ४१ ॥ अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवते । सुखानि धर्ममर्थञ्च स्वर्गं च लभते नरः॥४२॥ संस्कृतस्य च दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः । प्राज्ञस्यानन्तरा वृ-

---

वह कर्मबंधनसे न छूटनेके कारण और कर्मोंके उदय होनेके कारण ॥ ३७ ॥ अतिदुःखी होता हुआ चक्रकी समान संसारमें जन्म मरण का अनुभव किया करता है, इस प्रकार कितने ही समय तक भटकनेके पीछे जब उसके कर्मबंधनका क्षय होजाता है और वह शुभ कर्म करके पवित्र होजाता है ॥ ३८ ॥ तब हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! वह पुरुष तप तथा योग सेवन करता है और अत्यन्त पवित्र कर्म करके पवित्र लोकोंमें जाता है ॥ ३९ ॥ कर्मके बंधनमेंसे छूटकर शुद्ध हुआ मनुष्य पुण्यात्माओंके लोकमें जाता है तहां जाने पर जीवात्मा शोकमें नहीं पडता है ॥ ४० ॥ पापी वर्तावका पुरुष पापकर्म करनेसे पापके अंतको नहीं पाता है किन्तु उत्तरोत्तर अधिक पापमें फँसता चला जाता है, अतः पापी कर्मको त्यागने और पुण्यकर्मको करनेके लिये उद्योग करना चाहिये ॥ ४१ जो सबके ऊपर समानभाव रखता है और करे हुए उपकारका बदला देता है वह श्रेष्ठ पुरुष सब प्रकारके श्रेष्ठ सुखोंको भोगता है और धर्म तथा अर्थका साधन कर स्वर्गमें जाता है ॥ ४२ ॥ जिसके अड़तालीस संस्कार होगए हैं, जिसने बाहरी तथा भीतरकी इन्द्रियोंको जीत लिया है, जो शुद्धि और आचारसे रहता है, तथा जिसने मनको जीत लिया है उस बुद्धि-

त्तिरिह लोके परत्र च ॥ ४३ सतां धर्मेण वर्त्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् । असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज ॥ ४४ ॥ स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसङ्करः । संति ह्यागमविज्ञाना शिष्टाः शास्त्रे विचक्षणाः ॥ ४५ ॥ प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मञ्चैवोपजीवति । तस्माद्धर्मादवाप्तेन धनेन द्विजसत्तम ॥ ४६ ॥ तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति यत्र वै । धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तञ्चास्य प्रसीदति ॥ ४७ ॥ स मित्रजनसन्तुष्ट इह प्रेत्य च नन्दति शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गन्धानिष्टांश्च सत्तम ॥ ४८ ॥ प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत्फलं विदुः । धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तुष्यति

मान् पुरुषको इस लोकमें तथा परलोकमें स्वयं ही सुख मिलता है ॥४३॥ हे ब्राह्मण! सत्पुरुष जिसप्रकार धर्मको पालते हों उसीप्रकार धर्ममें चलना चाहिये शिष्योंका समान आचरणकर और जिसमें मनुष्योंको दुःख पहुंचे ऐसी आजीविका करनेकी इच्छा भी न करना चाहिये ॥ ४४ ॥ शास्त्रमें प्रवीण और वेदविद्या जाननेवाले वहुतसे शिष्ट पुरुष हैं, अतः उनके उपदेशके अनुसार अपने धर्मके अनुकूल कर्म करनेसे लोकमें कर्मोंका संकरपना नहीं आता अर्थात् भिन्न २ वर्णके भिन्न २ कर्म खमेल नहीं होते हैं ॥ ४५ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! बुद्धिमान् मनुष्य धर्मके ऊपर ही प्रेम रखते हैं और धर्मका आश्रय करके आजीविका चलाते हैं। इसके लिये वे जिस धर्ममें वहुतसे गुण देखते हैं, उस धर्मके मूलका सिंचन धर्मसे मिलेहुए धनके द्वारा करते हैं, धर्मात्मा पुरुष ऐसे ही होते हैं और उनका मन सदा प्रसन्न रहता है ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ वे इस लोकमें मित्रोंसे सन्तोष पाते हैं और परलोकमें भी आनन्दका अनुभव करते हैं, हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! पण्डित धर्मके फलोंको गिनातेहुए कहते हैं कि लोग धर्मसे शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध तथा प्रभुताको पाते हैं, हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! जो प्रज्ञादृष्टिवाला—विवेकी है वह मनुष्य ऊपर कहेहुए धर्मोंके फलोंको पानेसे प्रसन्न नहीं होता है, किन्तु वह

महाद्विज ॥ ४९ ॥ अतृप्यमाणो निर्वेदमापेदे ज्ञानचक्षुषा । प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषै नैवानुरुध्यते ॥ ५० ॥ विरज्यते यथाकामं न च धर्म विमुञ्चति । सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ५१ ततो मोक्षे प्रयतते नानुपायादुपायतः । एवं निर्वेदमादत्ते पापकर्म जहाति च ॥ ५२ ॥ धार्मिकश्चापि भवति मोक्षञ्च लभते परम् । तपोनिःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ॥ ५३ ॥ तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान्मनसेच्छति । इन्द्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च । ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत् परं द्विजसत्तम ॥ ५४ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ इन्द्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत । निग्रहश्च कथं कार्यो निग्रहस्य च किं फलम् ॥ ५५ ॥ कथञ्च

ज्ञानदृष्टिसे वैराग्यका ही अवलम्बन करता है, वह इस संसारके राग द्वेष आदि दोषोंके वशमें नहीं होता है।४८-५०।अपनी इच्छाके अनुसार विषयोंसे विरक्त होजाता है; परन्तु धर्मको नहीं छोड़ता है, और इस सब लोकको नाशवान् जानकर सब वस्तुओंको त्यागनेके लिये ही प्रयत्न करता है ॥५१॥ और फिर प्रारब्धका सहारा न लेकर योग्य साधनोंके द्वारा मोक्ष पानेका यत्न करता है, ज्ञानी पुरुष इसप्रकार ज्ञानको प्राप्तकर पापकर्मको त्यागता है ॥ ५२ ॥ ऐसा करनेसे पुरुष धार्मिक होता है और अन्तमें परममुक्तिको पाता है, कहनेका तात्पर्य यह है कि–ज्ञान ही मोक्षका साधन है और शम तथा दम ज्ञानके मूल हैं ॥ ५३ ॥ ज्ञानी पुरुष मनमें जिस २ वस्तुकी इच्छा करता है, उन सब वस्तुओंको ज्ञानके द्वारा प्राप्त करता है, हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! पुरुष सब इन्द्रियोंके निरोधसे सत्य तथा दमसे परमपदार्थरूप परब्रह्मको पाता है ॥५४॥ ब्राह्मणने फिर प्रश्न किया कि–हे सदाचारमें तत्पर रहनेवाले व्याध ! तुमने, जिन इन्द्रियोंके विषयमें कहा वे सब इन्द्रियें कौन और कितनी हैं? इन्द्रियोंका निग्रह किसप्रकार कियाजाय ? और उसका फल क्या है ? ॥ ५५ ॥ और हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध ! वह

फलमाप्नोति तेषां धर्मभृताम्वर । एतदिच्छामि तत्त्वेन धर्मं ज्ञातुं निवोध मे ॥ ५६ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इतिश्री महाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मण-व्याधसंवादे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्मव्याधो युधिष्ठिर । प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप ॥ १ ॥ व्याध उवाच ॥ विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्त्तते । तत्प्राप्य कामं भजते क्रोधञ्च द्विजसत्तम ॥ २ ॥ ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत् । इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासञ्च निषेवते ॥ ३ ॥ ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम् । ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥ ४ ॥ ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च । न धर्मे जायते

फल कैसे मिलता है ? आपको ज्ञात हो कि—इस धर्मको मैं यथार्थ रीतिसे जानना चाहता हूं ॥५६॥ दोसौ नौवाँ अध्याय समाप्त२०६

मार्कण्डेय बोले कि—हे राजन् ! युधिष्ठिर ! इसप्रकार ब्राह्मणके प्रश्न करने पर व्याधने जो उत्तर दिया था उसे सुनो ॥ १ ॥ व्याध बोला कि—हे द्विजसत्तम ! प्रथम तो मनुष्योंका चित्त पदार्थों को जाननेके उद्योगमें प्रवृत्त होता है और इन्द्रियोंके द्वारा उन पदार्थों को जाननेके पीछे उन पदार्थों के ऊपर उसकी प्रीति होती है और यदि उसको इच्छित पदार्थ न मिलें तो क्रोध अर्थात् द्वेष उत्पन्न होता है ॥ २ ॥ तदनन्तर वह पुरुष उन पदार्थोंको पानेके लिये प्रयत्न करता है और उसके लिये बड़े २ कामोंका आरंभ करता है, और जब रूप, रस, गंध आदि अभिलषित पदार्थ मिलजाते है, तब उन पदार्थोंका वह बार बार सेवन करता है, ॥ ३ ॥ इसप्रकार पदार्थोंका बारम्बार सेवन करनेसे उनके ऊपर प्रेम बँधजाता है, तदनन्तर उस वस्तुके कारण लोगोंसे द्वेष होता है और फिर लोभ तथा मोहका बल बढ़ता है॥४॥ जब मनुष्य राग, द्वेष, लोभ और मोहके वशमें होजाता है, तब

बुद्धिर्व्याजाद्धर्मं करोति च ॥ ५ ॥ व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते । व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ॥ ६ ॥ तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति । सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पण्डितैश्च द्विजोत्तम ॥ ७ ॥ उत्तरं श्रुतिसम्बद्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम् । अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्त्तते रागदोषजः ॥ ८ ॥ पापं चिन्तयते चैव ब्रवीति च करोति च । तस्याधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यन्ति साधवः ॥ ९ ॥ एकशीलैश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः । स तेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते ॥ १० ॥ पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभन्तु मे शृणु । यस्त्वेतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति ॥ ११ ॥ कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते । तस्य

उसकी बुद्धि धर्मपरसे उठजाती है, वह मनुष्य जो कुछ धर्म करता है सो दम्भसे करता है ॥ ५ ॥ कपटसे धर्माचरण करता है, और उसको कपटसे ही धन इकट्ठा करनेकी इच्छा होती है, हे बुद्धिमान् ब्राह्मण ! जब उसे कपटसे धन मिलने लगता है, तब उसकी बुद्धि तैसे ही काममें लगी रहती है पण्डित और मित्र उसे पाप करनेसे रोकते हैं तो भी वह प्राणी पाप करता ही चलाजाता है ॥ ६—७ ॥ और वेदविरुद्ध होने पर भी, यह तो वेदमें कहा है, ऐसे वेदके झूठे प्रमाण देकर (सबको) उत्तर देता है, उस पापी पुरुषके विचारमें बोलनेमें तथा काम करनेमें इन तीन बातोंमें प्रेम के कारण अधर्म निवास करता है और अधर्म करनेमें लगजानेसे उस पुरुषके श्रेष्ठगुण नष्ट होजाते हैं ॥ ८—९ ॥ तदनंतर पाप करने वाले पुरुष अपने समान पुरुषोंके साथ मित्रता करते हैं, और उस मित्रताके कारण इस लोकमें दुःख पाते हैं, तथा परलोकमें भी बड़ी विपत्ति भोगते हैं, ॥ १० ॥ इसप्रकार पापी पुरुषकी गति होती है, अब तुम मुझसे धर्मात्मा लोगोंके लाभोंका वर्णन सुनो जो मनुष्य मेरे बताए हुए दोषोंको बुद्धिके द्वारा प्रथमसे ही जान लेते हैं और जानलेने पर उनको त्याग देते हैं, सुख तथा दुःखमें

साधुसमारम्भाद् बुद्धिर्धर्मेषु राजते ॥ १२ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ ब्रवीषि सूनृतं धर्म्यं यस्य वक्ता न विद्यते। दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे ॥ १३ ॥ व्याध उवाच ॥ ब्राह्मणा वै महाभागाः पितरोऽग्रभुजः सदा। तेषां सर्वात्मना कार्यं प्रियं लोके मनीषिणा ॥ १४ ॥ यत्तेषां च प्रियं तत्ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम। नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे ॥ १५ ॥ इदं विश्वं जगत्सर्वमजय्यञ्चापि सर्वशः। महाभूतात्मकं ब्रह्म नातः परतरं भवेत् ॥ १६ ॥ महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः। शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ १७ ॥ तेषामपि गुणाः सर्वे गुणवृत्तिः परस्परम्। पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशो गुणिषु

सावधान रहते हैं और सत्पुरुषोंकी सेवा करते हैं, इसप्रकार सत्कर्मों के करनेके कारण उनकी बुद्धि धर्मसे दिप निकलती है ॥ ११ ॥ ॥ १२ ॥ ब्राह्मणने कहा कि—हे धर्मव्याध ! तुम प्रेम उपजाने वाली सत्यधर्मकी जैसी वातें करते हो ऐसी वातें कहनेवाला दूसरा कोई नहीं है, अतः मैं तुम्हें दिव्यप्रभाववाला बड़ा ऋषि मानता हूं ॥ १३ ॥ व्याधने कहा कि—हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! ब्राह्मण महाभाग्यवान् हैं तथा पितररूप हैं, और सदा प्रथम भोजन करनेवाले हैं, अतः बुद्धिमान् मनुष्योंको सब प्रकार ब्राह्मणोंका प्रिय करने की बड़ी आवश्यकता है ॥ १४ ॥ हे ब्राह्मण ! मैं ब्राह्मणोंको प्रणाम करके उन्हें जो विद्या प्रिय है वही तुमसे कहता हूं तुम उस ब्राह्मीविद्याको मुझसे सुनो ॥ १५ ॥ यह स्थावर जंगमरूप सब विश्व सर्वथा कर्मसे ही नहीं जीता जासकता, क्योंकि—यह विश्व पंचमहाभूतात्मक ब्रह्मरूप है, इससे अधिक श्रेष्ठ और कोई नहीं हैं १६ आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी यह पांच महाभूत हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध यह पाँच उनके गुण हैं ॥१७॥ पंचमहाभूतोंके शब्द आदि सब गुण जगत्में प्रसिद्ध हैं, उनमें ही दूसरे

न्त्रिषु ॥ १८ ॥ षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते । सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहंकारस्ततः परम् ॥ १९ ॥ इन्द्रियाणि च पञ्चात्मा रजः सत्वं तमस्तथा । इत्येव सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ २० ॥ सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः । चतुर्विंशक

साधारण गुणोंका अन्तर्भाव होता है और एकके गुण दूसरेमें मिले हुए दिखाई देते हैं, जैसे तपे हुए लोहेमें अग्निकी दाहिका शक्ति दिखाई देती है और अग्निमें लोहेका चतुष्कोणपना भी दिखाई देता है, यह प्राकृत पदार्थोंके गुणोंकी अदल बदल देखनेमें आती है तैसे ही आत्मा और अनात्माके गुणोंकी भी अदलाबदली दिखाई देती है उदाहरणके लिये आनन्द, विषयोंका अनुभव, नित्यता आदि आत्माके गुण हैं, वे चैतन्यसे जुदे नहीं हैं तो भी वह जुदेसे प्रतीत होतेहैं, और वे अन्तःकरणमें दिखाई देते हैं, तैसे ही अन्तःकरणके दुःखआदि धर्म जो अनात्मा वस्तुके धर्म हैं, वे आत्माके विषैं देखनेमें आते हैं,इसप्रकार एकके गुण दूसरेमें आते हैं, ये केवल अविद्या के कारण ही दीखते हैं परन्तु वास्तवमें वे आत्माके ही-गुण हैं रज्जुमें जैसे सांपका अध्यास होता है तैसे ही परब्रह्ममें दुःख आदिका अध्यास होता है और ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा विराट् इन गुणविशिष्ट तीनोंमेंसे पहिले २ के सब गुणोंका पिछले २ के विषैं आरोप कियाजाताहै ॥१८॥ छठे गुणका नाम चेतना है, उसे ही मन कहते हैं, सातवीं बुद्धि; आठवीं अहंकार ॥ १९ ॥ पांच ज्ञानेन्द्रियें, जीव तथा सत्व, रज, और तम ये तीन गुण, इसप्रकार इन सत्रहके समूहको अव्यक्त नामसे कहते हैं ॥ २० ॥ और इन सत्रह तत्त्वोंसे पर बुद्धिरूपी गुहामें लीन तथा व्यक्त कहिये वा बाह्येन्द्रियोंसे ग्राह्य और अव्यक्त कहिये बाह्येन्द्रियोंसे अग्राह्य शब्दादि पांच विषय तथा बुद्धि और मनका बोद्धव्य और मन्तव्य ये सब मिलकर चौवीस व्यक्त

इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गुणः । एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २१ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्मव्याधेन भारत । कथामकथयद्भूयो मनसः प्रीतिवर्द्धनीम् ॥ १ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ महाभूतानि यान्याहुः पञ्च धर्म्मभृतांवर । एकैकस्य गुणान् सम्यक् पञ्चानामपि मे वद ॥ २ ॥ व्याध उवाच ॥ भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च । गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान् ॥ ३ ॥ भूमिः पञ्चगुणा ब्रह्मन्नुदकञ्च चतुर्गुणम् । गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाकाशवातयोः ॥ ४ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च

तथा अव्यक्तमय गुण हैं, ये सब तुम्हें कहकर सुनादिये, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २१ ॥ दौसौ दशवां अध्याय समाप्त ॥ २१० ॥

मार्कण्डेय कहते हैं कि —हे भरतवंशश्रेष्ठ राजन् ! इसप्रकार धर्मव्याध ब्राह्मणसे कहचुके तब वह ब्राह्मण मनकी प्रसन्नता को बढ़ानेवाली कथाको फिर बूझनेलगा ॥ १ ॥ ब्राह्मणने बूझा कि—हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! आपने मुझसे जिन पंचमहाभूतोंका वर्णन किया, उन पांचों भूतोंमेंसे एक एक के गुण मुझै बताओ ॥२॥ व्याधने कहा कि—हे ब्राह्मण ! पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंच महाभूत हैं, जिनके पिछले २ के गुण जिन पूर्व२के तत्त्वोंमें आये हैं ऐसे पंचमहाभूतोंका तथा उनके गुणोंका वृत्तान्त मैं तुमसे कहता हूं, तुम सुनो ॥३॥ हे ब्राह्मण ! पृथिवीमें पांच गुण हैं. जलमें चार गुण हैं तेजमें तीन गुण हैं, वायुमें दो गुण हैं, और आकाशमें एक ही गुण है, हे ब्राह्मण ! शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण पृथिवीमें हैं ये सबोंसे

रसो गन्धश्च पञ्चमः। एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ॥ ५ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसश्चापि द्विजोत्तम। अपामेते गुणा-ब्रह्मन् कीर्त्तितास्तव सुव्रत॥ ६ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः।शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु शब्दश्चाकाश एव तु॥ ७ ॥ एते पंचदश ब्रह्मन् गुणा भूतेषु पंचसु। वर्त्तन्ते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ८ ॥ अन्योऽन्यं नातिवर्त्तन्ते सम्यक् च भवति द्विज। यदा तु विषयीभावमाचरन्ति चराचराः ॥ ९ ॥ तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः।आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः१० तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पांचभौतिकाः। यैराबृतमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥११॥ इन्द्रियैः सृज्यते यद्यत्तत्तद्व्यक्तमिति-

---

श्रेष्ठ है॥४-५॥हे ब्राह्मण! शब्द,स्पर्श, रूप तथा रस ये चार गुण जलमें रहते हैं वे हे सुव्रत! मैंने तुमसे कहे॥६॥ शब्द, स्पर्श तथा रूप ये तीन गुण तेजमें रहते हैं और शब्द तथा स्पर्श ये दो गुण वायुके हैं तथा आकाशका एक शब्द ही गुण है॥७॥ हे ब्राह्मण जिन सब भूतोंमें ये सब लोक रहते हैं उन पंचमहाभूतोंमें ऊपर कहे हुए पंद्रह गुण हैं॥ ८ ॥ हे ब्राह्मण! पंचमहाभूत एक दूसरे को छोडकर नहीं रहसकते, किंतु वे सब इकट्ठे होकर ही रहते हैं जब स्थावर जङ्गमरूप जीव तीव्र संकल्प करके दूसरे देहकी भावना करता है तब देहधारी जीव कालके अधीन होकर पहिले देहको त्याग देता है और दूसरे देहको धारण करता है इस क्रमसे स्था-वर जंगमरूप जीव नष्ट होजाता है और फिर उत्पन्न होता है ९-१० जिन पदार्थोंसे ये स्थावर—जंगमात्मक सब जगत् घिरा हुआ है, वे सब जगत्में पञ्चमहाभूतोंकी धातुएं दिखाई देती हैं ११ इस जगत्में जो जो पदार्थ इंद्रियोंसे जाननेमें आते हैं, उन उन पदार्थोंको व्यक्त जानो और जो२ पदार्थ इन्द्रियोंसे नहीं पहिचाने जाते किंतु अनुमानसे जानेजाते हैं उन उन पदार्थोंको अव्यक्त

स्मृतम् । तदव्यक्तमिति ज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ १२ ॥ यथा स्वं ग्राहकान्येषां शब्दादीनामिमानि तु । इन्द्रियाणि यदा देही धारयन्निव तप्यते ॥ १३ ॥ लोके विततमात्मानं लोकञ्चात्मनि पश्यति । परापरज्ञः सक्तः सन् स तु भूतानि पश्यति ॥ १४ ॥ पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा । ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ॥१५॥ ज्ञानमूलात्मकं क्लेशमतिवृत्तस्य पौरुषम् । लोकवृत्तिप्रकाशेन ज्ञानमार्गेण गम्यते ॥१६॥ अनादिनिधनं जन्तुमात्मयोनिं सदाऽव्ययम्।अनौपम्यममूर्त्तञ्च भगवानाह बुद्धिमान् १७ तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्रानुपृच्छसि । इन्द्रियाण्येव संयम्य

जानो १२देहधारी जीव जब क्रमसे अपने अपने विषयोंको ग्रहण करने वाली इन्द्रियोंको वशमें रखकर तप करने लगता है अर्थात् आत्मदर्शन करने लगता है तब वह अपनी आत्माको सब लोकों में व्यापक देखता है और सब लोकोंको अपनी आत्मामें व्यापे हुए देखता है, परंतु निरुपाधिक और सोपाधिक आत्मवेत्ता होने पर भी यदि वह प्रारब्ध कर्मसे बँधा होता है तो वह केवल सब प्राणियोंको अपनी आत्मा देखा करताहै अर्थात् जीवनपर्यन्त अपनी आत्माको उपाधिवाला ही देखा करता है, परंतु जो उपाधिसे मुक्त ब्रह्मरूप होजाता है वह सदा सब प्राणियोंका सब अवस्थाओंमें देखता है तो भी उसे अशुभ अर्थात् कर्म का संबंध नहीं होता है वह तो सब कर्म करने पर भी कर्म-रहित ही रहता है ॥ १३—१५ ॥ जो मनुष्य मायासे उत्पन्न हुए क्लेशको लाँघ जाता है, वह लोगोंकी वृत्तिको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानमार्गसे परमपुरुषार्थरूप मोक्षको पाता है ॥ १६ ॥ बुद्धिमान् और व्यापक प्रजापति मुक्त जीवको आदि तथा अन्त रहित आत्मयोनि, नित्य सुख-दुःखादि विकारशून्य, अनुपम और अमूर्त्त कहते हैं ॥ १७ ॥ हे ब्राह्मण ! तुमने मुझसे जो प्रश्न

तपो भवति नान्यथा ॥ १८ ॥ इन्द्रियाण्येव तत् सर्वं यत् स्वर्ग-नरकावुभौ । निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥ १९ ॥ एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् । एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ॥ २० ॥ इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमार्च्छ-त्यसंशयम् । संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात् २१ षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति । न स पापैः कुतो-ऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ २२ ॥ रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्टमा-त्मा नियन्तेन्द्रियाण्याहुरश्वान् । तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ २३ ॥ षण्णामात्मनियुक्तानामिन्द्रि-

---

क्रिया था उस सबका प्रधान कारण आत्मदर्शन है, यह आत्म-दर्शन अर्थात् ध्यान है, वह ध्यान इन्द्रियोंको नियममें रखनेसे होता है और प्रकारसे नहीं होसकता ॥ १८ ॥ इस जगत्में स्वर्ग तथा नरक नामके जो दो पदार्थ हैं, वे सब इन्द्रियोंसे ही मिलते हैं, इन्द्रियोंको वशमें रखनेसे स्वर्ग मिलता है और स्वतंत्र छोडदेनेसे नरक मिलता है ॥ १९ ॥ जबतक इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है तबतक ध्यानयोग आदि सब चलसकते हैं, ये सब इन्द्रियें जैसे तप करनेका साधन हैं तैसे ही ये इन्द्रियें ही नरक भी देती हैं २० इन्द्रियोंके प्रसंगसे मनुष्य वास्तवमें दोषको प्राप्त होता है तैसे ही उन इंद्रियोंको नियममें रखनेसे मनुष्य सिद्धिको भी पाता है २१ जो प्राणी पांच इन्द्रियें और छठे मनको अपने अधीन करके उन का स्वामी बनता है उस जितेन्द्रिय पुरुषको पापमें नहीं सनना पडता अनर्थ तो उसको छुएंगे ही क्या ॥ २२ ॥ हे ब्राह्मण ! पुरुषके शरीरको रथरूप जानो, आत्माको उस रथका सारथी जानो, इन्द्रियोंका घोड़े जानो, सावधान, रथ हांकनेमें चतुर और धीर सारथी जैसे चतुर घोड़ोंसे सुखपूर्वक मार्गमें यात्रा करता है तैसे ही सावधान कुशल और धीर पुरुष इन्द्रियरूपी चतुर घोड़ोंको नियममें रखनेसे आत्मसिद्धिको पाता है ॥ २३ ॥

याणां प्रमाथिनाम् । यो धीरो धारयेद्रश्मीन् स स्यात् परमसारथिः ॥ २४ ॥ इन्द्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वर्त्मसु । धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम् ॥ २५ ॥ इन्द्रियाणां विचरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवाम्भसि ॥ २६ ॥ येषु विप्रतिपद्यन्ते षट्सु मोहात् फलागमम् । तेष्वध्यवसिताध्यायी विन्दते ध्यानजं फलम् ॥ २७ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसम्वाद एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ एवं तु सूक्ष्मे कथिते धर्मव्याधेन भारत ।

पांच इन्द्रियें और छठा मन ये छः इन्द्रियरूपी बली घोड़े, इस देहरूपी रथमें जुतेहुए हैं, उन घोड़ोंकी लगामको जो धीर सारथी सावधानीसे पकड़े रहताहै, उसे ही श्रेष्ठ सारथी जानो ॥ २४ ॥ महामार्गमें दौड़तेहुए घोड़ोंकी समान विषयोंकी ओरको दौड़ती हुई इन्द्रियोंको वशमें रखनेके लिये सारथीको धीरज धारण करना चाहिये क्योंकि—धीरजसे इन्द्रियरूपी घोड़ोंको अवश्य जीत सकता है॥२५॥पुरुषका मन विषयोंमें घूमनेवाली जिन इन्द्रियोंके अधीन होता है वे इन्द्रियें जैसे वायु जलमें फिरती हुई नौकाको वहाकर लेजाता है तैसेही उसकी बुद्धिका नाश करदेती है २६ मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियोंके संकल्प तथा शब्दादि छः विषयोंके सुखआदि फलकी प्राप्तिके विषयोंमें विषयासक्त हुआ मनुष्य मोहमें पड़जाता है अर्थात् मोक्षके विरोधी वनकर मिथ्या सुखादि वस्तुओंकोही ग्रहण करने योग्य समझता है परंतु जो लोग तत्वज्ञानसे उन संकल्पादि विषयों पर वारम्वार ये त्यागने योग्य तुच्छ हैं ऐसी बुद्धि रखते हैं वे भावनासे उत्पन्न हुए फलको पाते हैं अर्थात् विषयोंके दोषोंको देखनेसे वीतराग वनजाते हैं ॥ २७ ॥ दोसौ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ २११ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि—हे भरतवंशी राजन् ! इसप्रकार

ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः ॥ १ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ सत्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम् । गुणांस्तत्त्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ॥२॥ व्याध उवाच ॥ हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि । एषान् गुणान् पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम ॥३॥ मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषान् प्रवर्त्तकम् । प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते ॥ ४ ॥ अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः । दुर्हृषीकस्तमोध्वस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ॥५ ॥ प्रवृत्तवाक्यो मन्त्री च यो नराग्र्योऽनसूयकः । विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः ॥ ६ ॥ प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः । अक्रोधनो नरो धीमान् दान्तश्चैव स सात्विकः

धर्मव्याधके सूक्ष्म विषय कहनेके अनन्तर वह ब्राह्मण सावधान होकर फिर उस सूक्ष्म विषयको बूझने लगा ।१॥ ब्राह्मणने प्रश्न किया कि हे धर्मव्याध ! मैं तुमसे रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण का स्वरूप बूझता हूं अतः तुम मुझसे उनके स्वरूप ठीक २ कहो ॥ २ ॥ व्याध बोला कि—बड़े हर्षकी बात है, तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है उसका उत्तर मैं तुम्हें दूँगा, सत्वादि गुणोंके अलग अलग स्वरूप मैं तुमसे कहता हूं तुम सुनो ॥ ३ ॥ तीनों गुणोंमें तमोगुण मोह उपजाने वाला है रजोगुण प्रवृत्ति करनेवाला है और सत्वगुण विशेष ज्ञानमय होनेसे गुणोंमें मुख्य और उत्तम गिना जाता है ॥ ४ ॥ जो बड़ा ही अज्ञानी मूढ़ सोनेवाला चेतनारहित इंद्रियोंको न जीतनेवाला अज्ञानमें डूबाहुआ क्रोधी और आलसी हो उसको तमोगुणी जानो ॥ ५ ॥ हे विप्रर्षे ! जो मनुष्य विना अटके मधुर भाषण करनेवाला विचारवान् मनुष्योंमें उत्तम ईर्ष्या रहित नाना प्रकारके कार्योंका आरंभ करनेवाला क्रोधी तथा अभिमानी हो उसे रजोगुणी जानो ॥ ६ ॥ जो अधिक ज्ञानवाला धीर, विचारपूर्वक कार्य करनेवाला, ईर्ष्या तथा क्रोधशून्य, बुद्धि-

॥७॥ सात्विकस्त्वथ संवुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते। यदा वुध्यति वोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते॥८॥विरागस्य च रूपन्तु पूर्वमेव प्रवर्त्तते। मृदुर्भवत्यहंकारः प्रसीदत्यार्जवं च यत् ॥ ६ ॥ ततोऽयं सर्वद्वंद्वानि प्रशाम्यन्ति परस्परम्। न चास्य संशयो नाम क्वचिद्भवति कश्चन ॥ १० ॥ शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः। वैश्यत्वं भवेत ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च ॥ ११ ॥ आर्जवे वर्त्तमानस्य ब्राह्मण्या भिजायते। गुणास्ते कीर्त्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥१२॥

इति, श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मण-व्याधसंवादे द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

मान् तथा शम-दमवाला हो उसे सत्वगुणा जानो।७वह सात्विक पुरुप जव मायासे छूटकर जागता है तव वह लोकव्यवहारसे कष्ट पाता है और जव वह जानने योग्य वस्तुको जानलेता है तव वह लोकव्यवहारको तुच्छ मानता है ॥८॥ ज्ञानी पुरुपको पहिलेसे ही विराग होता है और उस विरागसे उसका अहंकार नष्ट होजाता है, तव वह मृदु बनता है, सरल तथा सत् वृत्तिवाले मनुष्यके मान अपमान आदि परस्पर विवाद करके नष्ट होजाते हैं और श्रेष्ठ वृत्तिवाले विरागी पुरुपको किसी दिन किसी प्रकारका भी संदेह नहीं होता है ॥ ६—१० ॥ हे ब्राह्मण ! मनुष्य शूद्रजातिमें उत्पन्न हुआ हो तो भी यदि वह सद्गुणोंका आचरण करता हो तो वैश्य जातिको पासकता है और वैश्यजातिमें श्रेष्ठ गुणों का आश्रय लेकर वर्त्ताव करता हो तो वह क्षत्रियत्वको पासकता है तैसे ही क्षत्रियजातिमें यदि कोई आर्जवसे रहता हो तो वह ब्राह्मणत्वको पासकता है, अर्थात् सद्गुणोंका आश्रय लेनेसे अगले जन्ममें अपनेसे अगली जातिमें जन्म पावेगा और इस जन्म में ही अगली जातिकी समान प्रतिष्ठा पावेगा गुणोंका जैसा प्रभाव है वह सव मैंने तुमसे कहा, अव तुम्हें क्या सुननेकी इच्छा है सो कहो ॥ ११-१२ ॥ दोसौ वारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१२ ॥

ब्राह्मण उवाच ।पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत् अवकाशविशेषेण कथं वर्त्तयतेऽनिलः ॥ १ ॥ मार्कण्डेय उवाच । प्रश्नमेतं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर । व्याधस्तु कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने ॥ २ ॥ व्याध उवाच । मूर्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन् । प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्त्तमानो विचेष्टते ॥ ३ ॥ भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् । श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मयोनिमुपास्महे ॥ ४ ॥ स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः । महान् बुद्धिरहङ्कारो भूतानां विषयश्च सः ॥ ५ ॥ एवन्त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते । पृष्ठतस्तु समानेन स्वां

ब्राह्मणने बूझा कि—हे धर्मव्याध ! विज्ञान नामकी तैजस धातु है, उसमें पृथिवीका अंश अधिक है ऐसे त्वचा आदिसे व्याप्त देहमें प्रवेश करके शरीराभिमानी जीव, किस दशामें रहता है ? तथा प्राण आदि वायु, नाडीके मार्गका आश्रय लेकर शरीरसे किसप्रकार क्रिया कराती है? यह मुझसे कहो॥१॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं कि—हे युधिष्ठिर ! इसप्रकार ब्राह्मणने प्रश्न किया तब व्याधने उस महात्मा ब्राह्मणको इसप्रकार उत्तर दिया ॥ २ ॥ व्याधने कहा कि—प्रकाशमय, विज्ञानात्मा, चिदात्माका आश्रय करके शरीरको चेतनावाला करता है और प्राण उस चिदात्मा तथा विज्ञानात्मामें रहकर चेष्टा करता है ३ भूत, भविष्य और वर्त्तमान ये सब प्राणमें रहते हैं, प्राण ही प्राणीमात्रका कार्यरूप परब्रह्म है, और वही विराट्आदिका कारण है, उस ही परब्रह्म की हम उपासना करते हैं ॥ ४ ॥ चिद्विज्ञानसहित सूत्रात्मारूप प्राण ही सब भूतोंको चेतन करनेवाला जीवात्मा है, यह सनातन पुरुष है, महान् है, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच भूतोंका विषयभी वही है ॥ ५ ॥ इस प्रकार वह सूत्रात्मा उपाधिके आवेशके कारण 'जीवभावको प्राप्त होनेके अनन्तर इस शरीरमें क्या बाहर क्या भीतर सब विषयोंमें प्राणवायुके द्वारा उसकी रक्षा होती

स्त्वां गतिमुपाश्रितः ॥ ६ ॥ वस्तिमूले गुदे चैव पावकं समुपाश्रितः । वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्त्तते ॥ ७ ॥ प्रयत्ने कर्मणि वले स एकस्त्रिपु वर्त्तते । उदानमिति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ ८ ॥ सन्धौ सन्धौ सन्निविष्टः सर्वेष्वपि तथानिलः । शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ ९ ॥ धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुसमीरितः । रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्त्तयन परिधावति ॥ १० ॥ प्राणानां सन्निपातात्तु सन्निपातः प्रजायते । ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥ ११ ॥ समानोदानयोर्मध्ये प्राणापानौ समाहितौ । समर्थितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्

है, परन्तु वही प्राणवायु जब पीछे समानवायुपनेको पाता है तब जीव उस वायुके द्वारा जुदी २ चलनेकी गतिको पाता है ॥ ६ ॥ यह सामानवायु अपान नामका होकर जठरानलका आश्रय करता है और फिर मूत्राशय तथा पुरीषाशयमेंसे मूत्र तथा मलको निकालता है और अपना काम करता है ॥ ७ ॥ वह वायु प्रयत्न कर्म और वल इन तीन विषयोंमें रहता है तब अध्यात्मवेत्ता पुरुष उस वायुको उदान कहते हैं ॥ ८ ॥ तैसे ही मनुष्यके शरीरके सब अंगोंमें पवन प्रवेश करता है तब वह व्यान नामसे कहा जाता है ॥ ९ ॥ जठरानल, त्वचा आदि सब धातुओंमें व्याप जाता है और वह प्राणानल वायुसे चलायमान होकर अन्नादि रसको त्वचा आदि धातुओंको और पित्तादि सब दोषोंको शान्त करता हुआ वेगसे फिरता है ॥ १० ॥ सब प्राणवायुओंके इकट्ठे होनेसे उनका जो संघर्ष होता है उससे ऊष्मा उत्पन्न होती है, इस ऊष्माको अग्नि कहते हैं और वह प्राणियोंके खायेहुए अन्नको पचाता है ॥ ११ ॥ समान और उदानवायुके मध्यमें प्राण तथा अपानवायु रहते हैं, उनके संघर्षणसे उत्पन्न हुआ जठरानल, सात धातुओंसे बनेहुए शरीरकी वृद्धि आदि करता है अर्थात् हृदयमें रहनेवाला प्राण नाभिमें रहनेवाले समानके साथ जाकर

पचात पावकः ॥ १२ ॥ अस्यापि पायुपर्य्यन्तस्तथा स्याद् गुद-संज्ञितः । स्रोतांसि तस्माज्जायन्ते सर्वप्राणेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥ अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते । स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ १४ ॥ पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यासूर्ध्वमामाशयः स्थितः । नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः॥१५॥ प्रवृत्ता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा । वहन्त्यन्नरसान्नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः ॥ १६ ॥ योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छन्ति तत्परम् । जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधुः । एवं स-

---

मिलता है और गुदामें रहनेवाला अपानवायु कंठमें रहनेवाले उदान से जा मिलता है, ऐसा होने पर प्राण अपान और समानका नाभिमें संघर्ष होनेसे अग्नि उत्पन्न होती है, वह जठराग्नि कहलाती है और वह सात धातुओंसे वनेहुए शरीरमें वृद्धि आदि विकारोंको किया करती है ॥ १२ ॥ तिसमें उस अग्निके वायु तकके प्रदेशको अपान कहते हैं, वह अपानवायु गुदामें रहता है, अपानवायमेंसे देहधारियोंके प्राण आदि पाँच वायु उत्पन्न होते हैं, और इन पाँच प्राणोंसे सब (स्रोत) मार्ग उत्पन्न होते हैं ॥१३॥ अग्निके वेगसे चलाहुआ प्राण गुदाके अन्तमें टकराता है और वहाँसे वह फिर पत्थरकी समान ऊपरको उछलकर अग्निको बढ़ाता है ॥ १४ ॥ जिसमें पकाहुआ अन्न रहता है वह पाकाशय नाभिके नीचेके स्थानमें है और जहाँ कच्चा अन्न रहता है, वह आमाशय नाभिके ऊपरके भागमें रहता है तथा शरीरके सब प्राण नाभिके मध्यमें रहते हैं ॥ १५ ॥ दश प्राणोंकी प्रेरणासे अन्नके रसको शरीरमें वहनेवाली सब नाड़ियें हृदयमेंसे ऊपर नीचेको तथा तिरछी फैलीहुई हैं ॥ १६ ॥ तन्द्रा आदिको जीतनेवाला समदृष्टि धीर पुरुष सुषुम्ना नामकी नाड़ीके द्वारा सहस्रार नामक चक्रमें रहनेवाले प्राणकी उपाधिवाले परमात्माको प्राप्त करता है, इसको योगियोंका मार्ग जानो इसप्रकार सब देह-

वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु ॥ १७ ॥ एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः । मूर्त्तिमन्तं हि तं विद्धि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १८ ॥ तस्मिन् यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाहितः आत्मानं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १९ ॥ देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे । क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ २० ॥ जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्त्वं तमस्तथा । जीवमात्मगुणं विद्धि तथात्मानं परात्मकम् ॥ २१ ॥ सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् । ततः परं क्षेत्रवि-

धारियोंके देहमें प्राण तथा अपान फैलेहुए हैं ॥ १७ ॥ जीवको दश इन्द्रियें और ग्यारहवाँ मन इन ग्यारह विकारोंवाला तथा प्राण श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी, इन्द्रियें, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक और नाम इन सोलह कलाओं से पूर्ण होनेके कारण अमूर्त होनेपर भी मूर्त्तिमान् कहा है, वह नित्य है, तो भी उपाधिने उसके स्वभावको जीतलिया है ॥ १८ ॥ अब जो थालीमें धरेहुए संस्कारवाले अग्निकी समान सोलह कलाओंसे भरपूर है, उसको आत्मा जानो, वह भी नित्य है तो भी उसके स्वभावको उपाधिने जीतलिया है ॥ १९ ॥ कमल के पत्ते पर जैसे जलकी बूंदें लगी रहती है तो भी कमलका पत्ता जैसे उससे विलग रहता है, तैसे ही जो सोलह कलाओंसे पूर्ण होने पर भी उनसे विलग है, उसको तुम क्षेत्रज्ञ जानो, वह ही नित्य कूटस्थ है तो भी उपाधिने उसके स्वभावको जीतलिया है है ॥ २० ॥ सत्व, रज और तम ये जीवके गुण कहिये भोग्य हैं, जीव आत्माका गुण कहिये भोग्य है और आत्मा परमात्माका गुण कहिये भोग्य है ॥ २१ ॥ यह जड़ शरीर जीवका भोग्य है ऐसा पण्डित कहते हैं, वह स्वयं जीवरूपसे कर्म करता है और ईश्वररूपसे कर्म करनेमें प्रवृत्ति कराता है, अब जो सात लोकोंको रचता है उसको क्षेत्रवेत्ता विवेकी पुरुष जीव और ईश्वरसे भी

दो वदन्ति प्राकल्पयद्यो भुवनानि सप्त ॥ २२ ॥ एवं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा संप्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः ॥ २३ ॥ चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् । प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥ २४ ॥ लक्षणन्तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् । निवाते वा यथा दीपो दीप्येत् कुशलदीपितः ॥ २५ ॥ पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः । लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ २६ ॥ प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति । दृष्ट्वात्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते ॥ २७ ॥ सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः । एतत्

श्रेष्ठ चैतन्यघन कहते हैं ॥ २२ ॥ नित्य, सिद्ध, आनन्दमूर्ति परमात्मा इसप्रकार सब प्राणियोंमें प्रकटरूपसे प्रकाशता है और ब्रह्माकार वृत्तिके साक्षी विवेकी पुरुष उसको सूक्ष्म ज्ञानदृष्टिसे देखते हैं ॥ २३ ॥ चित्त जब निर्मल होजाता है तब शुभ तथा अशुभ कर्म नष्ट होजाते हैं और निर्मल मनवाला पुरुष मनरहित होकर आत्मस्वरूप होजाता है और अनन्त सुख भोगता है ॥२४॥ चतुर मनुष्यका पवनशून्य स्थानमें प्रज्वलित किया हुआ दीपक जैसे स्वच्छतासे प्रकाश करता है और तृप्त हुआ मनुष्य जैसे सुखमें सोता है, तैसे ही प्रसन्न हुआ मन भी सुखमें रहता है, इसको ही प्रसन्नताका लक्षण जानो ॥ २५॥ रात्रिके पहिले तथा पिछले भागमें मनको परमात्मामें लगावै भोजन थोड़ा करे अंतःकरणको शुद्ध रक्खे और हृदयमें विराजमान परमात्माके दर्शन करै ॥२६॥ ऐसा करनेसे प्रज्वलित हुए दीपककी समान प्रकाशित मनरूपी दीपकसे परमात्माके दर्शन करता है, निराकार आत्माका दर्शन करके जीवका मन नष्ट होजाता है और वह संसारमेंसे मुक्ति पाता है ॥ २७ ॥ इसलिये सब उपायोंसे लोभको तथा क्रोधको वशमें करे लोगोंका यह पवित्र तप कहाता है और उसको श्रेष्ठ मार्ग

पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः ॥ २८ ॥ नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेत् धर्म्मं रक्षेच्च मत्सरात् । विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानन्तु प्रमादतः ॥ २९ ॥ आनृशंस्यं परो धर्म्मः क्षमा च परमं बलम् । आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम् ॥ ३० ॥ सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत् । यद्भूतहितमत्यन्तं तद्वै सत्यं परं मतम् ॥ ३१ ॥ यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनाः । सदा । त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान्॥ ३२॥ यतो न गुरुरप्येनं श्रावयेदुपपादयेत् । तं विद्याद् ब्राह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ॥ ३३ ॥ न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् । नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ३४ ॥ आकिञ्चन्यं सुसन्तोषो नि-

---

भी माना है ॥ २८ ॥ सदा क्रोधसे तपकी रक्षा करै मत्सरतासे धर्मकी रक्षा करै मान तथा अपमानसे विद्याकी रक्षा करै और प्रमादसे अपनी रक्षा करै ॥ २९ ॥ दयाको श्रेष्ठ धर्म जानै, क्षमा को परमबल जानै, आत्मज्ञानको श्रेष्ठ ज्ञान जानै, और सत्यको उत्तम व्रत जानै ॥ ३० ॥ सत्य बोलना कल्याणकारी है, सत्यसंबंधी ज्ञान भी हितकारी है और प्राणियोंका अत्यन्त हित करने को सबसे श्रेष्ठ सत्य जान॥३१॥जिस मनुष्यके सबकार्योंका आरंभ सदा किसी भी प्रकारके फलकी इच्छा न रखकर होते हैं और जिनके यज्ञ,याग दान आदि कर्म भी फलकी इच्छासे रहित होते हैं वे पुरुष त्यागी और बुद्धिमान् हैं, ऐसा जानै ॥ ३२ ॥ गुरु भी जिस वस्तुका श्रोताको श्रवण नहीं करासक्ते किन्तु लक्षणासे ही जिसको जतासकते हैं, उसको परब्रह्मका योग समझो, इसमें मनका वियोग अर्थात् नाश होजाता है तो भी विरुद्धलक्षणासे उसे योग कहाजाता है ॥ ३३ ॥ किसी प्राणीकी हिंसा न करना किन्तु सबके सथा मित्रभावसे रहै तैसे ही इस मनुष्यजातिमें जन्म लेकर किसीके साथ वैर भी नहीं करै ॥ ३४ ॥ अकिंचनपना, परमसन्तोष, निस्पृहता और चपलता न हो इनको

शशित्वमचापलम् । एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम् ॥ ३५ ॥ परिग्रहं परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या यतव्रतः । अशोकं स्थानमाश्रित्य निश्चलं प्रेत्य चेह च ॥ ३६ ॥ तपो नित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना । अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसंगिना ॥३७॥ गुणागुणमनासङ्गमेककार्यमनन्तरम् । एतत्तद् ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥ ३८ ॥ परित्यजति यो दुःखं सुखञ्चाप्युभयं नरः । ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति ॥ ३९ ॥ यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम । एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ४०

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः २१३ ॥

ही श्रेष्ठ ज्ञान कहा है तथा आत्मज्ञान को उत्तम ज्ञान कहा है ॥ ३५ ॥ बुद्धिसे, स्त्री, पुत्र धन आदि परिग्रहको त्यागकर वैराग्यका आश्रय लेय और इस लोकमें नियमानुसार वर्ताव करै क्योंकि–ऐसा करनेसे मनुष्यको परलोकमें सुख मिलता है ॥ ३६ ॥ मुनि नित्य तप करै मन तथा इन्द्रियोंको वशमें रक्खै, अजित मनको जीतनेकी इच्छा करै और संसारी पुरुषों का साथ छोड़देय ॥ ३७ ॥ जिसके विषै लोक तथा वेदादि गुण निर्गुण होजाते हैं, जो स्त्री पुत्र आदिके संगसे रहित है जो एक प्रत्यगात्माके द्वारा ही निष्पाद्य है तथा अज्ञान दूर होनेपर जिसकी प्राप्ति होती है वह परब्रह्मका स्वरूप है, और तत्ववेत्ता उसको ही निरवच्छिन्न (कभी न नष्ट होनेवाला) सुख कहते हैं ॥ ३८ ॥ जो मनुष्य सुख तथा दुःख इन दोनोंको त्याग देता है वह ही परब्रह्मको पाता है तथा संसारियोंका संग तजनेसे भी मुक्तिको पाता है ॥ ३९ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! यह मैंने जैसा सुना था तैसा ही तुम्हैं संक्षेपमें सुना दिया अब तुम्हैं और क्या सुनने की इच्छा है ? ॥ ४० ॥ दोसौ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१३॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ एवं सङ्कथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर । दृढप्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह ॥ १ ॥ न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्त्तितम् । न तेऽस्त्यविदितं किंचिद्धर्मेष्विह हि दृश्यते ॥ २ ॥ व्याध उवाच ॥ प्रत्यक्षं मम यो धर्म्मस्तञ्च पश्य द्विजोत्तम। येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुंगव ॥ ३ ॥ उत्तिष्ठ भगवन् क्षिप्रं प्रविश्याभ्यन्तरं गृहम् । द्रष्टुमर्हसि धर्म्मज्ञ मातरं पितरञ्च मे ॥ ४ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ इत्युक्तः स प्रविश्याथ ददर्श परमार्चितम् । सौधं हृद्यञ्चतुःशालमतीव च मनोरमम् ॥ ५ ॥ देवतागृहसंकाशं दैवतैश्च सुपूजितम् । शयनासनसम्बाधं गन्धैश्च परमैर्युतम् ॥ ६ ॥ तत्र शुक्लांवरधरौ पितरावस्य पूजितौ । कृता-

---

मार्कण्डेय कहते हैं कि-हे युधिष्ठिर ! इसप्रकार धर्मव्याधने सब मोक्षधर्म कहदिया, उसको सुनकर वह ब्राह्मण मनमें अतिप्रसन्न हो स्पष्टरूपमें धर्मव्याधसे कहने लगा कि-॥ १ ॥ हे व्याध! तुमने जो कुछ कहा वह सब नीतिसे भराहुआ है, मुझै प्रतीत होता है कि—धर्मके विषयोंमें तुमसें कोई भी विषय नहीं छुपा है ॥ २ ॥ व्याध बोला कि-हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है उस धर्मको तुम भी देखलो कि-जिस धर्मको पालनेसे शीघ्र ही मुझै यह सिद्धि मिली है ॥ ३ ॥ हे धर्मज्ञ महाराज! शीघ्र ही खड़े होजाओ और मेरे घरमें पधार कर मेरे प्रत्यक्ष धर्मरूप माता-पिताके दर्शन करो ॥ ४ ॥ मार्कण्डेय बोले कि-हे युधिष्ठिर ! इसप्रकार व्याधने कहा तब उस कौशिकने घरके भीतर जाकर देखा तो चार कमरेवाला एक सुन्दर घर उसे दीखा वह घर अत्यन्त शोभायमान चित्तके खेंचनेवाला अतिसुन्दर देवमंदिरकी समान देवताओंकी प्रतिमाओंसे सुशोभित, और वहुतसे पलंग आसन, तथा श्रेष्ठ केसर कस्तूरी आदि सुगंधित पदार्थोंसे भराहुआ था ५-६ उस विशाल भवनमें पुत्रसे सत्कार पातेहुए धर्मव्याध के मात-

दारौ तु सन्तुष्टावुपविष्टौ वरासने। धर्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसापतत् ॥ ७ ॥ वृद्धा ऊचतुः ॥ उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वा-मभिरक्षतु। प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि॥ ८ ॥ गति-मिष्टां तपो ज्ञानं मेधाश्च परमां गतः। सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यं काले सुपूजितौ ॥ ६ ॥ न तेऽन्यद्दैवतं किञ्चिद्दैवतेष्वपि वर्तते। प्रयतत्वाद्द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः ॥ १० ॥ पितुः पिता-महा ये च तथैव प्रपितामहाः। प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनावाञ्च पूजया ॥ ११ ॥ मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते। न चान्या हि तथा बुद्धिर्दृश्यते साम्प्रतं तव ॥ १२ ॥ जामदग्न्येन रामेण यथा वृद्धौ सुपूजितौ। तथा त्वया कृतं सर्वं तद्विशिष्टञ्च

पिता भोजन करके श्वेत वस्त्र पहिरे सन्तोषके साथ श्रेष्ठ आसन पर वैठे थे, धर्मव्याधने अपने मातापिताके दर्शन करके उनके चरणों में शिर झुका साष्टांग दण्डवत् की यह देखकर उसके वृद्ध माता पिता बोले कि–॥८॥ हे धर्मज्ञ पुत्र ! खड़ा हो ! खड़ा हो !! धर्म तेरी रक्षा करे हम तेरी पवित्रतासे प्रसन्न हैं। तू दीर्घायु हो हे पुत्र ! तूने श्रेष्ठ गति, तप, ज्ञान, तथा श्रेष्ठ बुद्धि पाई है और हे सत्पुत्र तू समयानुसार हमारी पूजा करता है ॥ ८–६ ॥ देवताओंमें भी तुझे हमारे सिवाय कोई देवता नहीं है, तू केवल हमें ही देवता मानता है, द्विजोंकी समान मनको नियममें रखकर दमका पालन करता है तथा ब्राह्मणोंकी सेवा करताहै॥ १० ॥ हे पुत्र ! तेरे दम से तथा तेरी कीहुई हमारी सेवासे हम दोनों हमारे पिता पिता-मह प्रपितामह नित्य तेरे ऊपर प्रसन्न रहते हैं॥ ११ ॥ मन, वाणी और शरीरसे कीहुई सेवा नष्ट नहीं होती, तैसे ही हे पुत्र तेरी बुद्धि भी अभीतक विपरीत नहीं दिखाई देती किन्तु तू एकभाव से हमारी सेवा करता है ॥ १२ ॥ हे पुत्र ! जमदग्निके पुत्र परशु-रामने जैसे अपने वृद्ध मातापिताकी सेवा की थी, तिसीप्रकार सब

पुत्रक ॥ १३ ॥ तस्तं ब्राह्मणं ताभ्यां धर्मव्याधो न्यवेदयत् । तौ स्वागतेन तं विप्रं मर्चयामासतुस्तदा ॥ १४ ॥ प्रतिपूज्य च तां पूजां द्विजः पप्रच्छ तावुभौ । सपुत्राभ्यां सभृत्याभ्यां कच्चिद्वां कुशलं गृहे ॥ १५ ॥ अनामयञ्च वां कच्चित् सदैवेह शरीरयोः ॥ १६ ॥ वृद्धावूचतुः ॥कुशलं नौ गृहे विप्र भृत्यवर्गे च सर्वशः । कच्चित्त्वमप्यविघ्नेन संप्राप्तो भगवन्निति॥१७॥ मार्कण्डेय उवाच॥ वाढमित्येव तौ विप्रः प्रत्युवाच मुदान्वितः । धर्मव्याधो निरीक्ष्याथ ततस्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥ व्याध उवाच ॥ पिता माता च भगवन्नेतौ मे दैवतं परम् । यद्दैवतेभ्यः कर्त्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम् ॥ १६ ॥ त्रयस्त्रिंशद्यथा देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः । संपूज्याः सर्व-

---

तूने भी किया है, इतना ही नहीं किन्तु तूने उनसे भी अधिक कियाहै ॥१३॥इसप्रकार मातापिताकी वातको सुनकर धर्मव्याधने कौशिक ब्राह्मणके आनेका समाचार अपने पिता माताको सुनाया तव उन दोनोंने उस ब्राह्मणका आप आये यह अच्छा हुआ ऐसा कहकर पूजा की ॥१४॥ ब्राह्मणने उन वृद्धोंकी पूजाका सत्कार करके उन दोनों से कहा कि—सुपुत्रवाले और श्रेष्ठ सेवकोंवाले तुम दोनों घरमें कुशलपूर्वक तो रहते हो? ॥१५॥ और यहां आप दोनोंका शरीर स्वस्थ तो रहता है ? ॥ १६ ॥ वह वृद्ध दम्पतीवोले कि-हे ब्राह्मण! घरमें हम कुशलसे हैं और हमारे सव सेवक भी कुशलसे हैं हे भगवन् ! तुम यहां निर्विघ्नतासे तो आये ? ॥१७॥ मार्कण्डेय कहते हैं कि—हे युधिष्ठिर ! दम्पतीके कुशलप्रश्नको सुन उस ब्राह्मणने प्रसन्न होकर उन दोनों वृद्धोंको उत्तर दिया कि— हाँ मैं कुशलपूर्वक यहाँ आया हूं, इसके उपरान्त वह धर्मव्याध ब्राह्मणकी ओर देखकर वोला ॥१८॥ व्याधने कहा-हे भगवन् ! ये माता तथा पिता मेरे परमदेवता हैं और देवताओंके लिये जो काम करना चाहिये वह काम मैं अपने माता पिताके लिये करताहूं इन्द्र आदि प्रधान तैंतीस देवता जैसे सव मनुष्योंके पूजनेयोग्य हैं

लोकस्य तथा वृद्धाविमौ मम ॥ २० ॥ उपहारानाहरन्तो देवतानां यथा द्विजः । कुर्वन्ति तद्वदेताभ्यां करोम्यहमतन्द्रितः ॥ २१ ॥ एतौ मे परमं ब्रह्मन् पिता माता च दैवतम् । एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज ॥ २२ ॥ एतावेवाग्नयो मह्यं यान्वदन्ति मनीषिणः । यज्ञा वेदाश्च चत्वारः सर्वमेतौ मम द्विज ॥२३॥ एतदर्थं मम प्राणा भार्या पुत्रः सुहृज्जनः । सपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेव करोम्यहम् ॥ २४ ॥ स्वयं च स्नापयाम्येतौ तथा पादौ प्रधावये । आहारं च प्रयच्छामि स्वयञ्च द्विजसत्तम ॥ २५ ॥ अनुकूलं तथा वच्मि विप्रियं परिवर्ज्जये । अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम् ॥ २६ ॥ धर्म्ममेवं गुरुं ज्ञात्वा करोमि द्विजस-

---

तैसे ही ये मेरे बूढ़े माता पिता पूजनीय हैं॥१९ २०॥ जिसप्रकार ब्राह्मण पूजाकी सामग्री लेकर देवताओंकी पूजा करते हैं तिसी प्रकार मैं भी आलस्यको त्याग पूजाकी सामग्री लेकर अपने इन माता पिता की सेवा करता हूं॥२१॥क्योंकि-हे ब्राह्मण ! ये माता पिता मेरे परमदेवता हैं, हे विप्र! मैं पुष्पोंसे,फलोंसे और रत्नोंसे सदा इन माता पिताको प्रसन्न रखता हूं॥२२॥ हे ब्राह्मण! विद्वान् जिन तीन अग्नियोंकी वात कहतेहैं वे तीनों अग्नियें मेरे ये माता पिताही हैं तथा यज्ञ और चारों वेद भी मेरे लिये माता पिता ही हैं ॥ २३ ॥ मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरे मित्र तथा पुत्रवधू सब इनके ही लिये हैं, मैं सदा पुत्र और स्त्रीको साथ लेकर इनकी सेवा करता हूं ॥ २४ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! मैं सदा इन दोनोंको स्नान कराता हूं और इनके पैरोंको धोता हूं तथा इनको प्रतिदिन मैं स्वयं ही जिमाता भी हूं ॥ २५ ॥ और मेरे माता पिता को जो प्यारा लगे वही वोलता हूं तथा इन्हें बुरी लगे उस वात को छोड़देता हूं तथा अधर्मभरा होने पर भी इन दोनोंका प्रिय काम करता हूं॥२६॥हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! मैं जो कुछ धर्म कर्म करता हूं सो सब इस धर्मको ही वड़ा मानकर करता हूं तथा सदा आलस्यको

त्तम। अतन्द्रितः सदा विप्र शुश्रूषां वै करोम्यहम् ॥ २७ ॥ पञ्चैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः। पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम ॥ २८ ॥ एतेषु यस्तु वर्त्तेत सम्यगेव द्विजोत्तम। भवेयुरग्नयस्तस्य परिचीर्णास्तु नित्यशः। गार्हस्थ्ये वर्त्तमानस्य एष धर्म्मः सनातनः ॥ २९ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि द्विजव्याधसंवादे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

मार्कण्डेय उवाच। गुरू निवेद्य विप्राय तौ मातापितरावुभौ। पुनरेव स धर्मात्मा व्याधो ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ १ ॥ मद्वृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि संपश्य तपसो बलम्। यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छ त्वं मिथिलामिति ॥ २ ॥ पतिशुश्रूषपरया दांतया सत्यशीलया। मिथिलायां वसेद्व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ॥ ३ ॥ ब्राह्मण उवाच। पतिव्रतायाः सत्य-

छोड इन माता पिता की सेवा किया करता हूं। २७। हे श्रेष्ठब्राह्मण! कल्याण चाहनेवाले पुरुषके लिये पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु ये पांचों ही गुरु हैं॥ २८ ॥ हे ब्राह्मण! जो मनुष्य इन पांचोंसे उत्तम वर्ताव करता है उसको सदा तीनों अग्निकी सेवा करनेका फल मिलता है, गृहस्थाश्रमियोंके लिये यह सनातनधर्म शास्त्रमें कहा है ॥ २९ ॥ दोसौ चौदहवां अध्याय समाप्त । २१४।

मार्कण्डेय बोले कि हे युधिष्ठिर! इसप्रकार अपने गुरु माता पिताका उस ब्राह्मणको दर्शन करा धर्मात्मा व्याधने फिर उस ब्राह्मणसे कहा कि- ॥ १ ॥ हे ब्राह्मण! तुम माता पिताकी सेवारूपी तपका बल देखो, इस तपके प्रभावसे ही मेरी दृष्टि दिव्य होगई है और इसके प्रभावसे ही मैंने जाना था कि-पतिसेवामें लगीहुई इंद्रियोंको वशमें रखनेवाली तथा सत्यपरायणा पतिव्रता स्त्रीने तुमसे कहा है कि- हे ब्राह्मण! तुम मिथिला नगरीमें जाओ, उस नगरी में एक व्याध रहता है वह तुम्हे धर्म सुनावेगा ॥ २-३ ॥ ब्राह्मण बोला कि हे नित्य व्रत करनेवाले व्याध! सत्यभाषण करनेवाली

या: शीलाढ्यायां यतव्रत । संस्मृत्य वाक्यं धर्मज्ञ गुणवानसि मे मतः ॥ ४ ॥ व्याध उवाच ॥ यत्तदा त्वं द्विजश्रेष्ठ तयोक्तो मां प्रति प्रभो । दृष्टमेव तया सम्यगेकपत्न्या न संशयः ॥ ५ ॥ त्वदनुग्रहबुद्ध्या तु विप्रैतद्दर्शितं मया । वाक्यञ्च शृणु मे तात यत्ते वक्ष्ये हितं द्विज ॥ ६ ॥ त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम । अनिसृष्टोऽसि निष्क्रान्तो गृहात्ताभ्यामनिन्दित ॥७॥ वेदोच्चारणकार्यार्थमयुक्तं तत्त्वयाकृतम् । तव शोकेन वृद्धौ तावन्धीभूतौ तपस्विनौ ॥८॥ तौ प्रसादयितुं गच्छ मा त्वां धर्मोऽत्यगादयम् । तपस्वी त्वं महात्मा च धर्मे च निरतः सदा ॥९॥ सर्वमेतदपार्थन्ते क्षिप्रं तौ संप्रसादय । श्रद्धत्स्व मम ब्रह्मन्नान्यथा कर्त्तुमर्हसि । गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते

उस पतिव्रता स्त्रीने जो वाक्य कहे थे उनका स्मरण करके मुझे प्रतीत होता है कि-तुम धर्मज्ञ तथा गुणवान् हो ॥४॥ व्याध बोला कि-हे श्रेष्ठ और समर्थ ब्राह्मण ! उस पतिव्रता स्त्रीने तुमको मेरे पास भेजा है, वह पतिव्रता स्त्री भलीप्रकार सब बातें जानती है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५ ॥ हे ब्राह्मण ! मैंने तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करनेके विचारसे यह सब दिखाया है, हे तात ! अब मैं तुम से हित करनेवाली दो बातें कहता हूं उन्हें तुम सुनो ॥ ६ ॥ हे श्रेष्ठ और पवित्र ब्राह्मण ! वेदाध्ययन करनेके लिये मातापिताके आज्ञा न देने पर तुम माता पिताका तिरस्कार कर घरमेंसे निकल आये हो; यह तुमने बहुत ही बुरा किया है, तुम्हारे तपस्वी, और वृद्ध माता पिता तुम्हारे शोकसे अन्धे होगए हैं ॥ ७-८ ॥ अतः तुम अपने माता पिताके पास जाकर उन्हें शान्त करो, तुम तपस्वी, महात्मा तथा सदा धर्ममें परायण रहते हो अतः तुम्हारा धर्म नष्ट न होय तैसा करो ॥ ९ ॥ तुमने जो वेदादि पढ़े हैं वे सब माता और पिताकी सेवाके विना निरर्थक ही हैं, अतः तुम तुरत ही घर जाकर माता पिताको प्रसन्न करो, हे ब्राह्मण ! तुम मेरे वचनों पर विश्वास करना उनको झूठे मान कर विरुद्ध वर्ताव न करना, हे विप्रर्षे ! तुम आज ही घर जाओ, यह मैं तुम्हें

कथयाम्यहम् ॥ १० ॥ ब्राह्मण उवाच । यदेतदुक्तं भवता सर्वं सत्यमसंशयम् । प्रीतोऽस्मि तव भद्रन्ते धर्माचारगुणान्वित॥११॥ व्याध उवाच। दैवतप्रतिमो हि त्वं यस्त्वं धर्ममनुव्रतः । पुराणं शाश्वतं दिव्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥ मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम। अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम्। अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कञ्चन ॥१३॥ ब्राह्मण उवाच । इहाहमागतो दिष्ट्या दिष्ट्या मे संगतं त्वया। ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्म्मप्रदर्शकाः ॥ १४ ॥ एको नरसहस्रेषु धर्म्मविद्विद्यते न वा । प्रीतोऽस्मि तव सत्येन भद्रन्ते पुरुषर्षभ ॥ १५ ॥ पतमानोऽद्य नरके भवतास्मि समुद्धृतः । भवितव्यमथैवं च यद्दृष्टोऽसि मयानघ ॥१६॥ राजा ययातिर्दौहित्रैः पतितस्तारितो यथा । सद्भिः

कल्याणकारी बात बताताहूं ॥ १० ॥ ब्राह्मण बोला कि–हे धर्म आचार तथा गुणयुक्त व्याध ! आपने जो कहा वह सब वास्तवमें सत्य है तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं ११ व्याध बोला कि-भाग्यहीन पुरुषोंको दुष्प्राप्य, शाश्वत दिव्य और प्राचीन धर्म तुमने ग्रहण किया है इससे तुम देवतासमान हो ॥ १२ ॥ हे द्विजसत्तम ! तुम पहिले माता पिताके पास जाना और सावधान होकर तुरत ही उनका पूजन करना, माता पिताकी पूजाके समान मैं दूसरे किसी धर्मको भी उत्तम नहीं देखता॥१३॥ ब्राह्मण बोला कि–बहुत अच्छा हुआ कि–मैं यहां आगया और आप का समागम हुआ तुम्हारी समान धर्मोपदेश देनेवाला मनुष्य जगत्में मिलना दुर्लभ है ॥ १४ ॥ सहस्रों पुरुषोंमें एक आध ही धर्मवेत्ता मिलता है अथवा कोई मिलता ही नहीं, मैं तुम्हारे सत्यवादीपनेसे प्रसन्न हुआ हूं, हे श्रेष्ठ पुरुष ! तुम्हारा कल्याण हो १५ मैं नरकमें ही गिरता परन्तु आज तुमने मेरा उद्धार किया है, हे निर्दोष व्याध ! मेरे प्रारब्धमें उद्धार लिखा होगा, इससे ही मुझे तुम्हारे दर्शन हुए हैं १६ हे पुरुषसिंह! पहिले राजा ययाति

पुरुषशार्दूल तथाहं भवता द्विज ॥ १७ ॥ मातापितृभ्यां शुश्रूषां करिष्ये वचनात्तव । नाकृतात्मा वेदयति धर्माधर्मविनिश्चयम् १८ दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः शूद्रयोनौ हि वर्त्तते । न त्वां शूद्रमहं मन्ये भवितव्यं हि कारणम् ॥ १९ ॥ येन कर्मविशेषेण प्राप्तेयं शूद्रता त्वया । एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेन हि महामते । कामया ब्रूहि मे सर्वं सत्येन प्रयतात्मना ॥२०॥ व्याध उवाच । अनतिक्रामणीया वै ब्राह्मणा मे द्विजोत्तम । शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममानघ ॥ २१ ॥ अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मजः । वेदाध्यायी सुकुशलो वेदांगानाञ्च पारगः ॥ २२ ॥ आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थामाप्तवानिमाम् । कश्चिद्राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः

नरकमें पडनेवाला ही था, परन्तु उसके श्रेष्ठ गुणवाले धेवतोंने जैसे उसका उद्धार किया था तैसे ही तुमने इस ब्राह्मणका उद्धार किया है ॥ १७ ॥ अब मैं तुम्हारे कहनेसे माता पिताकी सेवा करूंगा, हे धर्मव्याध! अज्ञानी पुरुष धर्म तथा अधर्मके स्वरूप को नहीं जान सकता है १८परन्तु किसीसे भी न जानाजाय ऐसा परमधर्म शूद्रजातिमें भी होता है,मैं तुमको शूद्र नहीं मानता, तुम्हारे शूद्र जातिमें उत्पन्न होनेका कारण प्रारब्ध ही होगा ॥ १९ ॥ हे महाबुद्धिमान् ! तुम जिस बलवान् कर्मके संयोगसे शूद्रजातिमें उत्पन्न हुए हो उस कर्मको मैं जानना चाहता हूँ अतः तुम मनको वशमें रखकर मुझसे सब वृत्तांत यथार्थरीतिसे यदि आपकी इच्छा हो तो कहो ॥ २० ॥ व्याध बोला कि—हे निर्दोष ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मैं कभीभी ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करता हूं, पहिले देहके मेरे जो कर्म हैं उन सब कर्मोंको कहता हूं, तुम सुनो॥२१॥ मैं पहिले जन्ममें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणका पुत्र होकर जन्मा था, वेद पढा हुआ, अत्यंत चतुर और वेदके अंगोंमें पारंगत था२२ परन्तु हे ब्राह्मण! मैं जिस दोषके कारण इस दशा को प्राप्त हुआ हूं, उसका वृत्तांत इसप्रकार है—"धनुर्वेद जाननेवाला एक राजा मेरा मित्र था

॥ २३ ॥ संसर्गाद्धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज । एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृपः ॥ २४ ॥ सहितो योधमुख्यैश्च मन्त्रिभिश्च सुसंवृतः । ततोऽभ्यहन्मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति ॥ २५ ॥ अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयापि द्विजसत्तम । ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणानतपर्वणा ॥ २६ ॥ भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन् । नापराध्याम्यहं किञ्चित् केन पापमिदं कृतम् ॥ २७ ॥ मन्वानस्तं मृगञ्चाहं संप्राप्तः सहसा प्रभो । अपश्यं तमृषिं विद्धं शरेणानतपर्वणा ॥ २८ ॥ अकार्य्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः । तमुग्रतपसं विप्रं निष्टनन्तं महीतले ॥ २९ ॥ अजानता कृतमिदं मयेत्यहमथाब्रुवम् । क्षन्तुमर्हसि मे सर्वमिति चोक्तो मया मुनिः ॥ ३० ॥ ततः प्रत्यब्रवीद्वाक्यमृषिर्मां

२३ उसके साथमें हे ब्राह्मण ! मैंने भी भलीप्रकार धनुर्विद्या सीखली थी, एक समय वह राजा मुख्य २ मंत्री और योधाओंको साथमें ले शिकार खेलनेको गया और एक ऋषिके आश्रमके समीपमें उसने बहुतसे मृगोंको मारा ॥२४-२५॥ हे ब्राह्मण ! मैंने भी उसकी देखादेखी एक तीक्ष्ण बाण छोडा तब नमेहुए पर्ववाला वह बाण भूलमें एक ऋषिके लगगया ॥ २६ ॥ हे ब्राह्मण! उस ही समय ऋषि चीखकर पृथिवी पर गिर पड़े और कहनेलगे कि—मेरा कुछ अपराध न होने पर भी यह पापकर्म किसने किया ? ॥ २७ ॥ मैं उनको मृग जानकर तुरत ही उनके पास गया और देखा तो हे समर्थ ब्राह्मण! मेरे छोड़े नमेहुए पर्ववाले बाणसे बिंधे-हुए ऋषि पड़े थे ॥ २८ ॥ मैंने ऐसा अकाज किया इससे मेरे मनमें सन्ताप होनेलगा तदनन्तर भूमिमें पड़ेहुए और बाणकी पीड़ासे चीखते हुए उग्र तपस्वी उन मुनिसे मैंने कहा कि—हे महाराज ! यह अपराध मैंने अनजानमें किया है, अतः आपको मेरा सब अपराध क्षमा करना चाहिये ॥२९-३०॥ मेरी प्रार्थना सुनकर हे ब्राह्मण ! क्रोधसे मूर्छित हुए उन ऋषिने मुझसे कहा

क्रोधमूर्च्छितः । व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज २१

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मण-
व्याधसम्वादे पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

व्याध उवाच ॥ एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम । अभिप्रसादयमृषिं गिरा त्राहीति मां तदा ॥१॥ अजानता मयाऽकार्यमिदमद्य कृतं मुने । क्षन्तुमर्हसि तत्सर्वं प्रसीद भगवन्निति ॥ २ ॥ ऋषिरुवाच ॥ नान्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम् । आनृशंस्यात्त्वहं किंचित् कर्तानुग्रहमद्य ते ॥ ३ ॥ शूद्रयोन्यां वर्त्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि । मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः ॥ ४ ॥ तया शुश्रूषया सिद्धिं महत्त्वं समवाप्स्यसि । जातिस्मरश्च भविता स्वर्गञ्चैव गमिष्यसि ॥ ५ ॥ शापक्षये तु निर्वृत्ते

कि–हे क्रूर व्याधे ! तू इस अकाजके कारण शूद्रयोनिमें उत्पन्न होगा ॥ २१ ॥ दोसौ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१५ ॥ * ॥

धर्मव्याध बोला कि–हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! इस प्रकार उन ऋषिने मुझे शाप दिया, तब मैं उन ऋषिसे क्षमा माँगने लगा और उनको प्रसन्न कर मैंने कहा कि–हे मुने ! मेरा कल्याण करो मैंने जो यह अपराध किया है सो भूलमें किया है, अतः यह सब आपको क्षमा करना चाहिये, हे भगवन् ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिये ॥ १–२ ॥ ऋषि बोले कि–मैंने जो तुझको शाप दिया है वह अन्यथा नहीं होगा, निश्चय ही उसका फल तुझे मिलेगा, तो भी मैं दयालुस्वभाव होनेके कारण तुझ पर कृपा करता हूं, तू सुन ! ॥ ३ ॥ शूद्रजातिमें उत्पन्न होने पर भी तू धर्मवेत्ता होगा और वहां तू निःसन्देह अवश्य माता पिताकी सेवा करेगा ॥ ४ ॥ उस सेवाके प्रभावसे तुझे सिद्धि और गौरव मिलेगा, पूर्व जन्मका ज्ञान प्राप्त होगा और तू फिर स्वर्गमें जायगा ॥ ५ ॥ और इस शापके पूर्ण होने पर भी तू ब्राह्मण जातिमें उत्पन्न होगा

भवितासि पुनर्द्विजः।एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणास्म्युग्रतेजसा॥६॥ प्रसादश्च कृतस्तेन ममैव द्विपदाम्वर। शरश्चोद्धृतस्त्रानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम॥ ७॥ आश्रमञ्च मया नीता न च प्राणैर्व्ययुज्यत। एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराभवत्॥ ८॥ अभितश्चापि गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम॥ ६॥ ब्राह्मण उवाच। एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सखानि च। आप्नुवन्ति महाबुद्धे नोत्कण्ठां कर्त्तुमर्हसि॥ १०॥ दुष्करं हि कृतं कर्म जानता जातिमात्मनः। लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञ नित्यं धर्मपरायण॥ ११॥ कर्मदोषश्च वै विद्वान्नात्मजातिकृतेन वै। कश्चित् कालमुष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः॥ १२॥ साम्प्रतञ्च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः।

हे मनुष्योत्तम! इस प्रकार उग्र तेजवाले मुनिने पहिले मुझे शाप दिया था और फिर उन्होंने मेरे ऊपर कृपा भी की थी, इसप्रकार उनका अनुग्रह होने के पीछे हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! मैं उन ऋषिके शरीरमेंसे वाण निकालकर उन्हें आश्रममें लेगया तहां थोड़े दिनों वे घायल रहे परन्तु मरे नहीं, हे विप्र! पहिले मेरे ऊपर जिसप्रकार वीती थी सो सब मैंने तुमसे कहदिया॥ ६-८॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! मैं थोड़े ही समयमे स्वर्गमें जाऊंगा॥ ६॥ ब्राह्मण बोला कि-हे महाबुद्धिमान्! इसप्रकार पुरुष सुख तथा दुःखों को भोगता है, अतः तुम्हे सुखकी इच्छा करना ठीक नहीं है॥ १०॥ तुम पूर्वजन्ममें किये हुए पापको तथा अपनी जाति को जानते हो, लोकव्यवहारके तत्त्वोंमें निपुण हो और नित्य धर्ममे लगे रहते हो॥११॥ हे विद्वान्! अपनी जातिके अनुसार प्राप्त हुए कर्म करनेसे कुछ दोष नहीं लगता, अतः तुम कुछ समय तक यहां रहकर थोडे समय पीछे ब्राह्मण होजाओगे॥१२॥ ऐसा होनेपर भी मैं अब भी तुम्हें ब्राह्मणही मानता हूं, इसमें तुम कुछ सन्देह न करना, जो ब्राह्मण पाप करता है, दंभ रखता है और

ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु ॥ १३ ॥ दाम्भिको दुष्कृतः प्राज्ञः शूद्रेण सदृशो भवेत् । यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ॥ १४ ॥ तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः। कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम् ॥ १५ ॥ क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम । कर्त्तुमर्हसि नोत्कण्ठां त्वद्विधा ह्यविपादिनः । लोकवृत्तानुवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः ॥ १६ ॥ व्याध उवाच । प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः । एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १७ ॥ अनिष्टसंप्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च । मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते चाल्पबुद्धयः ॥ १८ ॥ गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च । सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ १९ ॥ अनिष्टं चान्वितं पश्यं

खोटे काम करता है वह विद्वान् होने पर भी शूद्रसमान गिनाजाता है और जो शूद्र होने पर भी शम, दम, सत्य, तथा धर्ममें नित्य तत्पर रहता है उसको मैं ब्राह्मण मानता हूं, क्योंकि—मनुष्य सदाचारसे ब्राह्मण होसकता है, परन्तु वह कर्मदोषके कारण दारुण और दुःखदायक जातिमें उत्पन्न होजाता है ॥ १३—१५ ॥ हे नरोत्तम ! मैं तुम्हें सब प्रकारसे दोष नष्ट होगए हैं जिसके ऐसा समझता हूं तुम्हें उत्कण्ठा नहीं करनी चाहिये और क्योंकि-लोकके वर्तावको भलीप्रकार जाननेवाले और सदा धर्ममें परायण रहनेवाले पुरुष खेद नहीं करते हैं ॥ १६ ॥ व्याध बोला कि—औषधियोंसे शरीरके दुःखका नाश करना चाहिये उत्तम ज्ञानसे मनके दुःखोंका नाश करना चाहिये ये ऐसा ज्ञानका प्रभाव है यदि मनुष्य ऐसा करै तो बालकोंकी समान मूर्ख नहीं बने ॥ १७ ॥ जब अपना अशुभ हो अथवा स्नेहियोंका वियोग हो तब अल्पबुद्धि मनुष्योंके मनमें दुःख होता है ॥ १८ ॥ सब प्राणी गुणोंके काय मानेजानेवाले सुख दुःख तथा मोहमें लिप्त होते हैं और छूटजाते हैं, यह शोक कुछ एक ही पुरुषको नहीं होता है॥१९॥किन्तु संसारके सब

स्तथा क्षिप्रं विरज्यते । ततश्च मतिकुर्वन्ति यदि पश्यन्त्युपक्रमाद् ॥ २० ॥ शोचतो न भवेत्किञ्चित् केवलं परितप्यते । परित्यजन्ति ये दुःखं सुखं चाप्युभयं नराः ॥ २१ ॥ त एव सुखमेधन्ते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः । असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः॥२२॥ असन्तोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् । न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २३ ॥ न विषादे मनः कार्य्यं विषादो विषमुत्तमम् । मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ २४ ॥ यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते । तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते ॥ २५ ॥ अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते

पुरुषोंको समयानुसार होता है, अतः अपनी ओर अनिष्ट आता हुआ दिखाई देय तो तुरन्त उस कामकी ओरसे मनको विरक्त करलेना चाहिये और कामका आरंभ करने पर भी यदि विघ्न आपड़े तो उसका उपाय करना चाहिये ॥ २० ॥ परन्तु उपाय न करके जो मनुष्य दुःखको देख शोक करने लगता है उसको उस का कुछ भी फल नहीं मिलता है, केवल सन्ताप ही होता है, ज्ञान से तृप्त हुए जो विद्वान् मनुष्य सुख दुःख दोनोंको त्याग देते हैं वे पुरुष ही सुख प्राप्त करते हैं, मूढ़ पुरुष असंतोषी होते हैं, और पण्डित सन्तोष रखते हैं ॥ २१—२२ ॥ असन्तोषका ओरछोर नहीं है, अतः सन्तोष रखना ही परमसुख है, जो ज्ञानमार्गमें पहुंचजाते हैं वे परमगतिका दर्शन पाकर शोक नहीं करते हैं ॥२३॥ किसी कारणसे भी मनमें खेद नहीं करना चाहिये क्योंकि-खेद भयंकर विष है, क्रोधित सर्प जैसे निर्बुद्धि बालकको डसकर उस के प्राण हरलेता है,तैसे ही दुःखरूपी विष भी अज्ञानी मनुष्योंके प्राण लेलेता है॥२४॥जब पराक्रम करनेका समय समीप आता है तब मनुष्य विषाद करने लगता है और तेजशून्य पुरुष पुरुषार्थ नहीं करसकता है ॥ २५ ॥ मनुष्य जिस कामको करता है उसका फल उसे अवश्य मिलता है, परन्तु जो मनुष्य खेदसे आतुर होकर

फलम् । न हि निर्वेदमागम्य किञ्चित् प्राप्नोति शोभनम् ॥ २६ ॥ अथाप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे । अशोचन्नारभेतैवं मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २७ ॥ भूतेष्वभावं सञ्चिन्त्य ये तु बुद्धेः परंगताः । न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २८ ॥ न शोचामि च वै विद्वन् कालाकाङ्क्षी स्थितो ह्यहम् । एतैर्निदर्शनैर्ब्रह्मन्नवसीदामि सत्तम ॥ २९ ॥ ब्राह्मण उवाच । कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिर्हि विपुला तव । नाहं भवन्तं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्मवित् ॥३०॥ आपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्मस्त्वां परिरक्षतु । अप्रमादस्तु कर्त्तव्यो धर्मे धर्मभृताम्वर ॥ ३१ ॥ मार्कण्डेय उवाच । बाढमित्येव तं व्याधः कृताञ्जलिरुवाच ह । प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थि-

---

कार्य नहीं करता है उसे कोई भी अच्छी वस्तु नहीं मिलती है ॥ २६ ॥ अतः पुरुषको दुःखसे छूटनेका उपाय खोजना चाहिये और शोक न करके उस उपायका प्रारम्भ करना चाहिये जिससे पुरुष शोकसे छूटकर दुःखसे मुक्त होजाता है ॥ २७ ॥ जिन पुरुषोंने भूतोंसे बनेहुए प्राणियोंको नाशवान् जानकर परब्रह्मके पदको पाया है, ऐसे परब्रह्मके परमपदका दर्शन करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करते हैं ॥२८॥ हे विद्वन् ! मैं इसलिये ही शोक नहीं करता हूं किन्तु समयकी बाट देखताहुआ बैठा हूं कि—कब पहिले कियेहुए कर्मोंका क्षय हो, हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! संसार में देखनेमें आतेहुए ऐसे २ दृष्टान्तोंसे मुझे शोक नहीं होता है ॥२९॥ ब्राह्मण बोला कि—तुम ज्ञानवान् हो बुद्धिमान् हो, तुम्हारी बुद्धि विशाल है तुम ज्ञानसे तृप्त हो और धर्मज्ञ हो अतः मैं तुम्हारी चिन्ता नहीं करता ॥ ३० ॥ अब मैं जानेके लिये आपकी आज्ञा चाहता हूं, तुम्हारा कल्याण हो ! धर्म तुम्हारी रक्षा करे ! हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! तुम धर्म कर्म करनेमें प्रमाद न करना ॥३१॥ मार्कण्डेय बोले कि—तदनन्तर व्याधने दोनों हाथ जोड़ कर उस

तो द्विजसत्तमः ॥ ३२ ॥ स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा । मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुशंसितः ॥ ३३ ॥ एतत्ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर । पृष्टवानसि यं तात धर्मं धर्म्मभृताम्वर ॥ ३४ ॥ पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम मातापित्रोश्च शुश्रूषा धर्मव्याधेन कीर्त्तिता ॥ ३५ ॥ युधिष्ठिर उवाच अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् धर्माख्यानमनुत्तमम् । सर्वधर्मविदां श्रेष्ठ कथितं मुनिसत्तम ॥ ३६ ॥ सुखश्रव्यतया विद्वन् मुहूर्त्त इव मे गतः । न हि तृप्तोऽस्मि भगवन् शृण्वानो धर्ममुत्तमम् ॥ ३७ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।

ब्राह्मण से कहा कि—बहुत अच्छा तम्हारे कहनेके अनुसार मैं धर्म कर्ममें सावधान रहूंगा ऐसा कहनेके अनन्तर श्रेष्ठ ब्राह्मण कौशिक व्याधकी प्रदक्षिणा करके अपने घरको चलागया ॥ ३२ ॥ और अपने वृद्ध माता पिताकी इस समयसे सेवा करने लगा वृद्ध माता पिताने भी योग्यतानुसार पुत्रकी प्रशंसा की ॥ ३३ ॥ हे धर्मिष्ठों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! हे तात ! तुमने मुझसे धर्मके विषयमें जो प्रश्न किया था उसके सम्बंधमें पतिव्रताका माहात्म्य ब्राह्मणका माहात्म्य और धर्मव्याधका कहाहुआ मातापिताका सेवाधर्म आदि सब मैंने तमसे कहदिया ॥ ३४—३५ ॥ युधिष्ठिर बोले कि—हे ब्राह्मण ! हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम सब धर्मोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हो, इससे तुमने मुझे अतिअद्भुत श्रेष्ठ धर्म विषयका आख्यान सुनाया ॥ ३६ ॥ हे विद्वन् ! इस धर्मसंबंधी ज्ञानको श्रवण करनेमें मेरा जो समय आनन्दपूर्वक बीता है वह मुझे एक क्षणकी समान लगा है हे भगवन् ! श्रेष्ठ धर्मको सुनते सुनते मैं तृप्त नहीं होता हूं इस कारण मुझे और भी सुननेकी उत्कण्ठा है ॥ ३७ ॥ दोसौ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१६ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! इसप्रकार धर्मराजने धर्म

पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कण्डेयमिदं तदा ॥ १ ॥ युधिष्ठिर उवाच ॥ कथमग्निर्वनं यातः कथञ्चाप्यंगिराः पुनः। नष्टेऽग्नौ हव्यमवहदग्निर्भूत्वा महाद्युतिः ॥२ ॥ अग्निर्यदा त्वेक एव बहुत्वञ्चास्य कर्मसु। दृश्यते भगवन् सर्वमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥ कुमारश्च यथोत्पन्नो यथाचाग्नेः सुतोऽभवत्। यथा रुद्राच्च सम्भूतो गंगायां कृत्तिकासु च ॥ ४ ॥ एतदिच्छाम्यहं त्वत्तः श्रोतुं भार्गवसत्तम। कौतूहलसमाविष्टो याथातथ्यं महामुने ॥ ५ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। यथा क्रुद्धो हुतवहस्तपस्तप्तुं वनं गतः ॥६ ॥ यथा च भगवानग्निः स्वयमेवांगिराभवत्। सन्तापयंश्च प्रभया नाशयंस्तिमिराणि च ॥ ७ ॥ पुरांगिरा महाबाहो चचार तप उत्तमम्। आश्रमस्थो महाभागो हव्यवाहं विशेष

संबंधी शुभ कथा सुनकर फिर मार्कण्डेय ऋषिसे बूझा ॥ १ ॥ युधिष्ठिरने कहा कि—हे मार्कण्डेय ! पहिले अग्निने जलमें क्यों प्रवेश किया था और अग्निका नाश होनेके अनन्तर महाकान्तिमान् ऋषि अंगिराने अग्नि बनकर होमेहुए द्रव्यको किसलिये ग्रहण किया था ॥ २ ॥ और अग्नि एक ही है ऐसा तुम कहो तो हे भगवन् ! यज्ञादि कर्मोंमें ये अनेक क्यों दीखते हैं, और हे भार्गवश्रेष्ठ ! स्वामि कार्त्तिकेय किसप्रकार उत्पन्न हुए थे? अग्निके पुत्र कैसे हुए? रुद्रके वीर्यसे गंगाजीमें किसप्रकार उत्पन्न हुए ? और कृत्तिकाओंके विषैं किसप्रकार जन्मे थे ! यह सब हे महामुने ! मैं तुमसे सुनना चाहता हूं ॥ ३—५ ॥ मार्कण्डेय बोले कि हे युधिष्ठिर ! पहिले अग्नि क्रोध करके जिस प्रकार तप करनेको जलमें बैठे थे तथा अंगिरा ऋषिने स्वयं भगवान् अग्निका रूप धारण करके अपनी कांतिसे जगत्को तपाकर जिसप्रकार अन्धकारका नाश किया था तैसा ही इस प्राचीन इतिहासको कहने वाली कथा मैं तुमसे कहता हूं॥ ६—७॥ हे महाबाहु राजन्! पहिले महाभाग्यवान् अंगिरा ऋषि अपने आश्रममें रहकर श्रे तप करने

पन्। तथा स भूत्वा तु तदा जगत्सर्वं व्यकाशयत् ॥ ८ ॥तपश्चरंस्तु हुतभुक् सन्तप्तस्तस्य तेजसा। भृशं ग्लानश्च तेजस्वी न च किंचित् प्रजज्ञिवान् ॥ ९॥ अथ सञ्चिंतयामास भगवान् हव्यवाहनः। अन्योऽग्निरिह लोकानां ब्रह्मणा सम्प्रकल्पितः ॥ १० ॥ अग्नित्वं विप्रनष्टं हि तप्यमानस्य मे तपः। अथमग्निः पुनरहं भवेयमिति चिन्त्य सः ॥ ११ ॥ अपश्यदग्निवल्लोकांस्तापयन्तं महामुनिम् सोऽपासर्पच्छनैर्भीतस्तमुवाच तदांगिराः ॥ १२ ॥शीघ्रमेव भवस्वाग्निस्त्वं पुनर्लोकभावनः। विज्ञातश्चासि लोकेषु त्रिषु संस्थानचारिषु ॥ १३ ॥ त्वमग्निः प्रथमं सृष्टो ब्रह्मणा तिमिरापहः। स्वस्थानं प्रतिपद्यस्व शीघ्रमेव तमोनुद ॥ १४ ॥ अग्निरुवाच। नष्टकीर्त्तिरहं लोके भवान् जातो हुताशनः। भवन्तमेव ज्ञास्यन्ति

लगे तब अग्निसे भी अधिक तेजस्वी होकर उसी समय सब जगत् में प्रकाश करनेलगे॥८॥उस समय तेजस्वी अग्नि भी तप कर रहे थे, वे उन ऋषिके तेजसे अतिसन्ताप पाने लगे और घबड़ाने लगे,परन्तु इसका कोई कारण उनकी समझमें नहीं आया ॥९॥ तब भगवान् अग्निदेव विचारने लगे तो उन्हें मालूम हुआ कि- ब्रह्माने लोकोंको सुख देनेके लिये दूसरे अग्निको उत्पन्न किया है और तपस्यामें लगे रहनेसे मेरा अग्निपना नष्ट होगया है "सो अब मैं फिर तेजस्वी अग्नि किस प्रकार बनूं !,, इसप्रकार मनमें विचार कर रहे थे इतनेमें ही अग्निदेवने, अग्निकी समान लोगों को ताप देते हुए महामुनि को देखा ! यह देखकर अग्निदेव डर गए और धीरे २ उन मुनिके पास गए परन्तु अंगिराने अग्निसे कहा कि-॥१०-१२॥ हे अग्निदेव ! तुम स्थावरजंगमरूप तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हो अतः तुरंत ही अग्नि होकर फिर सब लोकों में प्रकाश करो ॥ १३ ॥ हे तिमिरनाशक ! ब्रह्माने अंधेरेको नष्ट करनेके लिये प्रथम तुमको ही उत्पन्न किया है, अतः अब तुम शीघ्र ही अपने स्थानमें जाओ ।१४। तब अग्निने कहा कि-हे

पावकं तु न मां जनाः ॥१५॥ निक्षिपाम्यहमग्नित्वं त्वमग्निः प्रथमो भव । भविष्यामि द्वितीयोऽहं प्राजापत्यक एव च ॥ १६॥ अङ्गिरा उवाच ॥ कुरु पुण्यं प्रजा स्वर्ग्यं भवाग्निस्तिमिरापहः । माञ्च देव कुरुष्वाग्ने प्रथमं पुत्रमञ्जसा ॥ १७ ॥ मार्कण्डेय उवाच । तच्छ्रुत्वाङ्गिरसो वाक्यं जातवेदास्तदाकरोत् । राजन् बृहस्पतिर्नाम तस्याप्यङ्गिरसःसुतः ॥ १८ ॥ ज्ञात्वा प्रथमजं तन्तु वह्नेरांगिरसं सुतम् । उपेत्य देवाः पप्रच्छुः कारणं तत्र भारत ॥ १९ ॥ स तु पृष्टस्तदा देवैस्ततः कारणमब्रवीत् । प्रत्यगृह्णंस्तु देवाश्च तद्वचोऽङ्गिरसस्तदा ॥२०॥ तत्र नानाविधानग्नीन् प्रवक्ष्यामि महाप्रभान्

मुने ! जगत्में मेरी कीर्ति नष्ट होगइ है और तुम अग्नि हुए हो अतः सब मनुष्य तुमको ही अग्नि मानेंगे मुझे कोई भी अग्नि नहीं मानेगा। अतः तुम प्रथम अग्नि अर्थात् सूत्रात्मा होजाओ और मैं प्रथमाग्निपनेको त्यागकर दूसरा प्राजापत्य नामक अग्नि होजाऊँगा ॥ १५—१६ ॥ अंगिरा बोले कि–हे अग्निदेव ! तुम अग्नि होकर संसारमें अँधेरेका नाश करो और प्रजाको स्वर्ग देने में हितकारी पवित्र बलिदानको ग्रहण करो और मुझे तुरन्त बृहस्पति नाम नामका अपना मुख्य पुत्र बनालो ॥ १७ ॥ मार्कण्डेय बोले कि–हे राजन् युधिष्ठिर ! अँगिरा ऋषिके ऐसे वचनोंको सुनकर अग्निने उसी समय तैसा ही किया और अपना बृहस्पति नाम रखकर वह अंगिराके पुत्र हुए ॥ १८ ॥ हे भारत युधिष्ठिर ! अग्नि से अंगिरा के प्रथम उत्पन्न हुआ है यह जानकर देवता बृहस्पतिके पास जा उनसे परब्रह्मके विषयके प्रश्न करने लगे ॥ १९ ॥ देवताओंने परब्रह्मका स्वरूप बूझा, उसका बृहस्पतिने उत्तर दिया, तदनन्तर अंगिराने देवताओंसे कहा कि–यह बृहस्पति तुम्हारा गुरु होगा, उस बातको देवताओंने उस समय स्वीकार करलिया ॥ २० ॥ अब मैं तुम से अग्निकी कथाके प्रसंगमें ब्राह्मण नामक ग्रंथोंमें विविध कर्मोंद्वारा प्रसिद्ध

कर्मभिर्बहुभिः ख्यातान्नानार्थान् ब्राह्मणेष्विह ॥ २१ ॥ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वण्यांगिरसे सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ ब्रह्मणो यस्तृतीयस्तु पुत्रः कुरुकुलोद्वह । तस्याभवच्छुभा भार्या प्रजास्तस्याश्च मे शृणु ॥ १ ॥ बृहत्कीर्त्तिर्बृहज्ज्योतिर्बृहद्ब्रह्मा बृहन्मनाः बृहन्मन्त्रो बृहद्भासस्तथा राजन् बृहस्पतिः ॥ २ ॥ प्रजासु तासु सर्वासु रूपेणाप्रतिमाभवत् । देवी भानुमती नाम प्रथमाङ्गिरसः सुता ॥ ३ ॥ भूतानामेव सर्वेषां यस्यां रागस्तदाभवत् । रागाद्रागेति यामाहुर्द्वितीयाङ्गिरसः सुता ॥ ४ ॥ यां कपर्दिसुतामाहुर्दृश्यादृश्येति देहिनः । तनुत्वात् सा सिनीवाली तृतीयाङ्गिरसः सुता ॥ ५ ॥ पश्यत्यर्चिष्मती भाभिर्हविर्भिश्च हवि-

---

हुए लोकमें नानाप्रकारके विषयोंमें उपयोगी महाकान्तिवान् अनेक प्रकारके अग्नियोंका वर्णन करूंगा ॥ २१ ॥ दोसौ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१७ ॥

मार्कण्डेय बोले कि–हे कुरुकुलोद्वह राजन्! ब्रह्माके तीसरे पुत्र अंगिराकी शुभा नामक भार्या थी उससे उत्पन्न हुई संतानोंके नाम मैं तुमसे कहता हूं तुम सुनो ॥ १ ॥ हे राजन्! अंगिराके बृहस्पति नामक पुत्र था, उसकी कान्ति शरीरका तेज, वेदाध्ययन, मन, मंत्रणा और मानसिक प्रतिभा विपुल थी इसकारण उसका बृहस्पति नाम सार्थक था। अंगिराकी कन्याओंमें पहिली कन्या भानुमती थी उस का रूप तथा सौंदर्य सब कन्याओंसे अधिक था ॥ २-३ ॥ अंगिराकी दूसरी पुत्रीका नाम रागा था क्योंकि -सब प्राणियोंका उसके ऊपर राग (प्रेम) था इससे उ का नाम रागा पड़ा था ॥ ४ ॥ अंगिराकी तीसरी पुत्रीकानाम सिनीवाली था वह शंकरके मस्तकमें रहनेवाली चन्द्रमाकी कलाकी समान अतिकृश शरीरवाली होनेसे और वह कभी दीखती थी और कभी न दीखती थी इससे उसे लोग सिनीवाली कहते थे चौथी अर्चिष्मती नामकी पुत्री थी

ष्मती । षष्ठीमंगिरसः कन्यां पुण्यामाहुर्महिष्मतीम् ॥ ६ ॥ महामखेष्वाङ्गिरसी दीप्तिमत्सु महामते । महामतीति विख्याता सप्तमी कथ्यते सुता ॥ ७ ॥ यान्तु दृष्ट्वा भगवतीं जनः कुहुकुहायते । एकानंशेति तामाहुः कुहूमङ्गिरसः सुताम् ॥ ८ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वण्याङ्गिरसोपाख्यान अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

मार्कण्डेय उवाच । वृहस्पतेश्चान्द्रमसी भार्य्याभूद्या यशस्विनी । अग्नीन् साजनयत् पुण्यान् षडेकाञ्चापि पुत्रिकाम् ॥१॥ आहुतिष्वेव यस्याग्नेर्हविषाज्यं विधीयते । सोऽग्निर्वृहस्पतेः पुत्रः शंयुर्नाम

मनुष्य उसकी कान्तिसे रातमें भी पदार्थोंको देख सकते हैं इससे उसका नाम अर्चिष्मती (पूर्ण चन्द्रवाली रात्रि) पडा था। पांचवीं हविष्मती नामकी कन्या थी जब वह उत्पन्न हुई तब हविसे देवताओंका पूजन किया गया था, अतःउसका नाम हविष्मती(पड़वासहित पूर्णिमा)पड़ा था छठी महिष्मती नामकी पवित्र कन्या थी उसके जन्मके समय चौदश पूनो मिली हुईं थीं इससे उसका नाम महिष्मती रक्खा गया था॥ ५-६ ॥ हे महाबुद्धिमान् राजन्! सातवीं महामती नामक प्रसिद्ध कन्या उत्पन्न हुई थी,उसके जन्मके समयमें सोम आदि महायज्ञ अत्यंत प्रदीप्त होरहे थे,इससे उसका नाम महामती पडा था ।७। और अंगिराके आठवीं कुहू नामकी कन्या हुई थी, इस पवित्र कन्याको देखकर यह कन्या पवित्र तथा अंश शून्य है ऐसा कहकर लोग कुहू२ शब्द करने लगे थे इसकारण उसका नाम कुहू पडा था ॥ ८ ॥ दोसौ अठारहवाँ अध्याय समाप्त॥ २१८ ॥ * ॥

मार्कण्डेय कहते हैं कि–हे युधिष्ठिर! वृहस्पतिकी महायशस्विनी, चान्द्रमसी (तारा) नामका स्त्री थी उसने छः पवित्र अग्नि पुत्रोंको और एक पवित्र कन्याको उत्पन्न किया था ॥१॥ उनमें पहिला पुत्र वृहस्पतिका महाव्रतधारी शंयु है उस शंयु नामक

महाव्रतः ॥ २ ॥ चातुर्मासस्येषु यस्येष्टयामश्वमेधेऽग्रजः पशुः । दीप्तो ज्वालैरनेकाभैरग्निरेकोऽथ वीर्यवान् ॥ ३ ॥ शंयोरप्रतिमा भार्य्या सत्या सत्याथ धर्मजा । अग्निस्तस्य सुतो दीप्तस्तिस्रः कन्याश्च सुव्रताः ॥ ४ ॥ प्रथमेनाज्यभागेन पूज्यते योऽग्निरध्वरे । अग्निस्तस्य भरद्वाजः प्रथमः पुत्र उच्यते ॥ ५ ॥ पौर्णमासेषु सर्वेषु हविषाज्यं स्रुवोद्यतम् । भरतो नामतः सोऽग्निर्द्वितीयः शंयुतः सुतः ॥ ६ ॥ तिस्रः कन्याभवन्त्यन्या यासां स भरतः पतिः । भरतस्तु सुतस्तस्य भरत्येका च पुत्रिका ॥ ७ ॥ भरतो भरतस्याग्नेः पावकस्तु प्रजापतेः । महानत्यर्थमहितस्तथा भरतसत्तम ॥ ८ ॥ भरद्वाजस्य भार्या तु वीरा वीरस्य पिण्डदा । प्राहुराज्येन तस्येज्यां

अग्निको दर्श तथा पूर्णमास आदि यज्ञोंमें प्रथम हविसे आहुति दीजाती है ॥ ॥२॥ तथा चातुर्मास्य और अश्वमेध यज्ञमें उसकी इष्टि करते समय पशुका प्रथम अभिमंत्रण होता हैऔर वह विविध तेजस्वी ज्वालाओंसे प्रकाशवान् तथा वीर्यवान् है॥ ३ ॥उस शंयु की स्त्रीका नाम सत्या है वह धर्मराजकी पुत्री है, वह सत्यवादिनी तथा अनुपम रूपवती है,शंयुके सत्यासे अत्यन्ततेजस्वी भरद्वाज नामक प्रथम पुत्र और सदाचारवती तीन कन्याएं उत्पन्न हुई थीं, पौर्णमास आदि यज्ञमें भरद्वाज नामक अग्निको पहिले घृतके भागसे तृप्त किया जाता है ॥ ४–५ ॥ शंयुके दूसरे पुत्रका नाम भरत है,दर्श पूर्णमास आदि सब यज्ञोंमें स्रुवेसे जिस अग्निके ऊपर आहुति दी जाती है उसका नाम भरत है । ६ । शंयु के और तीन कन्याएं थीं जिनका पति ऊर्ज भरत था, उस ऊर्ज भरतके भरतनामक एक पुत्र और भरती नामका एक कन्या उत्पन्न हुई ७ भरण पोपण करनेवाले उस भरत अग्निके पावक नामक पुत्र था, हे भरतवंशश्रेष्ठ ! अत्यन्त पूजनीय होनेसे उसका दसरा नाम महान् भी था ८ शंयुके वड़े पुत्र भरद्वाजकी स्त्री का नाम वीरा

सोमस्येव द्विजाः शनैः ॥ ९ ॥ हविषा यो द्वितीयेन सोमेन सह युज्यते। रथप्रभू रथाध्वानः कुम्भरेताः स उच्यते ॥१०॥ सरय्वां जनयत् सिद्धिं भानुं भाभिः समावृणोत् । आग्नेयमानयन्नित्य-माह्वानेष्वेप सूयते ॥ ११ ॥ यस्तु न च्यवते नित्यं यशसा वर्चसा श्रिया । अग्निर्निश्च्यवनो नाम पृथिवीं स्तौति केवलम् ॥ १२ ॥ विपाप्मा कलुषैर्मुक्तो विशुद्धश्चार्चिषा ज्वलन् । विपापोऽग्निः सुत-स्तस्य सत्यः समयधर्मकृत् ॥ १३ ॥ अक्रोशतां हि भूतानां यः करोति हि निष्कृतिम् । अग्निः स निष्कृतिर्नाम शोभयत्यभिसे-

---

था उसने वीर नामके पुत्रको उत्पन्न किया था। ब्राह्मण कहते हैं कि इस वीर नामक अग्निकी सोमकी समान कोई भी न सुने तिस प्रकार मन ही मनमें घृतकी आहुतिसे पूजा करनी चाहिये ९ वह अग्नि घीकी दूसरी आहुतिके समय सोमके साथ मिलजाता है; तब उसे रथप्रभु, रथध्वान और कुंभरेता कहते हैं। १० । रथप्रभु आदि नामक वीर अग्निने सरयू नामकी स्त्रीके विषें सिद्धि नामक पुत्रको उत्पन्न किया था, जिसने अपनी किरणोंसे सूर्यको ढक दिया था,और अग्निदेवतावाले यज्ञका बड़ा सत्कार किया था, इससे अग्निको संबोधन करनेके मंत्रोंमें नित्य उस अग्निको भी निमंत्रण दिया जाता है ॥ ११ ॥ बृहस्पति के दूसरे पुत्रका नाम निश्चयवन अग्नि था वह अग्नि यश, तेज और लक्ष्मीसे कभीभी विलग नहीं होता है, इससे उस अग्निका नाम निश्चयवन है यह अग्नि केवल पृथ्वीकी ही स्तुति करता है ॥ १२ ॥ निश्चयवनके पुत्रका नाम सत्य है,वह सत्यनामक अग्नि पापशून्य, निर्मल,विशुद्ध और दोपरहित होकर अपनी शिखाके द्वारा नित्य प्रज्वलित हुआ करता है, और सामयिक धर्मको कराता है ॥१३॥ उस अग्निका दूसरा नाम निष्कृति भी है,क्योंकि–वह इस संसार में रोते झींकतेहुए प्राणियोंकी पीड़ाको नष्ट करता है, इस अग्नि कीयदि सद्भावसे उपासना कीजाय तो वह बाग बगीचे और घरकी

वितः ॥ १४ ॥ अनुकूजन्ति येनेह वेदनार्त्ताः स्वयं जनाः । तस्य पुत्रः स्वनो नाम पावकः सरुजस्करः ॥ १५ ॥ यस्तु विश्वस्य जगतो बुद्धिमाक्रम्य तिष्ठति । तं प्राहुरध्यात्मविदो विश्वजिन्नाम पावकम् ॥ १६ ॥ अन्तराग्निः स्मृतो यस्तु भुक्तं पचति देहिनाम् । स यज्ञे विश्वभुङ् नाम सर्वलोकेषु भारत ॥ १७ ॥ ब्रह्मचारी यतात्मा च सततं विपुलव्रतः । ब्राह्मणाः पूजयन्त्येनं पाकयज्ञेषु पावकम् ॥ १८ ॥ पवित्रा गोमती नाम नदी यस्याभवत् प्रिया । तस्मिन् कर्माणि सर्वाणि क्रियन्ते धर्मकर्तृभिः ॥ १९ ॥ वडवाग्निः पिबत्यम्भो योऽसौ परमदारुणः । ऊर्ध्वभागूर्ध्वभाङ्नाम कविः प्राणाश्रितस्तु यः ॥ २० ॥ उदग्द्वारं हविर्यस्य गृहे नित्यं प्रदी-

शोभा को बढ़ाता है ॥१४॥ इस सत्यके पुत्रका नाम स्वन है, यह अग्नि पीड़ा देनावाला है, यह अग्नि इस लोकमें रहनेवालोंको पीड़ा देता है, और प्राणी उसकी पीड़ासे आतुर होकर दुःखी होते हैं ॥ १५ ॥ बृहस्पतिका तीसरा पुत्र विश्वजित् है, वह अग्नि सम्पूर्ण विश्वकी बुद्धिमें निवास करता है, इसकारण अध्यात्म-वेत्ता उसे विश्वजित् कहते हैं ॥ १६ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! जो अन्तराग्नि कहलाता है और जो अग्नि खायेहुए अन्नको पचाता है, वह बृहस्पतिका चौथा पुत्र है, और तीनों लोकोंमें उसका नाम विश्वभुक् प्रसिद्ध है, यह अग्नि नित्य ब्रह्मचर्य पालता है, मनको नियममें रखता है, और महाव्रतधारी है, ब्राह्मण सब पाकयज्ञोंमें भक्तिपूर्वक उसकी पूजा करते हैं ॥ १७-१८ ॥ उस अग्निकी गोमती नामकी नदी प्रियपत्नी है, धर्म कर्म करनेवाले लोग उस नदीके तीर पर सब धर्म करते हैं ॥ १९ ॥ वड़वा नामक जो महाप्रचण्ड अग्नि समुद्रके जलका पान करता है वह प्राणवायुका आश्रय लेनेवाला ब्रह्मिष्ठ अग्नि, बृहस्पतिका पाँचवाँ पुत्र है, उस की गति ऊपरको होनेसे वह ऊर्ध्वभाक् कहलाता है, ॥ २० ॥

यते। ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमः स्मृतः ॥ २१ ॥ यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति पावकः। क्रुद्धस्य तु रसो जज्ञे मन्येतां चाथ पुत्रिकाम् ॥ २२ ॥ स्वाहेति दारुणा क्रूरा सर्वभूतेषु तिष्ठति। त्रिदिवे यस्य सदृशो नास्ति रूपेण कश्चन। अतुल्यत्वात् कृतो देवैर्नाम्ना कामस्तु पावकः ॥ २३ ॥ संहर्षाद्धारयन् क्रोधं धन्वी स्रग्वी रथे स्थितः। समये नाशयेच्छत्रूनमोघो नाम पावकः २४

बृहस्पतिके छठे पुत्रका नाम स्विष्टकृत् है, घरमें नित्य मंगलकी कामनासे उस अग्निके लिये उदकद्वार वलि दियाजाता है और उसके द्वारा घी आदि हव्यके पदार्थ भलीप्रकार होमे जाते हैं, इससे उसे परमस्विष्टकृत् भी कहते हैं ॥ २१ ॥ सब प्राणियोंके शांत होने पर जो अग्नि क्रोधरूपको धारण करता है, उस क्रोधमय बृहस्पतिके तेजमेंसे मन्यन्ती नामकी एक पुत्री उत्पन्न हुई है, वह दारुण और क्रूर स्वभाववाली अग्निकी कन्या स्वाहा नामको धारण करके सब प्राणियोंके विषें निवास करती है, उस स्वाहा नामकी कन्याके सत्व, रज और तमोगुणके योगसे तीन पुत्र उत्पन्न हुए हैं, उनमें राजसी, स्वाहाके कामपावक नामक पुत्र हुआ है, उस पुत्रकी समान रूपवान् स्वर्गमें भी कोई नहीं है, उसके ऐसे अनुपम रूपके कारण ही देवताओंने उसका कामपावक नाम धरा है ॥ २२—२३ ॥ स्वाहा का तमोगुणी पुत्र अमोघ नामक अग्नि है, वह विजयके उत्साहसे क्रोध करता है, धनुष तथा पुष्पमालाको धारण करता है और रथके ऊपर बैठकर शत्रुओंका नाश करता है ॥ २४ ॥ हे महाभाग्यवान्! सत्त्वगुणी, स्वाहाका, उक्थ (१)

---

(१) "ऊर्ध्वं नयतीति उक्थः" जो ऊपर स्वर्गमें लेजाय वह उक्थ कहलाता है। अथवा 'उत्तिष्ठति कर्मफलं यस्मात्तत् उक्थम्' जिससे कर्म का फल मिले वह उक्थ कहलाता है। जो कर्म शरीरसे उत्पन्न हो वह शरीरोक्थ कहलाता है। ऐसे प्राणोक्थ और परमात्मोक्थ ये उक्थके तीन भेद हैं।

उक्थो नाम महाभाग त्रिभिरुक्थैरभिष्टुतः ।. महाताचन्त्रजनयत् समाश्वासं हि यं विदुः ॥ २५ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वण्यांगिरसोपाख्यान एकोनत्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ काश्यपो ह्यथ वाशिष्ठः प्राणश्च प्राणपुत्रकः। अग्निरांगिरसश्चैव च्यवनस्त्रिपुवर्चकः ॥ १ ॥ अचरत्स तपस्तीव्रं पुत्रार्थे बहुवार्षिकम् । पुत्रं लभेयं धर्मिष्ठं यशसा ब्रह्मणा समम्॥ २॥ महाव्याहृतिभिर्ध्यातः पञ्चभिस्तैस्तदा त्वथ । जज्ञे तेजो महार्चिष्मान् पञ्चवर्णः प्रभावनः ॥ ३ ॥ समिद्धोऽग्निः शिरस्तस्य बाहू सूर्यनिभौ तथा । त्वङ्नेत्रे च सुवर्णाभे कृष्णे जङ्घे च भारत ॥४॥ पञ्चवर्णः स तपसा कृतस्तैः पंचभिर्जनैः । पांञ्चजन्यः श्रुतो देवः

नामक पुत्र है,उसको सदा तीन उक्थ स्तुति किया करते हैं और वह उक्थ नामक अग्नि,परा नामकी तुरीय ब्रह्मकलाको उत्पन्न करता है और वेदाचार्य उस वाणी पर पूर्ण श्रद्धा रखकर उसको मोक्षका कारण मानते हैं ॥ २५ ॥ दोसौ उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१९ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

मार्कण्डेय कहते हैं कि—उस उक्थ के मनमें विचार हुआ कि—मैं ब्रह्माकी समान यशस्वी, धर्मात्मा एक पुत्रको उत्पन्न करूं, इस कारण उसने बहुत वर्षोंतक तीव्र तप किया उस समय काश्यप, वासिष्ठ, प्राणपुत्र प्राण, अंगिराका पुत्र च्यवन और सुवर्चक ये पाँच अग्नि, महाव्याहृतमंत्रके द्वारा ध्यान करने लगे तब महाज्वालाके साथ पचरंगी जगत्की उत्पत्ति करनेमें समर्थ एक तेज उत्पन्न हुआ, ॥ १–३ ॥ हे राजन् ! उसका मस्तक प्रज्वलित अग्निकी समान तेजस्वी था, दोनों भुजाएं सूर्य की समान कान्तिमान् थीं त्वचा और नेत्र सुवर्णकी समान कान्तिमान् थे और दोनों जंघाएं काले रंगकी थीं ॥ ४ ॥ पूर्वोक्त पाँच जनोंने उसको पचरंगी बनाया था, इस कारण वह देव अथवा

पंचवंशकरस्तु सः ॥ ५ ॥ दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महातपाः जनयत् पावकं घोरं पितॄणां स प्रजाः सृजन् ॥ ६ ॥ बृहद्रथन्तरं मूर्ध्नो वक्त्राद्वातरसाहरौ । शिवं नाभ्यां बलादिन्द्रं वाय्वग्नी प्राणतोऽसृजत् ॥ ७ ॥ बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह एतान् सृष्ट्वा ततः पंच पितॄणामसृजत् सुतान् ॥ ८ ॥ बृहद्रथस्य प्रणिधिः कश्यपस्य महत्तरः । भानुरङ्गिरसो धीरः पुत्रो वर्चस्य सौभरः ॥ ९ ॥ प्राणस्य चानुदात्तस्तु व्याख्याताः पंचविंशतिः देवान् यज्ञमुपश्चान्यान् सृजत् पंचदशोत्तरान् ॥ १० ॥ सुभीममति-भीमञ्च भीमं भीमबलाबलम् । एतान् यज्ञमुषः पञ्च देवानां ह्यसृज-

पांचजन्यके नामसे जगत्में प्रसिद्ध हुआ था और वह पांचोंके वंशोंको चलानेवाला था । ५ ॥ उसने दश सहस्र वर्ष तक महा-तप करके पितरोंके भयंकर अग्नि अर्थात् दक्षिणाग्निको उत्पन्न किया था और प्रजाको भी रचा था॥६॥उसने मस्तकमेंसे बृहत्को और मुखमेंसे रथन्तरको उत्पन्न किया था,वे दोनों दिन और रात्रि के देवता हैं और उन दिन रातोंके द्वारा मनुष्योंकी आयुको हरण किया करते हैं तथा उसने नाभिमेंसे शिवको बलमेंसे इन्द्रको और प्राणमेंसे वायु तथा अग्निको रचा था॥७॥और भुजाओंमेंसे उदात्त तथा अनुदात्त नामक दो स्वरात्मक मंत्रोंको, देवात्मक मनको पांच ज्ञानेन्द्रियोंको और महाभूतोंको रचा है, इन सबको रचनेके पीछे उसने पितरोंके पांच पुत्रोंको उत्पन्न किया था ॥ ८ ॥ हे धीर ! उन पांच पितरोंके पुत्रोंमें वसिष्ठ के बृहद्रथका पुत्र प्रणिधि काश्यपका पुत्र बृहत्तर, च्यवनका पुत्र भानु, सुवर्चकका पुत्र सौरभ और प्राणका पुत्र अनुदात्त था (इस प्रकार उत्पन्नहुए) इन पच्चीस पुत्रोंके नाम तुमसे कहे।इसके उपरान्त तप नामक अग्निने यज्ञमें भंग करनेवाले अन्य पंद्रह पाश्चात्य देवताओंकी अर्थात् असुरोंकी सृष्टिकी थी ॥ ९-१० ॥ सुभीम, अतिभीम, भीम, भीमबल, अबल, सुमित्र, मित्र, मित्रवान् मित्रज्ञ, मित्र-

त्तपः ॥ ११ ॥ सुमित्रं मित्रवन्तश्च मित्रज्ञं मित्रवर्द्धनम् । मित्रधर्माणमित्येतान् देवानभ्यसृजत्तपः ॥ १२ ॥ सुरप्रवीरं वीरञ्च सुरेशं च सुवर्चसम् । सुराणामपि हन्तारं पञ्चैतानसृजत्तपः ॥ १३ ॥ त्रिविधं संस्थिता ह्येते पञ्च पञ्च पृथक् पृथक् । मुष्णन्त्यत्र स्थिता ह्येते स्वर्गतो यज्ञयाजिनः ॥ १४ ॥ तेषामिष्टं हरन्त्येते निघ्नन्ति च महद्धविः । स्पर्धया हव्यवाहानां विघ्नन्त्येते हरन्ति च ॥ १५ ॥ बहिर्वेद्यां तदा दानं कुशलैः संप्रवर्त्तितम् । तदेते नोपसर्पन्ति यत्र चाग्निः स्थितो भवेत् ॥ १६ ॥ चिताग्नेरुद्वहन्नाज्यं पक्षाभ्यां तत् प्रवर्तिते । मन्त्रैः प्रशमिता ह्येते नेष्टं मुष्णन्ति यज्ञियम् ॥ १७ ॥ वृहदुक्थतपस्यैव पुत्रो भूमिमुपाश्रितः । अग्निहोत्रे हूयमाने पृथि-

वर्धन, मित्रधर्मासुर, प्रवीर, वीर, सुरेश, सुरवर्चा और सुर इन पन्द्रह देवताओंको उसने तपको तीन भागमें बांटकर उत्पन्न किया था, इन पन्द्रह देवताओंमें पांच २ के पृथक् २ तीन २ मण्डल स्थापित कियेहुए हैं और ये पन्द्रह असुर, पृथ्वीमें रहते हुए स्वर्गमें यज्ञ करनेवालोंके यज्ञको भंग किया करते हैं ११-१४ ये देवताओंके यज्ञोंका हरण करते हैं और उनके महाबलिदानों को भी नष्ट करते हैं और ये अग्निके साथ स्पर्धाके कारण यज्ञ का नाश करते हैं और बलि हरकर लेजाते हैं ॥ १५ ॥ इससे यज्ञविद्यामें कुशल पुरुष वेदीके बाहरके भागमें इनको घृतका भाग देते हैं और इससे ये बाहरसे ही अपना भाग ग्रहण करते हैं परंतु वेदीके भीतर जहाँ अग्नि होती है तहाँ पर ये नहीं आते हैं॥१६॥ अग्निकी पूजा करनेवाले यजमानके पास जो बलिदान होता है, उस बलिदानको ये दोनों पक्षोंसे लेजानेके लिये आते हैं परन्तु रक्षोघ्न नामक मंत्र पढ़कर उन दैत्योंको शान्त कर दियाजाय तो ये यज्ञके बलिका हरण नहीं करसकते हैं ॥१७॥ तपका एक वृहदुक्थ नामक पुत्र भूमिका आश्रय करके रहता है, अग्निहोत्रके होमने का समय होता तब उसकी पृथ्वी पर पूजा करते हैं, तपका दूसरा

र्वा सद्भिरिज्यते ॥ १८ ॥ रथन्तरश्च तपसः पुत्रोऽग्निः परिपठ्यते । मित्रविन्दाय वै तस्मै हविरध्वर्यवो विदुः ॥ १९ ॥ मुमुदे परमप्रीतः सह पुत्रैर्महायशाः ॥ २० ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वण्यांगिरसोपाख्याने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ गुरुभिर्नियमैर्जातो भरतो नाम पावकः । अग्निः पुष्टिमतिर्नाम तुष्टः पुष्टिं प्रयच्छति । भरत्येष प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते ॥ १ ॥ अग्निर्यश्च शिवो नाम शक्तिपूजापरश्च सः । दुःखार्त्तानां च सर्वेषां शिवकृत् सततं शिवः ॥ २ ॥ तपसस्तु फलं दृष्ट्वा सम्प्रवृत्तं तपो महत् । उद्धर्त्तुकामो मतिमान्

पुत्र जो रथन्तर नामवाला है उसके सम्बंधमें अध्वर्यु इसप्रकार कहते हैं कि-उसको उद्देश्य मानकर जो बलि दिया जाता है वह मित्रविन्दु अर्थात् महाविराट्को उद्देश्य कर दिया जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि रथन्तर अग्नि ही महाविराट् है और बृहस्पतिसे श्रेष्ठ है । महायशस्वी तप इसप्रकार पुत्रों द्वारा परमप्रसन्न हुआ था ॥ १८-२० ॥ दोसौ वीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२० ॥ ॥

मार्कण्डेय कहते हैं कि-हे राजन् युधिष्ठिर ! भरत नामक अग्नि जो शंयुका पौत्र और ऊर्जका पुत्र था, वह बड़े २ नियमोंसे मन को वशमें रखने वाला है और उसका दूसरा नाम पुष्टिमति है, वह अग्नि यदि कृपा करता है तो मनुष्योंको पुष्टि देता है तथा सब प्रजा का भरण पोषण करता है इससे उसको भरत कहते हैं ॥ १ ॥ तप का शिव नामक तीसरा पुत्र है, वह शक्तिकी पूजा करनेमें तत्पर रहता है, और वह शिव अग्नि दुःखसे पीड़ा पातेहुए सब प्राणियोंका सदा कल्याण करता है ॥ २ ॥ तपको महातपका महाफल मिला है यह देख कर उत्तराधिकारीरूपसे उस फलको पानेकी इच्छासे इन्द्र, उसके यहां पुत्ररूपसे उत्पन्न हुआ था और उसने

पुत्रो जज्ञे पुरन्दरः ॥ ३ ॥ ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निभूतस्य लक्ष्यते । अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ॥ ४ ॥ शम्भुमग्निमथ प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः । आवसथ्यं द्विजाः प्राहुर्दीप्तमग्निं महाप्रभम् ॥ ५ ॥ ऊर्जस्करान् हव्यवाहान् सुवर्णसदृशप्रभान् । ततस्तपो ह्यजनयत् पञ्च यज्ञसुतानिह॥ ६ ॥ प्रशान्तेऽग्निर्महाभाग परिश्रान्तो गवाम्पतिः । असुरान् जनयन् घोरान्मर्त्यांश्चैव पृथग्विधान् ॥ ७ ॥ तपसश्च मनुं पुत्रं भानुश्चाप्यङ्गिराःसृजत् बृहद्भानुन्तु तं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ ८ ॥ भानोर्भार्या सुप्रजा तु बृहद्भासा तु सूर्यजा । असृजेतान्तु षट् पुत्रान् शृणु

अपने पिताका दायभाग ग्रहण किया था ॥ ३ ॥ और तपके ऊष्मा नामक दूसरा पुत्र था, जो प्राणियोंमें ऊष्मारूपसे प्रतीत होता है, और मनु नामका एक अग्नि भी उत्पन्न हुआ था उस ने प्रजापतिका पद ग्रहण किया था ॥ ४ ॥ वेदके पारंगत ब्राह्मण तदनन्तर शंभु नामक अग्निके जन्म होनेकी बात कहते हैं और तिसके पीछे आवसथ्य अग्निका जन्म हुआ है, ब्राह्मण उसका वर्णन करते हुए उसको महाकांतिवान् और प्रदीप्त अग्नि कहते हैं ॥ ५ ॥ पहिले कहीहुई प्रजाकी सृष्टि करनेके अनन्तर तपने सुवर्णकी समान कांतिवान् ऊर्जस्कर नामक पांच अग्नियोंको उत्पन्न किया, पृथ्वीमें ये पाँच अग्नियें यज्ञमें सोमके भागी माने जाते हैं ॥६॥ अस्तके समय महाभाग सूर्य प्रशान्त नामक अग्नि होते हैं, उनको भी तपने उत्पन्न किया है, भयंकर असुर तथा नाना प्रकारके मनुष्योंको भी उत्पन्न किया है ॥ ७ ॥ तपके पुत्र प्रजापति भानुको अंगिराने उत्पन्न किया है, वेदपारंगत ब्राह्मण उस भानुका बृहद्भानु नामसे भी वर्णन करते हैं ॥ ८ ॥ भानुकी स्त्रीका नाम सुप्रजा था और सूर्यकी कन्याका नाम बृहद्भासा था उन दोनोंने छः पुत्रोंको उत्पन्न कियाथा, उनकी प्रजाका वर्णन

तासां प्रजाविधिम् ॥ ९ ॥ दुर्बलानान्तु भूतानामसून् यः सम्प्रयच्छति । तमग्निं बलदं प्राहुः प्रथमं भानुतः सुतम् ॥ १० ॥ यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति दारुणः । अग्निः स मन्युमान्नाम द्वितीयो भानुतः सुतः ॥ ११ ॥ दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते । विष्णुर्नामेह योऽग्निस्तु धृतिमान् नाम सोऽगिराः॥१२॥ इन्द्रेण सहितं यस्य हविराग्रयणं स्मृतम् । अग्निराग्रयणो नाम भानोरेवान्वयस्तु सः ॥ १३ ॥ चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां यो निरग्रहः । चतुर्भिः सहितः पुत्रैर्भानोरेवान्वयस्तु सः ॥ १४ ॥ निशा त्वजनयत् कन्यामग्नीषोमावुभौ तथा । मनोरेवाभवद्भार्या सुषुवे पञ्च पावकान् ॥ १५ ॥ पूज्यते हविषाग्रयेण चातुर्मास्येषु पावकः पर्जन्यसहितः श्रीमानग्निर्वैश्वानरस्तु सः ॥ १६ ॥ अस्य लो-

---

सुनो ॥ ९ ॥ भानुके प्रथम पुत्रका नाम बलद (बल देनेवाला) था यह अग्नि दुर्बल प्राणियोंको प्राणका दाता है॥१०॥भानुके दूसरे पुत्रका नाम मन्युमान् है, यह अग्निदेव सब प्रजाके शान्त होनेपर दारुण क्रोधको धारण करता है ॥ ११ ॥ भानुके तीसरे पुत्रका नाम धृतिमान् अथवा अंगिरा है, दर्श और पौर्णमास यज्ञमें जिस को बलिदान देना कहा है वह ही इस लोकमें विष्णु नामसे प्रसिद्ध है ॥ १२ ॥ भानुके चौथे पुत्रका नाम आग्रयण है, इसकी इन्द्रके साथ आग्रयण नाम नामक बलि देनेकी बात शास्त्रमें कही है ॥१३॥ भानुका पाँचवाँ पुत्र विश्वदेव है,वह चातुर्मास्य नामक यज्ञ में नित्य विहित आग्नेय आदि आठ प्रकारके बलिका उद्भवस्थान है और उसका दूसरा नाम अग्रह है, भानुके छठे पुत्रका नाम स्तुति है ॥ १४ ॥ इस भानु नामक मनुके निशा नामकी दूसरी स्त्री थीं उस स्त्रीने एक कन्याको अग्निषोमको तथा अन्य पांच अग्नियोंको इसप्रकार आठ सन्तानोंको उत्पन्न किया था ॥ १५ ॥ जिस श्रीमान् पावकदेवका चातुर्मास्य नामके यज्ञमें प्रथम हविके द्वारा पर्जन्यके साथ पूजन होता है उसको वैश्वानर नामक अग्नि जानो मनुके अन्तिम पाँच पुत्रोंमें यह प्रथम पुत्र हैं ॥ १६ ॥ जो समर्थ

कस्य सर्वस्य यः प्रभुः परिपच्यते। सोऽग्निर्विश्वपतिर्नाम द्वितीयो वै मनोः सुतः ॥ १७ ॥ ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमस्तु सः। कन्या सा रोहिणी नाम हिरण्यकशिपोः सुता ॥ १८ ॥ कर्मणासौ बभौ भार्या स वह्निः स प्रजापतिः। प्राणानाश्रित्य यो देहं प्रवर्त्तयति देहिनाम्। तस्य सन्निहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ॥ १९ ॥ शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्त्ति हुताशनम्। अकल्मषः कल्मषाणां कर्त्ता क्रोधाश्रितस्तु सः ॥ २० ॥ कपिलं परमर्षिञ्च यम्प्राहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः ॥ २१ ॥ अग्रं यच्छन्ति भूतानां येन भूतानि नित्यदा।

अग्नि इन सब लोगोंके शरीरमें रहकर अन्नको पचाता है, वह विश्वपति नामक अग्नि मनुका दूसरा पुत्र है ॥ १७ ॥ जिसको आज्य (वलि) देनेसे वह आज्यस्विष्टकृत् अर्थात् भलेप्रकार अर्पण किया हुआ कहाता है, वह श्रेष्ठ स्विष्टकृत् नामका अग्नि कहाता है वह अपने कर्मके दोपके कारण मनुकी रोहिणी नामकी कन्या होकर हिरण्यकशिपुकी स्त्री हुई थी परन्तु वास्तवमें इस पुत्रीको पांच कुमारोंसे भी अधिक जानो और वह प्रजापति नामक एक अग्नि था, जो प्राणियोंके प्राणका आश्रय करके उनके देहको चेष्टावान् करता है और शब्दके रूप लेनेमें जो मनुष्योंको शक्तिमान् करता है वह सन्निहित नामका मनुका तीसरा पुत्रहै, तथा जो आराधन करनेसे अर्चिरादि मार्गके द्वारा (ज्ञानद्वारा) मोक्षफल तथा धूम्रमार्गके द्वारा (कर्मद्वारा) स्वर्गफल देने वाला है तथा होमेहुए द्रव्यका भक्षण करनेवाले अग्निका जो पोपण करता है, जो निर्मल ज्ञानवान् है परन्तु काम्य कर्मोंके फलका देनेवाला और क्रोधी है, यति जिसको सदा परमर्पि कपिल कहते हैं, जो सांख्य तथा योगविद्याका आचार्य है, वह कपिल नामक अग्नि मनुका चौथा पुत्र है।१८। ॥ २१ ॥ वैश्वदेव करनेके पीछे मनुष्ययज्ञके लिये जो हुतद्रव्य

कर्मस्विह विचित्रेषु सोऽग्रणीर्वन्हिरुच्यते॥ २२ ॥ इमानन्यान् समसृजत् पावकान् प्रथितान् भुवि । अग्निहोत्रस्य दुष्टस्य प्रायश्चित्तार्थमुल्बणान् ॥ २३ ॥ संस्पृशेयुर्यदान्योऽन्यं कथंचिद्वायुनाग्नयः । इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै शुचयेऽग्नये ॥ २४ ॥ दक्षिणाग्निर्यदा द्वाभ्यां संसृजेत तदा किल । इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै वीतयेऽग्नये ॥ २५ ॥ यद्यग्नयो हि स्पृशेयुर्निवेशस्थो दवाग्निना इष्टिरष्टाकपालेन कार्या तु शुचयेऽग्नये॥ २६ ॥ अग्निं रजस्वला वै स्त्री संस्पृशेदग्निहोत्रिकम् । इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वसुमतेऽग्नये ॥ २७ ॥ मृतः श्रूयेत यो जीवः परेयुः पशवो यदा । इष्टिरष्टाकपालेन कार्या सुरमतेऽग्नये ॥ २८ ॥ आर्त्तो न जुहूयादग्निं त्रि-

---

दियाजाता है, उसका नाम अग्र है, पृथ्वीमें अनेकों कर्म करते समय प्राणी जिस अग्निके द्वारा प्राणिमात्रको प्रथम बलि देते हैं, उस अग्निको अग्रणी कहते हैं, वह मनुका पाँचवाँ पुत्र है २२ ॥ अग्निहोत्रमें कुछ दोष होगया हो तो अग्निहोत्रके प्रायश्चित्तके लिये मनुने पृथ्वी पर अन्य भयंकर अनेकों प्रसिद्ध अग्नियोंको उत्पन्न किया है ॥ २३ ॥ जब अग्नियें वायुके कारण भीतर ही भीतर एक दूसरेमें छूजायं तब शुचि नामक अग्निके लिये अष्टाकपाल यज्ञद्वारा इष्टि करै ॥ २४ ॥ दक्षिणाग्नि जब दूसरे दो अग्नियोंसे छूजाय तो वीति अग्निके लिये अष्टाकपाल यज्ञसे इष्टि करै २५ घरके सब अग्नियोंसे यदि वनका अग्नि छूजाय तो शुचि नामक अग्निके लिये अष्टाकपाल यज्ञसे इष्टि करै ॥ २६ ॥ रजस्वला स्त्री यदि अग्निहोत्रकी अग्निसे छू जाय तो वसुमति नामक अग्निके लिये अष्टाकपालसे इष्टि करै ॥२७॥ जब किसीके मरनेका समाचार मिले अथवा घरमें कोई पशु मरजाय तब सुरभिमान् नामक अग्निके लिये अष्टाकपालसे इष्टि करै ॥ २८ ॥ यदि ब्राह्मण तीन दिन तक अग्निमें होम न करसकै तो उत्तराग्निके लिये अष्टाकपालसे

रात्रं यस्तु ब्राह्मणः। इष्टरष्टाकपालेन कार्या स्यादुत्तराग्नये २६ दर्शञ्च पौर्णमासञ्च यस्य तिष्ठे त् प्रतिष्ठितम् । इष्टिरष्टाकपालेन कार्या पथिकृतेऽग्नये ॥ ३० ॥ सूतिकाग्निर्यदा चाग्निं संस्पृशे दग्निहोत्रिकम्। इष्टिरष्टकपालेन कार्या चाग्निमतेऽग्नये ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वण्यांगिरसोपाख्यान एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ आपस्य मुदिता भार्य्या सहस्य परमा प्रिया। भूपतिर्भुवभर्त्ता च जनयत् पावकं परम् ॥ १ ॥ भूतानां चापि सर्वेषां यं प्राहुः पावकं पतिम्। आत्मा भुवनभर्त्तेति सान्वयेषु द्विजातिषु ॥ २ ॥ महताश्चैव भूतानां सर्वेषामिह यः पतिः। भगवान् स महातेजा नित्यं चरति पावकः ॥ ३ ॥ अग्निर्गृहपतिर्नाम

इष्टि करे॥ २८—२६ ॥ जिसने आमावास्य तथा पौर्णमास यज्ञ करनेका व्रत करलिया हो वह पथिकृत् नामक अग्निके लिये अष्टाकपालसे इष्टि करै ॥ ३० ॥और सोवडके अग्निसे जब अग्निहोत्र की अग्नि छूजाय तो अग्निमान् नामक अग्निके लिये अष्टाकपालसे इष्टि करै॥ ३१॥ दोसौ इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त

मार्कण्डेयजी ने कहा कि—हे युधिष्ठिर! पानीमें रहनेवाले सुप्रसिद्ध सह नामक अग्नि की परमप्रिय मुदिता नामकी स्त्री थी, भूर्लोक और भुवर्लोकके अधिपति सह नामक अग्निने इस मुदिता नामकी स्त्रीसे अद्भुत नामक पुत्रको उत्पन्न किया था, जोकि बहुत श्रेष्ठ था।१। उपदेशकी परम्परा वाले सब ब्राह्मण अग्नि को परमेश्वर समझकर जरायुज आदि सब प्राणियोंका आत्मा और पृथिवीका भर्त्ता कहते हैं वह महातेजस्वी भगवान्, आकाश आदि सब भूतोंका अधिपति है और नियम पूर्वक फिरा करता है २-३ जो अग्नि यज्ञोंमें गृहपति नामक अग्नि होकर नित्य पूजा जाताहै और सब लोकोंके अर्पण किये हुए बलिको

नित्यं यज्ञेषु पूज्यते। हुतं वहति यो हव्यमस्य लोकस्य पावकः ४ अपां गर्भो महाभागः सत्वभुग्यो महाद्भुतः। भूपतिर्भुवभर्त्ता च महतः पतिरुच्यते ॥ ५ ॥ दहन्मृतानि भूतानि तस्याग्निर्भरतोऽभवत्। अग्निष्टोमे च नियतः क्रतुश्रेष्ठो भरस्य तु ॥ ६ ॥ स वह्निः प्रथमो नित्यं देवैरन्विष्यते प्रभुः। आयान्तं नियतं दृष्ट्वा प्रविवेशार्णवं भयात् ॥ ७॥ देवास्तत्रापि गच्छन्ति मार्गमाणा यथादिशम्। दृष्ट्वा त्वग्निरथर्वाणं ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥ देवानां वह हव्यं त्वमहं वीर सुदुर्वलः। अथ त्वं गच्छ मध्वक्षं प्रियमेतत् कुरुष्व मे ॥ ६ ॥ प्रेष्य चाग्निरथर्वाणमन्यं देशं ततोऽगमत्। मत्स्यास्तस्य

ग्रहण करलेता है ॥ ४ ॥ वह महाभाग्यवान् तथा महापराक्रमी अद्भुत नामका अग्नि, जलके भीतर निवास करनेवाला है भूर्लोक और भुवर्लोकका स्वामीहै तथा सबसे बडा कहाता है॥५॥ उसका पुत्र भरत नामक अग्नि है, वह मरे हुए प्राणियोंको जलाता है, इस भरतके पुत्रका नाम क्रतु है और यह श्रेष्ठ आग अग्निष्टोमगें नियत नामका अग्नि माना जाता है ॥ ६ ॥ इन अग्नियोंमें प्रथम अग्नि सह जो महासमर्थ था, उसको देवता सदा खोजा करते थे वह अपने पौत्र नियतको आते हुए देखकर उससे स्पर्श होनेके भयसे समुद्रमें छिप गया था ॥ ७ ॥ उसको पाने के लिये देवता समुद्रमें भी घुसे और चारों दिशाओंमें उसको ढंढ़ने लगे परंतु उसका पता न लगा, वह अग्नि फिर बाहर निकल कर विचरने लगा, इतनेमें उसने तीव्र तप करनेवाले अथर्वांगिराको देखा, तब उस अग्निने अथर्वांगिरासे कहा कि– ॥ ८ ॥ हे वीर ! तुम देवताओंको दिये जाते हुए वलिको ग्रहण करो,मैं तो बहुत ही दुर्बला होगया हूं अब तुम पीली आंखोंवाले अग्निका रूप धारण करके मेरा इतना काम करो ॥ ६ ॥ इसप्रकार कह कर अथर्वाको वलि ग्रहण करनेके लिये भेजकर वह सह अग्नि तहांसे दूसरे स्थानको चलागया, परन्त तदनन्तर

समाचख्युः क्रुद्धस्तानग्निरब्रवीत् । भक्ष्या वै विविधैर्भावैर्भविष्यथ शरीरिणाम् ॥ १०॥ अथर्वाणं तथा चापि हव्यवाहोऽब्रवीद्वचः ११ अनुनीयमानो हि भृशं देववाक्याद्धि तेन सः । नैच्छद्वोढुं हविः सोढुं शरीरञ्चापि सोऽत्यजत् ॥ १२ ॥ स तच्छरीरं सन्त्यज्य प्रविवेश धरां तदा । भूमिं स्पृष्ट्वासृजद्धातून् पृथक् पृथगतीव हि ॥ १३ ॥ पूयात् सगन्धं तेजश्च अस्थिभ्यो देवदारु च । श्लेष्मणः स्फाटिकं तस्य पित्तान्मारकतं तथा ॥ १४ ॥ यकृत् कृष्णायसं तस्य त्रिभिरेवमभुः प्रजाः । नखास्तस्याभ्रपटलं शिराजालानि विद्रुमम् १५ शरीराद्विविधाश्चान्ये धातवोऽस्याभवन्नृप । एवं त्यक्त्वा

मत्स्योंने जलमें छुपे हुए उस अग्निका पता अथर्वा को दिया, इससे उस अग्निने क्रोधमें भरकर मत्स्योंसे कहा कि-"तुमने मेरा पता बतलाया है अतः मनुष्य अनेकों प्रकारसे तुम्हारा भक्षण करेंगे तदनन्तर अग्निने फिरभी अथर्वासे पहिले की समान कहा कि–तुम पीले नेत्रोंवाले अग्निका रूप धारण करके देवताओंको दियेजातेहुए बलिदानोंको ग्रहण करो और मेरा काम करो, अथर्वाने देवताओंके कहनेसे सह अग्निको बहुतेरा समझाया परन्तु उसको देवताओंका बलि ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं हुई तथा शरीर धारण करने की भी इच्छा नहीं हुई. इसकारण उसने अपना शरीर त्याग दिया ।११-१२। सह अग्नि उस समय अपना शरीर त्यागकर पृथ्वीमें समागया और पृथ्वीके भीतर घुसनेके अनन्तर उसने पृथक् २ नाना प्रकार की धातुएं उत्पन्न की हैं ॥ १३ ॥ उसके रूपसे गंध और तेज उत्पन्न हुआ, हड्डियोंमेंसे देवदारु, कफसे स्फटिकमणि, पित्तसे मरकतमणि और यकृत्से गजवेल उत्पन्न हुई, शरीरमेंसे काष्ठ, पाषाण और लोहा उत्पन्न हुआ, इन तीन पदार्थोंसे यह सब जगत् सुख भोगता है, उसके नखोंमेंसे मेघमण्डल उत्पन्न हुआ, और शरीरकी नाडियोंके समूहमेंसे मूंगे उत्पन्न हुए ॥१४-१५॥ और हे राजन्! उसके शरीरमें

शरीरञ्च परमे तपसि स्थितः॥१६॥भृग्वङ्गिरादिभिर्भूयस्तपसोत्थापितस्तदा। भृशं जज्वाल तेजस्वी तपसाप्यायितः शिखी१७ दृष्ट्वा ऋषिं भयाच्चापि प्रविवेश महार्णवम्। तस्मिन्नष्टे जगद्भीतमथर्वाणमथाश्रितम्। अर्चयामासुरेवैनमथर्वाणं सुरादयः ॥ १८ ॥ अथर्वा त्वसृजल्लोकानात्मनालोक्य पावकम्। मिषतां सर्वभूतानामुन्ममाथ महार्णवम् ॥ १९ ॥ एवमग्निर्भगवता नष्टः पूर्वमथर्वणा। आहूतः सर्वभूतानां हव्यं वहति सर्वदा ॥ २० ॥ एवं त्वजनयद्धिष्ण्यान् वेदोक्तान् विविधान् बहून्। विचरन् विविधान् देशान् भ्रममाणस्तु तत्र वै ॥ २१ ॥ सिन्धुं नदं पंचनदं देविकाथ सरस्वती गङ्गा च शतकुम्भा च शरयू गण्डसाह्वया ॥ २२ ॥ चर्मण्वता मही चैव मेध्या मेधातिथिस्तदा। ताम्रावती वेत्रवती नद्यस्तिस्रोऽथ

से और भी अनेकों प्रकारकी धातुएं उत्पन्न हुई हैं, इसप्रकार सहने अपने शरीरको त्याग कर महातप करना आरंभ किया १६ भृगु अंगिरा आदिने उस अग्निको तप करनेसे फिर रोककर खड़ा किया, उस समय तपसे वृद्धि पायाहुआ वह अग्नि अत्यन्त दमकनेलगा ॥ १७ ॥ परन्तु अथर्वाङ्गिरसको देखकर डरके मारे फिर समुद्रमें घुसगया, अग्निके नष्ट होने पर जगत्को भय होनेलगा और वह अथर्वा नामक अंगिराकी शरणमें गया तथा देवता आदि भी अथर्वा नामक अंगिराकी पूजा करनेलगे ॥ १८ ॥ फिर अथर्वा अपनेको अग्नि मानकर सृष्टिको रचनेलगे, सह समुद्र में ही है, यह समाचार पाने पर सब लोगोंके सामने अथर्वाङ्गिरस ने समुद्रको हिलाडाला और अग्निको ढूंढलिया तथा उसका निमन्त्रण करनेसे वह नित्य सब प्राणियोंके बलिदानोंको ग्रहण करता है ॥ १९–२० ॥ उस अग्निने अनेकों देशोंमें फिरकर वेद में कहेहुए बहुतसे पवित्र धाम तथा स्थानोंको उत्पन्न किया है, उनके नाम ये हैं, सिंधुनद, पंचनद, देविका, सरस्वती गंगा, शतकुम्भा, सरयू, गण्डकी चर्मण्वती, मही, मेध्या, मेधातिथि, ताम्रावती,

कौशिकी ॥ २३ ॥ तमसा नर्म्मदा चैव नदी गोदावरी तथा। वेणोपवेणा भीमा च वड़वा चैव भारत ॥ २४ ॥ भारती सुप्रयोगा च कावेरी मुर्मुरा तथा । तुङ्गवेणा कृष्णवेणा कपिला शोण एव च ॥ २५ ॥ एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो याः प्रकीर्त्तिताः ॥ २६ ॥ अद्भुतस्य प्रिया भार्य्या तस्य पुत्रो विभूरसिः। यावन्तः पावकाः प्रोक्ताः सोमास्तावन्त एव तु ॥ २७ ॥ अत्रेश्चाप्यन्वये जाता ब्रह्मणो मानसीः प्रजाः । अत्रिः पुत्रान् स्रष्टुकामस्तानेवात्मन्यधारयत् ॥२८॥ तस्य तद्ब्रह्मणः कार्यान्निर्हरन्ति हुताशनाः । एवमेते महात्मानः कीर्त्तितास्तेऽग्नयो मया॥ २९ ॥अप्रमेया यथोत्पन्नाः श्रीमन्तस्तिमिरापहाः । अद्भुतस्य तु माहात्म्यं यथा वेदेषु कीर्त्तितम् ॥ ३० ॥ तादृशं विद्धि सर्वेषामेको ह्येषु हुताशनः । एक एवैष भगवान् विज्ञेयः प्रथमोऽङ्गिराः ॥ ३१ ॥ बहुधा निःसृतः

वेत्रवती, कौशिकी, तमसा, गोदावरी, नर्मदा, वेणा, उपवेणा, भीमा, वडवा, भारती, सुप्रयोगा, कावेरी, मुर्मुरा, तुंगवेणा, कृष्णवेणा, कपिला और शोण इतनी जो नदियें कहीं ये सब अग्निमाता कहलाती हैं ॥ २१–२६ ॥ अद्भुत नामक पूर्वोक्त अग्निकी स्त्रीका नाम प्रिया था और उसके पुत्रका नाम विभूरसि था, जितने अग्नि कहे उतने ही सोमयाग हैं,यह बात याज्ञिकोंमें प्रसिद्ध है ॥२७॥ ब्रह्माकी अग्निरूप मानसी प्रजा अत्रिके वंशमें उत्पन्न हुई है, जब अत्रिको पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई तब उन्होंने अग्निरूप पुत्रोंका मनमें ध्यान किया कि–ब्रह्माके शरीरमेंसे सब अग्नि उत्पन्न होगए इसप्रकार महात्मा अग्नियोंकी उत्पत्ति मैंने तुमसे कही है ॥ २८—२९ ॥ वे अग्नि अनन्त शोभावाले और अंधेरेका नाश करनेवाले हैं, अद्भुत नामक अग्निका प्रभाव जिस प्रकार वेदमें कहा है तिसीप्रकार दूसरी अग्नियोंका माहात्म्य भी तुम जानो ॥ ३०-३१ ॥ क्योंकि-उसके अंगमेंसे जैसे अग्निष्टोम यज्ञ उत्पन्न हुआ है, तिसीप्रकार सब अग्नि भी उत्पन्न हुए हैं,

ऽयाज्ज्योतिष्टोमः क्रतुर्य्यथा । इत्येष वंशः सुमहानग्नीनां कीर्त्तितो मया । योऽर्च्चितो विविधैर्मन्त्रैर्हव्यं वहति देहिनाम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कंडेयसमास्यापर्वण्यांगिरसोपाख्याने द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

मार्कंडेय उवच ॥ अग्नीनां विविधा वंशाः कीर्त्तितास्ते मयानघ शृणु जन्म तु कौरव्य कार्त्तिकेयस्य धीमतः ॥ १ ॥ अद्भुतस्याद्भुतं पुत्रं प्रवक्ष्याम्यमितौजसम् । जातं ब्रह्मर्षिभार्याभिर्ब्रह्मण्यं कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥ २ ॥ देवासुराः पुरा यत्ता विनिघ्नन्तः परस्परम् तत्राजयन् सदा देवान् दानवा घोररूपिणः ॥ ३ ॥ वध्यमानं वलं दृष्ट्वा वहुशस्तैः पुरन्दरः स्वसैन्यनायकर्थाय चिंतामाप भृशं तदा ॥ ४॥ देवसेनां दानवैर्हि भग्नां दृष्ट्वा महावलः पालयेद्वीयमाश्रित्य

हे राजन् ! ऐसे मैंने अग्निका महावंश तुम्हें सुनाया, जिसकी अनेको मंत्रोंसे पूजा कीजाती है, वह अगनि मनुष्योंके वलियोंको ग्रहण करता है ॥ ३२ ॥ दोसौ वाईसवाँ अध्याय समाप्त २२२

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि-हे निष्पाप कुरुपुत्र ! मैंने तुम्हें अग्निसे उत्पन्न हुए विविध वंश वताये । अब तुमसे बुद्धिमान् स्वामि कार्तिकेयका जन्म कहता हूं उसे सुनो १ मैं तुमसे अद्भुत नामक अग्निसे ब्रह्मर्षियोंकी स्त्रियोंके (ब्रह्मर्षियोंके स्त्रियोंका रूप धारण करनेवाली स्वाहा के)द्वारा उत्पन्न हुए,अगनिसमान आश्चर्यजनक,अपार वलशाली-ब्रह्मरूप, कीर्तिमें वृद्धि करनेवाले स्वामि कार्तिकेय के जन्मका वृत्तान्त कहता हूं तुम सुनो॥२॥पहिले देवता और असुर सावधान होकर परस्पर एक दूसरेका संहार करते थे, उस समय युद्धमें असुर सदा देवताओंका पराजय करते थे॥ ३ ॥ वहुत वार अपनी सेनाको शत्रुओंने नष्ट कर दिया यह देखकर उस समय श्रेष्ठ सेनापति पानेके लिये इंद्र मनमें वडा विचार करने लगा ॥ ४ ॥ दैत्योंने देवताओंकी सेनामें भागड़ डाल दी यह देखकर महावली इन्द्रने निश्चय किया कि—जो पुरुष पराक्रमका आश्रय लेकर देव-

स ज्ञेयः पुरुषो मया ॥ ५ ॥ सशैलं मानसं गत्वा ध्यायन्नर्थमिदं भृशम् । शुश्रावार्त्तस्वरं घोरमथ मुक्तं स्त्रिया तदा ॥ ६ ॥ अभिधावतु मां कश्चित् पुरुषस्त्रातु चैव ह । पतिञ्च मे प्रदिशतु स्वयं वा पतिरस्तु मे ॥ ७ ॥ पुरन्दरस्तुतामाह माभैर्नास्तिभयं तव । एवमुक्त्वा ततोऽपश्यत् केशिनं स्थितमग्रतः ॥८॥ किरीटिनं गदापाणिं धातुमंतमिवाचलम् । हस्ते गृहीत्वा कन्यां तामथैनं वासवोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥ अनार्यकर्मन् कस्मात्त्वमिमां कन्यां जिहीर्षसि । वज्रिणं मां विजानीहि विरमास्याः प्रबाधनात् ॥ १० ॥ केश्युवाच ॥ विसृजस्व त्वमेवैनां शक्रैषा प्रार्थिता मया । क्षमन्ते जीवतो गन्तुं स्वपुरं पाकशासन ॥ ११ ॥ एवमुक्त्वा गदां केशी चिक्षेपेंद्रवधाय वै । तामा-

---

सेनाकी रक्षा करै, ऐसे पुरुषको मुझै खोजना चाहिये ५ इसप्रकार विचार करनेके पीछे, इन्द्र मानसपर्वत पर जाकर इस विषयका वारम्वार विचार करने लगा, उस समय उसने किसी स्त्रीके नीचे लिखे भयंकर आर्तस्वरको सुना कि—॥६॥ दौड़ो ! दौड़ो !! अरे कोईभी पुरुष हो दौड़ो !!! और मेरी रक्षा करो, मुझै योगय भर्त्तासे मिलाओ अथवा वह पुरुष स्वयंही मेरा पति हो ७ इन्द्रने उस स्त्रीके इसप्रकार विलापको सुनकर उस से कहा कि-ओ स्त्रि! तू डरे मत ! तुझै अब भय नहीं है ! इसप्रकार कह उस स्त्रीके पास जाकर देखा तो देवसेनाकी अभिमानिनी देवतारूप उस स्त्रीके सन्मुख केशी दैत्यको खड़े हुए पाया ८ उस केशीके हांथमें गदा थी, मस्तकपर मुकुट था और धातुसे भरे हुए पर्वतकी समान वह स्थिर खडा था, इन्द्रने उस कन्याको अपने हाथसे खेंचकर केशीसे कहा कि—ओ ! नीचकर्म करनेवाले ! तू इस कन्या का क्यों हरण करता है ? तू जानले मैं वज्रधारी इंद्र हूं ! इस कन्याको दुःख मत दे ९—१० केशी बोला कि—हे इंद्र ! इस कन्याके लिये तो मैंने प्रार्थना की है अतः तू इसको छोड दे ! हे इंद्र ! यदि तू इसको छोड देगा तो तू स्वर्गमें जीवित रहसकेगा (नहीं तो अपनेको मराहुआ ही जान) ॥ ११ ॥ केशीने इस

पतन्तीञ्चिच्छेद मध्ये वज्रेणवासवः ॥ १२ ॥ अथास्य शैलशिखरं केशी क्रुद्धो व्यवासृजत् । तदापतन्तं संप्रेक्ष्य शैलशृङ्गं शतक्रतुः ॥ १३ ॥ बिभेद राजन् वज्रेणभुवि तन्निपपात ह । पतता तु तदा केशी तेन शृङ्गेण ताडितः ॥ १४ ॥ हित्वा कन्यां महाभागां प्राद्रवद्भृशपीडितः । अपयातेऽसुरे तस्मिंस्तां कन्यां वासवोऽब्रवीत् कासि कस्यासि किञ्चेह कुरुषे त्वं शुभानने ॥ १५ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कंदोत्पत्तौ केशिपराभवे त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

कन्योवाच । अहं प्रजापतेः कन्या देवसेनेति विश्रुता । भगिनी मे दैत्यसेना सा पूर्वं केशिना हृता ॥ १ ॥ सदैवावां भगिन्यौ तु

प्रकार कहकर इन्द्रको मारनेके लिये गदा चलायी परंतु इंद्रने अपनी ओर आती हुई उस गदाका बीचमें ही वज्रास्त्रसे चूरा२ करदिया ॥ १२ ॥ इसके उपरांत केशीने क्रोधमें भरकर पर्वतका एक शिखर इंद्रके ऊपर फेंका, तिसके उपरांत इंद्रने उस पर्वतके शिखरको अपनी ओर आता हुआ देखकर ॥ १३ ॥ उसको भी वज्रसे छिन्न भिन्न करडाला और वह पर्वतका शिखर सबके देखते हुए केशीके शरीरके साथ टकरा कर पृथ्वी पर गिरपड़ा ॥ १४ ॥ उस शिखरके प्रहारसे केशीको बहुत पीड़ा होनेलगी तब वह उस महाभाग्यवती कन्याको छोडकर तहाँसे भागगया उस असुरके भागनेके पीछे उस कन्यासे इंद्रने बूझा कि–हे शुभानने तू कौन है? किसकी पुत्री है? और तुझै क्या करनेकी इच्छा है? यह बता ॥ १५ ॥ दोसौ तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२३ ॥

वह कन्या बोली कि–हे इंद्र ! मैं प्रजापतिकी कन्या हूं और मेरा नाम देवसेना है, दैत्यसेना मेरी बहिन है, जिसका पहिले इस केशीने हरण करलिया है ।१। हम दोनों बहिनें सदा प्रजापतिकी आज्ञा लेकर सखियोंके साथ खेलनेके लिये इस मानसपर्वत

सखिभिः सह मानसम् । आगच्छावेह रत्यर्थमनुज्ञाप्य प्रजापतिम् ॥ २ ॥ नित्यश्चावां प्रार्थयते हर्तुं केशी महासुरः । इच्छत्येनं दैत्यसेना न चाहं पाकशासन ॥ ३ ॥ सा हृतानेन भगवन् मुक्ताहं त्वद्द्वलेन तु । त्वया देवेन्द्र निर्दिष्टं पतिमिच्छामि दुर्ज्जयम् ॥ ४ ॥ इंद्र उवाच । मम मातृष्वसेयी त्वं माता दाक्षायणी मम । आख्यातुं त्वहमिच्छामि स्वयमात्मबलं त्वया ॥ ५ ॥ कन्योवाच । अबलाहं महाबाहो पतिस्तु बलवान्मम । वरदानात् पितुर्भावी सुरासुरनमस्कृतः॥६॥ इंद्र उवाच । कीदृशन्तु बलं देवि पत्युस्तव भविष्यति । एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तव वाक्यमनिंदिते ॥ ७ ॥ कन्योवाच । देवदानवयक्षाणां किन्नरोरगरक्षसाम् । जेता यो दुष्टदैत्यानां महावीया महाबलः ॥ ८ ॥ यस्तु सर्वाणि भूतानि त्वया सह

पर आती थीं ॥ २ ॥ और हे इंद्र ! यह महादैत्य हम दोनोंको लेजाने की प्रार्थना करता है दैत्यसेना इसके ऊपर प्रसन्न होकर इसको चाहती थी परंतु मैं इसको नहीं चाहती ॥ ३ ॥ हे भगवन् ! यह केशी दैत्यसेनाको हर कर लेगया है और तुम्हारे पराक्रम के कारण इसने मुझै छोड़दिया है! अब हे देवेन्द्र तुम जिस दुर्जय पतिके साथ मेरा ब्याह करोगे मैं उस पतिके साथ में ही रहना चाहताहूं ॥ ४ ॥ इंद्र बोला कि-हे कन्ये ! मेरी माता दक्ष की पुत्रा अदिति है अतः तू मेरी मौसीकी लड़की है मैं तुझसे स्वयं ही तेरा बल सुनना चाहता हूं तू अपने बलको मुझसे कह ५ यह सुन कर देवसेना बोली कि—हे महाबाहो ! मैं तो जातिकी अबला हूं परंतु मेरे पिताके वरदानसे मेरा पति बलवान् होगा और देवता तथा दानव उन्हैं नमस्कार करेंगे इन्द्र बोला कि—हे देवि ! बता तेरे पतिका बल कैसा होगा ? हे पवित्र कन्ये ! इस बातको मैं तेरे मुखसे ही सुनना चाहता हूं ।७। यह कन्या बोली कि-मेरा पति महाबली और महापराक्रमी होगा, तथा देव, दानव, यक्ष, किन्नर, सर्प, राक्षस, तथा दुष्टोंको जीतेगा ॥८॥ हे इंद्र ! जो पुरुष तुम्हारे साथ रहकर सब

विजेष्यति । स हि मे भविता भर्त्ता ब्रह्मण्यः कीर्त्तिवर्द्धनः ॥ ९ ॥ मार्कण्डेय उवाच । इंद्रस्तस्या वचः श्रुत्वा दुःखितोऽचिंतयद्भृशम् । अस्या देव्याः पतिर्नास्ति यादृशं संप्रभाषते ॥ १० ॥ अथापश्यत् स उदये भास्करं भास्करद्युतिः । सोमञ्चैव महाभागं विशमानं दिवाकरम् ॥ ११ ॥ अमावास्यां प्रवृत्तायां मुहूर्त्ते रौद्र एव तु । देवासुरञ्च संग्रामं सोऽपश्यदुदये गिरौ ॥ १२ ॥ लोहितैश्च घनैर्युक्तां पूर्वां संध्यां शतक्रतुः । अपश्यल्लोहितोदञ्च भगवान् वरुणालयम् ॥ १३ ॥ भृगुभिश्चाङ्गिरोभिश्च हुतं मंत्रैः पृथग्विधैः । हव्यं गृहीत्वा वह्निञ्च प्रविशंतं दिवाकरम् ॥ १४ ॥ पर्व चैव चतुर्विंशं तदा सूर्य्यमुपस्थितम् । तथाधर्मगतं रौद्रं सोमं सूर्यगतञ्च तम् ॥ १५ ॥ समालोक्यैकतामेव शशिनो भास्करस्य च । समवायंतु तं रौद्रं

प्राणियोंका पराजय करेगा वह परब्रह्मको जाननेवाला और कीर्तिकी वृद्धि करनेवाला पुरुष मेरा पति होगा । ९ । मार्कंडेय कहते हैं कि-हे युधिष्ठिर ! इंद्र उस कन्याके ऐसे वचनोंको सुनकर खिन्न होगया और गंभीर विचारमें पड़गया कि—यह कन्या जैसा कहती है ऐसा तो कोई भी पुरुष नहीं है अब क्या करूं॥ १० ॥ तदनंतर सूर्यकी समान कान्तिमान् इंद्रने उदयाचल पर्वतपर सूर्य को देखा और उसमें महाभाग्यवान् चंद्रमाको भी प्रवेश करतेहुए देखा ॥ ११ ॥ और इसके अतिरिक्त यह एक और भी (आश्चर्य) देखा, कि-रुद्र मुहूर्तमें उदयाचल पर्वत पर देव दानवोंका युद्ध होरहा था ॥१२॥ और पूर्वदिशाकी संध्या लालरंग के वादलोंसे घिरी हुई दिखाई दी, समुद्रका जल लाल २ दीखा ॥ १३ ॥ तथा भृगु और अङ्गिराओंके नानाप्रकार के मंत्रोंसे अर्पण किये हुए बलिको, लेकर अग्निको सूर्यमें प्रवेश करतेहुए देखा ॥ १४ ॥ और उस समय चौवीस पर्व, सूर्यकी तथा सूर्यके साथ मिलेहुए भयङ्कर मूर्तिवाले चंद्रमाकी उपासना करनेलगे ॥१५॥ इस प्रकार सूर्य

दृष्ट्वा शक्रोऽन्वचिंतयत् ॥१६॥ सूर्य्याचंद्रमसोर्घोरं दृश्यते परिवेषणम् । एतस्मिन्नेव रात्र्यंते महद्युद्धन्तु शंसति ॥ १७ ॥ सरित् सिंधुरूपीयन्तु पूत्यसृग्वाहिनी भृशम् । शृगालिन्यग्निवक्त्रा च पूत्यादित्यं विराविणी ॥ १८ ॥ एष रौद्रश्च संघातो महान् युक्तश्च तेजसा । सोमस्य वह्निसूर्याभ्यामद्भुतोऽयं समागमः ॥ १९ ॥ जनयेद्यं सुतं सोमः सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् । अग्निश्चैतैर्गुणैर्युक्तः सर्वैरग्निश्च देवता ॥ २० ॥ एष चेज्जनयेद्द गर्भं सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् । एवं संचिन्त्य भगवान् ब्रह्मलोकं तदा गतः ॥ २१ ॥ गृहीत्वा देवसेनान्तामवदत् स पितामहम् । उवाच चास्या देव स्त्वं साधु शूरं पतिं दिश ॥ २२ ॥ ब्रह्मोवाच ॥ मयैतच्चिन्तितं

तथा चंद्रमाके भयङ्कर संयोगको देख कर इंद्र मनमें विचारनेलगा कि—॥ १६ ॥ सूर्य तथा चंद्रमाका मंडल भयङ्कर दीखरहा है अतः इस रात्रिके अन्तमें अर्थात् कलको महायुद्ध होगा इस बातकी यह रौद्रयोग सूचना देता है ॥ १७ ॥ यह सिंधु नदी भी अपने सामने बहुतसे रुधिरको बहाती २ चली जा रही है, मुखमेंसे अग्निको ओकती हुई यह गीदडी सूर्यकी ओरको देख कर रोरही है ॥ १८ ॥ चन्द्रमा का अग्नि तथा सूर्यके साथ जो समागम हुआ है, यह महातेजस्वी और भयंकर समुदाय मिला है, इससे प्रतीत होता है कि—॥१९॥ इस समय चन्द्र जिस पुत्रको उत्पन्न करेगा वह इस देवीका पति होगा, तैसे ही अग्नि भी सर्वगुणसम्पन्न है, उसमें सब गुण हैं, अतः वह भी जिस पुत्रको उत्पन्न करेगा वह इस देवीका पति होगा । इसप्रकार मनमें विचार करके इन्द्र देवसेनाका साथमें ले ब्रह्मलोकमें पितामह ब्रह्माके पास गया और उसने ब्रह्मासे कहा कि—तुम इस देवीके लिये सद्गुणी और शूर वीर पति दो ॥२०॥ ॥ २२ ॥ ब्रह्मा बोले कि—हे दानवोंका नाश करनेवाले इन्द्र ! तुमने जिसप्रकार इसके लिये विचार किया है तैसा ही मैंने भी इस कार्यके लिये विचार किया है और तुम्हारे विचारके अनुसार वह

कार्यं त्वया दानवसूदन । तथा स भविता गर्भो वलवानुरुविक्रमः ॥ २३ ॥ स भविष्यति सेनानीस्त्वया सह शतक्रतो । अस्या देव्याः पतिश्चैव स भविष्यति वीर्यवान् ॥ २४ ॥ एतच्छ्रुत्वा नमस्तस्मै कृत्वासौ सह कन्यया । तत्राभ्यगच्छद्देवेन्द्रो यत्र देवर्षयोऽभवन् ॥ २५ ॥ वसिष्ठप्रमुखा मुख्या विप्रेन्द्राः सुमहावलाः । भागार्थं तपसो धातुं तेषां सोमन्तथाध्वरे ॥ २६ ॥ पिपासवो ययुर्देवाः शतक्रतुपुरोगमाः । इष्टिं कृत्वा यथान्यायं सुसमिद्धे हुताशने ॥ २७ ॥ जुहुवुस्ते महात्मानो हव्यं सर्वदिवौकसाम् । समाहूतो हुतवहः सोऽद्भुतः सूर्यमण्डलात् ॥ २८ ॥ विनिःसृत्य ययौ वह्निर्वाग्यतो विधिवत् प्रभुः । अगम्याहवनीयं वै तैर्द्विजैर्मन्त्रतो हुतम् ॥ २९ ॥ स तत्र विविधं हव्यं प्रतिगृह्य हुताशनः । ऋषिभ्यो भरतश्रेष्ठ प्रायच्छत दिवौकसाम् ॥ ३० ॥ निष्क्रामंश्चाप्यप-

---

गर्भ वलवान् तथा महापराक्रमी होगा ॥ २३ ॥ हे इन्द्र ! वह पराक्रमी पुत्र तेरे साथ सेनापति होकर रहेगा और इस देवीका पति भी होगा ॥२४॥ ब्रह्माजीकी इस वातको सुनकर इंद्रने उन्हें प्रणाम किया और उस कन्याको साथ लेकर वसिष्ठ आदि महावली मुख्य२ देवर्षि जहाँ विराज रहे थे तहां गया, उस समय दूसरे देवता भी उन ऋषियोंके यज्ञमें उनके तपका भाग ग्रहण करनेके लिये तथा सोमरसका पान करनेकी इच्छासे तहाँ आये थे, शास्त्रोक्त विधिके अनुसार इष्टि करनेके पीछे वे महात्मा भली प्रकार प्रज्वलित हुए अग्निमें सव देवताओंको आहुतियें देनेलगे और मंत्रों से अग्निदेवका आवाहन किया, तव वाणीको नियममें रखनेवाला महासमर्थ तथा होमीहुई वस्तुओंको देवताओंके पास लेजानेवाला अग्नि सूर्यमण्डलमेंसे वाहर निकल कर जहाँ ऋषि वैठे थे तहां आया और आहवनीय नामक अग्निमें प्रवेश करके हे भरतश्रेष्ठ! ब्राह्मण मंत्रोंको पढ़कर जिन त्रिविध वलियोंको होमते थे उनको ऋषियोंसे ग्रहण करके देवताओंको देनेलगा ॥ २५–३० ॥ अग्नि

श्यत् स पत्नीस्तेषां महात्मनाम् । स्वेष्वासनेषूपविष्टाः स्वपतीश्च यथासुखम् ॥ ३१ ॥ रुक्मवेदिनिभास्तास्तु चन्द्रलेखा इवामलाः । हुताशनार्चिःप्रतिमाः सर्वास्तारा इवाद्भुताः ॥ ३२ ॥ स तत्र तेन मनसा बभूव क्षुभितेन्द्रियः । पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः कामवशं ययौ ॥ ३३ ॥ भूयः सञ्चिन्तयामास न न्याय्यं क्षुभितो ह्यहम् । साध्व्यः पत्न्यो द्विजेन्द्राणामकामाः कामयाम्यहम् ॥३४॥ नैताः शक्या मया द्रष्टुं स्प्रष्टुं वाप्यनिमित्ततः । गार्हपत्यं समाविश्य तस्मात् पश्याम्यभीक्ष्णशः ॥ ३५ ॥ मार्कण्डेय उवाच । संस्पृशन्निव सर्वास्ताः शिखाभिः काञ्चनप्रभाः । पश्यमानश्च मु-

---

जिस समय उस यज्ञमण्डपमेंसे बाहर निकला उस समय उसने, सुवर्णकी वेदीकी समान प्रकाशमयी चन्द्रमाकी मूर्तिकी समान निर्मल, अग्निकी ज्वालाकी समान शोभायमान और तारोंकी समान दमकती हुई उन महात्मा ऋषियोंकी पत्नियोंको देखा, उन ऋषिपत्नियोंमेंसे कोई अपने आसनों पर बैठी थीं कोई इच्छानुसार आसनों पर टेढ़ी वेढ़ी सोरही थीं, उन ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंको देख कर अग्निकी इंद्रियें चलायमान होगईं और वह कामके अधीन होगया ॥ ३१-३३ ॥ परंतु उसने फिर विचार करके अपने मन को धिक्कार देते हुए कहा कि—मैं कामातुर होगया यह अच्छा नहीं किया, क्योंकि—ब्राह्मणोंकी पतिव्रता स्त्रियें कामरहित हैं तो भी मैं ऐसी शुद्ध मनवाली स्त्रियोंके ऊपर आसक्त हुआ हूं ३४ मैं विना कारणके ब्राह्मणोंकी इन स्त्रियोंका दर्शन भी नहीं कर सक्ता फिर इनका स्पर्श तो कर ही कैसे सकूंगा? अतः मैं गार्हपत्य नामके अग्निमें प्रवेश करके उसके द्वारा सदा ब्राह्मणोंकी स्त्रियों को देखा करूँ तो अच्छा हो ॥ ३५ ॥ मार्कण्डेयजी बोले कि—हे राजन् ! इस प्रकार विचार कर अग्निने गार्हपत्य अग्निका आश्रय लिया और सुवर्णकी समान कांतिवाली सब ब्राह्मणोंकी

गृहे गार्हपत्यं समाश्रितः ॥ ३६ ॥ निरुष्य तत्र सुचिरमेवं वह्नि-र्वशं गतः । मनस्तासु विनिक्षिप्य कामयानो वराङ्गनाः ॥ ३७ ॥ कामसन्तप्तहृदयो देहत्यागविनिश्चितः । अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणामग्निर्वनमुपागमत् ॥ ३८ ॥ स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमं कामयत्तदा सा तस्यच्छिद्रमन्वैच्छच्चिरात्प्रभृति भाविनी ॥ ३९ ॥ अप्रमत्तस्य देवस्य न च पश्यत्यनिन्दिता । सा तं ज्ञात्वा यथावत्तु वह्निं वन-मुपागतम् ॥ ४० ॥ तत्त्वतः कामसन्तप्तं चिन्तयामास भाविनी । अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् ॥ ४१ ॥ कामयिष्यामि कामार्त्ता तासां रूपेण मोहितम् । एवं कृते प्रीतिरस्य का-

---

स्त्रियोंको ज्वालाओंसे छूनेलगा तथा उनका दर्शन करनेलगा और वह मनमें बड़ा ही प्रसन्न हुआ ॥ ३६ ॥ इसप्रकार कामके अधीन हुआ, अग्नि बहुत वर्षों तक ब्राह्मणोंके घरोंमें रहा था, उस समय रूपवती ब्राह्मणियों पर आसक्त होकर उनको अपना मन अर्पण कर दिया था. परन्तु उन ब्राह्मणियोंके समागमका लाभ नहीं हुआ इस कारण जिसका मन कामसे सन्ताप पारहा था ऐसा वह अग्नि मनमें शरीरको त्यागनेका विचार करके तहाँसे वनमें चला गया ॥ ३७–३८ ॥ उधर दक्षकी पुत्री स्वाहा जो उसके ऊपर पहिलेसे ही आसक्त थी और उससे प्रेम करती थी, वह स्त्री बहुत समयसे उससे मिलनेके लिये कोई न कोई छिद्र ढूंढ़ा करती थी ॥ ३९ ॥ परन्तु अग्नि सावधान रहता था इससे उसे अग्नि का कोई छिद्र (दोष) नहीं मिला परन्तु जब स्वाहाको विश्वस्त रीतिसे मालूम होगया कि–अग्नि तो ऋषिपत्नियोंके ऊपर मोहित होनेके कारण कामसे सन्तप्त होकर वनमें चलागया है, तब अग्निको चाहनेवाली उस स्त्रीने विचार किया कि–अग्नि सप्तर्षि-योंकी स्त्रियों पर मोहित हुआ है, अतः कामसे व्याकुल हुई मैं सप्तर्षियोंकी स्त्रियोंका रूप धारण करके अग्निको मोहित करूँ

मावासिश्च मे भवेत् ॥ ४२ ॥ छ ॥ छ ॥
इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कन्दोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ शिवा भार्या त्वङ्गिरसः शीलरूपगुणान्विता । तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ॥ १ ॥ जगाम पावकाभ्याशं तं चोवाच वरांगना । मामग्ने कामसन्तप्तां त्वं कामयितुमर्हसि ॥ २ ॥ करिष्यसि न चेदेवं मृतां मामुपधारय । अहमंगिरसो भार्या शिवा नाम हुताशन । शिष्टाभिः प्रहिता प्राप्ता मन्त्रयित्वा विनिश्चयम् ॥ ३ ॥ अग्निरुवाच ॥ कथं मां त्वं विजानीषे कामार्त्तमितराः कथम् । यास्त्वया कीर्त्तिताः सर्वाः सप्तर्षीणां प्रियाः स्त्रियः ॥ ४ ॥ शिवोवाच ॥ अस्माकं त्वं प्रियो नित्यं वि-

---

ऐसा करनेसे इसकी मेरे ऊपर प्रीति होगी और मेरे कामकी तृप्ति होगी ॥ ४०—४२ ॥ दोसौ चौवीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२२४॥

मार्कण्डेय कहते हैं, कि—हे नरराज ! इसप्रकार विचार करके स्वाहा पहिले शील रूप तथा गुणोंवाली अंगिराकी शिवा नाम की स्त्रीका रूप धारण कर वनमें अग्निके पास जाकर बोली कि हे अग्निदेव ! मैं कामाग्निसे जल रही हूं, अतः तुम्हें मुझसे प्रेम करना चाहिये ॥ १–२ ॥ यदि तुम मुझसे प्रेम नहीं करोगे तो मैं मर जाऊँगी यह तुम जानलेना, हे अग्निदेव ! मैं अंगिरा ऋषिकी शिवा नामकी स्त्री हूं, दूसरी ऋषिपत्नियोंने परस्पर निश्चित विचार करके मुझे तुम्हारे पास भेजा है इस लिये मैं तुम्हारे पास आई हूं॥३॥अग्निने कहा कि-हे स्त्रि ! तू कैसे जानती है कि—मैं कामातुर हूं ? तथा दूसरी स्त्रियें, जिन सप्तर्पियोंकी पत्नियोंका तू नाम लेती है उन स्त्रियोंने भी, मैं कामातुर हूं यह किस प्रकार जानो है ? ॥ ४ ॥ शिवा (शिवारूपिणी स्वाहा) बोली कि- हे अग्ने ! तुम हमको सदा परम प्रिय लगते हो, परन्तु हम तुमसे डरती हैं, सप्तर्पियोंकी स्त्रियोंने गुप्त इंगितों (इशारों)

भीमस्तु वयं तव । त्वच्चित्तमिंगितैर्ज्ञात्वा प्रेषितास्मि तवान्तिकम्॥५॥ मैथुनायेह संप्राप्ता कामं प्राप्तुं द्रुतञ्चर । जामयो मां प्रतीक्षन्ते गमिष्यामि हुताशन ॥ ६ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतिमुदायुतः। प्रीत्या देवी समायुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना ॥ ७ ॥ अचिन्तयन्ममेदं ये रूपं द्रक्ष्यन्ति कानने । ते ब्राह्मणीनामनृतं दोषं वक्ष्यन्ति पावके ॥ ८ ॥ तस्मादेतद्रक्ष्यमाणा गरुडी सम्भवाम्यहम् । वनान्निर्गमनञ्चैव सुखं मम भविष्यति ॥ ९ ॥ मार्कण्डेय उवाच । सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात् । अपश्यत् पर्वतं श्वेतं शरस्तम्बैः सुसंवृतम् ॥ १० ॥ दृष्टीविषैः सप्तशीर्षैर्गुप्तं भोगिभिरद्भुतैः । रक्षोभिश्च पिशाचैश्च रौद्रैर्भूतगणैस्तथा ११

से तुम्हारे मनके अभिप्रायको जानकर तुम्हारे पास मुझे भेजा है ॥ ५ ॥ और मैं तुम्हारे पास मैथुनकी इच्छासे आई हूं, अतः अब तुम शीघ्र ही मेरा सेवन करके अपनी कामवासना तृप्त करो, हे अग्ने ! मेरी ननदें मेरी बाट देखती होंगी अतः मुझे शीघ्र ही जाना चाहिये॥ ६ ॥ मार्कण्डेय बोले कि—हे भरतवंशश्रेष्ठ राजन् ! शिवा (स्वाहा) की ऐसी बात सुनकर अग्निको बड़ा हर्ष हुआ और उसने बड़े प्रेमके साथ उससे सम्बन्ध किया और स्वाहाने प्रेमपूर्वक अग्निका वीर्य अपने हाथमें लेलिया ॥७॥ फिर स्वाहाने मनमें विचार किया कि—यदि कोई इस वनमें मेरे इस स्वरूपको देखलेंगे तो वह कहेंगे कि-ब्राह्मणियोंने अग्निके साथ कपटका व्यवहार किया है, अतः मैं इस वीर्यकी रक्षा करके गरुड़ीका रूप धारण करू तो ठीक हो, उस रूपको ग्रहण करनेसे मैं वेखटक इस वनमेंसे बाहर निकल सकूंगी ॥ ८—९ ॥ मार्कण्डेय बोले कि-हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर स्वाहा गरुड़ीका रूप धारण कर महावनमेंसे बाहर निकल गई; चलते २ उसको एक कुशका झुंड तथा वृक्ष और बेलोंसे ढका हुआ श्वेत पर्वत दीखा; उस पर्वत पर विषैली दृष्टिवाले और सात मस्तक (फन) वाले बड़े २ बहुतसे

राक्षसीभिश्च सम्पूर्णमनेकैश्च मृगद्विजैः । सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम् ॥ १२ ॥ प्राक्षिपत् काञ्चने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता शुभा । सप्तानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम् ॥ १३ ॥ पत्नीसरूपतां कृत्वा कामयामास पावकम् । दिव्यरूपमरुन्धत्याः कर्त्तुं न शकितं तया ॥ १४ ॥ तस्यास्तपःप्रभावेण भर्तृशुश्रूषणेन च । षट्कृत्वस्तत्तु निक्षिप्तमग्ने रेतः कुरूत्तम ॥ १५ ॥ तस्मिन् कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा । तत् स्कन्नं तेजसा तत्र संवृतं जनयत् सुतम् ॥ १६ ॥ ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत् स्कन्दतां ततः । षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः ॥ १७ ॥ एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत । द्वितीयायामभिव्यक्तस्तृती-

---

सर्प थे, तथा राक्षस, पिशाच, भयंकर भूत राक्षसियें तथा अनेकों प्रकारके पशु पक्षियोंसे वह पर्वत चारों ओरसे ठसाठस भर रहा था, स्वाहा उस महादुर्गम पर्वत पर चढ़गई तहां एक सोनेके कुंडमें उस अग्निके वीर्यको रखदिया उस स्वाहाने इस प्रकार हिरते फिरते महात्मा सप्तर्षियोंकी सातों स्त्रियोंका रूप धारण करके अग्निकी कामशान्ति की थी, परन्तु केवल अरुंधतीके तपके प्रभावसे तथा पतिसेवाके प्रभावसे वह उसका ही रूप धारण नहीं करसकी थी, हे कुरुवंशश्रेष्ठ राजन् ! कामातुर हुई स्वाहाने प्रतिपदाके दिन जुदे २ रूप धारण करके छः वार अग्निका वीर्य पर्वत परके सुवर्णके कुंडमें रखदिया, अग्निके उस गिरेहुए वीर्यमेंसे स्वामिकार्त्तिकेय नामके कुमार हुए ॥ १०–१६ ॥ और जब ऋषियोंने यह सुना कि-गिराये हुए वीर्यमेंसे यह बालक उत्पन्न हुआ है तो उन्होंने उसका नाम स्कंद रक्खा, उस वीर्यमेंसे प्रतिपदाके दिन छः मस्तक, बारह कान, बारह नेत्र, बारह हाथ, एक कण्ठ और एक पेट इतने शरीरके अंग उत्पन्न हुए ॥ १७ ॥ दूजके दिन स्पष्ट आकार प्रतीत होने लगा, तीसरे दिन स्वामिकार्त्तिकेय बालकका समान शोभा पाने लगे और चौथे दिन उनके अंग

पायां शिशुर्बभौ ॥ १८ ॥ अङ्गप्रत्यङ्गसम्भूतश्चतुर्थ्यामभवद् गुहः । लोहिताभ्रेण महता संवृतः सह विद्युता ॥ १९ ॥ लोहिताभ्रे सुमहति भाति सूर्य इवोदितः । गृहीतन्तु धनुस्तेन विपुलं लोमहर्षणम् ॥२०॥ न्यस्तं यत् त्रिपुरघ्नेन सुरारिविनिकृन्तनम् । तद् गृहीत्वा धनुः श्रेष्ठं ननाद बलवांस्तदा॥२१॥ सम्मोहयन्निवेमान् स त्रीँल्लोकान् सचराचरान् । तस्य तं निनदं श्रुत्वा महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥ उत्पेततुर्महानागौ चित्रश्चैरावतश्च ह । तावापतंतौ सम्प्रेक्ष्य स बालोऽर्कसमद्युतिः ॥ २३ ॥ द्वाभ्यां गृहीत्वा पाणिभ्यां शक्तिञ्चान्येन पाणिना । अपरेणाग्निदायादस्ताम्रचूडं भुजेन सः२४ महाकायमुपश्लिष्टं कुक्कुटं बलिनाम्वरम् । गृहीत्वा व्यनदद्भीमं चिक्रीड च महाभुजः॥२५॥द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलवान् गृहीत्वा शंखमु-

---

तथा उपांग उत्पन्न हुए तथा बिजलीयुक्त लाल वर्णके बादलोंसे छाये हुए स्वामिकार्तिकेय, उदय होता हुआ सूर्य जैसे लाल वर्णके बादलोंमें शोभा पाता है तिसी प्रकार शोभा पाने लगे, हे भरतवंशश्रेष्ठ ! इन स्वामिकार्तिकेयने पहिले महादेवने त्रिपुरासुरको मारकर जिस धनुषको त्यागदिया था और जो धनुष दैत्योंका नाश करनेवाला तथा रोमांचकारक था वह श्रेष्ठधनुष हाथमें लिया और स्थावर जंगमरूप तीनों लोकोंके प्राणियोंको मोहित करनेवाली गर्जना की, उनकी महामेघकी समान गर्जनाको सुनकर चित्र तथा ऐरावत नामक देवताओंके बड़े २ हाथी उनके सामनेको दौड़े, उनको अपनी ओरको आतेहुए देखकर सूर्यकी समान कान्तिमान् बालक स्कंदने उन दोनों हाथियोंको दानों हाथोंसे पकड़ लिया और एक हाथमें शक्ति धारण करी, दूसरी भुजामें अग्निपुत्र स्कंदने महाकायावाले महाबली तथा लालचोटीवाले मुर्गेको पकड़ लिया और फिर महाभुज स्वामिकार्तिकेय गर्जना करके उन वस्तुओंके साथ तीनों लोकोंमें विहार करने लगे॥ १८-२५॥ और बली स्कन्द दोनों भुजाओंसे श्रेष्ठ शंखको लेकर बजाने लगे

त्तमम् । प्राध्मापयत भूतानां त्रासनं बलिनामपि ॥ २६ ॥ द्वाभ्यां भुजाभ्यामाकाशं बहुशो निजघान ह । क्रीडन् भाति महासेनस्त्रीन् लोकान् वदनैः पिबन् ॥ २७ ॥ पर्वताग्रेऽप्रमेयात्मा रश्मिमानुदये तथा । स तस्य पर्वतस्याग्रे निषण्णोऽद्भुतविक्रमः ॥ २८ ॥ व्यलोकयदमेयात्मा मुखैर्नानाविधैर्दिशः । स पश्यन् विविधान् भावांश्चकार निनदं पुनः ॥ २९ ॥ तस्य तं निनदं श्रुत्वा न्यपतन् बहुधा जनाः । भीताश्चोद्विग्नमनसस्तमेव शरणं ययुः ॥ ३० ॥ ये तु तं संश्रिता देवं नानावर्णास्तदा जनाः । तानप्याहुः पारिषदान् ब्राह्मणाः सुमहाबलान् ॥ स तूत्थाय महाबाहुरुपसांत्व्य च तान् जनान् । धनुर्विकृष्य व्यसृजद्वाणान् श्वेतं महागिरिं ॥ ३२ ॥ विभेद स शरैः शैलं क्रौंच

वह शंख महाबली प्राणियोंको भी भय देनेवाला था ॥ २६ ॥ तदनन्तर बाल्यावस्थाके महासेनापति स्कन्द अपनी दोनों भुजाओंसे आकाशको ताडित करनेलगे और मानों तीनों लोकोंको अपने मुखोंसे पिये जाते हों इस प्रकार मुख फाड़ २ कर कुमार स्कन्द बाल क्रीड़ा करते हुए दिखाई दिये ॥२७॥ उदयके समयमें सूर्य जैसे पर्वत की चोटी पर प्रकाशित होता है, तैसे ही पर्वतके शिखर पर स्थित अद्भुतपराक्रमी और अपारबली स्वामिकार्तिकेय छः मुखोंसे दिशा और सृष्टियोंके अनेकों भावोंको देखकर वारम्वार गर्जना करनेलगे ॥ २८–२९ ॥ उनकी गर्जनाको सुनकर बहुतसे प्राणी भूमि पर गिरगये और बहुतसे डरगये तथा व्याकुलचित्त होकर उनकी शरणमें गये ॥ ३० ॥ उस समय नानाप्रकारके जो २ प्राणी उनकी शरणमें गये थे उन महाबली प्राणियोंको ब्राह्मण उनका पार्षद कहते हैं ॥ ३१ ॥ जो २ मनुष्य स्वामिकार्त्तिकेयकी शरणमें गए थे उनको महाभुज स्वामिकार्तिकेयने उठकर शांत किया, तदनंतर उन्होंने श्वेतगिरि के ऊपरसे धनुषको

हिमवतः सुतम् । तेन हंसाश्च गृद्धाश्च मेरुं गच्छंति पर्वतम् ॥३३॥ स विशीर्णोऽपतच्छैलो भृशमार्त्तस्वरान् रुवन् । तस्मिन्निपतिते त्वन्ये नेदुः शैलाः भृंश तदा ॥३४॥स तं नादं भृशार्त्तानां श्रुत्वापि बलिनाम्वरः । न प्राव्यथदमेयात्मा शक्तिमुद्यम्य चानदत् ॥३५॥ सा तदा विमला शक्तिः क्षिप्ता तेन महात्मना । विभेद शिखरं घोरं श्वेतस्य तरसा गिरेः ॥ ३६ ॥ स तेनाभिहतो दीर्णो गिरिः श्वेतोऽचलैः सह । उत्पपात महीं त्यक्त्वा भीतः स सुमहात्मनः ।३७। ततः प्रव्यथिता भूमिर्व्यशीर्यत समन्ततः। आर्त्ता स्कन्दम् समासाद्य पुनर्बलवती बभौ ॥ ३८ ॥ पर्वताश्च नमस्कृत्य तमेव पृथिवीं गताः । अथैनमभजल्लोकः स्कंदं शुक्लस्य पञ्चमीम् ॥ ३९ ॥ * ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यांपर्वणि कुमारोत्पत्तौ पंचविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

खींचकर हिमाचलके पुत्र क्रौंच नामक पर्वतके बाण मारकर बींध डाला, इसकारण हंस और गींध पक्षी उस पर्वतको छोडकर मेरु पर्वत पर चलेगए और बाणके प्रहारसे टूटकर गिरा हुआ क्रौंच पर्वत रोनेलगा तथा वह पृथ्वी पर गिरपडा उस समय दूसरे पर्वत भी महागर्जना करनेलगे ॥ ३२–३४ ॥ अत्यंत व्याकुल हुए पर्वतोंकी गर्जनाको सुनने पर भी महाबली स्वामिकार्तिकेय कुछ भी न डरे और उसी समय उन महात्माने दमकती हुई शक्तिका प्रहार करके एकाएक श्वेतगिरिके भयंकर शिखरको तोड़ डाला, ऊपरसे टूटाहुआ श्वेतपर्वत उन महात्मासे डरकर दूसरे पर्वतोंसहित पृथ्वीको त्यागकर आकाशमें उडा, तब पृथ्वी पीड़ा पाकर चारों ओरसे फटगई और आतुर होकर स्वामिकार्तिकेयके पास जाते ही फिर बलवान् होकर शोभा पानेलगी ॥३५–३८॥ और तदनन्तर पर्वत भी स्वामिकार्तिकेयको प्रणाम करके फिर पृथ्वी पर आगये थे यह कार्य शुक्लपक्षकी पंचमीके दिन हुआ था, इससे लोग शुक्लपक्षकी पंचमीके दिन स्वामिकार्तिकेयका भजन और उनकी पूजा करते हैं ॥३९॥ दोसौ पचीसवाँ अध्याय समाप्त

मार्कण्डेय उवाच ॥ तस्मिन् जाते महासत्त्वे महासेने महाबले। समुत्तस्थुर्महोत्पाता घोररूपाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥ स्त्रीपुंसोर्विपरीतश्च तथा द्वन्द्वानि यानि च । ग्रहा दीप्ता दिशः खश्च ररास च मही भृशम् ॥ २ ॥ ऋषयश्च महाघोरान् दृष्ट्वोत्पातान् समन्ततः । अकुर्वन् शान्तिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः ॥३॥ निवसन्ति वने ये तु तस्मिंश्चैत्ररथे जनाः । तेऽब्रुवन्नेष नोऽनथः पावकेनाहितो महान् ॥४॥ संगम्य षड्भिः पत्नीभिः सप्तर्षीणामिति स्म ह । अपरे गरुडीमाहुस्त्वयानर्थोऽयमाहृतः ॥५॥ यैर्दृष्टा सा तदा देवी तस्या रूपेण गच्छती न तु तत्स्वाहया कर्म कृतं जानाति वै जनः॥६॥ सुपर्णी तु वचः श्रुत्वा ममायं तनयस्त्विति । उपगम्य शनैः स्कं-

---

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि—हे राजन् युधिष्ठिर ! महाबली और महापराक्रमी स्वामिकार्तिकेयका जब जन्म हुआ तब अनेक प्रकारके भयंकर उत्पात होनेलगे ॥ १ ॥ स्त्री पुरुषोंमें वैर होनेलगा, अत्यन्त शीतल पदार्थोंमें उष्णता आगाई और अत्यन्त उष्ण पदार्थों में शीतलता प्रतीत होनेलगी, ग्रह, आकाश और दिशाएं जलने लगीं पृथ्वी में महाशब्द होनेलगा ॥ २ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार चारों ओर महाभयंकर उत्पात होने लगे तो उनको देखकर व्याकुल हुए महर्षियोंने लोकोंका कल्याण करनेके लिये उन उत्पातोंकी शान्तिके लिये शान्तिकी ॥३॥ जो मनुष्य उस चैत्ररथनामक वनमें रहते थे, वे परस्पर कहने लगे कि—अग्निने सप्तर्षियोंका छः स्त्रियोंसे समागम करके महा अनर्थ किया है, यह उसका ही परिणाम है ॥४॥ तब जिन थोड़ेसे पुरुषोंने स्वाहाको गरुड़ीका रूप धारण करके जाते हुए देखा था वे मनुष्य कहने लगे कि—यह गरुड़ीका उत्पात है, किसीको स्वप्नमें भी न होनेवाले इस उत्पातका कारण स्वाहा है ॥ ५-६ ॥ परन्तु जब गरुड़ीने लोगोंसे पुत्रके जन्मका समाचार सुना तब जाना कि—यह मेरा पुत्र है, इसकारण उसने धीरे से स्वामिकार्तिकेयके

न्दमाहं जननी तव ७ अथ सप्तर्षयः श्रुत्वा जातं पुत्रं महौजसम् तत्यजुः षट् तदा पत्नीर्विना देवीमरुन्धतीम् ॥ ८ ॥ षड्भिरेव तदा जातमाहुस्तद्वनवासिनः । सप्तर्षीनाह च स्वाहा मम पुत्रोऽयमित्युत ॥ ६ ॥ अहं जाने नैतदेवमिति राजन् पुनः पुनः । विश्वामित्रस्तु कृत्वेष्टिं सप्तर्षीणां महामुनिः ॥ १० ॥ पावकं कामसन्तप्तमदृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात् । तत्तेन निखिलं सर्वमवबुद्धं यथातथम् ११ विश्वामित्रस्तु प्रथमं कुमारं शरणं गतः । स्तवं दिव्यं संमचक्रे महासेनस्य चापि सः १२ मङ्गलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश । जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः ॥ १३ ॥ षड्वक्त्रस्य तु माहात्म्यं कुक्कुटस्य तु साधनम् । शक्त्या देव्याः

पास जाकर कहा कि—मैं तेरी माता हूं ॥ ७ ॥ और हे राजन् ! सप्तर्षियोंको मालूम हुआ कि—हमारी स्त्रियोंसे व्यभिचारसे पुत्र उत्पन्न हुआ है तब छः मुनियोंने अपनी छहों स्त्रियोंको त्यागदिया, केवल सती अरुन्धतीको ही घरमें रक्खा ॥ ८ ॥ उस समय तिस वनमें रहनेवाले ऋषि कहनेलगे कि—यह कुमार छः स्त्रियोंसे उत्पन्न हुआ है उधर स्वाहाने भी हे राजन् ! वारम्वार उन ऋषियोंसे कहा कि—हे ऋषियो ! मैं जानती हूं कि—यह पुत्र मेरा है और तुम्हारी पत्नियें इस कुमारकी माता नहीं हैं, महामुनि विश्वामित्र सप्तर्षियोंकी इष्टिको समाप्त करके कोई देख न पावे तिस प्रकार गुप्त रीतिसे, कामसे सन्तप्त हुए अग्निके पीछे २ उसकी करतूत देखनेको गये थे और उन्होंने स्वामिकार्तिकेयकी उत्पत्ति के विषयमें सब सत्य बात जानली थी ॥ ६–११ ॥ इसकारण विश्वामित्रने स्वामिकार्तिकेयकी शरणमें जाकर उन महासेनापतिकी दिव्यस्तुति करी ॥ १२ ॥ और फिर उन महामुनिने, विवाहसे पहिले होनेवाली जो मांगलिक क्रियायें होती हैं वे कीं, तथा कुमारावस्थामें करनेकी जातकर्म आदि सब क्रियाएं भी कीं, और छः मुखवाले उस कुमारका माहात्म्य बढाया तथा उनको

साधनञ्च तथा परिषदामपि ॥ १४ ॥ विश्वामित्रश्चकार तत् कर्म लोकहिताय वै । तस्मादृषिः कुमारस्य विश्वामित्रोऽभवत् प्रियः १५ अन्वजानाच्च स्वाहाया रूपान्यस्त्वं महामुनिः । अब्रवीच्च मुनीन् सर्वान्नापराध्यन्ति वै स्त्रियः ॥ १६ ॥ श्रुत्वा तु तत्त्वातस्तस्मात्ते पत्नाः सर्वतोऽत्यजन् । मार्कंडेय उवाच । स्कदं श्रुत्वा यदा देवा वासवं सहिताब्रुवन् ॥ १७ ॥ अविषह्ययलं स्कन्दं जहि शक्राशु माचिरम् । यदि वा ना हिनस्येनं देवेन्द्रोऽयं भविष्यति १८ त्रैलोक्यं सन्निगृह्यास्मांस्त्वाञ्च शक्र महाबल । स तानुवाच व्यथितो

पढ़नेके लिये मुर्गा लाकर दिया और शक्ति देवियोंका साधन तथा पार्षदोंका साधन भी ठीककर दिया ॥ १३—१४ ॥ इस प्रकार विश्वामित्रने जगत्के कल्याणके लिये जो कार्य किया, इससे स्वामिकार्त्तिकेय विश्वामित्रसे प्रेम करनेलगे थे ॥ १५ ॥ और मुनि विश्वामित्रने जब जाना कि- स्वाहाने सप्तर्षियोंका स्त्रियोंका रूप धारण करके अग्निसे समागम किया है, तब विश्वामित्रने सप्तर्षियोंसे कहा कि— "इस कार्यमें तुम्हारी स्त्रियोंका अपराध नहीं है अतः तुम उन्हें मत त्यागो" मुनि विश्वामित्रकी बात सप्तर्षियोंने सुनी तो सही परन्तु (रामचन्द्रजीने लोकनिन्दाके भयसे जिसप्रकार सीताको त्याग दिया था तिसी प्रकार) ऋषियोंने भी अपनी स्त्रियोंको त्याग ही दिया, फिर उनको ग्रहण नहीं किया, मार्कण्डेयजी कहते हैं कि— हे राजन् युधिष्ठिर ! जब देवताओंने सुना कि-जिसके बलको कोई नहीं सहसकता ऐसा कुमार उत्पन्न हुआ है तब सब देवताओंने इकट्ठे होकर इन्द्रसे कहा कि-हे शक्र ! तुम स्वामिकार्त्तिकेय स्कन्दको तुरत ही नाश करो, देर मत लगाओ और यदि तुम उसका नाश न करोगे तो यह देवेन्द्र होजायगा ॥१६—१८॥ और हे महाबलवान् इन्द्र ! तीनों लोकोंको,हमको और तुम्हें अपने वशमें करनेलगा देवताओंके ऐसे वचन सुनकर महापीड़ासे युक्त हो इन्द्रने देवता-

पालोऽयं सुमहाबलः १६ स्रष्टारमपि लोकानां युधि विक्रम्य नाशयेत् । न बालमुत्सहे हन्तुमिति शक्रः प्रभाषते २१ तेऽब्रुवन्नास्ति ते वीर्यं यत एवं प्रभाषसे । सर्वास्त्वद्याभिगच्छन्तु स्कन्दं लोकस्य मातरः २१ कामवीर्या घ्नन्तु चैनमथेत्युक्त्वा च ता ययुः । तमप्रतिबलं दृष्ट्वा विषण्णवदनास्तु ताः ॥ २२ ॥ अशक्योऽयं विचिन्त्यैवं तमेव शरणं ययुः । ऊचुश्चैनं त्वमस्माकं पुत्रो भव महाबल ॥ २३ ॥ अभिनन्दस्व न सर्वाः प्रस्नुताः स्नेहविक्लवाः तासां तद्वचनं श्रुत्वा पातु कामः स्तनान् प्रभुः ॥ २४ ॥ ताःसम्पूज्य महासेनः कामांश्चासां प्रदाय सः । अपश्यदग्निमायान्तं पि-

---

ओंसे कहा कि–हे देवताओं ! यह बालक महाबली है ॥ १६ ॥ यह पराक्रमसे युद्धमें जगत्कर्त्ताको भी मारडाले ऐसा है, अतः मैं इस बालकको मारना नहीं चाहता, इस प्रकार इन्द्रने कहा ॥ २० ॥ तब देवता बोले कि–हे इन्द्र! तुममें जरा भी बल नहीं है ? इस लिये तुम ऐसी बातें करते हो, इस प्रकार इन्द्रसे कहकर देवताओंने लोकमाताओंसे कहा कि–तुम सब आज इकट्ठी होकर स्वामिकार्तिकेयके पास जाओ और इच्छानुसार अपने बलको बढ़ाकर उसका नाश करो, लोकमाताएं बहुत अच्छा २ कहकर स्कन्दके पास गईं, परन्तु उनके सर्वोत्तम तेजको देखकर उन स्त्रियोंका मुख निस्तेज होगया, तब उन स्त्रियोंने अपने मनमें विचारकिया कि–इसको मारना कठिन है, इस कारण वे उनकी ही शरणमें जाकर उनसे कहनेलगीं कि–हे महाबलवान् ! तुम हमारे पुत्र बनो ॥ २१–२२ ॥ हम सब तुम्हारे ऊपर प्रेमके कारण अधीर होरही हैं और प्रेमवश हमारे स्तनोंमेंसे दूध टपकरहा है, अतः तुम हम सबको अभिनन्दन दो, हे युधिष्ठिर ! लोकमाताओंके इन वचनोंको सुनकर उनका स्तनपान करनेकी इच्छावाले महासेन स्कन्दने उन स्त्रियोंका सन्मान कर उन्हें वरदान दिया, इतनेमें ही स्कंदने बलवानोंमें भी बलवान् अपने पिता

तरं बलिनां बली ॥ २५ ॥ स तु सम्पूजितस्तेन सह मातृगणेन ह । परिवार्य महासेनं रक्षमाणः स्थितः शिवः ॥ २६ ॥ सर्वासां या तु मातॄणां नारी क्रोधसमुद्भवा । धात्री स्वपुत्रवत् स्कन्दं शूल-हस्ताभ्यरक्षत ॥ २७ ॥ लोहितस्योदधेःकन्या क्रूरा लोहित-भोजना । परिष्वज्य महासेनं पुत्रवत् पर्यरक्षयत् ॥ २८ ॥ अग्नि-र्भूत्वा नैगमेयश्छागवक्त्रो बहुप्रजः रमयामास शैलस्थं बालं क्री-डनकैरिव ॥ २९ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कन्दोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ ग्रहाः सोपग्रहाश्चैव ऋषयो मातरस्तथा हुताशनमुखाश्चैव दृप्ताः पारिषदां गणाः ॥ १ ॥ एते चान्ये च

अग्निदेवको आतेहुए देखा ॥ २३-२५ ॥ उस समय स्कन्दने माताओंके साथ अग्निदेवकी पूजा की, तदनन्तर शिव-मूर्ति अग्नि माताओंके साथ महासेनको चारों ओरसे घेरकर उसकी रक्षा करनेलगे उस समय सब माताओंमें क्रोध-समुद्भवा नामकी एक स्त्री थी वह हाथमें त्रिशूल ले उसकी धाय बन अपने पुत्रकी समान स्कन्दकी रक्षा करनेलगी ॥ २६—२७ ॥ जो रक्तसमुद्रकी कन्या रक्तका भोजन करनेवाली थी वह क्रूरा नामकी स्त्री स्वामिकार्तिकेयको अपनी छातीसे लगाकर अपने पुत्रकी समान उनकी रक्षा करनेलगी ॥ २८ ॥ और बहुतसी प्रजावाला वेदोक्त अग्नि अपने मुखको बकरेकेसा बनाकर पर्वत पर निवास करनेवाले उस बालकको मानों अनेकों खिलौनोंसे खिलाता हो इसप्रकार बहुत लाड़ लड़ानेलगा ॥ २९ ॥ दोसौ छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२६ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि—हे राजन् युधिष्ठिर ! ग्रह, राहु आदि उपग्रह, ऋषि, माताएं अग्नि आदि मदोन्मत्त पार्षद तथा

महद्भो घोरास्त्रिदिववासिनः । परिवार्य महासेनं स्थिता मातृगणैः सह ॥ २ ॥ संदिग्धं विजयं दृष्ट्वा विजयेप्सुः सुरेश्वरः । आरुह्यै-रावतं स्कन्दं प्रययौ दैवतैः सह ॥ ३ ॥ आदाय वज्रं बलवान् सर्वैर्देवगणैर्वृतः । विजिघांसुर्महासेनमिन्द्रस्तूर्णतरं ययौ ॥ ४ ॥ उग्रं तच्च महानादं देवानीकं महाप्रभम् । विचित्रध्वजसन्नाहं नानावाहनकार्मुकम् ॥ ५ ॥ प्रवराम्बरसंवीतं श्रिया जुष्टमलंकृतम् विजिघांसुं तमायान्तं कुमारः शक्रमन्वयात् ॥ ६ ॥ विनदन् पार्थ देवेशो द्रुतं याति महाबलः । संहर्षयन् देवसेनां जिघांसुः पावकात्मजम् ॥ ७ ॥ संपूज्यमानस्त्रिदशैस्तथैव परमर्षिभिः । समीपमथ संप्राप्तः कार्त्तिकेयस्य वासवः ॥ ८ ॥ सिंहनादं ततश्चक्रे देवेशः

और बहुतसे भयंकर देवता मातृकाओं सहित महासेन स्कन्दको घेर कर उनकी रक्षा करनेलगे ॥ १ –२ ॥ उस समय इन्द्रने मेरे विजय होनेमें संदेह है, यह जानने पर भी विजयकी इच्छासे ऐरावत हाथीके ऊपर चढ़कर हाथमें व[illegible] धारण कर स्कन्दको मारनेके लिये सकल देवताओं सहित [illegible] साथ उनके ऊपर धावा करदिया ॥ ३–४ ॥ उस समय महाशब्द करतीहुई महाकान्ति-वाली विचित्र ध्वजा और पताकावाली तथा अनेकों प्रकारकी सामग्रीवाली अनेकों प्रकारके वाहन तथा धनुषोंवाली देवसेना भी महागर्जना करतीहुई बड़ी शीघ्रतासे महासेनके ऊपर चढ आई ॥ ५ ॥ इन्द्र शोभायमान वस्त्र तथा युद्धके आभूषणोंसे सज शोभायुक्त होकर स्कन्दको मारनेकी इच्छासे उनके ऊपर सेना लेगया उधर स्कंदने भी उसके ऊपर चढ़ाई की ॥ ६ ॥ हे पृथा-पुत्र ! उस समय महाबली देवराज इन्द्र अग्निके पुत्र स्कन्दको मारनेकी इच्छासे गर्जना कर देवसेनाको प्रसन्न करता हुआ शीघ्रतासे चला और देवता तथा परमर्षि जिसकी पूजा करते हैं, ऐसा इन्द्र स्कन्दके पास जा पहुंचा ॥ ७ ॥ ८ ॥ और वहाँ पहुंच ने पर साथ आयेहुए देवताओंके तथा इन्द्रने सिंहकी समान गर्जना

सहितैः सुरैः । गुहोऽपि शब्दं तं श्रुत्वा व्यनदत् सागरो यथा ६
तस्य शब्देन महता समुद्धूतोदधिप्रभम् । बभ्राम तत्र तत्रैव देवसैन्यमचेतनम् ॥ १० ॥ जिघांसूनुपसम्प्राप्तान् देवान् दृष्ट्वा स पावकिः । विससर्ज मुखात् क्रुद्धः प्रवृद्धाः पावकार्चिषः ॥ ११ ॥ अदहद्देवसैन्यानि वेपमानानि भूतले । ते प्रदीप्तशिरोदेहाः प्रदीप्तायुधवाहनाः ॥ १२ ॥ प्रच्युताः सहसा भान्ति व्यस्तास्तारागणा इव । दह्यमानाः प्रपन्नास्ते शरणं पावकात्मजम् ॥ १३ ॥ देवा वज्रधरं त्यक्त्वा ततः शान्तिमुपागताः । त्यक्तो देवैस्ततः स्कन्दे वज्रं शक्रो न्यपातयत् ॥ १४ ॥ तद्विसृष्टं जघानाशु पार्श्वं स्कन्दस्य दक्षिणम् । बिभेद च महाराज पार्श्वं तस्य महात्मनः ॥ १५ ॥ वज्रप्रहारात् स्कंदस्य सञ्जातः पुरुषोऽपरः । युवा

की, उनकी गर्जनाको सुनकर अग्निकुमारने भी समुद्रकी समान गर्जना की ॥ ९ ॥ उनकी महागर्जनाके कारण खलभलाए हुए महासमुद्रका समान देवताओंकी सेना अचेत होकर इधर उधरको भागनेलगी ॥ १० ॥ तदनन्तर अपना नाश करनेको आयेहुए देवताओंको देखकर अग्निपुत्र कार्तिकेयको क्रोध आगया और उन्होंने अपने मुखमेंसे धकधकाते हुए अग्निकी बड़ी २ लपटें निकालना आरंभ कीं॥११॥वे लपटें काँपतीहुई देवसेनाको भस्म करनेलगी और देवताओंकी सेनाके मनुष्योंके मस्तकोंके ऊपर के केश, शस्त्र, हाथी, घोड़े आदि वाहन जलनेलगे तथा पृथ्वी पर गिरनेलगे, उस समय भूमिमें पड़ेहुए देवसेनाके योधा आकाशमें दूर २ स्थित तारोंकी समान शोभा पाते थे, तदनन्तर अग्निसे जलते हुए उस देवसेनाके योधा अग्निकमारकी शरणमें गये १२ ॥ १३ ॥ और जब देवताओंने इन्द्रको छोड़दिया तब ही उन्हें शांति मिली परन्तु देवताओंने जब इन्द्रका तजदिया तब इन्द्रने स्कन्दके ऊपर वज्रका प्रहार किया ॥१४॥ इन्द्रने वज्र माराकि-उस वज्रने तुरत ही महात्मा स्कन्दके दाहिने हाथको बींध डाला ॥ १५ ॥ उस वज्रके प्रहारसे स्कन्दका दाहिना हाथ उखड़गया

काञ्चनसन्नाहः शक्तिधृग्दिव्यकुण्डलः ॥ १६ ॥ यद्वज्रविशनाज्जातो विशाखस्तेन सोऽभवत् । संजातमपरं दृष्ट्वा कालानलसमद्युतिम् ॥ १७ ॥ भयादिन्द्रस्तु तं स्कन्दं प्रांजलिः शरणं गतः । तस्याभयं ददौ स्कन्दः सहसैन्यस्य सत्तमः । ततः प्रहृष्टास्त्रिदशा वादित्राण्यभ्यवादयन् ॥ १८ ॥　　छ　　॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणीन्द्रस्कंदसमागमे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

मार्कण्डेय उवाच । स्कंदपारिषदान् घोरान् शृणुष्वाद्भुतदर्शनान् । वज्रप्रहारात् स्कंदस्य जज्ञस्तत्र कुमारकाः ॥ १ ॥ ये हरन्ति शिशून् जातान् गर्भस्थांश्चैव दारुणाः । वज्रप्रहारात् कन्याश्च जज्ञिरेऽस्य महाबलः ॥ २ ॥ कुमारास्ते विशाखश्च पितृत्वे समक-

---

और उसमेंसे सोनेके कवचवाला, शक्तिधारी, दिव्यकुण्डलधारी एक तरुण पुरुष उत्पन्न हुआ ॥ १६ ॥ वज्रने स्कन्दका हाथ उखाड़डाला था और उसमेंसे वह पुरुष उत्पन्न हुआ था इस कारण उसका नाम विशाख पड़ा था, कोपानलकी समान कांतिमान् इस दूसरे पुरुषको देखकर इन्द्रको भयलगा और डरके मारे दोनों हाथ जोड कर वह भी स्कन्दकी शरणमें गया, उस समय श्रेष्ठ गुणोंवाले स्कन्दने इंद्र तथा उसकी सेनाको अभयवचन दिया और इस पर देवताओंने प्रसन्न होकर उस हर्षके अवसर पर बाजे बजाकर उसका अभिनन्दन किया ॥ १७—१८ ॥ दोसौ सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२७ ॥　　छ　　॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि–हे राजन् युधिष्ठिर ! स्कन्दके अद्भुतपराक्रमी और अद्भुत दीखनेवाले पार्षद, जोकि स्कंदके ऊपर वज्रका प्रहार होते समय उत्पन्न हुए थे जो कि जन्मेहुए बालकोंका तथा गर्भमेंके बालकोंका हरण करते हैं, उनका तथा वज्रका प्रहार होनेपर स्कंदके शरीरमेंसे जो महाबलवाली कन्याएं उत्पन्न हुईं उन कन्याओंका मैं तुमसे वर्णन करता हूं, सुनो ॥ १–२ ॥ जो

ल्पयन् । स भूत्वा भगवान् संख्ये रक्षंश्छागमुखस्तदा ॥ ३ ॥ वृतः कन्यागणैः सर्वैरात्मीयैः सह पुत्रकैः । मातणां प्रेक्षतीनाञ्च भद्रशाखश्च कौसलः ॥ ४ ॥ ततः कुमारपितरं स्कंदमाहुर्जना भुवि । रुद्रमग्निमुखां स्वाहां प्रदेशेषु महाबलम् ॥ ५ ॥ यजंति पुत्रकामाश्च पुत्रिणश्च सदा जनाः । यास्तास्त्वजनयत् कन्यास्तपो नाम हुताशनः ॥ ६ ॥ किं करोमीति ताः स्कंदं संप्राप्ताः सम-भाषयन् । कुमार्य ऊचुः । भवेम सर्वलोकस्य मातरो वयमुत्तमाः ॥ ७ ॥ प्रसादात्तव पूज्याश्च प्रियमेतत् कुरुष्व नः । सोऽब्रवीद्बाढ-मित्येवं भविष्यध्वं पृथग्विधाः ॥ ८ ॥ शिवाश्चैवाशिवाश्चैव पुनः पुनरुदारधीः । ततः सङ्कल्प्य पुत्रत्वे स्कंदं मातृगणोऽगमत् ॥ ९ ॥ काकी च हलिमा चैव मालिनी वृंहिता तथा । आर्य्या पलाला

कुमार उत्पन्न हुए थे, उन्होंने त्रिशाखको अपना पिता बनाया परमकुशल भगवान् भद्रशाख नामवाले स्कंद युद्धमें वकरेका मुख बनाकर सब मातृकाओंके सामने सबकी रक्षा करतेहुए अपने सब पुत्र तथा पुत्रियोंसे घिरकर खड़े होगए ॥ ३–४ ॥ इससे पृथ्वीके ऊपर मनुष्य उनको कुमारका पिता कहकर पुकारते हैं, तथा पुत्रकी कामनावाले मनुष्य महाबली रुद्ररूप अग्निको और स्वाहारूपिणी उमाका दीवारके ऊपर चीतकर उनकी उपासना करते हैं और उस उपासनाके द्वारा पुरुषोंको सदा पुत्रोंकी प्राप्ति होती है, तदनन्तर तप नामक अग्निने जो कन्याएं उत्पन्न की थीं वे कन्याएं स्वामि-कार्तिकेयके पास आईं तब उन कन्याओंसे स्वामिकार्तिकेयने कहा कि-मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ सो कहो ॥ ५--६ ॥ कुमारिकाएं बोलीं कि—तुम्हारी कृपासे हम सब लोकोंकी श्रेष्ठ माताएं और पूज्य हों तुम हमारा यही प्रिय करो स्वामिकार्तिकेयने कहा कि–अच्छा तुम इच्छानुसार शिवा तथा अशिवा नामसे अलग २ मातृकाएं होओगी ॥ ७-८ ॥ इस प्रकार वर मिलने पर उदार बुद्धिवालीं माताएं वारम्बार विचार करके स्कंदको अपना पुत्र निश्चय कर तहांसे चलीगईं ॥ ९ ॥ उनमें काकी, हलिमा, मालिनी

वैमित्रा सप्तैताः शिशुमातरः ॥ १० ॥ एतासां वीर्यसम्पन्नः शिशुर्नामातिदारुणः । स्कंदप्रसादजः पुत्रो लोहिताक्षो भयङ्करः ११ एष वीराष्टकः प्रोक्तः स्कंदमातृगणोद्भवः । छागवक्त्रेण सहितो नवकः परिकीर्त्यते ॥ १२ ॥ षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कंदस्यैवेति विद्धि तत् । षट्शिरोऽभ्यन्तरं राजन् नित्यं मातृगणार्च्चितम् १३ षण्णां तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्द्यते । शक्तिं येनासृजद्दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह ॥ १४ ॥ इत्येतद्विविधाकारं वृत्तं शुक्लस्य पञ्चमीम् । तत्र युद्धं महाघोरं वृत्तं षष्ठ्यां जनाधिप ॥१५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि कुमारोत्पत्तौ अष्टविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

मार्कण्डेय उवाच । उपविष्टं तु तं स्कंदं हिरण्यकवचस्रजम् ।

वृंहिता, आर्या, पलाला और वैमित्रा ये सात शिशुमाता मानी जाती हैं ॥ १० ॥ स्कंदके अनुग्रहसे उन सात माताओंके एक शिशु नामक अति दारुण पुत्र उत्पन्न हुआ, वह शरीरमें बली लाल २ नेत्रोंवाला और भयंकर था ॥ ११ ॥ तथा यह स्कंदकी माताओंसे उत्पन्न हुआ था इसकारण आठवाँ वीर कहलाया परंतु छागवक्त्र के साथ गिननेसे वह नवमाँ वीर कहाता है ॥ १२ ॥ हे राजन् ! तुम्हें ज्ञात हो कि--स्वामिकार्तिकेयका छठा मुख बकरेकी समान है जो सबके मध्यमें है, उन छहों मस्तकोंका एक २ मातृका नित्य पूजन करती हैं और वह बकरेका मुख छहों मुखोंमें श्रेष्ठ गिनाजाता है और उस मस्तकसे युक्त होकर भद्रशाखने दिव्य शक्तिको उत्पन्न किया था ॥ १३-१४ ॥ हे राजन् ! शुक्लपक्षकी पंचमीके दिन इसप्रकार नाना प्रकारका वृत्तांत हुआ था और षष्ठीके प्रातःकालमें महाघोर संग्राम हुआ था ॥ १५ ॥ दोसौ अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२८ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

मार्कण्डेय कहते हैं कि--हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर सुवर्णका कवच

हिरण्यचूडमुकुटं हिरण्याक्षं महाप्रभम् ॥ १ ॥ लोहिताम्बरसंवीतं तीक्ष्णदंष्ट्रं मनोरमम् । सर्वलक्षणसम्पन्नं त्रैलोक्यस्यापि सुप्रियम् ॥ २ ॥ ततस्तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुण्डलम् । अभजत् पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी ॥ ३ ॥ श्रिया जुष्टः पृथुयशाः स कुमारवरस्तदा । निषण्णो दृश्यते भूतैः पौर्णमास्यां यथा शशी ॥ ४ ॥ अपूजयन्महात्मानो ब्राह्मणास्तं महाबलम् । इदमाहुस्तदा चैव स्कंदं तत्र महर्षयः ॥ ५ ॥ ऋषय ऊचुः । हिरण्यगर्भ भद्रं ते लोकानां शङ्करो भव । त्वया षड्रात्रिजातेन सर्वेलोका वशीकृताः ॥ ६ ॥ अभयञ्च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम । तस्मादिन्द्रो भवानस्तु त्रैलोक्यस्याभयङ्करः ॥ ७ ॥ स्कंदउवाच किमिन्द्रः सर्वलोकानां करोतीह तपोधनाः । कथं देवगणांश्चैव

पुष्पमाला तथा मस्तक पर सुवर्णकी मुकुटको धारण करनेवाले, सुवर्णके समान नेत्रोंवाले महाकांतिमान् रक्त वस्त्रधारी तीक्ष्ण डाढ़ोंवाले, मनोहर, सब शुभ लक्षणोंसे युक्त, तीनों लोकोंके प्रेम पात्र, वरदान देनेवाले शूर, दमकतेहुए कुण्डलोंको धारण करके बैठेहुए स्वामिकार्तिकेयकी साक्षात् पद्मा (लक्ष्मी) स्वयं ही मूर्तिमता होकर सेवा करनेलगी ॥ १–२ ॥ और महाकीर्तिमान् कुमारश्रेष्ठ स्वामिकार्तिकेय जो सबके सन्मुख बैठे थे वे जैसे पूर्ण चन्द्रमा शोभायमान दीखता है तिसीप्रकार सब प्राणी उनको शोभायमान देखनेलगे ॥ ३–४ ॥ तदनन्तर महात्मा ब्राह्मण और महर्षि तहां बैठेहुए महाबली स्कंदकी पूजा करके इसप्रकार कहने लगे ॥ ५ ॥ ऋषि बोले कि–हे हिरण्यगर्भ ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम जगत्का कल्याण करो ! छः रात्रियोंमें उत्पन्न हुए तुमने सब लोकोंको वशमें करलिया है ॥६॥ और हे सुरश्रेष्ठ ! उन सब देवताओंको तुमने अभयदान भी दिया है, अतः-तुम इंद्र बनकर तीनों लोकोंको निर्भय करो ॥ ७ ॥ स्वामिकार्तिकेयने बूझा कि हे तपोधनों ! इंद्र सब लोगोंका क्या प्रिय करता है ? और देव-

पाति नित्यं सुरेश्वरः ॥ ८ ॥ ऋषय ऊचुः । इन्द्रो दधाति भूतानां बलं तेजः प्रजा सुखम् । तुष्टः प्रयच्छति तथा सर्वान् कामान् सुरेश्वरः ॥ ९ ॥ दुर्वृत्तानां संहरति व्रतस्थानां प्रयच्छति । अनुशास्ति च भूतानि कार्य्येषु बलसूदनः ॥ १० ॥ असूर्ये च भवेत् सूर्यस्तथाऽचन्द्रे च चन्द्रमाः । भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणैः ॥ ११ ॥ एतदिन्द्रेण कर्त्तव्यमिन्द्रे हि विपुलं बलम् । त्वञ्च वीर बली श्रेष्ठस्तस्मादिन्द्रो भवस्व नः ॥ १२ ॥ शक्र उवाच । भवस्वेन्द्रो महाबाहो सर्वेषां नः सुखावहः । अभिषिच्यस्व चैवाद्य प्राप्तरूपोऽसि सत्तम ॥ १३ ॥ स्कन्द उवाच । शाधि त्वमेव त्रैलोक्यमव्यग्रो विजये रतः । अहन्ते किङ्करः शक्र न

राज इंद्र देवताओंकी किसप्रकार रक्षा करता है ? यह मुझसे कहो ॥ ८ ॥ ऋषि बोले कि–देवेश इंद्र जिन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है उन्हें बल, तेज प्रजा और सुख देता है, इसके सिवाय उनकी सब कामनाओंको भी पूरी करता है ॥ ९ ॥ वह दुराचारियोंके सुख आदिको हरलेता है; और सदाचारियोंको सुख आदि देता है, और उन सब प्राणियोंको उनके कार्योंके विषयमें शिक्षा देता है ॥ १० ॥ और जब सूर्य नहीं होता है तब वह सूर्य होकर प्रकाश करता है, और जब चन्द्रमा नहीं होता है, तब वह चन्द्रमा बनकर प्रकाश करता है, तिसीप्रकार अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीके न होने पर उनके रूपको धारण करता है ॥ ११ ॥ यह सब इंद्रको करना पड़ता है क्योंकि–इंद्रमें अतुल बल है, हे वीर ! तुम भी महाबली हो अतः तुम हमारे इंद्र होओ ॥ १२ ॥ यह सुनकर देवराज इंद्र बोला कि–हे महाभुज श्रेष्ठ स्कंद ! तुम हमारे इन्द्र बनो और हम सबको सुख दो तुम इंद्र बननेके योग्य हो अतः तुम आज ही इन्द्र पद पर अभिषेक कराओ ॥ १३ ॥ स्कन्दने उत्तर दिया कि–हे इन्द्र ! तुम ही सावधान होकर तीनों लोकोंका पालन करो और विजय पाते रहो ! मैं तुम्हारा किंकर हूं और

ममेन्द्रत्वमीप्सितम् ॥ १४ ॥ शक्र उवाच । बलं तवाद्भुतं वीर त्वं देवानामरीन् जहि । अवज्ञास्यन्ति मां लोका वीर्येण तव विस्मिताः ॥ १५ ॥ इन्द्रत्वे तु स्थितं वीर बलहीनं पराजितम् । आवयोश्च मिथो भेदे प्रयतिष्यन्त्यतन्द्रिताः ॥ १६ ॥ भेदिते च त्वयि विभो लोको द्वैधमुपेष्यति । द्विधाभूतेषु लोकेषु निश्चितेष्वावयोस्तथा ॥ १७ ॥ विग्रहः संप्रवर्त्तेत भूतभेदान्महाबल । तत्र त्वं मां रणे तात यथाश्रद्धं विजेष्यसि ॥ १८ ॥ तस्मादिन्द्रो भवानेव भविता मा विचारय । स्कंद उवाच । त्वमेव राजा भद्रं ते त्रैलोक्यस्य ममैव च ॥ १९ ॥ करोमि किञ्च ते शक्र शासनं तद्ब्रवीहि मे । इन्द्र उवाच । अहमिंद्रो भविष्यामि तव वाक्यान्महाबल ॥२०॥

मुझे इन्द्रपदको भोगनेकी इच्छा नहीं है ॥ १४॥ इन्द्र बोले कि-हे वीर तुम्हारा बल अद्भुत है, अतः तुम देवताओंके शत्रुओंका नाश करो ! तुम्हारे पराक्रमसे विस्मित हुए प्राणी इन्द्रके पदपर बैठे हुए और तुमसे हारे हुए मुझको बलहीन जानकर मेरा अपमान करेंगे इतना ही नहीं किंतु हम दोनोंमें मतभेद डालनेके लिये लोग सावधान होकर प्रयत्न करगे ॥ १५—१६ ॥ हे विभो परमात्मन् ! तुम मुझसे अलग रहोगे तो लोग भिन्न २ मतके होजायगे कुछ कहेंगे कि स्वामिकार्तिकेय बली हैं, कुछ कहेंगे कि—इन्द्र बलवान् है, इस प्रकार हम दोनोंके विषयमें अवश्य ही मतभेद होगा और हे महाबलवान् ! मनुष्योंके दो मतोंके कारण हममें तुममें लडाई ठनेगी, उस समय हे तात ! तुम श्रद्धाके साथ रणभूमिमें मेरा पराजय करोगे ॥ १७-१८ ॥ अतः तुम ही आगे को इन्द्र होजाओगे, इसकारण विचारमें मत पड़ो और आज ही इन्द्रपदको स्वीकार करो, स्कन्द बोले कि—तुम ही राजा रहो तुम्हारा कल्याण हो ॥ १९ ॥ हे इन्द्र ! कहो तुम्हारी किस आज्ञाका पालन करूँ इन्द्रने कहा कि—हे महाभाग्यवान् ! तुम्हारे कहनेसे मैं इन्द्र

यदि सत्यमिदं वाक्यं निश्चयाद्भाषितं त्वया। यदि वा शासनं स्कंद कर्त्तुमिच्छसि मे शृणु ॥ २१ ॥ अभिषिच्य स्वदेवानां सैनापत्ये महाबलः। स्कन्द उवाच। दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये ॥ २२ ॥ गोब्राह्मणहितार्थाय सैनापत्येऽभिषिञ्च माम्। मार्कण्डेय उवाच। सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैर्देवगणैः सह॥२३॥ अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः। तत्र तत् काञ्चनं छत्रं ध्रियमाणं व्यरोचत ॥२४॥ यथैव सुसमिद्धस्य पावकस्यात्ममण्डलम्। विश्वकर्म्मकृता चास्य दिव्यमाला हिरण्मयी ॥ २५ ॥ आबद्धा त्रिपुरघ्नेन स्वयमेव यशस्विना। आगम्य मनुजव्याघ्र सह देव्या परन्तप ॥ २६ ॥ अर्च्चयामास सुप्रीतो भगवान् गोवृष-

होऊँगा२०परन्तु यदि तुम मुझसे निश्चय ही सत्य कहते हो तबही तथा हे स्वामिकार्तिकेय ! यदि तुम मेरी आज्ञा पालना चाहते होतो मैं तुमसे कहाता हूं, उसे सुनो॥२१॥ देवसेनापतिकी पदवीके ऊपर अपना अभिषेक करवाओ क्योंकि-तुम महाबली हो स्वामिकार्तिकेय बोले कि-तुम दानवोंका विनाश करनेके लिये देवताओंकी अर्थसिद्धि करनेके लिये और गौ ब्राह्मणका हित करनेके सेनापतिके पद पर मेरा अभिषेक भले ही कर दो । मार्कण्डेय बोले कि-इसप्रकार स्कन्दने कहा तब इन्द्रने सब देवताओंके साथ मिलकर उनका सेनापतिके पदपर अभिषेक किया ॥ २२-२३ ॥ उस समय महर्षियोंसे पूजे जाते हुए स्वामिकार्तिकेय अत्यंत शोभित होने लगे। अभिषेक होनेके पीछे उनके मस्तकपर सुवर्णका छत्र धरागया था वह अतिप्रदीप्त हुआ अग्निमण्डलसा दीखता था हे मनुष्यव्याघ्र ! हे शत्रुतापिन् राजन् ! फिर त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले यशस्वी शंकर तहां पार्वती देवीके साथ पधारे और उन्होंने स्वयं अपने हाथसे विश्वकर्माकी बनाईहुई सुवर्णकी दिव्यमाला स्कंदके कण्ठमें पहिरादी भगवान् वृषभध्वज शंकरने परमप्रेमपूर्वक उनका पूजन किया ब्राह्मण अग्निको रुद्र क-

ध्वजः। रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहू रुद्रसूनुस्ततस्तु सः ॥ २७॥ रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तच्छ्वेतः पर्वतोऽभवत्। पावकस्येन्द्रियं श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे ॥ २८ ॥ पूज्यमानन्तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः। रुद्रसूनुम्ततः प्राहुर्गुहं गुणवताम्वरम् ॥ २९ ॥ अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्निं जातो ह्ययं शिशुः। तत्र जातस्ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३० ॥ रुद्रस्य वह्नेः स्वाहायाः षण्णां स्त्रीणाञ्च भारत। जातः स्कन्दः सुरश्रेष्ठो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३१ ॥ अजरे वाससी रक्ते वसानः पावकात्मजः। भाति दीप्तवपुः श्रीमान् रक्ताभ्राभ्यामिवांशुमान् ॥ ३२ ॥ कुक्कुटश्चाग्निना दत्तस्तस्य केतुरलंकृतः। रथे समुच्छ्रितो भाति कालाग्निरिव लोहितः ॥ ३३ ॥ या चेष्टा सर्व-

---

हते हैं अतः स्कन्द रुद्रपुत्र भी गिनेजाते हैं ॥२४—२७॥ शंकरने अपना वीर्य त्यागा था उससे श्वेतगिरि हुआ था। उस श्वेतगिरिपर्वत पर कृत्तिकाओंने अग्निका वीर्य धारण किया था और सब देवताओंने उत्पन्न हुए स्वामिकार्तिकेयकी शिवजीको पूजा करते हुए देखा था इससे देवता गुणवानोंमें श्रेष्ठ कार्तिकेयको शंकरका पुत्र कहते हैं ॥ २८--२९ ॥ इस विषयमें यह भी कहाजाता है कि--रुद्रने अग्निमें प्रवेश करके उस पुत्रको उत्पन्न किया था और वह रुद्रके वीर्यमेंसे उत्पन्न हुए थे इससे भी वह रुद्रके पुत्र कहाते हैं। हे भरतवंशी राजन! देवश्रेष्ठ स्वामिकार्तिकेय रुद्र—अग्नि स्वाहा और छः कृत्तिका नामवाली स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए हैं इस लिये भी वह रुद्रपुत्र कहाते हैं ॥ ३०—३१ ॥ श्रीमान् अग्निपुत्र स्वामिकार्तिकेय शुद्ध दो लाल वस्त्रोंको धारण करतेहैं उनका शरीर तेजस्वी है, इसकारण वह दो लाल वादलोंके मध्यमें स्थित सूर्य की समान शोभा पाते हैं ॥ ३२ ॥ अग्निदेवने उनको एक मुरगा भेटमें दिया है, और शोभायमान ध्वजा दी है, रक्तवर्णके कालाग्निका समान दीखता हुई वह लाल ध्वजा उनके रथके ऊपर सदा फहराया करती है ॥ ३३ ॥ हे राजन्! जो सब प्राणियों

भूतानां प्रभा शान्तिर्बलं तथा। अग्रतस्तस्य सा शक्तिर्देवानां जयवर्धनी ॥३४॥ विवेश कवचं चास्य शरीरे सहजं तथा। युध्यमानस्य देवस्य प्रादुर्भवति तत् सदा ॥ ३५ ॥ शक्तिर्धर्मो बलं तेजः कान्तत्वं सत्यमुन्नतिः। ब्रह्मण्यत्वमसम्मोहो भक्तानां परिरक्षणम् ॥ ३६ ॥ निकृन्तनश्च शत्रूणां लोकानां चाभिरक्षणम्। स्कन्देन सह जातानि सर्वाण्येव जनाधिप ॥ ३७ ॥ एवं देवगणैः सर्वैः सोऽभिषिक्तः स्वलंकृतः। बभौ प्रतीतः सुमनाः परिपूर्णेन्दुमण्डलः ॥ ३८ ॥ इष्टैः स्वाध्यायघोषैश्च देवतूर्यवरैरपि। देवगन्धर्वगीतैश्च सर्वैरप्सरसां गणैः ॥ ३९ ॥ एतैश्चान्यैश्च बहुभिस्तुष्टैर्हृष्टैः स्वलंकृतैः। सुसंवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ॥ ४० ॥

को चेष्टा कराती है, जो प्रभा, शान्ति तथा बलरूपसे प्राणियोंमें वास करती और देवताओंकी विजयमें वृद्धि करनेवाली है वह शक्ति पहिले ही स्वामिकार्त्तिकेयके शरीरमें आगई है ॥ ३४ ॥ तदनन्तर उनके शरीरमें सहजात(जन्मके साथ उत्पन्न हुए) कवच ने प्रवेश किया है, वह कवच जब देवताओंका युद्ध होता है तब उनके शरीरमें स्वयं ही प्रकट होजाता है ॥३५॥ हे राजन्! शक्ति धर्म, बल, तेज, कांति,-सत्यता, उन्नति, ब्रह्मण्यता असंमोह, भक्तोंकी रक्षा इतनी वस्तुएं स्वामिकार्तिकेयके साथ ही उनके जन्म के समय उत्पन्न हुई हैं ॥ ३६—३७ ॥ इसप्रकार सब देवताओं के मण्डलोंने कार्तिकेयको देवसेनापतिके पद पर अभिषिक्त किया तब वस्त्र तथा आभूषणोंसे भलीप्रकार सजेहुए और प्रसन्न मन वाले कुमार स्वामिकार्तिकेय हर्षमें भरगए ॥ ३८ ॥ उस समय उनके पास इष्ट वेदकी ध्वनियें देवताओंके बाजोंकी ध्वनियें और देवताओंके तथा गंधर्वोंके बाजोंकी ध्वनियें होती थीं और प्रसन्न हुए तथा सन्तुष्ट हुए सब अप्सराओंके मंडल पिशाचोंके दल, देवताओंके मण्डल तथा दूसरे प्राणियोंके मण्डलोंने स्वामिकार्तिकेयको चारों ओरसे घेर लिया था, ये सब मण्डल नये २

क्रीडन् भाति तदा देवैरभिषिक्तश्च पावकिः । अभिषिक्तं महासेनमपश्यन्त दिवौकसः ॥४१॥ विनिहत्य तमः सूर्यम् यथेहाभ्युदितं तथा । अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः ॥ ४२ ॥ अस्माकं त्वं पतिरिति ब्राह्मणाः सर्वतो दिशः । ताः समासाद्य भगवान् सर्वभूतगणैर्वृतः ॥ ४३ ॥ अर्चितस्तु स्तुतश्चैव सान्त्वयामास ता अपि । शतक्रतुश्चाभिषिच्य स्कन्दं सेनापतिं तदा ॥ ४४ ॥सस्मार तां देवसेनां या सा तेन विमोक्षिता । अयं तस्याः पतिर्नूनं विहितो ब्रह्मणा स्वयम् ॥ ४५ ॥ इति चिन्त्यानयामास देवसेनां हलंकृताम् । स्कन्दं मोवाच वलभिदियं कन्या सुरोत्तम ॥ ४६ ॥ ह्यजाते त्वयि निर्दिष्टा तव पत्नी स्वयम्भुवा । तस्मात्त्वमस्य विधि-

---

वस्त्र तथा आभूषणोंसे सुशोभित थे ३९–४० ॥ उस समय देवताओंने जिनका अभिषेक किया है ऐसे अग्निपुत्र स्कन्द सब देवताओंके मध्यमें क्रीड़ा करते हुए शोभा पारहे थे और जैसे अंधेरेको नष्ट कर सूर्य उदित होता है, तिसीमकार स्वामिकार्तिकेय देवताओंको दीखते थे, तदनन्तर चारों दिशाओंमेंसे सहस्रों देवसेनाएं स्वामिकार्तिकेयके पास आकर उनसे कहनेलगीं कि–तुम हमारे स्वामी हो तब सब माणियोंसे घिरेहुए स्वामिकार्तिकेयने उन सेनाओंको ग्रहण किया उन सेनाओंने भी उनकी पूजा तथा स्तुति की और स्वामिकार्तिकेयने उस सेनाको शान्त कर उसे धैर्य दिया राजा इंद्रने सेनापतिके पद पर स्वामिकार्तिकेयका अभिषेक किया ॥ ४१–४४ ॥ तदनन्तर दैत्यके हाथमेंसे छुड़ाईहुई देवसेनाका स्मरण करके इंद्रने मनमें विचार किया कि–ब्रह्माजी ने वास्तवमें देवसेनाका पति इनको ही रचा है, अतः देवसेनाका इनके साथ विवाह करदेना चाहिये इसमकार विचार करके इंद्रने शृङ्गार कीहुई देवसेनाको बुलालिया और स्कन्दसे कहा कि–हे देवश्रेष्ठ! तुम्हारा जन्म नहीं हुआ था तब ही ब्रह्माने इस कन्याको तुम्हारी स्त्रीके रूपमें रचदिया है, अतः तुम शास्त्रोक्त विधिसे

तव् पाणिं मन्त्रपुरस्कृतम् ॥४७॥ गृहाण दक्षिणं देव्याः पाणिना पद्मवर्चसा । एवमुक्तः स जग्राह तस्याः पाणिं यथाविधि ॥४८॥ बृहस्पतिर्मन्त्रविद्धि जजाप च जुहाव च । एवं स्कन्दस्य महिषीं देवसेनां विदुर्जनाः ॥ ४९ ॥ षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमासां सुखप्रदाम् । सिनीवालीं कुहूञ्चैव सद्वृत्तिमपराजिताम् ॥ ५० ॥ यदा स्कन्दः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया । तदा तमाश्रयल्लक्ष्मीः स्वयं देवी शरीरिणी ॥ ५१ ॥ श्रीजुष्टः पञ्चमीं स्कन्दस्तस्माच्छ्रीपञ्चमी स्मृता । षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद्यस्मात्तस्मात् षष्ठी महातिथिः ॥ ५२ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि स्कन्दोपाख्यान ऊनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम् ।

वेदमन्त्र पढ़कर इस देवीका दाहिना हाथ अपने कमलकी समान कांतिवाले हाथसे पकडो इंद्रके कहनेपर स्वामिकार्तियकेयने शास्त्रोक्त विधिसे उसका पाणिग्रहण किया,उस समय मंत्रवेत्ता बृहस्पति ने मंत्र पढ कर होम किया, देवसेनाका इसप्रकार स्कन्दके साथ विवाह होने पर मनुष्य उनको स्कन्दकी पटरानी कहनेलगे और ब्राह्मण उनको षष्ठी, लक्ष्मी, आशा, सुखप्रदा, सिनीवाली, कुहू, सत्कृति और अपराजिता कहते हैं ॥४५-५०॥ देवसेनाने जबसे सर्वदाके लिये स्कन्दको अपने पतिरूपसे प्राप्त किया तबसे लक्ष्मी देवीने स्वयं मूर्तिमती होकर उनका आश्रय किया है ॥५१॥ पंचमी तिथिके दिन स्वामिकार्तिकेयने लक्ष्मीको प्राप्त किया था इसकारण पञ्चमी श्रीपंचमी कहाती है और छठके दिन स्वयं अपने कार्यमें सफल हुए थे इससे वह षष्ठी तिथि महातिथि कहलाती है ।५२। दो सौ उनतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२९ ॥ * ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि-हे राजन् ! युधिष्ठिर तदनन्तर

सप्तर्षिपत्न्यः षड् देव्यस्तत्सकाशमथागमन् ॥ १ ॥ ऋषिभिः संपरित्यक्ता धर्मयुक्ता महाव्रताः । व्रतमागम्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ॥ २ ॥ वयं पुत्र परित्यक्ता भर्तृभिर्देवसम्मितैः । अकारणाद्रुषा तैस्तु पुण्यस्थानात् परिच्युताः ॥ ३ ॥ अस्माभिः किल जातस्त्वमिति केनाप्युदाहृतम् । तत् सत्यमेतत् संश्रुत्य तस्मान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ ४ ॥ अक्षयश्च भवेत् स्वर्गस्त्वत्प्रसादाद्धि नः प्रभो । त्वां पुत्रञ्चाप्यभीप्सामः कृत्वैतदनृणो भव ॥ ५ ॥ स्कन्द उवाच ॥ मातरो हि भवंत्यो मे सुतो वोऽहमनिन्दिताः । यच्चापीच्छत तत्सर्वं संभविष्यति वस्तथा ॥६॥ मार्कण्डेय उवाच । विवक्षन्तं ततः शक्रं किं कार्यमिति सोऽब्रवीत् । उक्तः स्कन्देन

ऋषियोंकी त्यागीहुई धार्मिका महाव्रत धारण करनेवाली सप्तर्षियोंकी छः स्त्रियें लक्ष्मीयुक्त देवसेनाके अधिपति हुए स्वामिकार्तिकेयके पास शीघ्रतासे आई और देवसेनापति समर्थ स्वामिकार्तिकेयसे कहनेलगीं कि-॥१-२॥ हे पुत्र ! तुम्हारा हमसे जन्म हुआ है, ऐसा किसीने कहदिया इससे देवताओंमें माननीय गिनेजाते हुए हमारे पतियोंने विना कारण ही हमारे ऊपर क्रोध करके हम को त्याग दिया है और हम पवित्र स्थानसे भ्रष्ट होगई हैं, अतः तुम्हें हमारी इस वातको सच्ची मानकर हमारी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३-४ ॥ और हे प्रभो ! तुम्हारी कृपासे हमारा स्वर्गमें अक्षयवास हो और हम तुम्हें पुत्र वनाना भी चाहती हैं, अतः तुम इतना काम करके ऋणमेंसे मुक्त होजाओ ॥ ५ ॥ स्कन्द वोले कि-हे निर्दोष देवियों ! तुम मेरी माता हो मैं तुम्हारा पुत्र हूं तुम दूसरी भी और कुछ इच्छा करो वह भी तिसीप्रकार पूर्ण होगी ॥ ६ ॥ मार्कण्डेय वोले कि हे राजन् युधिष्ठिर ! तदनन्तर इन्द्र स्वामिकार्तिकेयके पास जाकर कुछ कहनेलगा इतनेमें कार्तिकेयने स्वयं ही उनसे बूझा कि-तुम्हारा अव क्या कार्य होना चाहिये तिसे

मूहीति सोऽब्रवीद्वासवस्ततः ॥ ७ ॥ अभिजित् स्पर्द्धमाना तु रोहिण्याः कन्यसी स्वसा । इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ॥ ८ ॥ तत्र मूढोऽस्मि भद्रन्ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम् । कालन्त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ॥ ९ ॥ धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः । रोहिणी ह्यभवत् पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ॥ १० ॥ एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिकागता । नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद्वह्निदैवतम् ॥ ११ ॥ विनता चाब्रवीत् स्कन्दं मम त्वं पिण्डदः सुतः । इच्छामि नित्यमेवाहं त्वया पुत्र सहासितुम् ॥ १२ ॥ स्कन्द उवाच ॥ एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात् प्रशाधि माम् । स्नुषया पूज्यमाना वै देवी वत्स्यसि

कहा इन्द्र बोला ॥ ७ ॥ रोहिणीकी छोटी बहिनने देवी अभिजित् अपनी बड़ी बहिनके साथ स्पर्धा करके उससे बड़प्पन पानेकी इच्छासे वनमें तप करनेको गई है ॥ ८ ॥ इसप्रकार आकाशसे एक नक्षत्रके नीचे गिरजानेके कारण मैं नक्षत्रोंकी संख्याको पूरी करनेके विचारमें लगरहा हूं, तुम्हारा कल्याण हो ! इसकारण तुम परमकालकी पूर्त्ति करनेके लिये (इस स्थानको पूर्ण करनेके लिये) विचार करो ॥९॥ चन्द्र, सूर्य और गुरुका जिस नक्षत्रके प्रथम चरणका योग हो वह युगादि नक्षत्र गिनाजाता है। यह नक्षत्र पहिले रोहिणी था परन्तु अभिजित् नक्षत्र रोहिणीके साथ स्पर्धा करके नीचे टूटपड़ा तब ब्रह्माजीने धनिष्ठाको युगादिनक्षत्र करके संख्याकी पूर्तिकी थी ॥ १० ॥ इसप्रकार इन्द्रने कहा तब नक्षत्रोंसे ही संख्याकी पूर्ति करो, ऐसे इन्द्रके अभिप्रायको समझ कर कृत्तिकाओंका स्वर्गमें स्थान किया जो अग्निकी समान झलझलाता है, जिसके सात मस्तक हैं, और जो नक्षत्र दिखाई देता है वे नक्षत्र, कृत्तिकाएं हुई हैं ॥ ११ ॥ तदनन्तर विनताने स्कन्द से कहा कि-तू मेरा पिंड देनेवाला पुत्र है अतः मैं तेरे पास ही सदा रहना चाहती हूं ॥१२॥ स्कंदने उत्तर दिया "तथास्तु,, मैं

नित्यदा ॥१३॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ अथ मातृगणः सर्वः स्कंदं वचनमब्रवीत् । वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्तुताः । इच्छामो मातरस्तुभ्यं भवितुं पूजयस्व नः ॥१४॥ स्कन्द उवाच॥ मातरो हि भवत्यो मे भवतानामहं सुतः । उच्यतां यन्मया कार्यं भवतीनामथेप्सितम् ॥ १५ ॥ मातर ऊचुः ॥ यास्तु ता मातरः पूर्वं लोकस्यास्य प्रकल्पिताः । अस्माकन्तु भवेत् स्थानं तासां चैव न तद्भवेत् ॥ १६ ॥ भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ । प्रजाऽस्माकं हृतास्ताभिस्त्वत्कृते ताः प्रयच्छ नः॥१७॥ स्कन्द उवाच ॥ दत्ताः प्रजा न ताःशक्या भवतीभिर्निषेवितुम् ।

तुमको प्रणाम करता हूं तुम पुत्रस्नेहसे मेरी रक्षा करो हे देवि ! तुम्हारी पुत्रवधू सदा तुम्हारी सेवा करेगी और तुम सदा मेरे पास रहोगी ॥ १३ ॥ मार्कण्डेय बोले कि–हे राजन् युधिष्ठिर ! तदनन्तर सब मातृकाएं स्कन्दसे कहनेलगीं कि—हम सब लोकों की मातृकाएं हैं, कवि हमारी स्तुति करते हैं, और हम तुम्हारी माता बनना चाहती हैं, अतः तम हमारा पूजन करो ॥ १४ ॥ स्कन्द बोले कि-अच्छा तुम मेरी माता हो और मैं तुम्हारा पुत्र हूं तुम्हें जो काम ईप्सित हो और मेरे करनेका हो वह कार्य मुझसे कहो ॥ १५ ॥ मातृकाएं बोलीं कि–पहिले ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि जो इस लोककी माताएं निर्माण कीगई हैं, उन मातृकाओंका जो स्थान है, वह हमारा स्थान हो परन्तु उनका वह स्थान न होय तैसा करो ॥ १६ ॥ और हम सब लोकोंमें पूज्य होय परन्तु हे देवश्रेष्ठ ! वे पूज्य न होयं और उन ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि माताओंने झूठमूठ दोष लगाकर हमारे पतियोंको कुपितकर हमारा त्याग कराया है,यह सब दुःख तुम्हारे कारणसे हमें भोगना पड़ता है, अतः तुम हमारा ऋषियोंके साथ मिलाप करादो ॥ १७ ॥ कार्तिकेय बोले कि–मैंने तुम्हें स्वीकार करनेके लिये ऋषियोंसे प्रार्थना की है परन्तु वे तुम्हें ग्रहण नहीं करेंगे अतः

अन्यां वः कां प्रयच्छामि प्रजां यां मनसेच्छथ॥१८॥मातर ऊचुः।
इच्छाम तासां मातॄणां प्रजा भोक्तुं प्रयच्छ नः। त्वया सह पृथग्भूता
ये च तासामथेश्वराः ॥ १६ ॥ स्कन्द उवाच ॥ प्रजा वो दद्मि
कष्टन्तु भवतीभिरुदाहृतम्। परिरक्षत भद्रं वः प्रजाः साधुनमस्कृताः
॥२०॥ मातर ऊचुः ॥ परिरक्षाम भद्रन्ते प्रजाः स्कंद यथेच्छसि।
त्वया नो रोचते स्कन्द सहवासश्चिरं प्रभो ॥२१॥ स्कंद उवाच॥
यावत् षोडशवर्षाणि भवन्ति तरुणाः प्रजाः। प्रबाधत मनुष्याणां
तावद्रूपैः पृथग्विधैः ॥२२॥ अहञ्च वः प्रदास्यामि रौद्रमात्मा-
नमव्ययम्। परमं तेन सहिताः सुखं वत्स्यथ पूजिताः ॥ २३ ॥
मार्कण्डेय उवाच ॥ ततः शरीरात् स्कंदस्य पुरुषः पावकप्रभः।

तुम सन्तानका सुख न पासकोगी अतः मैं तुम्हें दूसरी कौनसी प्रजादूँ
तुम मनमें जिस प्रजाकी इच्छा करोगी वह प्रजा मैं तुम्हें दूँगा
अतः तुम मुझसे माँगो ॥ १८ ॥ माताएं बोलीं कि-हम तुम्हारे
साथमें रहकर अनेकों रूप धरकर उन लोकपूज्य माताओंकी
प्रजाका तथा उनके गुरुजनोंका भक्षण करना चाहतीं हैं, अतः
तुम हमें यह सब अर्पण करो ॥ १६ ॥ स्वामिकार्तिकेय बोले कि
हे देवि! मैं तुम्हें भोगके लिये प्रजा देता हूं, परन्तु तुमने जो याचना
की है, वह अति दुःखदायिनी है, तुम्हारा कल्याण हो और मुझ
से प्रणाम करवाती हुईं तुम प्रजाओंकी रक्षा करो॥२०॥ माताएं
बोलीं कि-हे स्कन्द! तुम जैसा चाहते हो तिसीप्रकार हम प्रजा
की रक्षा करेंगी तुम्हारा कल्याण हो। हे प्रभो स्कंद! हम तुम्हारे
साथ बहुत दिनोंतक रहें यह हमें वर दो ॥ २१ ॥ स्कन्द बोले
कि-मनुष्योंकी प्रजा सोलह वर्षतक तरुणावस्थामें आवे तबतक
पृथक् २ अनेक रूप धारण करके तुम उनको पीड़ा देना॥२२॥मैं तुम
को अपना भयंकर और अविनाशी परमस्वरूप देता हूं उससे तुम
महासुखमें रहोगी और जगत्में मान पाओगी ॥ २३ ॥ मार्कण्डेय

भोक्तुं प्रजाः स मर्त्यानां निष्पपात महाप्रभः ॥ २४ ॥ अपतत् सहसा भूमौ विसंज्ञोऽथ क्षुधार्दितः । स्कंदेन सोऽभ्यनुज्ञातो रौद्ररूपोऽभवद् ग्रहः ॥ २५ ॥ स्कंदापस्मारमित्याहुर्ग्रहं तं द्विजसत्तमाः । विनता तु महारौद्रा कथ्यते शकुनिग्रहः ॥२६॥ पूतनां राक्षसीं प्राहुस्त विद्यात् पूतनाग्रहम् । कष्टदारुणरूपेण घोररूपा निशाचरी ॥ २७ ॥ पिशाची दारुणाकारा कथ्यते शीतपूतना । गर्भान् सा मानुषीणां तु हरते घोरदर्शना ॥२८॥ अदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः । सोऽपि बालान् महाघोरो बाधते वै महाग्रहः ॥ २९ ॥ दैत्यानां या दितिर्माता तमाहुर्मुखमण्डिकाम् । अत्यर्थं शिशुमांसेन संप्रहृष्टा दुरासदा ॥ ३० ॥ कुमाराश्च कुमार्यश्च ये प्रोक्ताः स्कंदसम्भवाः । तेऽपि गर्भभुजः सर्वे कौरव्यः सुमहा

बोले कि–हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर अग्निकी समान कांतिमान् एक पुरुष मनुष्योंकी प्रजाओंका भोग लेनेके लिये स्वामिकार्तिकेयके शरीरमेंसे प्रकट हुआ और एकाएकी पृथ्वीमें गिरगया वह क्षुधातुर होनेसे अचेत था। स्कन्दजीने उसे आज्ञा दी कि- तू भयङ्कर रूप धारण कर ग्रह होजा अर्थात् वह पुरुष भयङ्कर ग्रह हुआ ॥ २४–२५ ॥ श्रेष्ठ ब्राह्मण उसे स्कन्दापस्मार नामक ग्रह कहते हैं, भयङ्कर गरुड़की माता विनता शकुनि ग्रह कहलाती है ॥२६॥ जो पूतना राक्षसी कहाती है उसे पूतनाग्रह जानो दारुणरूपसे दुःख देनेवाली वह मातृका घोररूपा निशाचरी पिशाची,दारुणाकारवती तथा शीतपूतना आदि नामोंसे भी विख्यात है और भयङ्कर रूपधारिणी वह पिशाचिनी भयङ्कर रूपोंको धारण कर स्त्रियोंके गर्भोंका नाश करती है ॥ २७ ॥ २८ ॥ अदितिको रेवती कहते हैं और वह रैवत नामक महाग्रह कहाता है। यह महाभयङ्कर ग्रहभी बालकों को दुःख देता है ॥२९॥ दैत्योंकी दिति नामकी जो माता है उसको मुखमण्डिका कहते हैं वह दुरासदा राक्षसी शैशवावस्थाके बालकोंके मांससे अतिप्रसन्न रहती है॥३०॥ हे युधिष्ठिर!

ग्रहाः ॥ ३१ ॥ तासामेव तु पत्नीनां पतयस्ते प्रकीर्त्तिताः । आजायमानान् गृह्णन्ति बालकान् रौद्रकर्मिणः ॥ ३२ ॥ गवां माता तु या प्राज्ञैः कथ्यते सुरभिर्नृप । शकुनिस्तामथारुह्य सह भुंक्ते शिशून् भुवि ॥ ३३ ॥ सरमा नाम या माता शुनां देवी जनाधिप । सापि गर्भान् समादत्ते मानुषीणां सदैव हि ॥ ३४ ॥ पादपानां च या माता करञ्जनिलया हि सा । वरदा सा हि सौम्या च नित्यं भूतानुकम्पिनी ॥ ३५ ॥ करंजे तां नमस्यन्ति तस्मात् पुत्रार्थिनो नराः । इमे त्वष्टादशान्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः ॥ ३६ ॥ द्विपञ्चरात्रं तिष्ठन्ति सततं सूतिकागृहे । कद्रूः सूक्ष्मवपुर्भूत्वा गर्भिणीं प्रविशत्यथ ॥ ३७ ॥ भुंक्ते स तत्र तं गर्भं सा तु नागं प्रसूयते । गंधर्वाणां तु या माता सा गर्भं गृह्य गच्छति

स्कन्दसे उत्पन्न हुए जिन कुमार और कुमारिकाओंका वर्णन किया है वे सब महाग्रह कहलाते हैं और वे पृथक्२गर्भोंका भक्षण करते हैं ॥ ३१ ॥ और उन स्त्रियोंके वे कुमार पति भी कहाते हैं और भयंकर कर्म करनेवाले वे पुरुष जन्मते हुए बालकोंको हर लेते हैं ॥३२॥ हे राजन्! विद्वान् गौकी माताको सुरभि कहते हैं शकुनि उसके ऊपर चढकर लोगोंको खानेके लिये निकलता है और उन का भक्षण करता है ॥ ३३ ॥ हे नरेश! कुत्तोंकी माता सरमा देवी भी सदा स्त्रियोंके गर्भोंको लेजाती है । वृत्तों की माता करंजके पेड़का आश्रय करके रहती है । वह वर देने वाली है, सौम्य है,प्राणियोंके ऊपर दया करनेवाली है इसलिये मनुष्य करंजके पेडके नीचे उसको प्रणाम करते हैं, ये अठारह ग्रह तथा दूसरे ग्रह मांस और मदिराके ऊपर प्रेम रखते हैं और दश दिन तक वे ग्रह सोवडके घरमें सदा रहते हैं । कद्रू नामकी देवी सूक्ष्मरूप लेकर गर्भिणी स्त्रियोंके पेटमें प्रवेश करके ।३४-३७। उनके गर्भोंको खाजाती है, और वह गर्भवती स्त्री सन्तानके स्थान में नागको उत्पन्न करती है, गंधर्वोंकी माता स्त्रियोंके पेटमेंसे गर्भ

॥ ३८ ॥ ततो विलीनगर्भा सा मानुषी भुवि दृश्यते । या जनित्री त्वप्सरसां गर्भमास्ते प्रगृह्य सा ॥ ३९ ॥ उपनष्टं ततो गर्भं कथयंति मनीषिणः । लोहितस्योदधेः कन्या धात्री स्कन्दस्य सा स्मृता ॥ ४० ॥ लोहितायनिरित्येवं कदम्बे सा हि पूज्यते । पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथार्या प्रमदास्वपि ॥ ४१ ॥ आर्या माता कुमारस्य पृथक्कामार्थमिज्यते । एवमेते कुमाराणां मया प्रोक्ता महाग्रहाः ॥ ४२ ॥ यावत्षोडशवर्षाणि शिशूनां ह्यशिवास्ततः । ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः ॥ ४३ ॥ सर्वे स्कंदग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः । तेषां प्रशमनं कार्यं स्नानं धूपमथांजनम् । वलिकर्मोपहारांश्च स्कंदस्येज्या विशेषतः ॥४४॥ एवमभ्यर्चिताः सर्वे प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम् । आयुर्वीर्यञ्च राजेन्द्र

को लेकर भागजाती है, इससे पृथ्वीपर स्त्रिये शुष्कगर्भा (सूखे हुए गर्भवाली) दिखाई देती हैं, जब गर्भवतीके गर्भमें प्रवेश करके अप्सरा उसके गर्भको लेजाती है, तब विद्वान् गर्भपात होगया ऐसा कहते हैं, रक्तसमुद्रकी कन्या जो स्कन्दकी धात्री है वह लोहितायनी कहाती है और उसका कदम्बके वृक्षके नीचे पूजन किया जाता है, पुरुषोंमें जैसे रुद्र मुख्य गिनेजाते हैं, तैसे ही स्त्रियोंमें आर्यादेवी मुख्य गिनीजाती है, और वह कुमारकी माता है,जगत् में उसका पृथक् २ कामनाओंके लिये पूजन कियाजाता है, इस प्रकार मैंने तुमसे बालकोंके महाग्रह कहे ॥३८–४२ ॥ वे सोलह वर्षतकके बालकोंको पीड़ा देते हैं, जो मातृकाओंके गण पुरुष ग्रह कहे हैं उन सर्वोको मनुष्य नित्य स्कन्दग्रहके नामसे जानें उनको प्रसन्न करैं, स्नान करावें धूप चढ़ावें, अञ्जन लगावें, वलिदान दें, इसप्रकार नानाप्रकारकी भेटें अर्पण करैं तथा विशेषकर स्कंद की सेवा करैं, इसप्रकार पूजा करनेसे सब ग्रह मनुष्योंको सुख देते हैं तथा हे राजेन्द्र ! भलीप्रकार पजा करनेसे और नमस्कार

सम्यक्पूजानमस्कृताः ॥ ४५ ॥ ऊर्ध्वन्तु षोडशाद्वर्षाद्ये भवन्ति ग्रहा नृणाम् । तानहं सम्प्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥ ४६ ॥ यः पश्यति नरो देवान् जाग्रद्वा शयितोऽपि वा । उन्मार्द्यति स तु क्षिप्रं तन्तु देवग्रहं विदुः ॥ ४७ ॥ आसीनश्च शयानश्च यः पश्यति नरः पितॄन् । उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयस्तु पितृग्रहः ४८ अवमन्यति यः सिद्धान् क्रुद्धाश्चापि शपन्ति यम् । उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ज्ञेयः सिद्धग्रहस्तु सः ॥४९॥ उपाघ्राति च यो गन्धान् रसांश्चापि पृथग्विधान् । उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयो राक्षसग्रहः ॥ ५० ॥ गन्धर्वाश्चापि यं दिव्याः संविशन्ति नरं भुवि । उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ग्रहो गान्धर्व एव सः ॥ ५१ ॥ अधिरोहंति यं नित्यं पिशाचाः पुरुषं प्रति । उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ग्रहः पैशाच एव सः ॥ ५२ ॥ आविशन्ति च यं यक्षाः पुरुषं कालप-

---

करनेसे वे आयु और वीर्यको बढ़ाते हैं, ॥ ४३ – ४५ ये ग्रह तुम से सोलह वर्षके भीतरके बालकोंके कहे परन्तु अब सोलह वर्षसे अधिक अवस्थावालोंके जो ग्रह हैं उनको मैं शंकरको प्रणाम करके कहता हूं ॥ ४६ ॥ जो मनुष्य जागते में वा सोतेमें देवताओंको देखकर तुरन्त पागल बनजाता है उसका देवग्रह जानो ॥ ४७ ॥ जो मनुष्य सोते वा बैठतेमें पितरोंको देखकर तुरन्त ही उन्माद को प्राप्त होजाता है, उसको पितृग्रह जानो ॥ ४८ ॥ सिद्ध पुरुषों का अपमान करनेपर उन सिद्ध पुरुषोंके क्रुद्ध होकर शाप देनेसे जो मनुष्य तुरन्त ही पागल बनजाता है उसको सिद्धग्रह जानो ॥ ४९ ॥ जो पुरुष नाना प्रकारके रस और गन्धोंको सूंघ कर बावला बनजाता है, उसको राक्षसग्रह जानो ॥ ५० ॥ शरीरमें जिन दिव्य गन्धर्वोंके प्रवेश करनेसे पुरुष तुरन्त ही बावला होजाता है, उसको पृथ्वीपर गांधर्वग्रह कहते हैं ॥ ५१ ॥ पिशाचों के शरीरमें प्रवेश करनेसे जो पुरुष तुरन्त पागल होजाता है उसे पैशाचग्रह कहते हैं ॥ ५२ ॥ समय बदलनेपर यक्ष जिस पुरुषमें

र्यये। उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ज्ञेयो यक्षग्रहस्तु सः॥ ५३ ॥ यस्य दोषैः प्रकुपितं चित्तं मुह्यति देहिनः। उन्माद्यति स तु क्षिप्रं साधनं तस्य शास्त्रतः ॥ ५४ ॥ वैक्लव्याच्च भयाच्चैव घोराणाञ्चापि दर्शनात्। उन्माद्यति स तु क्षिप्रं सान्त्वन्तस्य तु साधनम्॥५५॥ कश्चित् क्रीडितुकामो वै भोक्तुकामस्तथापरः। अभिकामस्तथैवान्य इत्येष त्रिविधो ग्रहः॥ ५६ ॥ यावत् सप्ततिवर्षाणि भवन्त्येते ग्रहा नृणाम्। अतः परं देहिनां तु ग्रहतुल्यो भवेज्ज्वरः॥५७॥ अप्रकीर्णेन्द्रियं दान्तं शुचिं नित्यमतन्द्रितम्। आस्तिकं श्रद्दधानञ्च वर्जयन्ति सदा ग्रहाः॥५८॥ इत्येष ते ग्रहोद्देशो मानुषाणां प्रकीर्त्तितः। न स्पृशन्ति ग्रहा भक्तान् नरान् देवं महेश्वरम् ॥५९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मनुष्यग्रहकथने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३० ॥

प्रवेश करजाता है, उससे पुरुष तुरन्त ही पागल होजाता है उस को यक्षग्रह कहते हैं॥ ५३ ॥ जिस मनुष्यका मन दोषोंसे कुपित होकर मोहित होजाय और फिर वह मनुष्य तुरन्त पागल होजाय तो शास्त्रके द्वारा उसके रोगका उपाय करना चाहिये ॥ ५४ ॥ विकलताके कारण भयके कारण तथा भयंकर वस्तुओंको देखने से जो मनुष्य एकसाथ पागल होजाय उसका उपाय साम है, अर्थात् उसे धीरज देकर शान्त करे॥ ५५ ॥ कोई ग्रह क्रीडा चाहता है, कोई ग्रह वैभव भोगना चाहता है और कोई ग्रह भली प्रकार कामक्रीड़ा करना चाहता है, ऐसे तीन प्रकारके ग्रह होते हैं, वे ग्रह मनुष्यको सत्तर वर्ष पर्यन्त नाना प्रकारके दुःख देते हैं और तदनन्तर ग्रह केवल ज्वररूपसे मनुष्योंको प्राप्त होता है ५६ ॥ ५७ ॥ जितेंद्रिय, दाता, पवित्र, नित्य तन्द्रारहित, आस्तिक और श्रद्धावान् पुरुषोंको वे ग्रह सदा छोड़ देते हैं॥ ५८ ॥ इस प्रकार मनुष्योंके ग्रहोंका व्याख्यान तुमसे कहा. ये महेश्वर श्रीशिवकी भक्ति करनेवालोंको छूते भी नहीं हैं॥ ५९ ॥ दोसौ तीसवां अध्याय समाप्त॥ २३० ॥ छ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ यदा स्कंदेन मातॄणामेवमेतत् प्रियं कृतम् । अथैनमब्रवीत् स्वाहा मम पुत्रस्त्वमौरसः ॥ १ ॥ इच्छाम्यहं त्वया दत्तां प्रीतिं परमदुर्लभाम् । तामब्रवीत्ततः स्कंदः प्रीतमिच्छसि कीदृशम् ॥ २ ॥ स्वाहोवाच ॥ दक्षस्याहं प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज । बाल्यात् प्रभृति नित्यञ्च जातकामा हुताशने ३ न स मां कामिनीं पुत्र सम्यक् जानाति पावकः । इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुं पुत्र सहाग्निना ॥ ४ ॥ स्कंद उवाच । हव्यं कव्यञ्च यत्किञ्चिद्द्विजानां मंत्रसंस्तुतम् । होष्यंत्यग्नौ सदा देवि स्वाहेत्युक्त्वा समुद्धृतम् ॥ ५ ॥ अद्य प्रभृति दास्यंति सुवृत्ताः सत्पथे स्थिताः । एवमग्निस्त्वया सार्धं सदा वत्स्यति शोभने ॥ ६ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ एवमुक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कंदेन पूजिता ।

मार्कण्डेय कहते हैं कि-हे राजन् युधिष्ठिर ! इसप्रकार स्वामिकार्तिकेयने मातात्र्योंका प्रिय काम किया, तदनन्तर स्वाहा ने स्वामिकार्तिकेयसे कहा कि-तू मेरा औरस पुत्र है ॥ १ ॥ अतः मैं चाहती हूं मेरे ऊपर तेरा परमदुर्लभ प्रेम हो, स्कन्दने कहा कि तू मेरी किस प्रकारकी प्रीतिको चाहती है बता ॥२॥ स्वाहा बोली कि-हे महाभुज ! मैं दक्ष प्रजापतिकी प्यारी स्वाहा नामकी कन्या हूं. मैं बाल्यावस्थासे ही अग्निके ऊपर आसक्त हूं परन्तु हे पुत्र! अग्निदेव मुझ कामातुराकी भलीप्रकार सुध नहीं लेते हैं।३। परन्तु हे पुत्र ! मैं सदा उनके साथ रहना चाहती हूं ॥४॥ स्वामिकार्तिकेय बोले कि-हे देवि ! आजसे सन्मार्गमें रहनेवाले और सदाचारी ब्राह्मण यज्ञके हवि और पितृकार्यके हवियोंको मंत्रसे पवित्र करके "स्वाहा,, कह कर अग्निमें होमेंगे और अग्निको हवि समर्पण करेंगे ऐसा करनेसे हे शोभने ! अग्निदेव सदा तेरे साथ रहेंगे ॥ ५—६ ॥ मार्कण्डेयने कहा कि —हे युधिष्ठिर ! इसप्रकार कहकर स्वामिकार्तिकेयने उसका सन्मान किया तदनन्तर स्वाहाने

पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कंदमपूजयत् ॥ ७ ॥ ततो ब्रह्मा महासेनं प्रजापतिरथाब्रवीत् । अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् ॥ ८ ॥ रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया । हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ॥ ९ ॥ उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना । अस्मिन् गिरौ निपतितं मिंजिका मिंजिकं यतः ॥ १० ॥ सम्भूतं लोहितोदे तु शुक्रशेषमवापतत् । सूर्यरश्मिषु चाप्यन्यदन्यच्चैवापतद्भुवि ॥ ११ ॥ आसक्तमन्यद् वृक्षेषु तदेवं पञ्चधापतत् । तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः । तव पारिषदा घोरा य एते पिशिताशिनः ॥ १२ ॥ एवमस्त्विति चाप्युक्त्वा महासेनो महेश्वरम् । अपूजयदमेयात्मा पितरं पितृवत्सलः

भी अपने पतिका समागम पाकर परम प्रसन्न हो स्कन्दका महासत्कार किया ॥ ७ ॥ तदनन्तर प्रजापतिब्रह्माने स्वामिकार्तिकेयसे कहा कि—हे स्कन्द ! तुम त्रिपुरका नाश करनेवाले अपने पिता रुद्रके पास जाओ ॥ ८ ॥ क्योंकि–शिवने अग्निमें प्रवेश करके और उमाने स्वाहामें प्रवेश करके सब मनुष्योंका हित करनेके लिये कोई भी जिसका पराजय न करसके ऐसे तुझको उत्पन्न किया है ॥ ९ ॥ महात्मा रुद्रने उमाकी योनिमें जो वीर्य सींचा था, वह वीर्य इस पर्वतपर गिरपड़ा था, और उससेमें मिंजकी और मिंजक नामक जोड़ा उत्पन्न हुआ था ॥ १० ॥ उस वीर्यमेंसे कुछ भाग बचगया था वह लालसमुद्रमें गिरा था कितना ही भाग सूर्यकी किरणोंसे चिपटगया था और कुछ पृथ्वी पर गिरपड़ा था ॥ ११ ॥ और कुछ भाग वृक्षोंमें लगगया था, इसप्रकार रुद्रका वीर्य पांच स्थानोंमें अलग २ गिरा था, उसमेंसे तेरे ये अनेकों आकारके मांसाहारी पार्षद उत्पन्न हुए हैं ऐसा विद्वानोंको जानना चाहिये ॥ १२ ॥ इसप्रकार ब्रह्माजीके वाक्योंको सुन महासेन स्वामिकार्तिकेय तथास्तु कहकर शिवजीके पास गए और जिनको पिता प्यारे हैं, तथा जिनका मन उदार है, ऐसे स्वामिकार्तिकेयने पिताकी पूजा

॥ १३ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ अर्कपुष्पैस्तु ते पञ्च गणाः पूज्या धनार्थिभिः। व्याधिप्रशमनार्थं च तेषां पूजां समाचरेत् १४ मिञ्जिकामिञ्जिकं चैव मिथुनं रुद्रसम्भवम्। नमस्कार्यं सदैवेह बालानां हितमिच्छता ॥ १५ ॥ स्त्रियो मनुष्यमांसादा वृद्धिका नाम नामतः। वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्याः प्रजार्थिभिः ॥ १६ ॥ एवमेते पिशाचानामसंख्येयगणाः स्मृताः। घंटायाः सपताकायाः शृणु मे सम्भवं नृप ॥ १७ ॥ ऐरावतस्य घंटे द्वे वैजयन्त्याविति श्रुते। गुहस्य ते स्वयं दत्ते शक्रेणानाय्य धीमता ॥ १८ ॥ एका तत्र विशाखस्य घंटा स्कन्दस्य चापरा। पताका कार्त्तिकेयस्य विशाखस्य च लोहिता ॥ १९ ॥ यानि क्रीडनकान्यस्य देवैर्दत्तानि वै तदा। तैरेव रमते देवो महासेनो महाबलः ॥ २० ॥ स संवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा। शुशुभे काञ्चने शैले

की ॥ १३ ॥ मार्कण्डेय कहते हैं, कि—हे धर्मराज ! जिनको धन की इच्छा हो वे ऊपर कहे पांच गणोंकी आकके फूलोंसे पूजा करैं और व्याधि मिटानेके लिये भी आकके पुष्पोंसे पूजा करनी चाहिये॥१४॥बालकोंका हित चाहनेवाले पुरुष शिवसे उत्पन्न हुए मिंजक और मिंजिका नामवाले जोड़ेको सदा नमस्कार करैं।१५। हे राजन् ! इसप्रकार पिशाचोंके असंख्यों गण शास्त्रोंमें गिनाये हैं, अब मैं तुमसे स्कन्दकी पताका और घंटेकी किसप्रकार उत्पत्ति हुई है, तिसकी कथा कहता हूं, उसे हे राजन् ! तुम सुनो ॥१७॥ ऐरावतके पास दो घण्टे थे वे वैजयन्तीके नामसे प्रसिद्ध थे, वे घण्टे बुद्धिमान् ऐरावतने स्वयं मंगाकर स्वामिकार्तिकेयको दिये थे उनमें पताका घंटा स्वामिकार्तिकेयको मिला था और लोहिता नामका घण्टा विशाखको मिला था ॥ १८—१९ ॥ और उस समय देवताओंने जो खिलौने दिये थे उनसे ही महाबली महासेनापति स्कंद खेला करते थे ॥ २० ॥ तथा लक्ष्मीसम्पन्न स्वामिकार्तिकेय देवताओंके और पिशाचोंके मण्डलोंसे घिर कर

दीप्तमानः श्रिया वृतः ॥ २१ ॥ तेन वीरेण शुशुभे स शैलः शुभकाननः । आदित्यनेवांशुमता मन्दरश्चारुकन्दरः ॥ २२ ॥ सन्तानकवनैः फुल्लैः करवीरकवनैरपि ।पारिजातवनैश्चैव जपाशोकवनैस्तथा ॥ २३ ॥ कदम्बतरुपण्डैश्च दिव्यैर्मृगगणैरपि । दिव्यैः पत्तिगणैश्चैव शुशुभे श्वेतपर्वतः ॥ २४ ॥ तत्र देवगणाः सर्वे सर्वे देवर्षयस्तथा । मेघतूर्यरवाश्चैव क्षुब्धोदधिसमस्वनाः ॥ २५ ॥ तत्र दिव्याश्च गन्धर्वा नृत्यन्तेऽप्सरसस्तथा । हृष्टानां तत्र भूतानां श्रूयते निनदो महान ॥ २६ ॥ एवं सेन्द्रं जगत्सर्वं श्वेतपर्वतसंस्थितम् । प्रहृष्टं प्रेक्षते स्कंदं न च ग्लायति दर्शनात् ॥ २७ ॥ मार्कण्डेय उवाच । यदाभिषिक्तो भगवान् सैनापत्येन पावकिः । तदा संप्रस्थितः श्रीमान् हृष्टो भद्रवटं हरः ॥ २८ ॥ रथेनादित्यवर्णेन

सुवर्णके शिखरपर शोभित होरहे थे ॥२१॥ सुन्दर कन्दरावाला मन्दर पर्वत किरणमाली सूर्यसे जैसे शोभित होता है, तैसे ही सुन्दर वनवाला वह पर्वत स्वामिकार्तिकेयसे शोभा पारहा था, ॥ २२ ॥ खिलेहुए सन्तानक कनेर पारिजातक जपा अशोक तथा कदम्बके वनोंसे, दिव्यमृगोंकी टोलियोंसे तथा दिव्य पत्तियोंके झुण्डोंसे वह श्वेत पर्वत अत्यन्त रमणीय दीखता था ।। २३-२४॥ उस पर्वत पर सब देवता तथा महर्षि निवास करते हैं शोभित महासागरकी गर्जनाकी समान मेघरूपी तुरईकी तहां ध्वनि हुआ करती है दिव्य गन्धर्व और अप्सराएं तहां सदा नृत्य किया करते हैं और प्रसन्न हुए प्राणियोंकी महाआनन्दकी ध्वनि सुनाई आती हैं ॥ २५–२६ ॥ इन्द्र तथा सब जगत् के प्राणी उस श्वेत पर्वत पर आनन्दसे रहनेवाले स्वामिकार्तिकेयके दर्शन करतेहुए वड़े मगन होतेहैं ॥ २७ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं कि–हे युधिष्ठिर! इन्द्रने अग्निके पुत्र स्वामिकार्तिकेयका सेनापतिके पद पर अभिषेक किया तब समर्थ और श्रीमान् शिवजी आनन्द पाकर पार्वती के साथ सूर्यकी समान कान्तिवाले रथमें बैठ कर भद्रवटकी ओर

पार्वत्या सहितः प्रभुः । सहस्रं तस्य सिंहानां तस्मिन् युक्तं रथोत्तमे ॥ २६ ॥ उत्पपात दिवं शुभ्रं कालेनाभिप्रचोदितम् । ते पिबन्त इवाकाशं त्रासयन्तश्चराचरान् ॥ ३० ॥ सिंहा नभस्य-गच्छन्त नदन्तश्चारुकेशराः । तस्मिन् रथे पशुपतिः स्थितो भा-त्युमया सह ॥ ३१ ॥ विद्युता सहितः सूर्यः सेन्द्रचापे घने यथा । अग्रतस्तस्य भगवान् धनेशो गुह्यकैः सह ॥ ३२ ॥ आस्थाय तु चिरं याति पुष्पकं नरवाहनः । ऐरावतं समास्थाय शक्रश्चापि सुरैः सह ॥ ३३ ॥ पृष्ठतोऽनुययौ यान्तं वरदं वृषभध्वजम् । जृम्भकै-र्यक्षरक्षोभिः स्रग्विभिः समलंकृतः ॥ ३४ ॥ यात्यमोघो महायक्षो दक्षिणं पक्षमास्थितः । तस्य दक्षिणतो देवा वहवश्चित्रयोधिनः ॥ ३५ ॥ गच्छन्ति वसुभिः सार्धं रुद्रैश्च सह सङ्गताः । यमश्च

को चलदिये, उस समय उनके श्रेष्ठ रथमें एक हजार सुन्दर बालोंवाले सिंह जुतरहे थे और सारथीका काम कालपुरुष कर-रहा था ॥ २८–२६ ॥ सुन्दर केशोंवाले ये सिंह गर्जना करके रथको आकाशमें लेकर उड़े, उस समय वे मानों आकाशको निगले जाते हों, इसप्रकार स्थावर तथा जंगम प्राणियों को भय देतेहुए आकाशमें जानेलगे उस समय तिस रथमें उमाके साथ बैठे हुए पशुपति शङ्कर इन्द्रधनुषवाले मेघरूपी रथमें बिजलीके साथ बैठेहुए सूर्यकी समान शोभा पारहे थे, महासमर्थ कुबेर अपने पुष्पक विमानमें बैठकर गुह्यकोंसहित श्रीशिवकी सवारीके आगे चलरहा था, इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर बैठ देवताओं सहित वर देनेवाले वृषभध्वज श्रीशिवके पीछे चलता था, अमोघ नामक महायक्ष, पुष्पमाला पहिरनेवाला जृम्भक नामक ग्रह, यक्ष तथा राक्षसोंसे सजकर श्रीशिवजीके दाहिनी ओर चलता था और उस यक्षकी दाहिनी ओर अनेकों प्रकारके युद्ध करनेमें कुशल देवता तथा वसु रुद्रोंके साथ चलते थे, भयंकर शरीर और रूपवाले यमराज मृत्यु तथा सैंकड़ों भयंकर व्याधियों

मृत्युना सार्धं सर्वतः परिवारितः ॥ ३६ ॥ घोरैर्व्याधिशतैर्याति घोररूपवपुस्तथा । यमस्य पृष्ठतश्चैव घोरस्त्रिशिखरः शितः॥ ३७॥ विजयो नाम रुद्रस्य याति शूलः स्वलंकृतः । तमुग्रपाशो वरुणो भगवान् सलिलेश्वरः ॥ ३८ ॥ परिवार्य्य शनैर्याति यादोभिर्विविधैर्वृतः । पृष्ठतो विजयस्यापि याति रुद्रस्य पट्टिशः ॥ ३६ ॥ गदा मुसलशक्त्याद्यैर्वृतः प्रहरणोत्तमैः । पट्टिशन्त्वन्वगाद्राजंश्छत्रं रौद्रं महाप्रभम् ॥ ४० ॥ कमण्डलुश्चाप्यनु तं महर्षिगणसेवितः । तस्य दक्षिणतो भाति दण्डो गच्छन् श्रिया वृतः ॥ ४१ ॥ भृग्वङ्गिरोभिः सहितो दैवतैश्चानुपूजितः । एषान्तु पृष्ठतो रुद्रो विमले स्यन्दने स्थितः ॥ ४२ ॥ याति संहर्षयन् सर्वांस्तेजसा त्रिदिवौकसः । ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वा भुजगास्तथा ॥ ४३ ॥ नद्यो ह्रदा समुद्राश्च तथैवाप्सरसाङ्गणाः । नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव देवानां शिशवश्च ये ॥ ४४ ॥ स्त्रियश्च विविधाकारा यान्ति रुद्रस्य पृष्ठतः

के साथ रुद्रके पीछे२ चलते थे, तीन फलकोंवाला तेज कियाहुआ शङ्करका विजय नामक भयंकर त्रिशूल, यमराजके पीछे२ उनकी सवारीमें चलता था, भयंकर पाशोंवाले जलके देवता भगवान् वरुण अनेकों जलचरोंसे घिरकर धीरे २ उस त्रिशूलके पीछे २ चलतेथे, रुद्रका पट्टिश, गदा, मूशल और शक्ति आदि श्रेष्ठ हथियारों से घिर कर विजलीके पीछे २ चलता था, श्रीशिवका महाकांतिमान् छत्र हे राजन् ! पट्टिशके पीछे चलता था, उसके पीछे महर्षियोंसे सेवित कमण्डलु चलने लगा और कमण्डलुके दाहिनी ओर शोभायमान दण्ड चलता था ॥ ३०-४१ ॥ कि-जिसका भृगु अङ्गिरा आदि ऋषि तथा देवता सन्मान करते हैं, इस सब दिव्य सामग्रीके अनन्तर श्रीशिवजी एक उज्ज्वल रथमें बैठकर अपने तेजसे सब देवताओंको प्रसन्न करतेहुए जारहे थे, उनके पीछे ऋषि, देवता, गंधर्व, सर्प, नदी, सरोवर, समुद्र, अप्सराएं, नक्षत्र, ग्रह, देवकुमार, अनेकों आकारकी स्त्रियें तथा पुष्पों की

सृजन्त्यः पुष्पवर्षाणि चारुरूपा वराङ्गनाः ॥ ४५ ॥ पर्जन्यश्चाप्यनुययौ नमस्कृत्य पिनाकिनम् । छत्रञ्च पाण्डुरं सोमस्तस्य मूर्धन्यधारयत् ॥ ४६ ॥ चामरे चापि वायुश्च गृहीत्वाग्निश्च धिष्ठितौ शक्रश्च पृष्ठतस्तस्य याति राजञ्छ्रिया वृतः ॥ ४७ ॥ सह राजर्षिभिः सर्वैः स्तुवानो वृषकेतनम् । गौरी विद्याथ गान्धारी केशिनी मित्रसाह्वया ॥ ४८ ॥ सावित्र्या सह सर्वास्ताः पार्वत्या यान्ति पृष्ठतः । तत्र विद्यागणाः सर्वे ये केचित् कविभिः कृताः ॥ ४९ ॥ तस्य कुर्वन्ति वचनं सेन्द्रा देवाश्चमूमुखे । गृहीत्वा तु पताकां वै यात्यग्रे राक्षसो ग्रहः ॥ ५० ॥ व्यापृतस्तु श्मशानेयो नित्यं रुद्रस्य वै सखा । पिंगलो नाम यक्षेन्द्रो लोकस्यानन्ददायकः ॥ ५१ ॥ एभिश्च सहितो देवस्तत्र याति यथासुखम् । अग्रतः पृष्ठतश्चैव न

वर्षा करतीहुई सुन्दर स्त्रियें चलरहीं थीं ॥ ४२-४५ ॥ मेघ भी शंकरको प्रणाम कर उनके पीछे २ चलता था उस समय चंद्रमा ने शिवजीके मस्तक पर श्वेत छत्र लगाया था ॥ ४६ ॥ तथा वायु और अग्नि चमर लेकर साथ २ चलते थे, हे राजन् ! उस समय शोभायमान इन्द्र सकल राजर्षियों सहित वृषभध्वज श्रीशिव का स्तुति करता हुआ उनके पीछे चलता था, गौरी, विद्या, गांधारी केशिनी तथा देवी मित्रा सावित्रीके साथ पर्वतीके पीछे २ चलती थीं, बहुतसे विद्वानोंके रचेहुए स्तुतिके पद्य भी श्रीशिवके पीछे२ चलते थे, और युद्धके मुहाने पर इन्द्र तथा देवता भी जिसके कथनको मानते हैं, वह राक्षसग्रह श्रीशिवजीकी पताकाको उठाये हुए इस सवारीमें शंकर के आगे २ चलता था ॥४७–५०॥ तथा उस समय रुद्रका मित्र, लोकोंको आनंद देनेवाला, पिंगल नामक यक्षराज जो श्मशानमें रहता है वह देवता भी, उन सबोंके साथ मिलकर आनन्दित होता हुआ सवारीके आगे पीछे दोनों ओर विचरता हुआ चल रहा था, वह एक स्थान पर स्थित न रहकर

हि तस्य गतिर्ध्रुवा ॥ ५२ ॥ रुद्रं सत्कर्मभिर्मर्त्याः पूजयन्तीह दैवतम् । शिवमित्येव यं प्राहुरीशं रुद्रं पितामहम् ॥ ५३ ॥ भावैस्तु विविधाकारैः पूजयन्ति महेश्वरम् । देवसेनापतिस्त्वेवं देवसेनाभिरावृतः । अनुगच्छति देवेशं ब्रह्मण्यः कृत्तिकासुतः ॥ ५४ ॥ अथाब्रवीन् महासेनं महादेवो बृहद्वचः । सप्तमं मारुतस्कंधं रक्ष नित्यमतन्द्रितः ॥ ५५ ॥ स्कंद उवाच ॥ सप्तमं मारुतस्कंधं पालयिष्याम्यहं प्रभो । यदन्यदपि मे कार्यं देव तद्वद माचिरम् ॥५६॥ रुद्र उवाच ॥ कार्येष्वहं त्वया पुत्र संद्रष्टव्यः सदैव हि । दर्शनान्मम भक्त्या च श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥५७॥ मार्कण्डेय उवाच । इत्युक्त्वा विससर्जैनं परिष्वज्य महेश्वरः । विसर्जिते ततः स्कंदे

सब ओर घूमताहुआ सेनाकी व्यवस्था करता था ॥ ५१-५२ ॥ और पण्डित जिनका शिव, ईश, रुद्र, पिनाकी और पितामह कहकर वर्णन करते हैं वह महेश्वर हैं, उनका अनेकों प्रकारके कर्मोंसे इस लोकमें पूजन होता है, देवसेनापति ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले कृत्तिकाके पुत्र भगवान् स्कन्द, देवसेनासे घिरकर उस समय भगवान् शिवके पीछे २ चलते थे ॥ ५३–५४ ॥ तदनन्तर महादेवजीने महासेनसे उदारताभरा वचन कहा कि-तुम सदा सावधान होकर देवताओंके सातवें व्यूहकी रक्षा करो ॥ ५५ ॥ यह सुनकर स्वामिकार्तिकेय बोले कि—हे प्रभो ! मैं देवताओंके सातवें व्यूहकी रक्षा करूँगा, तथा हे देव ! इसके सिवाय दूसरा और जो कार्य हो वह भी मुझसे शीघ्र कहो विलम्ब मत करो ॥ ५६ ॥ शंकर बोले कि-हे पुत्र ! सब काममें सदा मुझसे मिलकर मेरी सम्मति लेना, तू मेरा दर्शन करने से तथा मेरी भक्ति करने से परमकल्याणको पावेगा, ॥ ५७ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं कि—हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार कहकर महेश्वरने स्वामिकार्तिकेयको आलिंगन करके उनको तहांसे विदा किया स्कन्दके चलेजाने पर हे महाराज! सब देवताओंको मोहमें डालताहुआ एकायकी बड़ाभारी

बभूवौत्पातिकं महत् ॥ ५८ ॥ सहसैवं महाराज देवान् सर्वान् व्यमोहयत् । जज्वाल खं सनक्षत्रं प्रमूढं भुवनं भृशम् ॥ ५९ ॥ चचाल व्यनदच्चोर्वी तमोभूतं जगद्बभौ । ततस्तद्दारुणं दृष्ट्वा क्षुभितः शंकरस्तदा ॥ ६० ॥ उमा चैव महाभागा देवाश्च समहर्षयः । ततस्तेषु प्रमूढेषु पर्वताम्बुदसन्निभम् ॥ ६१ ॥ नानाप्रहरणं घोरमदृश्यत महद्बलम् । तद्वै घोरमसंख्येयं गर्जच्च विविधा गिरः ॥ ६२ ॥ अभ्यद्रवद्रणे देवान् भगवंतञ्च शंकरम् । तैर्विसृष्टान्यनीकेषु बाणजालान्यनेकशः ॥ ६३ ॥ पर्वताश्च शतघ्न्यश्च प्रासासिपरिघा गदाः । निपतद्भिश्च तैर्घोरैर्देवानीकं महायुधैः ६४ क्षणेन व्यद्रवत् सर्वं विमुखञ्चाप्यदृश्यत । निकृत्तयोधनागाश्वं कृत्तायुधमहारथम् ॥ ६५ ॥ दानवैरर्दितं सैन्यं देवानां विमुखं

उत्पात होनेलगा, नक्षत्रों सहित आकाश सुलगउठा, सम्पूर्ण जगत्के स्थावर जंगम पदार्थ अत्यन्त जड़से होगए॥५८-५९॥पृथ्वी काँपने लगी, महागर्जना होने लगी और सब जगत्में अंधेरा छागया दारुण उत्पातोंको देखकर शिवजी भी मनमें घबड़ाने लगे ॥६०॥ महाभाग्यवती पार्वती देवी, महर्षि और देवता भी अब क्या करना चाहिये इस विचारमें मूढ़ होगए, इस प्रकार जब सब देवता घबड़ा गए तब पर्वत और मेघकी समान अनेकों प्रकारके अस्त्रोंसे सजीहुई भयावनी बड़ाभारी सेना एकाएक दिखाइ दी, वह सेना देखनेमें भयंकर और असंख्य थी तथा अनेकों प्रकारके शब्द करती थी ॥ ६१-६२ ॥ वह सेना रणमें भगवान् शंकर और देवताओंके ऊपर चढ़आई और उसने देवसेनाके ऊपर नाना-प्रकारके बाण, पर्वत, तोपें, प्रास, तलवार परिघ तथा गदाओंके समूह छोड़ना आरम्भ करदिये, वे बड़े २ शस्त्र देवसेनाके ऊपर पड़नेलगे, इस लिये थोड़ी ही देरमें सब देवसेना रणभूमिमें क्षीण होकर भागनेलगी और रणभूमिकी ओरको पीठ करती हुई दिखाई दी, दानवोंने देवताओंके योधा, हाथी, आयुध तथा महारथी आदि

वभौ। असुरैर्वध्यमानन्तत् पावकैरिव काननम् ॥ ६६ ॥ अपतद्दग्धभूयिष्ठं महाद्रुमवनं यथा। ते विभिन्नशिरोदेहाः प्राद्रवन्तो दिवौकसः ॥ ६७ ॥ न नाथमधिगच्छंति वध्यमाना महारणे। अथ तद्विद्रमं सैन्यं दृष्ट्वा देवः पुरन्दरः ॥ ६८ ॥ आश्वासयन्नुवाचेदं वलभिद्दानवार्दितम्। भयं त्यजत भद्रं वः शूराः शस्त्राणि गृह्णत ॥ ६९ ॥ कुरुध्वं विक्रमे बुद्धिं मा वः काचिद्व्यथा भवेत्। जयतैनान् सुदुर्वृत्तान् दानवान् घोरदर्शनान् ॥ ७० ॥ अभिद्रवत भद्रं वो मया सह महासुरान्। शक्रस्य वचनं श्रुत्वा समाश्वस्ता दिवौकसः ॥ ७१ ॥ दानवान् प्रत्ययुद्ध्यंत शक्रं कृत्वा व्यपाश्रयम्। ततस्ते त्रिदशाः सर्वे मरुतश्च महाबलाः ॥ ७२ ॥

सबको काटकर उन्हें अतिदुखी करडाला इस कारण देवसेना रणमेंसे भागनेको उद्यतसी दीखने लगी, बड़े २ वृक्षोंके वनको जैसे अग्नि जला डालता है तैसे ही राक्षसोंने भी देवसेनाका बहुतसा भाग नष्ट करदिया और अग्निसे जलेहुए बड़े २ वृक्षोंकी समान वह सेना भूमिमें गिरने लगी, उस समय महारणमें मार खातेहुए देवताओंके मस्तक तथा शरीर चोटोंसे फटगए और वे रक्षा करनेवाले किसी भी स्वामीके न मिलनेपर भागने लगे ६३-६७ इसप्रकार दैत्यसेनासे भयभीत होकर देवसेनाको भागती हुई देखकर वल दैत्यको मारनेवाले इन्द्रने दैत्योंसे थर थर काँपती हुई देवसेनाको धीरज देकर कहा कि-हे देवताओं ! तुम्हारा कल्याण हो तुम भयको छोड़कर अस्त्र पकड़ो ॥ ६८-६९॥ और पराक्रम दिखानेका विचार करो, तुमको जरा भी पीडा न होगी ॥ ७० ॥ तुम सब मेरे साथमें रहकर महादैत्योंके ऊपर टूट पड़ो ! अरे टूटपड़ो !! और महादुराचारी तथा भयंकर रूपवाले इन दानवों का पराजय करो !!! तुम्हारा कल्याण हो ! इन्द्रके ऐसे वचनोंको सुनकर देवताओंकी घबड़ाहट शांत हुई ॥ ७१ ॥ और महाबली सब पवन महाभाग्यवान् साध्य देवता तथा वसु नामके देवता

मत्युद्ययुर्महाभागाः साध्याश्च वसुभिः सह । तैर्विसृष्टान्यनीकेषु क्रुद्धैः शस्त्राणि संयुगे ॥ ७३ ॥ शराश्च दैत्यकायेषु पिबंति रुधिरं बहु । तेषां देहान् विनिर्भिद्य शरास्ते ।निशितास्तदा ७४ निष्पतंतोऽभ्यदृश्यंत नगेभ्य इव पन्नगाः । तानि दैत्यशरीराणि निर्भिन्नानि स्म सायकैः ॥ ७५ ॥ अपतन् भूतले राजंश्छिन्नाभ्राणीव सर्वशः । ततस्तद्दानवं सैन्यं सर्वैर्देवगणैर्युधि ॥ ७६ ॥ त्रासितं विविधैर्बाणैः कृतञ्चैव परांमुखम् । अथोत्क्रुष्टं तदा हृष्टैः सर्वैर्देवैरुदायुधैः ॥ ७७ ॥ संहतानि च तूर्याणि भावाद्यंत ह्यनेकशः । एवमन्योऽन्यसंयुक्तं युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥ ७८ ॥ देवानां दानवानां च मांसशोणितकर्दमम् । अनयोर्देवलोकस्य सहसैवाभ्यदृश्यत ॥ ७९ ॥ तथा हि दानवा घोरा विनिघ्नन्ति

इन्द्रका आश्रय लेकर दानवोंके साथ युद्ध करनेलगे और बड़ेभारी क्रोधमें भरेहुए देवता तेज कियेहुए आयुध तथा वाण दैत्योंके ऊपर फेंकने लगे, वे वाण युद्धमें दैत्योंके शरीरोंमें प्रवेश करके उनके बहुतसे रुधिरको पीनेलगे और उनके शरीरोंको चीरकर बाहर निकलते समय पर्वतोंमेंसे निकलतेहुए सर्पोंकी समान दीखते थे, और हे राजन् ! विखरेहुए बादल जैसे आकाशमेंसे पृथ्वी पर गिरते हैं तिसीप्रकार देवताओंके वाणोंसे चिरेहुए दैत्योंके शरीर भी पृथ्वी पर गिरनेलगे इसप्रकार सब देवताओंके वाणोंने युद्धमें दानवोंकी सेना पर अनेक प्रकारके वाणोंका प्रहार करके उसे भयभीत करडाला और युद्धमेंसे भगादिया, तब देवता हर्षमें भरकर ऊपरको शस्त्र उठा २ कर महाआनन्दकी ध्वनि करनेलगे ॥ ७२-७७ ॥ देवता तथा दानवोंमें महायुद्ध होनेलगा उस समय अनेकों तुरहियें एकसाथ बजनेलगी, रणभूमिमें मांस और लोहूकी कीचड़ जमगई परन्तु थोड़ी ही देरमें देवताओंके ऊपर दूसरी आपत्ति आनेके चिन्ह दीखनेलगे भयंकर दैत्य पहिले की ही समान फिर देवताओंका संहार करनेलगे तुरहियों और

दिवौकसः । ततस्तूर्यप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनाः ॥ ८० ॥ बभूवुर्दानवेन्द्राणां सिंहनादाश्च दारुणाः । अथ दैत्यबलाद्घोरान्निष्पपात महाबलः ॥ ८१ ॥ दानवो महिषो नाम प्रगृह्य विपुलं गिरिम् । ते तं घनैरिवादित्यं दृष्ट्वा संपरिवारितम् ॥ ८२ ॥ तमुद्यतगिरिं राजन् व्यद्रवन्त दिवौकसः । अथाभिद्रुत्य महिषो देवांश्चिक्षेप तं गिरिम् ॥ ८३ ॥ पतता तेन गिरिणा देवसैन्यस्य पार्थिव । भीमरूपेण निहतमयुतं प्रापतद्भुवि ॥ ८४ ॥ अथ तैर्दानवैः सार्धं महिषस्त्रासयन् सुरान् । अभ्यद्रवद्रणे तूर्णं सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ८५ ॥ तमापतन्तं महिषं दृष्ट्वा सेन्द्रा दिवौकसः । व्यद्रवन्त रणे भीता विकीर्णायुधकेतनाः ॥ ८६ ॥ ततः स महिषः क्रुद्धस्तूर्णं रुद्ररथं ययौ । अभिद्रुत्य च जग्राह रुद्रस्य रथकूब-

भेरियोंकी महाध्वनि होनेलगी ॥ ७८–८० ॥ बड़े २ दानव सिंह की समान भयंकर गर्जना करनेलगे और दैत्योंकी सेनामेंसे महावली महिष नामका एक दैत्य बड़ेभारी पर्वतको उखाड़ कर देवसेनाके ऊपर चढ़ आया, हे राजन् ! बादलोंसे ढकाहुआ सूर्य जैसा दीखता है तैसे ही पर्वतसे ढकाहुआ वह दैत्य दीखता था, पर्वतको उठाकर आतेहुए उस महिष दैत्यको देखकर देवता तहांसे भागनेलगे,इतनेमें ही महिषासुरने दौड़कर उनके ऊपर वह पर्वत डालदिया ॥८१–८३॥ हे राजन् ! उस भयंकर दीखनेवाले पर्वतने देवसेनाके ऊपर पड़कर सेनामेंके दश हजार योधाओंको पीचडाला ॥ ८४ ॥ तदनन्तर सिंह जैसे छोटे २ मृगों पर टूट पड़ता है तैसे ही महिष दानव दूसरे दानवोंसहित देवताओंको त्रास देकर रणमें तुरत देवताओंपर टूटपड़ा, महिषको चढ़कर आते हुए देखकर इन्द्र तथा देवता भयभीत होकर रणमेंसे भागने लगे और उनके आयुध तथा युद्धके अन्य आभूषण उनके शरीरोंपरसे खिसककर नीचे गिरपड़े, तदनन्तर वह महिष शिवजीके रथके ऊपरको दौड़ा और उसने श्रीशिवजीके रथके धुरेको एकसाथ पकड़ लिया

रण् ॥ ८७ ॥ यदा रुद्ररथं क्रुद्धो महिषः सहसा गतः । रेसतू रोदसी गाढं मुमुहुश्च महर्षयः ॥ ८८ ॥ अनदंश्च महाकाया दैत्या जलधरोपमाः । आसीच्च निश्चितं तेषां जितमस्माभिरित्युत ॥८९॥ तथाभूते तु भगवानहनन्माहपं रणे । सस्मार च तदा स्कन्दं मृत्युन्तस्य दुरात्मनः ॥ ९० ॥ महिषोऽपि रथं दृष्ट्वा रौद्रो रुद्रस्य चानदत् । देवान् सन्त्रासयंश्चापि दैत्यांश्चापि प्रहर्षयन् ९१ ततस्तस्मिन् भये घोरे देवानां समुपस्थिते । आजगाम महासेनः क्रोधात् सूर्य इव ज्वलन् ॥ ९२ ॥ लोहिताम्बरसंवीतो लोहितस्रग्विभूषणः । लोहिताश्वो महाबाहुर्हिरण्यकवचः प्रभुः ॥९३॥ रथमादित्यसंकाशमास्थितः कनकप्रभम् । तं दृष्ट्वा दैत्यसेना सा

॥ ८७ ॥ वह महिष क्रोधमें भरकर जब एकाएकी शिवजीके रथके पास आपहुंचा तब आकाश तथा पृथ्वी गर्जना कर उठें और महर्षि घोररूपसे मूर्छित होगए॥ ८८ ॥ (यह देखकर) महाकाय मेघोंकी समान काले २ दैत्य अपने मनमें बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने निश्चय करलिया कि-हमारी विजय होगई है ॥ ८९ ॥ उस समय शिवजीने रथका दण्डा पकड़कर खड़े हुए महिषका ओर दृष्टि करके मनमें उसका नाश करना विचारा और तुरत ही उस दुरात्माका अन्त करनेवाले स्वामिकार्तिकेयका स्मरण किया, भयंकर आकारवाला महिष भी शंकरके रथको पकडे ही रहा, तथा देवताओंको भय और दैत्योंको आनन्द उपजाते हुए उसने गर्जना की, उस समय देवता महाभयंकर कष्टमें पडेहुए हैं,ऐसा जानकर सूर्यकी समान कान्तिमान् स्कन्द उस रणभूमिमें आगे आकर खडे होगए॥९०-९२॥ उनके शरीर पर लाल वस्त्र थे कण्ठमें लाल रंगकी पुष्पमाला थी और रथमें लाल घोड़े जुतरहे थे वह सुवर्णके आभूपण पहिरे सोनेका कवच धारण किये और सुवर्णकी समान कान्तिवाले सूर्यकी समान चमचमातेहुए रथमें चढ़कर युद्धभूमिमें आपहुंचे, उनको देखते ही दैत्यसेना एकाएकी

व्यद्रवत् सहसा रणे ॥ ९४ ॥ स चापि तां प्रज्वलितां महिषस्य विदारिणीम् । मुमोच शक्तिं राजेन्द्र महासेनो महाबलः ॥ ९५ ॥ सा मुक्ताऽभ्यहरत्तस्य महिषस्य शिरो महत् । पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्तजीवितः ॥ ९६ ॥ पतता शिरसा तेन द्वारं षोडशयोजनम् । पर्वताभेन पिहितं तदागम्यं ततोऽभवत् ॥ ९७॥ उत्तराः कुरवस्तेन गच्छन्त्यद्य यथासुखम् । क्षिप्ता क्षिप्ता तु सा शक्तिर्हत्वा शत्रून् सहस्रशः ॥ ९८ ॥ स्कन्दहस्तमनुप्राप्ता दृश्यते देवदानवैः । प्रायः शरैर्विनिहता महासेनेन धीमता ॥ ९९ ॥ शेषा दैत्यगणा घोरा भीतास्त्रस्ता दुरासदैः । स्कन्दपारिषदैर्हत्वा भक्षिताश्च सहस्रशः ॥ १०० ॥ दानवान् भक्षयन्तस्ते प्रपिबन्तश्च शोणितम् । क्षणान्निर्दानवं सर्वमकार्षुर्भृशहर्षिताः ॥ १०१ ॥ तमांसीव यथा सूर्यो वृक्षानग्निर्घनान् खगः । तथा स्कन्दोऽजयच्छ-

---

भागने लगी ॥९३-९४॥ हे राजेन्द्र ! महाबली स्वामिकार्तिकेयने भी तुरत ही महिषको नष्ट करनेके लिये, जलती हुई शक्ति उसके ऊपर छोड़ी और उससे महिषका मस्तक काटडाला, मस्तक कटजानेसे महिषासुर प्राणशून्य हो पृथ्वीपर ढहपड़ा ॥९५-९६॥ पर्वतका समान बड़ा उसका मस्तक पृथ्वी पर गिरा इससे उत्तर कुरुदेशका द्वाररूप चौसठ कोसका मार्ग ढकगया और उधरका आनेजानेसे लोग रुकगए, आजकल भी उत्तरकुरुदेशके लोग उस मस्तकके द्वारमार्गसे इच्छानुसार आया जाया करते हैं, महिषके मरने पर कार्तिकेय जैसे २ शक्तिको फेंकते गये तैसे २ वह शक्ति सहस्रों दैत्योंका संहार कर स्वामिकार्तिकेयके हाथमें आती चलीगई इस के सिवाय बुद्धिमान् स्वामिकार्तिकेयने बहुतोंको बाणोंके प्रहारसे मारडाला, जब बहुत ही दैत्य मारेगये तब शेष बचेहुए दैत्य घबडाये और डरगये, उस अवसरको पाकर स्वामिकार्तिकेयके महाबली अनुचर उन सहस्रों दैत्योंको मारकर खानेलगे तथा उनके रुधिर को पीनेलगे, इस प्रकार प्रसन्न हुए स्वामिकार्तिकेयके अनुचरोंने क्षणभरमें रणभूमि दैत्योंसे सूनीकर डाली और सूर्य जैसे अंधेरेका

नून् स्वेनवीर्येण कीर्त्तिमान् ॥१०२॥ संपूज्यमानस्त्रिदशैरभिवा-द्य महेश्वरम् । शुशुभे कृत्तिकापुत्रः प्रकीर्णांशुरिवांशुमान्॥१०३॥ नष्टशत्रुर्यदा स्कन्दः प्रयातस्तु महेश्वरम् । तदाब्रवीन्महासेनं परि-ष्वज्य पुरन्दरः॥१०४॥ ब्रह्मदत्तवरः स्कंद त्वयायं महिषो हतः । देवास्तृणसमा यस्य बभूवुर्जयताम्वर॥१०५॥ सोऽयं त्वया महा-बाहो शमितो देवकण्टकः । शतं महिषतुल्यानां दानवानां त्वया रणे॥१०६॥ निहतं देवशत्रूणां यैर्वयं पूर्वतापिताः । तावकैर्भक्षिता-श्चान्ये दानवाः शतसंघशः ॥१०७॥ अजेयस्त्वं रणेऽरीणामुमाप-तिरिव प्रभुः । एतच्च प्रथमं देव ख्यातं कर्म भविष्यति ॥१०८॥ त्रिषु लोकेषु कीर्त्तिश्च तवाक्षय्या भविष्यति । वशगाश्च भविष्यन्ति

नाश करता है, अग्नि जैसे तृणोंको जलाकर भस्म करदेता है, और सूर्य जैसे मेघमण्डलका नाश करदेता है तैसे ही कीर्तिमान् स्वामि-कार्तिकेयने भी अपने पराक्रमसे शत्रुओंको हरा दिया ॥ ६७ ॥ ॥ १०२ ॥ तदनन्तर स्वामिकार्तिकेयने शिवजीको प्रणाम किया और उनका आशीर्वाद लिया, तदनन्तर देवताओंने उनका सत्कार किया और फैलीहुई किरणोंसे शोभायमान सूर्यकी समान अति देदीप्यमान दीखतेहुए स्वामिकार्तिकेय शत्रुओंका नाश करके श्री-शिवजीके रणभूमिसे चलेजाने पर इन्द्रसे मिलनेको गये, इन्द्रने स्वामिकार्तिकेयको आलिंगन करके कहा कि–हे विजय पानेवालों में श्रेष्ठ महाबाहो ! तुमने ब्रह्माके दियेहुए वरदानके प्रभावसे महिष दैत्यका नाश किया है तथा महिषका समान बली अन्य दैत्योंको भी रणभूमिमें मारा है, जिन्होंने हमको पहिले बहुत दुःख दिया था ऐसे दैत्योंका भी तुमने नाश करदिया और तुम्हारे अनुचर उन्हें खागए, इसप्रकार तुमने देवताओंको निर्भय किया यह अच्छा किया; हे देव ! तुम भी शिवजीकी समान रणमें शत्रुओंके अजेय और महापराक्रमी होओगे, और तुम्हारा यह कार्य पहिला कार्य पृथ्वी पर प्रसिद्ध होगा ॥ १०३–१०८ ॥ तथा हे महाभुज! तीनों

सुरास्तव महाभुज ॥१०६॥ महासेनमेवमुक्त्वा निवृत्तः सह दैवतैः अनुज्ञातो भगवता त्र्यम्बकेण शचीपतिः ॥ ११० ॥ गतो भद्रवटं रुद्रो निवृत्ताश्च दिवौकसः । उक्ताश्च देवा रुद्रेण स्कंदं पश्यत मामिव ॥ १११ ॥ स हत्वा दानवगणान् पूज्यमानो महर्षिभिः । एकाह्नैवाजयत् सर्वं त्रैलोक्यं वह्निनंदनः ॥ ११२ ॥ स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः । स पुष्टिमिह संप्राप्य स्कंदसालोक्यमाप्नुयात् ॥ ११३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि महिषासुरवध एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच ॥ भगवन् श्रोतुमिच्छामि नामान्यस्य महा-

लोकोंमें तुम्हारी कीर्ति अक्षय रहेगी तथा देवता तुम्हारे अधीन रहेंगे ॥ १०६ ॥ इसप्रकार महासेन स्वामिकार्तिकेयसे कहनेके अनन्तर इन्द्राणीके स्वामी इन्द्र भगवान् तथा सब देवता शंकरसे आज्ञा मांगकर तहाँसे जानेको उद्यत हुए ॥ ११० ॥ उस समय शिवजी भी भद्रवटकी ओर जानेको उद्यत हुए और देवता भी लौटकर चले उस समय श्रीशिवने देवताओंसे कहा कि—तुम कार्तिकेयका भी मेरी समान सन्मान करना इसप्रकार कहकर शिव भद्रवटको चलेगए और देवता अपने २ स्थानोंको चलेगए ॥१११॥ अग्निपुत्र स्वामिकार्तिकेयने इसप्रकार एक ही दिनमें सब दानवों का संहार करकै तीनों लोकोंको अपने वशमें करलिया था और महर्षियोंने उनकी भलीप्रकार पूजा की थी ॥ ११२ ॥ जो ब्राह्मण सावधान चित्त होकर इस स्वामिकार्तिकेयके जन्मको तथा उनके कियेहुए चरित्रोंको सुनता है, अथवा पढ़ता है, तो वह इस लोकमें प्रतिष्ठा पाकर स्वामिकार्तिकेयके लोकमें जाता है ॥ ११३ ॥ दोसौ इकतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३१ ॥ छ ॥

युधिष्ठिर बोले कि—हे भगवन् द्विजोत्तम ! मैं स्वामिकार्तिकेयके

त्मनः । त्रिषु लोकेषु यान्यस्य विख्यातानि द्विजोत्तम ॥ १ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ इत्युक्तः पाण्डवेयेन महात्मा ऋषिसन्निधौ उवाच भगवांस्तत्र मार्कण्डेयो महातपाः ॥ २ ॥ मार्कण्डेय उवाच आग्नेयश्चैव स्कंदश्च दीप्तकीर्तिरनामयः । मयूरकेतुर्धर्मात्मा भूतेशो महिषार्दनः ॥ ३ ॥ कामजित् कामदः कांतः सत्यवाग्भुवनेश्वरः शिशुः शीघ्रः शुचिश्चण्डो दीप्तवर्णः शुभाननः ॥ ४ ॥ अमोघस्त्वनघो रौद्रः प्रियश्चन्द्राननस्तथा । दीप्तशक्तिः प्रशांतात्मा भद्रकृत् कूटमोहनः ॥ ५ ॥ षष्ठीप्रियश्च धर्मात्मा पवित्रो मातृवत्सलः ।

तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध नामोंको सुनना चाहता हूं ॥१॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे जनमेजय ! इसप्रकार पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने ऋषि से कहा तब महातपस्वी महात्मा, भगवान् मार्कण्डेय कहनेलगे कि ॥ २ ॥ मैं तुमसे स्वामिकार्तिकेयके नामोंको कहता हूं सुनो आग्नेय (अग्निके पुत्र) स्कन्द (गिरेहुए वीर्यमेंसे उत्पन्न हुए) दीप्तकीर्ति (प्रकाशवान् यशवाले अनामय (कल्याण करनेवाले गुणोंसे युक्त) मयूरकेतु (जिनकी ध्वजामें मोरका चिन्ह है धर्मात्मा (धर्म ही जिनका स्वरूप है) भूतेश (सर्वप्राणियोंके स्वामी) महिषार्दन (महिषासुरको मारनेवाले) कामजित् (पूर्णमनोरथवाले) कामद (कामनाओंको पूर्ण करनेवाले) कान्त (सुन्दर आकार वाले) सत्यवाक् (सत्यवादी) भुवनेश्वर (लोकेश्वर) शिशु (बालक) शीघ्र (वेगसे काम करनेवाले) शुचि (पवित्र) चण्ड (उग्रस्वभाव) दीप्तवर्ण (महातेजस्वी कान्तिवाले) शुभानन (सुन्दर मुखवाले) अमोघ (सत्यसंकल्प) अनघ (निष्पाप) रौद्र (भयंकर स्वभाववाले) प्रिय (भक्तोंके प्यारे) चन्द्रानन (चन्द्रमाकी समान मुखवाले) दीप्तशक्ति (महाप्रकाशमयी शक्ति को धारण करनेवाले) प्रशान्तात्मा (अतिशान्त अन्तःकरणवाले) भद्रकृत् (कल्याणकारी) कूटमोहन (बालग्रहादिमें सबको मोह उपजानेवाले) षष्ठीप्रिय (षष्ठी है प्यारी जिनको ऐसे) धर्मात्मा (धर्म

कन्याभर्त्ता विभक्तश्च स्वाहेयो रेवतीसुतः ॥ ६ ॥ प्रभुर्नेता विशाखश्च नैगमेयः सुदुश्चरः । सुव्रतो ललितश्चैव बालक्रीडनकप्रियः ७ खचारी ब्रह्मचारी च शूरः शरवणोद्भवः । विश्वामित्रप्रियश्चैव देवसेनाप्रियस्तथा ॥ ८ ॥ वासुदेवप्रियश्चैव प्रियः प्रियकृदेव तु । नामान्येतानि दिव्यानि कार्त्तिकेयस्य यः पठेत् । स्वर्गं कीर्त्तिं धनञ्चैव स लभेन्नात्र संशयः ॥ ९ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ स्तोष्यामि देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टं शक्त्या गुहं नामभिरप्रमेयम् । षडा-

ही है आत्मा जिनका ऐसे) पवित्र (पवित्रमूर्ति) मातृवत्सल (मातृकाओंके प्रेमपात्र) कन्याभर्ता (कन्याकादान देते समय कहाजाता है,कि-तृतीयोऽग्निस्ते पतिः, तेरा तीसरा पति अग्नि है स्वामिकार्तिकेय भी अग्निपुत्र होनेसे अग्नि मानेजाते हैं, इससे उन को कन्याका भर्ता कहा है) विभक्त (देवताओंको सुखादिका विभाग देनेवाले) स्वाहेय (स्वाहाके पुत्र) रेवतीसुत (रेवतीके पुत्र) प्रभु (समर्थ) नेता (नायक) विशाख (वेदमें जिनकी स्तुति कीगई है,) सुदुश्चर (महाकठिनता से जिनकी सेवा कीजासके ऐसे) सुव्रत (सुन्दर व्रत पालनेवाले) ललित (सुन्दर आकार वाले) बालक्रीडनकप्रिय (बालकपनमें खिलौनोंसे प्रेम करनेवाले) खचारी (आकाशचारी) ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्यव्रत पालनेवाले) शूर (बली) शरवणोद्भव (कुशाके वनमें उत्पन्नहुए) विश्वामित्र प्रिय (विश्वामित्रको प्यारे अथवा विश्वामित्रसे प्रेम करनेवाले) देवसेनाप्रिय (देवसेना नामकी स्त्रीको प्यारे) वासुदेवप्रिय (श्रीकृष्णके प्यारे) प्रिय (प्रेममूर्ति) प्रियकृत् (सबका प्रिय करने वाले) इतने कार्तिकेयके नामोंका जो भक्तिपूर्वक पाठ करता है, वह निःसन्देह स्वर्गकीर्ति तथा धनका पाता है, ॥ ३—९ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं कि—हे कुरुवंशप्रवीर युधिष्ठिर ! अब मैं देवता, ऋषि तथा शक्तिसे सेवित छः मुखवाले शक्तिधारी महापराक्रमी तथा अप्रमेय स्वामिकार्तिकेयकी उनके नाम लेकर स्तुति

नन्नं शक्तिधरं सुवीरं निबोध चैतानि कुरुप्रवीर ॥ १० ॥ ब्रह्मण्यो वै ब्रह्मजो ब्रह्मविच्च ब्रह्मेशयो ब्रह्मवतां वरिष्ठः । ब्रह्मप्रियो ब्राह्मणसव्रती त्वं ब्रह्मज्ञो वै ब्राह्मणानां च नेता ॥ ११ ॥ स्वाहा स्वधा त्वं परमं पवित्रं मंत्रस्तुतस्त्वं प्रथितः षडर्चिः । सम्वत्सरस्त्वमृतवश्च षड् वै मासार्धमासावयनं दिशश्च ॥ १२ ॥ त्वं पुष्कराक्षस्त्वरविंदवक्त्रः सहस्रवक्त्रो ससहस्रबाहुः । त्वं लोकपालः परमं हविश्च त्वं भावनः सर्वसुरासुराणाम् ॥ १३ ॥ त्वमेव सेनाधिपतिः प्रचण्डः प्रभुर्विभुश्चाप्यथ शत्रुजेता । सहस्रभूस्त्वं धरणि

करता हूं, उसे सुनो ॥ १० ॥ मार्कण्डेयजी कहनेलगे कि-हे कार्तिकेय! तुम ब्रह्मण्य (ब्राह्मणोंसे प्रीति करनेवालेहो) ब्रह्मज (वेदोक्त गर्भाधानादि कर्मसे उत्पन्न हुए) और ब्रह्मविद्(ब्रह्मको जाननेवाले) हो, ब्रह्मेशय (कर्मब्रह्म पर निष्ठा रखनेवाले) हो, ब्रह्मवतां वरिष्ठ (कर्मोपासक और ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ) हो,ब्रह्मप्रिय (वेदोक्त कर्म और उपासना पर प्रीति रखनेवाले) हो, ब्राह्मण सव्रती (द्वेष न करना आदि ब्राह्मणोंके गुणोंसे भरपूर) हो, ब्रह्मज्ञ (शुद्ध परब्रह्मको जाननेवाले)हो ब्राह्मणानां च नेता (और ब्राह्मणोंको परब्रह्मपद देनेवाले) हो, ॥११॥ तुम स्वाहारूपहो,स्वधारूप हो, परमपवित्र रूप हो, मंत्र भी तुम्हारी स्तुति करते हैं,तुम सर्वत्र प्रसिद्ध हो,तुम्हारी छः ज्वालारूपी छः जिह्वा हैं,तुम सम्वत्सर और छः ऋतुरूप हो, मासरूप हो, पक्षरूप हो, अयनरूप हो;और दिशा रूप हो, ॥ १२ ॥ तुम कमलनेत्र हो, कमलमुख हो, तुम्हारे सहस्र हाथ हैं, तुम लोकपाल हो, तुम हविरूप हो तुम सब देव दैत्यों को उत्पन्न करते हो, ॥१३॥ तुम ही महाप्रचंड सेनाके स्वामी हो, प्रभु हो, विभु हो, शत्रुजित् हो, तुम ही सहस्रभू (सहस्रों देवताओंको उत्पन्न करनेवाले) हो, पृथ्वीरूप हो, सहस्रतुष्टि (सहस्रों देवताओंको प्रसन्न करनेवाले) हो, सहस्रभुक् हो, तथा सहस्रों

त्वमेव सहस्रतुष्टिश्च सहस्रभुक् च ॥ १४ ॥ सहस्रशीर्षस्त्वमनन्तरूपः सहस्रपात्त्वं गुरुशक्तिधारी । गंगासुतस्त्वं स्वमतेन देव स्वाहा मही कृत्तिकानां तथत्र ॥ १५ ॥ त्वं क्रीडते षण्मुख कुक्कुटेन यथेष्टनानाविधकामरूपी । दक्षोसि सोमो मरुतः सदैव धर्मोऽसि वायुरचलेन्द्र इन्द्रः ॥ १६ ॥ सनातनानामपि शाश्वतस्त्वं प्रभुः प्रभूणामपि चोग्रधन्वा ऋतस्य कर्त्ता दितिजान्तकस्त्वं जेता रिपूणां प्रवरः सुराणाम् ॥ १७ ॥ सूक्ष्मं तपस्तत् परमं त्वमेव परावरज्ञोऽसि परावरस्त्वम् । धर्मस्य कामस्य परस्य चैव त्वत्तेजसा कृत्स्नमिदं महात्मन् ॥ १८ ॥ व्याप्तं जगत् सर्वसुरप्रवीर शक्त्या मया संस्तुतलोकनाथ नमोस्तु ते द्वादशनेत्रबाहो अतः परं वेद्मि गतिं न तेऽहम् ॥ १९ ॥ स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समा-

दैत्योंका कालरूपसे भक्षण करनेवाले हो ॥ १४ ॥ तुम सहस्र मस्तकवाले हो, अनन्तरूपधारी हो, सहस्रों चरणोंवाले हो, गुह हो, शक्ति हो, हे देव ! तुम अपनी इच्छानुसार गंगा, स्वाहा महीके तथा कृत्तिका के पुत्र हो, ॥ १५ ॥ हे षडानन ! तुम मुरगेके साथ नानाप्रकारकी क्रीड़ा करनेवाले हो, इच्छानुसार नानाप्रकारके रूप धारण करते हो.यज्ञादि पवित्र कर्ममें लीजानेवाली दीक्षा तुम्हारा स्वरूप है, तुम सोम हो, मरुत हो तथा सदा ही धर्म, वायु, हिमाचल और इन्द्ररूप हो, ॥ १६ ॥ तुम सब सनातन वस्तुओंमें सनातनरूप हो, समर्थपुरुषोंमें भी महासमर्थ हो, उग्र धनुषको धारण करनेवाले हो, अदितिके वंशके दैत्योंका संहार करनेवाले हो, शत्रुञ्जय हो और देवोत्तम हो १७ हे महात्मन् ! तुम सूक्ष्म तप हो, तपके भी सारभूत हो भूत तथा भविष्यको जाननेवाले हो, भूत भविष्यस्वरूप हो, धर्म, अर्थ तथा कामरूप हो, तुम्हारा ही तेज सब पृथ्वीमें व्याप्त है ॥ १८ ॥ हे लोकनाथ ! मैं तुम्हारी स्तुति करता हूं, हे बारहनेत्र और बारह भुजावाले देव ! मैं इसप्रकार तुम्हारे माहात्म्यको जानता हूं,इससे अधिक मैं नहीं जानता, अतः अब मैं आपको नमस्कार करता हूं १९

हितः । श्रावयेद्व्राह्मणेभ्यो यः शृणुयाद्वा द्विजेरितम् ॥ २० ॥ धनमायुर्यशो दीप्तं पुत्रान् शत्रुजयन्तथा । स पुष्टितुष्टी संप्राप्य स्कंदसालोक्यमाप्नुयात् ॥ २१ ॥ छ ॥ छ ॥

इतिश्री महाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे कार्त्तिकेयस्तवे द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

समाप्तञ्च मार्कण्डेयसमास्यापर्व ॥

अथ द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ उपासीनेषु विप्रेषु पाण्डवेषु महात्मसु । द्रौपदी सत्यभामा च विविशाते तदा समम् ॥ १ ॥ जाहस्यमाने सुप्रीते सुखं तत्र निषीदतुः । चिरस्य दृष्ट्वा राजेन्द्र तेऽन्योऽन्यस्य प्रियंवदे ॥ २ ॥ कथयामासतुश्चित्राः कथाः कुरुयदूत्थिताः । अथाब्रवीत् सत्यभामा कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ३ ॥ सात्राजिती याज्ञसेनीं रहसीदं सुमध्यमा । केन द्रौपदि वृत्तेन पाण्डवानधि-

---

जो ब्राह्मण सावधान होकर इस स्कन्दके चरित्रको पढ़ता है, ब्राह्मणोंको सुनाता है अथवा ब्राह्मणोंसे सुनता है वह धन, आयु, दमकता हुआ यश और पुत्रोंको पाता है तथा शत्रुको जीत तुष्टि पुष्टिको पाकर स्कंदके लोकको जाता है ॥ २०-२१ ॥ दोसौ बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३२ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयसमास्या पर्व समाप्त ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

॥अथ द्रौपदी सत्यभामासम्वादपर्व॥

वैशम्पायन बोले कि-हे जनमेजय! महात्मा पाण्डव तथा ब्राह्मण श्रीकृष्णके साथ बैठकर बातचीत करने लगे थे, उस समय द्रौपदी सत्यभामाके साथ आश्रममें जाकर बैठगई हे राज्येन्द्र ! प्रिय बोलनेवाली वे दोनों बहुत दिनोंमें मिली थीं इस कारण परस्पर अत्यन्त हास्य करनेलगीं और एक दूसरीसे मिलकर आनन्दके साथ बैठगईं, कुरुकुल तथा यदुकुलकी अनेकों बातें करनेलगीं बातें करते २ सुन्दर कटिवाली श्रीकृष्णकी पटरानी सत्यभामाने

तिष्ठसि ॥ ४ ॥ लोकपालोपमान् वीरान् पुनः परमसंमतान् । कथञ्च वशगास्तुभ्यं न कुप्यन्ति च ते शुभे ॥ ५ ॥ तव वश्या हि सततं पाण्डवाः प्रियदर्शने । मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद्ब्रवीहि मे ॥ ६ ॥ व्रतचर्या तपो वापि स्नानमन्त्रौषधानि वा । विद्या वीर्य्यं मूलवीर्य्यं जपहोमागदास्तथा ॥ ७ ॥ ममाद्याचक्ष्व पाञ्चालि यशस्यं भगदैवतम् । येन कृष्णे भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः ॥ ८ ॥ एवमुक्त्वा सत्यभामा विरराम यशस्विनी । पतिव्रता महाभागा द्रौपदी प्रत्युवाच ताम् ॥ ९ ॥ असत्स्त्रीणां समाचारं सत्ये मामनुपृच्छसि । असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनु-

एकान्तमें द्रौपदीसे बूझा कि–हे द्रौपदी ! तुमने अपने पतियोंको किस उपायसे वशमें किया है वह कहो ॥ १–४ ॥ तुम्हारे पति लोकपालोंकी समान शूर और दृढ़शरीर हैं हे शुभ स्त्री ! ऐसे तुम्हारे पति तुम्हारे वशमें कैसे होगए ? तथा वे तुम्हारे ऊपर किसीदिन भी क्रोध नहीं करते इसका क्या कारण है ? ॥ ५ ॥ हे प्रियदर्शने ! सब पाण्डव तुम्हारे कहनेके अनुसार ही चलते हैं और तुम्हारे मुखकी ही ओर देखा करते हैं, इस सबका वास्तविक कारण क्या है ? ॥ ६ ॥ वह वशमें करनेका कारण व्रत है तप है अथवा, स्नान मन्त्र, औषधिमेंसे कोई है ? अथवा कामशास्त्रमेंकी विद्याका निपुणता अथवा अखण्डित युवावस्था है अथवा जप, होम, अञ्जन आदि औषधियोंके बलसे उनको वशमें किया है ? ॥ ७ ॥ हे पांचालराजकी पुत्री द्रौपदी ! जिस उपायके करनेसे श्रीकृष्ण सदा मेरे वशमें रहें वह सौभाग्य बढ़ानेवाला और यश देनेवाला कोइ व्रत आदि उपाय हा तो मुझसे कहो ॥ ८ ॥ इतना कहकर यशस्विनी सत्यभामा चुप होगई, तब पतिव्रता महाभाग्यवती द्रौपदी सत्यभामासे बोली कि–॥ ९ ॥ हे सत्यभामा तुम मुझसे दुराचारिणी स्त्रियोंके आचारको बूझती हो परन्तु दुराचारिणी स्त्रियोंके वर्तावके विषयके तुम्हारे प्रश्नका उत्तर कैसे

कीर्त्तनम् ॥ १० ॥ अनुप्रश्नः संशयो वा नैतत्त्वय्युपपद्यते । तथा ह्युपेता बुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११ ॥ यदैव भर्त्ता जानीयान्मन्त्रमूलपरां स्त्रियम् । उद्विजेत तदैवास्याः सर्पाद्वेश्मग-तादिव ॥ १२ ॥ उद्विग्नस्य कुतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् न जातु वशगो भर्त्ता स्त्रियाः स्यान्मन्त्रकर्मणा ॥ १३ ॥ अमि-त्रप्रहितांश्चापि गदान् परमदारुणान् । मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छ-न्ति जिघांसवः ॥ १४ ॥ जिह्वया यानि पुरुषस्त्वचा वाप्युपसेवते तत्र चूर्णानि दत्तानि हन्युः क्षिप्रमसंशयम् ॥ १५ ॥ जलोदरस-मायुक्ताः श्वित्रिणः पलितास्तथा । अपुमांसः कृताः स्त्रीभिर्जडा-

---

हूँ ॥१०॥ इस विषयका प्रश्न करना अथवा इस विषयमें सन्देह करना तुम्हें उचित नहीं है, क्योंकि-तुम बुद्धिमता हो और श्रीकृष्णकी प्यारी पटरानी हो ॥ ११ ॥ अतः ऐसी बात कहना तुम्हें उचित नहीं है, जब पति जानलेता है कि—मेरी स्त्री मंत्र, तंत्र, आदि वशीकरणका प्रयोग करती है तो वह सर्पवाले घरकी समान उससे बचने लगता है ॥ १२ ॥ और उस उदासीन मनु-ष्यको कहीं भी शान्ति नहीं मिलती है,और शान्तिरहित घबड़ाये हुए मनुष्यको सुख मिले ही कहांसे ? वह रात्रि दिन चिंतामें ही रहता है, अतः वशीकरणके उपायोंसे पति कभी भी स्त्रीके वशमें नहीं होता है ॥ १३ ॥ किन्तु उसमेंसे उलटे परिणाम ही निकलते हैं,शत्रु ऐसी मूर्ख स्त्रियोंको औषधियें देकर उनके पतियोंको अनेकों प्रकारके दारुण रोग उत्पन्न करदेते हैं और उनको मारने की इच्छासे शत्रु वशीकरणकी बूटीके नामसे मनुष्योंको विष देदेते हैं ॥१४॥ और शत्रुओंकी ओरसे ऐसे चूर्ण दिये जाते हैं कि—पुरुष उस चूर्णको जीभ पर रखते ही अथवा शरीर पर मलते ही नष्ट होजाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है १५ कितनी ही दुराचारिणी स्त्रि-योंने अपने पतियोंको जलोदरका रोगी बनादिया है,कितनों ही को

न्यधिरास्तथा ॥ १६ ॥ पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपकुर्व-न्त्युत । न जातु विप्रियं भर्त्तुः स्त्रिया कार्यं कथञ्चन ॥ १७ ॥ वर्त्ताम्यहन्तु यां वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु । तां सर्वां शृणु मे सत्यां सत्यभामे यशस्विनि ॥ १८ ॥ अहङ्कारं विहायाहं कामक्रोधौ च सर्वदा । सदारान् पाण्डवान्नित्यं प्रयतोपचराम्यहम् ॥ १९ ॥ प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायात्मानमात्मनि । शुश्रूषुर्निरभीमाना पतीनाश्चित्तरक्षिणी ॥ २० ॥ दुर्व्याहृताच्छंकमाना दुस्थिताद् रवेक्षितात् । दुरासिताद्दुर्व्रजितादिङ्गिताध्यासितादपि ॥ २१ ॥ सूर्य्यवैश्वानरसमान् सोमकल्पान्महारथान् । सेवे चक्षुर्हणः पार्थानुग्र-

---

कोढ़ी करदिया है, किसीको बुड्ढा वनादिया है, किसीको नपुंसक वनादिया है, बहुतोंको जड़ वनादिया है,किसीको अन्धा करदिया है और किसीको वहिरा वनादिया है, ये सव काम दुराचारिणी स्त्रियोंने किये हैं ॥ १६ ॥ इस प्रकार पापियोंका वात मानने वाली पापिनी स्त्रियें अपने पतियोंको वशीकरण करतेमें दुःखित करडालती हैं, स्त्रियोंको किसी दिन भी किसी प्रकारसे भी पतियोंका अनहित करना उचित नहीं है ॥ १७ ॥ हे यशस्विनी सत्यभामा ! मैं महात्मा पाण्डवोंके साथ जैसा वर्ताव करती हूं, वह सव सत्य २ कहती हूं तुम सुनो ॥ १८ ॥ मैं अहंकार, काम, और क्रोधको त्यागकर नित्य सावधानीसे पाण्डवोंकी तथा उनकी स्त्रियोंकी सेवा करती हूं ॥ १९ ॥ और सेवा करनेकी इच्छासे हा ईर्ष्यासे दूर रहती हूं और मनको आत्मामें अर्पण करके अभिमानशून्य रहती हुई पतियोंके मनको प्रसन्न करती हूं ॥ २० ॥ मैं कठोर वोलनेसे सावधान रहती हूं, असभ्यरीतिसे खड़ी नहीं होती हूँ, देखते तथा बैठतेमें सभ्यताका विचाररखती हूं, असभ्यताभरी रीतिसे चलनेमें भी सावधान रहतीहूं तथा मनका अभिप्राय जानाजाय ऐसे कटाक्षके समय भी सावधान रहती हूं,इसप्रकार सूर्य अग्नि तथा चन्द्रमाकी समान महारथी, दृष्टि डालतेही शत्रुओंको

वीर्यमतापिनः ॥ २२ ॥ देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलं-कृतः । द्रव्यवानभिरूपो वा न मेन्यः पुरुषो मतः ॥ २३ ॥ नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्त्तरि । न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥ २४ ॥ क्षेत्राद्वनाद्वा ग्रामाद्वा भर्त्तारं गृहमागतम् । अभ्युत्थायाभिनन्दामि आसनेनोदकेन च ॥ २५ ॥ प्रमृष्टभाण्डा मिष्टान्ना काले भोजनदायिनी । संयता गुप्तधान्या च सुसंमृष्टनिवेशना ॥ २६ ॥ अतिरस्कृतसम्भाषा दुःस्त्रियो नानुसेवती । अनुकूलवता नित्यं भवाम्यनलसा सदा ॥ २७ ॥ अनर्मे चापि हसितं द्वारि स्थानमभीक्ष्णशः । अवस्करे चिरस्थानं नि-

भरम करनेवाले, उग्रपराक्रमी पाण्डवोंकी सेवा करती हूं॥२१-२२॥ देवता, मनुष्य, गंधर्व, युवा पुरुष, भलीप्रकार सजाहुआ, धनी अथवा रूपवान् चाहे तैसा पुरुष हो तो भी उस पुरुषकी ओरको मेरा मन नहीं जाता है, मैं तो केवल अपने पतिकी सेवामें ही निमग्न रहती हूं ॥ २३ ॥ मेरे पति और मेरे नौकरोंने जबतक भोजन न किया हो, स्नान न किया हो अथवा बैठ न होगए हों तबतक मैं स्नान, भोजन वा बैठना इनमेंसे कोई काम नहीं करती हूं ॥ २४ ॥ मेरे पति क्षेत्रमेंसे वनमेंसे अथवा नगरमेंसे जब २ घर आते हैं, तब २ मैं खड़ी होकर उनका सन्मान करती हूं और आसन तथा जल देकर उनका आदर करती हूं ॥ २५ ॥ घरके सब बर्तनोंको मांजकर साफ रखती हूं,मीठा अन्न बनाती हूं, समयानुसार रसोई बनाकर सबको जिमाती हूं, सावधान रहकर घरमें सदा आगे पीछे अन्नको इकट्ठा करती रहती हूं, घरके सब भागोंको झाड़ बुहार कर वा लीप पोतकर साफ रखती हूं॥२६॥ किसीके साथ बातें करते समय झिड़कार कर नहीं बोलती हूं, दुष्ट स्त्रियोंके साथ बैठती उठती नहीं हूं, सदा आलस्यरहित होकर पतियोंके अनुकूल रहती हूं॥२७॥बातचीतमें नर्म मसखरी)के बिना नहीं हँसती हूं, नित्य द्वार पर भी खड़ा नहीं रहती हूं,तथा खुले

प्कुटेषु च वर्जये ॥ २८ ॥ अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानञ्च सर्व्वर्जये । निरताहं सदा सत्ये भर्त्तॄणामुपसेवने ॥ २९ ॥ सर्वथा भर्तृरहितं न ममेष्टं कथञ्चन । यदा प्रवसते भर्त्ता कुटुम्बार्थेन केनचित् ॥ ३० ॥ सुमनोवर्णकापेता भवामि व्रतचारिणी । यच्च भर्त्ता न पिबति यच्च भर्त्ता न सेवते ॥ ३१ ॥ यच्च नाश्नाति मे भर्त्ता सर्वं तद्वर्ज्जयाम्यहम् । यथोपदेशं नियता वर्त्तमाना वराङ्गने ॥ ३२ ॥ स्वलंकृता सुप्रयता भर्त्तुः प्रियहिते रता । ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्र्वा मे कथिताः पुरा ॥ ३३ ॥ भिक्षाबलिं श्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु । मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता

स्थान वा कूड़ा करकट डालनेके स्थान पर भी अधिक नहीं खड़ा रहती हूं, तथा बगीचेमें जाकर अधिक समय नहीं ठहरती हूं, २८ और मैं अत्यन्त हँसनेसे, अति क्रोध करनेसे और अधिक अपराध करनेसे बची रहती हूं, परन्तु मैं नित्य सत्य बोलनेमें और पतियों की सेवामें लगी रहती हूं ॥२९॥ मुझे सर्वथा पतिरहित अकेला रहना अच्छा नहीं लगता है, मेरे पति कुटुम्बके किसी कामके लिये परदेशमें जाते हैं तो मैं शरीर पर चन्दनका लेप नहीं लगाती हूं तथा पुष्पोंके गहने भी नहीं पहिरती हूं, सौभाग्य की वस्तुओंके सिवाय अन्य सब वस्तुओंका त्यागकर ब्रह्मचर्य व्रत पालती हूं, हे सुन्दर स्त्री ! मेरे पति जिस पदार्थको पीते नहीं हैं, जिस पदार्थका सेवन नहीं करते हैं और जिस वस्तुको खाते नहीं हैं, उन सब पदार्थोंका मैं भी त्यागदेती हूं और शास्त्रके उपदेश पर नियमसे चलती हूं ॥ ३०—३२ ॥ मैं अच्छी प्रकार शृंगार कर सदा सावधान रहती हूं, भर्त्ताका प्रिय तथा हित करनेमें तत्पर रहती हूं, तथा पहिले मेरी सासने कुटुम्बियोंसे वर्ताव करनेके जो धर्म मुझसे कहे थे, वे सब धर्म तथा भिक्षा, बलिदान, श्राद्ध, पर्वके ऊपर बनाये जानेवाले स्थालीपाक मान्यपुरुषोंकी पूजा तथा सत्कार आदि दूसरे जो धर्म मेरे जानने

धर ॥ १४ ॥ तान् सर्वाननुवर्त्तामि दिवारात्रमतन्द्रिता । विनया-न्नियमांश्चैव सदा सर्वात्मना श्रिता ॥ ३५ ॥ मृदून् सतः सत्य-शीलान् सत्यधर्मानुपालिनः । आशीविषानिव क्रुद्धान् पतीन् प-रिचराम्यहम् ॥ ३६ ॥ पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सना-तनः । स देवः सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियश्चरेत् ॥ ३७ ॥ अहं पतीन्नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये । नापि परिवदे श्वश्रूं सर्वदा परियन्त्रिता ॥ ३८ ॥ अवधानेन सुभगे नित्योत्थिततयैव च । भर्त्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषयैव च ॥ ३९ ॥ नित्यमार्या-महं कुन्तीं वीरसूं सत्यवादिनीम् । स्वयं परिचराम्येतां पानाच्छा-

में आये हैं उन सब धर्मोंको मैं रात दिन सावधान रहकर पालती हूं,मैं सदा विनय और नियमोंको भी एकाग्र चित्त होकर पालती हूं॥ ३३–३५ ॥ तथा कोमल मनवाले, सरल स्वभाव, सत्यवादी सत्यधर्मका आश्रय लेनेवाले पतियोंकी, जैसे विषैला साँप जरा भी दवनेसे क्रोधमें भरजाता है इसकारण उससे सावधान रहते हैं तिसी प्रकार अपने पतियोंसे सावधान रहकर सेवा करती हूं पतिके आश्रित रहना यह ही स्त्रियोंका सनातन धर्म है, मैं मानती हूं कि—स्त्रियोंका देवता तथा आश्रय केवल पति ही है, इसकारण कौनसी स्त्री अपने पतिदेवताका अप्रिय करेगी ? ॥ ३७ ॥ मैं सदा पतिसे पहिले सोती नहीं हूं तथा उनसे पहिले भोजन भी नही करती हूं तथा उनकी इच्छाके विरुद्ध गहने भी नहीं पहिनता हूं, और साससे किसी दिन भी कड़ा नहीं बोलती हूं किन्तु सदा भली प्रकार नियममें रहती हूं, ॥ ३८ ॥ हे सौभाग्यवती सत्यभामा ! मैं नित्य प्रमादको त्यागकर भली प्रकार उद्योग किया करती हूं तथा बड़ोंकी सेवा किया करती हूं, उसके प्रभावसे मेरेपति मेरे वशमें रहते हैं ॥ ३९ ॥ वीर पुत्रोंकी जननी, सत्य बोलनेवाली और श्रेष्ठ सास कुंतीजीको नित्य, पीनेके लिये पानी जीमनेके लिये भोजन तथा वस्त्रादि देती हूं, मैं इस प्रकार उनकी

दनभोजनैः ॥ ४० ॥ नैतामतिशये जातु वस्त्रभूषणभोजनैः । नापि परिवदे चाहं तां पृथां पृथिवीसमाम् ॥ ४१ ॥ अष्टावग्रे ब्राह्मणानां सहस्राणि स्म नित्यदा । भुञ्जते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४२ ॥ अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः । त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥ दशान्यानि सहस्राणि येषामन्नं सुसंस्कृतम् । ह्रियते रुक्मपात्रीभिर्यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ४४ तान् सर्वानग्रहारेण ब्राह्मणान् वेदवादिनः । यथार्हं पूजयामि स्म पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४५ ॥ शतं दासीसहस्राणि कौन्तेयस्य महात्मनः । कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ॥ ४६ ॥ महार्हमाल्याभरणाः सुवर्णाश्चन्दनोक्षिताः । मणीन् हेम

सेवा करती हूं ॥ ४० ॥ मैं किसी दिन भी, वस्त्र, आभूषण तथा भोजनादिकी बातमें अपनी सासके कहनेके विरुद्ध नहीं चलती हूं, किन्तु उनकी सलाह लेती हूं तथा पृथ्वीकी समान मान्य सासू कुन्तीजीसे ऐंठकर बोलती भी नहीं हूं; ॥ ४१ ॥ मेरे पति युधिष्ठिरके राजभवनमें पहिले सदा अठासी सहस्र ब्राह्मण सोनेके पात्रोंमें भोजन करते थे, तथा अट्ठासी सहस्र गृहस्थाश्रमी स्नातक ब्राह्मणोंका भी युधिष्ठिर पोषण करते थे, जिनमें एक २ ब्राह्मणकी सेवामें तीस २ दासियें रहती थीं ॥ ४२—४३ ॥ और दश हजार आजन्म ब्रह्मचारी यतियोंको सोनेके थालोंमें उत्तम प्रकारके भोजन परोसे जाते थे, मैं इन सब वेदवेत्ता ब्राह्मणों का वैश्वदेव होनेके अनन्तर अग्रहार नामके अन्नोंसे तथा पान, भोजन और वस्त्रोंसे यथोचितरीतिपर सत्कार करती थी॥४४-४५॥ और महात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके दश सहस्र दासियें थीं वे माला और बाजूबन्दोंको धारण किये रहती थीं, गलेमें कंठियें पहर कर भलीप्रकार सजी रहती थीं और बहुमूल्य पुष्पमालाओंके आभूषणों को धारण किये रहती थीं, वे गौरवर्ण चंदनसे लिप्त, मणि तथा सुवर्णके आभूषण पहिरे तथा सबप्रकारके नृत्य और गान-

च विज्ञत्यो नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४७ ॥ तासां नाम च रूपञ्च भोजनाच्छादनानि च सर्व्वासामेव वेदाहं कर्म चैव कृताकृतम् ।४८। शतं दासीसहस्राणि कुन्तीपुत्रस्य धीमतः । पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ॥ ४९ ॥ शतमश्वसहस्राणि दश नागायुतानि च । युधिष्ठिरस्यानुयात्रमिन्द्रप्रस्थनिवासिनः ॥ ५० ॥ एतदासीत्तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत् । येषां संख्यां विधिश्चैव प्रदिशामि शृणोमि च ॥ ५१ ॥ अन्तःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः । आगोपालविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ५२ ॥ सर्वं राज्ञः समुदयमायञ्च व्ययमेव च । एकाहं वेद्मि कल्याणि पांडवानां

विद्यामें कुशल थी, इन सब दासियोंका नाम रूप भोजन और वस्त्रों की व्यवस्था अकेली मैं ही करती थी, तथा सब दासियें क्या काम करती हैं ? और क्या काम नहीं करती हैं इस सबकी देखभाल भी मैं ही करती थी ॥ ४६–४८ ॥ महाबुद्धिमान् मेरे पति युधिष्ठिर के यहाँ दश सहस्र दासियें सेवाका काम करती थीं और रातदिन हाथोंमें सोनेके थाल लिये सहस्रों अतिथियों को जिमातीं थीं ॥ ४९ ॥ जब राजा युधिष्ठिर नगरमें रहते थे और जब नगरमें फिरनेके लिये निकलते थे तो एक लाख हाथी तथा एक लाख घोड़े उनके साथ चलते थे ॥ ५० ॥ यह सब जब राजा युधिष्ठिर राज्य करते थे उस समय था और मैं इस सबकी गिनती और व्यवस्था रखती थी तथा इस विषयकी जो कुछ बात होती थी उसको सुनती भी थी ॥ ५१ ॥ अन्तःपुरके और बाहरके सेवक क्या काम करते हैं तथा क्या नहीं करते हैं, गौओंके ग्वालिये तथा भेडें चरानेवाले क्या करते हैं क्या काम नहीं करते हैं इस सबका भी मैं ध्यानमें रखती थी ॥ ५२ ॥ हे कल्याणि और कीर्त्तिमति सत्यभामा ! पांडवोंकी कितनी आमदनी है कितना खर्च है तथा आमदनीमेंसे खर्च करनेके पीछे क्या बचता है इस सबका हिसाब

यशस्विनि ॥ ५३ ॥ मयि सर्वं समासज्य कुटुम्बं भरतर्षभाः । उपासनरताः सर्वे घटयन्ति वरानने ॥ ५४ ॥ तमहं भारमासक्तमनाधृष्यं दुरात्मभिः सुखं सर्वं परित्यज्य रात्र्यहानि घटामि वै ॥ ५५ ॥ अधृष्यं वरुणस्येव निधिपूर्णमिवोदधिम् । एकाहं वेद्मि कोषं वै पतीनां धर्मचारिणाम् ॥ ५६ ॥ अनिशायां निशायां च सहाया क्षुत्पिपासयोः । आराधयन्त्याः कौरव्यांस्तुल्या रात्रिरहश्च मे ॥ ५७ ॥ प्रथमं प्रतिबुद्ध्यामि चरमं संविशामि च । नित्यकालमहं सत्यमेतत् संवदनं मम ॥ ५८ ॥ एतज्जानाम्यहं कर्त्तुं भर्तृसंवदनं महत् । असत्स्त्रीणां समाचारं नाहं कुर्यां न कामये ॥ ५९ ॥ वैशम्पायन उवाच । तच्छ्रुत्वा धर्मसहितं व्याहृतं कृष्णया तदा ।

अकेली मैं ही रखती थी ॥ ५३ ॥ और हे सुन्दरमुखी ! भरतवंश में श्रेष्ठ पाण्डव भी मेरे ऊपर ही सारे कुटम्बका भार छोड़कर उपासनादि कर्ममें तत्पर रहते थे तथा आये गयेका सत्कार करने के कार्यमें लगे रहते थे ॥ ५४ ॥ और मैं सब सुखोंको त्याग कर रातदिन जिसको दुष्ट मनवाली स्त्रियें न उठासकें ऐसे कुटुम्बके सब भारको उठाया करती थी ॥५५॥ मेरे पति धर्माचरण किया करतेथे तब वरुणके निधिरूप अपार महासागरकी समान असंख्य धनके भण्डारोंको भी अकेली मैं ही जानती थी ॥ ५६ ॥ तैसेही रात दिन भूँख प्यासको सहकर पांडवोंकी सेवा करतेमें मुझे रात और दिन एकसे ही प्रतीत होते थे अर्थात् रात दिनकी भी काम के कारण मुझे सुध नहीं रहती थी ॥ ५७ ॥ मैं प्रतिदिन सबके सोनेके पीछे सोती थी और उन सबके उठनेसे पहिले जागजाती थी यही मेरा वशीकरण मंत्र है ॥ ५८ ॥ और पतिको वशमें करनेका यह महावशीकरण मुझे बड़ा अच्छा लगता है, दुराचारिणी स्त्रियोंके दुराचारोंको मैं नहीं करती हूं तथा तैसा वर्ताव करनेकी मुझे इच्छा भी नहीं होती है ॥ ५९ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय ! इस प्रकार द्रौपदीने स्त्रियोंका

उवाच सत्या सत्कृत्य पांचालीं धर्मचारिणीम् ॥ ६० ॥ अभिपन्नास्मि पांचालि याज्ञसेनि क्षमस्व मे । कामकारः सखीनां हि सोपहासं प्रभाषितुम् ॥ ६१ ॥ ※ ॥ छ ॥ . ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि द्रौपदीनिजकार्यकथने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

द्रौपद्युवाच । इमन्तु ते मार्गमपेतमोहं वक्ष्यामि चित्तग्रहणाय भर्तुः । अस्मिन् यथावत् सखि वर्त्तमाना भर्त्तारमाच्छेत्स्यसि कामिनीभ्यः ॥ १ ॥ नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु । यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा लभ्याः प्रसादात् कुपितं च हन्यात् ॥ २ ॥ तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः शय्यासनान्युत्तम-

---

श्रेष्ठ वर्ताव कहकर सुनादिया, उसको सुनकर सत्यभामाने धर्मचारिणी पाञ्चालीका सत्कार करके उससे विनयपूर्वक कहा कि— ॥ ६० ॥ हे यज्ञसेनकी पुत्री द्रौपदी ! मैंने तुमसे अनुचित प्रश्न किया मैं इसके लिये मैं तुमसे प्रार्थना करके कहती हूं कि तुम मेरे अपराधको क्षमा करो, सखियोंकी हँसीकी वार्तामें जान बूझकर ऐसा बातें भी निकल पड़ती हैं ॥ ६१ ॥ दोसौ तैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३३ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

द्रौपदी बोली कि—हे सखी सत्यभामा ! मै तुमसे पतिके मनको वशमें करनेके लिये कपटरहित शुद्ध वशीकरण मार्ग कहती हूं, उसे तुम सुनो और यदि तुम उसी प्रकार चलोगी तो तुम स्वयं अपने स्वामीका मन अपनी सौतोंकी ओरसे खेंचकर अपनी ओर को लौटा सकोगी॥ १ ॥ हे सत्यभामा ! इस लोकमें तथा परलोकमें स्त्रियोंका देवता पति ही है पतिकी समान दूसरा कोई भी देवता नहीं है, जिसके प्रसन्न होने से स्त्रियें सब कामनाओं को पाती हैं और जिसके खिन्न होने से स्त्रियें सब सुखों का नाश करलेतीं हैं ॥ २ ॥ स्त्रियें प्रसन्न हुए पति से पुत्र, नाना प्रकार के सुख-

दर्शनानि । वस्त्राणि माल्यानि तथैव गन्धाः स्वर्गश्च लोको विपुला च कीर्त्तिः ॥ ३ ॥ सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि । सा कृष्णमाराधय सौहृदेन प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च ॥ ४ ॥ तथाशनैश्चारुभिरग्रमाल्यैर्दाक्षिण्ययोगैर्विविधैश्च गन्धैः । अस्याः प्रियोऽस्मीति यथा विदित्वा त्वामेव संश्लिष्यति तद्विधत्स्व ॥ ५ ॥ श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्त्तुः प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये । दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरितासनेन पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ॥ ६ ॥ सम्प्रेषितायामथ चैव दास्यामुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम् । जानातु कृष्णस्तव भावमेतं सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥ ७ ॥

भोग, दर्शनीय पलंग, उत्तम देखने योग्य आसन, नानाप्रकारके कपड़े, भांति २ के पुष्प, अनेकों प्रकारके सुगन्धित पदार्थ, बड़ी भारी कीर्त्ति और स्वर्ग आदि अमूल्य वस्तुओंको पाती हैं ॥ ३ ॥ हे साध्वी सत्यभामा ! सहज में कभीभी सुख नहीं मिलता है, पतिव्रता स्त्री दुःख उठाकर ही सुख पाती है, अतः तुम नित्य स्नेह से, प्रेमसे, कायक्लेश भोगकर तथा सुन्दर आसन उत्तम प्रकारके पुष्प, अनेकों प्रकारकी कामकाजकी चतुराई और अनेकों प्रकारके सुगन्धित पदार्थों से श्रीकृष्णकी सेवा करो तब, मैं इसको प्यारा हूं, यह जानकर श्रीकृष्ण तुम्हारे वशमें होजायँगे, अतः तुम मेरे कहनेके अनुसार पतिकी सेवा करो ॥४-५॥ तुम्हारे स्वामी घरके द्वारपर आवें और उनका शब्द तुम्हें सुनाई देय कि-तुम तुरंत सावधान होकर घरमें खडी रहो और पति ज्योंहीं घरमें आवे कि-उनको पांव धोनेके लिये पानी दो, बैठनेके लिये आसन दो और पति आसन पर बैठजायँ तब उनकी सेवा करो ॥ ६ ॥ हे सत्यभामा ! यदि तुम्हारे पति किसी कामके लिये दासी को आज्ञा दें तो भी तुम दासीको काम करनेसे रोक कर उस सब कामको आप ही करो, इससे श्रीकृष्ण तुम्हारे इस भावको जानेंगे कि-सत्यभामा सब प्रकारसे मेरी सेवा करती है ॥ ७ ॥

रहस्सन्निधौ यत्कथयेत् पतिस्ते यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम् ।
काचिद् सपत्नी तव वासुदेवं प्रत्यादिशेत्तेन भवेद्विरागः ॥ ८ ॥
प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्त्तुस्तान् भोजयेथा विविधैरुपायैः
द्वेष्यैरुपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्यतैश्च ॥ ९ ॥ मदं
प्रमादं पुरुषेषु हित्वा संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मौनम् । प्रद्युम्नशा-
म्बावपि ते कुमारौ नोपासितव्यौ रहिते कदाचित् ॥ १० ॥ महा-
कुलीनाभिरपापिकाभिः स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु । चण्डाश्च
शौण्डाश्च महाशनाश्च चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥ ११ ॥
एतद्यशस्यं भगदैवतञ्च स्वार्थं तदा शत्रुनिवर्हणञ्च । महार्हमाल्या-

तुम्हारे पति तुमसे कोई बात कहें वह बात गुप्त रखनेयोग्य न हो तो भी तुम किसीसे मत कहो, मनमें ही रक्खो, क्योंकि—तुम्हारी कोई सौत कदाचित् श्रीकृष्णसे उस बातको कहदेय तो उससे उनके मनमें तुम्हारी ओरसे उदासीनता आजायगी ॥ ८ ॥ जो तुम्हारे पतिके प्रिय स्नेही और हितू हों उनको अनेकों युक्तियोंसे भोजन कराओ और जो तुम्हारे पतिका शत्रु हो, त्याग करनेयोग्य हो वा कपट करनेको उद्यत हो उन पतिके शत्रुओंके साथसे सदा वची रहो ॥ ९ ॥ परपुरुषोंके सामने मद और प्रमादको त्यागकर सावधान रहो और अपने अभिप्रायको छुपाये रहो, एकान्तमें अपने कुमार शाम्ब और प्रद्युम्नके साथ भी कभी मत बैठो तथा उनसे संभाषण भी मत करो ॥ १० ॥ प्रतिष्ठित कुलोंमें जन्मीहुई कपटशून्य शुद्धमनवाली सती स्त्रियोंके साथ वहनेला रखना किन्तु क्रूर स्वभाववाली, दूसरोंका तिरस्कार करनेमें कुशल, बहुतसा भोजन करनेवाली, चोरी करनेवाली, द्वेषी स्वभाववाली और चञ्चल मनकी स्त्रियोंके साथ भनेला न करना ॥ ११ ॥ हे सत्यभामा! यह स्वामीकी सेवाका मार्ग यश देनेवाला है, सौभाग्य-सुखमें वृद्धि करनेवाला, दुर्दैवका नाश करनेवाला और स्वार्थ-सिद्धि का साधन है, अतः तुम उत्तम अनमोल पुष्पमालाएं और

भरणाङ्गरागा भर्त्तारमाराधय पुण्यगन्धा ॥ १२ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि द्रौपदी-कर्त्तव्यकथने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

वैशम्पायन उवाच। मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैः पाण्डवैश्च महात्मभिः कथाभिरनुकूलाभिः सह स्थित्वा जनार्दनः ॥ १ ॥ ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः। आरुरुक्षू रथं सत्यामाह्वयामास केशवः ॥ २ ॥ सत्यभामा ततस्तत्र स्वजित्वा द्रुपदात्मजाम्। उवाच वचनं हृद्यं यथाभावं समाहितम् ॥ ३ ॥ कृष्णे माभूत्तपोत्कण्ठा मा व्यथा मा प्रजागरः। भर्तृभिर्देवसङ्काशैर्जितां प्राप्स्यसि मेदिनीम् ॥ ४ ॥ न ह्येवं शीलसम्पन्ना नैवं पूजितलक्षणाः। प्राप्नुवन्ति चिरं क्लेशं यथा त्वामसितेक्षणे ॥ ५ ॥ अवश्यञ्च

आभूषण शरीर पर धारण करके तथा पवित्र गंधसे महक कर भर्ताकी सेवा करो॥१२॥ दोसौ चौतीसवां अध्याय समाप्त २३४

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! मधुसूदन, केशव, जनार्दन, श्रीकृष्ण-मार्कण्डेय आदि महात्मा ब्राह्मणोंके साथ तथा पाण्डवोंके साथ बैठकर अनेकों प्रकारकी कथाएं कहकरे थे ॥१॥ जब उनके द्वारकाको जानेका समय हुआ तब पांडवोंके साथ बहुतसी उचित बातें करके रथके ऊपर चढ़नेको उद्यतहुए तब सत्यभामाको बुलवाया ॥ २ ॥ तब द्रौपदीके पास बैठी हुई सत्यभामाने द्रौपदीको हृदयसे लगाकर अपने विचारके अनुसार धैर्य देनेवाले मनोहर वचन कहते हुए कहा कि-॥ ३ ॥ हे द्रौपदी तुम मनमें किसीप्रकारकी उत्कण्ठा मत रखना मनमें दुःखी भी न होना और चिन्तावश जागती हुई रातें न बिताना क्यों कि— देवसमान अपने पतियोंसे जीती हुई भूमिका तुम भविष्यमें राज्य भोगोगी ॥ ४ ॥ हे श्यामनेत्रोंवाली द्रौपदी ! तुम जिसप्रकार बहुत समय से दुःख भोगती हो ऐसा दुःख सुशील तथा श्रेष्ठ लक्षणों वाली स्त्रियें बहुत दिनोंतक नहीं भोगती हैं ॥ ५ ॥ मेरे सुननेमें

त्वया भूमिरियं निहतकण्टका । भर्तृभिः सह भोक्तव्या निर्द्वन्द्वेति श्रुतं मया ॥ ६ ॥ धार्त्तराष्ट्रवधं कृत्वा वैराणि प्रतियात्य च । युधिष्ठिरस्थां पृथिवीं द्रक्ष्यसे द्रुपदात्मजे ॥ ७ ॥ यास्ताः प्रव्राजमानां त्वांप्राहसन् दर्पमोहिताः । ताः क्षिप्रं हतसंकल्पा द्रक्ष्यसि त्वं कुरुस्त्रियः ॥ ८ ॥ तव दुःखोपपन्नाया यैराचरितमप्रियम् । विद्धि संप्रस्थितान् सर्वास्तान् कृष्णे यमसादनम् ॥ ६ ॥ पुत्रस्ते प्रतिविंध्यश्च सुतसोमस्तथाविधः । श्रुतकर्माऽर्जुनिश्चैव शतानीकश्च नाकुलिः ॥ १० ॥ सहदेवाच यो जातः श्रुतसेनस्तवात्मजः । सर्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव ॥ ११ ॥ अभिमन्युरिव प्रीता द्वारवत्यां रताभृशम् । त्वमिवैषां सुभद्रा च प्रीत्या सर्वात्मना स्थिता ॥ १२ ॥ प्रीयते तव निर्द्वन्द्वा तेभ्यश्च विगतज्वरा ।

आया है कि—तुम अपने पतियोंके साथ शत्रुरहित इस पृथ्वी पर राज्य करोगी और तुम्हारा कोई भी शत्रु न रहेगा ॥६॥ हे द्रौपदी राजा युधिष्ठिर धृतराष्ट्रके पुत्रोंका नाशकर वैरका बदला ले पृथ्वी को जीतेंगे यह तुम देखोगी ॥ ७ ॥ तैसेही जब तुम वनमें जानेको उद्यत हुई थीं उस समय जिन स्त्रियोंने अभिमानके कारण आपेसे बाहर होकर तुम्हारी हँसी की थीं उन सब कौरवकुलकी स्त्रियोंके संकल्पोंको तुम शीघ्र ही नष्ट हुए देखोगी ॥ ८ ॥ और हे द्रौपदी ! जिन्होंने तुमको दुःखिनी देखकर दुःख दिया है और तुम्हारा अमङ्गल किया है इन कौरवोंको भी तुम अपनी दृष्टिके दैवकोपसे यमलोकमें जातेहुए देखोगी ॥ ६ ॥ हे द्रौपदी ! युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवके तुमसे उत्पन्न हुए प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन आदि तुम्हारे सब पुत्र कुशल हैं और अस्त्रविद्यामें निपुण होगए हैं ॥ १०—११ ॥ और अभिमन्युकी समान प्रसन्न मनसे बड़े आनन्दके साथ द्वारिकामें रहते हैं और सुभद्रा तुम्हारी समान ही अन्तःकरणसे उन पर प्रेम रखती है ॥१२॥ और किसी प्रकारका भी पक्षपात न करके शान्तिके साथ तुम्हारे पुत्रोंसे प्रेम करती है और उनके

दुखिता तेन दुःखेन सुखेन सुखिता तथा ॥ १३ ॥ भजेत् सर्वा-त्मना चैव प्रद्युम्नजननी तथा । भानुप्रभृतिभिश्च नान् विशिनष्टि च केशवः ॥ १४ ॥ भोजनाच्छादने चैषां नित्यं मे श्वशुरः स्थितः रामप्रभृतयः सर्वे भजन्त्यन्धकवृष्णयः ॥ १५ ॥ तुल्यो हि प्रण-यस्तेषां प्रद्युम्नस्य च भाविनि । एवमादिप्रियं सत्यं हृद्यमुक्त्वा मनोऽनुगम् ॥ १६ ॥ गमनाय मनश्चक्रे वासुदेवरथं प्रति । तां कृष्णां कृष्णमहिषी चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥ १७ ॥ आरुरोह रथं शौरेः सत्यभामाथ भाविनी । स्मयित्वा तु यदुश्रेष्ठो द्रौपदीं परिसान्त्व्य च । उपावर्त्त्य ततः शीघ्रैर्हयैः प्रायात् पुरं स्वकम् ॥ १८ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि सत्य-भामाकृष्णगमने पंचत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५॥

समाप्तमिदं द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व ॥

दुःखसे दुःखी तथा उनके सुखसे सुखी रहती है ॥ १३ ॥ प्रद्युम्न की माता भी तिसीप्रकार तुम्हारे पुत्रोंकी सेवा करती है और श्री कृष्ण भी भानु आदि पुत्रोंको साथ रखकर तुम्हारे पुत्रोंका ध्यान रखते हैं ॥ १४ ॥ उन्होंने खानेको खालिया है या भूखे हैं ? उनके पास वस्त्र हैं या नहीं यह ध्यान मेरे ससुर वसुदेवजी रखते हैं, तैसे ही बलदेवजी आदि अंधक और वृष्णिवंशके राजे भी तुम्हारे कुमारोंकी सेवा करते हैं ॥ १५ ॥ हे भाविनि ! तुम्हारे पुत्रों में और प्रद्युम्नमें भी एकसी प्रीति है,इसप्रकार प्रिय सत्य हृदयाम-न्दक आर मनोनुकूल वचन कहकर सत्यभामाने श्रीकृष्णके रथकी ओर जानेका मनमें विचार किया और जाते समय श्रीकृष्णकी पटरानी सत्यभामा द्रौपदीकी प्रदक्षिणा करी॥ १६-१७ ॥ श्रीकृ-ष्णके रथके ऊपर चढ़गई उस समय सब पाण्डव और द्रौपदी श्री-कृष्णके रथके आगे आकर खड़े होगए श्रीकृष्णने रथमें बैठे २ मुस्करा कर द्रौपदीको धीरज दिया और पाण्डवोंको तहाँसे लौटा-लदिया तथा शीघ्र चलनेवाले घोड़ोंको हाँकर अपने नगरको चले गए ॥ १८ ॥ दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३५ ॥ छ ॥

द्रौपदीसत्यभामा सम्वादपर्व समाप्त

अथ घोषयात्रा पर्व ॥

जनमेजय उवाच । एवं वने वर्तमाना नराग्र्याः शीतोष्णवातातपकर्शिताङ्गाः । सरस्तदासाद्य वनञ्च पुण्यं ततः परं किमकुर्वन्त पार्थाः ॥ १ ॥ वैशम्पायन उवाच । सरस्तदासाद्य तु पाण्डुपुत्रा जनं समुत्सृज्य विधाय वेशम् । वनानि रम्याण्यथ पर्वतांश्च नदीप्रदेशांश्च तदा विचेरुः ॥ २ ॥ तथा वने तान् वसतः प्रवीरान् स्वाध्यायवन्तश्च तपोधनाश्च । अभ्याययुर्वेदविदः पुराणास्तान् पूजयामासुरथो नराग्र्याः ॥ ३ ॥ ततः कदाचित् कुशलः कथासु विप्रोऽभ्यगच्छद्भुवि कौरवेयान् । स तैः समेत्याथ यदृच्छयैव वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ॥ ४ ॥ अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च वृद्धेन

घोषयात्रापर्व ।

जनमेजयने बूझा कि—इसप्रकार वनमें रहतेहुए नरश्रेष्ठ सरदी गरमी हवा तथा सूर्यकी धूपको सहनेसे जिनके शरीर दुवले होगए थे ऐसे पाण्डवोंने पवित्र द्वैतवनमेंके सरोवर पर आकर अपना जीवन किसप्रकार विताया था यह मुझसे कहो ॥ १ ॥ वैशम्पायनने कहा कि—पाण्डवोंने द्वैतवनके सरोवर पर आकर अपने हितचिन्तक मनुष्योंको घर जानेकी आज्ञा दी और सरोवरके तट पर एक फूंसकी झोंपड़ी बनाकर उसमें रहनेलगे तहांके रमणीय वनोंमें पर्वतोंमें तथा नदीके आसपासके प्रदेशोंमें वे विचरते थे ॥ २ ॥ उस समय वनमें रहतेहुए महाशूर पाण्डवोंसे मिलनेके लिये वेद को जाननेवाले तपको धन माननेवाले और नित्य वेदाध्ययन करनेवाले वृद्ध ब्राह्मण तहाँ आते थे और पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव उन का भली प्रकार सत्कार करते थे, तदनन्तर एक समय कथा कहने में कुशल एक ब्राह्मण पृथ्वी पर घूमता २ द्वैतवनमें रहनेवाले पांडवोंके पास जाकर मिला, तदनन्तर दैवेच्छासे वह कौरवोंके पास गया और कौरवोंसे मिलकर विचित्रवीर्यके पुत्र राजा धृतराष्ट्रसे मिला ॥ ३-४ ॥ उस समय कुरुकुलमें श्रेष्ठ उस वृद्ध राजाने तिस ब्राह्मण

राज्ञा कुरुसत्तमेन । प्रचोदितः संकथयाम्बभूव धर्मानिलेन्द्रप्रभवान् यमौ च ॥ ५ ॥ कृशांश्च वातातपकर्शितांगान् दुःखस्य चोग्रस्य मुखे प्रपन्नान् । तांश्चाप्यनाथामिव वीरनाथां कृष्णां परिक्लेशगुणेन युक्ताम् ॥ ६ ॥ ततः कथास्तस्य निशम्य राजा वैचित्रवीर्य्यः कृपयाभितप्तः । वने तथा पार्थिवपुत्रपौत्रान् श्रुत्वा तथा दुःखनदीं प्रपन्नान् ॥ ७ ॥ प्रोवाच दैन्याभिहतान्तरात्मा निःश्वासवातोपहतस्तदानीम् । वाचं कथञ्चित् स्थिरतामुपेत्य तत्सर्वमात्मभवं विचिन्त्य ॥ ८ ॥ कथन्नु सत्यः शुचिरार्य्यवृत्तो ज्येष्ठः सुतानां मम धर्मराजः । अजातशत्रुः पृथिवीतले स्म शेते पुरा रांकवकूटशायी ॥ ९ ॥ प्रबोध्यते मागधसूतपूगैर्नित्यं स्तुवद्भिः स्वयमिन्द्रकल्पः ।

का योग्यतानुसार सत्कार करके कथा कहनेके लिये प्रेरणा की तब उस ब्राह्मणने सरदी गरमीसे जिनके शरीर दुबले होगए हैं ऐसे तथा जो भयङ्कर दुःखके मुखमें पड़े हुए थे उन वनवाससे दुबले हुए धर्मराज, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव की सब बातें कहीं तथा वीर पुरुषोंकी स्त्री होनेपर भी निराधार की समान हुई और अत्यन्त क्लेश पाती हुई द्रौपदीका भी वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ५–६ ॥ विचित्रवीर्यके पुत्र धृतराष्ट्रने उस ब्राह्मणके वचन सुनकर जाना कि-पाण्डुके पुत्र तथा पौत्र वनमें दुःखरूपी नदीमें डूब गए हैं इससे वह दयाके कारण खिन्न होकर सन्ताप करनेलगा ॥ ७ ॥ उस समय उसका मन दुःखसे घबड़ागया वह सांस लेते२शिथिल होगया और ज्यों त्यों धीरज धरनेके अनन्तर उसके विचारमें आया कि–पाण्डवोंकी ऐसी दुर्दशाका कारण मैं हा हूं, इसप्रकार विचार करके राजा धृतराष्ट्र कहनेलगा कि-॥८॥ सत्यवादी पवित्र उत्तम चरित्रवाले मेरे पुत्रोंमें मुख्य और अजातशत्रु धर्मराज पहिले रंकु मृगके बालोंसे भरे कोमल गद्देपर सोता था हायरे ! वह अब पृथ्वी पर सोता है ॥ ९ ॥ हायरे ! इन्द्र समान जिस युधिष्ठिरको पहिले पिछली रात्रिमें मागध और सूत

पतत्रिसंघैः स जघन्यरात्रे प्रबोध्यते नूनमिडातलस्थः ॥ १० ॥ कथन्तु वातातपकर्शितांगो वृकोदरः कोपपरिप्लुतांगः । शेते पृथिव्यामतथोचितांगः कृष्णासमक्षं वसुधातलस्थः ॥ ११ ॥ तथार्जुनः सुकुमारो मनस्वी वशे स्थितो धर्मसुतस्य राज्ञः । विदूयमानैरिव सर्वगात्रैर्ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १२ ॥ यमौ च कृष्णाञ्च युधिष्ठिरञ्च भीमंच दृष्ट्वा सुखविप्रयुक्तम् । विनिश्वसन् सर्प इवोग्रतेजा ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १३ ॥ तथा यमौ चाप्यसुखौ सुखार्हौ समृद्धरूपावमरौ दिवीव । प्रजागरस्थौ ध्रुवमप्रशान्तौ धर्मेण सत्येन च वार्यमाणौ ॥ १४ ॥ समीरणेनाथ समो बलेन समीरणस्यैव सुतो बलीयान् । स धर्मपाशेन सितोग्रजेन ध्रुवं

स्तुति गाकर जगाते थे वही आज पृथ्वी पर सोता हुआ धर्मराज पिछली रात्रिमें पक्षियोंके चींचीं शब्दसे जागता होगा १० जिसका शरीर वायु और सरदीसे दुबला होगया है, जिसके सम्पूर्ण शरीर में कोप भराहुआ है, जिसका शरीर पृथ्वी पर सोने योग्य नहीं है वह महाबली भीमसेन द्रौपदीके सन्मुख भूमि पर सोता होगा यह कितना अनुचित है ?॥११॥ तैसे ही अतिसुकुमार, मनस्वी और धर्मराजकी आज्ञामें रहनेवाला अर्जुन भी क्रोधके कारण खिन्नहुए और मलीन दीखतेहुए अंगोंसे रात्रिमें पृथ्वी पर सोता नहीं है, किन्तु जागा ही करता है॥१२॥ और महातेजस्वी वह अर्जुन नकुल सहदेव द्रौपदी, युधिष्ठिर और भीमकी दुःखमयी अवस्थाको देखकर भयंकर तेजस्वी सर्प जैसे फुङ्कारें भरता है तैसे ही सांसें लिया करता है और क्रोधके कारण रात दिन पृथ्वी पर सोता नहीं है ॥ १३ ॥ तैसे ही सुख भोगनेयोग्य होने पर भी, सुखरहित स्वर्गमें रहनेवाले दो देवताओंकी समान श्रेष्ठ रूपवाले नकुल तथा सहदेव धर्म और सत्यसे आगे चरण बढ़ानेसे रुकगए हैं परन्तु वे दोनों निश्चय ही क्रोधमें भरगए हैं इसीसे रात्रिमें ऊँघते भी नहीं है ॥१४॥ वायुपुत्र भीम बलमें वायुकी समान बली है परन्तु वह बड़े

विनिःश्वस्य सहत्यमर्षम् ॥ १५ ॥ स चापि भूमौ परिवर्त्तमानो वधं सुतानां मम काङ्क्षमाणः । सत्येन धर्मेण च वार्य्यमाणः कालं प्रतीक्षत्यधिको रणेन्यैः ॥ १६ ॥ अजातशत्रौ तु जिते निकृत्या दुःशासनो यत्परुषाण्यवोचत् । तानि प्रविष्टानि वृकोदराङ्ग दहन्ति कक्षाग्निरिवेन्धनानि ॥ १७ ॥ न पापकम् ध्यास्यति धर्मपुत्रो धनञ्जयश्चाप्यनुवर्त्स्यते तम् । अरण्यवासेन विवर्द्धते तु भीमस्य कोपोग्निरिवानिलेन ॥ १८ ॥ स तेन कोपेन विदह्यमानः करं करेणाभिनिपीड्य वीरः । विनिःश्वसत्युष्णमतीव घोरं दहन्निवेमान्मम पुत्रपौत्रान् ॥ १९ ॥ गाण्डीवधन्वा च वृकोदरश्च संरम्भिणावन्तककालकल्पौ । न शेषयेतां युधि शत्रुसेनां शरान् किरन्तावशनिप्र-

---

भाई युधिष्ठिरकी आज्ञारूपी पाशमें बंधाहुआ होनेके कारण सांस लेताहुआ अपने क्रोधको सहा करता है ॥ १५ ॥ रणमें सबसे अधिक बलवान् भीमसेन मेरे पुत्रोंको मारना चाहता है, परन्तु सत्य और धर्मने आगेको पैर रखनेसे उसको रोकदिया है; इसकारण वे सब अपने समयकी बाट देखतेहुए भूमिमें इधर उधर विचरा करते हैं ॥ १६ ॥ कपटके द्यूतसे धर्मराजका पराजय करने के पीछे दुःशासनने पाण्डवोंसे जो कठोर वचन कहे थे वे वचन भीमके शरीरमें घुसकर विधगये हैं और फूँसमें लगीहुई अग्नि जैसे काठोंको जलादेती है तैसे ही वे वचन भीमसेनको जलाया करते हैं ॥ १७ ॥ कदाचित् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर मेरे पुत्रोंके पाप का विचार नहीं करगे तथा अर्जुन भी धर्मराजकी समान ही वर्ताव करेगा, परन्तु पवन जैसे अग्निकी वृद्धि करता है तैसे ही वनवास भीमके कोपानलकी वृद्धि करता है ॥ १८ ॥ और वह वीर उस कोपाग्निसे रातदिन जला करता है तथा अपने दोनों हाथोंको परस्पर मसल कर मेरे पुत्रोंको तथा पौत्रोंको मानो जलाता हो इसप्रकार अतिभयावनी आहें भरा करता है ॥ १९ ॥ गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन तथा भीमसेन जब क्रोधमें भरते हैं तो

काशात् ॥ २० ॥ दुर्योधनो शकुनिः सूतपुत्रो दुःशासनश्चापि सुमन्दचेताः । मधु प्रपश्यन्ति न तु प्रपातं यद् द्यूतमालम्ब्य हरन्ति राज्यम् ॥ २१ ॥ शुभाशुभं कर्म नरो हि कृत्वा प्रतीक्षते तस्य फलं स्म कर्त्ता । स तेन युक्तस्त्ववशः फलेन मोक्षः कथं स्यात् पुरुषस्य तस्मात् ॥ २२ ॥ क्षेत्रे सुकृष्टे ह्यपिते च बीजे देवे च वर्षत्यृतुकालयुक्तम् । न स्यात् फलं तस्य कुतः प्रसिद्धिरन्यत्र दैवादिति चिन्तयामि ॥ २३ ॥ कृतं मताक्षेण यथा न साधु साधु प्रवृत्तेन च पाण्ड-

---

कालके भी काल होजाते हैं वे जब युद्धमें वज्रसरीखे तेजस्वी बाण शत्रुकी सेना पर मारना आरम्भ करेंगे तब सेनामेंसे एक मनुष्य को भी शेष नहीं छोडेंगे ॥ २० ॥ हायरे ! मन्दबुद्धि दुर्योधन, शकुनि कर्ण तथा दुःशासनने जुआ खिलाकर राज्य हर लिया है वे उसे शहदकी समान मीठा समझते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि यह विनाश करनेवालाहै, ॥२१॥ विचार करने पर प्रतीत होता है कि-कर्म करनेवाले मनुष्य शुभाशुभ करनेके पीछे अपने कर्मके फलकी बाट देखा करते हैं, और वह-पराधीन प्राणी विवशहुआ फलके ऊपर मोहित होजाता है, इसकारण फलको भोगे विना उससे उसका छुटकारा कैसे होसकता है? कियेहुए कर्मोके फल प्राणियों को अवश्य ही भोगने पड़ते हैं वे पापकर्म हों चाहे पुण्यकर्मा हो॥२२ खेतको भलेप्रकार ।जोता हो, उसमें समयानुसार बीज बोये हों तथा इन्द्रने भी ऋतुके अनुसार जल बरसाया हो परन्तु दैव अनुकूल नहीं होय तो उसे अपने परिश्रमका फल नहीं मिलताहै, अतः मैंने तो मनमें निश्चय कर लिया है, कि-दैवकी अनुकूलता के विना फलकी सिद्धि नहीं होती है, जैसे सब सामग्री होनेपर भी बीज निष्फल होजाता है, तैसे ही मेरे और दुर्योधन आदिके मनमें वृद्ध पुरुषोंके उपदेश निष्फल हुए हैं ॥ २३ ॥ हायरे ! शकुनिने उस समय कौरवोंका अमंगल करनेवाला काम किया था,

वेन । मया च दुष्पुत्रवशानुगेन यथा कुरूणामयमन्तकालः ॥२४॥ ध्रुवं प्रवास्यत्यसमीरितोऽपि ध्रुवं प्रजास्यत्युत गर्भिणी या। ध्रुवं दिनादौ रजनीप्रणाशस्तथा क्षपादौ च दिनप्रणाशः ॥२५॥ क्रियेत कस्मादपरे च कुर्य्यु र्वित्तं न दद्युः पुरुषाः कथञ्चित् । भाष्यार्थका-परन्तु पाण्डवोंने उस ही समय कौरवोंका नाश न किया यह बड़ा अच्छा काम किया परन्तु मैंने दुष्टपुत्रके प्रेमके वशमें होकर ऐसा काम किया कि-जिससे कौरवोंका अन्तकाल समीप ही आपहुंचा है ॥ २४ ॥ वायु जैसे विना प्रेरणाके ही चला करता है, गर्भिणी स्त्री जैसे विना प्रेरणाके ही सन्तान उत्पन्न करती है, तथा दिवस के आरंभमें जैसे रात्रिका नाश अवश्य ही होता है, और रात्रिके आरंभमें दिनका नाश अवश्य होताहै तैसे ही इस जगत्में जो कुछ कर्म किया होता है उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ताहै,॥२५॥ इसपर मुझसे कोई प्रश्न करे कि-तो तुमने प्रथमसे ही इसका विचार क्यों नहीं किया? तो इसका उत्तर इतना ही है, कि-यदि मनुष्योंके मनमें इतना विवेक हो तो वे अन्यायसे धन इकट्ठा क्यों करें ? कदाचित् तुम कहोगे कि-तू तो मूर्ख है, अतः धनकी इच्छा रखता है, तो इसका उत्तर यह है, कि-(मैं भले ही मूर्ख होऊँ) परन्तु दूसरे राजे किसलिये धन इकट्ठा करते हैं ? और उस इकट्ठे कियेहुए धनमेंसे भले मनुष्य भी धर्म काम आदिमें क्यों नहीं खर्चते हैं ? सार यह है, कि—मनुष्योंकी बुद्धि स्वभावसे ही धन पानेमें और पायेहुए धनकी रक्षा करनेमें दृढ़ होती है । कदाचित् कोई प्रश्न करेगा कि—तो लोग किसलिये धन इकट्ठा करते हैं? इसका उत्तर यह है कि-जब स्त्री आदि को स्वीकार करनेयोग्य तरुण अवस्था आती है तब मनुष्योंके मनमें विचार उठता है कि—मैं निर्धन किस उपायसे धन मिलनेके काम को करूँ ? कौन उपाय करूं जिससे धन मिले ? इसप्रकार निर्धन मनुष्यका विवाह आदि करते समय यह चिन्तारूपी अनर्थ आप-

लक्ष्म भवेदनर्थः कथं नु तत् स्यादिति तत् कुतः स्यात् ॥ २६ ॥ कथन्नु भिद्येत न च स्रवेत न च प्रसिच्येदिति रक्षितव्यम् । अरक्ष्यमाणं शतधा प्रकीर्येत् ध्रुवं न नाशोऽस्ति कृतस्य लोके॥२७॥ गतो ह्यरण्यादपि शक्रलोकं धनञ्जयः पश्यत वीर्यमस्य । अस्त्राणि दिव्यानि चतुर्विधानि ज्ञात्वा पुनर्लोकमिमं प्रपन्नः ॥ २८ ॥ स्वर्गं हि गत्वा सशरीर एव को मानुषः पुनरागन्तुमिच्छेत् । अन्यत्र कालोपहताननेकान् समीक्षमाण-

---

ढता है और इससे उसको धनकी आवश्यकता पडती है ॥ २६॥ उस धनमेंसे थोडासा भी हिस्सा न जाय,जैसे कच्चे घडेमेंसे जल टपकता है तैसे ही धनमेंका थोडासा भाग भी नष्ट न हो तथा उस मेंसे बाहर भी कहीं न जाय इसप्रकार धनकी रक्षा करनी उचित ही है और यदि उसकी रक्षा न कीजाय तो अवश्य ही उसका नाश होजाता है, अतः राज्यकी रक्षा करनी चाहिये और उस मेंसे कुछ थोडासा हिस्सा भी पाण्डवोंको न दियाजाय यह ठीक ही है, कदाचित् कोई कहे कि-पांडवोंका भाग पांडवोंको दो, तो पुत्रोंका नाश होनेसे रुकै, परन्तु यह मिथ्या है, क्योंकि—जगत् में कियेहुए कर्मोंका नाश कभी नहीं होता है, किन्तु उसका फल अवश्य मिलता है, कौरवोंके भाग्यमें मरना और दुर्गति लिखी होगी तो वह होकर रहेगी ! होकर रहेगी !! तब किसलिये पांडवोंको राज्यका भाग देकर प्रत्यक्ष दुःख सहन करूं ? जो ललाटमें लिखा है वह अवश्य ही होगा ॥ २७ ॥ परन्तु ओः अर्जुनका पराक्रम तो देखो वह वनमें जानेके पीछे स्वर्गमें गया और तहाँ चारप्रकार के अस्त्रोंका अभ्यास करके फिर इस लोकमें आकर अपने भाइयों से मिलगया॥२८॥कौन मनुष्य देहसहित स्वर्गमें जाकर फिर यहां आना चाहेगा ? परन्तु अर्जुन तो, कालने पहिले ही जिनका नाश करदिया है ऐसे कौरवोंको मरनेको तयार हुए देखकर, फिर

स्तु कुरून् प्रमूर्पन् ॥ २९ ॥ धनुर्ग्राहश्चार्जुनः सव्यसाची धनुश्च तद्गाण्डिवं भीमवेगम् । अस्त्राणि दिव्यानि च तानि दस्य कस्य-स्य तेजः प्रसहेत कोऽत्र ॥ ३० ॥ निशम्य तद्वचनं पार्थिवस्य दुर्योधनं रहिते सौबलोऽथ । अबोधयत् कर्णमुपेत्य सर्वं स चाप्यहृष्टो भवदल्पचेताः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि धृतराष्ट्रखेदवाक्ये पटत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

वैशम्पायन उवाच । धृतराष्ट्रस्य तद्वाक्यं निशम्य शकुनिस्तदा । दुर्योधनमिदं काले कर्णेन सहितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥ प्रव्राज्य पाण्डवान् स्वेन वीरान् वीर्येण भारत । भुंक्ष्वेमां पृथिवीमेको दिवि शम्बरहा यथा ॥ २ प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रतीच्योदीच्यवासिनः । कृताः करप्रदाः सर्वे राजानस्ते नराधिप ॥ ३ ॥ या हि सा दीप्य-

इस लोकमें आया है ॥ २९ ॥ धनुषधारी अर्जुन, उसका भयंकर गांडीव धनुष् तथा उसके दिव्य अस्त्र इन तीन वस्तुओंके तेजको सहे, ऐसा इस लोकमें कौन है ? ॥ ३० ॥ सुबलपुत्र शकुनिने धृतराष्ट्रके उन वचनोंको सुनकर एकान्तमें जहां कर्णके साथ दुर्योधन बैठा था तहां जाकर उससे वे सब बातें कहीं, अल्पबुद्धि दुर्योधन उन बातोंको सुनकर खिन्न होगया ॥ ३१ ॥ दोसौ छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३६ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे राजा जनमेयजय ! राजा धृतराष्ट्र का दुःखदायक वातोंको सुनकर शकुनि और कर्ण दुर्योधनसे कहनेलगे कि—॥ १ ॥ हे भरतवंशी राजन् दुर्योधन ! तुमने अपने पराक्रमसे पाण्डवोंको वनवास दिया है, अब तुम जैसे स्वर्गमें निर्विघ्न होकर इन्द्र राज्य भोगता है, तिसी प्रकार इस पृथ्वीके राज्यको भोगो ॥ २ ॥ हे राजन् ! तुमने पूर्व-पश्चिम—उत्तर-दक्षिण के सब राजाओंको कर देनेवाला बनालिया है ॥ ३ ॥ और हे राजन् ! अतितेजस्वी दीखनेवाली जो राज्यलक्ष्मी पहिले पांडवों

सानेव पाण्डवानभजत् पुरा । साद्य लक्ष्मीस्त्वया राजन्नवाप्ता भ्रातृभिः सह ॥ ४ ॥ इन्द्रप्रस्थगते यां तां दीप्यमानां युधिष्ठिरे । अपश्याम श्रियं राजन् दृश्यते सा तवाद्य वै ॥ ५ ॥ शत्रवस्तव राजेन्द्र न चिरं शोककर्शिताः । सा तु बुद्धिबलेनेयं राज्ञस्तस्माद्युधिष्ठिरात् ॥ ६ ॥ त्वया क्षिप्ता महाबाहो दीप्यमानेव दृश्यते । तथैव तव राजेन्द्र राजानः परवीरहन् ॥ ७ ॥ शासनेऽधिष्ठिताः सर्वे किं कुर्म इति वादिनः । तथेयं पृथिवी राजन् निखिला सागराम्बरा ॥ ८ ॥ सपर्वतवना देवी सग्रामनगराकरा । नानावनोद्देशवती पर्वतैरुपशोभिता ॥ ९ ॥ वन्द्यमानो द्विजै राजन् पूज्यमानश्च राजभिः । पौरुषाद्दिवि देवेषु भ्राजसे रश्मिमानिव ॥ १० ॥ रुद्रैरिव यमो

की सेवा करती थी वह राज्यलक्ष्मी अब तुमने और तुम्हारे भाइयोंने पाई है ॥ ४ ॥ हे राजन् ! पहिले हम दिल्लीमें रहतेहुए राजा युधिष्ठिरमें जिस राज्यलक्ष्मीको शोकातुर हृदयसे देखते थे उस राज्यलक्ष्मीको आज तुममें विराजमान देखते हैं, हे राजेन्द्र ! तुम्हारे शत्रु दुःखसे दुर्बल होगए हैं, वे अब बहुत समयतक जीवित नहीं रहसकेंगे अतः हम तुम्हारी प्रतिज्ञाके अनुसार सुख भोगेंगे हे महाभुज ! तुमने राजा युधिष्ठिरसे बुद्धिके बलसे राज्यलक्ष्मी छीनली है, वह अतिदीप्यमान प्रतीत होती है और हे शत्रुहन् ! वीर राजेन्द्र ! सब राजे तुम्हारी आज्ञामें रहकर कहते हैं कि— महाराज ! आज्ञा दो हम क्या हुक्म बजावें ? तैसे ही हे राजन् ! पर्वत, वन, ग्राम, नगर, हीरे, रत्नोंकी खानें, नाना प्रकारके वन आदि और अनन्त प्रकारोंसे शोभित यह समस्त भूमि तुम्हारे अधीन है ॥ ५–९ ॥ हे राजन् ! ब्राह्मण तुमको आशीर्वाद देते हैं, राजा तुम्हारी पूजा करते हैं, यह सब पुरुषार्थ करनेसे ही हुआ है, हे राजन् ! स्वर्गमें जैसे देवताओंमें सूर्य प्रकाशित होता है, तैसे ही तुम भी इस पृथ्वी पर राजाओंमें तेजस्वी प्रतीत होते हो ॥ १० ॥

राजा मरुद्भिरिव वासवः । कुरुभिस्त्वं वृतो राजन् भासि नक्षत्रराडिव ॥ ११ ॥ यैः स्म ते नाद्रियेताज्ञा न च ये शासने स्थिताः पश्यामस्तान् श्रिया हीनान् पाण्डवान् वनवासिनः ॥ १२ ॥ श्रूयते हि महाराज सरो द्वैतवनं प्रति । वसन्तः पाण्डवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ॥ १३ ॥ स मयाहि महाराज श्रिया परमया वृतः । तापयन् पाण्डुपुत्रांस्त्वं रश्मिमानिव तेजसा ॥ १४ ॥ स्थितो राज्ये च्युतान् राज्याच्छ्रिया हीनाञ्छ्रिया वृतः । असमृद्धान् समृद्धार्थः पश्य पाण्डुसुतान्नृप ॥ १५ ॥ महाभिजनसम्पन्नं भद्रे महति संस्थितम् । पाण्डवास्त्वाभिवीक्षन्तु ययातमिव नाहुषम् ॥ १६ ॥ यां श्रियं सुहृदश्चैव दुर्हृदश्च विशाम्पते । पश्यन्ति पुरुषे

यमराज जैसे रुद्रोंसे शोभा पाते हैं, इन्द्र जैसे देवताओंसे शोभा पाते हैं, तैसे ही हे राजन् ! तुम कौरवोंसे घिरेहुए चारों ओरसे चन्द्रमाकी समान शोभा पाते हो ॥ ११ ॥ और जो तुम्हारी आज्ञा का सन्मान नहीं करते हैं तथा तुम्हारी आज्ञामें नहीं रहते हैं उनको वनमें वास करनेवाले पाण्डवोंकी समान निर्धन दशामें देखते हैं ॥ १२ ॥ हे महाराज ! ऐसा सुननेमें आया है कि—द्वैतवनमें एक सरोवर है, तहां पाण्डव वनवासी ब्राह्मणोंके साथ रहते हैं १३ अतः हे महाराज ! तुम द्वैतवनमें चलो और सूर्य जैसे अपने ताप से मनुष्योंको तपाता है तैसे ही तुम भी श्रेष्ठ राज्यलक्ष्मीको दिखाकर पाण्डवोंके मनमें सन्ताप उत्पन्न करो ॥ १४ ॥ हे राजन् ! तुम राज्यासन पर बैठे हो और वे राज्यसे भ्रष्ट होगए हैं, तुम राज्यलक्ष्मीसे सुशोभित हो और वे राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट हैं, तुम समृद्धिमान् हो और वे समृद्धिशून्य हैं, अतः तुम द्वैतवनमें जाकर पाण्डवोंसे मिलो ॥ १५ ॥ हे राजन् ! नहुषके पुत्र ययातिको देखकर जैसे उसके शत्रु फीके पड़गये थे तिसीप्रकार महाप्रतिष्ठित जनसमूहसे घिरेहुए तथा परमकल्याणकारी काममें लगेहुए तुमको पाण्डव देखें ॥ १६ ॥ हे राजन् ! पुरुषको मिली हुई प्रकाश-

दीर्शा सा समर्था भवत्युत ॥ १७ ॥ समस्थो विषमस्थान् हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते । जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किमतः परमं सुखम् ॥ १८ ॥ न पुत्रधनलाभेन न राज्येनापि विन्दति । प्रीतिं नृपतिशार्दूल यामभित्राघदर्शनात् ॥१९॥ किन्तु तस्य सुखं न स्यादाश्रमे यो धनञ्जयम् । अभिवीक्षेत सिद्धार्थो वल्कलाजिनवाससम् ॥ २० ॥ सुवाससो हि ते भार्य्या वल्कलाजिनसंवृताम् । पश्यन्तु दुःखिताम् कृष्णां सा च निर्विद्यतां पुनः ॥ २१ ॥ विनिन्दतां तथात्मानं जीवितञ्च धनच्युतम् । न तथा हि सभामध्ये तस्या भवितुमर्हति । वैमनस्यं यथा दृष्ट्वा तव भार्य्याः स्वलङ्कृताः॥२२॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा तु राजानं कर्णः शकुनिना सह

मयी लक्ष्मीको देखकर जब उसके मित्र प्रसन्न होते हैं और शत्रु जलते हैं तब ही उस ऐश्वर्यका मिलना सफल होता है ॥ १७ ॥ और पर्वत पर चढ़ाहुआ मनुष्य जैसे पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्यों को देखता है तैसे ही सुखी दशामें रहनेवाला मनुष्य अपने शत्रुओंको दुःखमें पड़ेहुए देखता है इससे अधिक और क्या सुख होगा ? ॥ १८ ॥ हे राजसिंह ! मनुष्योंको शत्रुओंको दुःखित देखकर जैसा आनन्द मिलता है तैसा आनन्द पुत्रप्राप्तिसे अथवा धनप्राप्तिसे भी नहीं होता ॥ १९ ॥ हे राजन् ! अपना कार्य सिद्ध करनेवाला पुरुष वनमें वृक्षकी छालके वस्त्र और मृगचर्मको धारण करनेवाले अर्जुनको देखेगा तो उसके मनमें कौनसा आनन्द न होगा ॥ २० ॥ और तुम्हारी सुन्दर वस्त्र धारण करनेवालीं स्त्रियें, वनमें वल्कल वस्त्र तथा मृगचर्मको ओढ़ने वाली द्रौपदीको भी देखें तथा उसे दुःखित करें ॥२१॥ और द्रौपदी भी तुम्हारीं सुन्दर वस्त्र तथा गहनोंवालीं स्त्रियोंको देखकर खिन्न हो, तथा अपने आत्माकी तथा निर्धन जीवनकी निंदा करै, हे राजन् ! द्रौपदी सभामें जैसी उदास हुई थी तैसी ही उदास तुम्हारी स्त्रियोंको वनमें सजीहुई देख कर होगी ॥ २२ ॥ वैशम्पायन

तूष्णीं वभूवतुरुभौ वाक्यान्ते जनमेजय ॥ २३ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोपयात्रापर्वणि कर्णशकुनिवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥

वैशम्पायन उवाच । कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्ततः हृष्टो भूत्वा पुनर्दीन इदं वचनमव्रवीत् ॥ १ ॥ व्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मनसि मे स्थितम् । न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पाण्डवाः ॥ २ ॥ परिदेवति तान् वीरान् धृतराष्ट्रो महीपतिः । मन्यतेऽभ्यधिकांश्चापि तपोयोगेन पाण्डवान् ॥ ३ ॥ अथवाप्यनुवुध्येत नृपोऽस्माकं चिकीर्षितम् । एवमप्यायतिं रक्षन्नाभ्यनुज्ञातुमर्हति ४ न हि द्वैतवने किञ्चिद्विद्यतेऽन्यत् प्रयोजनम् । उत्सादनमृते तेषां वनस्थानां महाद्युते ॥ ५ ॥ जानासि हि यथा क्षत्ता द्यूतकाल उ-

---

कहते हैं कि - हे जनमेजय ! इसप्रकार कर्णने तथा शकुनिने दुर्योधनसे कहा और फिर वे दोनों जने चुप होगए ॥ २३ ॥ दोसौ सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३७ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! राजा दुर्योधन कर्णके वचन सुनकर पहिले तो प्रसन्न हुआ परन्तु पीछेसे खिन्न होकर कर्णसे इसप्रकार कहनेलगा कि- ॥ १ ॥ हे कर्ण ! तू जो कहता है वह सव वात मेरे मनमें रमरही है, परन्तु जहां पाण्डव रहते हैं तहां जानेकी मुझे महाराज धृतराष्ट्रसे आज्ञा नहीं मिलेगी ॥ २ ॥ क्योंकि—राजा धृतराष्ट्र, शूरवीर पांडवोंके लिये वड़ा खेद किया करते हैं और उनके तपके कारण उनको हमसे अधिक वली मानते हैं॥३॥ अथवा राजा धृतराष्ट्र हमारे इस विचारको जानलेंगे तो भी वह पीछे होनेवाले परिणामकी रक्षा करनेके लिये हमको जानेकी आज्ञा नहीं देंगे ॥४॥ क्योंकि–हे महाकान्तिमान् कर्ण ! हमारे द्वैत वनमें जानेका कारण पांडवोंको दुःखी करनेके सिवाय और कुछ नहीं है ॥५॥ परन्तु जुआ खेलते समय विदुरने तुझसे

परिस्थिते। अब्रवीद्यच्च मां त्वाञ्च सौबलं वचनं तदा॥ ६ ॥ तानि सर्वाणि वाक्यानि यच्चान्यत् परिदेवितम्। विचिन्त्य नाधिगच्छामि गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥ ममापि हि महान् हर्षो यदहं भीमफाल्गुनौ। क्लिष्टावरण्ये पश्येयं कृष्णया सहिताविति ॥ ८ ॥ न तथा ह्याप्नुयां प्रीतिमवाप्य वसुधामिमाम्। दृष्ट्वा यथा पाण्डुसुतान् वल्कलाजिनवाससः ॥ ९ ॥ किन्नु स्यादधिकं तस्माद्यदहं द्रुपदात्मजाम्। द्रौपदीं कर्ण पश्येयं काषायवसनां वने ॥ १० ॥ यदि मां धर्मराजश्च भीमसेनश्च पाण्डवः। युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्येतां जीवितं भवेत् ॥ ११ ॥ उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद्वनम्। यथा चाभ्यनुजानीयाद् गच्छन्तं मां महीपतिः ॥ १२ ॥ ससौबलेन सहितस्तथा दुःशासेन च। उपायं पश्य निपुणं येन

मुझसे तथा शकुनिसे जो बातें कहीं थीं उन वाक्योंको तो तू जानता ही है, उन सब बातोंका और उनके खेदका मनमें विचार करता हूं तो द्वैतवनमें जाऊँ अथवा न जाऊँ इसका मैं निर्णय नहीं करसकता॥६-७॥यह बात शंकारहित है कि मैं वनमें वल्कल वस्त्र धारण कर दुःखी होतेहुए भीमसेन तथा अर्जुनको द्रौपदीके साथ फिरते हुए देखूंगा तब मेरे मनमें महाहर्ष होगा ॥ ८॥ और मैं वल्कल वस्त्र तथा मृगचर्मको पहिरनेवाले पाण्डवोंको वनमें फिरते हुए देखकर जैसा अतिप्रसन्न होऊँगा तैसा इस सम्पूर्ण पृथ्वीके मिलनेसे भी नहीं हुआ था, पृथ्वीको पानेकी अपेक्षा शत्रुको दुःखी देखनेकी मुझे बड़ा उत्कण्ठा है ॥९॥ हे कर्ण ! मैं द्रौपदीको वनमें गेरुआ वस्त्र धारण कियेहुए देखलूंगा तो उससे अधिक मुझे और क्या देखना है १० यदि धर्मराज और पाण्डुपुत्र भीमसेन मुझे राज्यलक्ष्मीसे शोभायमान देखलें तब तो बस जीवन ही सफल है ॥ ११ ॥ परन्तु हम जिस उपायसे द्वैतवनमें जावें और राजा मुझे जानेकी आज्ञा दें ऐसा कोई उपाय मुझे नहीं दीखता ॥१२॥ अतः हे कर्ण ! तू शकुनि तथा दुःशासनसे मिल

गच्छेम तद्वनम्॥१३॥अहमप्यद्य निश्चित्य गमनायेतराय चाकल्यमेव गमिष्यामि समीपं पार्थिवस्य ह ॥१४॥ मयि तत्रोपविष्टे तु भीष्मे च कुरुसत्तमे । उपायो यो भवेद् दृष्टस्त्वं ब्रूयाः सहसौवलः॥१५॥ वचो भीष्मस्य राज्ञश्च निशम्य गमनं प्रति । व्यवसायं करिष्येऽहमनुनीय पितामहम् ॥ १६ ॥ तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे जग्मुरावसथान् प्रति । व्युषितायां रजन्यान्तु कर्णो राजानमभ्ययात् ॥१७॥ ततो दुर्योधनं कर्णः प्रहसन्निदमब्रवीत् । उपायः परिदृष्टोऽयं तन्निबोध जनेश्वर ॥ १८ ॥ घोषाः द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ १९ ॥ उचितं हि सदा गन्तुं घोषयात्रां विशाम्पते । एवञ्च त्वां पिता राजन् समनुज्ञातु-

कर कोई अच्छा उपाय निकाल, जिससे कि-हम द्वैतवनमें जासकें १३ मैं तहाँ जाऊँ अथवा न जाऊँ इसका विचार आज ही करूंगा और प्रातःकाल राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर बैठूंगा, प्रातःकाल को तहां मैं और कुरुवंशश्रेष्ठ भीष्म पितामह बैठे होंगे तब तुम दुःशासनको साथमें लेकर राजाके पास आना और जिस उपाय का निश्चय करलो उसे करना ॥ १४—१५ ॥ तदनन्तर भीष्म पितामह और राजा इस विषयमें जो कुछ कहेंगे उसको सुनकर तथा भीष्म पितामहको विनयपूर्वक समझा कर मैं द्वैतवनको जाने का उद्योग करूंगा ॥१६॥ हे राजन् ! इस प्रकार दुर्योधनके वचन सुन बहुत अच्छा कहकर सब अपने २ घरको गए, रात्रि बीत गई और प्रातःकाल हुआ तब कर्ण राजा दुर्योधनके पास गया ॥ १७ ॥ और हँसकर इसप्रकार कहनेलगा कि—हे नरेश्वर ! राजन् दुर्योधन ! मैंने द्वैतवनमें जानेका एक उपाय ढूंढ निकाला है उसे तुम सुनो ॥ १८ ॥ हे राजन् ! गोठोंके स्वामी (ग्वालिये) तुम्हारी वाट देखरहे हैं अतः हम घोषयात्राका बहाना लेकर द्वैतवन में जायँगे इसमें संदेह नहीं है ॥१९॥ और हे राजन् ! घोषयात्रामें सदा जाना चाहिये अतः तुम्हारे पिता भी तुमको जानेकी आज्ञा

गर्हति ॥ २० ॥ तथा कथयमानौ तु घोषयात्राविनिश्चयम् । गान्धारराजः शकुनिः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ २१ ॥ उपायोऽयं मया दृष्टो गमनाय निरामयः । अनुज्ञास्यति नो राजा बोधयिष्यति चाप्युत ॥२२॥ घोषाद् द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप । घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ २३ ॥ ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान् ददुः । तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि घोषयात्रामन्त्रणे अष्टत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

वैशम्पायन उवाच । धृतराष्ट्रन्ततः सर्वे ददृशुर्जनमेजय । पृष्ट्वा सुखमथो राज्ञः पृष्टा राज्ञा च भारत ॥ १ ॥ ततस्तैर्विहितः पूर्वं समङ्गो नाम वल्लवः । समीपस्थांस्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत्

देंगे ॥२०॥ इसप्रकार कर्ण और दुर्योधन घोषयात्राके विषयका विचार कर रहे थे इतने में ही गंधारदेशके राजाने (शकुनिने) हँसते २ कहा कि—॥ २१ ॥ द्वैतवनमें,जानेके लिये जो युक्ति की है मेरी समझमें वह ठीक है और राजा धृतराष्ट्र हमको इस युक्ति से तहाँ जानेकी आज्ञा दे देंगे तथा पाण्डवोंके साथ मेलसे रहने का उपदेश भी देंगे ॥ २२ ॥ हे राजन् ! द्वैतवनमें सब ग्वालिये आपकी राह देखते हैं, अतः हम घोषयात्राका बहाना कर तहाँ अवश्य जायँगे ॥ २३ हे जनमेजय ! इसप्रकार विचार करके उन सबोंने हँसकर एक दूसरेके हाथसे तालियें बजाई और तिसी प्रकार राजासे कहकर अवश्य जानेका निश्चय करके कुरुकुलमें श्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रके पास गए ॥२४॥ दोसौ अडतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३८ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे भरतवंशोत्पन्न राजन् ! वह सब की सब चौकडी राजा धृतराष्ट्रके पास गई और उनके दर्शन करके उनसे कुशल बूझा ॥ १ ॥ इसप्रकार परस्पर कुशल प्रश्न करनेके पीछे कौरवोंने जिसे पहिले ही सिखा रक्खा था

॥२॥अनन्तरञ्च राधेयः शकुनिश्च विशाम्पते। आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥३॥रमणीयेषु देशेषु घोषाः संप्रति कौरव। स्मरणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चाङ्कनम् ॥ ४॥ मृगया चोचिता राजन्नस्मिन् कालेषु तस्य ते। दुर्योधनस्य गमनं समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥ धृतराष्ट्र उवाच। मृगया शोभना तात गवां हि समवेक्षणम्। विश्रम्भस्तु न गन्तव्यो बल्लवानामिति स्मरे ॥ ६ ॥ ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम्। अतो नाभ्यनुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ॥७॥छद्मना निर्जितास्ते तु कर्शिताश्च महावने तपोनित्याश्च राधेय समर्थाश्च महारथाः ॥ ८ ॥धर्मराजो न संकु-

ऐसा समंग नामका ग्वालिया राजाके पास आया और उसने अपने पासकी सब गौओंका वृत्तान्त राजा धृतराष्ट्रसे कहा॥ २ ॥ तदनन्तर कर्ण और शकुनिने नृपश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रसे कहा कि हे कुरुकुलके राजन्! जिस रमणीय देशमें गौओंके गोठ हैं, तहां पर गौओंकी अवस्था, रंग और नाम लिखनेका समय आगया है तथा बछड़ोंके लिखनेका समय भी समीप आलगा है ॥ ३–४ ॥ हे राजन्! इस समय आपके पुत्रोंको शिकार खेलना चाहिये, अतः आप दुर्योधनको वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ ५ ॥ धृतराष्ट्रने कहा कि हे तात कर्ण! तथा शकुनि! शिकार खेलना और गौओंकी देखभाल करना यह काम बहुत अच्छा है, और शोभा देनेवाला है परन्तु एक बात यादआगई कि-तुम ग्वालियोंका विश्वास नहीं करना क्योंकि—मैंने सुना है कि-सिंह समान वीर पाण्डव तहां समीपमें ही हैं, कदाचित् उन पाण्डवोंके कहनेसे वे तुम्हें उनके पास लेजाय तो अनर्थ ही होजायगा, ऐसा मेरे मनमें सन्देह उठता है, अतः मैं तुम्हें स्वयं तहाँ जानेकी आज्ञा नहीं देता ॥६॥ ॥ ७ ॥ हे राधाके पुत्र कर्ण! तुमने उनको छलसे हराया है और उन्होंने घोर वनमें रहकर महा कष्ट भोगा है परन्तु सदा तप करके अब वे महारथी समर्थ होगए हैं ॥ ८ ॥ तथापि धर्मराज तुम्हें

द्ध्यं द्भीमसेनस्त्वमर्षणः । यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम् ॥ ९ ॥ यूयञ्चाप्यपराध्येयुर्दर्पमोहसमन्विताः । ततो विनिर्दहेयुस्ते तपसा हि समन्विताः ॥ १० ॥ अथवा सायुधा वीरा मन्युनाभिपरिप्लुताः । सहिता बद्धनिस्त्रिंशा दहेयुः शस्त्रतेजसा ॥ ११ ॥ अथ यूयं बहुत्वाचानभियात कथञ्चन अनार्यं परमं तत् स्यादशक्यं तच्च वै मतम् ॥ १२ ॥ उषितो हि महाबाहुरिन्द्रलोके धनञ्जयः दिव्यान्यस्त्राण्यवाप्याथ ततः प्रत्यागतो वनम् ॥ १३ ॥ अकृतास्त्रेण पृथिवी जिता बीभत्सुना पुरा । किं पुनः सकृतास्त्रोऽद्य न हन्याद्वो महारथः ॥ १४ ॥ अथवा मद्वचः श्रुत्वा तत्र यत्ता भविष्यथ ।

देखकर क्रोध नहीं करेंगे परन्तु भीमसेन बड़ा क्रोधी है और राजा यज्ञसेनकी पुत्री द्रौपदी तो मानो तेजकी पुतली ही है ॥९॥ और तुम अहंकार तथा मोहमें डूबेहुए हो, इसकारण तहां जाकर उन का अपराध किये बिना मानोगे नहीं तब वे तपस्वी तपके प्रभाव से तुम्हे जलाकर भस्म करडालेंगे ॥ १० ॥ अथवा महाक्रोधमें भरेहुए और जिनके कमरोंमें तलवारें बँधरहीं हैं, ऐसे वे वीर पाण्डव इकट्ठे होकर शस्त्रके तेजसे तुम्हारा नाश करडालेंगे ११ और यदि तुम बहुतसे होनेसे उनके ऊपर टूट पड़ोगे तो यह तुम्हारा महाअन्याय मानाजागा तथा ऐसा करने पर भी हम उनका बालबांका करसकें इस बातको मैं अशक्य मानता हूं ॥ १२ ॥ महाभुज अर्जुन अस्त्रविद्या सीखनेके लिये इन्द्रलोकमें जाकर तहाँ रहा था, अब वह सम्पूर्ण दिव्य अस्त्रविद्या सीखकर फिर वनमें भाइयोंके पास लौटकर आगया है ॥ १३ ॥ पहिले जब अर्जुन अस्त्रविद्या नहीं सीखा था, तब ही उसने पृथ्वी को जीत लिया था, फिर अब तो उसको दिव्य अस्त्र मिलगये हैं अतः वह महारथी, तुम्हारा नाश करदेय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ १४ ॥ अथवा तुम मेरी बात सुनकर अस्त्र आदि धारण कियेहुए वनमें सावधान रहोगे तो भी तहां रहते समय

उद्विग्नवासो विश्रम्भाद्दुःखं तत्र भविष्यति॥१५॥ अथवा सैनिकाः केचिदपकुर्य्युर्युधिष्ठिरम्। तदबुद्धिकृतं कर्म्म दोषमुत्पादयेच्च नः ॥ १६ ॥ तस्माद्‌ गच्छन्तु पुरुषाः स्मारणायाप्तकारिणः। न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत॥ १७ ॥ शकुनिरुवाच । धर्मज्ञः पाण्डवो ज्येष्ठः प्रतिज्ञातश्च संसदि । तेन द्वादशवर्षाणि वस्तव्या-नीति भारत ॥ १८ ॥ अनुवृत्ताश्च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः। युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो न नः कोपं करिष्यति ॥ १९ ॥ मृगयाञ्चैव नो गन्तुमिच्छा संवर्त्तते भृशम्। स्मारणन्तु चिकीर्षामो न तु पाण्ड-वदर्शनम् ॥ २० ॥ न चानार्य्यसमाचारः कश्चित्तत्र भविष्यति। न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ॥ २१ ॥ वैशम्पायन

व्याकुलता अवश्य ही होगी इसमें सन्देह नहीं है अतः तुमको तहां दुःख ही होगा ॥ १५ ॥ कदाचित् तुम सावधान रहे भी परंतु तुम्हारी सेनामेंके किन्हीं मनुष्योंने युधिष्ठिरका अपराध करडाला तो उस मूर्खताके कामका परिणाम भी तुमको हानि पहुंचावेगा ॥१६॥ अतः हे भरतवंशी राजकुमार! अपने कोई विश्वासपात्र पुरुष, गौओं और वछड़ोंकी सुधि लेनेके लिये वनमें चले जायंगे, और तुम स्वयं तहां जाओ, इसे मैं अच्छा नहीं समझता ॥ १७ ॥ धृतराष्ट्रके ऐसे वाक्योंको सुनकर शकुनिने कहा कि-हे भरतवंशी राजन्! तुम्हारे पुत्रोंमें सवसे वड़े धर्मात्मा युधिष्ठिरने सभाके वीचमें प्रतिज्ञा की है, कि-हम वारह वर्ष तक वनमें रहेंगे ॥१८॥ धर्माचरण करनेवाले सव पाण्डव इन धर्मराजके कहनेमें चलते हैं और वह सवोंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर हमारे ऊपर क्रोध नहीं करेंगे ॥१८-१९॥ इसके सिवाय हमें शिकार खेलनेकी वड़ी इच्छा नहीं है, हम तो केवल गौओं और वछड़ोंको देखनेकी आवश्यकता सम-झते हैं, हम तो पांडवोंसे मिलनेको भी नहीं जायंगे॥२०॥ तथा तहां किसी प्रकारका अनुचित वर्त्ताव भी नहीं किया जायगा, जहां पांडवोंका निवास होगा तहां हम कभीभी नहीं जायँगे २१

उवाच । एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः । दुर्योधनं सहामात्यमनुजज्ञे न कामतः ॥ २२ ॥ अनुज्ञातस्तु गान्धारिः कर्णेन सहितस्तदा । निर्ययौ भरतश्रेष्ठो बलेन महता वृतः ॥ २३ ॥ दुःशासनेन च तथा सौबलेन च धीमता । संवृतो भ्रातृभिश्चान्यैः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ॥ २४ ॥ तं निर्यान्तं महाबाहुं द्रष्टुं द्वैतवनं सरः पौराश्चानुययुः सर्वे सहदारा वनञ्च तत् ॥ २५ ॥ अष्टौ रथ सहस्राणि त्रीणि नागायुतानि च । पत्तयो बहुसाहस्रा हयाश्च नवतिः शताः ॥ २६ ॥ शकटापणवेशाश्च वणिजो वन्दिनस्तथा । नराश्च मृगयाशीलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥ ततः प्रयाणे नृपतेः

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय ! इसप्रकार शकुनिने राजा धृतराष्ट्रसे कहा, तब धृतराष्ट्रने राजा दुर्योधनको मंत्रियोंसहित जानेकी आज्ञा दी तो सही परन्तु उन्होंने मनमें प्रसन्न होकर आज्ञा नहीं दी ॥ २२ ॥ राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञा मिलनेके पीछे भरतवंशमें श्रेष्ठ गांधारीका पुत्र दुर्योधन कर्णको साथ लेकर बडी भारी सेनासे घिराहुआ नगरके बाहर निकला ॥ २३ और उस ने द्वैतवनकी ओरको यात्रा करदी, उस समय उसके साथ दुःशासन, बुद्धिमान् शकुनि तथा दूसरे भाई और सहस्रों स्त्रियें थीं ।२४। महाबाहु दुर्योधनको द्वैतवन और सरोवरको देखनेके लिये जाता हुआ जानकर नगरके कितने ही पुरुष भी द्वैतवनमें जानेको अपनी स्त्रियोंके साथ उसके पीछे२ चलदिये ।।२५।। उस समय दुर्योधन के साथ आठ सहस्र रथ, तीस सहस्र हाथी, असंख्यों पालकियें और नौ सहस्र घोड़े थे इसके सिवाय उसके साथ सैंकड़ों और सहस्रों बोझ ढोनेके लिये गाडियें दुकाने नृत्य करनेवालीं बहुतसी स्त्रियें वैश्य तथा भाट थे, और शिकार खेलनेवाले सैंकडों सहस्रों पुरुष भी साथमें हो लिये ॥ २६-२७ ॥ हे राजन् ! जब राजा दुर्योधन द्वैतवनकी ओरको चला तब वर्षाकालमें जैसे महा

सुमहानभवत् स्वनः । प्राट्पीव महावायोरुद्धतस्य विशाम्पते ॥ २८ ॥ गव्यूतिमात्रे न्यवसद्राराजा दुर्योधनस्तदा । प्रययौ वाहनैः सर्वैस्ततो द्वैतवनं सरः ॥ २९ ॥ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रस्थान ऊनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

वैशम्पायन उवाच । अथ दुर्य्योधनो राजा तत्र तत्र वने वसन् जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ॥ १ ॥ रमणीये समाज्ञाते सोदके समहीरुहे । देशे सर्वगुणोपेते चक्रुरावसथान्नराः ॥ २ ॥ तथैव तत्समीपस्थान् पृथगावसथान् वहून् । कर्णस्य शकुनेश्चैव भ्रातॄणाञ्चैव सर्वशः ॥ ३ ॥ ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः अङ्कैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिवः ॥ ४ ॥ अङ्कयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतांस्त्वपि । बालवत्साश्च या गावः कालयामास

प्रचण्ड वायुकी गडगडाहटका शब्द होता है तैसे ही सेनामें महाकोलाहल होनेलगा, राजा दुर्योधनने दो कोस जाकर पड़ाव डाल दिया, फिर तहांसे वाहनो सहित कूँच करके द्वैतवनमें और तहां के सरोवर पर पहुंचगया ॥ २८-२९ ॥ दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३९ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय ! राजा दुर्योधन मार्गमेंके अनेकों वनोंमें विश्राम करता हुआ गोव्रजोंके आस पास पहुंचगया और तहां उसने अपना पड़ाव डालदिया ॥ १ ॥ उसके साथ के पुरुषोंने भी जहाँ पर वहुतसे तालाव थे ऐसे सुन्दर वृक्षोंवाले रमणीय और सवगुण भरे प्रदेशोंमें विश्राम किया ॥ २ ॥ राजा दुर्योधनने जहाँ अपना पड़ाव डाला था ॥ ३ ॥ उसके समीप ही कर्ण, दुर्योधनके भाई और शकुनिके पड़ाव थे सवके ठहरजानेके पीछे राजा दुर्योधनने असंख्यों गौओं को देखना आरंभ किया और उन गौओंकीं संख्या तथा चिन्होंसे सवकी गिनती करली ॥ ४ ॥ इसप्रकार गौओंके देखनेके अनंतर, उन्होंने योग्य वछड़ों

ता अपि ॥ ५ ॥ अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान्। वृतो गोपालकैः प्रीतो व्याहरत् कुरुनन्दनः ॥ ६ ॥ स च पौरजनः सर्वः सैनिकाश्च सहस्रशः। यथोपजोपश्चिक्रीडुर्वने तस्मिन् यथामराः ॥ ७ ॥ ततो गोपाः प्रगातारः कुशला नृत्यवादने। धार्त्तराष्ट्रमुपातिष्ठन् कन्याश्चैव स्वलङ्कृताः ॥ ८ ॥ स स्त्रीगणवृतो राजा प्रहृष्टः प्रददौ वसु। तेभ्यो यथार्हमन्नानि पानानि विविधानि च ॥ ९ ॥ ततस्ते सहिताः सर्वे तरक्षून् महिषान् मृगान्। गवयर्क्षवराहांश्च समन्तात् पर्यकालयन्॥ १० ॥ स ताञ्छरैर्विनिर्भिद्य गजांश्च सुबहून् वने। रमणीयेषु देशेषु ग्राहयामास वै मृगान्।। ११।

को देखना आरंभ किया और उनमेंसे अपने पास आये हुए बहुत से बछडोंका देखते ही कहदिया कि-ये नाथने योग्यहैं,इसके सिवाय छोटे २ बच्चोंवालीं जो गौएं थीं उन सबकी भी गिनती करली ॥५॥इसप्रकार गौओंको देखकर तीन २ वर्षके बछडोंको गिना फिर कुरुपत्र राजा दुर्योधन ग्वालियोंको साथमें लेकर आनन्द पूर्वक वनमें इधर उधर विचरने लगा ॥ ६ ॥ उसके साथ आये हुए नगरके पुरुष और सेनाके सहस्रों पुरुष भी देवताओंकी समान उस वनमें यथेच्छ विहार करने लगे ॥ ७ ॥ उस समय गाने नाचने और वाजे वजानेमें कुशल ग्वालिये तथा उनकी सजीहुई कन्याएं भी दुर्योधनके पास आकर नृत्य आदिसे उसकी सेवा करनेलगीं ॥ ८ ॥ स्त्रीमंडलसे घिरे हुए दुर्योधनने उन के ऊपर अति प्रसन्न होकर योग्यतानुसार उनको धन अन्न तथा पीनेके पदार्थ दिये ॥ ९ ॥ तदनन्तर सब इकट्ठे होकर वनके रमणीय स्थानोमें शिकार खेलनेको चलदिये तहां चीते भैंसे, मृग, गवय, रीछ, तथा सूअरोंको चारों ओरसे घेर कर उनको बाणोंसे मारने लगे उन्होंने बहुतसे हाथियोंको बींधनेके पीछे मृगोंके ऊपर धावा बोल कर उनका शिकार करना आरंभ

गोरसानुपयुञ्जान उपभोगांश्च भारत। पश्यन् स रमणीयानि वनान्युपवनानि च ॥ १२ ॥ मत्तभ्रमरजुष्टानि बर्हिणाभिरुतानि च अगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥ मत्तभ्रमरसंजुष्टं नीलकण्ठरवाकुलम् । सप्तच्छदसमाकीर्णं पुन्नागबकुलैर्युतम्। १४। ऋद्ध्या परमया युक्तो महेन्द्र इव वज्रभृत् । यदृच्छया च तत्रस्थो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥ ईजे राजर्षियज्ञेन साद्यस्केन विशाम्पते । दिव्येन विधिना चैव वन्येन कुरुसत्तम ॥१६ ॥ कृत्वा निवेशमभितः सरसस्तस्य कौरव। द्रौपद्या सहितो धीमान् धर्मपत्न्या नराधिपः ॥ १७ ॥ ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहस्रशः। आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियन्तामिति भारत ॥ १८ ॥ ते तथेत्येव

करदिया ॥ १०—११ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! इसप्रकार शिकार खेलनेके पीछे दुर्योधन तहांसे द्वैतवनके सरोवरकी ओर को चलदिया, हे भरतवंशी राजन् ! मार्गमें गोरसोंका स्वाद लेता और भांति २ के वैभवोंको भोगता तथा मदमत्त भ्रमरोंसे सेवित और मयूरोंके शब्दोंसे गुंजारतेहुए वन बगीचोंको देखताहुआ धीरे २ पवित्र द्वैतवनमें सरोवरके निकट आपहुंचा॥ १२-१३ ॥ यहाँ मदमत्त भौंरे गुंजार रहे थे, मयूरोंकी बोलीसे चारों ओर के स्थान गूंज रहे थे, वह सरोवर सप्तपर्णके अनेकों वृक्षोंसे भरा हुआ था और पुन्नाग तथा बकुलके वृक्षोंसे डटरहा था, हे कुरुवंशश्रेष्ठ राजन् जनमेजय ! वनमेंके उस सरोवरके पासही वज्रधारी इन्द्रकी समान परम ऐश्वर्यवाले बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर अपना पडाव डालेहुए थे और अपनी धर्मपत्नी द्रौपदीके साथ दिव्य और वनमें होसकने योग्य विधिसे एक दिनमें पूर्ण होनेवाले राजर्षि नामक यज्ञको कर रहे थे ॥ १४-१७ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! उस ही समय राजा दुर्योधन सरोवर पर आपहुंचा, उसने अपने सहस्रों सेवकोंको आज्ञा दी कि–तुम सरोवर पर शीघ्र जाओ और तहाँ शीघ्रतासे विहार करनेके मन्दिर बनाओ ॥ १८ ॥

कौरव्यमुक्त्वा वचनकारिणः। चिकीर्षन्तस्तदाक्रीडान् जग्मुर्द्वैतवनं सरः ॥ १९ ॥ प्रविशन्तं वनद्वारि गन्धर्वाः समवारयन्। सेनाग्रं धार्त्तराष्ट्रस्य प्राप्तं द्वैतवनं सरः ॥ २० ॥ तत्र गन्धर्वराजो वै पूर्वः एव विशाम्पते। कुवेरभवनाद्राजन्नाजगाम गणावृतः ॥ २१ ॥ गणैरप्सरसाश्चैव त्रिदशानां तथात्मजैः। विहारशीलः क्री ॥ तेन तत् संवृतं सरः ॥२२॥ तेन तत् संवृतं दृष्ट्वा ते राजहित रकाः। प्रतिजग्मुस्ततो राजन् यत्र दुर्योधनो नृपः ॥ २३ ॥ नेकाः तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान् युद्धदुर्मदान्। प्रेषयामास नादृत्य उत्सारयत तानिति ॥२४॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञः सौराष्ट्राः थिनः। सरो द्वैतवनं गत्वा गन्धर्वानिदमब्रुवन्।२५। राजा नयन्।

उसकी आज्ञाको सुनकर उसके कहनेमें चलनेवाले उसराजन्! वहुत अच्छा, कहकर क्रीडामन्दिर वनानेके लिये द्वैतवन गंधर्वोंने वर पर चलेगए ॥ १९ ॥ परन्तु वे द्वैतवनमें घुसते थे कि धान२ ही उस वनके द्वार पर खड़े हुए गंधर्वोंने धृतराष्ट्रकी सेनाके मान पुरुषको भीतर जानेसे रोका ॥ २० ॥ हे राजन्! कौरवोंके आ से पहिले ही गंधर्वोंका राजा जलक्रीड़ा करनेकी इच्छा से अप्सरा तथा देवताओंकी मण्डली और जयन्त आदि पुत्रोंको साथमें ले कुवेरभवनसे चल कर इस सरोवर पर आगया था और उसके सेवक वनके चारों ओर सव स्थलों पर पहिरा देनेलगे थे॥२१॥ ॥ २२ ॥ हे राजन्! दुर्योधनके सेवक गंधर्वोंके सेवकोंसे वनको घिराहुआ देखकर जहाँ राजा दुर्योधन वैठा था तहाँ गए ॥२३॥ और उन्होंने सव वात कही, राजा दुर्योधनने सेनाके मनुष्योंसे यह समाचार सुनकर युद्धमदोन्मत्त योधाओंसे कहा कि—अरे जाओ और इन गंधर्वोंको निकाल कर वाहर करदो ॥ २४ ॥ दुर्योधनकी ऐसी आज्ञा पाकर राजसेनाके प्रधान २ पुरुष द्वैतवन की ओर गए और गन्धर्वोंसे इसप्रकार कहनेलगे कि—॥ २५ ॥ राजा धृतराष्ट्रके महावली कुमार राजा दुर्योधन इस सरोवर पर

नाम धृतराष्ट्रसुतो बली । विजिहीर्षु रिहायाति तदर्थमुपसर्पत ॥२६॥ एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः प्रहसंतो विशाम्पते । प्रत्यब्रुवंस्तान् पुरुषानिदं हि परुषं वचः ॥ २७ ॥ न चेतयति वो राजा मंदबुद्धिः सुयोधनः । समानाज्ञापयत्येवं वैश्यानिव दिवौकसः ॥ २८ ॥ यूयं मुमूर्षव मन्दप्रज्ञा न संशयः । ये तस्य वचनादेवमस्मान् ब्रूत विचे ॥ २९ ॥ गच्छध्वं त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः । न गच्छध्वं धर्मराजनिवेशनम् ॥ ३० ॥ एवमुक्तास्तु गंधर्वैं नाग्रयायिनः । सम्प्राद्रवन्यतो राजा धृतराष्ट्रसुतोऽभवत्॥३१

श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वदुर्योधन-संवादे चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४० ॥

पायन उवाच । ततस्ते सहिताः सर्वे दुर्य्योधनमुपागमन् ।

करनेको आते हैं, अतः तुम यहाँसे अपना सामान लेकर जाओ ॥ २६ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार गन्धर्वोंसे कहा तब खिलखिलाकर हँसे और धृतराष्ट्रके मनुष्योंको अतितीक्ष्ण शब्दोंमें उत्तर दिया कि–अरे मालूम होता है तुम्हारा निर्दयी राजा दुर्योधन बुद्धिहीन है, और होश में नहीं है,नहीं तो देवताओंको साधारण रीतिसे वशमें रहनेवाली वैश्य प्रजाकी समान आज्ञा नहीं देता ॥२७-२८॥ और तुम मरनेको उद्यत हुए दीखते हो इसमें कुछ भी संदेह नहीं है, क्योंकि-ऐसा नहीं होता तो मंद-बुद्धिवाले तुम उसके कहने से हमारे सामने इसप्रकार नहीं बकते ॥२९॥भले मानुषो! तुम सब जहां राजा दुर्योधन है तहां जल्दीसे चले जाओ, नहीं तो तुम सब देखते २ यमपुरीमें पहुंचजाओगे ॥ ३० ॥ इसप्रकार गंधर्वोंने कहा, तब राजाकी सेनाके मुख्य पुरुष, जहाँ राजा दुर्योधन था तहां शीघ्रतासे दौड गए ॥ ३१ ॥ दोसौ चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४० ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे महाराज जनमेजय ! वे सब योधा इकट्ठे होकर दुर्योधनके पास आये और गंधर्वोंने जो बातें कही

अब्रुवंश्च महाराज यदचुः कौरवं प्रति ॥ १ ॥ गन्धर्वैर्वारिते सैन्ये धार्त्तराष्ट्रः प्रतापवान्। अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत ॥ २ ॥ शास्तैनानधर्मज्ञान्मम विप्रियकारिणः। यदि प्रक्रीडते सर्वैर्देवैः सह शतक्रतुः ॥ ३ ॥ दुर्योधनवचः श्रुत्वा धार्त्तराष्ट्राः महाबलाः। सर्व एवाभिसन्नद्धा योधाश्चापि सहस्रशः ॥ ४ ॥ ततः प्रमथ्य सर्वांस्तांस्तद्वनं विविशुर्बलात्। सिंहनादेन महता पूरयन्तो दिशो दश ॥ ५ ॥ ततोऽपरैरवार्यन्त गन्धर्वैः कुरुसैनिकाः ते वार्य्यमाणा गन्धर्वैः साम्नैव वसुधाधिप ॥ ६ ॥ताननादृत्य गन्धर्वांस्तद्वनं विविशुर्महत्। यदा वाचा न तिष्ठंति धार्त्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ७ ॥ ततस्ते खेचराः सर्वे चित्रसेने न्यदेवयन्।

थीं वे बातें दुर्योधनको सुना दीं ॥ १ ॥ हे भरतवंशी राजन्! प्रतापी राजा दुर्योधन यह सुनकर कि मेरे सैनिकोंको गंधर्वोंने वनमें नहीं घुसने दिया, क्रोधमें भरगया और उसने अपने प्रधान२ योधाओंसे कहा कि–'तुम द्वैतवनमें जाओ और मेरा अपमान करनेवाले उन अधर्मी पुरुषोंको उचित दण्ड दो तहां चाहे इन्द्र ही देवताओंके साथ क्रीड़ा करता हो तो भी क्या है? ॥३॥ दुर्योधनकी इस बातको सुनकर धृतराष्ट्रके सब बलवान् पुत्र तथा सहस्रों योधा शरीर पर कवच धारण करके लड़नेके लिये उद्यत होगए ॥४॥ और तहां जाकर सब गंधर्वोंको मारकर बलात्कार से वनमें घुसगए और उन्होंने गर्जना करके दशों दिशाएँ गुंजार दीं ॥ ५॥ परन्तु वे थोडी ही दूर आगे बढ़े कि–इतनेमें ही दूसरे गंधर्वोंने उस कौरवसेनाके मनुष्योंका समझा कर भीतर जाने से रोका तो भी उन्होंने गंधर्वोंका कहना नहीं माना किन्तु उनका अनादर करके द्वैतनामक महावनमें चलेगये, इसप्रकार गंधर्वोंके समझाने पर भी जब कौरवोंकी सेनाके मनुष्य खड़े नहीं रहे तब सब गंधर्वोंने गंधर्वराज चित्रसेनके पास जाकर ये सब बातें निवे-

गन्धर्वराजस्तान् सर्वानब्रवीत् कौरवान् प्रति ॥ ८ ॥ अनार्य्यान् शासतेत्येतांश्चित्रसेनोऽत्यमर्षणः । अनुज्ञाताश्च गन्धर्वाश्चित्रसेनेन भारत ॥ ९ ॥ प्रगृहीतायुधाः सर्वे धार्त्तराष्ट्रानभिद्रवन् । तान् दृष्ट्वा पततः शीघ्रान् गन्धर्वानुद्यतायुधान् ॥ १० ॥ प्राद्रवंस्ते दिशः सर्वे धार्त्तराष्ट्रस्य पश्यतः । तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्त्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान् ॥ ११ ॥ राधेयस्तु तदा वीरो नासीत्तत्र पराङ्मुखः आपतन्तीन्तु संप्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ॥ १२ ॥ महता शरवर्षेण राधेयः प्रत्यवारयत् । क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदन्तैस्तथायसैः ॥ १३ ॥ गन्धर्वान्शतशोऽभिघ्नँल्लघुत्वात् सूतनन्दनः । पातयन्नुत्तमाङ्गानि गन्धर्वाणां महारथः ॥ १४ ॥ क्षणेन व्यधमत् सर्वां चित्रसेनस्य वाहिनीम् । ते वध्यमाना गन्धर्वाः सूतपुत्रेण धीमता १५

दन की तब तुरंत ही चित्रसेनने अपने मनुष्योंको आज्ञा दी कि-हे अनुचरों ! तुम अनार्य कौरवोंको दण्ड दो हे भरतवंशी राजन! इसप्रकार चित्रसेनके आज्ञा देते हीं सब गन्धर्व अस्त्र ले लेकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंके ऊपर टूटपड़े, अपने ऊपर आयुध उठा २ कर गंधर्वोंको शीघ्रतासे चढ़कर आतेहुए देखकर दुर्योधनके देखते हुए उसके सब योधा चारों दिशाओंमेंको भागनेलगे, इसप्रकार दुर्योधनके सब योधाओंको रणमेंसे पराङ्मुख होकर भागतेहुए देखकर भी उस समय वीर कर्णने रणमें पीठ नहीं दिखाई, किंतु उसने सामनेसे चढ़कर आतीहुई गंधर्वों की महासेनाको वाणोंकी झड़ी लगाकर आगे बढ़नेसे रोक दिया और फिर सूतपुत्र महारथी कर्णने अपने हाथकी फुरतीसे छुरीकी समान तीक्ष्ण धारवाले वाण, भाले और बछड़ेके दांतोंके आकारके लोहेके शस्त्र मार कर सैकड़ों गन्धर्वोंका संहार करडाला तथा सैकड़ों गंधर्वोंके मस्तकों को पृथ्वी पर लुढ़का दिया ॥ ९-१४ ॥ और क्षणमात्रमें गन्धर्वों की सब सेनाका नाश करडाला, बुद्धिमान् कर्ण जैसे २ गंधर्वोंका

भूय एवाभ्यवर्त्तन्त शतशोऽथ सहस्रशः। गन्धर्वभूता पृथिवी क्षणेन समपद्यत ॥ १६ ॥ आपतद्भिर्महावेगैश्चित्रसेनस्य सैनकैः। अथ दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौवलः ॥ १७ ॥ दुःशासनो विकर्णश्च ये चान्ये धृतराष्ट्रजाः। न्यहनंस्तत्तदा सैन्यं रथैर्गरुडनिःस्वनैः ॥ १८ ॥ भूयश्च योधयामासुः कृत्वा कर्णमथाग्रतः। महता रथसंघेन हयचारेण चाप्युत ॥ १९ ॥ वैकर्त्तनं परीप्सन्तो गन्धर्वान् समवाकिरन्। ततः संन्यपतन् सर्वे गन्धर्वाः कौरवैः सह ॥२०॥ तदा सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम्। ततस्ते मृदवोऽभवन् गन्धर्वाः शरपीडिताः ॥२१॥ उच्चुक्रुशुश्च कौरव्या गन्धर्वान् प्रेक्ष्य पीडितान्। गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा चित्रसेनो ह्यमर्षणः ॥२२॥ उत्पपातासनात् क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः। ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे

नाश करता गया तैसे २ सैंकडों और सहस्रों गंधर्व और आनेलगे, इसप्रकार चित्रसेनके बहुतसे लड़ाकोंके आजानेसे एक क्षणमें पृथ्वी गंधर्वमयी होगई ॥ १५-१६ ॥ तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुवलपुत्र शकुनि, दुःशासन, विकर्ण और धृतराष्ट्रके अन्य पुत्र, गरुड़की समान शब्द करतेहुए,वेगवाले रथोंमें वैठकर वे सव गन्धर्वों के साथ युद्ध करनेको डटगए ॥१७॥और उस समय गंधर्वोंकी सेना का नाश करनेलगे, कौरव कर्णको आगे कर वहुतसे रथोंमें वैठ कर गन्धर्वोंकी संपूर्ण सेनाके साथ लडनेलगे और सूर्यपुत्र कर्ण की रक्षा करतेहुए गन्धर्वोंके ऊपर वाणोंकी वर्षा करनेलगे, इसप्रकार जव गन्धर्वोंके ऊपर वहुतसे वाण आनेलगे, तव सव गंधर्व इकट्ठे होकर कौरवोंके साथ लड़नेको रणभूमिमें आगए ॥ १८-२० ॥ उस समय कौरवोंमें और गन्धर्वोंमें रोमाञ्चजनक महाघोर युद्ध हुआ, तव वे सव गन्धर्व वाणोंकी पीड़ा पाकर नरम होगए ॥ २१ ॥ गंधर्वोंको कष्टमें पड़ेहुए देखकर रणभूमिमें कौरव हर्षनाद करनेलगे, इसप्रकार गंधर्वोंको भयभीत हुआ देखकर चित्रसेनका क्रोध चढ़आया ॥ २२ ॥ उसने कौरवोंका नाश करने

चित्रमार्गवित् । तयामुह्यन्त कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया ॥ २३ ॥ एकैकस्य तदा योधा धार्त्तराष्ट्रस्य भारत । पर्य्यवर्त्तत गंधर्वैर्दशभिर्दशभिः सह ॥ २४ ॥ ततः संपीड्यमानास्ते बलेन महता तदा । प्राद्रवन्त रणे भीता ये च राजन् जिजीषवः ॥ २५ ॥ भज्यमानेष्वनीकेषु धार्त्तराष्ट्रेषु सर्वशः । कर्णो वैकर्त्तनो राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २६ ॥ दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः । गन्धर्वान् योधयामासुः समरे भृशविक्षताः ॥ २७ ॥ सर्व एव तु गधर्वाः शतशोऽथ सहस्रशः । जिघांसमानाः सहिताः कर्णमभ्यद्रवन् रणे ॥ २८ ॥ असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिश्च महाबलाः । सूतपुत्रं जिघांसन्तः समन्ताद् पर्य्यवाकिरन् ॥ २९ ॥अन्येऽस्य युगम-

---

के लिये आसनके ऊपरसे छलांग मार कर मायास्त्रको हाथमें लिया और कौरवसेनाके साथ युद्ध करना आरंभ करदिया, चित्र सेन भांति २ के युद्ध करना जानता था, इसकारण उसकी माया से कौरवोंके योधा मोहित होगए ॥ २१-२४ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! उस समय कौरवोंके एक २ योधाको दश २ योधाओंने घेरलिया, इसप्रकार गंधर्वोंकी महासेना जब कौरवोंकी सेनाको दुःख देनेलगी तब हे राजन् ! कौरवोंके योधा प्राण बचानेकी इच्छासे भागनेलगे ॥ २५ ॥ क्षणमात्रमें कौरवोंकी सेनामें चारों ओर भागड़ पड़गई तो भी सूर्यपुत्र कर्ण अचल पर्वतकी समान स्थिर खड़ारहा, वह जरा भी नहीं खिसका ॥ २६ ॥ युद्धमें बाणोंसे बहुत ही घायल हुए दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासन गंधर्वोंसे लड़नेलगे ॥ २७ ॥ उस समय सैंकड़ों और सहस्रों गन्धर्व इकट्ठे होकर रणभूमिमें कौरवोंका नाश करनेकी इच्छासे कर्णके ऊपर टूटपड़े ॥ २८ ॥ और महाबली गंधर्व कर्ण का नाश करनेकी इच्छासे चारों ओरसे घेर कर तलवार, पट्टिश शूल तथा गदाओंसे उसको मारनेलगे ॥ २९ ॥ उस समय कुछ

च्छिन्दन् ध्वजमन्ये न्यपातयन् । ईषामन्ये हयानन्ये सूतमन्ये न्यपातयन् ॥ ३० ॥ अन्येच्छत्रं वरूथञ्च वन्धुरञ्च तथापरे । गंधर्वा बहुसाहस्राऽस्तिलशो व्यधमन् रथम् ॥ ३१ ॥ ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसिचर्मभृत् । विकर्णरथमास्थाय मोक्षायाश्वानचोदयत् ॥३२॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णपराभवे एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४१ ॥

वैशम्पायन उवाच । गन्धर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे । सम्प्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्त्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १ ॥ तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्त्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान् । दुर्योधनो महाराजो नासीत्तत्र पराङ्मुखः ॥ २ ॥ तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य गंधर्वाणां महाचमूम् ।

ने कर्णके रथके जुएके टुकड़े २ करडाले, कितनोंने रथके ऊपर की ध्वजा उखाड़ डाली, कितनोंने रथकी टेकोंको तोड़डाला, बहुतों ने घोड़ोंको मारडाला और कितनोंहीने रथके ऊपर वैठेहुए सारथीको मारडाला ॥ ३० ॥ और कितनोंही ने रथके छत्रको तोड़डाला कितनोंही ने रथके परदेको फाड़डाला और कितनोंही ने रथके बांधनेके बंधनोंको तोड़डाला, हे राजन्! इस प्रकार अगणित गंधर्वोंने कर्णके रथके तिल २ की समान टुकड़े करके उसके रथका नाश करदिया ॥ ३१ ॥ तब कर्ण उस रथमेंसे नीचे उतरपड़ा और ढाल तथा तलवार धारण करके विकर्णके रथमें वैठगया और अपने प्राणोंको बचानेके लिये घोड़ोंको रणभूमिसे हाँकदिया ॥ ३१ ॥ दो सौ इकतालीसवां अध्याय समाप्त ।२४१।

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे राजन् जनमेजय ! इसप्रकार गंधर्वोंने जब महारथी कर्णके रथके टुकड़े करके उसे रणभूमिमेंसे भगा दिया तब दुर्योधनके देखते हुए ही उसकी सब सेना भी भागने लगी॥१॥शत्रुओंका दबानेवाला राजा दुर्योधन अपने सब भाइयों को रणमें पीठ दिखा भागतेहुए देखकर भी अचल खड़ारहा, भागा नहीं और उसने अपनी ओर आतीहुई गंधर्वोंकी सेनाको

महता शरवर्षेण सोऽभ्यवर्षदरिन्दमः ॥ ३ ॥ अचिन्त्यशरवर्षन्तु गंधर्वास्तस्य तं रथम् । दुर्योधनं जिघांसंतः समंतात् पर्य्यवारयन् ॥ ४ ॥ युगमीषां वरूथञ्च तथैव ध्वजसारथी । अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पञ्च तिलशो व्यधमच्छरैः ५ दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि । अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथाग्रहीत् ॥ ६ ॥ तस्मिन् गृहीते राजेन्द्र स्थितं दुःशासनं रथे । पर्य्यगृह्णन्त गंधर्वाः परिवार्य्य समंततः ॥७॥ विविंशतिचित्रसेनावादायान्ये विदुद्रवुः । विंदानुविंदावपरे राजदारांश्च सर्वशः ॥८॥ सैन्यं तद्धार्त्तराष्ट्रस्य गंधर्वैः समभिद्रुतम् । पूर्वं प्रभग्नाः सहिताः पाण्डवानभ्ययुस्तदा ॥९॥ शकटापणवेशाश्च

देख कर उसके ऊपर बाणोंकी बड़ीभारी वर्षा करना आरंभ करदी ॥ २—३ ॥ परन्तु उस समय गन्धर्वोंने उसके बाणों की वर्षाको कुछ भी नहीं गिना और वे उसको मारनेके लिये उस के रथके आस पास खड़े होगए ॥ ४ ॥ और पहिले झपाटे में उन्होंने बाण मारकर उसके रथके जुए, टेकों परदे, ध्वजा, सारथि, घोड़े, छत्रीकी दण्डी और बैठनेकी गद्दी इन सबके तिल तिलकी समान टुकड़े करडाले और उसके रथका विध्वंस करदिया ॥ ५ ॥ राजा दुर्योधन रथरहित होगया और भूमिपर खड़ा हुआ कि-तुरंत ही चित्रसेनने दौडकर उसे जीवित ही पकड़ कर कैद करलिया ॥ ६ ॥ दुर्योधनको बांधनेके पीछे हे राजेन्द्र ! अन्य सब गन्धर्वोंने रथमें बैठेहुए दुःशासनको चारों ओरसे घेर कर बांधलिया ॥७॥ कुछ गंधर्व विविंशति और चित्रसेनको पकड़ कर भागनेलगे, कुछ गन्धर्व विंद तथा अनुविंदको तथा अन्य सब रानियोंको कैदकर तहाँसे भागनेलगे ॥ ८ ॥ इसप्रकार जब गंधर्व दुर्योधनको उसकी रानियोंको तथा भाइयोंको कैद कर लेजाने लगे तब गन्धर्वोंके भयसे भागीहुई कौरवसेना पहिले भागेहुए योधाओंके साथ इकट्ठी होकर पाण्डवोंकी शरणमें गई ॥९॥ तैसे

यानयुग्यश्च सर्वशः। शरणं पाण्डवान् जग्मुर्ह्रियमाणे महीपतौ १० सैनिका ऊचुः। प्रियदर्शी महाबाहुर्धार्त्तराष्ट्रो महाबलः। गंधर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत॥ ११ ॥ दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा। बध्वा ह्रियंते गंधर्वैराजदाराश्च सर्वशः॥१२॥ इति दुर्योधनामात्याः क्रोशन्तो राजगृद्धिनः। आर्त्ता दीनास्ततः सर्वे युधिष्ठिरमुपागमन्॥१३॥ तांस्तथा व्यथितान् दीनान् भिक्षमाणान् युधिष्ठिरम्। वृद्धान् दुर्योधनामात्यान् भीमसेनोऽभ्यभाषत १४ महता हि प्रयत्नेन संनह्य गजवाजिभिः। अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गंधर्वैस्तदनुष्ठितम्॥ १५ ॥ अन्यथा वर्त्तमानानामर्थो जातोयमन्यथा। दुर्मन्त्रितमिदं तावद्राज्ञो दुर्द्यूतदेविनः॥ १६ ॥ द्वेष्टारम-

ही बोझ ढोनेके छकडे, दुकानें, तम्बू, नानाप्रकारके पीनेके पदार्थ तथा वाहन आदि सब पाण्डवोंकी शरणमें गए॥ १० ॥ उस समय दुर्योधनके मंत्री दुर्योधनको गन्धर्वोंसे छुडानेकी इच्छासे आतुर और दीन बनकर युधिष्ठिरके पास दुहाई देतेहुए गए और इसप्रकार कहने लगे, सैनिक बोले कि—ऐ महाभुज धर्मराज! तथा हे पाण्डवों! गन्धर्व हमारे प्रियदर्शी तथा महाबली राजा दुर्योधनको कैद करके लियेजाते हैं, अतः आप उनके पीछे दौडो! देखो गन्धर्व इस दुःशासनको, दुर्विसहको, दुर्मुखको, दुर्विजयको और सब रानियोंको भी कैद करके लिये जाते हैं, तुम उनकी ओरसे दौडो॥ १०–१३ ॥ इसप्रकार दुःखी दीनतायुक्त और युधिष्ठिरकी प्रार्थना करतेहुए दुर्योधनके वृद्ध मंत्रियोंसे भीमसेनने कहा कि—॥ १४ ॥ अहो! आज तो बडे आनन्दकी बात है! हमें हाथी घोडे आदि चतुरंगिणी सेना लेकर महाप्रयत्नसे जो काम करना चाहिये था वह काम इस समय गंधर्वोंने कर दिखाया, आनन्द है, आनन्द है॥ १५ ॥ कौरव तो कुछ और ही विचारसे आये थे, परन्तु उनको फल और ही मिला, कपटसे जुआ खेलनेवाले राजा दुर्योधनके खोटे विचारका ही तो यह फल है, !!!॥ १६॥

न्ये क्लीबस्य पातयन्तीति नः श्रुतम् । इदं कृतन्नः प्रत्यक्षं गंधर्वैरतिमानुषम् ॥१७॥ दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः । येनास्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः ॥ १८ ॥ शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान् । समस्थो विषमस्थान् हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ॥ १९ ॥ अधर्मचारिणस्तस्य कौरव्यस्य दुरात्मनः ॥ ये शीलमनुवर्तन्ति ते पश्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥ अधर्मो हि कृतस्तेन येनैतदुपशिक्षितम् । आनृशंसस्तु कौन्तेयास्तत् प्रत्यक्षं ब्रवीमि वः ॥ २१ ॥ एवं ब्रुवाणं कौंतेयं भीमसेनमपस्वरम् । न कालः

हमने सुना है कि-असमर्थ पुरुषोंके शत्रुओंका दूसरे पुरुष नाश करते हैं, तिसीप्रकार गंधर्वोंने हमारे देखते हुए ही हमारे शत्रुओं का तिरस्कार किया है और अलौकिक काम करके दिखाया है, यह भी बडा आनन्द है ॥ १७ ॥ जो कुछ हुआ है सो बहुत ही अच्छा हुआ है, हमारे भाग्यसे ही इस संसारमें कोई ऐसा पुरुष है, कि-जो हमारा हित करनेमें लगा रहता है, जिसने हमको परिश्रम न देकर, हमैं बैठा ही रख कर, जिसको हम सुखसे उठा सकैं ऐसा बोझा अपने आप उठालिया है ॥ १८ ॥ हम इस वन में ठण्ड, हवा, धूप आदिको सहन करते हैं, तपसे दुबले होगए हैं और दुःखकी अवस्थाको भोगते हैं, ऐसे समय सुखमें मग्न दुर्बुद्धि दुर्योधन हमको दुःखमयी दशामें देखना चाहता है ॥ १९ ॥ परंतु जो उस अधर्माचरण करनेवाले दुष्टात्मा कुरुपुत्रके स्वभावके अनुसार वर्ताव करते हैं, उन्होंने इस समय उसका तिरस्कार होता हुआ अपनी दृष्टिसे देखा है ॥ २० ॥ जिस मनुष्यन ऐसी विपत्तिके समयमें दुर्योधनको हमसे धूर्तता करनेका उपदेश दिया है और जिसने गंधर्वोंके साथ लडनेकी सलाह दी है, वह मनुष्य वास्तव में अधर्मका ही मित्र है मैं तुम्हारे सामने ही कहता हूं कि-कौरव बड़े क्रूर है और कुन्तीपुत्र पाण्डव बड़े दयालु हैं ॥ २१ ॥ इस प्रकार चिल्लाते २ भीम-

पलवस्यायमिति राजाभ्यभाषत ॥ २२ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनादिहरणे द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच ॥ अस्मानभिगतांस्तात भयार्त्ताञ्छरणैषिणः । कौरवान् विषमप्राप्तान् कथं ब्रूयास्त्वमीदृशम् ॥ १ ॥ भवंति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर । प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति ॥ २ ॥ यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां वाह्यः प्रार्थयते कुलम् । न मर्षयन्ति तत् सन्तो वाह्येनाभिप्रधर्षणम् ॥ ३ ॥ जानात्येष हि दुर्बुद्धिरस्मानिह चिरोषितान् । स एवं परिभूयास्मानकार्षीदिदमप्रियम् ॥ ४ ॥ दुर्योधनस्य ग्रहणाद्द गंधर्वेण बलात् प्रभो । स्त्रीणां

सेनका गला पड़गया तब धर्मराजने उससे कहा कि-अरे ओ भीम ! यह समय तीक्ष्ण वचन कहनेका नहीं है,किन्तु इस समय तो हमें उलटी उनकी सहायता करनी चाहिये ॥ २२ ॥ दोसौ बयालीसवां अध्याय समाप्त॥ २४२ ॥

युधिष्ठिर बोले कि–हे वत्स भीम ! अब कौरव भयभीत होकर हमारी शरणमें आये हैं, रक्षाकी भिक्षा मांगते हैं और महाकष्टमें पड़े हैं, उनको तू इसप्रकार तानें क्यों देता है ?॥ १ ॥ हे भीम ! सगे संबन्धियोंमें अनेकों प्रकारके कलह होजाते हैं और एक दूसरेसे अलग भी होजाते हैं, संबंधियोंमें वैरभाव तो लगा ही रहता है, परन्तु तिस वैरके कारण क्या कुलके धर्म (कर्त्तव्य) का नाश होजाता है ॥ २ ॥ जब बाहरका कोई भी पुरुष अपने कुलका अपमान करनेको उद्यत होता है तो सत्पुरुष दूसरोंके किये हुए कुलके अपमानको सहा नहीं करते हैं ॥३॥ दुष्टबुद्धि गंधर्व-राज जानता है कि–हमें यहां रहते हुए बहुत दिन होगए हैं तो भी उसने हमारा पराजय और अपमान करके हमारा ही अनिष्ट किया है ॥ ४ ॥ हे समर्थ भीम ! गन्धर्व दुर्योधनको कैद कर बलपूर्वक

बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवति नः कुलम् ॥ ५ ॥ शरणञ्च प्रपन्नानां त्राणार्थञ्च कुलस्य च । उत्तिष्ठध्वं नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम् ॥ ६ ॥ अर्जुनश्च यमौ चैव त्वश्च वीरापराजितः । मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम् ॥ ७ ॥ एते रथा नरव्याघ्राः सर्वशस्त्रसमन्विताः । धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां विमलाः काञ्चनध्वजाः ॥ ८ ॥ सस्वनानधिरोहध्वं नित्यसज्जानिमान् रथान् । इन्द्रसेनादिभिः सूतैः कृतशस्त्रैरधिष्ठितान् ॥ ९ ॥ एतानास्थाय वै ताता गन्धर्वान् योद्धमाहवे । सुयोधनस्य मोक्षाय प्रयतध्वमतन्द्रिताः ॥ १० ॥ य एव कश्चिद्राजन्यः शरणार्थमिहागतम् । परं शक्त्याभिरक्षेत किं पुनस्त्वं वृकोदर ॥ ११ ॥ क इहार्थ्यो भवेत् त्राणमभिधावेति

लेगए और दूसरे पुरुष स्त्रियोंको भी कैद करके लेगए, इससे क्या हमारे कुलमें धब्बा नहीं लगा है? ॥ ५ ॥ अतः शरणमें आयेहुए पुरुषकी और कुलकी रक्षा करनेके लिये खड़े होजाओ! शस्त्र ग्रहण करके तयार होजाओ!!विलम्ब मत करो!!! । ६ ॥ हे नरव्याघ्रों! अर्जुन, नकुल, सहदेव और अजेय तू सब जाओ और गंधर्व दुर्योधनको कैद करके लिये जाते हैं, उसे छुड़ाओ ॥ ७ ॥ हे नरव्याघ्रों! धृतराष्ट्रके पुत्रोंके यह स्वच्छ सुवर्णकी पत्तरोंसे जड़े हुए रथ सब प्रकारके शस्त्रोंसे भरे हुए हैं, ये रथ नित्य तयार रहते हैं, सुनहरी ध्वजाओंसे सुशोभित और दमकरहे हैं, चलतेमें झनझन शब्द करते हैं और इन्द्रसेन आदि शस्त्रविद्यामें कुशल सारथी इनके हाँकनेवाले हैं ॥ ८-९ ॥ अतः तुम युद्धमें गंधर्वोंसे लड़नेके लिये सावधान होकर इन रथोंमें बैठो तथा गन्धर्वोंसे दुर्योधनको छुड़ानेका प्रयत्न करो ॥ १० ॥ प्रत्येक राजा शरणमें आयेहुए मनुष्यकी यथाशक्ति रक्षा करता है तब तू तो बली भीमसेन है अतः तेरा तो कहना ही क्या है? ॥ ११॥ शत्रु भी दोनों हाथ जोड़कर शरणमें आकर कहे कि-"मेरी ओरसे धावा करो,,

चोदितः। प्राञ्जलिं शरणापन्नं दृष्ट्वा शत्रुमपि ध्रुवम् ॥ १२ ॥ वरप्रदानं राज्यञ्च पुत्रजन्म च पाण्डवाः। शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ १३ ॥ किं चाप्यधिकमेतस्माद्यदापन्नो सुयोधनः। त्वद्बाहुबलमाश्रित्य जीवितं परिमार्गते ॥ १४ ॥ स्वयमेव प्रधावेयं यदि न स्याद्वृकोदर। विततं मे क्रतुर्वीर न हि मेऽत्र विचारणा ॥ १५ ॥ साम्नैव तु यथा भीम मोक्षयेथाः सुयोधनम् तथा सर्वैरुपायैस्त्वं यतेथाः कुरुनन्दन ॥ ॥ १६ ॥ न साम्ना प्रतिपद्येत यदि गन्धर्वराडसौ। पराक्रमेण मृदुना मोक्षयेथाः सुयोधनम् ॥ १७ ॥ अथासौ मृदुयुद्धेन न मुञ्चेद्भीम कौरवान्। सर्वोपायैर्विमोच्यास्ते निगृह्य परिपन्थिनः ॥ १८ ॥ एतावद्धि मया शक्यं सन्देष्टुं वै वृकोदर। वैताने कर्मणि तते वर्त्तमाने च भारत ॥ १९ ॥

तो उस समय शत्रुको देखकर क्या सत्पुरुष उसकी रक्षा न करेगा? ॥ १२ ॥ हे पाण्डवों! वरदान देना राज्य देना और पुत्रप्राप्ति होना यह तीनों एक ओर हैं और शत्रुओंको छुड़ाना यह एक ओर है उन तीनकी तुलनामें दूसरी एक गिनीजाती है ॥ १३ ॥ सुयोधन आज तेरी शरणमें आया है और तेरे भुजबलका आश्रय पाकर जीता रहना चाहता है इससे अधिक और क्या आनंद होगा १४ हे वीर वृकोदर! मैंने यदि यज्ञ प्रारंभ न किया होता तो मैं ही उसे बचानेके लिये दौड़ता मुझे ऐसे कार्यमें कुछ भी विचारना योग्य ही नहीं हैं ॥ १५ ॥ हे कुरुपुत्र भीम! सुन, सामके उपायसे सुयोधनको छुड़ाया जासके तिसप्रकार सकल उपायोंसे प्रयत्न करना ॥ १६ ॥ यदि वह गन्धर्वराज समझानेसे नहीं माने तो फिर कुछ पराक्रम दिखाकर सुयोधनको छुड़ाना॥१७॥और हे भीम!गन्धर्वराज कदाचित् मृदुयुद्धसे भी कौरवोंको न छोड़े तो तुम उस शत्रुको सब प्रकारसे दण्ड देकर भी कौरवोंको छुड़ाना ॥ १८ ॥ हे भीमसेन! अभी मैंने यज्ञ आरंभ करदिया है और इस समय वह हो भी रहा है इससे इतना उपदेश देनेको ही मैं समर्थ हूं ॥१९॥

वैशम्पायन उवाच । अजातशत्रोर्वचनं तच्छ्रुत्वा धनञ्जयः । प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम् ॥ २० ॥ अर्जुन उवाच यदि साम्ना न मोक्ष्यन्ति गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान् । अद्य गन्धर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ २१ ॥ अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा प्रतिज्ञां सत्यवादिनः । कौरवाणां तदा राजन् पुनः प्रत्यागतं मनः ॥ २२ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वदुर्योधनमोचनानुज्ञायां त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२४३॥

वैशम्पायन उवाच । युधिष्ठिरवचः श्रुत्वा भीमसेनपुरोगमाः । प्रहृष्टवदनाः सर्वे समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥ अभेद्यानि ततः सर्वे समनह्यन्त भारत । जाम्बूनदविचित्राणि कवचानि महारथाः॥२॥ आयुधानि च दिव्यानि विविधानि समादधुः । ते दंशिता रथैः

वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! अजातशत्रु धर्मराजके वचन सुनकर अर्जुनने प्रतिज्ञा की कि—मुझे बडे भाईकी आज्ञा को पालना चाहिये और कौरवोंको गन्धर्वोंसे छुड़ाना चाहिये २० इसप्रकार विचार कर अर्जुन बोला कि-हे राजन् ! यदि गंधर्वराज समझाने बुझानेसे कौरवोंको नहीं छोडेंगे तो आज पृथ्वी गंधर्वराज के रक्तका पान करेगी इसप्रकार सत्यवादी अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुन कौरवोंके मनमें शांति हुई और उनका मन फिर ठिकानेलगा २२ दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २४३ ॥ * ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! युधिष्ठिरके ऐसे वचनों को सुनकर भीमसेन आदि सब श्रेष्ठ पुरुषोंके मुखों पर हर्ष छागया और हे भारत ! उन महारथियोंने तुरन्त खडे होकर भांति २ के अभेद्य कवचोंको पहिरा नानाप्रकारके विविध आयुधोंको ग्रहण किया और बाण तथा ध्वजा लेकर सब लडनेके लिये तयार होगए ॥ १-२ ॥ उस समय पाण्डव प्रज्वलित हुए अग्निकी समान दीखते थे वे वेगवान् घोड़ोंसे जुतेहुए और श्रेष्ठ युद्धके

सर्वे ध्वजिनः सशरासनाः ॥ ३ ॥ पाण्डवाः प्रत्यदृश्यन्त ज्वलिता इव पावकाः । तान् रथान् साधुसम्पन्नान् संयुक्तान् जवनैर्हयैः ४ आस्थाय रथशार्दूलाः शीघ्रमेव ययुस्ततः । ततः कौरवसैन्यानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ५ ॥ प्रयातान् सहितान् दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रान्महारथान् । जितकाशिनश्च खचरास्त्वरिताश्च महारथाः ॥ ६ ॥ क्षणेनैव वने तस्मिन् समाजग्मुरभीतवत् । न्यवर्त्तन्त ततः सर्वे गन्धर्वा जितकाशिनः ॥ ७ ॥ दृष्ट्वा रथगतान् वीरान् पाण्डवांश्चतुरो रणे । तांस्तु विभ्राजितान् दृष्ट्वा लोकपालानिवोद्यतान् व्यूढानीका व्यतिष्ठन्त गन्धमादनवासिनः । राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ ९ ॥ क्रमेण मृदुना युद्धमुपक्रान्तश्च भारत । न तु गन्धर्वराजस्य सैनिका मन्दचेतसः ॥ १० ॥ शक्यन्ते मृदुना श्रेयः प्रतिपादयितुं तदा । तस्मात् युधि दुर्धर्षान् सव्यसाची परन्तपः ॥ ११ ॥ सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच खचरान् रणे

साधनोंवाले रथोंमें बैठगए और तुरन्त गन्धर्वोंसे लड़नेके लिये चलदिये ॥ ३ ॥ महारथी पाण्डुके पुत्रोंको इकट्ठे होकर लड़नेके लिये जाते देखकर कौरवोंकी सेनामें बड़ी ध्वनि होनेलगी विजय से मदमत्त हुए आकाशचारी गंधर्व और महारथी पाण्डव उस समय ही द्वैतवनमें निर्भयकी समान संग्राम करनेके लिये जानेलगे रथोंमें बैठकर लड़नेको आतेहुए लोकपालोंकी समान शोभायमान चारों पाण्डवोंको रणमें देख कर विजय पानेसे उन्मत्त हुए सब गन्धमादनवासी गंधर्व आगे न जाकर पीछेको लौटे और व्यूहरचना करके सामने खड़े होगए उस समय बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जिसप्रकार उपदेश दिया था तिसी प्रकार हे भरतवंशी राजन् ! पाण्डवोंने कोमलतासे युद्ध करना आरंभ किया ॥ ४ ॥ ॥ ८ ॥ परंतु अर्जुनने विचार किया कि- गन्धर्वराजके सैनिक बुद्धिहीन हैं, उनके साथ कोमलतासे लड़नेमें हमारी विजय नहीं होगी, इसकारण शत्रुतापी अर्जुनने युद्धमें दुर्मद गन्धर्वोंको सम-

विसर्ज्जयत राजानं भ्रातरं मे सुयोधनम् ॥ १२ ॥ त एव मुक्ता गन्धर्वाः पाण्डवेन यशस्विनः । उत्स्मयन्तस्तदा पार्थमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥ एकस्यैव वयं तात कुर्य्याम वचनं भुवि । यस्य शासनमाज्ञाय चरामो विगतज्वराः ॥ १४ ॥ तेनैकेन यथादिष्टं तथा वर्त्ताम भारत । न शास्ता विद्यतेऽस्माकमन्यस्तस्मात् सुरेश्वरात् ॥ १५ ॥ एव मुक्तः स गन्धर्वैः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः । गन्धर्वान् पुनरेवेदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ १६ ॥ न तद्गंधर्वराजस्य युक्तं कर्म जुगुप्सितम् । परदाराभिमर्शश्च मानुषैश्च समागमः ॥ १७ ॥ उत्सृज्यध्वं महावीर्यान्धृतराष्ट्रसुतानिमान् । दारांश्चै षां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥ यदि साम्ना न मुञ्चध्वं गंधर्वाः धृतराष्ट्रजान् । मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ॥ १९ ॥ एवमुक्त्वा ततः पार्थाः सव्यसाची धनञ्जयः

भ्रातेहुए इसप्रकार कहा कि हे गन्धर्वो ! तुमने रणमें मेरे भाई राजा दुर्योधनको बांधलिया है उसको छोड़ दो इसप्रकार महायशस्वी अर्जुनने गंधर्वों से कहा परन्तु वे खिलखिला कर हँस पड़े और इस प्रकार कहनेलगे कि–हे तात ! जिसकी आज्ञासे हम पृथ्वी पर शान्तिपूर्वक विचरा करते हैं उस ही एक पुरुषका कहना हम मानते हैं ॥ ९–१४ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! हमारे ऊपर एक सुरेश्वर है उनको छोड़कर और हमारा स्वामी नहीं है, वह एक ही हमसे जैसा कहते हैं, तैसा ही काम हम करते हैं ॥१५॥ इसप्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुनसे गन्धर्वोंने कहा तब उसने फिर गन्धर्वोंसे कहा कि–"पराईस्त्रियोंका अपमान करना और मनुष्योंके साथ युद्ध करना यह काम गंधवराजके योग्य नहीं है उनके लिये तो यह काम निन्दित ही माना जायगा ॥ १६—१७ ॥ अतः महापराक्रमी धृतराष्ट्रके पुत्रोंको तुम छोड दो और धर्मराजकी आज्ञासे उनकी रानियोंको भी छोडदो १८ हे गंधर्वो ! यदि तुम मेरे समझानेसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नहीं छोडोगे तो मैं पराक्रम करके दुर्योधनको बंधनमेंसे छुडाऊँगा ॥ १९ ॥ इसप्रकार कहनेके पीछे सव्यसाची

ससर्ज निशितान् वाणान् खेचरान् खचरान् प्रति ॥२०॥ तथैव शरवर्षेण गंधर्वास्ते बलोत्कटाः । पाण्डवानभ्यवर्त्तन्त पाण्डवाश्च दिवौकसः ॥ २१ ॥ ततः सतुमुलं युद्धं गंधर्वाणां तरस्विनाम् । बभूव भीमवेगानां पाण्डवानाञ्च भारत ॥ २२ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि पाण्डवगंधर्वयुद्धे चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ ततो दिव्यास्त्रसम्पन्ना गंधर्वा हेममालिनः विसृजन्तः शरान् दीप्तान् समंतात्पर्य्यवारन् ॥ १ ॥ चत्वारः पाण्डवा वीरा गंधर्वाश्च सहस्रशः । रणे संन्यपतन् राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २ ॥ यथा कर्णस्य च रथो धार्त्तराष्ट्रस्य चोभयोः गंधर्वैः शतशश्छिन्नौ तथा तेषां प्रचक्रिरे ॥ ३ ॥ तान् समापततो

पृथापुत्र अर्जुनने गंधर्वोंके ऊपर तेज कियेहुए वाण छोडना आरंभ करदिये ॥ २० ॥ और तैसे हीं महाबली गंधर्वोंने भी पाण्डवोंके ऊपर वाणोंकी वृष्टि आरम्भ करदी, गंधर्व पाण्डवोंसे भिडगए और पाण्डव गंधर्वों से भिड़गए तदनन्तर हे भरतवंशी राजन् ! अतिवेगवान् गंधर्वों और भयंकर वेगवाले पाण्डवोंमें महाघोर युद्ध प्रारंभ होगया ॥ २१ ॥ दोसौ चौवालीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४४ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय ! युद्ध होने पर दिव्य अस्त्रधारी और सुवर्णकी माला को पहरनेवाले गंधर्व चमचमाते हुए वाण पाण्डवोंके ऊपर छोडने लगे । उन्होंने सब ओरसे पाण्डवों को घेरलिया ॥१॥ हे राजन् ! उस समय शूरवीर पाण्डव चार ही थे और गंधर्व तो सहस्रों रणभूमिमें आगये थे, उनके साथ युद्ध करनेका काम दूसरोंके मनमें आश्चर्यसा प्रतीत होता था ॥ २ ॥ जैसे पहिले गन्धर्वोंने कर्ण और दुर्योधनके रथके टुकडे२ करडाले थे तिसी प्रकार उन्होंने पाण्डवोंके रथोंके भी सहस्रों टुकड़े करने का प्रयत्न किया ॥ ३ ॥ परन्तु नरव्याघ्र पाण्डव सहस्रों गन्धर्वों

राजन् गंधर्वञ्छतशो रणे । प्रत्यगृह्णन्नरव्याघ्राः शरवर्षैरनेकशः ॥ ४ ॥ ते कीर्यमाणाः खगमाः शरवर्षैः समन्ततः । न शेकुः पाण्डुपुत्राणां समीपे परिवर्तितुम् ॥ ५ ॥ अभिक्रुद्धानभिक्रुद्धो गन्धर्वानर्जुनस्तदा । लक्षयित्वाथ दिव्यानि महास्त्राण्युपचक्रमे ॥ ६ ॥ सहस्राणां सहस्राणि प्राहिणोद्यमसादनम् । आग्नेयेनार्जुनः संख्ये गन्धर्वाणां बलोत्कटः ॥ ७ ॥ तथा भीमो महेष्वासः संयुगे बलिनाम्वरः गन्धर्वान् शतशो राजन् जघान निशितैः शरैः ॥ ८ ॥ माद्रीपुत्रावपि तथा युध्यमानौ बलोत्कटौ । परिगृह्याग्रतो राजन् जघ्नतुः शतशः परान ॥ ९ ॥ ते वध्यमाना गन्धर्वा दिव्यैरस्त्रै महारथैः । उत्पेतुः खमुपादाय धृतराष्ट्रसुतांस्ततः ॥ १० ॥ स तानुत्पतितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः । महता शरजालेन समन्तात् पर्यवारयत् ॥ ११ ॥ ते वद्धाः शरजालेन शकुन्ता इव पञ्जरे ।

को रणमें आतेहुए देख कर अपार वाणोंकी वर्षा कर उन्हें दण्ड देनेलगे ॥ ४ ॥ और गंधर्वोंके ऊपर चारों ओरसे वाणोंकी वर्षा होने लगी इससे वे पाण्डवोंके सामने खड़े न रहसके बड़े क्रोधमें भरेहुए अर्जुनने गन्धर्वोंको ताक २ कर बड़े २ दिव्य अस्त्र मारना आरंभ करदिये ॥ ५ ॥ और महाप्रचण्ड वली अर्जुनने आग्नेय अस्त्र छोड़कर सहस्रों गन्धर्वोंको यमपुरीमें भेजदिया ॥ ६ ॥ हे राजन् ! दूसरी ओरसे महाधनुषधारी और महावली भीमसेनने वेध कियेहुए वाण मारकर सहस्रों गंधर्वोंका नाश करडाला ॥७॥ तीसरी ओरसे महावली युद्ध करतेहुए माद्रीपुत्रोंने भी हे राजन् ! युद्धमें आगे बढ़ सैंकड़ो शत्रुओंको घेर कर उनको मारडाला ॥८॥ ॥ ९ ॥ इसप्रकार महारथी पाण्डव जब गन्धर्वोंको दिव्य अस्त्रोंसे मारनेलगे तब गंधर्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंको पकड़ कर आकाशमेंको उड़े ॥१०॥ कुन्तीपुत्र अर्जुनने गन्धर्वोंको आकाशमें को उड़तेहुए देखकर आकाशमें वाणोंका बड़ाभारी जाल छा दिया और चारों ओरसे गन्धर्वोंको घेरलिया ॥ ११ ॥ तब पिंजरेमें जैसे पक्षी कैद

वव्रुरर्जुनं क्रोधाद्गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ॥ १२ ॥ गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिस्ता निहत्य परमास्त्रवित् । गात्राणि चाहनद्भल्लैर्गन्धर्वाणां धनञ्जयः ॥ १३ ॥ शिरोभिः प्रपतद्भिश्च चरणैर्बाहुभिस्तथा । अश्मवृष्टिरिवाभाति परेषामभवद्भयम् ॥ १४ ॥ ते वध्यमाना गंधर्वाः पांडवेन महात्मना । भूमिष्ठमन्तरिक्षस्थाः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ १५ ॥ तेषां तु शरवर्षाणि सव्यसाची परन्तपः । अस्त्रैः संवार्य तेजस्वी गंधर्वान् प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥ स्थूणाकर्णैन्द्रजालञ्च सौरञ्चापि तथार्जुनः । आग्नेयञ्चापि सौम्यञ्च ससर्ज कुरुनन्दनः ॥ १७ ॥ ते दह्यमाना गंधर्वाः कुंतीपुत्रस्य सायकैः । दैतेया इव शक्रेण विषादमगमन् परम् १८ ऊर्ध्वमाक्रममाणाश्च शरजलेन वारिताः ।

होजाते हैं तैसे ही गन्धर्व जालमें फँसगए, इसकारण वे क्रोधमें भरकर अर्जुनके ऊपर-गदा, शक्ति और ऋष्टिकी वर्षा करनेलगे ॥ १२ ॥ तब श्रेष्ठ अस्त्रविद्यामें निपुण अर्जुनने गंधर्वोंकी गदा, शक्ति और ऋष्टिकी वृष्टिका नाश करदिया और भालोंसे उनके शरीरोंको वींधडाला ॥ १३ ॥ उस समय आकाशमेंसे जैसे पत्थर गिरते हों तिसीप्रकार गंधर्वोंके शिर, माथे, हाथ पैर पृथ्वी पर गिरनेलगे, यह देख कर दूसरोंके मनमें घवराहट होनेलगी ॥१४॥ इसप्रकार महात्मा अर्जुनने पृथ्वी पर खड़े रहकर आकाशमें खड़े हुए गंधर्वोंके वाण मारे और आकाशमें स्थित गन्धर्व अर्जुनके ऊपर वाणोंकी वर्षा करनेलगे ॥ १५ ॥ सत्यभाषी परन्तप और तेजस्वी अर्जुन उनकी वाणवृष्टिको शस्त्रोंसे रोक फिर वाण मारकर गन्धर्वोंको वींधता था ॥ १६ ॥ तदनंतर कुरुपुत्र अर्जुन ने दूसरीवार स्थूणाकर्ण इंद्रजाल, सौर, आग्नेय और सौम्य नामक अस्त्र गंधर्वोंके ऊपर चलाये ॥ १७ ॥ इंद्रके छोड़ेहुए वाणों से जैसे दैत्य जलने लगते हैं, तैसे ही अर्जुनके छोड़ेहुए वाणोंसे गंधर्व जलनेलगे और उनको बड़ा खेद होनेलगा ॥ १८ ॥ वे आकाशमें जाते थे तहां वाणोंके जालसे आगे नहीं बढ़सकते थे

विसर्पमाणा भल्लैश्च वार्यते सव्यसाचिना ॥ १६ ॥ ॥ गंधर्वांस्त्रा-सितान् दृष्ट्वा कुंतीपुत्रेण भारत । चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचि-नमाद्रवत् ॥ २० ॥तस्याभिपततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे । गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ॥२१॥ स गदां बहुधा दृष्ट्वा कृतां बाणैस्तरस्विना । संवृत्य विद्ययात्मनं योधयामास पाण्डवम् ॥ २२ अस्त्राणि तस्य दिव्यानि सम्प्रयुक्तानि सर्वशः । दिव्यैर-स्त्रैस्तदा वीरः पर्यवारयदर्जुनः ॥ २३ ॥ स वार्यमाणस्तैरस्त्रैर-र्जुनेन महात्मना । गंधर्वराजो बलवान् माययान्तर्हितस्तदा ॥२४॥ अंतर्हितन्तमालक्ष्य,प्रहरंतमथार्जुनः । ताडयामास खचरैर्दिव्यास्त्र-प्रतिमन्त्रतैः ॥२५॥ अन्तर्धानवधञ्चास्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा ।

इधर उधर जाते थे तो अर्जुन उन्हें भल्ल नामके बाण मारकर दौड़नेसे रोकता था ॥ १६ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! इसप्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुन गंधर्वोंको बहुत त्रास देरहा था, यह देख कर चित्र-सेन हाथमें लोहेका गदा ले अर्जुनके ऊपर एकसाथ चढ़आया। परन्तु अर्जुनने चित्रसेनके हाथमेंकी लोहेकी गदाके,बाण मार कर सात टुकड़े करडाले ॥ २०-२१ ॥ जब चित्रसेनने देखा कि–परा-क्रमी अर्जुनने बाण मार मेरी गदाके बहुतसे टुकड़े करदिये हैं तब वह मायिक विद्यासे अदृश्य होकर युद्ध करनेलगा ॥ २२ ॥ उसने अपने सब दिव्य अस्त्रोंको अर्जुनके ऊपर छोड़ा परन्तु अर्जुनने उसके सामने दिव्य अस्त्र मारकर शत्रुके दिव्य अस्त्रोंको अपनी ओर आनेसे रोकदिया ॥ २३ ॥ इसप्रकार महात्मा अर्जुनने चित्रसेनको बाणोंसे रोकदिया तब बलवान् गंधर्वराज माया करके अदृश्य होगया ॥ २४ ॥ और फिर अदृश्य रहकर ही अर्जुनको मारनेलगा यह देख अर्जुनको क्रोध आगया और उसी समय अर्जुनने आकाशचारी दिव्य अस्त्रोंको अभिमंत्रित कर गंधर्वराजको मारना आरंभ किया और अर्जुन बहुरूपधारी था उसने गन्धर्वोंके शब्दोंको पहिचान

शब्दवेधं समाश्रित्य बहुरूपो धनञ्जयः ॥ २६ ॥ स वध्यमानस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना । ततोऽस्य दर्शयामास तदात्मानं प्रियः सखा ॥ २७ ॥ चित्रसेनस्तथोवाच सखायं युधि विद्धि माम् । चित्रसेनमथालक्ष्य सखायं युधि दुर्बलम् ॥ २८ ॥ संजहारास्त्रमथ तत् प्रसृष्टं पाण्डवर्षभः । दृष्ट्वा तु पाण्डवाः सर्वे संहृतास्त्रं धनंजयम् २९ संजहुःप्रद्रुतानश्वान् शरवेगान् धनूंषि च । चित्रसेनश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि । पृष्ट्वा कौशलमन्योऽन्यं रथेष्वेवावतस्थिरे ॥३०॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वपराभवे पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं प्रहसन्निदमब्रवीत् । मध्ये गंधर्वसैन्यानां महेश्वासो महाद्युतिः॥१॥ किं ते व्यवसितं वीर

कर शब्दवेधी बाणोंसे उनकी अदृश्य विद्याका नाश करदिया ॥ २५-२६ ॥ तदनंतर महात्मा अर्जुन दिव्य अस्त्रोंसे उसके ऊपर प्रहार करने लगा तब तो अर्जुनके प्रियमित्र चित्रसेनने अपना स्वरूप प्रकट कर अपना परिचय दिया ॥ २७ ॥ और उसने अर्जुनसे कहा कि-मैं आपका प्रियमित्र हूं और मेरा नाम चित्रसेन गंधर्व है, यह आपको मालूम हो यह सुनकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनने भी युद्ध करनेसे दुर्बल हुए अपने मित्र चित्रसेनको पहिचान लिया और उसके ऊपर छोडाहुआ अस्त्र पीछेको लौटा लिया अर्जुनने अस्त्रको पीछेको खेंचलिया है, यह देख कर पाण्डव प्रसन्न हुए और उन्होंने भी दौड़तेहुए घोड़े, बाण, और धनुषोंको रोक लिया, तदनन्तर चित्रसेन, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आदि सब रथोंमें बैठे२ एक दूसरेसे कुशल प्रश्न करनेलगे॥ २८॥ ॥ १० ॥ दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २४५ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि--हे जनमेजय ! तदनन्तर महाधनुषधारी और महाकान्तिवाले अर्जुनने गंधर्वोंकी सेनाके बीचमें हँसते २ चित्रसेनसे इसप्रकार बूझा कि—॥ १ ॥ हे वीर !

कौरवाणां विनिग्रहे। किमर्थञ्च सदारोऽयं निगृहीतः सुयोधनः।२। चित्रसेन उवाच ॥ विदितोऽयमभिप्रायस्तत्रस्थेन दुरात्मनः। दुर्योधनस्य पापस्य कर्णस्य च धनञ्जय ॥ ३ ॥ वनस्थान् भवतो ज्ञात्वा क्लिश्यमानाननाथवत्। समस्थो विषमस्थांस्तान् द्रक्ष्यामीत्यनवस्थितान् ॥ ४ ॥ इमेऽवहसितुं प्राप्ता द्रौपदीं च यशस्विनीम्। ज्ञात्वा चिकीर्षितञ्चैषां मामुवाच सुरेश्वरः ॥ ५ ॥ गच्छ दुर्योधनं बद्ध्वा सहामात्यमिहानय। धनञ्जयश्च ते रक्ष्यः सह भ्रातृभिराहवे ॥ ६ ॥ स च प्रियः सखा तुभ्यं शिष्यश्च तव पाण्डव। वचनाद्देवराजस्य ततोऽस्मीहागतो द्रुतम् ।७। अयं दुरात्मा बद्धश्च गमिष्यामि सुरालयम्। नेष्याम्येनं दुरात्मानं पाकशासनशासनात् ।८। अर्जुन उवाच। उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्रातास्माकं सुयोधनः। ध-

---

कौरवोंको कैद करनेका तेरा क्या प्रयोजन है ? तूने दुर्योधनको और उसकी रानियोंको क्यों कैद किया है ? ॥ २ ॥ चित्रसेनने उत्तर दिया कि-हे धनञ्जय ! मैंने स्वर्गमें बैठे २ ही दुष्टात्मा दुर्योधन और पापी कर्णके अभिप्रायको जान लिया था ॥ ३ ॥ उनके मनका अभिप्राय यह था कि—तुम वनमें रहकर अनाथकी समान क्लेश भोगते हो सो इस समय सुखमें मग्न दुर्योधन विपत्तिमें पड़ेहुए तुम दुःखियोंको देखकर मनोरञ्जन करनेकी इच्छासे तुम्हारे पास आया था ॥४॥ और दुःखसे पीडित यशस्विनी द्रौपदीका उपहास करनेके लिये भी ये लोग यहां आये थे इन्द्रने इनकी करतूतको जानकर मुझसे कहा कि—॥ ५ ॥ तू द्वैतवनमें जा और दुर्योधन तथा उसके दुष्ट मंत्रियोंको कैद करके यहाँ ले आ, युद्धमें तू अर्जुनकी और उसके भाइयोंकी रक्षा करना ॥ ६ ॥ क्योंकि—अर्जुन तेरा प्यारा मित्र और शिष्य है सो देवराजके इसप्रकार कहनेसे मैं यहाँ शीघ्रतासे आया था॥ ७ ॥ सो मैंने इस दुष्टात्माको कैद करके बांध ही लिया है अब इसे इंद्रकी आज्ञानुसार अपने साथ स्वर्गमें लेजाऊँगा ॥ ८ ॥ अर्जुन

र्मराजस्य सन्देशान्मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ ९ ॥ चित्रसेन उवाच पापोऽयं नित्यसन्तुष्टो न विमोक्षणमर्हति । प्रलब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनञ्जय ॥ १० ॥ नेदञ्चिकीर्षितं तस्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथेच्छसि ॥ ११ ॥ वैशम्पायन उवाच। ते सर्वं एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम् । अभिगम्य च तत्सर्वं शशंसुस्तस्य चेष्टितम् ॥ १२ ॥ अजातशत्रुस्तच्छ्रुत्वा गन्धर्वस्य वचस्तदा । मोक्षयामास तान् सर्वान् गन्धर्वान् प्रशशंस च १३ दिष्ट्या भवद्भिर्बलिभिः शक्तैः सर्वैर्न हिंसितः । दुर्वृत्तो धार्त्तराष्ट्रोऽयं सामात्यज्ञातिबान्धवः ॥ १४ ॥ उपकारो महांस्तात कृतोऽयं मम खेचरैः । कुलं न परिभूतं मे मोक्षणेऽस्य दुरात्मनः

बोला कि–धर्मराजके कहनेसे और मेरा हित करना चाहते हो तो हमारे भाई दुर्योधनको तुम छोड़दो ॥ ९ ॥ चित्रसेन बोला कि–हे अर्जुन ! यह पापी सदा मदमत्त रहता है, अतः इसको छोडना उचित नहीं है, यह पापी दुर्योधन धर्मराज तथा द्रौपदीको धोखा देनेवाला है ॥१०॥ कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर इसकी इस समय की करतूतको नहीं जानते हैं अब इस समाचारको सुन कर जैसा उचित समझें तैसा करें ॥ ११ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार बातचीत करके वे सब राजा युधिष्ठिरके पास गए और उनसे दुर्योधनकी सब करतूत कही ॥ १२ ॥ अजातशत्रु धर्मराजने गन्धर्वोंकी बातें सुनकर उसही समय सबोंको छुडवा दिया और युधिष्ठिरने सब गन्धर्वोंकी प्रशंसा की ॥१३॥ धर्मराज कहने लगे कि — तुम सब बली और शक्तिमान् हो तुमने मंत्री रानी और बांधवों सहित दुराचारी सुयोधनको मारा नहीं, यह बहुत ही अच्छा किया ॥१४॥ हे तात ! निश्चय ही आकाशमें में विचरनेवाले आपने मेरे ऊपर यह एक बडाभारी उपकार किया है, क्योंकि–इस दुष्टात्माको छोड़ देनेसे हमारे कुलका तिरस्कार

१६ आज्ञापयध्वमिष्टानि प्रायामो दर्शनेन वः । प्राप्य सर्वानभिप्रायांस्ततो व्रजत मा चिरम् ॥ अनुज्ञातास्तु गन्धर्वाः पाण्डुपुत्रेण धीमता । सहाप्सरोभि संहृष्टाश्चित्रसेनमुखा ययुः ।१७। देवराडपि गन्धर्वान्मृतांस्तान् समजीवयत् । दिव्येनामृतवर्षेण ये हताः कौरवैर्युधि ॥ १८ ॥ ज्ञातींस्तानवमुच्याथ राजदारांश्च सर्वशः । कृत्वा च दुष्करं कर्म प्रीतियुक्ताश्च पांडवाः ॥ १६ ॥ सस्त्रीकुमारैः कुरुभिः पूज्यमाना महारथाः । बभ्राजिरे महात्मानः क्रतुमध्ये यथाग्नयः २० ततो दुर्योधनं मुक्तं भ्रातृभिः सहितस्तदा । युधिष्ठिरस्तु प्रणयादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥ मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित् । न हि साहसकर्त्तारः सुखमेधन्ति भारत

नहीं हुआ ॥ १५ ॥ अब तुम्हारी जो इच्छा हो उन पदार्थोंके लिये हमें आज्ञा दो हम तुम्हारे दर्शनसे प्रसन्न हुए हैं, और तुम हमसे जो कुछ चाहते हो उसे लेकर तुरत स्वर्गको चलेजाओ देर न करो ॥ १६ ॥ बुद्धिमान् पाण्डवोंके इसप्रकार आज्ञा देने पर चित्रसेन आदि गंधर्व कौरवोंको छोड़कर अप्सराओंके साथ प्रसन्न होतेहुए स्वर्गको चलेगए ॥ १७ ॥ और राजा इन्द्रने भी जिन गंधर्वोंको युद्धमें कौरवोंने मारडाला था, उन मरेहुए गन्धर्वों पर दिव्य अमृतकी वर्षा करके उनको जीवित करदिया ॥ १८ ॥ तथा पाण्डव भी उन सब बान्धवोंको और उनकी रानियोंको गन्धर्वोंसे छुड़ाकर तथा यह महादुष्कर कर्म करके प्रसन्न हुए । १६ तदनन्तर कुरुवंशकी स्त्रियोंने और कुमारों सहित कौरवोंने उन महारथियोंका सत्कार किया उस समय महात्मा पाण्डव, जैसे यज्ञ में अग्नि शोभा पाते हैं, तिसीप्रकार सब जनोंमें शोभा पानेलगे ॥ २० ॥ इसप्रकार कौरवोंको बंधनमेंसे छुड़ानेके पीछे धर्मराजने प्रेमके साथ भाइयों सहित बन्धनमेंसे छूटेहुए दुर्योधनसे कहा कि ॥ २१ ॥ हे तात ! ऐसा साहसका काम फिर कभी न करना हे भरतवंशी राजन् ! साहस करनेवाले पुरुष सुख नहीं पाते हैं २२

॥ २२ ॥ स्वस्तिमान् सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनन्दन । गृहान् व्रज यथाकामम् वैमनस्यञ्च मा कृथाः ॥२३॥ वैशम्पायन उवाच । पाण्डवेनाभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा । अभिवाद्य धर्मपुत्रं गतेन्द्रिय इवातुरः ॥ २४ ॥ विदीर्य्यमाणो व्रीडावान् जगाम नगरं प्रति । तस्मिन् गते कौरवेये कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥ भ्रातृभिः सहितो वीरः पूज्यमानो द्विजातिभिः । तपोधनैश्च तैः सर्वैर्वृतः शक्र इवामरैः ॥ २६ ॥ तथा द्वैतवने तस्मिन् विजहार मुदा युतः ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोक्षणे षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥

जनमेजय उवाच । शत्रुभिर्जितबद्धस्य पाण्डवैश्च महात्मभिः । मोक्षितस्य युधा पश्चान्मानिनः सुदुरात्मनः ॥ १ ॥ कत्थनस्याव-

---

हे कुरुपुत्र ! अब तू सब भाइयोंके साथ कुशलपूर्वक इच्छानुसार घरको जा, और इस कामसे तू अपने मनमें खेद न करना ॥२३॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे जनमेजय ! इसप्रकार धर्मराजके घर को जानेकी आज्ञा देने पर इन्द्रियरहित पुरुषकी समान आतुर हुआ दुर्योधन धर्मपुत्र युधिष्ठिरको प्रणाम करके मनमें पीड़ा पाता हुआ और लज्जित होताहुआ नगरकी ओरको चलागया ॥२४॥ कुरुपुत्र दुर्योधनके चलेजाने पर ब्राह्मण कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका तथा उनके भाइयोंका सन्मान करनेलगे और सब तपोधन तथा भाइयों से घिरेहुए धर्मराज देवोंसे घिरेहुए इन्द्रकी समान हर्षपूर्वक द्वैत-वनमें विहार करनेलगे ॥ २५—२७ ॥ दो सौ छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४६ ॥ छ ॥ छ ॥

जनमेजय बूझने लगे कि–हे मुने वैशम्पायन ! शत्रुओंने युद्ध में दुर्योधनको हराकर कैद कर लिया था उसको पाण्डवोंने युद्ध करके कैदमेंसे छुडाया था, तदनन्तर वह अभिमानी महादुष्टात्मा

लिप्तस्य गर्वितस्य च नित्यशः । सदा च पौरुषौदार्यैः पाण्डवानवमन्यतः ॥ २ ॥ दुर्योधनस्य पापस्य नित्याहङ्कारवादिनः । प्रवेशो हास्तिनपुरे दुष्करः प्रतिभाति मे ॥ ३ ॥ तस्य लज्जान्वितस्यैव शोकव्याकुलचेतसः । प्रवेशं विस्तरेण त्वं वैशम्पायन कीर्त्तय ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । धर्मराजनिसृष्टस्तु धार्त्तराष्ट्रः सुयोधनः । लज्जयाधोमुखः सीदन्नुपासर्पत् सुदुःखितः ॥ ५ ॥ स्वपुरं प्रययौ राजा चतुरङ्गबलानुगः । शोकोपहतया बुद्ध्या चिन्तयानः पराभवम् ॥ ६ ॥ विमुच्य पथि यानानि देशे सुयवसोदके । सन्निविष्टः शुभे रम्ये भूमिभागे यथेप्सितम् ॥७॥ हत्यश्वरथपादातं यथास्थानं न्यवेशयत् । अथोपविष्टं राजानं

अपनी प्रशंशा करनेवाला सदाका घमण्डी, सदा पौरुष तथा उदारतासे पाण्डवोंका अपमान करनेवाला, पापी और सदा अहंकार भरे वचन बोलने वाला दुर्योधन मेरी समझमें हस्तिनापुरमें बड़ी कठिनाईसे गया होगा, ॥ १-३ ॥ हे वैशम्पायन ! तिरस्कार होनेसे लज्जित हुआ और शोकसे व्याकुल चित्तवाला दुर्योधन, हस्तिनापुरमें किस प्रकार पहुंचा था यह समाचार आप मुझे विस्तारके साथ सुनाइये ॥ ४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय ! धर्मराजके दुर्योधनको जानेकी आज्ञा देने पर धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन मनमें पछताता हुआ और शोकसे हारीहुई बुद्धिके द्वारा मनमें अपनी पराजयके विषयमें विचार करताहुआ लज्जाके मारे मस्तकको नीचा करके चतुरंगिणी सेनाके सहित हस्तिनापुरको चला ॥ ५-६ ॥ थोड़ी दूर जा मार्गमें जहां बहुतसा घास और जल था, ऐसे स्थानमें उसने घोड़े आदि वाहनोंको छोड़दिया तथा स्वयं भी इच्छानुसार रमणीय सुन्दर स्थानमें ठहरगया और दूसरी ओर हाथी घोडे रथ और पैदलोंको योग्यतानुसार उचित स्थानों पर ठहरानेकी व्यवस्था करदी, इसके अनंतर एक स्थानमें रात्रि बितानेके लिये अग्निकी समान दमकते

पर्यंके ज्वलनप्रभे ॥ ८ ॥ उपप्लुतं यथा सोमं राहुणा रात्रिसं- क्षये । उपागम्याब्रवीत् कर्णो दुर्योधनमिदं तदा ॥ ९ ॥ दिष्ट्या जीवसि गान्धारे दिष्ट्या नः संगमः पुनः । दिष्ट्या त्वया जिताश्चैव गन्धर्वाः कामरूपिणः ॥ १० ॥ दिष्ट्या समग्रान् पश्यामि भ्रातृंस्ते कुरुनन्दनः । विजिगीषून् रणे युक्तान् निर्जितारीन्महार- थान् ॥ ११ ॥ अहं त्वभिद्रुतः सर्वैर्गन्धर्वैः पश्यतस्तव । नाशक्नुवं स्थापयितुं दीर्यमाणाश्च वाहिनीम् ॥१२॥ शरक्षतांगश्च भृशं व्यप- यातोऽभिपीडितः । इदन्त्वत्यद्भुतं मन्ये यद्युष्मानिह भारत ॥१३॥ अरिष्टानक्षतांश्चापि सदारबलवाहनान् । विमुक्तान् सम्प्रपश्यामि

हुए एक पलंग पर बैठे हुए ॥ ७ ॥ ८ ॥ रात्रि बीतने पर राहुसे ग्रसेहुए चन्द्रमाकी समान उदास हुए दुर्योधनके पास आकर कर्णने यह बात कही कि-॥ ९ ॥ ओ गांधारीके पुत्र ! यह बडे सौभाग्यकी बात है कि-तुम जीते बचगए और यह हमारा बड़ा भाग्य है कि-हमारा तुम्हारा फिर समागम हुआ और चाहे तैसा रूप धारण करनेवाले गन्धर्वोंको तुमने जीता यह भी अच्छे ही भाग्यका फल है ॥ १० ॥ तथा हे कुरुनन्दन ! यह बडे ही आनंद की बात है कि-मैं तुम्हारे सब भाइयोंको आनन्दमें देख रहा हूं तुम्हारे महारथी भाई विजय करने की इच्छासे रणभूमिमें डटगए थे और उन्होंने शत्रुओं को जीतलिया यह भी बड़ा ही अच्छा काम हुआ है ॥ ११ ॥ तुम तो देख ही रहे थे कि-सब गन्धर्व मेरे पीछे पड़गए थे यह देखकर मैं भागगया था और इस ही कारणसे उस समय सेना भी भागनेलगी थी, परन्तु उसको मैं रोक न सका मेरा शरीर भी उनके बाणोंसे घायल होगया था और मुझे बड़ी पीड़ा होनेलगी थी, इससे ही मैं युद्धमेंसे चलागया था, हे भरतवंशी राजन् ! तुम्हारी रानियोंको सेनाओंको तथा वाहनों सहित तुमको विना घायलहुए और भयंकर प्राणलेवा आपत्ति विना भोगे उस दैवी

युद्धात्तस्मादपानुपात् ॥ १४ ॥ नैतस्य कर्त्ता लोकेऽस्मिन् पुमान् विद्यति भारत । यत्कृतन्ते महाराज सह भ्रातृभिराहवे ॥ १५ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा । उवाच चांगराजानं वाष्पगदगदया गिरा ॥ १६ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदुर्योधनसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

दुर्य्योधन उवाच । अजानतस्ते राधेय नाभ्यसूयाम्यहं वचः । जानासि त्वं जिताञ्छत्रून् गंधर्वास्तेजसा मया ॥ १ ॥ आयोधितास्तु गंधर्वाः सुचिरं सोदरैर्मम । मया सह महाबाहो कृतश्चोभयतः क्षयः ॥ २ ॥ मायाधिकास्त्वयुध्यन्त यदा शूराः वियद्गताः । तदा नो न समं युद्धमभवत् खेचरैः सहः ॥ ३ ॥ पराजयश्च प्राप्ताः

युद्धमेंसे छूटकर लौटेहुए देखरहा हूं, यह बात मुझे बड़ी ही अचरजभरी मालूम होती है ॥ १२–१४ ॥ हे भरतवंशी महाराज ! तुमने भाइयोंके साथ युद्धमें ठहर कर जैसा पराक्रम किया है ऐसा करनेवाला कोई भी पुरुष इस लोकमें नहीं है ॥ १५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे जनमेजय ! इसप्रकार कर्णने राजा दुर्योधनसे कहा तब दुर्योधन नेत्रोंमेंसे आँसू बहाता हुआ गद्गद कण्ठसे अंगराज कर्णके प्रति कहनेलगा ॥ १६ ॥ दो सौ सैंतालासवां अध्याय समाप्त ॥ २४७ ॥

दुर्योधनने कहा कि–हे राधाके पुत्र कर्ण ! तू समझता है कि–मैंने पराक्रमसे शत्रु गंधर्वोंको हराया है, परन्तु इस विषयकी तुझे कुछ भी मालूम नहीं है, अतः मैं तेरे कहनेका अनादर नहीं करता हूं किंतु सच्ची बात यह है कि—गन्धर्व मेरे भाइयोंके साथ और मेरे साथ बहुत समय तक लड़े उसमें दोनों ओरके वीरोंका संहार हुआ जब अधिक मायावी और शूर गंधर्व आकाशमें अधर रह कर लड़नेलगे तब हमारा गंधर्वोंके साथ समान युद्ध नहीं रहा और रणभूमिमें हमारी हार हुई तथा हमारे सेवक मंत्री, स्त्री, पुत्र

स्मो रणे वन्धनमेव च । सभृत्यामात्यपुत्राश्च सदारबलवाहनाः ॥ ४ ॥ उच्चैराकाशमार्गेण ह्रियामस्तैः सुदुःखिताः । अथ नः सैनिकाः केचिदमात्याश्च महारथाः ॥ ५ ॥ उपगम्याब्रुवन् दीनाः पाण्डवांश्च रणप्रदान् । एष दुर्योधनो राजा धार्त्तराष्ट्रः सहानुजः ॥ ६ ॥सामात्यदारो ह्रियते गंधर्वैर्दिवमाश्रितैः । तं मोक्षयत भद्रं वः सहदारं नराधिपम् ॥ ७ ॥ परामर्शो माभविष्यत् कुरुदारेषु सर्वशः । एवमुक्ते तु धर्मात्मा ज्येष्ठः पाण्डुसुतस्तदा ॥ ८ ॥प्रसाद्य पाण्डवान् सर्वानाज्ञापयत मोक्षणे । अथागम्य तमुद्देशं पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥ सान्त्वपूर्वमयाचन्त शक्ताः सन्तो महारथाः । यदा चास्मान्न मुमुचुर्गन्धर्वाः सान्त्विता अपि॥१०॥ ततोऽर्जुनश्च भीमश्च यमजौ च बलोत्कटौ । मुमुचुः शरवर्षाणि गन्धर्वान् प्रत्य-

---

तथा सवारियों सहित हम भी कैद होगए तदनन्तर वे हमें कैद करके आकाशमेंको लेजाने लगे, उस समय हम बड़े दुःखी होगए थे, यह देखकर हमारे कितने ही सैनिक मंत्री और महारथी दीन होकर शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले पाण्डवोंके पास जाकर कहने लगे कि–गन्धर्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंको उनके मंत्रियोंको और स्त्रियों को लेकर स्वर्गमें जारहे हैं, अतः तुम मंत्री और स्त्रियों सहित दुर्योधनको बँधनमेंसे छुडाओ, तुम्हारा कल्याण हो ॥ १–७ ॥ और तुम ऐसा प्रयत्न करो कि-कुरुवंशकी स्त्रियोंको कोई छू न सकैं, इसप्रकार मेरे मंत्रियोंके विनय करने पर धर्मात्मा और पाण्डुके पुत्रोंमें बडे धर्मराजने अपने सब भाइयोंको समझाकर आज्ञा दी कि—तुम कौरवोंको गन्धर्वोंसे छुडाओ, तब पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव उस वनमें आये ॥ ८–९ ॥ और महारथी पाण्डव समर्थ थे तो भी वे नम्रताके साथ हमको छुडानेके लिये गन्धर्वोंसे याचना करने लगे, जब विनयके साथ समझाने पर गन्धर्वोंने हमको नहीं छोडा ॥ १० ॥ तब अर्जुन, भीमसेन, महाबली नकुल और सहदेव

नेकशः ॥ ११ ॥ अथ सर्वे रणं मुक्त्वा प्रयाता खेचराः दिवम् । अस्मानेवाभिकर्षन्तो दीनान्मुदितमानसाः ॥ १२ ॥ ततः समन्तात् पश्यामः शरजालेन वेष्टितम् । अमानुषाणि चास्त्राणि प्रमुञ्चन्तं धनञ्जयम् ॥ १३ ॥ समावृत्ता दिशो दृष्ट्वा पाण्डवेन शतैः शरैः । धनंजयसखात्मानं दर्शयामास वै तदा ॥ १४ ॥ चित्रसेनः पांडवेन समाश्लिष्य परस्परम् । कुशलं परिपप्रच्छ तैः पृष्टश्चाप्यनामयम् ॥१५॥ ते समेत्य तथाऽन्योन्यं सन्नाहान् विप्रमुच्य च । एकीभूतास्ततो वीरा गन्धर्वाः सह पांडवैः । अपूजयेतामन्योऽन्यं चित्रसेनधनञ्जयौ ॥ १६ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनवाक्य अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४८ ॥

गन्धर्वोंके ऊपर अनेकों प्रकारके बाणोंकी वर्षा करनेलगे ॥११॥ परन्तु आकाशचारी गन्धर्व हम दीन बने हुओंको अपने साथ घसीटते हुए रणभूमिको छोडकर मनमें प्रसन्न होते हुए स्वर्गकी ओरको जानेलगे ॥ १२ ॥ तदनन्तर हमने आँख उठाई तो चारों ओर बाणोंके जालसे घिरेहुए और दिव्य अस्त्रोंकी वर्षा करते हुए अर्जुनको देखा ॥ १३ ॥ परन्तु तुरंत ही अर्जुनने तेज किये हुए बाणोंसे गन्धर्वोंके आगेको जानेकी दिशाओंको रोकदिया, यह देखकर तुरंत ही अर्जुनके मित्र चित्रसेनने अपना स्वरूप अर्जुनको दिखाया और अर्जुनको हृदयसे लगाकर दोनोंने आपसमें कुशलसमाचार बूझा, पांडवोंने चित्रसेनकी कुशल बूझी और गन्धर्वोंने पाण्डवोंकी कुशल बूझी, तदनन्तर शूरवीर गंधर्व और पाण्डवोंने युद्धका सब साज उतार डाला और एक दूसरे से भेंट करके बैठगए और चित्रसेन तथा अर्जुनने परस्पर एक दूसरेका सत्कार किया ॥ १४—१६ ॥ दोसौ अडतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४८ ॥ * ॥ छ ॥

दुर्योधन उवाच । चित्रसेनं समागम्य प्रहसन्नर्जुनस्तदा । इदं वचनमक्लीबमब्रवीत् परवीरहा ॥ १ ॥ भ्रातॄनर्हसि मे वीर मोक्तुं गन्धर्वसत्तम । अनर्हधर्षणा हीमे जीवमानेषु पाण्डुषु २ एवमुक्तस्तु गंधर्वः पांडवेन महात्मना । उवाच यत् कर्ण वयं मंत्रयन्तो विनिर्गताः ॥ ३ ॥ द्रष्टारः स्म सुखाद्धीनान् सदारान् पांडवानिति । तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु गंधर्वेण वचस्तथा ॥ ४ ॥ भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः । युधिष्ठिरमथागम्य गंधर्वाः सह पांडवैः ॥५॥ अस्मद्दुर्मन्त्रितं तस्मै बद्धांश्चास्मान्न्यवेदयन् । स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः ॥ ६ ॥ युधिष्ठिरस्योपहृतः किन्नु दुःखमतः परम् । ये मे निराकृता नित्यं रिपुर्येषामहं सदा । ७ । तैर्मोक्षितोऽहं दुर्बु-

---

दुर्योधन बोला कि—हे कर्ण ! शूर शत्रुका नाश करनेवाला अर्जुन, चित्रसेनसे मिलनेके अनन्तर हँसते २ इसप्रकार उत्साह भरा वचन बोला कि-॥ १ ॥ हे गन्धर्वोंमें श्रेष्ठ वीर ! मेरे भाइयों को छोडदो, तुम्हें यही उचित है क्योंकि जब तक पांडवोंके शरीरों में प्राण हैं तब तक कौरवोंका अपमान नहीं होने देंगे ॥ २ ॥ इस प्रकार महात्मा अर्जुनने गन्धर्वसे कहा तब हे कर्ण ! हम जो घर से यह विचार करके चले थे कि-दुःख पाते हुए पाण्डवोंको और उनकी स्त्री द्रौपदी को बनमें दुःखी दशामें देखेंगे वह बात चित्रसेन गन्धर्व अर्जुन से कहनेलगा उसे सुनकर मैं लज्जित होगया और पृथ्वीमें समाने के लिये कोई बिल मिलजाय ऐसा चाहनेलगा तदनंतर वे गंधर्व पाण्डवोंके साथ युधिष्ठिरके पास गए और तहां भी उन्होंने हमारे बुरे विचारको कहा तथा हम कैदीके रूपमें राजा युधिष्ठिरके आगे खड़े कियेगये मैं स्त्रियोंके सामने कैदीकी समान शत्रुकी अधीनता में दीन भावसे खड़ा हुआ था ॥ ३–६ ॥ गंधर्वोंने मुझे कैदीकी दशामें राजा युधिष्ठिरको भेंटकी समान अर्पण किया इससे अधिक और क्या दुःख होगा ? मैंने जिनका सदा तिरस्कार किया था

द्धिर्दत्तं तैरेव जीवितम् । प्राप्ता स्यां यद्यहं वीर वधं तस्मिन्महारणे ॥ ८ ॥ श्रेयस्तद्भविता मह्यं नैवं भूतस्य जीवितम् । अभूद्यशः पृथिव्यां मे ख्यातं गन्धर्वतो वधात् ॥ ९ ॥प्राप्ताश्च पुण्यलोकाः स्युर्महेन्द्रसदनेऽक्षयाः यत्त्वद्य मे व्यवसितं तच्छृणुध्वं नरर्षभाः॥१०॥ इह प्रायमुपाशिष्ये यूयं व्रजत वै गृहान् । भ्रातरश्चैव मे सर्वे यान्त्वद्य स्वपुरं प्रति॥ ११ ॥कर्णप्रभृतयश्चैव सुहृदो बान्धवाश्च ये। दुशासनं पुरस्कृत्य प्रयान्त्वद्य पुरं प्रति ॥ १२ ॥ न ह्यहं सम्प्रयास्यामि पुरं शत्रुनिराकृतः । शत्रुमानापहो भूत्वा सुहृदां मानकृत्तथा ॥ १३ ॥ स सुहृच्छोकदो जातः शत्रूणां हर्षवर्द्धनः । वारणाह्वयमासाद्य किं वक्ष्यामि जनाधिपम् ॥ १४ ॥

और मैं जिनका सदा शत्रु रहता हूं, उन्होंने मुझ दुष्टबुद्धिको दुःख से छुड़ाकर जीवदान दिया ! हे वीर ! मैं यदि उस समय युद्धमें गन्धर्वों के हाथसे मारागया होता तो ॥ ७-८ ॥ मेरे लिये अच्छा होता परन्तु इसप्रकार शत्रुने मुझे दुःखसे छुड़ाया मेरे ऐसे जीते रहनेको धिक्कार है ! रणमें गन्धर्वों ने मुझे मारडाला होता तो संसारमें मेरी कीर्ति प्रसिद्ध होती॥९॥और इन्द्रके घरमें मुझे अक्षय पुण्यलोक मिलते. अतः हे महापुरुषों ! अब मैं जो करना चाहता हूं उसे सुनो अब मैं अन्न जल त्यागकर रहूंगा और तुम सब हस्तिनापुरको जाओ और मेरे सब भाई अब अपने नगरको जांय ॥ १०-११ ॥ कर्ण आदि मेरे मित्र और भाई दुःशासनको आगे करके आज ही नगरकी ओर जायं ॥ १२ ॥ शत्रुओंने मेरा अपमान किया है, अतः मैं नगरमें नहीं जाऊँगा, परन्तु तुम सब जाओ, जो मैं शत्रुओंका अपमान करता था और मित्र तथा संबंधियोंका सन्मान करता था वह मैं आज मित्र तथा संबन्धियों को दुःख देनेवाला और शत्रुओंके हर्षका बढ़ानेवाला हुआ हूं, अब मैं हस्तिनापुरमें जाकर राजा धृतराष्ट्रको क्या उत्तर दूँगा

भीष्मद्रोणौ कृपद्रौणी विदुरः सञ्जयस्तथा । वाह्लीकः सोमदत्तिश्च ये चान्ये वृद्धसम्मताः ॥ १६ ॥ ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः । किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम् ॥ १७ ॥ रिपूणां शिरसि स्थित्वा तथा विक्रम्य चोरसि । आत्मदोषात् परिभ्रष्टः कथं वक्ष्यामि तानहम् ॥ १७ ॥ दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव च । तिष्ठन्ति न चिरं भद्रे यथाहं मदगर्वितः ॥१८॥अहो नाहमिदं कर्म कष्टं दुश्चरितं कृतम् । स्वयं दुर्बुद्धिनामोहाद्येन प्राप्तोऽस्मि संशयम् ॥ १९ ॥ तस्मात् प्रायमुपाशिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् । चेतयानो हि को जीवेत् कृच्छ्राच्छत्रुभिरुद्धृतः ॥ २० ॥ शत्रुभिश्चावहसितो मानी पौरुषवर्जितः ।

॥ १३–१४ ॥ भीष्मपितामह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विदुर, संजय, वाल्हीक, सोमदत्ति (भूरिश्रवा) तथा अन्य वृद्ध पुरुषोंके मान्य पुरुष, मण्डलियोंमें मुख्य ब्राह्मण तथा उदासीन वृत्तिवाले मुझसे मिलकर क्या कहेंगे ? और मैं उनको क्या उत्तर दूँगा ? ॥ १५—१६ ॥ मैं शत्रुओंके शिर पर लात मारकर खड़ा होता था और उनकी छाती पर चढ़कर पराक्रम किया करता था परन्तु आज मैं अपने दोषके कारण भ्रष्ट होगया हूं अतः मैं उनको क्या उत्तर दूंगा ? ॥१७॥ मूर्ख पुरुष लक्ष्मी, विद्या और ऐश्वर्य मिलने पर मेरी समान मदसे गर्वमें भरजाते हैं तो बहुत समय तक उस कल्याणकारी सुखको नहीं भोगसकते हैं ॥१८॥ हाय ! यह काम मुझसे अच्छा नहीं हुआ, किन्तु दुःखदायक और बहुत बुरा हुआ है, मूर्खताके कारण ऐसा काम करनेसे मैं संकटमें पड़गया हूं ॥१९॥ सो अब मैं इस कष्टके कारण जीवित नहीं रहसकूंगा, किन्तु यहां ही उपवास करके मरजाऊंगा, शत्रुओं ने जिसे दुःखमेंसे छुड़ाया हो ऐसा दशामें कौनसा चेतन प्राणी जीवित रहना चाहेगा ? ॥ २० ॥ मुझ अभिमानीकी शत्रुओंने

पाण्डवैर्विक्रमाद्यैश्च सावमानमवेक्षितः ॥ २१ ॥ वैशम्पायन उवाच एवं चिन्तापरिगतो दुःशासनमथाब्रवीत् दुःशासन निबोधेदं वचनं मम भारत ॥ २२ ॥ प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव । प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ॥ २३ ॥ भ्रातॄन् पालय विश्रब्धं मरुतो वृत्रहा यथा । बान्धवास्त्वोपजीवन्तु देवा इव शतक्रतुम् ॥ २४ ॥ ब्राह्मणेषु सदा वृत्तिं कुर्वीथाश्चाप्रमादतः । बन्धूनां सुहृदाञ्चैव भवेथास्त्वं गतिः सदा ॥ २५ ॥ ज्ञातींश्चाप्यनुपश्येथा विष्णुर्देवगणान् यथा । गुरवः पालनीयास्ते गच्छ पालय मेदिनीम् ॥ २६ ॥ नन्दयन् सुहृदः सर्वान् शात्रवांश्चावभर्त्स-

हँसी उड़ाई, मेरा मान और बल निरर्थक होगया और पराक्रमी पांडवोंने अपमानके साथ मेरी ओर देखा, अतः ऐसे जीनेसे मरना भला है ॥ २१ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि-इसप्रकार शोक में डूबाहुआ दुर्योधन, इसके अनन्तर दुःशासनसे कहनेलगा, कि-हे भरतवंशी दुःशासन! तू मेरे कहने पर ध्यान दे॥२२॥ मैं तेरा राज्याभिषेक करता हूं, उसे तू ग्रहण कर और मेरे स्थानमें राजा होकर कर्ण, शकुनि आदि संबन्धियोंसे रक्षा पाईहुई समृद्धिवाली पृथ्वीकी शासना कर ॥ २३ ॥ इन्द्र जैसे देवताओंकी रक्षा करता है तैसे ही तू विश्वासपूर्वक भाइयोंकी रक्षा करना और देवता जैसे इन्द्रके भरोसेपर अपनी आजीविका चलाते हैं तैसे ही बंधु भी तेरा सहारा लेंगे। तू सावधान होकर सदा ब्राह्मणोंकी आजीविका बांधे रखना, भाइयोंका तथा दूसरोंका सदा ध्यान रखना ॥ २४-२५ ॥ विष्णु जैसे देवताओंके ऊपर सदा कृपा करते हैं तैसे ही तू भी संबन्धियोंके ऊपर कृपा रखना और तू अपने आप भी गुरुजनोंकी आज्ञामें चलना, अब तू जा और सब मित्रोंको प्रसन्न करता हुआ, तथा शत्रुओंका तिरस्कार करता हुआ पृथ्वीकी रक्षा कर इस भाईके कंठसे लग

यन् । कण्ठे चैनं परिष्वज्य गम्यतामित्युवाच ह ॥ २७ ॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दीनो दुःशासनोऽब्रवीत् । अश्रुकण्ठः सुदुःखार्तः प्राञ्जलिः प्रणिपत्य च ॥ २८ ॥ सगद्गदमिदं वाक्यं भ्रातरं ज्येष्ठमात्मनः । प्रसीदेत्यपतद्भूमौ दूयमानेन चेतसा ॥ २९ ॥ दुःखितः पादयोस्तस्य नेत्रजं जलमुत्सृजन् । उक्तवांश्च नरव्याघ्रो नैतदेवं भविष्यति ॥ ३० ॥ विदीर्य्येत् सकला भूमिर्द्यौश्चापि शकलीभवेत् । रविरात्मप्रभां जह्यात् सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥ ३१ ॥ वायुः शैघ्रयमथो जह्याद्धिमवांश्च परिव्रजेत् । शुष्ये-त्तोयं समुद्रेषु वह्निरप्युष्णतां तयजेत् ॥ ३२ ॥ न चाहं त्वदृते राजन् प्रशासेयं वसुन्धराम् । पुनः पुनः प्रसीदेति वाक्यञ्चेदमुवाच ह ॥ ३३ ॥ त्वमेव नः कुले राजा भविष्यसि शतं समाः । एवमुक्त्वा स राजानं सुस्वरं प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥ पादौ संस्पृश्य

कर हस्तिनापुरमें जा ॥ २६-२७ ॥ दुःशासन दुर्योधनके ऐसे कहनेको सुनकर उदास होगया, उसका गला भर आया, दुःखसे आतुर होकर दोनों हाथ जोड़ प्रणाम करके गद्गद कण्ठसे अपने बड़े भाईसे बोला, कि-मेरे ऊपर कृपा करो, इसप्रकार कहकर पृथ्वीपर गिराहुआ नरव्याघ्र दुःशासन दुर्योधनकेचरणोंमें अपना मस्तक रखकर रोताहुआ कहनेलगा कि-ऐसा कभी नहीं होगा ॥ २८ -३० ॥ सब पृथिवी फट जाय, आकाशके टुकड़े होजायँ सूर्य अपने तेजको त्याग देय, चन्द्रमा अपनी शीतलताको छोड़-देय, वायु वेगको छोड़देय, हिमाचल चलायमान होजाय, समुद्रमें से जल सूखजाय और अग्नि उष्णताको त्यागदेय तो भी हे राजन् मैं तुम्हारे विना पृथ्वीका राज्य नहीं करूंगा, इसप्रकार कह कर वह वार२ कहने लगा कि-'तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होजाओ ३१-३३ तुम ही हमारे कुलमें सौ वर्ष तक राजा रहोगे,हे भरतवंशी राजन्! इसप्रकार राजासे कहकर दुःशासन, पूजनेयोग्य अपने बड़े भाई के चरणोंको दोनों हाथोंसे पकड़ कर बड़ी जोरसे रोनेलगा लगा,

मानार्हौ भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत । तथा तौ दुःखितौ दृष्ट्वा दुःशासन-सुयोधनौ ॥ ३५ ॥ अधिगम्य व्यथाविष्टः कर्णस्तौ प्रत्यभाषत विषीदथः किं कौरव्यो बालिश्यात् प्राकृताविव ॥ ३६ ॥ न शोकः शोचमानस्य विनिवर्त्तेत कर्हिचित् । यदा च शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ॥ ३७ ॥ सामर्थ्यं किंततः शोके शोचमानौ प्रपश्यथः । धृतिं गृह्णीतं मा शत्रून् शोचन्तौ नन्दयिष्यथः ३८ कर्त्तव्यं हि कृतं राजन् पाण्डवैस्तव मोक्षणम् । नित्यमेव प्रियं कार्यं राज्ञो विषयवासिभिः ॥ ३९ ॥ पाल्यमानास्त्वया ते हि निवसन्ति गतज्वराः । नार्हस्येवं गते मन्युं कर्तुं प्राकृतवद्यथा ॥ ४० ॥ विषण्णास्तव सोदर्यास्त्वयि प्रायं समास्थिते । उत्तिष्ठ व्रज भद्र-

---

इसप्रकार दुःशासन तथा दुर्योधनको बड़ा शोक करते हुए देख कर कर्णके मनमें भी शोक होनेलगा और वह दोनों जनोंके पास जाकर कहनेलगा कि अरे ! तुम दोनों मूर्खतावश साधारण मनुष्योंकी समान क्यों शोक करते हो ? ॥ ३४–३६ ॥ शोक करनेवालेका शोक शोक करनेसे कभी भी दूर नहीं होता है और जब शोक करनेवालेका शोक दुःखको दूर नहीं करसकता तो शोक करते हुए तुम दोनोंके शोकमें ऐसी कौनसी शक्ति है कि-जिसको तुमने देखलिया है, तुम उसके शिर पड़गए हो, धैर्य धरो और शोक करके शत्रुओंको आनन्द न दो ॥ ३७—३८ ॥ पाण्डवोंने तुमको गन्धर्वोंसे छुड़ाया यह तो उन्होंने अपना करनेयोग्य काम किया है, इसमें उन्होंने कौनसा बड़ा काम किया ? देशमें वसनेवाले मनुष्योंको सदा अपने राजाका भला करना उचित ही है ॥ ३९ ॥ पाण्डव तुम्हारी रक्षामें रह कर सुख शान्तिसे द्वैतवनमें रहते हैं या नहीं ? अतः तुम्हें साधारण पुरुषोंकी समान ऐसी बातोंमें रोना ठीक नहीं है ॥ ४० ॥ तुम प्राण त्यागनेके लिये उपवास करने लगे हो, इससे तुम्हारे सगे भाई उदास होरहे हैं, अतः तुम ऐसा विचार छोड़दो, भाइयोंको धैर्य देकर शांत करो और हस्तिनापुर

न्ते समाश्वासय सोदरान् ॥ ४१ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेश ऊनपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥

कर्ण उवाच ॥ राजन्नाद्यावगच्छामि तवेह लघुसत्त्वताम् । किमत्र चित्रं यद्वीर मोक्षितः पाण्डवैरसि ॥ १ ॥ सद्यो वशं समापन्नः शत्रूणां शत्रुकर्षण । सेनाजीवैश्च कौरव्य तथा विषयवासिभिः ॥ २ ॥ अज्ञातैर्यदि वाज्ञातैः कर्तव्यं नृपतेः प्रियम् । प्रायः प्रधानाः पुरुषाः क्षोभयन्त्यरिवाहिनीम् ॥ ३ ॥ निगृह्यन्ते च युद्धेषु मोक्ष्यन्ते चैव सैनिकैः । सेनाजीवाश्च ये राज्ञां विषये सन्ति मानवाः ॥ ४ ॥ तैः संगम्य नृपार्थाय यतितव्यं यथातथम् । यद्येवं पाण्डवै राजन् भवद्विषयवासिभिः ॥ ५ ॥ यदृच्छया मोक्षितोऽसि तत्र का परिदेवना । न चैतत् साधु यद्राजन् पाण्डवास्त्वां नृपोत्तमम् ॥६॥

को चलो, तुम्हारा कल्याण हो ॥ ४१ ॥ दो सौ उनश्चासवाँ अध्याय समाप्त ॥ २४९ ॥ छ ॥ छ ॥

कर्ण बोला कि–हे राजन् ! इस वातमें मुझे तो तुम्हारी कुछ भी दुर्बलता (न्यूनता) नहीं दिखाई देती, हे वीर ! हे शत्रुमर्दन तुम अचानक शत्रुओंके वशमें जापड़े थे उसमेंसे पाण्डवोंने तुम्हें छुड़ाया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हे कुरुवंशोत्पन्न दुर्योधन ! सेनाके मनुष्योंको तथा देशमें रहनेवाले मनुष्य अनजान हों वा जानपहिचानके हो, उन्हें अपने राजाका हित करना ही चाहिये, अधिकतर सेनामें जो प्रधान पुरुष होते हैं, वे सदा ही शत्रुकी सेनाको व्याकुल किया करते हैं ॥ १- ३ ॥ तो भी वे पुरुष युद्धमें शत्रुके हाथमें पड़ कैद होजाते हैं, तब सेनाके मनुष्य उनको वन्धन मेंसे भी छुड़ाया करते हैं, जो मनुष्य योधा बनकर अपना जीवन विताते हों वे मनुष्य जिस राजाके देशमें रहते हों उस देशके राजा का काम करनेके लिये उन्हें इकट्ठे होकर यथाशक्ति उद्योग करना ही चाहिये अतः हे राजन् ! तुम्हारे देशमें वसनेवाले पाण्डवोंने दैव

स्वसेनया सम्प्रयान्तं नानुयांति स्म पृष्ठतः। शूराश्च बलवन्तश्च संयुगेष्वपलायिनः ॥ ७ ॥ भवतस्ते सहाया वै प्रेष्यतां पूर्वमागताः। पांडवेयानि रत्नानि त्वमद्याप्युपभुंजसे ॥८॥ सत्त्वस्थान् पांडवान् पश्य न ते प्रायमुपाविशन्। उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ते न चिरं कर्त्तुमर्हसि ॥ ९ ॥ अवश्यमेव नृपते राज्ञो विषयवासिभिः। प्रियाण्याचरितव्यानि तत्र का परिदेवना ॥ १० ॥ मद्वाक्यमेतद्राजेंद्र यद्येवं न करिष्यसि। स्थास्यामीह भवत्पादौ शुश्रूषन्नरिमर्दन ॥ ११ ॥ नोत्सहे जीवितुमहं त्वद्विहीनो नरपर्षभ। प्रायोपविष्टस्तु नृप राज्ञां हास्यो भविस्यसि ॥ १२ ॥ वैशम्पायन उवाच। एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधन-

---

वश तुम्हें बंधनमेंसे छुड़ाया तो इसमें शोक काहेका? हे राजन्! तुम सेनासहित चढ़ाई करते हो उस समय पांडव आपसरीखे श्रेष्ठ राजा के साथ सामन्त बनकर चढ़ाई नहीं करते, यह अच्छा नहीं करते हैं, पाण्डव शूर, बली, तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले हैं, परन्तु अब तो वे तुम्हारे सेवक होगए हैं, अतः तुम्हारे सहायक हैं, पाण्डवों के पास जो रत्न थे, उन रत्नोंको तुम आजकल भोगते ही हो उन सत्वगुणी पाण्डवोंकी ओरको तुम देखो तो सही। उन्होंने दुःखी होकर भूखे मरने पर भी प्राणोंको नहीं त्यागा हे राजन्! तुम्हारा कल्याण हो, तुम विलम्ब न करके शीघ्र ही हस्तिनापुर को चलो ॥ ४—९ ॥ देशमें रहनेवाले पुरुषोंको अपने राजाका हित अवश्य ही करना चाहिये तिसीप्रकार पाण्डवोंने भी तुम्हारा हित किया है, इसमें तुम शोक क्यों करते हो? ॥१०॥ हे राजेन्द्र! तुम मेरे कहनेको नहीं मानोगे तो हे अरिंदमन! मैं भी तुम्हारे चरणोंकी सेवा करताहुआ यहां ही रहूंगा ॥ ११ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ! मैं भी तुम्हारे विना जीवित रहना नहीं चाहता, परन्तु यदि तुम उपवास करकै प्राण छोड़दोगे तो दूसरे राजे तुम्हारी हँसी ही उड़ावेंगे ॥ १२ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—इसप्रकार राजा कर्ण

स्तदा । नैवोत्थातुं मनश्चक्रे स्वर्गाय कृतनिश्चयः ॥ १३ ॥ छ ॥
इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे कर्णवाक्ये पञ्चाशदधिकद्विशतमोऽध्यायः ॥ २५० ॥

वैशम्पायन उवाच । प्रायोपविष्टं राजानं दुर्योधनममर्षणम् । उवाच सान्त्वयन् राजन् शकुनिः सौबलस्तदा ॥ १ ॥ शकुनिरुवाच । सम्यगुक्तं हि कर्णेन तच्छ्रुतं कौरव त्वया । मया हृतां श्रियं स्फीतां तां मोहादपहाय किम् ॥ २ ॥ त्वमबुद्ध्याद्य नृपते प्राणानुत्स्रष्टुमर्हसि । अथवाप्यवगच्छामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ॥ ३ ॥ यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति ॥ स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमाममिवाम्भसि ॥ ४ ॥ अतिभीरुमतिक्लीवं दीर्घसूत्रं प्रमादि-

ने दुर्योधनसे कहा तो भी दुर्योधनने उपवास करके प्राण छोड़नेका ही निश्चय करलिया उसने तहाँसे उठनेका विचार नहीं किया ॥ १३ ॥ दो सौ पचासवाँ अध्याय समाप्त ॥ २५० ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते है कि-हे राजन् ! क्रोधी राजा दुर्योधन उपवास करनेकी हठ करके बैठ गया, तब सुबलपुत्र शकुनि उसे समझाता हुआ कहनेलगा ॥ १ ॥ शकुनि बोला कि-हे कुरुवंशोत्पन्न राजन् ! कर्णने तुमसे जो हितकारी वचन कहे उनको सुनने पर भी तुम उपवाससे देह त्यागनेको उद्यत होरहे हो, इससे प्रतीत होता है कि-मैंने जो उज्ज्वल राज्यलक्ष्मी छीन कर तुम्हें दिलाई है उसको तुम मूर्खतासे त्यागने को बैठे हो ? ॥ २ ॥ हे राजन् ! तुम बुद्धिकी कमीके कारण प्राणोंका त्याग करनेको उद्यत हुए हो, इससे मुझे प्रतीत होता है कि-तुमने वृद्धोंकी सेवा नहीं की है ॥ ३ ॥ इसी लिये तुम्हें ऐसे विचार सूझते हैं, जो मनुष्य प्राप्त हुए शोक और हर्षको अपने वशमें नहीं रखता है किन्तु शोकसे अधीर होजाता है और हर्षसे उछलने लगता है वह पानीमें पड़े हुए कच्चे घड़ेकी समान राज्यलक्ष्मीको पानेपर भी नाशको प्राप्त होजाता है ॥४॥ तैसे ही अधिक डरपोक अत्यन्त अधीर दीर्घसूत्री

नम् । व्यसनाद्विषयाक्रांतं न भजन्ति नृपं प्रजाः ॥ ५ ॥ सत्कृतस्य हि ते शोको विपरीते कथं भवेत् । मा कृतं शोभनं पार्थैः शोकमालंव्य नाशय ॥ ६ ॥ यत्र हर्षस्त्वया कार्यः सत्कर्त्तव्याश्च पाण्डवाः । तत्र शोचसि राजेन्द्र विपरीतमिदं तव ॥ ७ ॥ प्रसीद मा त्यजात्मानं तुष्टश्च सुकृतं स्मर । प्रयच्छ राज्यं पार्थानां यशो धर्ममवाप्नुहि ॥ ८ ॥ क्रियामेतां समाज्ञाय कृतज्ञस्त्वं भविष्यसि सौभ्रात्रं पाण्डवैः कृत्वा समवस्थाप्य चैव तान् ॥ ९ ॥ पित्र्यं राज्यं प्रयच्छैषां ततः सुखमवाप्स्यसि । वैशम्पायन उवाच ॥ शकुनेस्तु वचः श्रुत्वा दुःशासनमवेक्ष्य च ॥ १० ॥ पादयोः पतितं वीरं विकृतं भ्रातृसौहृदम् । बाहुभ्यां साधु जाताभ्यां दुःशास-

---

प्रमादी और विषयासक्त राजाकी, उसकी प्रजा कभी सेवा नहीं करती है ॥५॥ हे दुर्योधन ! पाण्डवोंने यह तुम्हारा सत्कार किया है परन्तु तुम्हें इससे शोक होता है, यदि तुम्हारा अपमान किया होता तो न जाने क्या होजाता ? पाण्डवोंने तुम्हारा हित किया है उसका तुम शोक करके विनाश न करो ॥ ६ ॥ हे राजेन्द्र ! जहाँ पर तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये और पाण्डवोंका सत्कार करना चाहिये तहाँ तुम इसप्रकार शोक करते हो ? यह तुम्हारा काम विपरीत (उल्टा) ही है ॥ ७ ॥ अतः अब देहत्याग करने को रहनेदो, खड़े होजाओ और प्रसन्न होकर अपने सत्कर्मोंको याद करो, पाण्डवोंका राज्य फिर उन्हें देदो, और यश तथा धर्मको प्राप्त करो ॥ ८ ॥ तुम मेरे कहनेके अनुसार करोगे तो तुम जगत्में कृतज्ञ माने जाओगे, अब तुम पांडवोंके साथ भ्रातृस्नेह बाँध उनको राज्यके ऊपर बैठाकर उनके पिताका राज्य उन्हें लौटादो इससे तुम्हें सुख मिलेगा ॥ ९ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि हे राजन् ! शकुनिके ऐसे वचन सुन कर शूर भाईयोंके ऊपर प्रेम रखनेवाला, अरिदमन दुर्योधन, दुःशासन जो उदास होकर अपने

नमरिंदमम् ॥ ११ ॥ उत्थाप्य सम्परिष्वज्य प्रीत्याऽजिघ्रत मूर्धनि । कर्णसौबलयोश्चापि संश्रुत्य वचनान्यसौ ॥ १२ ॥ निर्वेदं परमं गत्वा राजा दुर्योधनस्तदा । व्रीडयाभिपरीतात्मा नैराश्यमगमत् परम् ॥ १३ ॥ तच्छ्रुत्वा सुहृदश्चैव समन्युरिदमब्रवीत् । न धर्मधनसौख्येन नैश्वर्येण न चाज्ञया ॥ १४ ॥ नैव भोगैश्च मे कार्यं मा विहन्यत गच्छत । निश्चितेयं मम मतिः स्थिता प्रायोपवेशने ॥ १५ ॥ गच्छध्वं नगरं सर्वे पूज्याश्च गुरवो मम । त एवमुक्ताः प्रत्यूचू राजानमरिमर्दनम् ॥ १६ ॥ या गतिस्तव राजेन्द्र सास्माकमपि भारत । कथं वा सम्प्रवेक्ष्यामस्त्वद्विहीनाः पुरं वयम् ॥ १७ ॥ वैशम्पायन उवाच॥ ससुहृद्भिरमात्यैश्च भ्रातृभिः स्वजनेन च । बहुप्रकारमप्युक्तो निश्चयान्न विचाल्यते ॥ १८ ॥ दर्भास्तर-

दोनों चरणों पर पड़ा २ शोक कर रहा था उसकी ओर देखा, तथा उसको अपनी शोभायमान दोनों भुजाओंसे (पकडकर) खडा किया और प्रेमपूर्वक आलिंगन करके उसके मस्तकको सूँघा. कर्णके तथा शकुनिके वचन सुनकर वह परमखिन्न, लज्जाके वशमें और उदास होगया था परन्तु वह अपने स्नेहियोंके वचन सुन क्रोधमें भरकर उनसे कहने लगा कि-मुझे धर्म, धन, सुख, ऐश्वर्य और राज्यसत्तासे कुछ भी काम नहीं है,तुम मेरी प्रतिज्ञाको भंग न करो, अपने घरको चलेजाओ, मैंने अन्न जल त्यागनेका पक्का निश्चय करलिया है, उससे मैं कभी भी हटनेवाला नहीं हूं ॥१०-१५॥ मेरे गुरु और पूज्य तुम सब नगरको जाओ, इसप्रकार सबोंसे कहा तब सबने शत्रुमर्दन राजा दुर्योधनको उत्तर दिया कि-॥१६॥ हे भरतवंशी राजेन्द्र ! जैसी तुम्हारी गति होगी वैसी ही गति हमारी भी होगी, हम तुम्हें छोड़कर नगरमें कैसे जासकते हैं ? ॥ १७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि —हे राजन् ! इसप्रकार मित्रोंने भाइयोंने मंत्रियोंने तथा सेवकोंने बहुत कुछ समझाया तो भी दुर्योधन अपने निश्चयसे नहीं डिगा ॥ १८ ॥ किन्तु अपने निश्चय

णमास्तीर्य निश्चयाद्धृतराष्ट्रजः। संस्पृश्यापः शुचिर्भूत्वा भूतले समुपस्थितः ॥ १९ ॥ कुशचीराम्बरधरः परं नियममास्थितः। वाग्यतो राजशार्दूलः स स्वर्गगतिकाम्यया ॥ २० ॥ मनसोपचितिं कृत्वा निरस्य च बहिः क्रियाः। अथ तं निश्चयं तस्य बुद्ध्वा दैतेयदानवाः ॥ २१ ॥ पातालवासिनो रौद्राः पूर्वं देवैर्विनिर्जिताः। ते स्वपक्षक्षयन्तन्तु ज्ञात्वा दुर्योधनस्य वै ॥ २२ ॥ आह्वानाय तदा चक्रुः कर्म वैतानसम्भवम्। बृहस्पत्युशनोक्तैश्च मन्त्रैर्मन्त्रविशारदाः ॥ २३ ॥ अथर्ववेदप्रोक्तैश्च याश्चोपनिषदि क्रियाः। मन्त्रजप्यसमायुक्तास्तास्तदा समवर्त्तयन् ॥ २४ ॥ जुह्वत्यग्नौ हविः क्षीरं मन्त्रवत् सुसमाहिताः। ब्राह्मणा वेदवेदांगपारगाः सुदृढव्रताः ॥ २५ ॥ कर्मसिद्धौ तदा तत्र जृम्भमाणा महाद्भुताः। कृत्या समुत्थिता रा-

के अनुसार उसने शरीर पर कुशाके वस्त्र पहिरे, श्रेष्ठ नियम धारण किये, वाणीको वशमें रखकर और जलका आचमन लेकर पवित्र हो कुशाका आसन बिछा परलोकमें जानेकी इच्छासे उसके ऊपर बैठ उपवास करनेलगा ॥ १९-२० ॥ उसने बाहरी स्नानादि सब क्रियाएं छोड़दीं और मानसिक भावसे पूजा करनेलगा जिनको पहिले देवताओंने जीतलिया था उन पातालवासी भयंकर दैत्य और दानवोंने उस समय विचारा कि—यदि दुर्योधन मरजायगा तो हमारा प्रयोजन नष्ट होजायगा ॥ २१-२२ ॥ इसकारण दुर्योधनको अपने पास बुलानेके लिये मंत्रविद्यामें कुशल दैत्योंने बृहस्पति तथा शुक्राचार्यके बतायेहुए मंत्रोंके द्वारा तथा अथर्ववेदमें के मंत्रोंके द्वारा आथर्वणिक कर्मका आरम्भ किया तथा उपनिषदमें जो मंत्र और जपवाली क्रियाएं कही हैं, वे क्रियाएं भी ब्राह्मणोंने उस समय प्रारंभ कीं ॥ २३-२४ ॥ तथा वेद और वेदांगोंमें पारंगत और व्रतोंको बड़ा दृढ़तासे पालनेवाले ब्राह्मण भलीप्रकार सावधान होकर अथर्ववेदके मंत्रोंसे अग्निमें घी तथा दूधकी आहुति देनेलगे ॥ २५ ॥ वह होम पूरा होकर कर्मकी सिद्धि

जन् किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ २६ ॥ आहुर्दैत्याश्च तां तत्र समीतेनान्तरात्मना । प्रायोपविष्टं राजानं धार्त्तराष्ट्रमिहानय ॥ २७ ॥ तथेति च प्रतिश्रुत्य सा कृत्या प्रययौ तदा । निमेषादगमच्चापि यत्र राजा सुयोधनः ॥ २८ ॥ समादाय च राजानं प्रविवेश रसातलम् दानवानां मुहूर्त्ताच्च तमानीतं न्यवेदयत् । तमानीतं नृपं दृष्ट्वा रात्रौ संगत्य दानवाः ॥ २९ ॥ प्रहृष्टमनसः सर्वे किंचिदुत्फुल्ललोचनाः साभिमानमिदं वाक्यं दुर्योधनमथाब्रुवन् ॥ ३० ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वण्येकपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥

दानवा ऊचुः । भोः सुयोधन राजेन्द्र भरतानां कुलोद्वह । शूरैः परिवृतो नित्यं तथैव च महात्मभिः ॥ १ ॥ अकार्षीः साहसमिदं

हुई कि-तत्काल एक कृत्या जंभाई लेतीहुई यज्ञकुण्डमेंसे बाहर निकल आई और हे राजन् ! वह कहनेलगी कि-कहो मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ? ॥२६॥ तब दैत्योंने प्रसन्नहुए अन्तःकरणसे उस कृत्याको आज्ञा दी कि-तू उपवास करतेहुए राजा दुर्योधनको हमारे पास उठा ला ॥ २७ ॥ वह कृत्या तथास्तु कहकर दैत्यों की आज्ञाको मान क्षणमात्रमें जहां दुर्योधन बैठा था तहाँ आगई ॥ २८ ॥ और क्षणमात्रमें दुर्योधनको लेकर फिर रसातलको लौटगई तथा लायाहुआ दुर्योधन दानवोंको अर्पण किया अर्थात् दुर्योधनके लानेका समाचार दानवोंको सुनाया, तब राजा दुर्योधनको आया हुआ देखते ही सब दानवोंके मन प्रसन्न होगए, नेत्र खिलउठे और वे सब रात्रिमें इकट्ठे होकर अभिमानके साथ दुर्योधनसे इसप्रकार कहनेलगे ॥ २९-३० ॥ दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ २५१ ॥ छ ॥

दानव बोले कि-हे भरतकुलधारी राजेन्द्र दुर्योधन ! तुम्हारे पास सदा शूर वीर और महात्मा रहते हैं ॥ १ ॥ तो भी तुम

कस्मात् प्रायोपवेशनम् । आत्मत्यागी ह्यधो याति वाच्यतां चाय-शस्करीम् ॥ २ ॥ न हि कार्य्यविरुद्धेषु बहुपापेषु कर्म्मसु । मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ३ ॥ नियच्छैनां मतिं राजन् धर्मार्थसुखनाशिनीम् । यशःप्रतापवीर्यघ्नीं शत्रूणां हर्षवर्धनीम् ॥४॥ श्रूयतां तु प्रभो तत्त्वं दिव्यताञ्चात्मनो नृप । निर्माणञ्च शरीरस्य ततो धैर्य्यमवाप्नुहि ॥ ५ ॥ पुरा त्वं तपसास्माभिर्लब्धो राजन्महेश्वरात् । पूर्वकायश्च पूर्वस्ते निर्मितो वज्रसञ्चयैः ॥ ६ ॥ अस्त्रैरभेद्यः शस्त्रैश्चाप्यधःकायश्च तेऽनघ । कृतः पुष्पमयो देव्या रूपतः स्त्रीमनोहरः ॥ ७ ॥ एवमीश्वरसंयुक्तस्तव देहो नृपोत्तम । देव्या च राजशार्दूल दिव्यस्त्वं हि न मानुषः ॥ ८ ॥ क्षत्रियाश्च महावीर्य्या

ऐसा उपवासरूपी साहस का काम करनेको क्यों उद्यत हुए हो? आत्महत्या करनेवाला पुरुष नरकमें पड़ता है और लोकमें उस की अपयशभरी निंदा होती है ॥ २ ॥ तुमसा बुद्धिमान् पुरुष महापापभरे, जगत्की मर्यादाके प्रतिकूल और जड़को काटनेवाले आत्महत्याके काममें प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥ ३ ॥ हे राजन् ! तू अपनी बुद्धिको वशमें रख, क्योंकि—तेरी यह उल्टी मति तेरे धर्म, अर्थ और सुखका नाश करदेगी शत्रुके हर्षको बढ़ावेगी तथा यश, वीर्य और पराक्रमका भी नाश करडालेगी ॥ ४ ॥ हे राजन् ! तेरे विषयकी जो सच्ची बात है और तेरा जो दिव्यभाव है तथा तेरे शरीरकी जो रचना है उसकी कथा सुन ! उसको सुनने से तुझै धीरज होगा ॥ ५ ॥ हे राजन् ! हमने पहिले तप करके तुझै शिवजीसे पाया था ॥ ५ ॥ प्रथम ही तेरे शरीरका पहिला (टूंड़ीसे ऊपरका) भाग सब वज्रोंके समूहसे बनाया गया है अतः उसको अस्त्र शस्त्रसे कोई नहीं तोड़सकता। हे अनघ ! और तेरा नीचेका अंग देवी पार्वतीने फूलोंका बनाया है, वह भाग अपने सौंदर्यसे स्त्रियोंको मोहित करनेवाला है ॥ ६–७ ॥ हे राजेन्द्र ! इसप्रकार तेरे शरीर को शिव और पार्वतीने बनाया है, हे राजन् ! तू दिव्य पुरुष है (साधारण) मनुष्य नहीं है ८

भगदत्तपुरोगमा । दिव्यास्त्रविदुषः शूराः क्षपयिष्यन्ति ते रिपून् ९ तदलन्ते विषादेन भयं तव न विद्यते । सहायार्थश्च ते वीराः सम्भूता भुवि दानवाः ॥ १० ॥ भीष्मद्रोणकृपादींश्च प्रवेक्ष्यन्त्यपरेऽसुराः । यैराविष्टा घृणां त्यक्त्वा योत्स्यन्ते तव वैरिभिः ११ नैव पुत्रान्न च भ्रातृन्न पितृन्न च बान्धवान् । नैव शिष्यान्न च ज्ञातीन्न बालान् स्थविरान्न च ॥ १२॥ युधि सम्प्रहरिष्यन्तो मोक्ष्यन्ति कुरुसत्तम । निःस्नेहा दानवाविष्टाः समाक्रान्तेऽन्तरात्मनि ॥ १३ ॥ प्रहरिष्यन्ति विवशाः स्नेहमुत्सृज्य दूरतः । हृष्टाः पुरुषशार्दूलाः कलुषीकृतमानसाः । अविज्ञानविमूढाश्च दैवाच्च विधिनिर्म्मितात् ॥ १४ ॥ व्याभाषमाणाश्चान्योऽन्यं न मे जीवन् विमोक्ष्यसे । सर्वे शस्त्रास्त्रमोक्षेण पौरुषे समवस्थिताः

और भगदत्त आदि क्षत्रिय महाबली राजे दिव्यअस्त्रोंको जाननेवाले और शूर हैं,वे तेरे शत्रुओंका मारेंगे ॥ ९ ॥ अतः तेरा शोक करना निष्प्रयोजन है, क्योंकि–तुझै कोई डर नहीं है, और तेरी सहायता करनेके लिये शूरवीर दैत्य पृथ्वी पर उत्पन्न होगए हैं ॥ १० ॥ तैसे ही दूसरे दैत्य भी भीष्म द्रोण और कृपाचार्य आदिके शरीरोंमें प्रवेश करेंगे जिसके कारणसे वे दयाको छोड़कर तेरे वैरियोंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ११ ॥ हे कुरुसत्तम ! जब उनकी अन्तरात्माओंमें-दानव प्रवेश करेंगे तब स्नेहको छोड़ कर युद्धमें लड़नेको आयेहुए पुत्र, भाई पिता आदिको और सगे सम्बन्धी, शिष्य,जातिवाले,बालक और वुड्ढोंको भी वे नहीं छोड़ेगे किन्तु युद्धमें उनका संहार ही करने लगेंगे ॥ १२–१३ ॥ और पुरुषोंमें सिंहकी समान उन योधाओंके मन दैवयोगसे मलीन होजायंगे, वे अज्ञानसे मूढ़ होजायंगे और पराधीन हो स्नेहको दूरसे ही त्यागकर युद्धके हर्षमें भर कर परस्पर विरुद्ध बातें करतेहुए कहेंगे कि–मैं तुझै जीता छोड़नेवाला नहीं हूं, तैसे ही दूसरे हमारे सब पुरुषार्थी योधा जो प्रशंसाके पात्र हैं वे हे कुरुश्रेष्ठ ! शस्त्र तथा

॥ १५ ॥ श्लाघमानाः कुरुश्रेष्ठ करिष्यन्ति जनक्षयम् । तेऽपि पञ्च महात्मानः प्रतियोत्स्यन्ति पांडवाः ॥ १६ ॥ वधश्चैषां करिष्यन्ति दैवयुक्ता महाबलाः । दैत्यरक्षोगणाश्चैव सम्भूताः क्षत्रयोनिषु ॥ १७ ॥ योत्स्यन्ति युधि विक्रम्य शत्रुभिस्तव पार्थिव । गदाभिर्मुसलैः शूलैः शस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥ १८ ॥ यच्च तेऽन्तर्गतं वीर भयमर्जुनसम्भवम् । तत्रापि विहितोऽस्माभिर्वधोपायोऽर्जुनस्य वै ॥ १९ ॥ हतस्य नरकस्यात्मा कर्णमूर्तिमुपाश्रितः। तद्वैरं संस्मरन् वीर योत्स्यते केशवार्जुनौ ॥ २० ॥ स ते विक्रमशौण्डीरो रणे पार्थं विजेष्यति । कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः सर्वांश्चारीन्महारथः ॥ २१ ॥ ज्ञात्वैतच्छद्मना वज्री रक्षार्थं सव्यसाचिनः । कुंडले कवचञ्चैव कर्णस्यापहरिष्यति ॥ २२ ॥ तस्मादस्माभिरप्यत्र दैत्याः शतसहस्रशः । नियुक्ता राक्षसाश्चैव ये ते संशप्तका

अस्त्र मार कर मनुष्योंका संहार करेंगे तैसे ही महाबली महात्मा पांचों पाण्डव भी दैवकी प्रेरणासे हमारे सामने युद्ध करेंगे और हमारे पक्षके योधाओंका संहार करडालेंगे, और हे राजन् ! क्षत्रिय जातिमें उत्पन्न हुए दैत्य तथा राक्षस युद्धमें पराक्रम करके तेरे शत्रुओंसे अनेकों प्रकारकी छोटी बड़ी गदा शूल, मूसल तथा शस्त्रोंसे युद्ध करेंगे ॥ १४–१८ ॥ तैसे ही हे वीर ! तेरे मनमें जो अर्जुनकी धाक बैठगई है तिस विषयमें भी हमने अर्जुनको मारनेका उपाय खोज निकाला है ॥ १९ ॥ नरकासुर कृष्णके हाथसे मारागया था उसकी आत्माने कर्णके शरीरमें प्रवेश किया है और वह उस वैरको स्मरण करके श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके साथ लड़ेगा ॥ २० ॥ पराक्रम करनेमें कुशल, महायोधा और महारथी कर्ण, रणमें अर्जुनका तथा सब शत्रुओंका पराजय करेगा ।२१। यह बात इन्द्रको मालूम होने पर वह अर्जुनकी रक्षा करनेके लिये कपट करके कर्णके कुण्डल और कवच हरलेगा ॥ २२ ॥ इस लिये हमने भी सैंकड़ों और सहस्रों दैत्यों और राक्षसोंको इस

इति ॥ २३ ॥ प्रख्यातास्तेऽर्जुनं वीरं हनिष्यन्ति च मा शुचः । असपत्ना त्वया हीयं भोक्तव्या वसुधा नृप ॥ २४ ॥ मा विषादं गमस्तस्मान्नैतत्त्वय्युपपद्यते । विनष्टे त्वयि चास्माकं पक्षो हीयेत कौरव ॥ २५ ॥ गच्छ वीर न ते बुद्धिरन्या कार्या कथञ्चन । त्वमस्माकं गतिर्नित्यं देवतानां च पांडवाः ॥ २६ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एवमुक्त्वा परिष्वज्य दैत्यास्तं राजकुंजरम् । समाश्वास्य च दुर्धर्षं पुत्रवद्दानवर्षभाः ॥ २७ ॥ स्थिरां कृत्वा बुद्धिमस्य प्रियाण्युक्त्वा च भारत । गम्यतामित्यनुज्ञाय जयमाप्नुहि चेत्यथ ॥ २८ ॥ तैर्विसृष्टं महाबाहुं कृत्या सैवानयत् पुनः । तमेव देशं यत्रासौ तदा प्रायमुपाविशत् ॥ २९ ॥ प्रतिनिक्षिप्य तं वीरं कृत्या

कामके ऊपर नियत करदिया है, उन योधाओंका नाम संशप्तक है ॥ २३ ॥ वे प्रसिद्ध दैत्य शूरवीर अर्जुनका नाश करेंगे और हे राजन् ! तू इस शत्रुरहित पृथ्वी को भोग, शोक मत कर २४ हे कुरुवंशोत्पन्न ! तू खेद न कर, खेद करना तेरे योग्य नहीं है, तेरे विनाशसे हमारे पक्षका क्षय होजायगा ॥२५॥ अतः हे वीर! तू घरको जा, तू अपने मनमें और किसी प्रकारका भी विचार न कर, तू सदा हमारी गति है और पाण्डव देवताओंकी गति हैं ॥ २६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि-हे भरतवंशी राजन्! इसप्रकार राजाओंमें हाथीकी समान और दुराधर्ष दुर्योधनको उपदेश दिया और बड़े २ दैत्य तथा दानवोंने दुर्योधनको पुत्रकी समान आलिंगन करके शांत किया तथा मधुर वचन कहकर उसकी बुद्धिको सावधान किया और अन्तमें कहा कि हे भारत ! तू अपने घर जा तथा विजयको प्राप्तकर ॥ २७-२८ ॥ इस प्रकार जाने की आज्ञा होनेपर उसी कृत्या नामकी देवीने महाबाहु वीर दुर्योधनको उठाकर जहां वह उपवास करता था तहां ही पहुंचा दिया, उसको पृथ्वी पर छोड़ कर उसका सन्मान किया और

समभिपूज्य च । अनुज्ञाता च राज्ञा सा तथैवान्तरधीयत ॥ ३० ॥ गतायामथ तस्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा । स्वप्नभूतमिदं सर्वमचिन्तयंत भारत ॥ ३१ ॥ विजेष्यामि रणे पांडूनिति चास्याभवन् मतिः कर्णं संशप्तकांश्चैव पार्थस्यामित्रघातिनः ॥ ३२ ॥ अमन्यत वधे युक्तान् समर्थांश्च सुयोधनः । एवमाशा दृढा तस्य धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ३३ ॥ विनिर्जये पांडवानामभवद्भरतर्षभ । कर्णोऽप्याविष्टचित्तात्मा नरकस्यान्तरात्मना ॥ ३४ ॥ अर्जुनस्य वधे क्रूरां करोति स्म तदा मतिम् । संशप्तकाश्च ते वीरा राक्षसाविष्टचेतसः ॥ ३५ ॥ रजस्तमोभ्यामाक्रांताः फाल्गुनस्य वधैषिणः । भीष्मद्रोणकृपाद्याश्च दानवाक्रांतचेतसः ॥ ३६ ॥ न तथा पांडुपुत्राणां स्नेहवन्तो विशाम्पते । न चाचचक्षे कस्मैचिदेतद्राजा

तदनन्तर वह देवी राजा दुर्योधनकी आज्ञा लेकर एकसाथ अदृश्य होगई ॥ २६-३० ॥ हे भरतवंशी राजन्! उस कृत्याके चले जाने पर राजा दुर्योधन भी जागा और यह सब वृत्तान्त उसको स्वप्नकी समान प्रतीत हुआ ॥३१॥ और उसके मनमें यह विचार उठने लगा कि—मैं रणभूमिमें सबको हराऊँगा, फिर वह महासमर्थ अर्जुनका नाश करनेके लिये उद्यमी कर्णको तथा संशप्तक नामक दैत्योंकी सेनाको समर्थ माननेलगा और हे भरतवंशी राजन् ! दुर्बुद्धि दुर्योधनकी पाण्डवोंको जीतलेने की आशा दृढ होगई और नरकासुरकी अन्तरात्माने भी कर्णके शरीरमें प्रवेश किया ॥ ३२-३४ ॥ उस समय कर्ण भी अर्जुनको मारने के लिये क्रूर विचार करनेलगा, शूरवीर संशप्तक सेनाके मनमें भी राक्षसोंने प्रवेश किया तब वे रजोगुण तथा तमोगुणके वशमें होगए और अर्जुनके नाश करनेका विचार करनेलगे, तथा हे राजन् ! भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदिके मनमें भी दानवोंने प्रवेश किया इससे वे पहिले पाण्डुपुत्रोंके ऊपर जैसा स्नेह रखते थे वैसा स्नेह अब उनके चित्तसे दूर होगया, राजा

सुयोधन ॥ ३७ ॥ दुर्योधनं निशान्ते च कर्णो वैकर्त्तनोऽब्रवीत् । स्मयन्निवांजलिं कृत्वा पार्थिवं हेतुमद्वचः ॥ ३८ ॥ न मृतो जयते शत्रून् जीवन् भद्राणि पश्यति । मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवेय कुतो जयः ॥३६॥ न कालोऽद्य विपादस्य भयस्य मरणस्य वा । परिष्यज्याब्रवीच्चैनं भुजाभ्यां स महाभुजः ॥४०॥ उत्तिष्ठ राजन् किं शेपे कस्माच्छोचसि शत्रुहन् । शत्रून् प्रताप्य वीर्येण स कथं मृत्युमिच्छसि ॥ ४१ ॥ अथवा ते भयं जातं दृष्ट्वार्जुनपराक्रमम् । सत्यन्ते प्रतिजानामि वधिष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥४२॥ गते त्रयोदशे वर्पे सत्येनायुधमालभे । आनयिष्याम्यहं पार्थान् वशं तव जनाधिप ॥ ४३ ॥ एवमुक्तस्तु कर्णेन दैत्यानां वचनात्तथा प्रणिपातेन

दुर्योधन को यह सब बातें मालूम थीं परन्तु उसने किसी से यह बातें नहीं कहीं ॥ ३५-३७ ॥ दूसरे दिन प्रातःकालके समय सूर्यपुत्र कर्णने दुर्योधनके पास आकर दोनों हाथ जोड़कर हँसते हुए, हेतुभरे वचन कहे कि-॥ ३८ ॥ हे कुरुवंशी राजन् ! मराहुआ मनुष्य शत्रुको हरा नहीं सकता और सुख भी नहीं पासकता, परन्तु पुरुष जीता रहता है तो कल्याणोंको देखता (पाता) है, हे कुरुवंशी ! बताओ तो सही मरे हुए मनुष्य की कुशल कहां और वह विजय भी कैसे पावै ? ३६ अब खेदका, भयका अथवा मरणका समय नहीं है, इसप्रकार कह कर महाभुज कर्ण दुर्योधनको दोनों भुजाओंसे आलिंगन कर फिर कहनेलगा कि- हे शत्रुनाशी राजन् ! खड़े होजाओ, क्यों सो रहे हो ? और किस लिये शोक करते हो ? शत्रुओंको पराक्रमसे भय देकर फिर क्यों मरना चाहते हो ? क्या तुम अर्जुनका पराक्रम देखकर डरगए हो ? यदि ऐसा हो तो मैं तुम्हारे सामने सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूं कि- मैं युद्धमें अर्जुनको मार डालूंगा ४०-४२ हे नाथ ! सत्यकी सौगंध खाकर कहता हूं कि-तेरह वर्ष बीतने पर मैं आयुधोंको धारण करके पाण्डवोंको तुम्हारे वशमें करदूंगा ॥ ४३ ॥ इसप्रकार कर्णने कहा, तथा दैत्योंने भी कहा था, और

चाप्येपाख्दतिष्ठत् सुयोधनः ॥ ४४ ॥ दैत्यानां तद्वचः श्रुत्वा हृदि कृत्वा स्थिरां मतिम् । ततो मनुजशार्दूलो योजयामास वाहिनीम् ॥ ४५ ॥ रथनागाश्वकलिलां पदातिजन संकुलाम् । गंगौघप्रतिमा राजन् स प्रयाता महाचमूः ॥ ४६ ॥ श्वेतच्छत्रैः पताकाभिश्चामरैश्च सुपाण्डुरैः । रथैर्नागैः पदातैश्च शुशुभेऽतीवसंकुला ॥ ४७ ॥ व्यपेताभ्रघने काले द्यौरिवाव्यक्तशारदी । जयाशीर्भिर्द्विजेन्द्रैः स स्तूयमानोऽधिराजवत् ॥४८॥ गृह्णन्नञ्जलिमालाश्च धार्त्तराष्ट्रो जनाधिपः । सुयोधनो ययावग्रे श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ४९ ॥ कर्णेन सार्धं राजेन्द्र सौबलेन च देविना । दुःशासनादयश्चास्य भ्रातरः सर्व एवते ॥ ५० ॥ भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च वाह्लिकः ।

दुःशासन आदिने भी प्रणाम करके यही बात कही, इसकारण दुर्योधन उपवासको त्याग कर खडा होगया ॥ ४४ ॥ और दैत्योंके वचनोंका स्मरण करकै मनमें पक्का निश्चय करलिया कि- युद्ध अवश्य ही करना चाहिये, तदनन्तर पुरुषसिंह दुर्योधनने हाथी घोड़े तथा बहुतसे पैदलोंवाली सेनाको तयार कराया हे राजन् ! वह महासेना गंगाजीके प्रवाहकी समान चलनेलगी, उस समय बहुतसे श्वेत छत्रोंसे, पताकाओंसे, श्वेत चामरोंसे, रथोंसे, हाथियोंसे और पालकियोंसे भरीहुई वह महासेना अत्यन्त शोभित होरही थी ॥ ४५ ॥ ४७ ॥ मेघरहित शरद ऋतुमें जैसे आकाश स्वच्छ दीखता है तैसे ही वह सेना भी स्पष्ट दीखती थी, श्रेष्ठ ब्राह्मण अधिराजकी (युधिष्टिर की) समान ही दुर्योधनको भी आशीर्वाद देते थे, और उसकी स्तुति करते थे, उत्तम राज्यलक्ष्मीसे वह सुशोभित दीखता था और दूसरे राजाओं की दी हुई प्रणामाञ्जलि की मालाको स्वीकार करताहुआ आगेको चला जाता था ॥ ४८-४९ ॥ हे राजन् ! दुःशासन आदि उसके सब भाई, कर्ण और जुआ खेलनेवाले शकुनिके साथ सदा-

रथैर्नानाविधाकारैर्हयैर्गजवरैस्तथा ॥ ५० ॥ प्रयान्तं नृपसिंहन्तमनुजग्मुः कुरूद्वहाः । कालेनाल्पेन राजेंद्र स्वपुरं विविशुस्तदा ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनपुरप्रवेशे द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥

जनमेजय उवाच । वसमानेषु पार्थेषु वने तस्मिन्महात्मसु । धार्त्तराष्ट्रा महेष्वासाः किमकुर्वत सत्तमाः ॥ १ ॥ कर्णो वैकर्त्तनश्चैव शकुनिश्च महाबलः । भीष्मद्रोणकृपाश्चैव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ २ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवं गतेषु पार्थेषु विसृष्टे च सुयोधने । आगते हास्तिनपुरं मोक्षिते पाण्डुनन्दनैः ॥ ३ ॥ भीष्मोऽब्रवीन्महाराज धार्त्तराष्ट्रमिदं वचः । उक्तं तात यथा पूर्वं गच्छतस्ते तपोवनम् ।४।

रीमें साथ २ चलते थे ॥ ५० ॥ हे राजेन्द्र ! भूरिश्रवा, महाराज सोमदत्त और राजा वाल्हीक तथा दूसरे कुरुवंशी राजे भांति २ के घोड़ों पर रथोंमें तथा श्रेष्ठ हाथियों पर बैठकर हास्तिनापुरकी ओर चलदिये, राजसिंह राजा दुर्योधनके पीछे २ चलने लगे और थोड़े समयमें हस्तिनापुरमें पहुंच गए ॥ ५१–५२ ॥ दोसौ बावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ २५२ ॥ छ ॥ छ ॥

जनमेजयने बूझा कि–हे वैशम्पायन ! महात्मा पाण्डव जब द्वैतवनमें रहते थे तब महाधनुषधारी धृतराष्ट्रके पुत्रने सूर्यपुत्र कर्णने महाबली शकुनिने भीष्मने, द्रोणाचार्यने और कृपाचार्यने नगरमें रहकर क्या २ किया यह मुझसे कहो ॥ १–२ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—हे महाराज ! पाण्डव दुर्योधनको कैदमेंसे छुड़ानेके पीछे द्वैतवनमेंके अपने आश्रममें आगए और सुयोधन छूटकर हस्तिनापुरमें चला गया ॥ ३ ॥ इसप्रकार दुर्योधनके नगरमें आजाने पर भीष्मने उससे कहा कि–हे बेटा ! तू जब तपोवनको जानेके लिये उद्यत हुआ था तब पहिले ही मैंने तुझसे कहा था कि–तहां जानेसे अच्छा परिणाम न निकलेगा और हुआ भी तैसा ही ४

गमनं मे न रुचितं तत्र तत्र कृतश्च ते । ततः प्राप्तं त्वया वीर ग्रहणं शत्रुभिर्बलात् ॥ ५ ॥ मोक्षितश्चासि धर्मज्ञैः पाण्डवैर्न च लज्जसे प्रत्यक्षं तत्र गान्धारे ससैन्यस्य विशाम्पते ॥ ६ ॥ सूतपुत्रोऽपयाद्भीतो गन्धर्वाणां तदा रणात् । क्रोशतस्तत्र राजेंद्र ससैन्यस्य नृपात्मज ॥७॥ दृष्टस्ते विक्रमश्चैव पाण्डवानां महात्मनाम् । कर्णस्य च महाबाहो सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ८ ॥ न चापि पादभाक् कर्णः पाण्डवानां नृपोत्तम । धनुर्वेदे च शौर्ये च धर्मे वा धर्मवत्सल ॥९॥ तस्मादहं क्षमं मन्ये पांडवैस्तैर्महात्मभिः । सन्धिं सन्धिविदां श्रेष्ठ कुलास्यास्य विवृद्धये ॥ १० ॥ एवमुक्तश्च भीष्मेण धार्त्तराष्ट्रो जनेश्वरः । प्रहस्य सहसा राजन् विप्रतस्थे ससौबलः ॥ ११ ॥ तन्तु प्रस्थितमाज्ञाय कर्णदुःशासनादयः । अनुजग्मुर्महेष्वासा धार्त्त-

हे पुत्र ! तू तहां गया, यह मुझै अच्छा नहीं लगा था परन्तु हे वीर! तूने मेरा कहना नहीं माना और तू तहां गया तथा शत्रुओंने तुझ को जोरावरी कैद कर लिया, और धर्मज्ञ पाण्डवोंने तुझै बंधनमें से छुड़ाया तो भी तुझै लज्जा नहीं आती ? ॥ ५-६ ॥ हे गांधारी के पुत्र राजन् ! तेरे सामने तथा तेरी सेनाके सामने सूतपुत्र कर्ण गंधर्वोंसे डर कर रणभूमिमेंसे भागगया और हे राजेन्द्र ! तूने तथा तेरी सेनाने चिल्ली पुकार मचाई ॥ ७ ॥ उस समय महात्मा पांडवोंका पराक्रम और हे महाबाहो! दुष्टबुद्धि कर्णका पराक्रम भी तूने देखा ही होगा ॥ ८ ॥ हे नृपोत्तम ! हे धर्मवत्सल ! धनुर्वेदमें, शूरतामें और धर्ममें कर्ण, पाण्डवोंके एक चौथाई हिस्सेकी समान भी नहीं है, ॥ ९ ॥ अतः हे संधिको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! मैं अपने कुलकी बढ़ौतरीके लिये महात्मा पांडवोंके साथ मेल करलेना ही उचित समझता हूं ॥ १० ॥ हे राजन् ! इसप्रकार भीष्म दुर्योधन को उपदेश देनेलगे तब वह और शकुनि खूब हँसकर एकसाथ तहांसे उठकर चलेगए ॥ ११ ॥ और उनको जाता देख कर महा-धनुर्धर कर्ण तथा दुःशासन आदि महाबली वीर पुरुष भी उनके

राष्ट्रं महाबलम् ॥ १२ ॥ तांस्तु सम्प्रस्थितान् दृष्ट्वा भीष्मः कुरुपितामहः । लज्जया व्रीडितो राजन् जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १३ ॥ गते भीष्मे महाराज धार्त्तराष्ट्रो जनेश्वरः । पुनरागम्य तं देशममन्त्रयत मन्त्रिभिः ॥ १४ ॥ किमस्माकं भवेच्छ्रेयः किं कार्यमवशिष्यते । कथं च सुकृतं तत् स्यान्मन्त्रयामोऽद्य यद्धितम् ॥ १५ ॥ कर्ण उवाच । दुर्योधन निबोधेदं यत्त्वां वक्ष्यामि कौरव। भीष्मोऽस्मान्निन्दति सदा पाण्डवांश्च प्रशंसति ॥ १६ ॥ त्वद्द्वेषाच्च महाबाहो ममापि द्वेष्टुमर्हति । विगर्हते च मां नित्यं त्वत्समीपे नरेश्वर ॥ १७ ॥ सोऽहं भीष्मवचस्तद्वै न मृष्यामीह भारत । त्वत्समक्षं यदुक्तश्च भीष्मेणामित्रकर्षण ॥ १८ ॥ पांडवानां यशो

पीछे २ चले गए ॥ १२ ॥ हे राजन् ! वें उपदेशको न सुनकर चलेगए, यह देख कर कुरुकुलके पितामह भीष्मजी लज्जित हुए और मस्तकको नीचा करके विचार करनेलगे कि—अरे मैंने इनको उपदेश क्यों दिया ? इसप्रकार मनमें विचार करते हुए वह भी अपने घरको गए ॥ १३ ॥ भीष्म पितामहके चलेजाने पर हे महाराज ! धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन फिर तहां ही आकर मंत्रियोंके साथ विचार करनेलगा कि—॥ १४ ॥ हमारा हित कैसे हो ? अब हमैं क्या करना चाहिये ? और क्या करनेसे हमारा कल्याण होगा ? इसका हमैं आज विचार करना चाहिये ॥ १५ ॥ उस समय कर्ण कहनेलगा कि—हे कुरुवंशी दुर्योधन ! जो बात मैं तुमसे कहता हूं उसे तुम सुनो, यह भीष्म सदा हमारी निन्दा करते हैं और पांडवोंकी प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥ हे महाभुज ! ये तुम्हारे ऊपर द्वेष होनेसे मुझसे भी द्वेष रखते हैं, और हे राजन् ! तुम्हारे सामने ये सदा मेरी निन्दा किया करते हैं ॥ १७ ॥ सो हे भारत ! मैं भीष्मकी निंदाको नहीं सहूंगा हे शत्रुमर्दन ! तुम्हारे सामने ही भीष्मने पाण्डवोंकी प्रशंसा और तुम्हारी निंदाकी है, अतः तुम

राजंस्तव निन्दाञ्च भारत । अनुजानीहि मां राजन् सभृत्यबल-वाहनम् ॥ १९ ॥ जेष्यामि पृथिवीं राजन् सशैलवनकाननाम् । जिता च पाण्डवैर्भूमिश्चतुर्भिर्बलशालिभिः ॥ २० ॥ तामहन्ते विजेष्यामि एक एव न संशयः । सम्पश्यतु स दुर्बुद्धिर्भीष्मः कुरुकुलाधमः ॥ २१ ॥ अनिन्द्यं निन्दते यो हि अप्रशंस्यं प्रशंसति । स पश्यतु बलं मेऽद्य आत्मानन्तु विगर्हतु ॥ २२ ॥ अनुजानीहि मां राजन् ध्रुवो हि विजयस्तव । प्रतिजानामि ते सत्यं राजन्नायुधमालभे ॥ २३ ॥ तच्छ्रुत्वा तु वचो राजन् कर्णस्य भरतर्षभ । प्रीत्या परमया युक्तः कर्णमाह नराधिपः ॥ २४ ॥ धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे त्वं महाबलः । हितेषु वर्त्तसे नित्यं सफलं जन्म चाद्य मे ॥ २५ ॥ यदा च मन्यसे वीर सर्वशत्रुनि-

---

मुझे सेवक, सेना तथा वाहन दो और विजय करनेकी आज्ञा दो तब वन, पर्वत, तथा बड़े २ जंगलोंवाली जिस पृथ्वीको चार महाबली पाण्डवोंने जीता था उसे मैं अकेला ही जीतूँगा, इसमें तुम सन्देह न करो और मेरे उस विजयके कामको कुरुकुलमें अधम दुष्टबुद्धि भीष्म देखे ॥ १८-२१ ॥ जो भीष्म निन्दा न करने योग्यकी निन्दा करता है, और निन्दा करनेयोग्यकी प्रशंसा करता है वह मेरे महाबलको देखे और अपनी निन्दा करै ॥२२॥ हे राजन् मुझे आज्ञा दो, तुम्हारी विजय अवश्य होगी, इस बातकी हे राजन्! मैं तुमसे अपने शस्त्रोंकी शपथ खाकर सत्य प्रतिज्ञा करता हूं ॥ २३ ॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन्! कर्णके ऐसे वचनोंको सुन कर राजा दुर्योधन परम प्रेमपूर्वक कर्णसे बोला कि—॥ २४ ॥ हे महाबली! तुम मेरा हित करनेके लिये सदा उद्यत रहते हो, यह मेरा बड़ाभारी प्रारब्ध है, और तुम्हारा मेरे ऊपर अनुग्रह है, तथा आज मेरा जन्म सफल होगया ॥ २५ ॥ हे वीर तुम्हारा कल्याण हो! यदि तुम्हें यह निश्चय हो कि—सब शत्रुओंका नाश

वर्हणम्। तदा निर्गच्छ भद्रन्ते ह्यनुशाधि च मामिति ॥ २६ ॥ एवमुक्तस्तदा कर्णो धार्त्तराष्ट्रेण धीमता। सर्वमाज्ञापयामास प्रायात्रिकमरिन्दम ॥ २७ ॥ प्रययौ च महेष्वासो नक्षत्रे शुभदैवते। शुभे तिथौ मुहूर्त्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २८ ॥ मङ्गलैश्च शुभैः स्नातो वाग्भिश्चापि प्रपूजितः। नादयन् रथघोषेण त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५३ ॥

वैशम्पायन उवाच। ततः कर्णो महेष्वासो बलेन महता वृतः। द्रुपदस्य पुरं रम्यं रुरोध भरतर्षभ ॥ १ ॥ युद्धेन महता चैनं चक्रे वीरं वशानुगम्। सुवर्णं रजतञ्चापि रत्नानि विविधानि च ॥ २ ॥

करडालूंगा तो विजय करनेके लिये जाओ और मेरे मनको शांति दो ॥ २६ ॥ इसप्रकार बुद्धिमान् दुर्योधनने कर्णसे कहा तब हे अरिदमन! कर्णने युद्धमें काममें आनेवाली सब वस्तुओंको तयार करनेकी आज्ञा दी ॥ २७ ॥ और फिर शुभ देवतावाले नक्षत्रमें शुभ तिथिमें, और शुभ मुहूर्तमें सुन्दर मांगलिक पदार्थोंके द्वारा महाधनुर्धर कर्णने मंगलस्नान किया, उस समय ब्राह्मणोंने तथा अन्य मनुष्योंने आशीर्वादभरी वाणियोंसे तथा साधारण वाणियोंसे कर्णको आशीर्वाद दिया और उसका सत्कार किया, तदनन्तर कर्ण रथमें बैठ कर उस रथके घोषसे स्थावर जंगमरूप तीनों लोकोंको गुंजारता हुआ विजय करनेके लिये चलदिया ॥ २८—२९ ॥ दो सौ तिरेपनवां अध्याय समाप्त ॥ २५३ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे भरतवंशश्रेष्ठ जनमेजय! तदनन्तर महाधनुर्धारी कर्णने बडी भारी सेनाके साथ जाकर पहिले राजा द्रुपदके रमणीय नगर को घेर लिया ॥१॥ और बड़ाभारी युद्ध करके इस वीर राजाको अपने वशमें करलिया तथा कररूपसे उससे सोना,चांदी और नाना प्रकारके रत्न लिये,और उसके

करञ्च दापयामास पदं नृपसत्तम । तं विनिर्ज्जित्य राजेन्द्र रा-
जानस्तस्य येऽनुगाः ॥ ३ ॥ तान् सर्वान् वशगांश्चक्रे करञ्चैनान-
दापयत् । अथोत्तरां दिशं गत्वा वशे चक्रे नराधिपान् ॥ ४ ॥
भगदत्तञ्च निर्जित्य राधेयो गिरिमारुहत् । हिमवन्तं महाशैलं
युध्यमानश्च शत्रुभिः ॥ ५ ॥ प्रययौ च दिशः सर्वान्नृपतीन् वशा-
मानयत् । स हैमवतिकान् जित्वा करं सर्वानदापयत् ॥ ६ ॥
नैपालविषये ये च राजानस्तानवाजयत् । अवतीर्य्य ततः शैलात्
पूर्वां दिशमभिद्रुतः ॥ ७ ॥ अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च शुण्डिकान्
मिथिलानथ । मागधान् कर्कखण्डांश्च निवेश्य विषयेत्मनः ॥ ८ ॥
आवशीरांश्च योध्यांश्च अहिच्छत्रञ्च निर्जयत् । पूर्वां दिशं विनि-
र्ज्जित्य वत्सभूमिं तथागमत् ॥ ९ ॥ वत्सभूमिं विनिर्ज्जित्य केवलां

अधीन रहनेवाले सब राजाओंको वशमें किया तथा उनसे भी
कर लिया । तदनन्तर तहाँसे चलकर उत्तर दिशामें गया और
तहाँके राजाओंको भी जीता ॥२-४॥ तदनन्तर भगदत्तको जीता
और शत्रुओंके साथ लडता हुआ राधापुत्र कर्ण हिमाचल नामक
महापर्वत पर चढ़ा और तहांके राजाको भी युद्ध करके वशमें कर-
लिया ॥ ५ तहांसे चलकर वह दूसरी दिशाओंमें गया और
हिमाचलके आसपास के सब राजाओंको तथा अन्य राजाओंका
जीतकर वशमें किया और उनसे कर लिया । ६ । तदनन्तर उसने
नैपाल देशमें राज्य करनेवाले राजाओंको जीता और कर लिया
तदनंतर वह पर्वतोंके ऊपरसे उतर कर पूर्वदिशाकी ओरको चला
॥ ७ ॥ और उस दिशामेंके अंग, वंग, कलिंग, शुंडिक, मिथिला,
मागध, कर्कखंड आदि देशोंको अपने वशमें किया ॥ ८ ॥ तद-
नंतर आवशीर, योध्य, और अहिच्छत्र नामके देशोंको भी जीत-
कर अपने अधीन करलिया, इसप्रकार पूर्वदिशाको जीतकर वह
वत्सभूमिको जीतनेके लिये चला ॥ ९ ॥ वत्सभूमिके राजाको

मृत्तिकावतीम् । मोहनं पत्तनञ्चैव त्रिपुरीं कोशलां तथा ॥ १० ॥ एतान् सर्वान् विनिर्जित्य करमादाय सर्वशः । दक्षिणां दिशमास्थाय कर्णो जित्वा महारथान् ॥ ११ ॥ रुक्मिणं दाक्षिणात्येषु योधयामास सूतजः । स युद्धन्तुमुलं कृत्वा रुक्मी प्रोवाच सूतजम् ॥ १२ ॥ प्रीतोऽस्मि तव राजेन्द्र विक्रमेण बलेन च । न ते विघ्नं करिष्यामि प्रतिज्ञां समपालयम् ॥ १३ ॥ प्रीत्या चाहं प्रयच्छामि हिरण्यं यावदिच्छसि । समेत्य रुक्मिणा कर्णः पाण्ड्यं शैलञ्च सोऽगमत् ॥ १४ ॥ स केरलं रणे चैव नीलञ्चापि महीपतिम् । वेणुदारिसुतञ्चैव ये चान्ये नृपसत्तमाः ॥ १५ ॥ दक्षिणस्यान्दिशि नृपान् करान् सर्वानदापयत् । शैशुपालिं ततो गत्वा विजिग्ये सूतनन्दनः ॥ १६ ॥ पार्श्वस्थांश्चापि नृपतीन् वशे चक्रे महाबलः

हराकर उसने केवल, मृत्तिकावती, मोहन, पत्तन, त्रिपुरा तथा कोशला आदि इन सब-देशोंके राजाओंको जीता और उनको कर देनेवाला बनाया, तदनन्तर कर्ण दक्षिण दिशाकी ओर को गया और तहाँके महारथी राजाओंको हराया, तदनन्तर दक्षिणके राजाओंमेंसे कर्णने रुक्मीके साथ युद्ध किया, दोनोंमें घोर युद्ध चल रहा था, उस समय रुक्मीने कर्णसे कहा कि— ॥१०-१२॥ हे राजेन्द्र ! मैं तुम्हारे बल और पराक्रमको देखकर प्रसन्न हुआ हूं, अतः मैं तुमारे काममें विघ्न करना नहीं चाहता, किन्तु मैंने क्षत्रियधर्मकी प्रतिज्ञाको पालन किया है ॥१३॥ और अब मैं प्रसन्न होकर तुम्हारी इच्छानुसार जितना चाहो उतना सोना दूं, इसप्रकार कह कर रुक्मीने कर्ण को कर दिया था, तदनन्तर कर्ण रुक्मीसे मिलकर पांड्यदेश तथा श्रीशैलकी ओर चला और उसने रणभूमिमें युद्ध करके केरल तथा नील नाम के राजाओंको हराया और दक्षिण दिशा में दूसरे जो २ बड़े२ राजे रहते थे उनको हराकर कर देनेवाला बनाया, तहांसे आगे बढ़कर महारथी कर्णने शिशुपालके पुत्रको हराया ॥ १४-१६ ॥

आवन्त्यांश्च वशे कृत्वा साम्ना च भरतर्षभ । वृष्णिभिः सह सङ्गम्य पश्चिमामपि निर्ज्जयत् ॥ १७ ॥ वारुणीं दिशमागम्य यावनान् वर्वरांस्तथा । नृपान् पश्चिमभूमिस्थान् दापयामास वै करान् ॥ १८ ॥ विजित्य पृथिवीं सर्वां सपूर्वापरदक्षिणाम् । सम्लेच्छाटविकान् वीरः सपर्वतनिवासिनः ॥ १९ ॥ भद्रान् रोहितकांश्चैव आग्नेयान्मालवानपि । गणान् सर्वान विनिर्ज्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव ॥ २० ॥ शशकान् यवनांश्चैव विजिग्ये सूतनन्दनः नग्नजित्प्रमुखांश्चैव गणान् जित्वा महारथान् ॥ २१ ॥ एवं स पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महारथः । विजित्य पुरुषव्याघ्रो नागसाह्वयमागमत् ॥ २२ ॥ तमागतं महेष्वासं धार्त्तराष्ट्रो जनाधिपः ।

तथा उसके समीपमें रहनेवाले सब राजाओंको भी महाबली कर्ण ने हराया और उन सबोंको अपने वशमें किया, हे भरतवंशश्रेष्ठ! तहाँ से बढ़कर उसने अवन्तिदेशके राजाओंको सामके उपायसे अपने वशमें किया, तदनन्तर वृष्णिवंशके राजाओंसे मिलकर पश्चिम दिशाको भी अपने वशमें करलिया ॥ १७ ॥ तहांसे आगे बढ़कर पराक्रमी और विनेता कर्णने वरुणकी दिशामें चढ़ाई करके उन को करद बनालिया इसप्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण पृथ्वी के सब भागोंको उसने जीतलिया और पश्चिमकी भूमिमें रहनेवाले यवन और वर्वरोंको उसने करद बनाया तदनन्तर म्लेछ आटविक और पहाड़ियों सहित भद्र, रोहितक आग्नेय और मालव आदि सब महारथियोंको हँसते २ जीतलिया, तदनन्तर नग्नजित् आदि सकल महारथियोंका पराजय करके शशक और यवन आदि राजाओंको भी उसने हराया ॥ १८–२१ ॥ इस प्रकार महारथी और पुरुषव्याघ्र कर्ण सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने वशमें करके हस्तिनापुरमें आया ॥२२॥ हे महाराज ! महाधनुर्धारी कर्णको आयाहुआ सुनकर दुर्योधन अपने भाई चाचा और

प्रत्युद्गम्य महाराज सभ्रातृपितृबान्धवः ॥ २३ ॥ अर्चयामास विधिना कर्णमाहवशोभिनम् । आश्रावयच्च तत्कर्म प्रीयमाणो जनेश्वरः ॥२४॥ यन्न भीष्मान्न च द्रोणान्न कृपान्न च वाह्लिकात् । प्राप्तवानस्मि भद्रन्ते त्वत्तः प्राप्तं मया हि तत् ॥ २५ ॥ वहुना च किमुक्तेन शृणु कर्ण वचो मम । सनाथोऽस्मि महावाहो त्वया नाथेन सत्तम ॥२६॥ न हि ते पाण्डवाः सर्वे कलामर्हन्ति षोडशीम् । अन्ये वा पुरुषव्याघ्र राजानोऽभ्युदितोदिताः ॥ २७ ॥ स भवान् धृतराष्ट्रं तं गान्धारीञ्च यशस्विनीम् । पश्य कर्ण महेष्वास अदितिं वज्रभृद्यथा ॥ २८ ॥ ततो हलहलाशब्दः प्रादुरासीद्विशाम्पते । हाहाकाराश्च वहवो नगरे नागसाह्वये ॥२९॥ केचिदेनं प्रशंसन्ति

बन्धुओं सहित उसके पास आया और युद्धमें शोभा पानेवाले कर्ण का विधिपूर्वक सत्कार किया और उसके ऊपर प्रसन्न होकर उसके दिग्विजयके चरित्रको सुना तदनन्तर सब सुनें, इसप्रकार दुर्योधन बोला कि—॥ २३–२४ ॥ हे कर्ण! जो श्रेष्ठ फल मुझे भीष्मसे नहीं मिला, द्रोणाचार्यसे नहीं मिला, कृपाचार्यसे नहीं मिला और बाह्लीकसे भी नहीं मिला वह श्रेष्ठ कार्य करनेवाला फल मैंने तुझसे पाया है ॥२५॥ हे कर्ण! अधिक कहनेसे क्या लाभ है? मैं जो बात कहता हूं उसे तू सुन हे सत्तम ! हे महाबाहो! मुझे एक तेरा ही भरोसा है और मैं एक तुझसे ही सनाथ हूं ॥ २६ ॥ हे पुरुषव्याघ्र ! सब पांडव तथा अन्य बड़े २ राजे, तेरे सोलहवें अंशके भी बराबर नहीं हैं, हे महाधनुर्धारी कर्ण ! वज्रधारी इन्द्र विजय करके जैसे अदितिके दर्शन करता है तिसीप्रकार तू भी धृतराष्ट्रके तथा गांधारीके दर्शन कर ॥ २७–२८ ॥ हे राजन् ! उस समय हस्तिनापुरमें चारों ओर होहो, और हाहा शब्द होनेलगा ॥२९॥ हे राजन् ! कुछ कर्णकी प्रशंसा करनेलगे उस समय पाण्डवोंका पक्ष करनेवाले कुछ लोग कर्णकी निंदा भी करनेलगे और बहुतसे

निन्दन्ति स्म तथापरे । तूष्णीमासंस्तथा चान्ये नृपास्तत्र जनाधिप ॥ ३० ॥ एवं विजित्य राजेंद्र कर्णः शस्त्रभृताम्वरः । सपर्वतवनाकाशां ससमुद्रां सनिष्कुटाम् ॥ ३१ ॥ देशैरुच्चावचैः पूर्णां पत्तनैर्नगरैरपि । द्वीपैश्चानूपसम्पूर्णैः पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ३२ ॥ कालेन नातिदीर्घेण वशे कृत्वा तु पार्थिवान् । अक्षयं धनमादाय सूतजो नृपमभ्ययात् ॥ ३३ ॥ प्रविश्य च गृहं राजन्नभ्यन्तरमरिन्दम । गान्धारीसहितं वीरो धृतराष्ट्रं ददर्श सः ॥ ३४ ॥ पुत्रवच्च नरव्याघ्र पादौ जग्राह धर्मवित् । धृतराष्ट्रेण चाश्लिष्य प्रेम्णा चापि विसर्जितः॥३५॥ तदाप्रभृति राजा च शकुनिश्चापि सौबलः । जानते निर्जितान् पार्थान् कर्णेन युधि भारत ॥३६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५४॥

समीपमें बैठेहुए राजाओंने मौन धारण करलिया।३०। हे पृथ्वीपति राजेन्द्र ! शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र कर्णने पर्वत, वन, क्षेत्र, समुद्र, वगीचे, छोटे बड़े देश, जिले, नगर, चारों ओरसे पानीसे भरेहुए द्वीप, आदि अनेकों देशोंसे भरपूर पृथ्वीको तथा सब राजाओंको थोड़े समयमें ही अपने अधीन करलिया और उनसे अखंड धन करकी रीतिपर लेकर सूतपुत्र कर्ण दुर्योधनके पास आगया ॥३१—३३॥ तदनन्तर हे अरिंदमन ! उस शूर कर्णने अन्तःपुरमें जाकर गांधारी और धृतराष्ट्रके दर्शन किये॥ ३४ ॥ और हे नरव्याघ्र ! धर्मवेत्ता कर्णने पुत्रकी समान धृतराष्ट्रके चरणोंको दोनों हाथसे पकडकर उनको प्रणाम किया, राजा धृतराष्ट्रने भी उसको छातीसे लगाया और फिर घरको जानेकी आज्ञा दी॥३५॥तब कर्ण अपने घरको गया, हे भरतवंशी राजन् ! उस दिनसे दुर्योधन तथा सुवलपुत्र शकुनि मनमें यह मानने लगे कि-कर्ण युद्धमें पांडवोंको हरादेगा ॥ ३६ ॥ दोसौ चौअनवाँ अध्याय समाप्त ॥२५४॥ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन उवाच । जित्वा तु पृथिवीं राजन् सूतपुत्रो जनाधिप । अब्रवीत् परवीरघ्नो दुर्योधनमिदं वचः ॥१॥ कर्ण उवाच ॥ दुर्योधन निबोधेदं यत्त्वां वक्ष्यामि कौरव । श्रुत्वा वाचं तथा सर्वं कर्त्तु मर्हस्यरिन्दम ॥ २ ॥ तवाद्य पृथिवी वीर निःसपत्ना नृपोत्तम । तां पालय यथा शक्रो हतशत्रुर्महामनाः ॥ ३ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तस्तु कर्णेन कर्णं राजाब्रवीत् पुनः । न किञ्चिद्दुर्लभं तस्य यस्य त्वं पुरुषर्षभ ॥४॥ सहायश्चानुरक्तश्च मदर्थञ्च समुद्यतः । अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तं वै शृणु यथातथम् ॥५॥ राजसूयं पांडवस्य दृष्ट्वा क्रतुवरं महत् । मम स्पृहा समुत्पन्ना तां सम्पादय सूतज ॥६॥ एवमुक्तस्ततः कर्णो राजानमिदमब्रवीत् । तवाद्य पृथिवीपाला

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! शूर शत्रुओंका नाश करनेवाला सूतपुत्र कर्ण पृथ्वीको जीतनेके अनन्तर एक दिन दुर्योधनसे इसप्रकार कहने लगा ॥ १ ॥ कर्ण बोला कि—हे कुरुपुत्र दुर्योधन ! मैं तुमसे जो कहता हूं उसे तुम सुनो और सुननेके पीछे हे अरिंदमन ! तुम्हें वह सब करना योग्य हो तो करो ॥ २ ॥ हे वीर राजेंद्र ! मैंने तुमको आज शत्रुशून्य पृथ्वी सौंपदी है अतः अब तुम शत्रशून्य उदारमनवाला इन्द्र जैसे स्वर्गकी रक्षा करता है तैसे ही इस पृथ्वीका पालन करो ॥ ३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार कर्णने कहा—तब राजा दुर्योधनने फिर उससे कहा कि—हे पुरुषश्रेष्ठ ! तू जिसकी ओर है उसे कोई भी वस्तु मिलना कठिन नहीं है ॥ ४ ॥ तू मेरा सहायक तथा प्यारा भाई है और मेरे लिये सदा तयार रहता है, परन्तु मेरा एक विचार है तू उसे पूरा २ सुन ॥ ५ ॥ हे सूतपुत्र ! पाण्डवों ने राजसूय नामक महायज्ञ किया था, यह देखकर मुझे भी राजसूय यज्ञ करनेकी इच्छा हुई है, उसे तू पूरी कर ॥ ६ ॥ इसप्रकार कर्णसे कहा तब कर्ण दुर्योधनसे कहनेलगा कि—हे राजन् !

वश्याः सर्वे नृपोत्तम ॥ ७ ॥ आहूयन्तां द्विजवराः सम्भारश्च यथाविधि । संभ्रियन्तां कुरुश्रेष्ठ यज्ञोपकरणानि च ॥ ८ ॥ ऋत्विजश्च समाहूता यथोक्ता वेदपारगाः । क्रियां कुर्वन्तु ते राजन् यथाशास्त्रमरिन्दम ॥ ९ ॥ बह्वन्नपानसंयुक्तः सुसमृद्धगुणान्वितः प्रवर्त्ततां महायज्ञस्तवापि भरतर्षभ ॥ १० ॥ एवमुक्तस्तु कर्णेन धार्त्तराष्ट्रो विशाम्पते । पुरोहितं समानाय्य वचनं चेदमब्रवीत् ११ राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं समाप्तवरदक्षिणम् । आहर त्वं मम कृते यथान्यायं यथाक्रमम् ॥ १२ ॥ स एवमुक्तो नृपतिमुवाच द्विजसत्तमः । न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जावमाने युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥ आहर्त्तुं कौरवश्रेष्ठ कुले तव नृपोत्तम । दीर्घायुर्जीवति च ते धृतराष्ट्रः पिता

आजकल सब राजे तुम्हारे अधीन है ॥ ७ ॥ अतः हे कुरुश्रेष्ठ ! तुम ब्राह्मणोंका निमंत्रण भेजकर बुलवाओ, शास्त्रके अनुसार यज्ञ की सब सामग्री तयार कराओ तथा हे कुरुश्रेष्ठ! यज्ञमें उपयोगी सब सामान इकट्ठे करवाओ ॥ ८ ॥ और हे अरिदमन ! शास्त्रमें कहेहुए वेदपारंगत ऋत्विजोंको बुलाओ तब वे शास्त्रमें कहे अनुसार यज्ञकी क्रियाएं करवानेका आरम्भ करें ॥ ९ ॥ हे भरतवंश श्रेष्ठ ! तुम्हारा महासमृद्धियुक्त श्रेष्ठ यज्ञ भी प्रारम्भ होय और लोग उसमें बहुतसे खाने पीनेके पदार्थ पावें ॥ १० ॥ हे पृथ्वी पते ! इसप्रकार कर्णने कहा तब दुर्योधनने सम्मान पूर्वक पुरोहितको बुलवाकर इस प्रकार कहा कि-॥ ११ ॥ हे पुरोहितजी ! तुम मेरी ओरसे क्रमसे यथोचित रीति पर राजसूय नामके महा यज्ञका आरम्भ करो उसके पूर्ण होने पर श्रेष्ठ दक्षिणाएं मैं तुम्हें दूँगा ॥ १२ ॥ इस प्रकार ब्राह्मणश्रेष्ठ पुरोहितसे कहा तब उसने राजासे कहा कि – हे कौरवश्रेष्ठ! जबतक राजा युधिष्ठिर जीतेहैं तब तक तुम राजसूय यज्ञ नहीं करसकते तैसे ही हे श्रेष्ठ राजन् ! जबतक तुम्हारे कुलमें दीर्घायु तुम्हारे पिता धृतराष्ट्र विद्यमान हैं

नृप ॥ १४ ॥ अतश्चापि विरुद्धस्ते क्रतुरेष नृपोत्तम। अस्ति त्वन्य-न्महत्सत्रं राजसूयसमं प्रभो ॥ १५ ॥ तेन त्वं यज राजेन्द्र शृणु चेदं वचो मम। य इमे पृथिवीपालाः करदास्तव पार्थिव ॥ १६ ॥ ते करान् संप्रयच्छन्तु सुवर्णञ्च कृताकृतम्। तेन ते क्रियतामद्य लाङ्गलं नृपसत्तम ॥ १७ ॥ यज्ञवाटस्य ते भूमिः कृष्यतां तेन भारत। तत्र यज्ञो नृपश्रेष्ठ प्रभूतान्नसुसंस्कृतः ॥ १८ ॥ प्रवर्त्ततां यथान्यायं सर्वतो ह्यनिवारितः। एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पु-रुषोचितः ॥ १९ ॥ एतेन नेष्टवान् कश्चिदृते विष्णुं पुरातनम्। राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं स्पर्द्धत्येष महाक्रतुः ॥ २० ॥ अस्माकं रोचते चैव श्रेयश्च तव भारत। निर्विघ्नश्च भवत्येष सफला स्यात् स्पृहा तव ॥ २१ ॥ एवमुक्तस्तु तैर्विप्रैर्धार्त्तराष्ट्रो महीपतिः। कर्णञ्च

तबतक हे नृपोत्तम! तुम राजसूय यज्ञ नहीं करसकते परन्तु हे प्रभो! राजसूयकी समान ही एक दूसरा यज्ञ है हे राजेंद्र! उस यज्ञसे तुम परमात्माकी आराधना करो और मेरी इस बातको ध्यान में रक्खो. हे राजन्! तुम्हें कर देनेवाले जो राजा हैं, वे तुम्हें कर दें और सोनेके गहने तथा सोना दें उस सोनेमेंसे तुम आज ही एक हल बनवाओ और हे भारत! उससे यज्ञ करनेकी भूमिको जोत कर तयार करो और तहां बहुत से अन्नवाला तथा श्रेष्ठ संस्कारवाला वैष्णव नामक यज्ञ शास्त्र के अनुसार तथा नीतिके अनुसार निर्विघ्नताके साथ आरम्भ करो उसमें लोगों को बहुतसा दान दो यह वैष्णव यज्ञ (विष्णु-याग) सत्पुरुषोंके करने योग्य है ॥ १३–१९ ॥ इसे सिवाय विष्णुके पहिले और किसीने नहीं किया है और यह महायज्ञ यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूय यज्ञके साथ स्पर्धा करता है ॥ २० ॥ हे भरतवंशी राजन्! हमें इस यज्ञके ऊपर रुचि है और इसमें तुम्हारा हित भराहुआ है। इस यज्ञको तुम निर्विघ्नरीतिसे करोगे और इससे तुम्हारी इच्छा भी सफल होगी ॥ २१ ॥ इसप्रकार उन

सौबलश्चैव भ्रातृंश्च वेदमब्रवीत् ॥२२॥ रोचते मे वचः कृत्स्नं ब्राह्मणानां न संशयः । रोचते यदि युष्माकं तस्मात् प्रब्रूत मा चिरम् २३ एवमुक्तास्तु ते सर्वे तथेत्यूचुर्नराधिपम् । सन्दिदेश ततो राजा व्यापारस्थान् यथाक्रमम् ॥ २४ ॥ हलस्य करणे चापि व्यादिष्टाः सर्वशिल्पिनः । यथोक्तञ्च नृपश्रेष्ठ कृतं सर्वं यथाक्रमम् ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञसमारम्भे पंचपंचाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततस्तु शिल्पिनः सर्वे अमात्यप्रवराश्च ये। विदुरश्च महाप्राज्ञो धार्त्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥१। सज्जं क्रतुवरं राजन् कालप्राप्तञ्च भारत । सौवर्णञ्च कृतं सर्वं लाङ्गलञ्च महाधनम् ॥२॥ एतच्छ्रुत्वा नृपश्रेष्ठो धार्त्तराष्ट्रो विशाम्पते । आज्ञापयामास

ऋत्विजोंने कहा तब दुर्योधनने कर्ण और शकुनिसे तथा भाइयों से इसप्रकार कहा कि-॥ २२ ॥ मुझै ब्राह्मणोंका कहना अच्छा लगता है इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु यदि तुम्हें भी रुचता हो तो मुझै उत्तर दो, विलंब मत करो ॥ २३ ॥ यह सुनकर सबोंने राजासे कहा कि-आपका कहना हम मानते हैं तदनन्तर हे नृपश्रेष्ठ राजाने शिल्पियों को क्रमसे यज्ञकी सामग्रियें तयार करनेकी आज्ञा दी ॥ २४ ॥ तथा हे नृपोत्तम! सोंनेका हल बनानेके लिये भी सब कारीगरोंको आज्ञा दी, ज्यों ही राजा दुर्योधनने आज्ञा दी त्यों ही कारीगरोंने सब वस्तुएं क्रमसे तयार करदीं ॥ २५ ॥ दौसौ पचवनवां अध्याय समाप्त ॥ २५५ ॥ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय! यज्ञकी सब सामग्रियें तयार होजाने पर सब शिल्पियोंने, उसके श्रेष्ठ २ मंत्रियोंने तथा महाबुद्धिमान् विदुरने दुर्योधनको जताया कि-॥१॥ हे महाराज! यज्ञकी सब सामग्रियें तैयार हैं सोनेका हल भी तैयार होगया है और यज्ञ करनेके लिये नियत कियाहुआ समय भी आगया है अतः अब क्या आज्ञा है ?॥२॥ हे राजन्! यह सुनकर राजाओं

नृपः क्रतुराजप्रवर्त्तनम् ॥ ३ ॥ ततः प्रवृत्ते यज्ञः प्रभूतार्थः सुसंस्कृतः । दीक्षितश्चापि गान्धारिर्यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ॥४॥ प्रहृष्टो धृतराष्ट्रश्च विदुरश्च महायशाः। भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णो गान्धारी च यशस्विनी ॥५॥ निमन्त्रणार्थं दूतांश्च प्रेषयामास शीघ्रगान् पार्थिवानाञ्च राजेंद्र ब्राह्मणानां तथैव च ॥ ६ ॥ ते प्रयाता यथोद्दिष्टा दूतास्त्वरितवाहनाः । तत्र कञ्चित् प्रयातन्तु दूतं दुःशासनोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥ गच्छ द्वैतवनं शीघ्रं पाण्डवान् पापपूरुषान् । निमन्त्रय यथान्यायं विप्रांस्तस्मिन् वने तदा ॥ ८ ॥ स गत्वा पाण्डवान्सर्वानुवाचाभिप्रणम्य च । दुर्योधनो महाराज यजते नृपसत्तमः ॥ ९ ॥ स्ववीर्य्यार्जितमर्थौघमवाप्य कुरुसं-

---

में श्रेष्ठ दुर्योधनने विष्णुयज्ञका आरम्भ करनेकी आज्ञा दी ॥३॥ और बहुतसा द्रव्य खरच कर जिसकी सामग्रियें तयार कीजाती हैं ऐसा महायज्ञ श्रेष्ठ २ संस्कारोंसे आरम्भ हुआ, उस यज्ञमें गान्धारीके पुत्रने शास्त्रके अनुसार तथा क्रमसे दीक्षा ली ॥ ४ ॥ और राजा धृतराष्ट्र महातपस्वी विदुर, भीष्म पितामह द्रोणाचार्य कृपाचार्य, कर्ण, यशस्विनी गांधारी आदि यज्ञके समारंभको देखकर प्रसन्न हुए ॥ ५ ॥ हे राजेन्द्र ! दुर्योधनने राजाओंको तथा ब्राह्मणोंको निमंत्रण देनेके लिये शीघ्रगामी दूतोंको भेज दिया ॥ ६ ॥ वे दूत शीघ्र चलनेवाले वाहनोंमें बैठ कर आज्ञाके अनुसार राजाओंको बुलानेके लिये चलेगए,उनमेंसे किसी एक दूतसे जो राजाओंको तथा ब्राह्मणोंको निमंत्रण देनेको जारहा था उससे दुःशासनने कहा कि—॥ ७ ॥ तू शीघ्रतापूर्वक द्वैतवनमें जा और तहां रहनेवाले पापी पाण्डवोंको तथा ब्राह्मणोंको रीति के अनुसार यज्ञमें आनेका निमंत्रण देना ॥ ८ ॥ दुःशासनके कहनेसे वह दूत द्वैतवनमें रहनेवाले पाण्डवोंके पास जा उनको प्रणाम करके बोला कि—हे महाराज ! कुरुवंशश्रेष्ठ महाराज दुर्योधन अपने पराक्रमसे बहुतसा धन इकट्ठा करके यज्ञ करते हैं और

त्तम. । तत्र गच्छन्ति राजानो ब्राह्मणाश्च ततस्ततः ॥ १० ॥ अहन्तु प्रेपितो राजन् कौरवेण महात्मना । आमन्त्रयति वो राजा धार्त्तराष्ट्रो जनेश्वरः ॥ ११ ॥मनोऽभिलपितं राज्ञस्तं क्रतुं द्रष्टुमर्हथ । ततो युधिष्ठिरो राजा तच्छ्रुत्वा दूतभाषितम् ॥ १२ ॥ अब्रवीन्नृपशार्दूलो दिष्ट्या राजा सुयोधनः । यजते क्रतुमुख्येन पूर्वेषां कीर्त्तिवर्धनः ॥ १३ ॥ वयमप्युपयास्यामो नत्विदानीं कथञ्चन । समयः परिपाल्यो नो यावद्वर्षं त्रयोदशम् ॥ १४॥ श्रुत्वैतद्धर्मराजस्य भीमो वचनमब्रवात् । तदा तु नृपतिर्गन्ता धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥ अस्त्रशस्त्रप्रदीप्तेऽग्नौ यदा तं पातयिष्यति । वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं रणसत्रे नराधिपः॥ १६ ॥ यदा क्रोधहविर्मोक्ता धार्त्तराष्ट्रेषु पाण्डवः । आगन्ताहं तदास्मीति वाच्यस्ते स सुयोधनः

तहाँ ब्राह्मण तथा राजा चारों ओरसे पधार रहे हैं ॥६–१०॥ हे राजन्! मुझे महात्मा कुरुवंशी राजाने आपको निमंत्रण देनेके लिये भेजा है और धृतराष्ट्र के पुत्र राजा दुर्योधन आपको यज्ञमें बुलाते हैं आपको राजाके इच्छित यज्ञका दर्शन करना चाहिये दूतके इन वचनोंको सुनकर राजसिंह राजा युधिष्ठिर बोले कि-राजा सुयोधन मुख्य यज्ञसे नारायणकी पूजा करता है यह बडा अच्छी बात है वह यज्ञ करके पूर्वजोंकी कीर्तिको बढाता है॥ ११–१२ ॥ परन्तु हम अभी यज्ञमें किसी प्रकार भी नहीं आसकेंगे क्योंकि—हमारा तेरहवर्षका जो नियम है वह नियम हमैं पालना चाहिये १३-१४ धर्मराजके इन वचनोंको सुनकर भीमसेन बोला कि—ओ दूत ! तू राजा दुर्योधनसे मेरा संदेशा कहना कि–तेरहवर्ष बीतने पर जब रणरूपी यज्ञके अस्त्र शस्त्ररूपी प्रज्वलित अग्निमें दुर्योधनको होमेंगे तब धर्मपुत्र युधिष्ठिर हस्तिनापुरमें आवेंगे इससे पहिले नहीं आवेंगे और तू दुर्योधनसे कहना कि—पाण्डव जब धृतराष्ट्रके पुत्रोंरूपी धधकती हुई अग्नियोंमें क्रोधरूपी हव्यका होम करेंगे

॥ १७ ॥ शेषास्तु पाण्डवा राजन्नैवोचुः किञ्चिदाप्रियम् । तत्रापि यथावृत्तं धार्त्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १८ ॥ अथाजग्मुर्नरश्रेष्ठा नानाजनपदेश्वराः । ब्राह्मणाश्च महाभाग धार्त्तरा पुरं प्रति ॥ १६ ॥ ते त्वर्च्चिता यथाशास्त्रं यथाविधि यथाक्रमम् । मुदा परमया युक्ताः प्रीताश्चापि नरेश्वराः ॥२०॥ धृतराष्ट्रोऽपि राजेन्द्र संवृतः सर्वकौरवैः । हर्षेण महता युक्तो विदुरं प्रत्यभाषत ॥ २१ ॥ यथा सुखी जनो सर्वः क्षत्तः स्यादन्नसंयुतः । तुष्येच्च यज्ञसदने तथा क्षिप्रं विधीयताम् ॥ २२ ॥ विदुरस्तु तदाज्ञाय सर्ववर्णानरिन्दम यथाप्रमाणतो विद्वान् पूजयामास धर्मवित् ॥ २३ ॥ भक्ष्यपेयान्नपानेन माल्यैश्चापि सुगन्धिभिः । वासोभिर्विविधैश्चैव योजया-

---

तब मैं भीम हस्तिनापुरमें आऊँगा ॥ १७ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार दूतसे भीमने अप्रिय वचन कहा परन्तु दूसरे पांडवोंने कोई भी अप्रिय बात नहीं कही, तदन्तर वह दूत हस्तिनापुरको लौट आया और दुर्योधनके पास जाकर जिस प्रकार बातचीत हुई थी तिसी प्रकार निवेदन करदी॥१८॥ हे महाभाग ! अनेकों देशोंके अच्छे २ मनुष्य राजे और ब्राह्मण उस यज्ञके समारोहमें दुर्योधनके निमन्त्रण देनेपर आये थे ॥ १६ ॥ उनका दुर्योधनने शास्त्रानुसार विधि और क्रमसे सत्कार किया और वे राजे सत्कारसे अतिआनन्दित हुए ॥ २० ॥ तदनन्तर हे राजेंद्र ! सब कौरवोंसे घिरे हुए धृतराष्ट्रने भी बड़े हर्षमें भरकर विदुरसे कहा कि—॥ २१ ॥ हे विदुर !. सब मनुष्य इस यज्ञमण्डपमें जिसप्रकार सुखी हों और भोजन करके सन्तुष्ट हों तिसीप्रकार तुम शीघ्रताके साथ प्रबन्ध करो ॥२२॥ तदनन्तर हे अरिदमन ! धर्ममें चतुर विद्वान् विदुरने धृतराष्ट्रकी आज्ञाको मानकर सब वर्णोंका क्रमसे सत्कार किया और जिसप्रकार सब लोग प्रसन्न हों तिसीप्रकार उन्होंने भक्ष्य, पेय, अन्न, पान, सुगंधित पुष्पमालाएं तथा नानाप्रकारके वस्त्रों

मास हृष्टवत् ॥ २४ ॥ कृत्वा ह्यावसथान् वीरो यथाशास्त्रं यथाक्रमम् । सान्त्वयित्वा च राजेन्द्रो दत्वा च विविधं वसु ॥ २५ ॥ विसर्ज्जयामास नृपान् ब्राह्मणांश्च सहस्रशः । विसृज्य च नृपान् सर्वान् भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥ विवेश हास्तिनपुरं सहितः कर्णसौबलैः ॥ २७ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५६ ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ प्रविशन्तं महाराज सूतास्तुष्टुवुरच्युतम् । जनाश्चापि महेष्वासं तुष्टुवू राजसत्तमम् ॥ १ ॥ लाजैश्चन्दनचूर्णैश्च विकीर्य्य च जनास्ततः । ऊचुर्दिष्ट्या नृपाविघ्नः समाप्तोऽयं क्रतुस्तव ॥ २ ॥ अपरे त्वब्रुवंस्तत्र वातिकास्तं महीपतिम् । युधिष्ठिरस्य यज्ञेन न समो ह्येष ते क्रतुः ॥ ३ ॥ नैव तस्य क्रतोरेष क-

---

से सबोंका सत्कार करना आरम्भ करदिया ॥ २१-२४ ॥ हे वीर राजेन्द्र ! दुर्योधनने ठहरनेके स्थान ठीक कराकर उनमें सब पुरुषोंको ठहराया और स्वयं तहां आये हुए राजाओंका तथा ब्राह्मणोंका शास्त्रके क्रमसे सत्कार किया तदनन्तर अनेक प्रकार के वस्त्र और धन देकर उनको विदा किया और सब राजाओंको तहाँसे विदा करनेके पीछे दुर्योधन अपने भाइयोंसे घिरकर कर्ण तथा शकुनि आदिके साथ हस्तिनापुरमें आया ॥ २५-२७ ॥ दोसौ छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ २५६ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि-हे महाराज ! महाधनुर्धारी सुयोधन निर्विघ्नतासे यज्ञ करके नगरमें घुसा तब सूत लोग तथा नगरके मनुष्य उसकी स्तुति करने लगे ॥ १ ॥ और खीलें तथा चंदन का चूरा उसके ऊपर वर्षाकर बोले कि-हे राजन् ! तुम्हारा यह यज्ञ निर्विघ्न पूरा होगया यह बहुत अच्छा हुआ ॥ २ ॥ कुछ बातें प्रजाके पुरुष इसप्रकार भी कहने लगे कि-तुम्हारा यह यज्ञ राजा युधिष्ठिरके यज्ञके बराबर नहीं हुआ ॥ ३ ॥ तथा कुछ बातून पुरुष

लामर्हति षोडशीम् । एवं तत्राब्रुवन् केचिद्वातकास्तं जनेश्वरम् ४ सुहृदस्त्वब्रुवंस्तत्र अतिसर्वानयं क्रतुः । ययातिर्नहुषश्चापि मान्धाता भरतस्तथा ॥ ५ ॥ क्रतुमेनं समाहृत्य पूताः सर्वे दिवं गताः । एता वाचः शुभा शृण्वन् सुहृदां भरतर्षभ ॥ ६ ॥ प्रविवेश पुरं हृष्टः स्ववेश्म च नराधिपः । अभिवाद्य ततः पादौ मातापित्रोर्विशाम्पते॥७॥भीष्मद्रोणकृपादीनां विदुरस्य च धीमतः । अभिवादितः कनीयोभिर्भ्रातृभिर्भ्रातृनन्दनः ॥ ८ ॥ निषसादासने मुख्ये भ्रातृभिः परिवारितः । तमुत्थाय महाराजं सूतपुत्रोऽब्रवीद्वचः ॥ ९ ॥ दिष्ट्या ते भरतश्रेष्ठ समाप्तोऽयं महाक्रतुः । हतेषु युधि पार्थेषु राजसूये तथा त्वया ॥ १० ॥ आहृतेऽहं नरश्रेष्ठ त्वां सभाजयिता पुनः

उस राजासे कहने लगे कि—तुम्हारा यह यज्ञ राजा युधिष्ठिरके यज्ञकी सोलहवीं कलाको भी न पहुंचा ॥ ४ ॥ और मित्र कहने लगे कि—तुम्हारा यह यज्ञ सब यज्ञोंसे उत्तम हुआ है राजा ययाति राजा नहुष, राजा मांधाता तथा राजा भरत इस यज्ञको कर पवित्र हो स्वर्गको गए हैं इसीप्रकार तुम्हारी भी शुभगति होगी, हे भरतर्षभ ! इस प्रकार मित्रोंकी वाणी सुनकर प्रसन्न होता हुआ दुर्योधन नगरमें गया और तहाँसे अपने भवनमें जाकर माता पिताके चरणोंको प्रणाम करनेके पीछे भीष्म द्रोणाचार्य कृपाचार्य और बुद्धिमान्विदुरके चरणोंमें भी प्रणाम किया तदनन्तर छोटे भाइयों ने भाइयोंको आनन्द देनेवाले दुर्योधनको प्रणाम किया॥५-८॥तदनन्तर दुर्योधन प्रधान राज्यासन पर बैठा और उसके भाई उस के चारों ओर बैठगए उस समय कर्णने उठकर महाराज दुर्योधन से कहा कि—॥९॥ हे भरतवंशश्रेष्ठ! तुमने इस महायज्ञको पूर्ण कर लिया यह बहुत अच्छा हुआ और अब जब तुम युद्धमें पांडवोंको मारकर राजसूय यज्ञ करोगे तब हे श्रेष्ठ राजन् ! मैं तुम्हारा फिर सन्मान करूँगा यह सुनकर महायशस्वी धृतराष्ट्रके पुत्र ने उत्तर

तमब्रवीन्महाराजो धार्त्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ११ ॥ सत्यमेतत्त्वयोक्तं हि पाण्डवेषु दुरात्मसु । निहतेषु नरश्रेष्ठ मासे चापि महाक्रतौ ॥ १२ ॥ राजसूये पुनर्वीर त्वमेवं वर्धयिष्यसि । एवमुक्त्वा महाराज कर्णमाश्लिष्य भारत ॥ १३ ॥ राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास कौरवः । सोऽब्रवीत् कौरवांश्चापि पार्श्वस्थान्नृपसत्तमः १४ कदा तु तं क्रतुवरं राजसूयं महाधनम् । निहत्य पाण्डवान् सर्वानाहरिष्यामि कौरवाः ॥ १५ ॥ तमब्रवीत्तदा कर्णः शृणु मे राजकुञ्जर । पादौ न धावये तावद्यावन्न निहतोऽर्जुनः । १६॥ कीलालजं न खादेयं करिष्ये चासुरव्रतम् । नास्तीति नैव वक्ष्यामि याचितो येन केनचित् ॥ १७ ॥ अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैर्धार्त्तराष्ट्रैर्महारथैः । प्रतिज्ञाते फाल्गुनस्य वधे कर्णेन संयुगे ॥ १८ ॥ विजि-

---

दिया कि--॥ १०--११ ॥ तू जो बात कहता है यह बात सच्ची है, हे नरश्रेष्ठ कर्ण ! दुष्टात्मा पाण्डवोंका नाश होजाने पर मैं जब राजसूय नामक महायज्ञ करूंगा तब हे वीर ! तू इसीप्रकार मेरा सत्कार करेगा, दुर्योधन इसप्रकार कह कर कर्णसे मिला और नृपोत्तम दुर्योधन राजसूय नामक महायज्ञ करनेके विषयमें मनमें विचार करनेलगा और अपने समीप बैठेहुए कौरवोंसे कहनेलगा कि--॥१३- १४॥ हे कौरवों ! मैं कब सब पाण्डवोंका संहार करके जिसमें बहुतसा धन व्यय होता है ऐसे राजसूय यज्ञको करूंगा ? ॥ १५ ॥ यह सुनकर कर्णने उत्तर दिया कि--हे राजकुंजर ! मेरे कहनेको सुनो ! जब तक मैं अर्जुनको मार न लूंगा तब तक किसी दूसरेसे अपने पैर न धुलवाऊँगा, मांस का भोजन नहीं खाऊँगा तैसे ही आजसे मदिरा भी नहीं पीऊँगा मुझसे जो कोई याचना करेगा उससे यह नहीं कहूंगा कि--नहीं है ॥ १६--१७ ॥ इस प्रकार कर्णने युद्धमें अर्जुनको मारनेकी प्रतिज्ञा की, इसको सुन कर महाधनुर्धारी कौरवोंने बडी गर्जना की ॥१८॥ और धृतराष्ट्र के

तांश्चाप्यमन्यन्त पाण्डवान् धृतराष्ट्रजाः । दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र विसृज्य नरपुंगवान् ॥ १९ ॥ प्रविवेश गृहं श्रीमान् यथा चैत्ररथं प्रभुः । तेऽपि सर्वे महेष्वासा जग्मुर्वेश्मानि भारत ॥ २० ॥ पांडवाश्च महेष्वासा दूतवाक्यप्रचोदिताः । चिन्तयन्तस्तमेवार्थं नालभन्त सुखं क्वचित् ॥ २१ ॥ भूयश्च चारै राजेन्द्र प्रवृत्तिरुपपादिता । प्रतिज्ञा सूतपुत्रस्य विजयस्य वधं प्रति ॥ २२ ॥ एतच्छ्रुत्वा धर्मसुतः समुद्विग्नो नराधिप । अभेद्यकवचं मत्वा कर्णमद्भुतविक्रमम् ॥ २३ ॥ अनुस्मरंश्च संक्लेशान्न शांतिमुपयाति सः । तस्य चिन्तापरीतस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ॥ २४ ॥ बहुव्यालमृगाकीर्णं त्यक्तुं द्वैतवनं वनम् । धार्त्तराष्ट्रोऽपि नृपतिः प्रशशास वसुन्धराम् ॥ २५ ॥ भ्रातृभिः सहितो वीरैर्भीष्मद्रोणकृपैस्तथा । संगम्य सूत-

---

पुत्र पाण्डवोंको हाराहुआ माननेलगे तदनंतर हे भरतवंशी राजन् ! दुर्योधन उन महापुरुषोंको जानेकी आज्ञा देकर श्रीमान् इन्द्र जैसे चैत्ररथवनमें जाता है तिसीप्रकार अपने निवासभवनमें गया और महाधनुर्धारी वे सब राजे भी अपने२ घरको गए॥१९–२०॥ इधर महाधनुर्धारी पाण्डव दूतके वाक्य सुनकर बड़े आवेशमें भरगए थे वे सब मनमें इसी बातका विचार करनेलगे इसकारण उनके चित्तको कहीं भी शांति नहीं मिलती थी ॥ २१ ॥ इतनेमें हे राजन् ! पाण्डवोंने दूतके द्वारा फिर समाचार मंगवाया तो मालूम हुआ कि कर्णने अर्जुनको मारनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ २२ ॥ हे राजन् ! ऐसे अनिष्ट समाचारको सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके चित्तमें घबराहट होनेलगी अद्भुत पराक्रम करनेवाले कर्णके कवचको तोड़ना कठिन है यह मानकर तथा अपने ऊपर पड़ेहुए दुःखोंको याद करके मनमें बड़ी व्याकुलता हुई तदनन्तर चिंतामें डूबेहुए राजा युधिष्ठिरके मनमें यह विचार उठा कि–बहुतसे हिंसक प्राणी तथा सर्पोंसे भराहुआ यह द्वैतवन छोड़ देना चाहिये, धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन भाईयोंकी तथा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि वीर पुरुषोंकी स-

पुत्रेण कर्णेनाहवशोभिना ॥ २६ ॥ दुर्योधनः प्रिये नित्यं वर्त्त-मानो महीभृताम् । पूजयामास विप्रेन्द्रान् क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः २७ भ्रातृणां च प्रियं राजन् स चकार परन्तपः । निश्चित्य मनसा वीरो दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ २८ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि युधिष्ठिरदिग्विजये सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५७ ॥

समाप्तञ्च घोषयात्रापर्व ॥

अथ मृगस्वप्नोद्भवपर्व ॥

जनमेजय उवाच । दुर्योधनं मोक्षयित्वा पाण्डुपुत्रा महाबलाः । किमकार्पुर्वने तस्मिंस्तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततः शयानं कौन्तेयं रात्रौ द्वैतवने मृगाः । स्वप्नान्ते दर्श-यामासुर्बाष्पकण्ठा युधिष्ठिरम् ॥ २ ॥ तानब्रवीत् स राजेन्द्रो

स्मतिको लेकर राजकार्य करनेलगा और युद्धमें शोभा पानेवाले सूतपुत्र कर्णकी सहायतासे राजाओंका प्रिय कार्य करनेलगा और यज्ञ करके बड़ी २ दक्षिणाओंसे ब्राह्मणोंका सत्कार करनेलगा ॥ २३–२७ ॥ और हे राजन् ! शत्रुतापी वह राजा दान तथा भोग ये दोही धनके फल हैं, ऐसा अपने मनमें निश्चय करके अपने भाइयोंका प्रिय कार्य करनेलगा ॥ २८ ॥ दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ २५७ ॥

घोषयात्रापर्व समाप्त

अथ मृगस्वप्नोद्भवपर्व

जनमेजयने बूझा कि–हे ऋषे वैशम्पायन ! दुर्योधनको बंधन मेंसे छुड़ानेके पीछे महाबली पाण्डुपुत्रोंने उस वनमें क्या किया था ? यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥ वैशम्पायनजी बोले कि–हे राजन् जनमेजय ! एक दिन रात्रिमें राजा युधिष्ठिर द्वैतवनमें सो रहे थे; इतनेमें ही उन्होंने स्वप्नमें नेत्रोंमेंसे आंसू टपकातेहुए और गद्गद कण्ठवाले मृगोंको देखा ॥ २ ॥ वे मृग थर थर काँपतेहुए दोनों

वेपमानान् कृतांजलीन् । ब्रूत यद्वक्तुकामाः स्थः के भवन्तः किमिष्यते ॥ ३ ॥ एवमुक्ताः पाण्डवेन कौन्तेयेन यशस्विना । अत्यब्रुवन्मृगास्तत्र हतशेषा युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥ वयं मृगा द्वैतवने हतशिष्टास्तु भारत । नोत्सादेम महाराज क्रियतां वासपर्ययः ॥ ५ ॥ भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्व एवास्त्रकोविदाः । कुलान्यल्पावशिष्टानि कृतवन्तो वनौकसाम् ॥ ६ ॥ वीजभूता वयं केचिदवशिष्टा महामते विवर्धेमहि राजेन्द्र प्रसादात्ते युधिष्ठिर ॥ ७ ॥ तान् वेपमानान् वित्रस्तान् वीजमात्रावशेषितान् । मृगान् दृष्ट्वा सुदुःखार्त्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ८ ॥ तांस्तथेत्यब्रवीद्राजा सर्वभूतहिते रतः । यथा भवन्तो ब्रुवते करिष्यामि च तत्तथा ॥ ९ ॥ इत्येवं प्रतिबुद्धः स रात्र्यन्ते राजसत्तमः । अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् दयापन्नो मृगान्

हाथ जोड़े खड़े थे, उनसे राजा युधिष्ठिरने बूझा कि–तुम कौन हो ? जो कहनेकी इच्छा हो सो कहो ॥ ३ ॥ इसप्रकार कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने बूझा तब मरनेसे शेष बचेहुए मृगोंने राजा युधिष्ठिरसे कहा कि–॥ ४ ॥ हे भरतवंशी महाराज ! हम द्वैतवनमें रहनेवाले वनवासी मृग हैं, और मरते २ बचगए हैं, अब हमारा नाश न हो, इसलिये आप यहांसे अपना निवासस्थान बदल दीजिये ॥ ५ ॥ तुम सब भाई शूर हो और अस्त्रविद्यामें प्रवीण हो, तुमने हम वनवासियोंके कुलका संहार करडाला है और अब थोड़ेही से कुलबाकी बचे हैं॥६॥ जो कुछ एक हम यहाँ बचेहुए हैं, वे हे महाबुद्धे !हमारे कुलके वीजरूप हैं, अतः हे युधिष्ठिर ! तुम्हारी कृपासे हमारी वृद्धि हो तैसा करो ॥ ७ ॥ सब प्राणियोंका हित करनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर मरते २ थोड़ेसे वीजरूप बचेहुए मृगोंको काँपते और भयभीत हुए देखकर दुःखसे अत्यंत खिन्न होगए और उनसे इसप्रकार कहनेलगे कि–तुम जैसा कहते हो मैं ऐसा ही करूँगा ॥ ८–९ ॥ इसप्रकार मृगोंको वचन देनेके पीछे प्रातःकाल हुआ कि–राजा युधिष्ठिर जाग उठे और मृगोंके ऊपर

मति ॥ १० ॥ उक्तो रात्रौ मृगैरस्मि स्वप्नान्ते हतशेषितैः । तन्तुभूताः स्म भद्रन्ते दया नः क्रियतामिति ॥ ११ ॥ ते सत्यमाहुः कर्तव्या दयास्माभिर्वनौकसाम् । साष्टमासं हि नो वर्षं यदेनाननुपर्युञ्ज्महे ॥ १२ ॥ पुनर्बहुमृगं रम्यं काम्यकं काननोत्तमम् । मरुभूमेः शिरःस्थानम् तृणविन्दुसरः प्रति ॥ १३ ॥ तत्रेमां वसतिं शिष्टां विहरन्तो रमेमहि । ततस्ते पाण्डवाः शीघ्रं प्रययुर्धर्मकोविदाः ॥ १४ ॥ ब्राह्मणैः सहिता राजन् ये च तत्र सहोषिताः । इन्द्रसेनादिभिश्चैव प्रेष्यैरनुगतास्तदा ॥ १५ ॥ ते यात्वानुसृतैर्मार्गैः स्वन्नैः शुचिजलान्वितैः । ददृशुः काम्यकं पुण्यमाश्रमं तपसा युतम् ॥ १६ ॥ विविशुस्ते स्म कौरव्या वृता विप्रर्षभैस्तदा । तद्वनं भर-

---

दयालु होकर अपने सब भाइयोंको इकट्ठा करके कहा कि-॥१०॥ मरनेसे शेष बचेहुए मृगोंने आज स्वप्नमें आकर मुझसे कहा है कि-हे राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो ! हम अपने वंशोंके बीजरूप थोड़ेसे ही बाकी रहगए हैं, अतः तुम हमारे ऊपर दया करो ॥ ११ ॥ उन मृगोंने जो कुछ कहा है सो सत्य ही है, हमैं वनके प्राणियोंके ऊपर दया करनी चाहिये, क्योंकि-हमैं एक वर्ष आठ महीने उनके मांससे आजीविका चलातेहुए होगए ॥१२॥ अतः अब मरुभूमिके मुहानेपर तृणविन्दु सरोवरके समीपके बहुतसे मृगोंवाले रमणीय काम्यक वनमें जायंगे और शेष समय तहां ही आनन्दपूर्वक विहार करके वितावेंगे इसप्रकार विचार करके हे राजन् ! धर्मवेत्ता पांडव, ब्राह्मण तथा अपने साथके अन्य पुरुषों को लेकर तुरंत उस वनमेंसे काम्यक वनमें जानेके लिये चलदिये उस समय इन्द्रसेन आदि सेवक भी उनके पीछे २ चलदिये॥१३॥ ॥१५॥ मार्गोंमें उनको श्रेष्ठ प्रकारके अन्न और स्वच्छ जल मिला और वे उन मार्गोंमें चलते२ अन्तमें तपसे युक्त काम्यक वनके पवित्र आश्रममें आगए तब पुण्यवान् पुरुष जैसे स्वर्गमें प्रवेश करता है तिसीप्रकार भरवंशमें श्रेष्ठ और उत्तमब्राह्मणोंसे घिरेहुए पाण्डवोंने

तश्रेष्ठाः स्वर्गं सुकृतिनो यथा ॥ १७ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि काम्यकप्रवेशे ऽष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८ ॥

॥ समाप्तश्च मृगस्वप्नोद्भवपर्व ॥

॥ अथ व्रीहिद्रौणिकपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच । वने निवसतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम् । वर्षाण्येकादशातीयुः कृच्छ्रेण, भरतर्षभ ॥ १ ॥ फलमूलाशनास्ते हि सुखार्हा दुःखमुत्तमम् । प्राप्तकालमनुध्यान्तः सेहिरे वरपूरुषा ॥ २ ॥ युधिष्ठिरस्तु राजर्षिरात्मकर्मापराधजम् । चिन्तयन् स महाबाहुर्भ्रातॄणां दुःखमुत्तमम् ॥ ३ ॥ न सुष्वाप सुखं राजा हृदि शल्यैरिवार्पितैः । दौरात्म्यमनुपश्यंस्तत् काले द्यूतोद्भवस्य हि ॥ ४ ॥ संस्मरन् परुषा वाचः सूतपुत्रस्य पाण्डवः ।

पवित्र काम्यक वनमें प्रवेश किया ॥१६–१७॥ दोसौ अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ २५८ ॥ मृगस्वप्नोद्भव पर्व समाप्त ॥ छ ॥

॥ अथ व्रीहिद्रौणिकपर्व ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् जनमेजय ! महात्मा पांडवोंको वनमें रहते २ महाकष्टसे ग्यारह वर्ष बीतगए ॥ १ ॥ पांडव राजकुमार थे तथा सुख भोगने योग्य थे, तथापि वे फल मूलका आहार करते और समयानुसार ऊपर आयेहुए दुःखको सहना चाहिये, यह विचार कर उस महादुःखको सहा करते थे ॥ २ ॥ महाभुज राजा युधिष्ठिरके चित्तमें विचार उठा करता था कि–मेरे बंधुओंको जो महादुःख सहना पड़ता है वह मेरे ही कर्मका अपराध है ॥ ३ ॥ ॥ और जुआ खेलते समय शकुनि आदिने जो दुष्टता की थी उसके आंखोंके सामने आते ही मानो हृदयमें कांटा चुभगया हो इसप्रकार राजा युधिष्ठिर रातमें सोते नहीं थे ॥ ४ ॥ और सूतपुत्र कर्णके तीखे वचनोंकी वह जब २ याद करते थे तब २ उनका क्रोधरूपी महाविष उछल

निःश्वासपरमो दीनो बिभ्रत् कोपविषं महत् ॥ ५ ॥ अर्जुनो यमजौ चोभौ द्रौपदी च यशस्विनी । स च भीमो महातेजाः सर्वेषामुत्तमो बली॥६॥युधिष्ठिरमुदीक्षन्तः सेहुर्दुःखमनुत्तमम् । अवशिष्टमल्पकालं मन्वानाः पुरुषर्षभाः ॥ ७ ॥ वपुरन्यदिवाकार्षुरुत्साहामर्षचेष्टितैः । कस्यचित्त्वथ कालस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ॥८॥ आजगाम महायोगी पांडवानवलोककः । तमागतमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।६। प्रत्युद्गम्य महात्मानं प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि । तमासीनमुपासीनः शुश्रूषुर्नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥ तोषयन् प्रणिपातेन व्यासं पाण्डवनन्दनः । तानवेक्ष्य कृशान् पौत्रान् वने वन्येन जीवतः ॥ ११ ॥ महर्षिरनुकम्पार्थमब्रवीद्बाष्पगद्गदम् । युधिष्ठिर

पड़ता था, परन्तु उसको वशमें रखकर दीनसे बनेहुए केवल श्वास ही छोड़ा करते थे ॥ ५ ॥ अर्जुन नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदी तथा सबोंमें श्रेष्ठ बली भीमसेन, यह सब महापुरुष, यह विचार कर कि—अब थोड़ा समय रहगया है, राजा युधिष्ठिरका मुख देखतेहुए वनवासके महादुःखको सहाकरते थे ॥ ६–७ ॥ और उन्होंने उत्साह, क्रोध तथा दूसरी चेष्टाओंसे अपने शरीरको नया करडाला था, एक समय सत्यवतीके पुत्र और महायोगी वेदव्यासजी पाण्डवोंकी सुध लेनेकी इच्छासे काम्यकवनमें आपहुंचे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उन महात्माको आतेहुए देखकर उनको लेनेको उठे और विधिपूर्वक उनका सत्कार करके पर्णकुटीमें लिवालाये, मुनि उनके निवासस्थानमें आकर आसन पर विराजे और सेवा करना चाहनेवाले तथा इन्द्रियोंको वशमें रखने वालेपाण्डुपुत्र युधिष्ठिर उनके पास बैठे ॥८–१० ॥ तथा उनको प्रणाम करके प्रसन्न किया, उस समय महर्षि व्यास वनके फल फूल आदिसे आजीविका करनेवाले अपने पौत्रोंको दुबले हुए देखकर उनके ऊपर दयालु होकर आंसू गिरानेलगे और गद्गद

महात्राहोऽशृणु धर्मभृताम्वर ॥ १२ ॥ नातप्ततपसो लोके प्राप्नुवन्ति महासुखम् । सुखदुःखे हि पुरुषः पर्य्यायेणोपसेवते ॥ १३ ॥ न ह्यनन्तं सुखं कश्चित् प्राप्नोति पुरुषर्षभ । प्रज्ञावांस्त्वेव पुरुषः संयुक्तः परया धिया ॥ १४ ॥ उदयास्तमनज्ञो हि न हृष्यति न शोचति । सुखमापतितं सेवेद्दुःखमापतितं वहेत् ॥ १५ ॥ कालमाप्तमुपासीत शस्यानामिव कर्षकः । तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् १६ नासाध्यं तपसः किञ्चिदिति वुध्यस्व भारत । सत्यमार्ज्जवमक्रोधः संविभागो दमः शमः ॥ १७ ॥ अनसूयाऽविहिंसा च शौचमिन्द्रियसंयमः । पावनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ।१८। अधर्मरुचयो मूढास्तिर्य्यग्गतिपरायणाः । कृच्छ्रां योनिमनुप्राप्तो न

कण्ठसे कहनेलगे कि–हे महाभुज ! और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इस संसारमें मनुष्य ज्ञानके विना अखण्ड सुखको नहीं पासकते मनुष्य कभी सुखको और कभी दुःखको आगे पीछे पाया ही करते हैं, ॥ ११–१३ ॥ परन्तु हे पुरुषश्रेष्ठ ! कोई भी मनुष्य अखंड सुख नहीं भोगता, है, तथापि जो मनुष्य बुद्धिमान् है तथा जिसको ब्रह्मविद्याका ज्ञान है, जो यह जानता है, कि—जगत्की उत्पत्ति स्थिति और लयका कारण ब्रह्म ही है, वह मनुष्य सुख पानेसे हर्षित नहीं होता है और दुःख पडने पर दुःखित नहीं होता है, किसान जैसे अन्न बोकर समयके अनुसार जो अन्न मिलता है, उसको ग्रहण करलेता है, तैसे ही मनुष्यको भी सुख पड़ने पर सुखको ग्रहण करना चाहिये और दुःख पड़ने पर उस दुःखको भी ग्रहण करना चाहिये और हे भारत ! ज्ञानसे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि–मनुष्य ज्ञानसे ही परब्रह्मपदको पाता है, ज्ञानसे किसी वस्तुको भी दुर्लभ न जान हे महाराज ! सत्य सरलता अक्रोध और अन्नादिका दान, दम, शम, ईर्ष्यारहित होना अहिंसा पवित्रता तथा इन्द्रियदमन इतने आचरण पवित्र काम करनेवाले पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले हैं ॥ १४–१८ ॥ परन्तु जो मनुष्य

सुखं विन्दते जनः ॥ १६ ॥ इह यत् क्रियते कर्म तत्परत्रोपयुज्यते तस्माच्छरीरं युञ्जीत तपसा नियमेन च ॥ २० ॥ यथाशक्ति प्रयच्छेत संपूज्याभिप्रणम्य च । काले प्राप्ते च हृष्टात्मा राजन् विगतमत्सरः ॥ २१ ॥ सत्यवादी लभेतायुरनायासमथार्जवम् । अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृत्तिं लभते पराम् ॥ २२ ॥ दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विदन्ति । न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ॥ २३ ॥ संविभक्ता च दाता च भोगवान् सुखवान्नरः । भवत्यहिंसकश्चैव परमारोग्यमश्नुते ॥ २४ ॥ मान्यमानयिता जन्म कुले महति विदन्ति । व्यसनैर्न तु संयोगं प्राप्नोति विजितेन्द्रियः ॥ २५ ॥ शुभानुशयबुद्धिर्हि संयुक्तः कालधर्मणा ।

अधर्मके ऊपर प्रेम रखते हैं मूर्ख हैं और खोटे मार्गमें चलते हैं, वे कष्टदायक गतिको ही भोगते हैं और वे सुख नहीं पाते हैं १६ मनुष्य इस लोकमें रहकर जो कुछ कर्म करता है, उसका फल उसे परलोकमें भोगना पड़ता है, अतः मनुष्य अपने शरीरको ज्ञान तथा नियममें लगावें ॥२०। हे राजन् ! दानका समय आवे तब मनमें प्रसन्न होकर मत्सरता छोड़कर अतिथिकी पूजा करके तथा उसको प्रणाम करके शक्तिके अनुसार अन्नदान देय ॥२१॥ सत्यवादी मनुष्य आयुको सुखको तथा सरलताको पाता है, क्रोध तथा ईर्ष्यारहित पुरुष श्रेष्ठ निवृत्तिको पाता है॥२२–२३॥शम तथा दमवाला पुरुष, नित्य क्लेशको नहीं भोगता किन्तु सुख ही पाता है, तैसे ही जिस मनुष्यका मन वशमें होता है वह दसरेका सम्पत्तिको देखकर दुःखित नहीं हुआ करता है और जो मनुष्य अभ्यागतको अन्न आदिका विभाग करके देता है तथा धन आदिका दान देता है वह ऐश्वर्य तथा सुख पाता है. जो मनुष्य हिंसाको छोड देता है वह परम आरोग्यको भोगता है॥२४॥ जो मान्य पुरुषोंका सत्कार करता है वह बड़े कुलमें जन्म पाता है और जो जितेन्द्रिय रहता है वह दुःख नहीं भोगता है॥२५॥तथा जिस मनुष्यकी बुद्धि

प्रादुर्भवति तद्योगात् कल्याणमतिरेव सः ।२६। युधिष्ठिर उवाच । भगवन्दानधर्माणां तपसो वा महामुने । किंस्विद्बहुगुणं प्रेत्य किंवा दुष्करमुच्यते ॥ २७ ॥ व्यास उवाच । दानान्न दुष्करं तात पृथिव्यामस्ति किञ्चन । अर्थे च महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते ॥ २८ ॥ परित्यज्य प्रियान् प्राणान् धनार्थं हि महामते । प्रविशन्ति नरा वीराः समुद्रमटवींन्तथा ॥ २९ ॥ कृषिगोरक्षमित्येके प्रतिपद्यन्ति मानवाः । पुरुषाः प्रेष्यतामेके निर्गच्छन्ति धनार्थिनः ॥ ३० ॥ तस्माद्दुःखार्जितस्यैव परित्यागः सुदुष्करः । न दुष्करःतरं दानात्तस्माद्दानं मतं मम ॥३१॥ विशेषस्त्वत्र विज्ञेयो न्यायेनोपार्ज्जितं धनम् । पात्रे काले च देशे च साधुभ्यः प्रतिपादयेत्

शुभपक्षको स्वीकार करती है वह मनुष्य मरकर भी शुभ बुद्धिके प्रभावसे श्रेष्ठ बुद्धिवाला होता है ॥२६॥ युधिष्ठिरने बूझा कि–हे भगवन् ! हे महामुने! मरनेके पीछे परलोकमें दानधर्म और तपोधर्म इनदोनोंमें से कौनसी बात सुखदायक तथा इन दोनोंमेंसे कौनसा विषय महादुष्कर कहाता है । व्यासजी बोले कि-हे तात ! पृथ्वीमें दानसे अधिक कोई दूसरी वस्तु दुष्कर नहीं है, दान करना यह बहुत ही कठिन है, मनुष्योंकों धनकी बडी तृष्णा होती है और वह धन दुःखसे मिलता है ॥ २८ ॥ हे महाबुद्धिमान् राजन् ! वीर पुरुष धन पानेके लिये अपने प्राणोंको भी देदेते हैं समुद्रको तरते हैं और महावनोंको भी लाँघते हैं ॥ २९ ॥ और कुछ पुरुष धन पानेके लिये खेती करते हैं और कुछ पुरुष धनकी तृष्णासे सेवकपना भी स्वीकार करलेते हैं ॥ ३० ॥ अतः महाकष्टसे सञ्चित कियेहुए धनका दान करना यह महाकठिन है और इससे ही दानकी समान कोई कार्य कठिन नहीं है अतः मैं दानको ही सब से श्रेष्ठ मानता हूं ॥ ३१ ॥ परन्तु उसमें भी विशेष बात यह है कि न्यायसे इकट्ठा कियाहुआ धन देश तथा कालको देख कर किसी सुपात्र वा श्रेष्ठ पुरुषको देना चाहिये और ऐसा सुपात्र

॥३२॥ अन्यायात् समुपात्तेन दानधर्मो धनेन यः। क्रियते न स कर्त्तारं त्रायते महतो भयात् ॥ ३३ ॥ पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर। मनसा हि विशुद्धेन प्रेत्यानन्तफलं स्मृतम् ॥३४॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। व्रीहिद्रोणपरित्यागाद्यत् फलं प्राप मुद्गलः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि दानदुष्करत्व-कथन ऊनषष्ट्यदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५९ ॥

युधिष्ठिर उवाच। व्रीहिद्रोणः परित्यक्तः कथं तेन महात्मना। कस्मै दत्तश्च भगवन् विधिना केन चात्थ मे ॥१॥ प्रत्यक्षधर्मा भगवान् यस्य तुष्टो हि कर्मभिः। सफलं तस्य जन्माहं मन्ये सद्धर्मचारिणः ॥ २ ॥ व्यास उवाच। शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा मुद्गलः

को दिया हुआ) दान मनुष्यको महाभयसे छुडाता है ॥ ३२ ॥ परंतु अन्यायसे मिलेहुए धनका जो दान दिया जाता है वह दान कर्ताकी महाभयसे रक्षा नहीं करता है ॥ ३३ ॥ हे युधिष्ठिर! उत्तम समयमें शुद्ध अन्तःकरण से सुपात्रको थोड़ा दान दियाजाय तो वह भी मरने पर परलोकमें महाफल देता है, ऐसा शास्त्रमें कहा है॥३४॥ पहिले मुद्गल नाम का एक ब्राह्मण द्रोणभर धानोंका दान देकर जिस फलको प्राप्त हुआ था उसके विषयमें एक प्राचीन इतिहास उदाहरणकी रीति पर तुमसे कहता हूं, सुनो। ३५ ॥ दो सौ उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ २५९ ॥

युधिष्ठिरने बूझा कि–हे भगवन्! वेदव्यास जी महात्मा मुद्गल ने किसलिये एक द्रोण अन्न का दान किया था? और वह किस को दिया था? और किस विधिसे दिया था? ॥ १ ॥ यह मुझसे कहो, प्रत्यक्ष धर्ममूर्त्ति भगवान् जिस मनुष्य के कर्मसे उसके ऊपर प्रसन्न होते हैं, उस सत्कर्म करनेवाले मनुष्यके जन्म को मैं सफल मानता हूं ॥ २ ॥ व्यासजी बोले कि–हे राजन्! शिलोञ्छ वृत्तिसे आजीविका करनेवाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय,

संयतेन्द्रियः । आसीद्राजन् कुरुक्षेत्रे सत्यवागनसूयकः ॥ ३ ॥ अतिथिव्रती क्रियावांश्च कापोतीं वृत्तिमास्थितः। सत्रमिष्टीकृतं नाम समुपास्ते महातपाः ॥ ४ ॥ सपुत्रदारो हि मुनिः पक्षाहारो बभूव ह । कपोतवृत्त्या पक्षेण व्रीहिद्रोणमुपार्जयत् ॥ ५ ॥ दर्शश्च-पौर्णमासश्च कुर्वन्विगतमत्सरः । देवतातिथिशेषेण कुरुते देहयापनम् ६ तस्येन्द्रः सहितो देवैः साक्षात्त्रिभुवनेश्वरः । प्रत्यगृह्णान्महाराज भागं पर्वणि पर्वणि ॥ ७ ॥ स पर्व कालं कृत्वा तु मुनिवृत्त्या समन्वितः । अतिथिभ्यो ददावन्नं प्रहृष्टेनांतरात्मना ॥ ८ ॥व्रीहिद्रोणस्य तद्धयस्य ददतोऽन्नं महा-

---

सत्यवादी, ईर्ष्यारहित, अतिथिकी सेवा करनेवाले, वेदोक्त कर्म करनेवाले, और महातपस्वी मुद्गल नामके एक ब्राह्मण कुरुक्षेत्र में रहते थे, वह कबूतरकी समान खानेके लिये जितना खाया जाय उतना थोड़ासा ही अन्न इकट्ठा रखते थे और इष्टीकृत नामक यज्ञ करते थे, वह मुनि उनके पुत्र तथा उनकी स्त्री पन्द्रहवें दिन भोजन किया करते थे और कपोतवृत्तिसे (कबूतर जैसे दाना दाना इकट्ठा करते हैं इसीप्रकार) पक्षभरमें एक द्रोण (पन्द्रहसेर साढ़े नौ छटांक) अन्न इकट्ठा करलिया करते थे, ॥ ३-५ ॥ मत्सरता रहित होकर वे अमावास्या तथा पूर्णिमा के दिन यज्ञ किया करते थे और देवता तथा अतिथियोंको जिमाने के पीछे जो अन्न शेष रहता था उससे अपने देहका पोषण किया करते थे॥६॥ तीनों लोकोंके अधीश्वर साक्षात् इन्द्र भी देवताओं सहित प्रत्येक पर्वमें उनके घर जाकर उनके यज्ञमेंसे अपना भाग ग्रहण करते थे ॥ ७ ॥ इसप्रकार मुद्गल ऋषि मुनियोंकी वृत्तिसे आजीविका करते थे तथा पर्व २ में वैश्वदेव, वरुणप्रघास आदि श्रौत कर्मोंको करके, जब एक द्रोण अन्न इकट्ठा होजाता था तब सन्तुष्ट चित्तसे अतिथियोंको अन्नका दान देते थे ॥८॥ वे मत्स-रतारहित महात्मा एक द्रोण धानोंमेंसे दान किया करते थे, उसमें

त्मनः । शिष्टं मात्सर्य्यहीनस्य वर्धत्यतिथिदर्शनात् ॥ ९ ॥ तच्छ-तान्यपि भुञ्जंति ब्राह्मणानां मनीषिणाम् । मुनेस्त्यागविशुद्धया तु तदन्नं वृद्धिमृच्छति ॥ १० ॥ तं तु शुश्राव धर्मिष्ठं मुद्गलं शंसितव्रतम् । दुर्वासा नृप दिग्वासास्तमथाभ्याजगाम ह ॥ ११ ॥ विभ्रच्चानियतं वेशमुन्मत्त इव पाण्डव । विकचः परुषा वाचो व्याहरन् विविधा मुनिः ॥ १२ ॥ अभिगम्याथ तं विप्रमुवाच मुनिसत्तमः । अन्नार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम॥ १३ ॥ स्वागतंऽते स्त्विति मुनिं मुद्गलः प्रत्यभाषत । पाद्यमाचमनीयञ्च प्रतिपाद्यार्घमुत्तमम् ॥ १४ ॥ प्रादात् स तापसायान्नं क्षुधितायातिथिव्रती । उन्मत्ताय परां श्रद्धामास्थाय स धृतव्रतः ॥ १५ ॥ ततस्तदन्नं रसवत् स एव क्षुधयान्वितः । बुभुजे कृत्स्नमुन्मत्तः

से बाकी बचेहुए अन्नकी अतिथियोंको देखते ही वृद्धि होजाती थी और उसमेंसे सैकड़ों विद्वान् ब्राह्मण जीमलेते थे, इसप्रकार उन मुनिकी शुद्ध त्यागबुद्धिसे उनके अन्नमें वृद्धि हुआ करती थी ॥ ९–१० ॥ हे पाण्डुपुत्र ! तदनंतर मुनिश्रेष्ठ दिगम्बर दुर्वासा मुनिने उन धर्मनिष्ठ और श्रेष्ठ व्रतोंका आचरण करनेवाले मुद्गलका नाम सुना इससे वे उनकी परीक्षा करनेके लिये उन्मत्त का समान उलटे सीधे वस्त्र पहर शिर घुटाहुआ रूप धारण करके नानाप्रकारकी कठोर वाणी बोलते हुए मुद्गलके पास गए और उनसे बोले कि–हे द्विजश्रेष्ठ ! तुझको विदित हो कि—मैं तेरे पास अन्नके लिये आया हूं ॥ ११ —१३ ॥ तब मुदगलने उन मुनिको उत्तर दिया कि—आप भले पधारे इसप्रकार कहकर उन्हें पैर धोनेके लिये जल देकर आचमन कराया, तदनंतर अर्घ के लिये जल दिया और फिर अतिथिकी सेवा करनेवाले मुद्गल ने परमश्रद्धासे उन्मत्त तथा क्षुधातुर उस तपस्वीको भोजनके लिये अन्न दिया ॥ १४—१५ ॥ उन्मत्तके वेशमें स्थित क्षुधातुर दुर्वासा मुनि उस सब स्वादिष्ट अन्नको हडपगए तथा फिर और

प्रादात्तस्मै च मुद्गलः ॥ १६ ॥ भुक्त्वा चान्नं ततः सर्वमुच्छिष्टेनात्मनस्ततः ।अथाङ्गं लिलिपेऽन्नेन यथागतमगाच्च सः॥१७ एवं द्वितीये संप्राप्ते यथा काले मनीषिणः । आगम्य बुभुजे सर्वमन्नमुञ्छोपजीविनः ॥ १८ ॥ निराहारस्तु स मुनिरुञ्छं मार्गयते पुनः । न चैनं विक्रियां नेतुमशकन्मुद्गलं क्षुधा ॥ १९ ॥ न क्रोधो न च मात्सर्यं नावमानो न सम्भ्रमः । सपुत्रदारमुञ्छन्तमाविवेश द्विजोत्तमम् ॥ २० ॥ तथा तमुञ्छधर्माणं दुर्वासा मुनिसत्तमम् । उपतस्थे यथाकालं षट्कृत्वः कृतनिश्चयः ॥ २१ ॥ न चास्य मनसा किञ्चिद्विकारं ददृशे मुनिः । शुद्धसत्त्वस्य शुद्धं स

मांगा, तब मुद्गलने फिर और अन्न भी उन्हें दिया, दुर्वासा उसे भी उड़ागए, इसप्रकार मुनिके घरमें जितना भी अन्न था उस सबको खागए और जो उच्छिष्ट अन्न बाकी बच रहा था उसे अपने सब अंगोंमें लगाकर जिसप्रकार आये थे तैसे ही चले गए ॥१६-१७॥ इसीप्रकार दूसरे पक्षमें मुद्गलके भोजनके समय वे आकर खड़े होगए और उञ्छ वृत्तिसे अपनी आजीविका चलाने वाले विद्वान् मुद्गलके घरमें बनायेहुए सब अन्नको खाकर चलते बने ॥ १८ ॥ मुद्गल मुनि अन्नके बाकी न रहनेसे निराहार रहकर फिरसे उञ्छवृत्ति करनेलगे अर्थात् एक २ दाना बीनने लगे, उस समय उनके मनमें, क्षुधा जरा भी विकार न उपजा सकी ॥ १९ ॥ तैसे ही क्रोध, मत्सरता, अपमान तथा संभ्रम (घबराहट) इनमेंका कोई भी स्त्री और पुत्रसहित उञ्छ वृत्ति पालनेवाले उन श्रेष्ठ मुनिके मनमें प्रवेश न करसका ॥२०॥ दुर्वासा मुनि भी अपने मनमें दृढ़ निश्चय करकै उञ्छ वृत्तिके ऊपर आजीविका करनेवाले उन मुनि मुद्गलके पास भोजनके समय छः बार गए ॥२१॥ परन्तु उन्होंने उनके मनमें कुछ भी विकार नहीं देखा, किंतु शुद्ध मनवाले उन मुनिका मन शुद्ध और निर्मल

ददृशे निर्मलं मनः ॥ २२ ॥ तमुवाच ततः प्रीतः स मुनिर्मुद्गलं ततः । त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् दाता मात्सर्य्यवर्जितः॥२३॥ क्षुद्धर्मसंज्ञां प्रणुदत्यादत्ते धैर्य्यमेव च । रसानुसारिणी जिह्वा कर्षत्येव रसान् प्रति ॥ २४ ॥ आहारप्रभवाः प्राणा मनो दुर्निग्रहं चलम् । मनसश्चेन्द्रियाणाञ्चाप्यैकाग्र्यं निश्चितं तपः ॥ २५ ॥ श्रमेणोपार्ज्जितं त्यक्तुं दुःखं शुद्धेन चेतसा । तत्सर्वं भवता साधो यथावदुपपादितम् ॥ २६ ॥ प्रीताः स्मोनुऽगृहीताश्च समेत्य भवता सह । इन्द्रियाभिजयो धैर्य्यं संविभागो दमः शमः ॥२७॥ दया सत्यञ्च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् । जितास्ते कर्मभिर्लोकाः प्राप्तोऽसि परमाङ्गतिम् ॥ २८ ॥ अहो दानं विघुष्टन्ते सुमहत्

ही पाया ॥ २२ ॥ तब दुर्वासा मुनि ने प्रसन्न होकर मुद्गलसे कहा कि-"इस लोकमें तेरी समान मत्सरतारहित कोई भी दाता नहीं है, मत्सरतारहित केवल तू ही है ॥ २३ ॥ क्षुधा, धर्मका, ज्ञानका और धैर्य का नाश करदेती है और रसलम्पट जिह्वा मनुष्यको रसकी ओर खेंचकर लेजाती है (परन्तु तुमने तो स्वाद तथा क्षुधा दोनोंको जीतलिया है) ॥ २४ ॥ प्राण भोजन के अधीन है, आहार न करनेसे प्राणका नाश होजाता है, मन चञ्चल है और उसको वशमें करना अशक्य है परन्तु उस चंचल मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करनेका नाम तप है, ऐसा विद्वानोंने निश्चय किया है ॥ २५ ॥ तैसे ही परिश्रम करके जो वस्तु मिली हो उसको शुद्ध मनसे दान कर देना यह महा कठिन काम है, परन्तु हे साधो ! तुमने तो यह सब यथार्थरीतिसे सिद्ध करलिया है ॥ २६ ॥ हम तुमसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए हैं और आज तुमने हमारे ऊपर अनुग्रह किया है,इन्द्रियोंका विजय, धैर्य अन्नादिका दान, दम, शम, दया, सत्य और धर्म ये सब तुममें हैं, तुमने कर्मसे तीनों लोकोंको जीतलिया है और तुमने परमपद प्राप्त करलिया है॥२७-२८॥हे सुन्दररूपसे व्रत करनेवाले ब्राह्मण!

स्वर्गवासिभिः। सशरीरो भवान् गन्ता स्वर्गं सुचरितव्रत ॥२९॥ इत्येवं वदतस्तस्य तदा दुर्वाससो मुनेः। देवदूतो विमानेन मुद्गलं प्रत्युपस्थितः ॥ ३० ॥ हंससारसयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना। कामगेन विचित्रेण दिव्यगन्धवता तथा ॥ ३१ ॥ उवाच चैनं विप्रर्षिं विमानं कर्मभिर्जितम्। समुपारोह संसिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां मुने ॥ ३२ ॥ तमेवं वादिनमृषिर्देवदूतमुवाच ह। इच्छामि भवता प्रोक्तान् गुणान् स्वर्गनिवासिनाम् ॥ ३३ ॥ के गुणास्तत्र वसतां किं तपः कश्च निश्चयः। स्वर्गे तत्र सुखं किञ्च दोषो वा देवदूतक ॥ ३४ ॥ सतां सप्तपदं मित्रमाहुः सन्तः कुलोचिताः।

आश्चर्य है कि—तुम्हारे दान की महामहिमाको स्वर्गवासी गाते हैं और तुम दानकी महिमासे देह सहित स्वर्गमें जाओगे ॥२९॥ इसप्रकार मुनि दुर्वासा वातचीत कर रहे थे, इतनेमें ही देवदूत विमान लेकर मुद्गल मुनिके पास आया ॥ ३० ॥ उस विमानमें हंस और सारस जुते हुए थे, विमानके आस पास घूंघरुओंकी मालाएं लटक रहीं थीं, दिव्य सुगन्धियोंसे वह विमान महक रहा था, वह इच्छानुसार चलनेवाला और देखनेमें विचित्र था ३१ तदनन्तर देवदूतने विप्रर्षि मुद्गलसे कहा कि—हे मुने! तुम कर्मके प्रतापसे इस विमानमें बैठने योग्य हुए हो, अतः इस विमानमें बैठो तुमको परमसिद्धि मिलचुकी है ॥३२॥ यह सुनकर मुद्गल ऋषि देवदूतसे बोले कि—पहिले मैं तुमसे स्वर्गवासियोंके गुण सुनना चाहता हूं वह मुझसे कहो, ३३ हे देवदूत! स्वर्गलोकमें वसनेवाले लोगोंमें क्या २ गुण हैं? उनका तप कैसा है? उन्होंने अपने लिये क्या निश्चय किया है? स्वर्गमें कैसा सुख मिलता है? और स्वर्गमें क्या २ दोष हैं? ॥ ३४ ॥ कुलीन सत्पुरुष कहते हैं कि—श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ सात पैर चलनेसे मित्रता होजाती है, अतः हे व्यापक दूत! मैं तुम्हारी मित्रताका सन्मान

मित्रताञ्च पुरस्कृत्य पृच्छामि त्वामहं विभो ॥ ३५ ॥ यदत्र तथ्यं पथ्यञ्च तद् ब्रवीह्यविचारयन्। श्रुत्वा तथा करिष्यामि व्यवसायं गिरा तव ॥ ३६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकाख्यानपर्वणि मुद्गलोपाख्याने षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६० ॥

देवदूत उवाच। महर्षे आर्यबुद्धिस्त्वं यः स्वर्गसुखमुत्तमम्। संप्राप्तं बहु मन्तव्यं विमृशस्यबुधो यथा ॥ १ ॥ उपरिष्टाच्च स्वर्लोको योऽयं स्वरितिसंज्ञितः। ऊर्ध्वगः सत्पथः शश्वद्देवयानचरो मुने ॥ २ ॥ नातप्ततपसः पुंसो नामहायज्ञयाजिनः। नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल ॥ ३ ॥ धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दांता विमत्सराः। दानधर्मरताः पुंसः शूराश्चाहवलक्षणाः ॥ ४ ॥ तत्र गच्छन्ति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम्। लोकान्

करके आपसे बूझता हूं। ३५। अतः इस विषयमें जो सत्य तथा हितकारी वात हो मुझसे विना विचारे सची सची कह दो, मैं तुमसे सुनकर तुम्हारे कहनेके अनुसार उचित उद्योग करूँगा ॥ ३६ ॥ दो सौ साठवां अध्याय समाप्त ॥ २६० ॥ छ ॥

देवदूतने कहा कि–हे महर्षे मुद्गल ! तुम उदारबुद्धिवाले प्रतीत होते हो, क्योंकि–अपने पास प्राप्तहुए और सत्कार करने योग्य स्वर्गसुखके लिये भी तुम अनजानकी समान विचार करते हो ॥ १ ॥ हे मुने ! यहांसे ऊपर जो स्वर्ग लोक है, वेदमें उसको स्वर् नामसे कहा है, वह वहुत ऊँचा तथा क्रमसे मुक्ति देनेवाला है, और उसमें विमानके द्वारा पहुंचना वनसकता है ॥ २ ॥ हे मुद्गल ! जो मनुष्य तप नहीं करते हैं, जो महायज्ञ नहीं करते हैं, सत्यभाषण नहीं करते हैं और नास्तिक हैं वे स्वर्गमें नहीं जाते हैं ॥ ३ ॥ परन्तु हे ब्रह्मन् ! धर्मात्मा, मनको वशमें रखनेवाले शांत, दान्त, मत्सरतारहित दानधर्ममें परायण, शूरवीर और युद्ध करने वाले पुरुष, धर्ममें श्रेष्ठ शम–दमरूपी योगका सेवन करके सत्पुरु-

पुण्यंकृतान् ब्रह्मन् सद्भिराचरितान्नृभिः । ५ । देवाः साध्यास्तथा विश्वे तथैव च महर्षयः । यामा धामाश्च मौद्गल्य गन्धर्वाप्सरस-स्तथा ॥ ६ ॥ एषां देवनिकायानां पृथक् पृथगनेकशः । भास्वन्तः कामसम्पन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः । ७ । त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि योजनानां हिरण्मयः । मेरुः पर्वतराड् यत्र देवोद्यानानि मुद्गल ॥ ८ ॥ नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम् । न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा। ९ ।बीभत्समशुभं वापि तत्र किञ्चिन्न विद्यते । मनोज्ञाः सर्वतो गन्धाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः १० शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने । न शोका न जरा तत्र नायासपरिदेवने ॥ ११ ॥ ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः । सुकृतैस्तत्र पुरुषाः सम्भवन्त्यात्मकर्मभिः ॥ १२ ॥तैजसानि शरी-

---

पोंसे सेवित पवित्र लोकोंमें जाते हैं ॥४- ५॥ हे मुद्गल ! देवता, साध्य, विश्वेदेवा, महर्षि,-याम धाम गंधर्व और अप्सरा आदि देवता जातिके कान्तिमान् इच्छानुसार फल देनेवाले तेजोमय पृथक् २ अनेकों पवित्र लोक हैं ॥ ६–७॥ हे मुद्गल ! मेरु नामक सुवर्णका महापर्वत एक सौ वत्तीस सहस्र कोसमें है उसके ऊपर देवताओंके नन्दनवन आदि पवित्र वगीचे हैं, तहां पवित्र कर्म करनेवाले पुरुष निवास करते हैं, तहाँ भूँख, प्यास, ग्लानि, ठण्डक, गरमी, भय, ग्लानि करनेवाली और अशुभ वस्तुएं कुछ होती ही नहीं है, तहां चारों ओरसे मनोहर सुगंध आया करता है, सब प्रकारसे सुख देनेवाली वायु चला करती है ॥ ८–१०॥ और हे मुने ! तहां कानको तथा मनको मोहनेवाली ध्वनियें चारों ओरसे सुनाई देती हैं, और शोक बुढ़ापा, परिश्रम, खेद इनमेंसे कोई भी दिखाई नहीं देता है ॥ ११ ॥ हे मुने ! मनुष्योंको अपने शुभ कर्मोंके फलोंसे ऐसे आनन्दमय लोक मिलते हैं और पुरुष अपने सकल पुण्य कर्मोंके प्रभावसे तहाँ जन्मता है, हे मुनेमुद्गल!

राणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम् । कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजा-न्युत ॥ १३ ॥ न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव च । तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥ १४ ॥ न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः । संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवं विधैश्च ते १५ ईर्ष्याशोकक्लमापेता मोहमात्सर्यविवर्ज्जिताः । सुखं स्वर्गजितस्तत्र वर्त्तयंते महामुने ॥ १६ ॥ तेषां तथाविधानां तु लोकानां मुनिपुङ्गव। उपर्य्युपरिलोकस्य लोका दिव्या गुणान्विताः ॥ १७॥ पुरस्ताद् ब्राह्मणास्तत्र लोकास्तेजोमयाः शुभाः । यत्र यांत्यृषयो ब्रह्मन् पूताः स्वैः कर्मभिः शुभैः ॥ १८ ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः । तेषां लोकात्परतरे यान् यजन्तीह देवताः ॥ १९ ॥ स्व-

जो लोग तहाँ रहते हैं उनके शरीर तैजस होते हैं और वे सब शरीर कर्मसे उत्पन्न होते हैं, वे मातापिताके समागम के द्वारा वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले नहीं होते हैं ॥ १२-१३ ॥ हे मुने ! उनके शरीरोंमें पसीना नहीं आता है, दुर्गंधि नहीं होताहै, शरीरोंमेंसे मूत्र तथा विष्ठा आदि मल भी नहीं निकलता है तथा उनके वस्त्र भी धूलिसे मैले नहीं होते हैं ॥ १४ ॥ हे ब्रह्मन् ! तहाँ रहनेवालोंकी दिव्य गन्धवाली मनोहर मालाएं कुम्हलाती नहीं हैं तथा हे ब्रह्मन् ! वे देवता इस विमान की समान विमानोंमें बैठकर आया जाया करते हैं ॥ १५ ॥ हे महामुने ! स्वर्गको जीतनेवाले ईर्ष्या, शोक, ग्लानि, और मोहरहित होकर सुखपूर्वक दिन बिताते हैं ॥ १६ ॥ हे मुने ! इसप्रकार जो दिव्य लोक हैं उनसे भी ऊपर और गुणोंवाले बहुतसे दिव्य लोक हैं ॥ १७ ॥ उनमें ब्रह्मलोक पवित्र और सब लोकोंसे ऊपर है और देवता भी उसकी आराधना करते हैं ॥ १८ ॥ तहां पर दूसरे ऋभु नामक देवता हैं, वे देवताओंके भी देवता हैं और उनके लोक भी सबसे ऊपर हैं तथा देवता भी उनकी सेवा करते हैं ॥१९॥

यस्मभास्ते भास्वन्तो लोकाः कामदुघाः परे । न तेषां स्त्रीकृतस्तापो न लोकैश्वर्यमत्सरः ॥ २० ॥ न वर्त्तयंत्याहुतिभिस्ते नाप्यमृतभोजनाः । तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रहमूर्त्तयः ॥ २१ ॥ न सुखे सुखकामास्ते देवदेवाः सनातनाः । न कल्पपरिवर्त्तेषु परिवर्त्तन्ति ते तथा ॥ २२ ॥ जरामृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिःसुखं न च । न दुःखं न सुखञ्चापि रागद्वेषौ कुतो मुने ॥ २३ ॥ देवानामपि मौद्गल्य कांक्षिता सा गतिः परा । दुष्प्रापा परमासिद्धिरगम्या कामगोचरैः ॥ २४ ॥ त्रयस्त्रिंशदिमे देवा येषां लोका मनीषिभिः । गम्यंते नियमैः श्रेष्ठैर्दानैर्वा विधिपूर्वकैः ॥ २५ ॥ सेयं दानकृता व्युष्टिरनुप्राप्ता सुखं त्वया । तां भुंच्व सुकृतैर्लब्धां तपसा द्योतितप्रभः २६

ये सब लोक स्वयंप्रकाश हैं, तेजस्वी हैं और लोगोंकी कामनाओंको पूरी करनेवाले हैं, उनको स्त्रियोंके विषयका संताप तथा लौकिक ऐश्वर्य से डाह नहीं होता है ॥ २० ॥ वे आहुतिके ऊपर आजीविका नहीं करते हैं, तथा वे अमृतका भोजन भी नहीं करते हैं, उनका शरीर लौकिक नहीं है, किन्तु दिव्य है ॥ २१ ॥ वे सनातन देवदेव सुखके विषयमें सुखकी बुद्धिसे नहीं लगते हैं, कल्पका नाश होनेके समय भी उनका नाश नहीं होता है ॥ २२ ॥ हे मुने ! वे जब अविनाशी हैं तो उन्हें बुढापा और मरण कैसे पीडा देसकते हैं ? वे आनन्द प्रेम तथा सुख रहित हैं, जब वे सुखदुःखशून्य हैं तो उनमें रागद्वेष कहांसे होंगे ?॥२३॥ हे मौद्गल्य ! देवता भी उस श्रेष्ठ गतिको पाना चाहते हैं, परंतु उस परमसिद्धिका मिलना कठिन है, तैसे ही इच्छाविहारी पुरुषों को भी वह परमसिद्धि अगम्य और दुष्प्राप्य है ॥ २४ ॥ वे देवता तैंतीस हैं और उनके लोकोंमे विद्वान् श्रेष्ठ नियमोंका पालन कर तथा विधिपूर्वक श्रेष्ठ दान करके जाते हैं ॥ २५ ॥ तुमने वह सम्पत्ति, दानके पुण्यसे सहजमें ही पाई है, अतः तपसे महाकान्तिमान् तुम तपसे प्राप्त कीहुई उस सम्पत्तिको भोगो ॥ २६ ॥ हे

एतत् स्वर्गसुखं विप्र लोका नानाविधास्तथा । गुणाः स्वर्गस्य प्रोक्तास्ते दोषानपि निबोध मे ॥ २७ ॥ कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत्फलं दिवि । न चान्यत् क्रियते कर्म मूलच्छेदे न भुज्यते ॥ २८ ॥ सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यांते पतनञ्च यत् । सुखव्याप्तमनस्कानां पतनं यच्च मुद्गल ॥ २९ ॥ असन्तोषः परीतापो दृष्ट्वा दीप्ततरा श्रियः । यद्भवत्यवरे स्थाने स्थितानां तत् सुदुष्करम् ३० संज्ञामोहश्च पततां रजसा च प्रधर्षणम् । प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम् ३१ आब्रह्मभवनादेते दोषा मौद्गल्यदारुणाः । नाकलोके सुकृतिनां गुणास्त्वयुतशो नृणाम् ३२ अयं त्वन्या गुणः श्रेष्ठश्च्युतानां स्वर्गतो मुने । शुभानुशययो-

विप्र ! इसप्रकार स्वर्गका सुख है तथा ऐसे स्वर्गादि लोक भी बहुतसे हैं, मैंने तुमसे स्वर्गआदि लोकोंके गुण कहे अब मुझसे उन लाकोंके दोष भी सुनो ॥२७॥ जो कुछ कर्म किये होते हैं स्वर्ग में केवल उनका फलही मिलता है तहां रहकर. और नये कर्मों का संग्रह नहीं होसकता, तहां तो मूलकी पूंजी को ही खर्च करके भोग करना पड़ता है ॥ २८ ॥ और उन कर्मों के पूरा होनेपर स्वर्गमें से जो गिरना पड़ता है उसे मैं दोष समझता हूं, हे मुद्गल ! जिनका मन सुखमें लवलीन हो ऐसे पुरुषोंका जो पतन होता है वह दोषरूप गिनाजाता है ॥ २९ ॥ महातेजस्वी ऐश्वर्योंको देख-नेके पीछे अधम स्थानमें गिरेहुए प्राणियोंको असन्तोष और दुःख हुआ करता है वह बड़ा ही कष्टदायक होता है ॥ ३० ॥ तैसे ही स्वर्गमेंसे गिरनेवालों को पहिले बुद्धिमोह होता है, तदनन्तर रजोगुणसे उनका तिरस्कार होता है, फिर जब उनके कण्ठके फूल कुम्हलाने लगते हैं तब स्वर्गसे भ्रष्ट होनेवाले पुरुषको, मैं अब गिरा, मैं अब गिरा इस प्रकार भय होने लगता है ॥ ३१ ॥ हे मुद्गल ! यह दारुण दोष ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकोंमें भी है, परन्तु जो स्वर्गलोकमें रहते हैं उन्हें सहस्रों लाभ भी हैं ।३२।

गेन मनुष्येपूपजायते ३३ तत्रापि स महाभागः सुखभागभिजायते न चेत्सम्बुध्यते तत्र गच्छत्यधमतां ततः ॥ ३४ इह यत् क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते । कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता ॥३५ ॥ मुद्गल उवाच । महान्तस्तु अमी दोषास्त्वया स्वर्गस्य कीर्त्तिताः । निर्दोष एव यस्त्वन्यो लोकं तं प्रवदस्व मे ॥ ३६ ॥ देवदूत उवाच ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम् । शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यं विदुः ॥ ३७ ॥ न तत्र विप्र गच्छन्ति पुरुषा विषयात्मकाः । दम्भलोभमहाक्रोधमोहद्रोहैरभिद्रुताः ॥ ३८ ॥ निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः । ध्यानयोगपराश्चैव तत्र

हे मुने! स्वर्गसे भ्रष्ट होनेवाले मनुष्योंके लिये एक यह दूसरा लाभ है कि-शुभकर्मका पक्षपात करनेवाली बुद्धिके प्रभावसे वह विवेकी होकर फिर मनुष्यजातिमें उत्पन्न होजाते हैं ॥ ३३ ॥ और उस जातिमें भी वह महाभाग पुरुष सुख ही भोगते हैं, मनुष्यजातिमें जन्म होनेपर भी यदि उन्हें आत्मा और अनात्माका ज्ञान नहीं होता है तो वे अधमगतिको पाते हैं ॥ ३४ ॥ हे ब्रह्मन्! इस लोकमें जो कुछ कर्म कियेजाते हैं उनका फल स्वर्गादि लोकोंमें भुगवाया जाता है, क्योंकि-मनुष्यलोक कर्मभूमि है स्वर्गादि लोक फलभूमि हैं ॥ ३५ ॥ मुद्गल बोले कि-तुमने जो यह स्वर्गके दोष कहे ये दोष तो बड़े हैं, अतः जो लोक निर्दोष हो उन लोकोंका नाम तुम मुझसे कहो ॥ ३६ ॥ यह सुनकर देवदूत बोला कि-ब्रह्मलोकसे ऊपर एक लोक है, उसको विष्णुका परमधाम कहते हैं, वह शुद्ध सनातन और तेजस्वी है, और योगी उसे परब्रह्मके नामसे पहिचानते हैं ॥ ३७ ॥ हे विप्र! संसारी जालमें बँधेहुए पुरुष तहां नहीं पहुंचसकते तथा दम्भ, लोभ, मोह और द्रोहमें फँसे रहनेवाले पुरुष भी तहां नहीं जासकते ॥ ३८ ॥ किंतु ममता-रहित अहंकारशून्य, सुख और दुःखको एकसा माननेवाले जितेन्द्रिय तथा ध्यानयोगमें तत्पर मनुष्य तहाँ जासकते हैं, हे मुद्गल

गच्छान्ति मानवाः ॥ ३९ ॥ एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि मुद्गल । तवानुकम्पया साधो साधु गच्छाम मा चिरम् ॥ ४० ॥ व्यास उवाच । एतच्छ्रुत्वा तु मौद्गल्यो वाक्यं विममृशे धिया । विमृश्य च मुनिश्रेष्ठो देवदूतमुवाच ह॥४१॥देवदूत नमस्तेऽस्तु गच्छ तात यथासुखम् । महादोषेण मे कार्य्यं न स्वर्गेण सुखेन वा॥४२॥ पतनान्ते महादुःखं परितापः सुदारुणः । स्वर्गभाजश्चरन्तीह तस्मात् स्वर्गं न कामये॥४३॥ यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चरन्ति वा । तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम्॥४४॥इत्युक्त्वा स मुनिर्वाक्यं देवदूतं विसृज्य तम् । शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा शममातिष्ठदुत्तमम् ॥ ४५ ॥ तुल्यनिन्दास्तुतिर्भूत्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः । ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह ॥ ४६ ॥ ध्यानयोगाद्बलं

तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था वह मैंने तुम्हें सुनादिया, हे महात्मा ! अब आप अपनी कृपासे शीघ्र ही स्वर्गमें चलो देर मतकरो ॥ ३९-४० ॥ व्यासजी कहते हैं कि–हे युधिष्ठिर ! यह सुन मुद्गल अपनी बुद्धि लड़ाकर उसकी वातका विचार करने लगे और उससे कहा कि—॥ ४१ ॥ हे तात देवदूत ! मैं तुझको नमस्कार करता हूं तू भले ही आनन्दपूर्वक लौट जा मुझे महादोषभरे स्वर्गसे तथा उसके सुखसे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥४२॥ क्योंकि–स्वर्गवासियोंको स्वर्गमेंसे गिरने पर महादुःख और अतिदारुण पछतावा होता है, और वे इस पृथ्वीमें उतर कर भटकते फिरते हैं अतः मैं स्वर्गमें जाना नहीं चाहता ॥ ४३ ॥ परन्तु मनुष्य जहाँ पहुंचकर पीछेसे शोक नहीं करते हैं, पीड़ा नहीं पाते हैं तथा उस लोकसे भ्रष्ट भी नहीं होते हैं, ऐसे विनाशरहित लोकको ही मैं खोजूंगा ॥ ४४ ॥ ऐसा कहकर उस देवदूतको जानेकी आज्ञा दी, शिलोञ्छवृत्ति करनेवाले धर्मात्मा मुद्गल श्रेष्ठ शान्तिको धारण करके स्तुति और निंदाको समान मानने लगे, मट्टी, पत्थर और सोनेको एकसा जानने लगे, और शुद्ध ज्ञानयोगसे सदा ध्यानमें

लब्ध्वा प्राप्य बुद्धिमनुत्तमाम्। जगाम शाश्वतीं सिद्धिं परां निर्वाण-लक्षणाम् ॥ ४७ ॥ तस्मात्त्वमपि कौन्तेय न शोकं कर्त्तुमर्हसि। राज्यात्स्फीतात् परिभ्रष्टस्तपसा तदवाप्स्यसि ॥ ४८ ॥ सुखस्या-नन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्। पर्य्यायेणोपसर्पन्ते नरं नेमि-मरा इव ॥४९॥ पितृपैतामहं राज्यं प्राप्स्यस्यमितविक्रम। वर्षान्त्र-योदशादूर्ध्वं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ५० ॥ वैशम्पायन उवाच। स एवमुक्त्वा भगवान् व्यासः पाण्डवनन्दनम्। जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ५१ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकाख्यानपर्वणि मुद्गल देवदूतसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥

समाप्तञ्च व्रीहिद्रौणिकपर्व ॥

मग्न रहने लगे तथा ध्यानयोगसे श्रेष्ठ वैराग्य प्राप्त करके उन्होंने परमोत्तम ज्ञान पाया और उसके प्रभावसे अविनाशी निर्वाण नामकी शाश्वत सिद्धि पाई ॥ ४५—४७ ॥ अतः हे कुन्तीपुत्र ! तुम्हे भी शोक करना उचित नहीं है, तुम अभी श्रेष्ठ उज्ज्वल राज्यसे भ्रष्ट होगये हो, परन्तु तप करनेसे तुम्हे राज्य फिर मिल जायगा ॥ ४८ ॥ मनुष्यको सुखके पीछे दुःख और दुःखके पीछे सुख भोगना पड़ता है, चक्रधाराके इधर उधरके आरे जैसे हिरते फिरते रहते हैं, तैसे ही सुख दुःख भी मनुष्यके आसपास फिरते रहते हैं. हे परम पराक्रमी ! तेरह वर्ष बीतने पर तुम्हारे बाप दादा का राज्य तुम्हें फिर मिलेगा, अतः अपने मनके सन्तापको दूर करो ॥ ४९—५० ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—इसप्रकार बुद्धि-मान् व्यासजी पाण्डवोंको उपदेश देकर तप करनेके लिये आश्रमकी ओरको चलेगये ॥ ५१ ॥ दो सौ इकसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६१ ॥ छ ॥ छ ॥

श्रीहिद्रौणिकपर्व समाप्त ॥

॥ अथ द्रौपदीहरणपर्व ॥

जनमेजय उवाच । वसंत्स्वेवं वने तेषु पाण्डवेषु महात्मसु । रममाणेषु चित्राभिः कथाभिर्मुनिभिः सह ॥ १ ॥ सूर्य्यदत्ताक्षयान्नेन कृष्णाया भोजनावधि । ब्राह्मणांस्तर्प्यमाणेषु ये चान्नार्थमुपागताः ॥ २ ॥ आरण्यानां मृगाणाञ्च मांसैर्नानाविधैरपि । धार्त्तराष्ट्रा दुरात्मानः सर्वे दुर्य्योधनादयः ॥ ३ ॥ कथं तेष्वन्ववर्त्तन्त पापाचारा महामुने । दुःशासनस्य कर्णस्य शकुनेश्च मते स्थिताः ॥४॥ एतदाचक्ष्व भगवन् वैशम्पायन पृच्छतः । वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वा तेषां तथा वृत्तिं नगरे वसतामिव ॥५॥ दुर्य्योधनो महाराज तेषु पापमरोचयत् । तथा तैर्निकृतिप्रज्ञैः कर्णदुःशासनादिभिः ॥६॥ नानोपायैरघं तेषु चिन्तयत्सु दुरात्मसु । अभ्यागच्छत् स धर्मात्मा

द्रौपदीहरणपर्व

जनमेजयने बूझा कि-हे वशंपायन ! महात्मा पाण्डव इसप्रकार वनमें रहकर मुनियोंके साथ विचित्र कथाएं (कह कर) आनन्द पूर्वक विहार करनेलगे और द्रौपदीके जीमने तक जो२ब्राह्मण भोजनके लिये आते थे उनको सूर्यकी दीहुई अक्षय अन्नवाली वटलोईसे तथा जंगली पशुओंके नाना प्रकारके मांसके भोजनोंसे तृप्त करते थे, हे महामुने ! इस समय दुःशासन, कर्ण और शकुनि के विचारके अनुसार चलनेवाले दुराचरणी दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्र, पाण्डवोंके साथ कैसा व्यवहार रखते थे ? हे भगवन् ! यह मैं तुमसे बूझता हूं मुझे सुनाओ ॥ १-४ ॥ वैशम्पायन बोले कि-हे महाराज ! दुर्योधनको मालूम हुआ कि-नगरनिवासी जिसप्रकार अपना निर्वाह करते हैं तिसीप्रकार पाण्डव भी अपना निर्वाह करते हैं ॥ ५ ॥ इसकारण दुर्योधनने पाण्डवों को दुःख पहुंचाना चाहा तदनन्तर दुष्टात्मा धृतराष्ट्रका पुत्र पांडवों को दुःख देनेके लिये कपट करनेमें कुशल कर्ण तथा दुःशासन आदिके साथ अनेकों उपाय सोचनेलगा इतनेमें ही महायशस्वी

तपस्वी सुमहायशाः ॥ ७ ॥ शिष्यायुतसमोपेतो दुर्वासा नाम कामतः । समागतमभिप्रेक्ष्य मुनिं परमकोपनम् ॥८॥ दुर्योधनो विनीतात्मा प्रश्रयेण दमेन च । सहितो भ्रातृभिः श्रीमानातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ ९ ॥ विधिवत् पूजयामास स्वयं किङ्करवत् स्थितः । अहानि कतिचित्तत्र तस्थौ स मुनिसत्तमः ॥१०॥ तञ्च पर्य्यचरद्राजा दिवारात्रमतन्द्रितः । दुर्योधनो महाराज शापात्तस्य विशङ्कितः ॥ ११ ॥ क्षुधितोऽस्मि ददस्वान्नं शीघ्रं मम नराधिप । इत्युक्त्वा गच्छति स्नातुं प्रत्यागच्छति वै चिरात् । न भोक्ष्याम्य मे नास्ति क्षुधेत्युक्त्वैत्यदर्शनम् ॥ १२ ॥ अकस्मादेत्य च ब्रूते भोजयास्मांस्त्वरान्वितः । कदाचिच्च निशीथे स उत्थाय निकृतौ स्थितः ।१३।

तपस्वी और धर्मात्मा दुर्वासा मुनि दश सहस्र शिष्योंको साथमें लेकर दुर्योधनके यहां अतिथिरूपसे पधारे. उन महाक्रोधी मुनिको आते देखकर ॥ ६—८ ॥ विनीतात्मा श्रीमान् दुर्योधन, अपने भाइयों सहित मुनिके संमुख गया और सरलता तथा दमसे मुनिको अतिथिसत्कार ग्रहण करनेके लिये निमंत्रण दिया तथा स्वयं सेवककी समान खड़े होकर उन मुनिकी सेवाकी, मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा कितने ही दिनोंतक तहां रहे ॥ ९-१० ॥ हे महाराज ! उस समय दुर्योधन उनके शापसे भय खाकर रात-दिन सावधानीसे उनकी सेवा करता था ॥११॥ वे मुनि राजासे कहते थे कि—हे राजन् ! मैं भूखा होगया हूँ, अतः मुझे खाने के लिये शीघ्र ही भोजन दो इसप्रकार कहकर स्नान करनेके लिये चलेजाते थे और बहुत देरमें आकर कहते थे कि—आज तो मुझे भूँख नहीं है, अतः मैं भोजन नहीं करूँगा, इस प्रकार कहकर फिर अदृश्य होजाते थे ॥ १२ ॥ और फिर अचानक आकर कहते थे कि—हे राजन् ! मुझे शीघ्र ही भोजन कराओ और किसी दिन दुर्योधनको धोखा देनेके लिये प्रवृत्त होकर वे आधी रातको

पूर्ववत् कारयित्वान्नं न भुंक्ते गर्हयन् स्म सः । वर्त्तमाने तथा तस्मिन् यदा दुर्य्योधनो नृपः ॥ १४ ॥ विकृतिं नैति न क्रोधं तदा तुष्टोऽभवन्मुनिः । आह चैनं दुराधर्षो वरदोऽस्मीति भारत ॥१५॥ दुर्वासा उवाच । वरं वरय भद्रन्ते यत्ते मनसि वर्त्तते । मयि प्रीते तु यद्धर्म्यं नालभ्यं विद्यते तव ॥ १६ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य महर्षेर्भावितात्मनः । अमन्यत पुनर्जातमात्मानं स सुयोधनः ॥१७॥ प्रागेव मन्त्रितञ्चासीत् कर्णदुःशासनादिभिः याचनीयं मुनेस्तुष्टादिति निश्चित्य दुर्मतिः ॥१८॥ अतिहर्षान्वितो राजन् वरमेनमयाचत । शिष्यैः सह मम ब्रह्मन् यथा जातोऽतिथिर्भवान् ॥ १९ ॥ अस्मत्कुले महाराजो ज्येष्ठः श्रेष्ठो युधिष्ठिरः ।

उठकर ॥ १३ ॥ प्रथमकी समान अन्न तय्यार कराकर उसको बुरा बताते थे और उसके यहाँ भोजन नहीं करते थे, हे भारत ! इसप्रकार दुर्वासाके वर्ताव करनेपर भी जब दुर्योधनके मनमें विकार नहीं आया तथा उसको क्रोध भी नहीं आया तब तो दुर्वासा मुनि प्रसन्न होगए और उन दुराधर्ष मुनिने कहा कि–मैं तुझको वर देता हूँ ॥ १४–१५ ॥ दुर्वासा बोले कि–तेरा कल्याण हो तेरे मनमें जो इच्छा हो तैसा वर मांगले, मेरे प्रसन्न होनेपर जो वस्तु धर्मानुकूल होगी वह वस्तु तुझे अलभ्य नहीं होगी ॥ १६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि–पवित्र मनवाले महर्षिके ऐसे वचनोंको सुनकर दुर्योधनने समझा कि–मानो मेरा नया जन्म होगया ॥ १७ ॥ तदनन्तर राजाने कर्ण दुःशासन आदिके साथ पहिलेसे ही विचार कर रक्खा था कि--मुनि प्रसन्न होजायंगे तो उनसे अमुक वर मांगेंगे, अतः हे राजन् ! उस दुष्टबुद्धि राजाने बड़े हर्षमें भरकर इसप्रकार वर मांगा कि-हे ब्रह्मन् ! हमारे कुलमें महात्मा धर्मराज युधिष्ठिर, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ गुणवान् और सुशील हैं, वे अब भाइयों सहित वनमें रहते हैं, अतः तुम जैसे हमारे यहां शिष्यों-

वने वसति धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ॥२०॥ गुणवान् शील-सम्पन्नस्तस्य त्वमतिथिर्भव । यदा च राजपुत्री सा सुकुमारी यशस्विनी ॥२१॥ भोजयित्वा द्विजान् सर्वान् -पतींश्च वरवर्णिनी । विश्रान्ता च स्वयं भुक्त्वा सुखासीनाभवेद्यदा ॥ २२ ॥ तदा त्वं तत्र गच्छेथा यद्यनुग्राह्यतां मयि । तथा करिष्ये त्वत्प्रीत्यायेवमुक्त्वा सुयोधनम् ॥ २३ ॥ दुर्वासा अपि विप्रेन्द्रो यथागतमगात्ततः । कृतार्थमपि चात्मानं तदा मेने सुयोधनः ॥ २४ ॥ करेण च करं गृह्य कर्णस्य मुदितो भृशम् । कर्णोऽपि भ्रातृसहितमित्युवाच नृपं मुदा ॥ २५ ॥ कर्णउवाच । दिष्ट्या कामः सुसंवृत्तो दिष्ट्या कौरव वर्द्धसे । दिष्ट्या ते शत्रवो मग्ना दुस्तरे व्यसनार्णवे ॥२६॥ दुर्वासः-क्रोधजे वन्हौ पतिताः पाण्डुनन्दनाः । स्वैरेव ते महापापैर्गतावै

सहित अतिथि हुए हो, तैसे ही उनके यहाँ भी जाओ, परन्तु आप तहाँ इस नियमपर अतिथि बनकर जाइये कि–यशस्विनी सुकुमारी सुन्दर वर्णवाली राजपुत्री द्रौपदी सब ब्राह्मण और पतियोंको जिमा स्वयं भी भोजन करके सुखसे आराम कररही हो, तब ही तुम अकस्मात् उनके यहाँ अतिथि बनकर जाओ, यदि आप मेरे ऊपर प्रेम करते हो तो ऐसा ही करो, यह सुनकर विप्रोंमें श्रेष्ठ दुर्वासा बोले कि–तेरे ऊपर प्रेम होनेसे मैं ऐसा ही करूँगा, सुयोधनसे इसप्रकार कहकर दुर्वासा जैसे आये थे तैसे ही विदा होगए सुयोधन उस समय अपनेको कृतार्थ माननेलगा ॥ १८--२४ ॥ और अपने हाथसे कर्णका हाथ पकड़कर बहुत प्रसन्न हुआ उस समय कर्णने भी हर्ष में भरकर दुर्योधनसे तथा उसके भाइयोंसे कहा ॥ २५ ॥ कर्ण बोला कि-हे कौरव! सौभाग्यवश तुम्हारी इच्छा पूरी होगई और भाग्यवश ही तुम्हारी वृद्धि भी हुई तथा तुम्हारे शत्रु दुस्तर दुःखसागरमें डूबगये यह भी ठीक ही हुआ ॥ २६ ॥ पाण्डुके पुत्र दुर्वासाकी क्रोधाग्निमें पड़चुके अब वे अपने महापातकोंसे दुस्तर अंधतम नरकमें गिरेंगे

दुस्तरं तमः ॥ २७ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्थं ते निकृतिप्रज्ञा राजन् दुर्योधनादयः । हसन्तः प्रीतमनसो जग्मुः स्वं स्वं निकेतनम्

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वाससउपाख्याने द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६२ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः कदाचिद् दुर्वासाः सुखासीनांस्तु पाण्डवान् । भुक्त्वा चावस्थितां कृष्णां ज्ञात्वा तस्मिन् वने मुनिः ॥ १ ॥ अभ्यागच्छत् परियुतः शिष्यैरयुतसम्मितैः । दृष्ट्वायान्तं तमतिथिं स च राजा युधिष्ठिरः ॥ २ ॥ जगामाभिमुखः श्रीमान् सह भ्रातृभिरच्युतः । तस्मै वध्वांजलिं सम्यगुपवेश्य वरासने ।३। विधिवत् पूजयित्वा तमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् । आह्निकं भगवन् कृत्वा शीघ्रमेहीति चाब्रवीत् ॥४॥ जगाम च मुनिः सोऽपि स्नातुं

॥ २७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि- हे राजन् जनमेजय ! इसप्रकार प्रबन्ध करनेके अनन्तर कपटमें प्रवीण दुर्योधन आदि मनमें प्रसन्न होकर हँसतेहुए अपने २ राजभवनोंको चलेगए ॥ २८ ॥ दोसौ बासठवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६२ ॥ छ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि--हे जनमेजय ! तदनन्तर एक समय दुर्वासा मुनि यह समाचार पाकर कि--पाण्डव और द्रौपदी भोजन कर सब कामकाजसे निपटकर सुखसे बैठे हैं, उस समय दश हजार शिष्योंके साथ काम्यक वनमें गये, उन अतिथियोंको आते हुए देखकर श्रीमान् धर्मात्मा और दृढ मनवाले राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित उनको लेनेको उठे और दोनों हाथ जोड़ेहुए मुनिको प्रणाम करके आश्रममें लिवालाये तथा आसनके ऊपर बैठालकर विधिके अनुसार पूजा करके उनको अतिथिसत्कार ग्रहण करनेके लिये निमंत्रण दिया और कहा कि--हे महाराज ! तुम नित्यकर्मको पूरा करके शीघ्रही भोजन करनेके लिये पधारो ॥ १-४ ॥ दोषरहित वह मुनि भी यह राजा मुझै तथा मेरे

शिष्यैः सहानघः। भोजयेत् सहशिष्यं मां कथमित्यविचिन्तयन् ॥ ५ ॥ न्यमज्जत् सलिले वापि मुनिसंघः समाहितः । एतस्मिन्नन्तरे राजन् द्रौपदी योषिताम्वरा ॥ ६ ॥ चिन्तामवाप परमामन्नहेतोः पतिव्रता। सा चिन्तयन्ती च यदा नान्नहेतुमविन्दत ।७। मनसा चिन्तयामास कृष्णं कंसनिसूदनम् । कृष्ण कृष्ण महावाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥ ८ ॥ वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्त्तिविनाशन विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥ ९ ॥ प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर। आकृतीनाञ्च चित्तीनां प्रवर्त्तक नतास्मि ते ॥ १० ॥ वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव । पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ॥ ११ ॥ सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वयाहं शरणं गता। पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ॥१२॥ नीलो-

---

शिष्योंको कहाँसे भोजन करावेगा, ऐसा मनमें विचार करतेहुए स्नान करनेको नदीके तीर पर चले ॥ ५ ॥ हे राजन्! जिस समय सब मुनियोंकी मण्डली सावधान हो पानीमें गोता लगाकर स्नान करने लगी उस समय स्त्रियोंमें श्रेष्ठ पतिव्रता द्रौपदी अन्नके लिये वड़ी चिंता करने लगी, उसने बहुत विचार किया, परन्तु अन्न मिलनेका कोई भी उपाय उसकी समझमें नहीं आया, तव द्रौपदी अपने मनमें कंसका नाश करनेवाले श्रीकृष्णका इसप्रकार स्मरण करनेलगी कि—हे कृष्ण! हे महावाहो! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी! हे वासुदेव! हे जगन्नाथ! हे प्रणतार्तिविनाशन! हे विश्वात्मन्! हे विश्वजनक! हे विश्वहर्ता! हे प्रभो! हे अव्यय! हे शरणागतरक्षक! हे गोपाल! हे प्रजापाल! हे परात्पर! हे आकृति (चित्तकी वृत्ति) और चित्ति (चिद्वृत्ति) के प्रवर्तक! मैं आपको प्रणाम करती हूं ॥६–१०॥ हे वरेण्य! हे वरद! हे अनन्त! तुम शरणरहितका शरण होते हो, हे पुराणपुरुष! हे प्राण मन आदिकी वृत्तिके अगोचर! ११ हे सर्वाध्यक्ष! हे पराध्यक्ष! मैं तुम्हारी शरणमें आई हूं, हे देव! हे शरणागतवत्सल! कृपा करके मेरी रक्षा करो ॥ १२ ॥ हे

त्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण । पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तु- भभूषण ॥ १३ ॥ त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम् । परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ १४ ॥ त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम् । त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि ॥ १५ ॥ दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा तथैव सङ्कटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥१६॥ वैशम्पायन उवाच । एवंस्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः । द्रौपद्या सङ्कटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः ॥ १७ ॥ पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः । तत्राजगाम त्वरितो ह्यचिन्त्यगतिरीश्वरः ॥ १८ ॥ ततस्तं द्रौपदी दृष्ट्वा प्रणम्य परया मुदा । अब्रवीद्वासुदेवाय मुनेराग-

---

नीलोत्पलदलश्याम ! हे पद्मगर्भारुहेक्षण ! (कमलके गर्भका समान लाल नेत्रोंवाले) हे पीताम्बरधारी ! हे शोभायमान कौस्तुभ मणि के आभूषणको धारण करनेवाले ! ॥ १३ ॥ तुम प्राणियोंको उत्पन्न करते हो और उनका नाश करते हो तैसे ही प्राणियोंके परम आश्रयस्थान हो, तुम परात्पर हो,तेजोमूर्ति हो,विश्वात्मा हो, सर्वव्यापक हो ॥ १४ ॥ मुनि तुमको ही परमबीजरूप कहते हैं; सब संपत्तियोंके खजानारूप कहते हैं,हे देवेश ! नाथ ! ऐसे तुम्हारे होतेहुए हमें किन्हीं आपत्तियोंसे भय नहीं है ॥ १५ ॥ तुमने पहिले कौरवोंकी राजसभामें जैसे दुःशासनसे मेरी रक्षा की थी तैसे ही इस संकटमेंसे छुड़ाना भी आपको उचित है ॥ १६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—इसप्रकार जब द्रौपदीने भक्तवत्सल श्री- कृष्णकी स्तुति की तब देवदेव जगत्पति केशव भगवान् द्रौपदीके संकटको जान शय्यापर समीपमें सोतीहुई रुक्मिणीको त्याग कर अचिन्त्यगति ईश्वर शीघ्रतासे द्रौपदीकी ओरको दौड़े आये ॥ १७-१८ ॥ द्रौपदी श्रीकृष्णके दर्शन करके परम हर्षमें भरगई और उनको प्रणाम किया तथा वासुदेवसे दुर्वासा मुनिके आने

मनादिकम् ॥१९॥ ततस्तामब्रवीद् कृष्णः क्षुधितोऽस्मि भृशातुरः । शीघ्रं भोजय मां कृष्णे पश्चात् सर्वं करिष्यसि ॥ २० ॥ निशम्य तद्वचः कृष्णा लज्जिता वाक्यमब्रवीत् । स्थाल्यां भास्करदत्तायामन्नं मद्भोजनावधि ॥ २१ ॥ भुक्तवत्यस्म्यहं देव तस्मादन्नं न विद्यते । ततः प्रोवाच भगवान् कृष्णां कमललोचनः ॥ २२ ॥ कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रमेणा-तुरे मयि । शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानयित्वा प्रदर्शय ॥ २३ ॥ इति निर्बन्धतः स्थालीमानाय्य स यदूद्वहः । स्थाल्याः कण्ठेऽथ संलग्नं शाकान्नं वीक्ष्य केशवः ॥ २४ ॥ उपयुज्याब्रवीदेनामनेन हरिरीश्वरः । विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक् २५

आदिका सब वृत्तान्त कहा॥१९॥यह सुनकर श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा कि-मुझै भूँख लगी है इसकारण मैं घवड़ा रहा हूं, अतः हे कृष्णे! मुझे शीघ्र ही भोजन करा,फिर मैं और सब काम करूँगा ॥ २० ॥ श्रीकृष्णकी इस वातको सुनकर द्रौपदी लज्जित होगई और कहा कि-सूर्यने हमैं जो अक्षयपात्र दिया है उसमें जवतकै मैं भोजन नहीं करती हूं,तवतक ही अन्न रहता है मेरे भोजन करचुकने पर उसमेंका अन्न निवडजाता है॥ २१ ॥ हे देव! मैंने भोजन करलिया है, इससे अव उसमें अन्न नहीं है. यह सुनकर कमल-नेत्र भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा कि-॥ २२ ॥ हे कृष्णे! मैं भंख और थकावटसे घवड़ागया हूं अतः यह समय हँसी करने का नहीं है, तुम जल्दी जाओ और वटलोई (अक्षयपात्र) लाकर मुझै दिखाओ इसप्रकार यदुवंशी श्रीकृष्णने हठ करके वटलोई मंगाकर देखी तो उसकी गरदनमें शाक (तरकारी) का एक पत्ता लगाहुआ पाया. उसको देखकर यज्ञभोजी श्रीकृष्णने उस शाकके पत्तेको अपने मुखमें डाललिया और फिर द्रौपदीसे कहनेलगे कि-'इस सागके पत्तेसे विश्वात्मा ईश्वर श्रीहरि प्रसन्न हों और यज्ञभोक्ता ईश्वर सन्तुष्ट हों ॥ २४-२५ ॥ तदनन्तर

आकारय मुनीन् शीघ्रं भोजनायेति चाब्रवीत् । सहदेवं महाबाहुः कृष्णः क्लेशविनाशनः ॥ २६ ॥ ततो जगाम त्वरितः सहदेवो महायशाः । आकारितन्तु तान् सर्वान् भोजनार्थं नृपोत्तम ॥२७॥ स्नातुं गतान् देवनद्यां दुर्वासःप्रभृतीन्मुनीन् । ते चावतीर्णाः सलिले कृतवन्तोऽघमर्पणम् ॥ २८ ॥ दृष्ट्वोद्गारान् सान्नरसां-स्तृप्त्या परमया युताः । उत्तीर्य्य सलिलात्तस्माद्दृष्टवन्तः परस्परम् ॥ २६ ॥ दुर्वाससमभिप्रेक्ष्य ते सर्वे मुनयोऽब्रुवन । राज्ञा हि कारयित्वान्नं वयं स्नातुं समागताः ॥ ३० ॥ आकण्ठतृप्ता विप्रर्षे किंस्विद्भुञ्जामहे वयम् । वृथापाकः कृतोऽस्माभिस्तत्र किं करवामहे ॥ ३१ ॥ दुर्वासा उवाच ॥ वृथापाकेन राजर्षेरपराधः कृतो महान् । मास्मानधाक्षुर्दृष्ट्वैव पाण्डवाः क्रूरचक्षुपः ॥ ३२ ॥

क्लेशनाशक महाबाहु श्रीकृष्णने सहदेवसे कहा कि-तू शीघ्र ही जाकर मुनियोंको भोजन करनेके लिये बुला ला ॥ २६ ॥ तब हे श्रेष्ठ राजन् ! महायशस्वी सहदेव शीघ्रताके साथ देवनदीके तट-पर स्नान करनेको गये हुए दुर्वासा आदि मुनियोंको भोजन करने के लिये बुलानेगया, उस समय मुनि जलमें खड़े२ अघमर्षण कर रहे थे ॥ २७-२८ ॥ वे अन्नके रसवाला डकारें लेने लगे,उनका गला तक अन्नसे ठसगया और वे सब मुनि जलमेंसे निकलकर एक दूसरेका मुख ताकने लगे तथा दुर्वासासे बोले कि-हम राजा युधिष्ठिरको भोजन बनानेका आज्ञा देकर यहां स्नान करनेको आये हैं ॥ २९ -३० ॥ परन्तु हे विप्रर्षे ! हमारा तो (पेट) गलेतक भरगया है और अन्नके लिये पेटमें जरा भी स्थान खाली नहीं है. अतः हमने जो उनके घर रसोई बनवाई है वह व्यर्थ जायगी सो अब क्या करना चाहिये ॥ ३१ ॥ दुर्वासा बोले कि-हमने वृथा ही भोजन करवा कर उस राजर्षिका बड़ाभारी अपराध किया है, अतः अब ऐसा करो कि-जिसमें पाण्डव हमें क्रूरदृष्टि से देखकर भस्म न करडालें ॥ ३२ ॥ हे ब्राह्मणों ! बुद्धिमान्

स्मृत्वानुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः । बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात् ॥ ३३ ॥ पांडवाश्च महात्मानः सर्वे धर्म्मपरायणाः । शूराश्च कृतविद्याश्च व्रतिनस्तपसि स्थिताः॥३४॥सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः । क्रुद्धास्ते निर्दहेयुर्वै तूलराशिमिवानलः । तत एतानपृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायत ॥ ३५ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तास्ते द्विजाः सर्वे मुनिना गुरुणा तदा । पांडवेभ्यो भृशं भीता दुद्रुवुस्ते दिशो दश ॥ ३६ ॥ सहदेवो देवनद्यामपश्यन्मुनिसत्तमान् । तीर्थेष्वितस्ततस्तस्या विचचार गवेषयन् ॥ ३७ ॥ तत्रस्थेभ्यस्तापसेभ्यः श्रुत्वा तांश्चैव विद्रुतान् । युधिष्ठिरमथाभ्येत्य तं वृत्तान्तं न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥ ततस्ते पाण्डवाः सर्वे प्रत्यागमनकांक्षिणः । प्रतीक्षन्तः

राजा अम्बरीषके प्रतापको जब मैं याद करता हूं तो हरिचरणों के आश्रित भक्तजनोंसे मुझे बड़ा डर लगने लगता है ॥ ३३ ॥ सब पाण्डव उदारचित्त हैं, धर्ममें तत्पर, शूर, विद्यावान्, व्रतधारी तप करनेवाले ॥ ३४ ॥ नित्य सदाचारको पालनेवाले और वासुदेव भगवान्की भक्ति करनेवाले हैं वे यदि क्रुद्ध होजायँगे तो अग्नि जैसे रुईके ढेरको भस्म करदेता है तैसे ही हमें जला डालेंगे अतः हे शिष्यों ! उनसे बिना कुछ कहेसुने यहां से भाग चलो ॥ ३५ ॥ वैशम्पायन कहते है कि–गुरु महाराज दुर्वासा मुनिने सब शिष्योंसे ऐसा कहा तब सब शिष्य, पाण्डवोंसे बहुत डर कर दशों दिशाओंमेंको भाग गये ॥ ३६ ॥ सहदेवने देखा तो देवनदी पर वे श्रेष्ठ मुनि नहीं दीखे तब वह उनको ढूंढता हुआ नदीके किनारे पर इधर उधर घूमनेलगा ॥ ३७ ॥ इतनेमें तहांके तपस्वियोंसे मालूम हुआ कि-वे तो यहाँसे भाग गए, तब उसने राजा युधिष्ठिरसे उनके भाग जानेका समाचार कहा ॥ ३८ ॥ तो भी जितात्मा पाण्डव उनके

कियत्कालं जितात्मानोऽवतस्थिरे ॥३६॥ निशीथेऽभ्येत्य चाकस्मा-
दस्मान् स च्छलयिष्यात । कथञ्च निस्तरेमास्मात् कृच्छ्राद्दैवोप-
सादितात् ॥ ४० ॥ इति चिन्तापरान् दृष्ट्वा निःश्वसंतो मुहुर्मुहुः
उवाच वचनं श्रीमान् कृष्णः प्रत्यक्षतां गतः ॥ ४१ ॥ श्रीकृष्ण
उवाच । भवतामापदं ज्ञात्वा ऋषिः परमकोपनात् । द्रौपद्या चिंतितः
पार्था अहं सत्वरमागतः ॥ ४२ ॥ न भयं विद्यते तस्माद्दुर्वासो-
ससोऽल्पकम् । तेजसा भवतां भीतः पूर्वमेव पलायितः ॥ ४३ ॥
धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित् । आपृच्छे वो गमि-
ष्यामि नियतं भद्रमस्तु वः ॥ ४४ ॥ वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वै-
रितं केशवस्य बभूवुः स्वस्थमानसाः । द्रौपद्या सहिताः पार्था-
स्तमूचुर्विगतज्वराः ॥ ४५ ॥ त्वया नाथेन गोविन्द दुस्तरामापदं

आनेकी बाट देखतेहुए बहुत देर तक बैठे रहे ॥ ३६ ॥ और
मनमें चिन्ता करनेलगे कि-मुनि छल करके आधी रातके समय
आजायगें तो हम क्या करेंगे ? और इस प्रारब्धवश पडी हुई
विपत्तिमेंसे कैसे छूटेंगे ? ॥ ४० ॥ पाण्डव इसप्रकार बारम्बार
चिन्ता करके श्वासें छोडनेलगे, यह देखकर प्रत्यक्ष आये हुए
भगवान् श्रीकृष्ण उनसे कहने लगे ॥ ४१ ॥ श्रीकृष्ण बोले कि-
हे पार्थों ! परमक्रोधी ऋषि दुर्वासाकी ओरसे तुम्हारे ऊपर महा-
विपत्ति आपडी है यह जानकर द्रौपदीने मेरा स्मरण किया था
इससे मैं तुम्हारे पास तुरत आपहुंचा हूं ॥ ४२ ॥ परन्तु अब
तुम्हें दुर्वासाकी ओरसे कुछ भी भय नहीं होगा, वह मुनि तुम्हारे
प्रभावसे भयभीत होकर पहिले ही भागगये हैं ॥४३॥ क्योंकि-जो
नित्य धर्माचरण करते हैं वे किसी दिन भी दुःखी नहीं होते हैं मैं
अब तुम्हारी आज्ञा लेकर घर जाना चाहता हूं तुम्हारा कल्याण
हो ॥ ४४ ॥ वैशम्पायन बोले कि—हे जनमेजय ! श्रीकृष्णजीके
कथनको सुनकर द्रौपदी और पांडवोंका मन शान्त हुआ वे शांत
होकर श्रीकृष्णसे कहनेलगे कि-॥ ४५ ॥ हे गोविन्द ! हे विभो !

विभो । तीर्णाः प्लवमिवासाद्य मज्जमाना महार्णवे॥ ४६ ॥ स्वस्ति साधय भद्रन्ते इत्यज्ञातो ययौ पुरीम् । पाण्डवाश्च महाभाग द्रौपद्या सहिताः प्रभो ॥ ४७ ॥ ऊषुः प्रहृष्टमनसो विहरन्तो वनाद्वनम् । इति तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्टोऽहमिह त्वया॥ ४८ ॥ एवं विधान्यलीकानि धार्त्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः। पांडवेषु वनस्थेषु प्रयुक्तानि वृथाऽभवन् ॥ ४९ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वाससउपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥

वैशम्पायन उवाच । तस्मिन् वहुमृगेऽरण्ये अटमाना महारथाः काम्यके भरतश्रेष्ठा विजह्रुस्ते यथामराः ॥ १ ॥ प्रेक्षमाणा वहुविधान् वनोद्देशान् समन्ततः । यथर्त्तुकालरम्याश्च वनराजीः सुपुष्पिताः ॥ २ ॥ पाण्डवा मृगयाशीलाश्चरन्तस्तन्महद्वनम् ।

महासागरमें डूबतेहुए प्राणी जैसे नौकाको पाकर समुद्रको तर-जाते हैं तैसे ही हम भी आपसे नाथका आश्रय लेकर इस दुस्तर विपत्तिके पार होगये हैं ॥ ४६ ॥ तुम्हारा कल्याण हो ! और तुम अपना काम किया करो, यह कह कर कोई जाने भी नहीं इस प्रकार श्रीकृष्णजी द्वारिका पुरीमें चलेगये, तदनन्तर हे महाभाग प्रभो ! पाण्डव द्रौपदीके साथ मनमें प्रसन्न होतेहुए एक वनमें से दूसरे वनमें विहार करतेहुए, दिन विताने लगे हे राजन् ! तुमने मुझसे जो वृत्तान्त बूझा था वह सब मैंने तुम्हें सुनादिया ॥४७ ४८ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार दुष्टात्मा धृतराष्ट्रके पुत्रोंने वनमें वसनेवाले पाण्डवोंके साथ अनेकों कपट किये परन्तु वे सब निष्फल गये ॥ ४९ ॥ दोसौ तिरेसठवां अध्याय समाप्त ॥ २६३ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे अरिंदमन राजन् ! महारथी, इन्द्र की समान बलवान् भरतवंशमें श्रेष्ठ पाण्डव, वहुतसे पशुओंसे भरेहुए काम्यक वनमें चारों ओरके अनेकों प्रकारके वनोंके प्रदेशोंको और ऋतुकालके अनुसार रमणीय फूलोंवालीं अनेकों

विजहुरिन्द्रप्रतिमाः कञ्चित्कालमरिन्दम ॥ ३ ॥ ततस्ते यौगपद्येन ययुः सर्वे चतुर्दिशम् । मृगयां पुरुषव्याघ्रा ब्राह्मणार्थे परन्तपाः ॥ ४ ॥ द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य तृणविन्दोरनुज्ञया । महर्षेर्दीप्ततपसो धौम्यस्य च पुरोधसः ॥ ५ ॥ ततस्तु राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रि-र्महायशाः । विवाहकामः शाल्वेयान् प्रयातः सोऽभवत्तदा ॥ ६ ॥ महता परिबर्हेण राजयोग्येन संवृतः । राजभिर्बहुभिः सार्द्धमुपायात् काम्यकञ्च सः ॥ ७ ॥ तत्रापश्यत् प्रियां भार्य्यां पांडवानां यशस्विनीम् । तिष्ठन्तीमाश्रमे द्वारि द्रौपदीं निर्ज्जने वने ॥ ८ ॥ विभ्राजमानां वपुषा बिभ्रतीं रूपमुत्तमम् । भ्राजयंतीं वनोद्देशं नीलाभ्रमिव विद्युतम् ॥ ९ ॥ अप्सरा देवकन्या वा माया वा

वनराजियोंको देखतेहुए तथा शिकार खेलतेहुए कुछ समय तक उस महावनमें विहार करते रहे ॥ १-३ ॥ एक समय शत्रुतापी और पुरुषव्याघ्र पाण्डव द्रौपदीको आश्रममें अकेली छोड़ कर महर्षि और महातपस्वी पाण्डव, तृणविन्दु तथा पुरोहित धौम्यकी आज्ञा लेकर और उनके साथके ब्राह्मणोंके लिये भोजन लानेके निमित्त सब पाण्डव अलग २ दिशाओंमें शिकार खेलनेको चलदिये ॥ ४-५ ॥ उस समय वृद्धक्षत्रका पुत्र सिंधुदेशका राजा महायशस्वी जयद्रथ, विवाह करनेकी इच्छासे शाल्व देशकी ओर जारहा था ॥ ६ ॥ उसके पास राजाओंके योग्य बहुतसे सामान थे तथा बहुतसे राजे थे, सब कुटुंबके साथ चलता २ वह राजा काम्यक वनमें पहुंचा ॥ ७ ॥ तहां उसने निर्जन वनमें एक आश्रमकी ड्योढी पर खडीहुई पांडवोंकी यशस्विनी प्रियतमा स्त्री द्रौपदीको देखा, उसका शरीर तेजके प्रभावसे दमक रहा था और बिजली जैसे काले बादलोंको शोभा देती है तैसे ही अनुपम रूपवती द्रौपदी उस वनके टुकड़ेको शोभादेती हुई खडी थी ॥८-९॥ राजाके साथ आये हुए सब मनुष्य द्रौपदीको देखकर क्या यह अप्सरा है अथवा देवकन्या है या देवनिर्मित माया है ? ऐसा

देवनिर्मिता । इति कृत्वाञ्जलिं सर्वे ददृशुस्तामनिंदिताम् ॥ १० ॥ ततः स राजा सिंधूनां वार्धक्षत्रिर्जयद्रथः । विस्मितस्त्वनवद्याङ्गीं दृष्ट्वा तां दुष्टमानसः ॥ ११ ॥ स कोटिकास्यं राजानमब्रवीत् काममोहितः । कस्य त्वेषानवद्याङ्गी यदि वापि न मानुषी॥ १२ ॥ विवाहार्थो न मे कश्चिदिमां प्राप्यातिसुंदरीम् । एतामेवाहमादाय गमिष्यामि स्वमालयम् ॥ १३ ॥ गच्छ जानीहि सौम्येमां कस्य चात्र कुतोऽपि वा । किमर्थमागता सुभ्रूरिदं कण्टकितं वनम्॥१४॥ अपि नाम वरारोहा मामेषा लोकसुंदरी। भजेदद्यायतापाङ्गी सुदती तनुमध्यमा ॥ १५ ॥ अप्यहं कृतकामः स्यामिमां प्राप्य वरस्त्रियम् । गच्छ जानीहि को न्वस्या नाथ इत्येव कोटिक॥ १६ ॥ स

मनमें विचार करतेहुए दोनों हाथ जोड़ कर उस पवित्र देवीके दर्शन करनेलगे ॥ १० ॥ सिंधुराज वृद्धक्षत्रका पुत्र दुष्टात्मा जयद्रथ निर्दोषांगी द्रौपदीको देखकर चकित होगया ॥ ११ ॥ और उसने कामसे मोहित होकर कोटिकास्य राजासे बूझा कि—यह सर्वाङ्गसुन्दरी किसकी स्त्री है ? यह स्त्री मनुष्यजातिकी तो प्रतीत नहीं होती किन्तु दिव्य स्त्री मालूम होती है ॥ १२ ॥ यह अतिसुन्दर रूपवती स्त्री मिलजाय तो फिर मुझे विवाह करनेकी कुछ आवश्यकता न रहे मैं तो अब इस सुन्दरांगीको ही साथमें लेकर घरको जाऊँगा अतः हे शान्तगुणी ! तू इस स्त्रीके पास जा और यह किसकी स्त्री है ? इसका पता लगा कि—यह स्त्री कहांसे आई है ? तथा सुन्दर भौंहेंवाली यह स्त्री इस काँटोंवाले वनमें किसलिये आई है ? ॥ १४ ॥ सुन्दर अंगोंवाली जगत्में अद्वितीय रूपवती विशाल पलवाली, सुन्दर दातोंवाली और पतली कमरवाली यह स्त्री मेरे ऊपर आसक्त होकर यदि पतिरूपसे मेरी सेवा करे तो मैं इस श्रेष्ठ स्त्रीको पाकर कृतार्थ होजाऊँ हे कोटिकास्य ! (किलेके रक्षकोंमें मुख्य पुरुष) तू इसके पास जाकर इसका पति कौन है ? इत्यादि सब बातोंका पताले, ॥ १५-१६ ॥ सिंधुराजके ऐसे

कोटिकास्यस्तच्छ्रुत्वा रथात् प्रस्कंद्य कुण्डली। उपेत्य पप्रच्छ तदा क्रोष्टा व्याघ्रवधूमिव ॥ १७ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथागमने चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

कोटिक उवाच । का त्वं कदम्बस्य विनम्य शाखामेकाश्रमे तिष्ठसि शोभमाना । देदीप्यमानाग्निशिखेव नक्तं व्याधूयमाना पवनेन सुभ्रूः ॥ १ ॥ अतीवरूपेण समन्विता त्वं न चाप्यरण्येषु बिभेषि किन्नु । देवी नु यक्षी यदि दानवी वा वराप्सरा दैत्यवराङ्गना वा॥ २॥ वपुष्मती वोरगराजकन्या वनेचरी वा क्षणदाचरस्त्री । यद्येव राज्ञो वरुणस्य पत्नी यमस्य सोमस्य धनेश्वरस्य२धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा शक्रस्य वा त्वं सदनात् प्रपन्ना । न ह्येव नः पृच्छसि

वाक्योंको सुनकर उसही समय कुण्डलधारी कोटिक रथमेंसे नीचे उतरपड़ा और जैसे गीदड़ बाघनसे प्रश्न करता है तैसे ही द्रौपदी से प्रश्न करनेलगा ॥ १७ ॥ दो सौ चौसठवाँ अध्याय समाप्त

कोटिकने बूझा कि-हे सुन्दर भ्रुकुटिवाली स्त्री ! पवनसे हिलती हुई अग्निकी शिखा जैसे रात्रिमें शोभा पाती है तैसे ही अत्यन्त प्रकाशवान् और शोभायमान कंदबके वृक्षकी शाखाको झुकाकर इस आश्रममें अकेली खड़ी हुई तू कौन है ? ॥ १ ॥ अत्यन्त रूपवती इस वनमें अकेली खड़ीहुई तू डरती नहीं है ? तू देवी है, यक्षिणी है, दानवी है अथवा श्रेष्ठ अप्सरा है ? अथवा दैत्यराज की सुन्दरी है ॥ २ ॥ अथवा देहधारी नागकन्या है ? अथवा किसी वनचारीकी स्त्री है ? अथवा निशाचरकी स्त्री है ? वा राजा वरुणकी, यमकी, सोमकी अथवा कुबेरकी स्त्री है ? तू किसका स्त्री है ? यह बता ॥ ३ ॥ तू प्रजापतिके घरमेंसे निकल कर आई हुई उनकी स्त्री सरस्वती है ? अथवा कश्यपके घरमेंसे आईहुई उनकी स्त्री अदिति है ? अथवा सूर्यके घरमेंसे उतर कर आई हुई उनकी स्त्री सावित्री है ? अथवा विष्णुके भवनमेंसे उतरकर

ये वयं स्म न चापि जानीम तवेह नाथम् ॥ ४ ॥ वयं हि मानं तव वर्द्धयन्तः पृच्छाम भद्रे प्रभवं प्रभुञ्च । आचक्ष्व बन्धूंश्च पतिं कुलञ्च तत्त्वेन यच्चेह करोषि कार्य्यम् ॥ ५ ॥ अहन्तु राज्ञः सुरथस्य पुत्रो यं कोटिकाख्येति विदुर्मनुष्याः । असौ तु यस्तिष्ठति काञ्चनाङ्गे रथे हुतोऽग्निश्चयने यथैव ।६। त्रिगर्त्तराजः कमलायताक्षः क्षेमङ्करो नाम स एष वीरः।अस्मात्परस्त्वेष महाधनुष्मान् पुत्रः कुलिंदाधिपतेर्वरिष्ठः ।७।निरीक्षते त्वां विपुलायताक्षः सुपुष्पितः पर्वतवासनित्यः । असौ तु यः पुष्करिणीसमीपे श्यामो युवा तिष्ठति दर्शनीयः ।।८।।इक्ष्वाकुराज्ञः सुबलस्य पुत्रः स एष हन्ता द्विषतां सुगात्रि यस्यानु चक्रं

आईहुई उनकीस्त्री लक्ष्मी है ? कि—इन्द्रके घरमेंसे उतर कर आईहुई उनकी स्त्री इन्द्राणी है?तू कौन है? हम कौन हैं?यह तू हमसे नहीं बूझती तथा तेरा पति कौन है ? यह बात हम नहीं जानते ॥४॥ हे कल्याणि ! हम तेरा मान वढ़ानेके लिये बूझते हैं कि—तेरा पिता और स्वामी कौन है ? तू अपने भाईका पतिका और कुलका नाम हमें बता, और तू यहां जो काम करती हो ? वह भी हमें सुना ॥ ५ ॥ मैं राजा सुरथका पुत्र हूं और लोग मुझे कोटिकास्य नामसे भी पुकारते हैं और यह जो सोनेके पैयोंवाले रथमें बैठा है तथा अग्निकुण्डमें होमेहुए अग्निकी समान दमकनेवाला और कमलकी समान विशाल नेत्रोंवाला जो वीर पुरुष दीखता है वह त्रिगर्त देशका राजा है उसका नामक्षेमंकर है उसके पीछे महाधनुधारी विशाल नेत्रोंवाला सुन्दर पुष्पोंके गहनोंसे सुशोभित और महाश्रेष्ठ जो पुरुष तुम्हारी ओरको निहार रहा है, वह कुलिन्दाधिपतिका श्रेष्ठ कुमार है उसे सदा पर्वतमें रहनेका अभ्यास है हे सुन्दरांगि ! वह श्यामवर्ण अतिरूपवान् और तरुण अवस्थावाला जो पुरुष सरोवरके पास खड़ा है वह इक्ष्वाकुवंशके राजा सुभव का पुत्र है और शत्रुओंका संहार करनेमें चतुर यज्ञोंमें प्रज्वलित हुए अग्निकी समान शोभायमान तथा लालवर्णके घोड़ोंसे जुते-

ध्वजिनः प्रयान्ति सौवीरका द्वादश राजपुत्राः॥९॥ शोणाश्वयुक्तेषु रथेषु सर्वे मखेषु दीप्ता इव हव्यवाहाः। अङ्गारकः कुञ्जरो गुप्तकश्च शत्रुञ्जयः सञ्जयसुप्रवृद्धौ ॥१०॥ भयङ्करोऽथ भ्रमरो रविश्च शूरः प्रतापः कुहनश्च नाम। यं षट्सहस्रा रथिनोऽनुयान्ति नागा हयाश्चैव पदातिनश्च ॥ ११ ॥ जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते सौवीरराजः सुभगे स एषः। तस्यापरे भ्रातरोऽदीनसत्त्वा बलाहकानीकविदारणाद्याः॥१२॥ सौवीरवीराः प्रवरा युवानो राजानमेते बलिनोऽनुयान्ति। एतै सहायैरुपयाति राजा मरुद्गणैरिन्द्र इवाभिगुप्तः ॥ १३ ॥ अजानतां ख्यापय नः सुकेशि कस्यासि भार्य्या दुहिता च कस्य ॥ १४ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि कोटिकास्यप्रश्ने पंचषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः २६५

वैशम्पायन उवाच। अथाब्रवीद् द्रौपदी राजपुत्री पृष्टा शिवी-

हुए रथोंमें शोभापाते हुए अंगारक, कुंजर, गुप्तक, शत्रुञ्जय, संजय, सुप्रवृद्ध, भयंकर, भ्रमर, रवि, शूरप्रताप तथा कुहन नाम वाले सौवीर देशके बारह राजकुमार हाथमें ध्वजा लेकर उनके रथके पीछे २ चलते हैं, और हे सुभगे! जिसके पीछे छः सहस्र रथ हाथी घोड़े तथा पैदल चलते हैं ऐसा सौवीर देशका राजा जयद्रथ तेरे सुननेमें आया होगा वह यही है दूसरे महाबली बलाहक, अनीक विदारण आदि भाई तथा सौवीर देशके उत्तम शूर और बली तरुण पुरुष इस राजाके पीछे २ चलते हैं, इन्द्र जैसे देवताओंकी रक्षामें चलता है तैसे ही यह राजा भी इतने सहायकोंकी रक्षामें चलता है ॥९-१३॥ हे सुन्दर केशवाली स्त्री! हम तुझे पहिचानते नहीं हैं अतः तू किसकी स्त्री है? किसकी पुत्री है? यह हमें बता ॥ १४ ॥ दोसौ पैंसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६५ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे जनमेजय! शिविवंशके क्षत्रियकुलमें

नां प्रवरेण तेन । अवेत्य मन्दं प्रविमुच्य शाखां संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम् ॥ १ ॥बुद्ध्याभिजानामि नरेन्द्रपुत्र न मादृशी त्वामभिभाष्टुमर्हति । न त्वेह वक्तास्ति तवेह वाक्यमन्यो नरो वाप्यथ वाचनारी ॥ २ ॥ एका ह्ययं सम्प्रति तेन वाचं ददानि वै भद्र निबोध चेदम् । अहं ह्यरण्ये कथमेकमेका त्वामालपेयं निरता स्वधर्मे ॥ ३ । जानामि च त्वां सुरथस्य पुत्रं यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः । तस्मादहं शैब्य तथैव तुभ्यमाख्यामि बन्धून् प्रथितं कुलञ्च ॥ ४ ॥ अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः । साहं वृणे पञ्च जनान् पतित्वे ये खाण्डवप्रस्थगताः श्रुतास्ते ॥ ५ ॥ युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्र-

---

श्रेष्ठ कोटिकास्यने द्रौपदीसे इसप्रकार बूझा तब राजपुत्री द्रौपदी वृक्षकी शाखाको छोड शरीर पर ओढ़ीहुई रेशमी साडीसे शरीर को ढक कर नीची दृष्टिसे शिविवंशीको निहारतीहुई बोली कि-॥ १ ॥ हे नरेन्द्रपुत्र ! मैंने अपनी बुद्धिसे जानलिया है कि मेरी समान स्त्रीको तेरे साथ बातचीत करना उचित नहीं है तथा मेरे सिवाय इस आश्रममें तेरे साथ बातचीत करनेवाला कोई और दूसरा पुरुष या स्त्री भी नहीं है कि-जो तेरे प्रश्नका उत्तर देय ॥ २ ॥ परन्तु हे भाई ! तू यह बात निश्चयके साथ जान रख कि-अब मैं अकेली हूं, इससे तेरे प्रश्नका उत्तर नहीं देसकती हूं इस वनमें स्त्रीधर्ममें परायण मैं अकेली हूं, अतः तुझ अकेलेके साथ बातचीत कैसे करूं ? ॥ ३ ॥ परन्तु मैं तुझे पहिचानती हूं कि-तू सुरथका पुत्र है और मनुष्य तुझे कोटिकास्य भी कहते हैं अतः हे शैब्य ! मैं अपने बन्धुओंका नाम और प्रसिद्ध कुलका नाम भी यथावत् तुझसे कहती हूं ॥ ४ ॥ मैं राजा पदकी पुत्री हूं और हे शैब्य ! मनुष्य मुझे कृष्णा नामसे पुकारते हैं, मैं पाँच पांडवोंके साथ विवाही गई हूं जो इन्द्रप्रस्थमें रहते हैं और तेरे सुननेमें आयेहोंगे ॥ ५॥ उन पृथाके पुत्रोंका नाम धर्मराज, भीम-

वीरौ । ते मां निवेश्येह दिशश्चतस्रो विभज्य पार्था मृगयां प्रयाताः ॥ ६ ॥ प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो जयः प्रतीचीं यमजावुदीचीम् । मन्ये तु तेषां रथसत्तमानां कालोऽभितः प्राप्त इहोपयातुम् ॥ ७ ॥सम्मानिता यास्यथ तैर्यथेष्टं विमुच्य वाहानव-रोहयध्वम् । प्रियातिथिर्धर्मसुतो महात्मा प्रीतो भविष्यत्यभिवीक्ष्य युष्मान् ॥ ८ ॥ एतावदुक्त्वा द्रुपदात्मजा सा शैब्यात्मजं चन्द्रमुखी प्रतीता । विवेश तां पर्णशालां प्रशस्तां सञ्चिन्त्य तेषामतिथित्वधर्मे ॥ ६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६६ ॥

वैशम्पायन उवाच । तथासीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।

सेन, और, अर्जुन है, तथा माद्रीके वीरपुत्रोंका नाम सहदेव और नकुल है, वे मुझे इस आश्रममें बैठाकर चारों दिशाओंको बांटकर अलग २ दिशाओंमें शिकार खेलने गये हैं ॥ ६ ॥ पूर्वदिशामें युधिष्ठिर दक्षिण दिशामें भीमसेन, पश्चिम दिशामें अर्जुन और उत्तर दिशामें नकुल तथा सहदेव गये हैं उन महात्माओंके यहाँ आपहुंचनेका समय अब निकट ही है ॥ ७ ॥ अतः तुम अपने वाहनोंको छोड़कर यहां निवास करो, तथा पाण्डवोंकी सेवाका ग्रहण करके इच्छानुसार चलेजाना, महात्मा धर्मपुत्रको अतिथि वहुत प्यारे हैं और वे तुमको देखकर प्रसन्न होंगे, विश्वास करनेवाली चन्द्रमुखी द्रौपदी इसप्रकार कोटिकास्यसे कहकर, पाण्डवोंको अतिथिसत्कार प्रिय है अतः उनके लिये पूजाआदिकी सब सामग्री तयार करनी चाहिये यह विचारकर अपनी सुंदर पर्णकुटीमें चलीगई ६ दोसा छियासठवां अध्याय समाप्त ॥ २६६ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे भरतवंशी राजन्! तदनन्तर जहां सभाके सब राजे बैठे थे तहाँ कोटिकास्य आया और उस

यदुक्तं कृष्णया सार्द्धं तत् सर्वं प्रत्यवेदयत्॥ १ ॥कोटिकास्यवचः श्रुत्वा शैब्यं सौवीरकोऽब्रवीत्। यदा वाचं व्याहरन्त्यामस्यां मे रमते मनः। २। सीमन्तिनीनां मुख्यायां विनिवृत्तः कथं भवान्। एतां दृष्ट्वा स्त्रियो मेऽन्या यथा शाखामृगस्त्रियः॥ ३॥ प्रतिभान्ति महाबाहो सत्यमेतत् ब्रवीमि ते। दर्शनादेव हि मनस्तया मेऽपहृतं भृशम्॥४॥तां समाचक्ष्व कल्याणीं यदि स्याच्छैब्य मानुषी ॥कोटिक उवाच॥ एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी।५। पञ्चानां पांडुपुत्राणां महिषी सम्मता भृशम्। सर्वेषां चैव पार्थानां प्रिया बहुमता सती॥६॥तया समेत्य सौवीर सौवीराभिमुखो व्रज। वैशम्पायन उवाच॥ एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामि द्रौपदीमिति।७।

ने द्रौपदीके साथ जो बातचीत की थी वह सब उनसे कही॥१॥ कोटिकास्यका बात सुनकर सुवीर देशके राजा जयद्रथने उससे कहा कि-जब स्त्रियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदीने तेरे साथ बातचीत की थी तो जिसके ऊपर मेरा मन ऐसा अधिक आसक्त होरहा है उसके पाससे तू अकेला ही क्यों लौटआया ? हे महाभुज ! उस स्त्री को देखकर दूसरी स्त्रियें मुझे वानरीसी लगती हैं, यह मैं तुझ से ठीक २ कहता हूं कि-उस स्त्रीने दर्शन देते ही मेरे मनको अत्यन्त मोहित करडाला है॥ २—४ ॥ अतः हे शैब्य ! वह सुंदर स्त्री यदि मनुष्यजातिकी हो तो उसका सब वृत्तान्त मुझे बता कोटिकास्यने उत्तर दिया कि-उसका नाम कृष्णा और द्रौपदी है, तथा वह यशस्विनी स्त्री राजा पदकी पुत्री है और पांच पाण्डवोंने उसे पटरानी बनाकर बड़े सन्मानके साथ स्वीकार किया है और उस सती स्त्रीसे पाँचों पाण्डवोंको बड़ा प्रेम तथा ममता है॥ ५—६ ॥ हे सौवीर राजन् ! तुम उस स्त्रीको साथ में लेकर सौवीर देशको लौटचलो वैशम्पायन कहते हैं कि-कोटिककी ऐसी बातोंको सुनकर सौवीर और सिंधु देशके राजा दुष्टात्मा जयद्रथने कहा कि—द्रौपदीको मैं अपने आप चाहता हूं

पातः सौवीरसिंधूनां दुष्टभावो जयद्रथः । स प्रविश्याश्रमं पुण्यं सिंहगोष्ठं वृको यथा ॥ ८ ॥ आत्मना सप्तमः कृष्णामिदं वचनमब्रवीत् । कुशलं ते वरारोहे भर्त्तारस्तेऽप्यनामयाः ॥ ९ ॥ येषां कुशलकामासि तेऽपि कच्चिदनामयाः । द्रौपद्युवाच । अपि ते कुशलं राजन् राष्ट्रे कोषे बले तथा ॥ १० ॥ कच्चिदेकः शिवीनाढ्यान् सौवीरान् सह सिंधुभिः । अनुतिष्ठसि धर्मेण ये चान्ये विजितास्त्वया ॥ ११ ॥ कौरव्यः कुशली राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । अहञ्च भ्रातरश्चास्य यांश्चान्यान् परिपृच्छसि ॥ १२ ॥पाद्यं प्रतिगृहाणेदमासनञ्च नृपात्मज । मृगान् पञ्चाशतञ्चैव प्रातराशं ददानि ते ॥ १३ ॥ ऐणेयान् पृषतान् न्यंकून् हरिणान् शरभान् शशान् । ऋक्षान् रुरून् शम्बरांश्च गवयांश्च मृगान् बहून् ॥१४॥

ऐसा कहकर नाहर जैसे सिंहकी गुफामें प्रवेश करता है तैसे सौवीर और सिंधु देशका राजा जयद्रथ अपने छः भाइयोंको साथमें लेकर पाण्डवोंके पवित्र आश्रममें घुसगया और द्रौपदीसे बूझा कि-हे वरारोहे! तू कुशलसे तो है ? और तू जिनकी कुशल चाहती है वे भी कुशल तो हैं द्रौपदीने उसके प्रश्नोंका उत्तर देतेहुए बूझा कि-हे राजन् ! तुम कुशल हो ? तथा तुम्हारा देश खजाना और सेना कुशल है ? तुम अकेले ही शिवि सौवीर और सिंधु देशकी रक्षा करते हो क्या ? तथा अपने जीतेहुए देशोंका भी तुम धर्मसे पालन करते हो क्या ? ॥ ७-११ ॥ अब मेरी ओरकी कुशल सुनो ! कुरुवंशमें उत्पन्न हुए कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर सकुशल हैं मैं सकुशल हूं तथा तुम जिनका समाचार बूझते वे युधिष्ठिरके भाई भी सकुशल हैं॥ १२॥ हे राजपुत्र ! इस पाद्य और आसनको ग्रहण करो मैं तुमको प्रातःकालके भोजनके लिये पचास मृग दूँगी और कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर भी तुम्हें ऐणेय, पृषत, न्यङ्कु, हरिण, शरभ, शश, रीछ, रुरु, मेंढे बहुतसे मृग, सूअर, भैंसे तथा और अनेकों प्रकारके मृग

वराहान्महिषांश्चैव याश्चान्या मृगजातयः। प्रदास्यति स्वयं तुभ्यं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥ जयद्रथ उवाच। कुशलं प्रातराशस्य सर्वं मे दित्सितं त्वया। एहि मे रथमारोह सुखमाप्नुहि केवलम् ॥ १६ ॥ गतश्रीकान् हृतराज्यान् कृपणान् गतचेतसः। अरण्यवासिनः पार्थान्नानुरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥ नैव प्राज्ञा गतश्रीकं भर्त्तारमुपयुञ्जते। युञ्जानमनुयुञ्जीत न श्रेयः संक्षये वसेत् ॥ १८ ॥श्रिया विहीना राष्ट्राच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः। अलन्ते पाण्डुपुत्राणां भक्त्या क्लेशमुपासितुम् ॥ १९ ॥ भार्य्या मे भव सुश्रोणि त्यजैनान् सुखमाप्नुहि। अखिलान् सिन्धुसौवीरानाप्नुहि त्वं मया सह ॥ २० ॥ वैशम्पायन उवाच। इत्युक्ता सिन्धुराजेन वाक्यं हृदयकम्पनम्। कृष्णा तस्मादपाक्रामद्देशात् सभ्रूकुटी मुखी ॥ २१ ॥ अवमत्यास्य तद्वाक्यमाक्षिप्य च सुमध्यमा। मैवमित्यब्र-

---

भोजनके लिये देंगे ॥ १३–१५ ॥ यह सुनकर जयद्रथ बोला कि-मैं सकुशल हूं और मुझे प्रातःकालका भोजन भी करादिया अब तू यहाँ आ और इस मेरे रथमें बैठकर शुद्ध सुखको प्राप्तकर ॥ १६ ॥ तू श्रीहीन राज्यशून्य बुद्धिहीन और वनवास करनेवाले पांडवोंकी सेवा करने योग्य नहीं है ॥ १७ ॥ बुद्धिमती स्त्रियें लक्ष्मीहीन पतिकी सेवा नहीं करतीं हैं, वे तो लक्ष्मीवान् पतिके ही पास रहतीं हैं और दरिद्री पुरुषोंके साथ विवाह भी नहीं करतीं हैं ॥ १८ ॥ पाण्डव लक्ष्मीरहित होगए हैं और बहुत वर्षोंके लिये देशसे निकाले गए हैं, अतः तू पांडवों पर प्रेम रख कर बहुत क्लेश सहचुकी,अब ऐसा करना उचित नहीं है ॥ १९ ॥ अतः हे सुश्रोणि ! तू मेरी स्त्री होजा, इन पाण्डवोंको छोड़कर मेरे साथ चल और सुख भोग तथा सिंधु और सौवीरदेशके सब राज्यकी पटरानी बन ॥ २० ॥वैशम्पायन कहते हैं कि सिंधुराजने हृदयको कँपानेवाले ऐसें वाक्य कहे तब उन्हें सुनकर कृष्णाका मुख भृकुटिसे भयंकर होगया और सुन्दर कटिवाली द्रौपदी जहाँ

वीत् कृष्णा लज्जस्वेति च सैन्धवम् ॥ २२ ॥ सा कांक्षमाणा भर्तृणामुपयातमनिन्दिता। विलोभयामास परं वाक्यैर्वाक्यानि युञ्जती ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथद्रौपदी- संवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६७ ॥

वैशम्पायन उवाच। सरोषरागोपहतेन वल्गुना सरागनेत्रेण नतोन्नतभ्रुवा। मुखेन विस्फूर्य सुवीरराष्ट्रपं ततोऽब्रवीत्तं द्रुपदात्मजा पुनः १ यशस्विनस्तीक्ष्णविपान्महारथानभिब्रुवन्मूढकथं न लज्जसे कथम्। महेन्द्रकल्पान्निरतान् स्वकर्मसु स्थितान् समूहेष्वपि यक्षरक्षसाम् ॥ २ ॥ न किञ्चिदीड्यं प्रवदन्ति पापं वनेचरं वा गृह-

---

खड़ी थी तहाँसे पीछेको हटगई, तदनन्तर सिंधुराजके वाक्यका अनादर करके और ललकार कर कहने लगी, कि-अब फिर ऐसे वचन न कहना जरा लज्जित हो ॥ २१-२२ ॥ तदनन्तर अनिंदिता द्रौपदी अपने पतियोंके आनेकी बाट देखती हुई सिंधुराजके वाक्योंका उत्तर देकर उसको बहुत ही लुभाने लगी ॥ २३ ॥ दोसौ सरसठवां अध्याय समाप्त ॥ २६७ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! तदनन्तर द्रुपदराजकुमारी द्रौपदी क्रोधसे लाल लाल हुए, सुन्दर दीखनेवाले और स्वभावसे ही नीची भृकुटिवाले परन्तु क्रोधके कारण ऊँची भ्रकुटिकर सुन्दर और लाल२ नेत्रोंसे भयंकर दीखनेवाले मुखसे सांस लेकर सुवीरदेशके राजासे कहनेलगी कि--।१।अरे ओ मूढ़ ! महायशस्वी जहरीले सर्पकी समान विषैले इन्द्रकी समान अपने धर्ममें परायण युद्धके समय राक्षस और यक्षोंके दलोंमें भी खड़े रहनेवाले मेरे पतियोंका अनादर करके मुझसे इसप्रकार अधम बातें कहतेहुए तुझै लज्जा क्यों नहीं आती ? ॥ २ ॥ हे सुवीरराजन् ! स्तुति करनेयोग्य तपस्वी और विद्यावान् पुरुष वानप्रस्थ अथवा गृहस्थ इनमेंसे चाहे जिस आश्रममें हों तो भी श्रेष्ठ पुरुष उनकी निंदा नहीं करतेहैं जो पुरुष कुत्तेकी समान होते हैं वे ही तेरी समान भौंक

मेधिनं वा । तपस्विनं सम्परिपूर्णविद्यं भषन्ति हैवं श्वनराः सुवीर ॥ ३ ॥ अहन्तु मन्ये तव नास्ति कश्चिदेतादृशे क्षत्रियसन्निवेशे। यस्त्वाद्य पातालमुखे पतन्तं पाणौ गृहीत्वा प्रतिसंहरेत ॥ ४ ॥ नागं प्रभिन्नं गिरिकूटकल्पमुपेत्यकां हैमवतीं चरन्तम् । दण्डीव यूथानपसेधसे त्वं यो जेतुमाशंससि धर्मराजम् ॥ ५ ॥ बाल्यात् प्रसुप्तस्य महाबलस्य सिंहस्य पक्ष्माणि मुखाल्लुनासि । पदा समाहत्य पलायमानः क्रुद्धं यदा द्रक्ष्यसि भीमसेनम् ॥ ६ ॥ महाबलं घोरतरं प्रवृद्धं जातं हरिं पर्वतकन्दरेषु प्रसुप्तमुग्रम्प्रपदेन हंसि । यः क्रुद्धमायोत्स्यसि जिष्णुमुग्रम् ॥ ७ ॥ कृष्णोरगौ तीक्ष्णमुखौ द्विजिह्वौ मत्तः पदाक्रामसि पुच्छदेशे । यः पाण्डवाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्यां जघन्यजाभ्यां प्रयुयुत्ससे त्वम् ॥ ८ ॥ यथा च वेणुः कदली

कर निंदा किया करते हैं ॥ ३ ॥ मेरी समझमें तेरे इतने क्षत्रियसमूहमें ऐसा एक भी पुरुष नहीं है कि-जो आज नरकरूपी महागर्तमें पड़ेहुए तुझे दोनों हाथ पकड़ कर निकाल लेय ॥ ४ ॥ तू जैसे एक लकड़हेरा पुरुष हिमालयकी तलैटीमें फिरतेहुए महाशिखरकी समान मदझरतेहुए एक हाथीको जैसे हाथियोंकी धाग मेंसे अलग करना चाहता है तैसे ही तू धर्मराजको जीतना चाहता है ॥ ५ ॥ तू भीमको जीतना चाहता है, परन्तु तेरा यह काम सोतेहुए महाबली सिंहके लड़कपनसे लात मारकर उसके मुखके बालोंको काटनेकी समान है । तू जब भयंकर भीमसेनको क्रोधमें आयेहुए देखेगा तब तू भागजायगा ॥ ६ ॥ और तू जो क्रोध में भरेहुए महाप्रतापी जिष्णु (अर्जुन) से लड़नेकी इच्छा करता है वह तेरी इच्छा, महाबली अतिभयानक और गिरिगुफामें उत्पन्न होकर तहां ही बड़ेहुए, सोतेहुए महा भयंकर सिंहको चाबुकसे मारनेकी समान है ॥ ७ ॥ और जो तू पाण्डवोंमें सबसे छोटे पुरुषश्रेष्ठ नकुल और सहदेव लड़ना चाहता है, सो मदमत्त हुआ तू, तीक्ष्णमुख और दो जीभ वाले दो काले सर्पोंकी पूँछोंको पैरसे दबानेकी समान काम करता है ॥ ८ ॥

नजो वा फलत्यभावाय न भूतयेत्मनः । तथैव मान्तैः परिरक्ष्यमाणामादास्यसे कर्कटकीव गर्भम् ॥९॥ जयद्रथ उवाच। जानामि कृष्णे विदितं ममैतद्यथाविधास्ते नरदेवपुत्राः । न त्वेवमेतेन विभीषणेन शक्या वयं त्रासयितुं त्वयाद्य ॥ १० ॥ वयं पुनः सप्तदशेषु कृष्णे कुलेषु सर्वे नवमेषु जाताः । षड्भ्यो गुणेभ्योऽभ्यधिका विहीनान् मन्यामहे द्रौपदि पाण्डुपुत्रान् ॥ ११ ॥ सा क्षिप्रमातिष्ठ गजं रथं वा न वाक्यमात्रेण वयं हि शक्याः । आशंस वा त्वं कृपणं वदन्ती सौवीरराजस्य पुनः प्रसादम् ॥ १२ ॥ द्रौपद्युवाच । महा-

---

वाँस, केला और नल फलनेके अनन्तर अपना नाश करलेते हैं अपना कल्याण नहीं करसकते तथा कर्कटी (कानखजूरी) गर्भ धारण करनेके पीछे जैसे अपना नाश करलेती है तैसे ही तू भी पांडवोंसे रक्षा कीहुई मेरा हरण करके अपना नाश मोललेता है ॥ ९ ॥ जयद्रथ वोला कि- मैं यह सब समझता हूं और मैं यह भी जानता हूं कि-वे कैसे हैं ? परन्तु उनका भय दिखा कर आज तू हमें त्रास नहीं देसकती ॥ १० ॥ हे कृष्णे ! हम द्रव्यके भण्डारोंको भरनेवाले कृषि वाणिज्य, मार्ग, किले, पुल, हाथियोंको पकड़ना, धातुओंकी खाने खुदाना, प्रजासे कर लेना और ऊजड़ देशमें प्रजाको वसाना इन आठ कर्म तथा प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति, प्रभुसिद्धि. मंत्रसिद्धि और उत्साहसिद्धि, प्रभूदय, मंत्रोदय और उत्साहोदय ये नौ शक्तियें इसप्रकार सत्तरह शक्तियोंवाले पुरुषोंके उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुए हैं, हममें शूरता तेज, धीरता, चतुराई दान, और ऐश्वर्य यह छः गुण भी हैं अतः हे द्रौपदी ! हम पाण्डवोंको अपनेसे हीन समझते हैं॥ ११ ॥अतः ओ द्रौपदी ! तू शीघ्र ही हाथीके ऊपर वा रथपर बैठ जा क्योंकि हम तेरे कहनेसे पाछेको नहीं हटसकते पाण्डवोंका पराजय होने पर कृपण वाक्य वोलनेवाली तू मेरी कृपाको मांगेगी, अतः अव ही सौवीरके प्रसादकी प्रार्थना कर॥ १२॥ द्रौपदीने कहा

वली किन्त्विह दुर्बलेव सौवीरराजस्य मताहमस्मि। नाहं प्रमाथादिह सम्प्रतीता सौवीरराजं कृपणं वदेयम् ॥ १३ ॥ यस्याः हि कृष्णौ पदवीं चरेतां समास्थितावेकरथे समेतौ । इन्द्रोऽपि तां नापहरेत् कथञ्चिन्मनुष्यमात्रः कृपणः कुतोऽन्यः ॥ १४ ॥ यथा किरीटी परवीरघाती निघ्नन् रथस्थो द्विषतां मनांसि । मदन्तरे त्वद्ध्वजिनीं प्रवेष्टा कक्षं दहन्नग्निरिवोष्णगेषु ॥१५॥ जनार्दनः सान्धकवृष्णिवीरो महेष्वासाः कैकेयाश्चापि सर्वे । एते हि सर्वे मम राजपुत्राः प्रहृष्टरूपाः पदवीञ्चरेयुः ॥ १६ ॥ मौर्वी विसृष्टाः स्तनयित्नुघोषा गाण्डीवमुक्तास्त्वतिवेगवन्तः । हस्तं समाहत्य धनञ्जयस्य भीमाः

कि—मैं महाबलवती स्त्री हूं, तोभी यह राजा सौवीर मुझै निर्बल समझता है, परन्तु कौरवोंकी सभामें वस्त्र खेंचनेके समय श्रीकृष्ण ने जिसकी सहायता की थी उस समयसे प्रसिद्ध हुई मैं सौवीर राजाके सामने प्रार्थनाके वाक्य कैसे कहूं ? ॥ १३ ॥ अर्जुन और श्रीकृष्ण एक रथमें बैठकर जिसको ढूंढनेके लिये निकल पड़ेगे और इन्द्र भी जिसका हरण नहीं करसकता तब दूसरा कृपण मनुष्य तो मेरा हरण कैसे करसकता है ? ॥ १४ ॥ तू मेरा हरण करेगा तो मुकुटधारी शत्रुका नाश करनेवाले और शत्रुके मनमें घबराहट उत्पन्न करनेवाले अर्जुन मेरे लिये रथमें बैठ कर मेरी ओरको दौड़ेंगे और तेरी सेनाके भीतर प्रवेश करेंगे तब गर्मियोंमें अग्नि जैसे तृणके ढेरमें घुसकर उसे भस्म करडालता है, तैसे ही तेरी सेनाका संहार करेंगे ॥ १५ ॥ और अंधक तथा वृष्णिकुलके वीर पुरुषोंसहित महाधनुर्धारी श्रीकृष्ण तथा सब केकय राजे ये सब देखनेमें बड़े प्रसन्न प्रतीत होनेवाले राजकुमार मेरे पीछे ढूंढनेके लिये चलदेंगे ॥१६॥ अर्जुनके गाण्डीव धनुषमें से मेघकी समान गर्जना करतेहुए अतिवेगवाले भयानक बाण छूटते हैं और वे जब अर्जुनके हाथसे टकराते हैं तो महाभयंकर शब्द

शब्दं घोरतरं नदन्ति ॥ १७ ॥गाण्डीवमुक्तांश्च महाशरौघान् पतंगसंघानिव शीघ्रवेगान् । यदा द्रष्टयस्यर्जुनं वीर्यशालिनं तदा स्वबुद्धिं प्रति निन्दितासि ॥१८॥ सशंखघोषः सतलत्रघोषो गाण्डीवधन्वा मुहुरुद्वहंश्च । यदा शरानर्पयिता तवोरसि तदा मनस्ते किमिवाभविष्यत् ॥ १९ ॥ गदाहस्तं भीममभिद्रवन्तं माद्रीपुत्रौ सम्पतन्तौ दिशश्च । अमर्षजं क्रोधविषं वमन्तौ दृष्ट्वा चिरं तापमुपैष्यसेऽधम ॥ २० ॥ यथा चाहं नातिचरे कथञ्चित् पतीन्महार्हान्मनसापि जातु । तेनाद्य सत्येन वशीकृतं त्वां द्रष्टास्मि पार्थैः परिकृष्यमाणम् ॥२१॥न सम्भ्रमं गन्तुमहं हि शक्ये त्वया नृशंसेन विकृष्यमाणा । समागताहं हि कुरुप्रवीरैः पुनर्वनं काम्यकमागतास्मि ॥ २२ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ सा ताननुप्रेक्ष्य विशालनेत्रा जिघृक्षमाणा-

---

करते हैं ॥ १७ ॥ जब तू पतिंगोंकी पंक्तिकी समान अति शीघ्र गाण्डीव धनुषमेंसे छूटतेहुए बाणोंको और पराक्रमी अर्जुनको देखेगा तब तू अपने आप अपनी बुद्धिको धिक्कार देगा ॥ १८ जब गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन आवेगा शंख बजावेगा और हाथ में पहिरेहुए चमड़ेके मौजोंके शब्दोंके सहित वारम्बार धनुष खैंच कर तेरी छातीमें बाण मारने लगेगा तब तेरे चित्तकी क्या दशा होगी॥१९॥ अरे नीच ! हाथमें गदा उठा दौड़कर आतेहुए भीमसेनको तथा दिशाओंमेंसे दौड़तेहुए और अपराध होनेके कारण क्रोधरूपी विषको उगलतेहुए माद्रीके पुत्रोंको देखेगा तब तुझै बड़ा पछतावा होगा ॥ २० ॥ मैं पतिव्रता स्त्री यदि किसी दिन भी परम पूज्य अपने पतियोंसे मनसे भी अलग नहीं हुई होऊँ और यदि एकनिष्ठासे मैंने उनकी सेवाकी हो तो उस सत्यके प्रभावसे पाण्डव तुझै कैद करके पृथ्वीपर घसीटेंगे और मैं देखूंगी ॥ २१ ॥ तू क्रूर यदि मुझै यहांसे घसीट कर लेजायगा तो भी मैं तुझसे डरनेवाली नहीं हूं. किन्तु मैं कुरुवंशके कुमारोंसे मिल

न्वभर्त्सयन्ती । प्रोवाच मा मा स्पृशतेति भीता धौम्यं प्रचुक्रोश पुरोहितं सा ॥ २३ ॥ जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे जयद्रथस्तं समवाक्षिपत्सा । तया समाक्षिप्ततनुः स पापः पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ २४ ॥ प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री । सा कृष्यमाणा रथमारुरोह धौम्यस्य पादावभिवाद्य कृष्णा ॥२५॥ धौम्य उवाच । नेयं शक्या त्वया नेतुमविजित्य महारथान् । धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ ॥ २६ ॥ क्षुद्रं कृत्वा फलं पापं प्राप्स्यसि न संशयः ! आसाद्य पांडवान् वीरान् धर्मराजपुरोगमान् ॥ २७ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां

कर फिर इस काम्यक वनमें ही आऊँगी ॥ २२ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे जनमेजय ! तदनन्तर राजाके मनुष्य द्रौपदीको पकड़नेके लिये आये उनकी ओर देख कर विशालनेत्रा द्रौपदी उनका तिरस्कार करनेलगी और बहुत डरकर बोल उठी कि–देखो मुझे न छूना तदनन्तर चीख मारकर धौम्य पुरोहितको बुलाया ॥ २३ ॥ इस समय जयद्रथने उसकी साड़ीका किनारा पकड़ लिया था परन्तु तुरत ही द्रौपदीने धक्का देकर उसे दूरको ढकेल दिया और अपने शरीरको धक्का लगनेसे वह पापी जड़से उखड़ेहुए वृक्षकी समान पृथ्वीपर गिरपड़ा ॥ २४ ॥ परन्तु उस ने फिर जल्दीसे उठकर द्रौपदीको पकड़लिया और उसे वारम्वार घसीटनेलगा राजपुत्री द्रौपदीने वार वार श्वास छोड़ कर धौम्य के चरणोंमें प्रणाम किया और फिर वह रथमें चढ़बैठी ॥ २५ ॥ परन्तु धौम्य मुनिने आकर कहा कि–हे जयद्रथ ! तू उन महारथियोंको विना जीते द्रौपदीका हरण करके लेजाना चाहता है, परन्तु इसप्रकार तू उसे नहीं लेजासकेगा तू क्षत्रियोंके सनातन धर्मका विचार कर ॥ २६ ॥ तू जब पाण्डवोंके सामने पड़ेगा तब तेरे इस निन्दनीय कर्मका बुरा फल अवश्य मिलेगा ॥ २७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि–हे जनमेजय ! इसप्रकार धौम्यने जयद्रथ

राजपुत्रीं यशस्विनीम् । अन्वगच्छत्तदा धौम्यः पदातिगणमध्यमः॥
इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीहरणेऽ-
ष्टषष्ट्यधिद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

वैशम्पायन उवाच। ततो दिशः सम्प्रविहृत्य पार्था मृगान् वराहान् महिषांश्च हत्वा धनुर्धरा श्रेष्ठतमाः पृथिव्यां पृथक् चरन्तः सहिता बभूवुः ॥ १ ॥ ततो मृगव्यालगणानुकीर्णं महावनं तद्वि हगोपघुष्टम् । भ्रातॄंश्च तानभ्यवदद्युधिष्ठिरः श्रुत्वा गिरो व्याहरतां मृगाणाम् ॥ २ ॥ आदित्यदीप्तां दिशमभ्युपेत्य मृगा द्विजाः क्रूरमिमे वदन्ति । आयासमुग्रं प्रति वेदयन्तो महावनं शत्रुभिर्बाध्यमानम् ॥३॥ क्षिप्रं निवर्त्तध्वमलं मृगैर्नो मनो हि मे दूयति दह्यते

को समझाया तो भी उसने कुछ नहीं सुना और यशस्विनी राजपुत्री द्रौपदीको हठ करके लेजानेलगा, उस समय धौम्य मुनि भी उसके पैदलोंके मध्यमें द्रौपदीके पीछे २ जानेलगे ॥ २७-२८ ॥
दो सौ अड़सठवां अध्याय समाप्त ॥ २६८ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! महाश्रेष्ठ पृथापुत्र पाण्डव धनुष धारण करके मृगया करनेके लिये भिन्न२ दिशाओं में गये थे, वे सूअर, भैंसे और हरिनोंका शिकार करतेहुए पृथ्वी के भिन्न २ स्थानोंमें फिर रहे थे वे शिकार समाप्त करके एक स्थानमें इकट्ठे हुए ॥१॥ इतनेमें ही मृग और हिंसक प्राणियोंसे भराहुआ वह वन पक्षियोंसे गाजउठा और रोतेहुए मृगोंका करुणाजनक रुदन कानोंमें पड़नेलगा, यह देख कर युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा ॥ २ ॥ यह मृग और पक्षी, सूर्यसे प्रकाशितहुई पूर्वदिशाकी ओर सूर्यके सामने मुख करके क्रूर शब्द कररहे हैं तथा अपने ऊपर बीतेहुए महापरिश्रमको जतारहे हैं और शत्रुओं ने इस महावनको बहुत ही पीड़ा दी हो इस बात की सूचना देते हैं ॥ ३ ॥ अतः अब हमें मृगोंकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, अतः शीघ्र ही पीछेको लौटो क्योंकि—मेरा मन घबड़ाता है और

न। बुद्धिं समाक्षिप्य च मे स मन्युरुद्धूयते प्राणपतिः शरीरे॥४॥ सरः सुपर्णेन हृतोरगं यथा राष्ट्रं यथाऽराजकमाप्तलक्ष्म । एवं विधं मे प्रतिभाति काम्यकं शौण्डैर्यथा पीतरसश्च कुम्भः ॥ ५ ॥ ते सैन्धवैरत्यनिलोग्रवेगैर्महाजवैर्वाजिभिरुह्यमानाः। युक्तैर्वृहद्भिः सुरथैर्नवीरास्तदाश्रमायाभिमुखा बभूवुः॥६॥तेषान्तु गोमायुरनल्पघोषः निवर्त्ततां वामगुपेत्य पार्श्वम् । प्रव्याहरत्तत् प्रविमृश्य राजा प्रोवाच भीमञ्च धनञ्जयञ्च ॥ ७॥ यथा वदत्येष विहीनयोनिः शालावृको वामगुपेत्य पार्श्वम्। सुव्यक्तमस्मानवमन्य पापैः कृतोऽभिमर्दः कुरुभिः प्रसह्य ॥ ८ ॥ इत्येव ते तद्वनमाविशन्तो महत्यरण्ये मृगयाञ्चरित्वा । बालामपश्यन्त तदा रुदन्तीं धात्रेयिकां प्रे-

---

मनमें सन्ताप होता है तथा मेरे शरीरके मुख्य प्राणने क्रोधके वश में होकर मेरी बुद्धिका नाश कर दिया है और वे प्राण शरीरमेंसे बाहर निकलनेको उछालें मार रहे हैं, जैसे गरुडके सर्पका हरण करनेसे तालाब सूना लगता है, राजा और राज्यसंपत्तिका नाश होनेसे जैसे देश सूना लगता है और हाथियोंके शूंडसे पानी पीलेने के कारण जैसे घड़ा सूना लगता है ॥४॥ तैसे ही मुझे आज यह काम्यकवन सूना लगता है ॥ ५ ॥ युधिष्ठिरके ऐसे वाक्योंको सुनकर पवनकी समान महावेगवान् शीघ्र चलनेवाले सिंधु देशमें उत्पन्न हुए और अति उत्तम घोड़ोंका पाण्डवोंने महारथोंमें जोड़ा और उनमें बैठ कर पाण्डव आश्रमकी ओरको चलदिये ॥ ६ ॥ वे वनमेंसे लौट रहे थे उस समय घोर शब्द करनेवाला एक गीदड़ बड़ी जोरसे रोताहुआ उनके बाईं ओरको होकर भाग गया, यह देख कर युधिष्ठिरने अर्जुन तथा भीमसेनसे कहा कि—॥ ७ ॥ यह नीच गीदड़ हमारे बाईं ओर आकर जो रोता है इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि—पापी कौरवोंने बलात्कारसे अपमान करके हमारा कुछ अपराध किया है, इसप्रकार महावनमें मृगया करके परस्पर बातें करतेहुए पाण्डव काम्यक वनमें आपहुंचे, तहां आते

ऽयवधूं प्रियायाः ॥ ९॥ तामिन्द्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य रथादवप्लुत्य ततोऽभ्यधावत्। प्रोवाच चैनां वचनं नरेन्द्र धात्रेयिकामार्त्ततरस्तदानीम् ॥ १० ॥ किं रोदिषि त्वं पतिता धरण्यां किन्ते मुखं शुष्यति दीनवर्णम् । कच्चिन्न पापैः सुनृशंसकृद्भिः प्रमाथिता द्रौपदी राजपुत्री ॥ ११ ॥ अचिंत्यरूपा सुविशालनेत्रा शरीरतुल्या कुरुपुङ्गवानाम् । यद्येव देवी पृथिवीं प्रविष्टा दिवं प्रपन्नाप्यथवा समुद्रम् ॥ १२ ॥ तस्या गमिष्यन्ति पदे हि पार्था यथा हि सन्तप्यति धर्मपुत्रः । को हीदृशानामरिमर्दनानां क्लेशक्षमानामपराजितानाम् ॥ १३ ॥ प्राणैः समामिष्टतमां जिहीर्षेदनुत्तमं रत्नमिव प्रमूढः । न बुध्यते नाथवतीमिहाद्य बहिश्चरं हृदयं पांडवानाम् १४

ही उन्होंने अपनी प्रियाकी दासी बाल अवस्थाकी टहलनीको रोते हुए पाया ॥ ८—९ ॥ उसे देखते ही इन्द्रसेन रथमेंसे नीचे उतर कर उसकी ओर दौड़ता हुआ गया और हे राजन् ! समीपमें जाकर धायसे बूझनेलगा कि—ओ धात्रेयिका ! तू पृथ्वी पर पड़ी हुई क्यों रोती है ? तेरा दीनतायुक्त मुख क्यों सूख गया है ? क्या अतिक्रूर कर्म करनेवाले पापी, कुरुवंशी पाण्डवोंकी, शरीर समान, अचिन्त्य रूपवाली और विशालनेत्रा राजपुत्री द्रौपदी को हरकर तो नहीं लेगये हैं ? धर्मपुत्र युधिष्ठिरके मनमें ऐसा सन्ताप होता है कि—देवी द्रौपदीको पृथ्वीके भीतर छुपा दिया होगा या स्वर्गमें लेगये होंगे अथवा समुद्रमें डालदिया होगा तब भी ये पाण्डव उसके पीछे जाकर ढूंढेंगे और उसको खोजकर तत्काल लेआवेंगे, शत्रुमर्दक, क्लेश को सहनेवाले विजयी पाण्डवोंकी, श्रेष्ठरत्नतुल्य प्राणसमान अतिप्यारी भार्याको इस आश्रममेंसे हरकर लेजानेवाला मनुष्य कैसा मूढ है ? वह जानता नहीं कि—द्रौपदी सनाथा है ! पांडवों का एक बाहर फिरता हुआ दूसरा हृदय है अर्थात् पांडव उसे

कस्याद्य कायं प्रतिभिद्य घोरा महीं प्रवेक्ष्यन्ति शिताः शराग्र्याः
मात्वं शुचस्तां प्रतिभीरु विद्धि यथाद्य कृष्णा पुनरेष्यतीति १५
निहत्य सर्वान् द्विषतः समग्रान् पार्थाः समेष्यन्त्यथ याज्ञसेन्या ।
यथाब्रवीच्चारुमुखं विमृश्य धात्रेयिका सारथिमिन्द्रसेनम् ॥ १६ ॥
जयद्रथेनापहृता प्रमथ्य पञ्चेंद्रकल्पान् परिभूय कृष्णा । तिष्ठन्ति
वर्त्मानि नवान्यमूनि वृक्षाश्च न म्लान्ति तथैव भग्नाः ॥ १७ ॥
आवर्त्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं न दूरयातैव हि राजपुत्री । सन्नह्यध्वं
सर्वे एवेन्द्रकल्पा महान्ति चारूणि च दंशनानि ॥ १८ ॥ गृह्णीत
चापानि महाधनानि शरांश्च शीघ्रं पदवीञ्चरध्वम् । पुरा हि नि-
र्भर्त्सनदण्डमोहिता प्रमोहचित्ता वदनेन शुष्यता १९ ददाति कस्मै-
चिदनर्हते तनुं वराज्यपूर्णामिव भस्मनि स्रुचम् । पुरा तुषाग्नाविव
हूयते हविः पुरा श्मशाने स्रगिवापविध्यते ॥ २० ॥ पुरा च

अपना दूसरा हृदय जानते हैं ॥ १०-१४ ॥ अरे ! आज भयंकर
और तीक्ष्ण बाण किसकी कायाको वेधकर पृथ्वामें घुसेंगे !
ओ विकल नारी ! तू द्रौपदीका शोक मत कर, तू यह समझ कि-
द्रौपदी अब लौट कर आती होगी ॥१५॥ और पृथापुत्र सब शत्रुओं
का नाश करके द्रौपदीसे मिलेंगे यह सुनकर धाईने विचारके
साथ सुन्दर मुखवाले इन्द्रसेनसे कहा कि—॥ १६ ॥ इन्द्रकी
समान पाण्डवोंका अपमान करके जयद्रथ हठपूर्वक द्रौपदीको
हरकर लेगया है, उसके रथका मार्ग अभीतक वैसा ही है और
उसके आनेसे कुचलेहुए वृक्ष भी अभीतक कुम्हलायेहुए हैं॥१७॥
वह राजपुत्री अभी दूर नहीं गई होगी, अतः तुम रथको लौटाओ
और शीघ्रतासे उसके पीछे पड़ो, तुम शरीरके ऊपर बड़े २ और
सुन्दर कवच पहिरकर बड़े मूल्यवाले धनुष और बाणोंको ग्रहण
करो और कोई पुरुष अच्छे घीसे भरेहुए शराव (कटोरे) को
जैसे राखमें होम देय अथवा कोई पुरुष पुष्पमालाको जैसे मरघ-
टमें फेंकदेय अथवा ऋत्विक् ब्राह्मणोंकी असावधानीसे कुत्ता

सोमोऽध्वरगोऽवलिह्यते शुना यथा विप्रजने प्रमोहिते। महत्यरण्ये मृगयाञ्चरित्वा पुरा शृगालो नलिनीं विगाहते ॥ २१ ॥ मा वः प्रियायाः सुनसं सुलोचनं चन्द्रप्रभाच्छं वदनं प्रसन्नम्। स्पृश्याच्छुभं कश्चिदकृत्यकारी श्वा वै पुरोडाशमिवाध्वरस्थम्। एतानि वर्त्मान्यनुयात शीघ्रं मा वः कालः क्षिप्रमिहात्यगाद्वै । २२ । युधिष्ठिर उवाच। भद्रे प्रतिकामं नियच्छ वाचं मास्मत् सकाशे परुषाण्यवोचः। राजानो वा यदि वा राजपुत्रा बलेन मत्ता वञ्चनां प्राप्नुवन्ति२३ वैशम्पायन उवाच। एतावदुक्त्वा प्रययुर्हि शीघ्रं तान्येव वर्त्मान्यनुवर्त्तमानाः। मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसन्तो ज्यां विक्षिपन्तश्च महाधनुर्भ्यः ॥ २४ ॥ ततोऽपश्यंस्तस्य सैन्यस्य रेणुमुद्धूतं वै वाजि-

जैसे यज्ञके सोमरसको पीजाय, महावनमें शिकार करके गीदड़ जैसे सरोवरमें स्नान करै, तैसे ही तुम्हारी प्रिया प्रसन्न मुख वाली वह द्रौपदी तिरस्कारसे अथवा दण्डसे मोहमें पड़कर अचेतदशामें अयोग्य पुरुषको अपना शरीर न सौंपदेय उससे पहिले ही तुम शीघ्रतासे पहुँच जाओ॥ १८-२१॥ और कुत्ता जैसे यज्ञके पुरोडाशको भक्षण करता है, तैसे ही कोई अनुचित कर्मकरनेवाला पुरुष तुम्हारी प्रियाके सुन्दर नासिका और अच्छे नेत्रोंवाले चन्द्रमाकी प्रभाका समान गौरमुखका चुम्बन न करने पाये उससे पहिले ही तुम इस मार्गमें उसकी ओरको दौड़ो॥२२॥यह सुनकर युधिष्ठिर बोले कि-हे कल्याणि! दूर हट, वाणीको बन्दकर,हमसे तीखे वचन मत बोल,राजा अथवा राजपुत्र बलसे मदमत्त होते हैं, वे कठोर वचन सुनकर यह मनुष्य हमसे हितके लिये सद्भावसे कहता है इसको भूलजाते हैं और कहनेवालेको अपना शत्रु मानकर उसका नाश करदेते हैं ॥२३॥ वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय! इतना कहने पर वे पांडव वार वार क्रोधमें भरेहुए सर्पका समान फुंकारें भरने लगे और महाधनुषोंकी डोरियोंको खैंचकर टंकारशब्द करते हुए तत्काल उस मार्गकी ओरको चलदिये ॥ २४ ॥ थोड़ी ही दूर जाकर

खुरमणुन्नम् । पदातीनां मध्यगतञ्च धौम्यं विक्रोशन्तं भीममभिद्रवेति ॥ २५ ॥ ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीनसत्त्वाः सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः । श्येना यथैवामिषसम्प्रयुक्ता जवेन तत्सैन्यमथाभ्यधावन् ॥ २६ ॥ तेषां महेन्द्रोपमविक्रमाणां संरब्धानां धर्षणाद्याज्ञसेन्याः । क्रोधः प्रजज्वाल जयद्रथञ्च दृष्ट्वा प्रियां तस्य रथे स्थिताञ्च ॥ २७ ॥ प्रचुक्रुशुश्चाप्यथ सिन्धुराजं वृकोदरश्चैव धनञ्जयश्च । यमौ च राजा च महाधनुर्धरास्ततो दिशः संमुमुहुः परेषाम् ॥ २८ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि पार्थागमन ऊनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६९ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततो घोरतरः शब्दो वने समभवत्तदा ।

उन्होंने जयद्रथकी सेनाके घोड़ोंकी टापोंके पड़नेसे ऊँची उड़ती हुई धूलिको देखा और तदनन्तर सेनाके मध्यभागमें धौम्य मुनिको भी चलतेहुए देखा, धौम्य मुनि भीमसेन को देख कर दौड़ो ! दौड़ो ! ऐसा चिल्लाकर बुलानेलगे ॥२५॥ तदनन्तर महाबली पाँचों राजकुमार पाण्डवोंने उन मुनिके पास जाकर उन्हें ढाढस दिया और कहा कि–अच्छा तुम भी सुखसे साथ में आओ, इसप्रकार कहकर जैसे बाज मांसको देखकर उसके पीछे दौड़ते हैं, तैसे ही पाण्डव जयद्रथकी सेनाके पीछे वेगसे दौड़े ॥ २६ ॥ इन्द्रकी समान पराक्रमी पांडव महाक्रोधी थे और वे द्रौपदीका हरण होनेसे बहुत ही खिजगये थे, वे जयद्रथको और उसके रथमें बैठीहुई द्रौपदीको देखकर क्रोधाग्निसे जलउठे ॥ २७ ॥ धनुर्धारी धर्मराज, भीम, अर्जुन नकुल और सहदेव जयद्रथसे चिल्ला चिल्ला कर कहने लगे कि–कहां जाता है खड़ा रह ! इतना सुनते ही शत्रु पाण्डवोंको देखकर भौचक्केसे रहगये ॥ २८ ॥ दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६९ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे जनमेजय ! भीम और अर्जुनको देख,

भीमसेनार्जुनौ दृष्ट्वा क्षत्रियाणाममर्षिणाम् ॥ १ ॥ तेषां ध्वजाग्राण्यभिवीक्ष्य राजा स्वयं दुरात्मा कुरुपुङ्गवानाम् । जयद्रथो याज्ञसेनीमुवाच रथे स्थितां भानुमतीं हतौजाः ॥ २ ॥ आयान्तीमे पञ्चरथा महान्तो मन्ये च कृष्णे पतयस्तवैते । सा जानती ख्यापय नः सुकेशि परं परं पाण्डवानां रथस्थम् ॥३॥ द्रौपद्युवाच । किन्ते ज्ञातैर्मूढ महाधनुर्धरैरनायुष्यं कर्म कृत्वातिघोरम् । एते वीराः पतयो मे समेता न वः शेषः कश्चिदिहास्ति युद्धे ॥ ४ ॥ आख्यातव्यं त्वेव सर्वं मुमूर्षोर्मया तुभ्यं पृष्टया धर्म एषः । न मे व्यथा विद्यते त्वद्भयं वा सम्पश्यन्त्याः सानुजं धर्मराजम् ॥५॥ यस्य ध्वजाग्रे नदतो मृदङ्गौ नन्दोपनन्दौ मधुरौ युक्तरूपौ ।

कर क्रोधमें भरेहुए क्षत्रियोंने उस वनमें महाभयंकर शब्द किया ॥१॥ और दुष्टात्मा राजा जयद्रथ, कुरुवंशश्रेष्ठ पाण्डवोंकी ध्वजाके अग्रभागको ही देखकर निर्बल होगया उसने रथमें बैठीहुई महाकान्तिवाली द्रौपदीसे बूझा कि–॥ २॥ हे कृष्णे! ये जो पांच बड़े २ रथ दौड़ते हुए आरहे हैं ये मेरी समझमें तेरे पति हैं, हे सुकेशि! तू पाण्डवोंको और उनके रथोंको पहिचानती है अतः रथोंमें बैठे हुए पाण्डवोंमेंसे एक २ को मुझे बता ॥ ३ ॥ यह सुनकर द्रौपदी बोली कि–अरे मूढ ! तुझे महाधनुषधारी पांडवोंको पहिचाननेसे क्या काम है? तूने तो महाभयंकर कर्म किया है, यह तेरी आयुका नाश करनेवाला है, ये जो शूर इकट्ठे होकर आरहे हैं वे मेरे पति हैं और उनके साथ युद्ध करने पर तेरा एक मनुष्य भी जीता नहीं बचेगा ॥ ४ ॥ तूने मुझसे बूझा है अतः मरनेको तयारहुए तुझको उत्तर दूँ यह मेरा धर्म है, अतः सुन, क्योंकि-भाइयोंसहित धर्मराजके दर्शन करनेसे अब मुझे तुझसे भय वा कष्ट कुछ भी नहीं है॥५॥सबसे आगे जो रथ चला आरहा है यह रथ धर्मराज का है, इनके रथकी ध्वजाके अग्रभागमें नन्द और उपनन्द नामक मनोहर योग्य रूपवाले दो मृदङ्ग मधुर ध्वनि किया करते हैं और

एतं स्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञं सदा जनाः कृत्यवन्तोऽनुयान्ति ॥ ६ ॥ य एष जाम्बूनदशुद्धगौरः प्रचण्डघोणस्तनुरायताक्षः । एतं कुरुश्रेष्ठतमं वदन्ति युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे ॥ ७ ॥ अप्येष शत्रोः शरणागतस्य दद्यात् प्राणान् धर्मचारी नृवीरः । परैह्येनं मूढ जवेन भूतये त्वमात्मनः प्राञ्जलिर्न्यस्तशस्त्रः ॥८॥ अथाप्येनं पश्यसि यं रथस्थं महाभुजं शालमिव प्रवृद्धम् । सन्दष्टौष्ठं भ्रुकुटीसंहतभ्रुवं वृकोदरो नाम पतिर्ममैषः ॥ ९ ॥ आजानेया बलिनः साधु दान्ता महाबलाः शूरमुदा वहन्ति । एतस्य कर्माण्यतिमानुषाणि भीमेति शब्दोऽस्य गतः पृथिव्याम् ॥१०॥ नास्यापराद्धाः शेषमवाप्नुवन्ति नायं वैरं विस्मरते कदाचित् । वैरस्यांतं संविधायोपयाति पश्चाच्छान्तिं न च गच्छत्यतीव । ११ ।धनुर्द्धरा-

---

कार्य करनेवाले पुरुष निरन्तर धर्म तथा अर्थके निर्णयको जानने वाले धर्मराजके पीछे२ चलते हैं॥६" जिनका शरीर निर्मल सुवर्ण की समान गौर नाक ऊँची और नेत्र विशाल हैं तथा जो शरीर से पतले हैं इन कुरुवंशमें श्रेष्ठ पुरुष को लोग धर्मपुत्र युधिष्ठिर नाम से कहते हैं और ये मेरे पति हैं ॥७॥ शत्रु भी यदि इनकी शरण में जाता है तो यह धर्मात्मा वीर राजा, उसको प्राणदान देते हैं; हे मूढ ! तू अपने अस्त्रोंको छोड दोनों हाथ जोडकर अपने कल्याण के लिये झट इनकी शरणमें जा॥८॥ और शालके वृक्षकी समान लम्बे,महाभुज दाँतोंसे ओठोंको दावतेहुए तथा जिनकी भौंहें तिरछी होरही हैं ऐसे रथमें वैठेहुए जिनको तू देखता है उनका नाम भीमसेन है,और ये मेरे स्वामी हैं॥९॥जिनको अजनेम नामवाले महावली और भलीप्रकार सिखायेहुए घोड़े खेंचे लारहे हैं और जिनके कर्म अलौकिक हैं ये पृथ्वीमें भीम नामसे प्रसिद्ध हैं॥१०॥ भीमसेन का अपराध करनेवाला पुरुप जड़मूलसे नष्ट होजाता है, ये कभी भी वैरको नहीं भूलते हैं क्योंकि-ये वैरका अन्त किये विना शांति से नहीं वैठते हैं ॥११॥ यह जो दीखरहे हैं ये धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ

श्चो धृतिमान् यशस्वी जितेन्द्रियो वृद्धसेवी नृवीरः। भ्राता च शिष्यश्च युधिष्ठिरस्य धनञ्जयो नाम पतिर्ममैषः ॥ १२ ॥ यो वै न कामान्न भयान्न लोभात्त्यजेद्धर्मं न नृशंसञ्च कुर्यात्। स एष वैश्वानरतुल्यतेजाः कुन्तीसुतः शत्रुसहः प्रमाथी ॥ १३ ॥ यः सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो भयार्तानां भयहर्ता मनीषी। यस्योत्तमं रूपमाहुः पृथिव्यां यं पांडवाः परिरक्षन्ति सर्वे ॥ १४ ॥ प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै स एष वीरो नकुलः पतिर्मे। यः खड्गयोधी लघुचित्रहस्तो महांश्च धीमान् सहदेवो द्वितीयः ॥ १५ ॥ यस्याद्य कर्म द्रक्ष्यसे मूढसत्त्व शतक्रतोर्वा दैत्यसेनासु संख्ये। शूरः कृतास्त्रो मतिमान्मनस्वी प्रियंकरो धर्मसुतस्य राज्ञः ॥ १६ ॥ य एष चन्द्रार्कसमानतेजा जघन्यजः पाण्डवानां

धीरजवाले, यशस्वी, जितेन्द्रिय, वृद्धोंकी सेवा करनेवाले मनुष्यों में शूर युधिष्ठिरके भ्राता तथा शिष्य हैं, इनका नाम अर्जुन है और ये मेरे पति हैं ॥ १२ ॥ ये किसी प्रकारकी कामनासे भय से अथवा लोभसे धर्मको नहीं छोड़ते हैं, तथा क्रूरकर्म भी नहीं करते हैं, ये अग्निके समान तेजस्वी और शत्रुकी टक्करको झेलनेमें समर्थ हैं तथा सबका संहार करसकते हैं, ये सब धर्म तथा अर्थका परिणाम जाननेवाले, भयभीतके भयको मिटानेवाले, मनीषी और पृथ्वीमें सबसे श्रेष्ठ रूपवान् हैं सब पाण्डव इनकी प्राणोंसे भी अधिक रक्षा करते हैं तथा ये पाण्डवोंके अनुकूल चला करते हैं यह नकुल नामवाले मेरे पति हैं और यह जो दूसरे दाब रहे हैं जो तलवारसे युद्ध करनेवाले तथा फुर्तीले और विचित्र प्रकारका युद्ध करनेमें जिनके हाथ चतुर हैं यह मेरे सहदेव नाम वाले पति हैं ॥ १३–१५ ॥ ओ मूढ़बुद्धि ! आज तू दैत्यसेनामें इन्द्रके पराक्रमकी समान इन सहदेवके पराक्रमको युद्धमें देखेगा, यह सहदेव शूर, अस्त्रविद्यामें निपुण, विद्वान्, धर्मराजका हित चाहनेवाले ॥ १६ ॥ सूर्य और चन्द्रमा

प्रियश्च बुद्ध्या । समो यस्य नरो न विद्यते वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः ॥ १७ ॥ स एष शूरो नित्यममर्षणश्च धीमान् प्राज्ञः सहदेव. पतिर्मे । त्यजेत् प्राणान् प्रविशेद्धव्यवाहं न त्वेवैष व्याहरेद्धर्मबाह्यम् ॥ १८ ॥ सदा मनस्वी क्षत्रधर्मे रतश्च कुन्त्याः प्राणैरिष्टतमो नृवीरः । विशीर्यन्तीं नावमिवार्णवान्ते रत्नाभिपूर्णां मकरस्य पृष्ठे॥ १९ ॥ सेनांतरे मां हतसर्वयोधां विक्षोभितां द्रक्ष्यसि पाण्डुपुत्रैः । इत्येते वै कथिताः पाण्डुपुत्रा यांस्त्वं मोहादवमन्य प्रवृत्तः । यद्येतेभ्यो मुच्यसे रिष्टदेहः पुनर्जन्म प्राप्स्यसे जीव एव ॥ २० ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ ततः पार्थाः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पास्त्य-

---

की समान कान्तिमान्, पाण्डवोंमें सबसे छोटे और पांडवोंके प्रेम-पात्र हैं बुद्धिमें इनकी समान कोई भी मनुष्य नहीं है यह वक्ता और सत्पुरुषोंमें सत्य निर्णयको जाननेवाले हैं ॥ १७॥ और ये वीर नित्य महाक्रोधमें रहनेवाले, बुद्धिमान्, धैर्यधारी क्षत्रियधर्म पर प्रेम रखनेवाले, कुन्तीजी को प्राणोंसे भी अधिक प्यारे और मनुष्योंमें वीर हैं, यह अपने धर्मके विरुद्ध असत्य नहीं बोलते हैं किन्तु धर्मके लिये अग्निमें प्रवेश करके प्राणोंको त्याग दें ऐसे हैं, जब पाण्डुपुत्र तेरी सेनाके मनुष्योंका चूरा २ कर डालेंगे तब जैसे समुद्रमें रत्नोंसे खचाखच भरीहुई नाव मछलीकी पीठके ऊपर आनेसे उलटकर डूबजाती है तैसे ही तू भी अपनी सब सेनाके योधाओंको नष्टहुए देखेगा, इस प्रकार मैंने तुझसे पांडुपुत्रोंका वर्णन किया, कि जिन पाण्डवोंका तू मूर्खतासे अपमान करके मेरा हरणरूपी नीच कार्य करनेको तत्पर हुआ है परन्तु यदि तू इन पांडवोंके हाथसे अक्षत (सहीसलामत) छूट-जाय तो जानना कि–जीतेजी ही मेरा पुनर्जन्म होगया ॥ १८—२० ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि–हे जनमेजय ! तदनन्तर क्रोधित हुए इन्द्रकी समान पाँचों पांडवोंने, डरकर प्रणामकरके क्षमा मांगते हुए पैदलोंको छोड़दिया और रथाकी सेनाको चारोंओरसे

त्वा त्रस्तान् प्रांजलींस्तान् पदातीन् । यथानीकं शरवर्पान्धकारं चक्रुःक्रुद्धाः सर्वतः सन्निगृह्य ॥ २१ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदी पाण्डव- यशोगाने सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७० ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ सन्तिष्ठत प्रहरत तूर्णं विपरिधावत । इति स्म सैन्धवो राजा चोदयामास तान्नृपान् ॥ १ ॥ ततो घोर- तमः शब्दो रणे समभवत्तदा । भीमार्जुनयमान् दृष्ट्वा सैन्यानां सयुधिष्ठिरान् ॥ २ ॥ शिबिसौवीरसिन्धूनां विषादश्चाप्यजायत । तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् व्याघ्रानिव बलोत्कटान् ॥ ३ ॥ हेमचित्र- समुत्सेधां सर्वशैक्यायसीं गदाम् । प्रगृह्याभ्यद्रवद्भीमः सैन्धवं कालचोदितम् ॥४॥ तदन्तरमथावृत्य कोटिकास्योऽभ्यहारयत् । महता रथवंशेन परिवार्य वृकोदरम् ॥ ५ ॥ शक्तितोमरनाराचै-

---

घेरलिया और उसपर बाणोंकी वर्षा करके चारों ओर अंधकार करदिया ॥ २१ ॥ दोसौ सत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ २७० ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! उस समय सिंधुराज जयद्रथने अपने साथके राजाओंसे कहा कि—चलो शत्रुओंके सामने डटजाओ और शीघ्र ही उनकी ओरको दौड़कर उनका संहार करडालो॥१॥उसी समय जयद्रथकी सेनाके मनुष्य युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन,नकुल और सहदेवको देखकर रणभूमिमें अतिभयानक शब्द करउठे ॥ २ ॥ परन्तु शिबि, सौवीर तथा सिंधुदेशके राजे, महाबली सिंहोंकी समान पुरुषव्याघ्र पाण्डवोंको देख कर खिन्न होगए ॥ ३ ॥ तदनन्तर भीमसेन रथमेंसे नीचे उतर पड़ा और सुवर्णकी पत्तरसे जड़ीहुई शैक्य नामवाली लोहेका गदाको लेकर कालके भेजेहुए सिंधुराजकी ओरको दौड़ा ॥ ४ ॥ परन्तु कोटिकास्यने बड़ीभारी रथसेनासे भीमको घेरकर भीम और जय- द्रथके बीचमें अन्तर डालदिया ॥ ५ ॥ और जयद्रथके बहुतसे शूरवीर राजे भीमसेनके ऊपर शक्ति तोमर और बाणोंकी वर्षा

र्वीरबाहुप्रचोदितैः । कीर्यमाणोऽपि बहुभिर्न स्म भीमोऽभ्यकम्पत ॥ ६ ॥ गजन्तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश । जघान गदया भीमः सैन्यवध्वजिनीमुखे ॥ ७ ॥ पार्थः पंचशतान् शूरान् पार्वतीयान् महारथान् । परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनीमुखे ॥८॥ राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम् । निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा ॥ ९ ॥ ददृशे नकुलस्तत्र रथात् प्रस्कन्द्य खड्गधृत् । शिरांसि पादरक्षाणां बीजवत् प्रवपन्मुहुः ॥ १० ॥ सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः । पातयामास नाराचैद्रुमेभ्य इव बर्हिणः ॥ ११ ॥ ततस्त्रिगर्तः सधनुरवतीर्य महारथात् । गदया चतुरो वाहान् राज्ञस्तस्य तदावधीत् ॥ १२ ॥ तमभ्याशगतं राजा

करनेलगे तो भी भीमसेन विचलित नहीं हुआ ॥ ६ ॥ और उस ने सिंधुराजकी सेनामें प्रवेश करके मुहानेपर ही हाथीके ऊपर बैठेहुए महावतसहित एक हाथीको और चौदह पैदलोंको गदा मारकर मारडाला ॥ ७ ॥ दूसरी ओर अर्जुनने सौवीरराजको पकड़नेके लिये सेनाके मुहाने पर खड़े हुए पर्वतवासी पांच सौ शूर महारथियोंका संहार करडाला ॥ ८ ॥ और राजा युधिष्ठिर ने भी उस समय एक ही क्षणमें बाणोंका प्रहार करनेवाले सौवीर देशके परम उत्तम सौ योधाओंका नाश करडाला ॥ ९ ॥ और तहाँ नकुल हाथमें तलवार लेकर रथमेंसे नीचे उतरपड़ा और बीज बोनेवाला (किसान) जैसे भूमिपर बीजोंको बखेरता है तिसी प्रकार शत्रुओंके मस्तकोंको वारम्वार काटकर पृथ्वी पर बखेरने-लगा॥१०॥सहदेव भी रथमें बैठकर हाथियोंपर सवार होकर युद्ध करनेवालोंसे भिड़ गया और जैसे व्याध बाण मार कर वृक्षोंपर से मोरोंको नीचे गिराता है तैसे बाण मार कर हाथियों परसे योधाओंको नीचे गिरानेलगा ॥ ११ ॥ इसप्रकार पाण्डव महा अद्भुत कर्म करनेलगे उस समय त्रिगर्त देशका राजा धनुष लिये हुए अपने महारथमेंसे नीचे उतरपडा और उसने गदाके प्रहारसे राजा युधिष्ठिरके चारों घोड़ोंको मारडाला ॥ १२॥ उस ही समय

पदार्ति कुन्तिनन्दनः । अर्धचन्द्रेण बाणेन विव्याधोरसि
॥ १३ ॥ स भिन्नहृदयो वीरो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् । पप
पार्थं छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १४ ॥ इन्द्रसेनद्वितीयस्तु
प्रस्कन्द्य धर्मराट् । हताश्वः सहदेवस्य प्रतिपेदे महारथम् ॥ १५ ।
नकुलन्त्वभिसन्धाय क्षेमङ्करमहामुखौ । उभावुभयतस्तीक्ष्णैः
शरवर्षैरवर्षताम् ॥ १६ ॥ तोमरैरभिवर्षन्तौ जीमूताविव वार्षिकौ
एकैकेन विपाठेन जघ्ने माद्रवतीसुतः ॥ १७ ॥ त्रिगर्त्तराजः सुरथ-
स्तस्याथ रथधूर्गतः । रथमाक्षेपयामास गजेन गजयानवित् ॥१८॥
नकुलस्त्वपभीस्तस्माद्रथाच्चर्मासिपाणिमान् । उद्भ्रान्तं स्थान-
मास्थाय तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १९ ॥ सुरथस्तं गजवरं वधाय

कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरने समीपमें पैदल खड़ेहुए त्रिगर्त-
राजकी छातीको अर्धचन्द्राकार बाण मार कर चीर डाला।१३।
शूर त्रिगर्तराज छातीके चिरजानेसे मुखसे रुधिर ओकनेलगा
और जैसे जड़ कटनेसे वृक्ष अररर करताहुआ पृथ्वी पर गिर
पडता है तैसे ही धर्मराजके आगे पृथ्वी पर गिरपड़ा ॥ १४ ॥
रथके घोड़ोंके मरजानेसे धर्मराज तथा इंद्रसेन अपने रथमेंसे कूद
कर नीचे आगए और वे सहदेवके बड़े भारी रथमें बैठगए।१५।
दूसरी ओर क्षेमकर तथा महामुख नकुलको ताक २ कर चारों
ओरसे उसके ऊपर तीक्ष्ण बाणोंकी वर्षा करनेलगे ॥ १६ ॥
तब माद्रीपुत्रने चौमासेकी वर्षाकी समान अपने ऊपर तोमरोंकी
वर्षा करनेवाले उन दोनोंको विपाठ नामके बाणोंका एक २ महार
करके मारडाला ॥ १७ ॥ इस ही समय हाथीको चलानेमें प्रवीण
त्रिगर्तदेशका राजा सुरथ नकुलके रथकी धुरीके आगे गया और
उसने अपने हाथीकी टक्करसे उसके रथको दूर फेंकदिया, नकुल
उस समय निर्भयपनेके साथ रथपरसे नीचे उतरपडा और हाथमें
ढाल तथा तलवार ले एक ऊँचे स्थानमें जाकर पर्वतकी समान
अचल खड़ा होगया ॥ १८-१९ ॥ और तुरत ही राजा सुरथने

नकुलस्य तु । प्रेषयामास सक्रोधमत्युच्छ्रितकरं ततः ॥ २० ॥ नकुलस्तस्य नागस्य समीपपरिवर्त्तिनः । सविषाणं भुजं मूले खड्गेन निरकृन्तत ॥ २१ ॥ स विनद्य महानादं गजः किङ्किणिभूषणः । पतन्नवाक्शिरा भूमौ हस्त्यारोहमपोथयत् ॥ २२ ॥ स तत् कर्म महत् कृत्वा शूरो माद्रवतीसुतः । भीमसेनरथं प्राप्य शर्म लेभे महारथः ॥ २३ ॥ भीमस्त्वापततो राज्ञः कोटिकास्यस्य सङ्गरे । सूतस्य नुदतो वाहान् क्षुरेणापाहरच्छिरः ॥ २४ ॥ न बुबोध हतं सूतं स राजा बाहुशालिना । तस्याश्वा व्यद्रवन् संख्ये हतसूतास्ततस्ततः ॥ २५ ॥ विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहरतांवरः । जघान तलयुक्तेन प्रासेनाभ्येत्य पांडवः ॥ २६ ॥ द्वा-

---

नकुलको मारनेके लिये अपने हाथीको उसके ऊपर दौड़ाया तब वह हाथी क्रोधसे सूंडको ऊँचा करके उसके ऊपरको दौड़ा २० परन्तु उस हाथीके पासमें आते ही नकुलने तलवार लेकर उस की सूँड और दोनों दांतोंको जड़से काटडाला ॥ २१॥ उस समय घूंघरुओंकी मालासे शोभायमान उस हाथीने जोरसे चिंघारनेका शब्द किया और माथेके बल पृथ्वी पर गिर कर महावतको भी पृथ्वीं पर देमारा ॥ २२ ॥ इसप्रकार महापराक्रम करके शूर माद्री-पुत्र नकुल, भीमसेनके रथमें बैठेकर आराम लेनेलगा ॥ २३ ॥ दूसरी ओर राजा कोटिकास्य भीमसे युद्ध करनेको चढ़आया तब पहिले ही धावेमें भीमसेनने उसके घोडोंको हांकनेवाले सारथिका शिर क्षुर नामवाले शस्त्रसे काटडाला ॥ २४ ॥ परन्तु उस राजाको मालूम नहीं हुआ कि—भुजबलवाले भीमने मेरे सारथी को मारडाला है सारथीके मारे जानेसे उसके घोड़े रणभूमि में इधर उधर घूमनेलगे ॥ २५ ॥ सारथीके मरनेसे राजा भी रणभूमिमें से भागनेलगा तब योधाओंमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र भीमसेनने उसके पीछे जाकर मूँठवाले प्रास नामके शस्त्रसे

दशानान्तु सर्वेषां सौवीराणां धनञ्जयः । चकर्त्त निशितैर्भल्लैर्धनूंषि च शिरांसि च ॥ २७ ॥ शिबीनिक्ष्वाकुमुख्यांश्च त्रिगर्त्तान् सैन्धवानपि । जघानातिरथः संख्ये बाणगोचरमागतान् ॥ २८ ॥ सादिताः प्रत्यदृश्यन्त बहवः सव्यसाचिना सपताकाश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ॥ २९ ॥ प्रच्छाद्य पृथिवीं तस्थुः सर्वमायोधनं प्रति । शरीराण्यशिरस्कानि विदेहानि शिरांसि च ३० श्वगृध्रकङ्ककाकोलभासगोमायुवायसाः । अतृप्यंस्तत्र वीराणां हतानां मांसशोणितैः ३१ हतेषु तेषु वीरेषु सिंधुराजो जयद्रथः । विमुच्य कृष्णां सन्त्रस्तः पलायनमनाभवत् ॥ ३२ ॥ स तस्मिन् संकुले सैन्ये द्रौपदीमवतार्य्य ताम् । प्राणप्रेप्सुरुपाधावत् वनं येन नराधमः ॥ ३३ ॥ द्रौपदीं धर्म्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्यपुरस्कृताम् । माद्रीपुत्रेण वीरेण रथमारोपयत्तदा ॥३४॥ ततस्तद्विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे

उसे मारडाला ॥ २६ ॥ अर्जुननें सौवीर देशके बारह राजाओंके धनुषोंको और मस्तकोंको तेज कियेहुए भालोंसे काट डाला ॥ २७ ॥ और अतिरथी अर्जुनने बाणोंसे युद्धमें शिवियोंको इक्ष्वाकुवंशवालोंको,त्रिगर्त देशके राजाओंको तथा सिंधुदेश के राजाओंको मारडाला ॥२८॥इसप्रकार अर्जुनके संहार कियेहुए पताकावाले हाथी और ध्वजावाले रथ रणभूमिमें दिखाई देते थे ॥ २९ ॥ तैसे ही पड़ेहुए मस्तकरहित धड़ोंसे तथा धड़रहित मस्तकोंसे भी सब रणभूमि ढकगई ॥ ३० ॥ और कुत्ते, गीध, सूअर कङ्क तथा कौए मरेहुए वीर पुरुषोंके मांसको खाकर और लोहूको पीकर तृप्त हुए ॥ ३१ ॥ इसप्रकार वीर पुरुष मारेगये तब जयद्रथ डरगया और वह द्रौपदीको छोड़कर मनमें भागनेका विचार करने लगा ॥ ३२ ॥ वह नराधम राजा अपने प्राण बचानेकी इच्छासे द्रौपदीको रथसे नीचे उतार कर वनकी ओरको भागा ॥ ३३ ॥ तदनन्तर धर्मराजने द्रौपदी और धौम्यको अपने पास आते हुए देखकर सहदेवके द्वारा उनको रथमें बैठाया ॥ ३४ ॥ इतनेमें ही

आदिश्यादिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ॥ ३५ ॥ सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायन्तं जयद्रथम् । वारयामास निघ्नन्तं भीमं सैन्धव-सैनिकान् ॥ ३६ ॥ अर्जुन उवाच । यस्यापचारात् प्राप्तोऽयं-मस्मान्क्लेशो दुरासदः । तस्मिन् समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् ॥ ३७ ॥ तमेवान्विष भद्रन्ते किन्ते योधैर्निपातितैः । अनामिषमिदं कर्म कथं वा मन्यते भवान् ॥३८ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता । युधिष्ठिरमभिप्रेक्ष्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥ हतप्रवीरा रिपवो भूयिष्ठं विद्रुता दिशः । गृहीत्वा द्रौपदीं राजन्निवर्त्ततुभवानितः ॥ ४० ॥ यमाभ्यां सह राजेन्द्र धौम्येन च महात्मना । प्राप्याश्रमपदं राजन् द्रौपदीं परिसान्त्व्य च ॥ ४१ ॥ न मे मोक्ष्यते जीवन्मूढः सैन्धवको नृपः । पातालतलसं-

---

जयद्रथ वनकी ओरको भागा और उसकी सेना भी भागनेलगी इतनेमें भीम तुरत ही उनके पीछे दौड़ा और उनका नाम ले २ कर बाण मारने लगा ॥ ३५ ॥ अर्जुनने आँख उठाकर रणभूमि को देखा तो जयद्रथको भागते हुए पाया और भीमसेनको उस की सेनाका संहार करतेहुए देखा तो भीमसेनको ऐसा काम करनेसे रोक कर कहा कि–॥ ३६ ॥ हे भीम ! तेरा कल्याण हो हमें जिसके दोषसे रणभूमिमें इतना भारी क्लेश सहना पड़ा है वह जयद्रथ मुझे इस रणभूमिमें नहीं दिखाई देता ॥ ३७ ॥ अतः तू पहिले उसे ढूंढ़ तेरा कल्याण हो योधाओंको मारनेसे क्या लाभ होगा ? तू इस निष्फल कामको किसलिये करता है ? ॥ ३८ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—बुद्धिमान् अर्जुनने इसप्रकार कहा तब वाग्मी भीमसेनने युधिष्ठिरकी ओर देखकर कहा कि–॥ ३९॥ हे ज्येष्ठ भाई ! शूर शत्रु नष्ट होगये और बहुतसे योधा इधर उधर भागगए हैं अतः हे राजेन्द्र ! तुम अब नकुल सहदेव तथा महात्मा धौम्यके साथ द्रौपदीको लेकर यहाँसे पधारो और आश्रममें जाकर खिन्न हुई द्रौपदीको ढाढस दो ॥ ४०–४१ ॥ सिंधु देशका मूर्ख

स्थोऽपि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ॥ ४२ ॥ युधिष्ठिर उवाच । न हंतव्यो महावाहो दुरात्मापि स सैन्धवः।दुःशलामभिसंस्मृत्य गान्धारीञ्च यशस्विनीम् ॥ ४३ ॥ वैशम्पायन उवाच । तच्छ्रुत्वा द्रौपदी भीममुवाच व्याकुलेन्द्रिया । कुपिता ह्रीमती प्राज्ञा पतीं भीमार्जुनावुभौ ॥ ४४ ॥ कर्त्तव्यञ्चेत् प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः । सैन्धवापसदः पापो दुर्मतिः कुलपांसनः ॥ ४५ ॥ भार्य्याभिहर्त्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः । याचमानोपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथंचन ॥४६॥ इत्युक्तौ तौ नरव्याघ्रौ ययतुर्यत्र सैन्धवः । राजा निववृते कृष्णामादाय स पुरोहितः ॥ ४७ ॥ स प्रविश्याश्रमपद-

---

राजा जयद्रथ कदाचित् पातालमें चलागया होगा अथवा इन्द्र, उसका सारथी बनगया होगा तो भी मैं उसको जीता नहीं जानेदूँगा युधिष्ठिर बोले कि—हे महाबाहो ! सिंधु देशका राजा दुष्ट है, तो भी तू दुःशला तथा यशस्विनी गांधारीकी लज्जा रखकर उस को मार न डालना ॥ ४३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—हे राजन् ! युधिष्ठिरके ऐसे वचनोंको सुनकर व्याकुल इन्द्रियोंवाली बुद्धिमती और लज्जावती द्रौपदीने क्रोधमें भरकर अपने भर्ता भीमसेन और अर्जुनसे कहा कि—॥४४॥ तुम यदि मेरा प्रिय कार्य करना चाहते हो तो नराधम, पापी दुष्टबुद्धि, कुलमें कलङ्क लगानेवाले नीच सिंधु देशके राजाको मारडालो क्योंकि—॥ ४५ ॥ जिस शत्रुने स्त्रीका हरण किया हो और जिसने राज्य हरलिया हो वह शत्रु यदि युद्धमें हाथ जोड कर प्रार्थना करे तो भी उसे जीवित नहीं छोडना चाहिये॥४६॥इसप्रकार नरव्याघ्र भीम तथा अर्जुन से कहा, तब जिस दिशाकी ओरको सिंधुराज भागगया था उस दिशाकी ओरको ही वे दोनों दौड़े और युधिष्ठिर द्रौपदीको ले कर पुरोहितके साथ तहाँसे पीछेको लौट आश्रममें आगये तहाँ देखा तो आश्रममें कुशासन तथा विद्यार्थियोंके पढ़नेकी झोपड़ियें

नपविद्धहसीमठम् । मार्कंडेयादभिर्विप्रैरनुकीर्णं ददर्श ह ॥४८॥ द्रौपदीमनुशोचद्भिर्ब्राह्मणैस्तैः समाहितैः । सगियाया महप्राज्ञः सभान्यों भ्रातृमध्यगः ॥ ४९ ॥ ते स्म तं मुदिता दृष्ट्वा पुनः प्रत्यागतं नृपम् । जित्वा तान् सिन्धुसौवीरान् द्रौपदीं चाहृतां पुनः ॥५०॥ स तैः परिवृतो राजा तत्रैवोपविवेश ह। प्रविवेशाश्रमं कृष्णा यमाभ्यां सह भाविनी ॥५१॥ भीमसेनार्जुनौ चापि श्रुत्वा क्रोशगतं रिपुम् । स्वयमश्वांस्तुदन्तौ तौ जवेनैवाभ्यधावताम् ॥ ५२ ॥ इदमत्यद्भुतं चात्र चकार पुरुषोऽर्जुनः । क्रोशमात्रगतानश्वान् सैंधवस्य जघान यत् ॥ ५३ ॥स हि दिव्यास्त्र सम्पन्नः कृच्छ्रकालेऽप्यसम्भ्रमः । अकरोद्दुष्करं कर्म शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ॥५४॥ ततोऽभ्यधावतां वीरावुभौ भीमधनञ्जयौ । हताश्वं सैन्धवं भीतमेकं व्या-

उलट पुलट पड़ी थीं तथा द्रौपदीका शोक करतेहुए मार्कण्डेय आदि ब्राह्मण सावधान होकर बैठेहुए थे, और उनसे ही आश्रम भररहा था, इतनेमें ही भाइयोंके बीचमें द्रौपदीको लियेहुए धर्मराज आश्रममें आये ॥ ४७—४९ ॥ उस समय, शोकमें बैठेहुए ब्राह्मण, सिंधु तथा सौवीरका पराजय कर द्रौपदीको साथमें लातेहुए धर्मराजको देख कर प्रसन्न होगये ॥ ५० ॥ और उनके आस पास घिरकर बैठगये; धर्मराज भी तहाँ ही सब ब्राह्मणोंके मध्यमें बैठगये और श्रेष्ठ गुणोंवाली द्रौपदी भी नकुल तथा सहदेवके साथ आश्रममें जापहुंची, शत्रु भागकर एक गाँव दूर चलागया यह सुनकर भीमसेन और अर्जुन स्वयं ही घोडोंको हाँककर वेगसे जयद्रथके पीछे दौड़नेलगे ॥ ५१ ॥ उस समय वीर अर्जुनने एक महा अद्भुत पराक्रम किया वह यह था कि—एक कोस दूर पहुचे हुए सिंधुराजके घोड़ोंको अस्त्रविद्याके मंत्रोंसे अभिमंत्रित कियेहुए बाण छोड़कर मारडाला ॥ ५३ ॥ अर्जुन दिव्य अस्त्रविद्याको जानता था और चाहें तैसी दुःखमयी दशामें भी वह घबड़ाता नहीं था, तैसे ही उसने अस्त्रविद्याके मंत्रोंसे बाणोंको अभिमंत्रित करके महाकठिन काम किया था ॥ ५४ ॥ इसप्रकार

कुलचेतसम् ॥ ५५ ॥ सैन्धवस्तु हताश् दृष्ट्वा तथाश्वान् स्वान् सुदुःखितः। अतिविक्रमकर्माणि कुर्वाणश्च धनञ्जयम् ॥ ५६ ॥ पलायनकृतोत्साहः प्राद्रवद्येन वै वनम्। सैन्धवं त्वभिसम्प्रेक्ष्य पराक्रान्तं पलायने ॥ ५७ ॥ अनुयाय महाबाहुः फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत्। अनेन वीर्य्येण कथं स्त्रियं प्रार्थयसे बलात् ॥५८॥ राजपुत्र निवर्त्तस्व न ते युक्तं पलायनम्। कथं ह्यनुचरान् हित्वा शत्रुमध्ये पलायसे ॥ ५९ ॥ इत्युच्यमानः पार्थेन सैंधवो न न्यवर्त्तत। तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाभ्यद्रवद्बली। मा वधीरिति पार्थस्तं दयावान् प्रत्यभाषत ॥६०॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथपलायने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥

॥ समाप्तञ्च द्रौपदीहरणपर्व ॥

अतिकठिन काम करनेके पीछे भीम और अर्जुन दोनों वीर, घोड़े मरनेसे जिसका मन घबड़ा रहा था ऐसे भयभीत हो अकेले जाते-हुए जयद्रथके पीछे दौड़े ॥ ५५ ॥ सिंधुराज जयद्रथ अपने घोड़ोंको मरेहुए देख कर बहुत ही घबड़ागया और अर्जुनको अतिपराक्रमी कर्म करते देखकर फिर भागनेकी इच्छासे वनकी ओरको दौड़ने लगा, परन्तु जयद्रथको भागनेका आरंभ करतेहुए देखकर महाभुज अर्जुन उसके पीछे दौड़ा और उससे कहा कि—क्या तू ही ऐसा पराक्रम करके बलपूर्वक परस्त्रीका हरण करता है? ॥५६—५८ ॥ हे राजपुत्र ! पीछेका लौट, तुझै भागना उचित नहीं है, तू सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर क्यों भागता है? ॥ ५९ ॥ इसप्रकार अर्जुनने कहा तो भी जयद्रथ पीछेको नहीं लौटा तब महाबली भीमसेन एकसाथ उसके पीछे दौड़ा और उससे कहने लगा कि—खड़ा रह !! कहांको भागता है? यह देखकर दयालु अर्जुनने भीमसेनसे कहा कि—तू जयद्रथको मारना नहीं ॥६०॥ दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ २७१ ॥ छ ॥

॥ द्रौपदीहरणपर्व समाप्त ॥

अथ जयद्रथ विमोक्षण पर्व ॥

वैशम्पायन उवाच । जयद्रथस्तु सम्प्रेक्ष्य भ्रातरावुद्यतायुधौ । प्राद्रवत्तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सदुःखितः ॥ १ ॥ तं भीमसेनो धावन्तमवतीर्य्य रथाद्बली । अभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षे ह्यमर्षणः ॥ २ ॥ समुद्यम्य च तं भीमो निष्पिपेष महीतले । शिरो गृहीत्वा राजानं ताडयामास चैव ह ॥ ३ ॥ पुनः सञ्जीवमानस्य तस्योत्पतितुमिच्छतः । पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद्विलपिष्यतः ॥ ४ ॥ तस्य जानु ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना । स मोहमगमद्राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ५ ॥ सरोषं भीमसेनन्तु वारयामस फाल्गुनः । दुःशलायाः कृते राजा यत्तदाहेति कारव ॥ ६ ॥ भीम उवाच । नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति । कृष्णायास्तदनर्हायाः

॥ अथ जयद्रथविमोक्षण पर्व ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे जनमेजय ! राजा जयद्रथ अपना संहार करनेको तयार हुए भीम और अर्जुन नामके दोनों भाइयों को देख कर वहुत ही दुःखी हुआ और जीनेकी आशासे सावधान होकर तुरंत भाग निकला ॥ १ ॥ उसको भागताहुआ देख कर वली और क्रोधी भीमसेनने रथके ऊपरसे नीचे उतर उसके पीछे दौड़कर उसकी चुटिया पकड़ली ॥ २ ॥ और फिर उसको उठाकर पृथ्वीमें पटककर कुचला तथा शिर पकडकर मारनेलगा ॥३॥ तो भी वह मरा नहीं किंतु पृथ्वीपरसे खड़े होनेकी इच्छा करनेलगा और डकराया ॥ ४ ॥ तब भीमसेन उसके माथे पर लात मारकर और उसकी छातीमें दोनों घुटने अड़ा कर घूंसोंसे मारने लगा, इसप्रकार भीमके हाथसे महाभयंकर मार पड़नेलगी इससे वह मूर्छित होगया ॥ ५ ॥ तव अर्जुनने क्रोधमें भरेहुए भीमसेन को रोककर कहा कि–हे कौरव !-तुझसे धर्मराजने कहा था कि तू दुःशला और यशस्विनी गांधारीकी ओर दृष्टि करके उसको मारना नहीं क्या तू यह भूलगया? ॥ ६ ॥ भीमसेनने उत्तर दिया

परिक्लेष्टा नराधमः ॥ ७ ॥ किन्तु शक्यं मया कर्तुं यद्राजा सततं घृणी। त्वञ्च बालिशया बुद्धया सदैवास्मान् प्रबाधसे ८ एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदरः। अर्धचन्द्रेण बाणेन किञ्चिदब्रुवतस्तदा ॥९॥ विकत्थयित्वा राजानं ततः प्राह वृकोदरः। जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ॥ १० ॥ दासोऽस्मीति सदा वाच्यं संसत्सु च सभासु च। एवं ते जीवितम् दद्यामेष युद्धजितो विधिः ॥ ११ ॥ एवमस्त्विति तं राजा कृष्यमाणो जयद्रथः। प्रोवाच पुरुषव्याघ्रं भीममाहवशोभिनम् ॥ १२ ॥ तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः। रथमारोपयामास विसंज्ञं पांशुगुण्ठितम् १३ ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा। अभ्येत्याश्रममध्यस्थ-

कि—यह पापकर्म करनेवाला पुरुष मेरे पाससे जीता नहीं जासकता, इस अधमने दुःख सहनेके अयोग्य द्रौपदीको बड़ा दुःख दियाहै॥७॥परन्तु अब मैं क्या करसकता हूं?राजा सदा दयालु है और तू सदा अज्ञताभरी बुद्धिके कारण हमको दुःखी करता है, ॥ ८ ॥ ऐसा कह कर भीमसेनने अर्धचन्द्राकार बाणसे जयद्रथके मस्तकपरके पाँचस्थानके बाल काटकर पांच चोटियें करदीं, परन्तु उस समय वह कुछ भी नहीं बोला ॥ ९ ॥ तदनन्तर भीमसेनने उस राजाको तिरस्कारभरे वचन कहकर उससे कहा कि— अरे ओ मूढ ! यदि तुझे जीवित रहनेकी इच्छा हो तो उसका उपाय मैं तुझसे कहता हूं सुन ! ॥ १० ॥ तुझे भरी सभामें तथा साधारण सभामें कहना पड़ेगा कि—मैं तुम्हारा दास हूं, यदि तू सब सभाजनोंके आगे ऐसा कहे तो मैं तुझे जीवदान दूँ, क्योंकि—युद्धमें जीतेहुएको ऐसा करनेकी रीति है ॥ ११ ॥ यह सुनकर पृथ्वीमें घसिटते हुए जयद्रथने युद्धमें शोभा पानेवाले पुरुषव्याघ्र भीमसेनसे कहा कि अच्छा ऐसे ही कहूंगा ॥१२॥ जयद्रथके ऐसा स्वीकार करलेने पर पृथापुत्र भीमसेनने धूलिसे भरे अचेतसे हुए तथा पृथ्वीपरसे उठनेको प्रयत्न करतेहुए जयद्रथको बांधा और फिर

सभ्यगच्छन्युधिष्ठिरम्॥१४॥दर्शयामास भीमस्तु तदवस्थं जयद्रथम्। तं राजा प्राहसद्दृष्ट्वा मुच्यतामिति चाब्रवीत् ॥ १५ ॥ राजानञ्चाब्रवीद्भीमो द्रौपद्याः कथ्यतामिति। दासभावं गतो ह्येष पाण्डूनां पापचेतनः ॥ १६ ॥ तामुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः। मुञ्चेममधमाचारं प्रमाणं यदि ते वयम् ॥ १७ ॥ द्रौपदी चाब्रवीद्भीममभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम्। दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पञ्चसटः कृतः ॥ १८ ॥ स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य युधिष्ठिरम्। ववन्दे विह्वलो राजंस्तांश्च दृष्ट्वा मुनींस्तदा ॥ १९ ॥ तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः। तथा जयद्रथं दृष्ट्वा गृहीतं सव्यसाचिना॥२०॥अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित्।

रथमें डालदिया तथा धर्मराजका छोटा भाई भीमसेन भी रथमें बैठगया और आश्रममें बैठेहुए राजा युधिष्ठिरके पास पहुंचा ॥ १३–१४ ॥ तहाँ तैसे ही बँधेहुए जयद्रथको भीमसेनने धर्मराजको दिखाया तब जयद्रथकी ऐसी दशा देखकर युधिष्ठिर हँसे और बोले कि-इसको छोड़दो॥१५॥भीम बोला कि-हे राजन्! द्रौपदीसे कहदो, कि यह पापी पाण्डवोंका दास हुआ है अतः मैं इसे क्योंकर छोड़सकता हूं? ॥ १६ ॥ तब पांडवोंके बड़े भाई धर्मराजने द्रौपदीसे प्रेमपूर्वक कहा कि—यदि तुम मुझे मान्य समझती हो तो इस नीच आचरणवाले जयद्रथको बंधनमेंसे छोड़दो ॥१७॥ उस समय द्रौपदीने युधिष्ठिरकी ओर देखकर भीमसे कहा कि–हे भीम! तुमने अर्धचन्द्राकार धनुषसे इसके मस्तकके पाँच स्थानों पर बाल काटकर पांच चोटियें रखदीं हैं और इसको दास भी बनालिया है अतः अब इसको बंधनमेंसे छोड़दो ॥ १८ ॥ तब भीमसेनने उसको बंधनमेंसे खोला तो उसने राजा युधिष्ठिरको प्रणाम किया और फिर हे राजन्! युधिष्ठिरके पास बैठेहुए मुनियोंको देखकर विह्वल हुए जयद्रथने उन मुनियोंको भी प्रणाम किया ॥ १९ ॥ उस समय अर्जुनने पकड़कर जयद्रथको बांधलिया यह देखकर दयालु धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उससे कहा कि—

स्त्रीकामं वा धिगस्तु त्वां क्षुद्रः क्षुद्रसहायवान् ॥ २१ ॥ एवं विधं हि कः कुर्यात्त्वदन्यः पुरुषाधमः । गतसत्त्वमिव ज्ञात्वा कर्त्तारमशुभस्य तम् ॥ २२ ॥ संप्रेक्ष्य भरतश्रेष्ठः कृपाञ्चक्रे नराधिपः । धर्म ते वर्धतां बुद्धिर्मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ २३ ॥ साश्वः सरथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ । एवमुक्तस्तु सव्रीडं तूष्णीं किंचिदवाङ्मुखः ॥२४॥ जगाम राजन् दुःखार्त्तो गङ्गाद्वाराय भारत । स देवं शरणं गत्वा विरूपाक्षमुमापतिम् ॥ २५ ॥ तपश्चचार विपुलं तस्य प्रीतो वृषध्वजः । बलिं स्वयं प्रत्यगृह्णात् प्रीयमाणस्त्रिलो-

---

॥ २० ॥ तू हमारा दास नहीं है और तुझे दासपनेसे हम मुक्त करते हैं,, जा अब फिर किसी दिन भी ऐसा काम न करना ॥ २१ ॥ तू स्त्रीलम्पट है, क्षुद्र है, और तेरे सहायक लोग भी नीच हैं, अतः तुझे धिक्कार है ॥२२॥ तेरे सिवाय और कौनसा पुरुष ऐसा अधम काम करेगा ? इसप्रकार फटकार देनेके पीछे खोटा काम करनेवाले जयद्रथको निर्बल हुआ जानकर भरतवंशश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उसकी ओरको दयादृष्टिसे देखा और फिर उसको उपदेश देतेहुए कहा कि–तेरी बुद्धि सदा धर्ममें बढती रहे, तू अधर्मके काममें कभी मन न लगाना ॥ २३ ॥ हे जयद्रथ ! तेरा कल्याण हो अब तू रथ घोड़े तथा पैदलों सहित अपने घर जा, हे भरतवंशी राजन् ! राजा युधिष्ठिरने जयद्रथसे ऐसा कहा तब राजा जयद्रथ लज्जाके साथ मौन होकर कुछ नीचेको मुख करके चलागया वह दुःखसे आतुर होगया था, अतः तप करनेके लिये गंगाद्वार पर चलागया तहाँ विरूपाक्ष उमापति श्रीशिवकी शरणमें जाकर बड़ाभारी तप करनेलगा, इससे वृषभध्वज त्रिनेत्र शंकर उसके ऊपर प्रसन्न हुए और शिवजीने स्वयं उसकी पूजाको ग्रहण करके उससे वर मांगनेको कहा तब जयद्रथने जो वर लिया उसे तुम सुनो, शिवजीने वर माँगनेको कहा तब उसने शिवजीसे

चनः २६ वरञ्चास्मै ददौ देवः स जग्राह च तच्छृणु । समस्तान् सरथान् पञ्च जयेयं युधि पांडवान् ॥ २७ ॥ इति राजाब्रवीद्देवं नेति देवस्तमब्रवीत् । अजय्यांश्चाप्यवध्यांश्च वारयिष्यसि तान् युधि ॥ २८ ॥ ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं नरं नाम सुरेश्वरम् । बदर्य्यां तप्ततपसं नारायणसहायकम् ॥२९॥ अजितं सर्वलोकानां देवैरपि दुरासदम् । मया दत्तं पाशुपतं दिव्यमप्रतिमं शरम् । अवाप लोकपालेभ्यो वज्रादीन् स महाशरान् ॥३०॥ देवदेवो ह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः । प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्त्तिमान् ॥ ३१ ॥ युगान्तकाले संप्राप्ते कालाग्निर्दहते जगत् । सपर्वतार्णवद्वीपं सशैलवनकाननम् ॥ ३२ ॥ निर्दहन्नागलोकांश्च पा-

---

यह वर मांगा कि—"मैं युद्धमें रथोंके ऊपर बैठेहुए पाँचों पाण्डवों का पराजय करूँ, यह सुनकर शिवजी बोले कि—यह वर मैं नहीं देसकता, तू युद्धमें किसीसे भी न मरनेवाले और न पीछे हटसकने वाले पाण्डवोंका पीछेको हटासकेगा ॥२४—२८॥ परन्तु महाभुज अर्जुनको पीछे भी नहीं हटासकेगा, अर्जुन नरका अवतार है, देवताओंका ईश्वर है, उसने बदरिकाश्रममें तप किया है, उस का सहायता करनेवाले नारायण हैं, वह सब लोकोंमें अजित है और देवता भी उसकी बराबरी नहीं करसकते तथा मैंने भी उस को दिव्य और अनुपम पाशुपत नामक एक बाण दिया है, तथा लोकपालोंसे भी उसने वज्र आदि बड़े२ अस्त्र पाये हैं॥२९-३०॥ अर्जुनके सहायक नारायण भगवान सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नेत्र, मन तथा वाणीको प्रकाशित करनेवाले होनेसे देवदेव कहाते हैं, उनका स्वरूप त्रिविधपरिच्छेदशून्य है, वह सर्वज्ञ व्यापक देवगुरु प्रभु, प्रधानपुरुष, अव्यक्त विश्वकी आत्मा और विश्वमूर्त्ति हैं ॥ ३१ ॥ वह नारायण युगके प्रलयके समय कालाग्निका रूप धारण करके पातालमें रहनेवाले नागलोकोंसे लेकर पर्वत, समुद्र द्वीप, वन और जंगलों सहित सब विश्वको जलाकर भस्म कर

तालतलच्छारिणः । अथान्तरिक्षे सुमहन्नानावर्णाः पयोधराः ३३ घोरस्वरा विनदन्तस्तडिन्मालावलम्बिनः । समुत्तिष्ठन् दिशः सर्वा विवर्षन्तः समन्ततः ॥३४॥ ततोऽग्निं नाशयामासुः संवर्ताग्निनियामकाः । अक्षमात्रैश्च धाराभिस्तिष्ठन्त्यापूर्य सर्वशः ३५ एकार्णवे तदा तस्मिन्नुपशान्तचराचरे । नष्टचन्द्रार्कपवने ग्रहनक्षत्रवर्जिते ॥ ३६ ॥ चतुर्युगसहस्रान्ते सलिलेनाप्लुता मही । ततो नारायणाख्यस्तु सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥३७॥ सहस्रशीर्षा पुरुषः स्वप्तुकामस्त्वतीन्द्रियः । फटासहस्रविकटं शेषपर्य्यङ्कभाजनम् ३८ सहस्रमिव तिग्मांशु संघातममितद्युतिम् । कुन्देन्दुहारगोक्षीरमृणालकुमुदप्रभम् ॥३९॥ तत्रासौ भगवान् देवः स्वपन् जलनिधौ तदा नैशेन तमसा व्याप्तां स्वां रात्रिं कुरुते विभुः ॥ ४० ॥ सत्त्वोद्रेकात्

डालते हैं, तदनन्तर महाभयंकर गर्जना करनेवाले, विजलियोंकी मालासे सुशोभित, अनेकों प्रकारके रंगोंवाले मेघमण्डल आकाश में घिरकर रथके धुरेकी समान मूसलधारसे सब दिशाओंमें बरसते हैं और जगत्के सब विभागोंका जलसे व्याप्त करके सम्वर्तक नामकी अग्निको शान्त करदेते हैं ॥ ३२–३३ ॥ जब पृथ्वी जलाकार होजाती है तब स्थावर, जंगम पदार्थ चन्द्र, सूर्य, पवन ग्रह, नक्षत्र आदि सब पदार्थ नष्ट होजाते हैं ॥ ३६ ॥ चार सहस्र युग वीतनेपर ब्रह्माका सायंकाल होता है तब सब पृथ्वी जलमें डूबजाती है अर्थात् जगत्का प्रलय होता है तदनन्तर सहस्रों नेत्रों वाले, सहस्रों चरणोंवाले, सहस्रों मस्तकोंवाले और इन्द्रियोंके अगम्य भगवान् नारायणको शयन करनेकी इच्छा होती है, तब उस महासागरमें विराजे हुए, सहस्र फनोंसे भयंकर दीखते हुए सहस्रों सूर्योंके समूहकी समान कान्तिमान् अपारतेजस्वी, कुन्द चन्द्र-पुष्पहार-गोदुग्ध-मृणाल और कुमुदकी समान गौर कान्तिवाले भगवान् शेषनागके शरीररूपी पलंग पर शयन करते हैं और वह व्यापक परमात्मा अपनी रात्रिको, रात्रिके अंधेरेसे व्याप्त करदेते हैं ॥ ३७–४० ॥ तदनन्तर जब सत्वगुणकी वृद्धि

प्रबुद्धस्तु शून्यं लोकमपश्यत । इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ॥ ४१ ॥ आपो नारास्तु तनव इत्यपां नाम शुश्रुम । अयनं तेन चैवास्ते तेन नारायणः स्मृतः॥ ४२॥ध्यानसमकालन्तु प्रजा हेतोः सनातनः । ध्यातमात्रे तु भगवन्नाभ्यां पद्मः समुत्थितः ॥ ४३ ॥ ततश्चतुर्मुखो ब्रह्मा नाभिपद्माद्विनिःसृतः । तत्रोपविष्टः सहसा पद्मे लोकपितामहः ॥ ४४ ॥ शून्यं दृष्ट्वा जगत् कृत्स्नं मानसानात्मनः समान् । ततो मरीचिप्रमुखान्महर्षीनसृजन्नव ॥ ४५ ॥ तेऽसृजन् सर्वभूतानि त्रस्तानि स्थावराणि च । यक्षराक्षस भूतानि पिशाचोरगमानुषान् ॥ ४६ ॥ सृज्यते ब्रह्ममूर्त्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः । रौद्रीभावेन शमयेत्तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः ॥ ४७ ॥

हुई तब भगवान् ने जागकर देखा तो सब लोकोंको शून्य पाया उन भगवान् नारायणके नामके विषयमें शास्त्रमें एक श्लोक इस प्रकार कहा है कि-॥ ४१ ॥ नरने जलको उत्पन्न किया इससे जलको नार नामसे कहा है, वे नार नामक जल नारायणका अयन कहिये स्थान हैं, अतः वह नारायण कहाते हैं॥४२॥ उन नारायणने प्रजा रचनेके लिये ज्योंही ध्यान धरा कि-उसही समय भगवान्की नाभिमेंसे एक सनातन कमल उत्पन्न हुआ॥४३॥और उस नाभिकमलमेंसे चार मुखवाले ब्रह्मा उतपन्न हुए, उन लोक-पितामह ब्रह्माजीने एकाएकी उस कमलके ऊपर बैठकर चारों ओरको दृष्टिडाली तो सब जगत्को शून्य पाया,तब उन्होंने अपनी मानसिक वृत्तिसे मरीचि आदि नौ महर्षियोंको उत्पन्न किया ॥ ४४-४५ ॥ उन मरीचि आदि मुनियोंने स्थावर जंगमरूप सब प्राणियोंको, यक्षोंको, राक्षसोंको, भूतोंको, पिशाचोंको, सर्पोंको और मनुष्योंको उत्पन्न किया ॥ ४६ ॥ तीन गुणोंके भेदसे प्रजा-पति ईश्वरकी तीन अवस्थाएं होती हैं, उनमें ब्रह्माकी मूर्तिसे जगत्की उत्पत्ति होती है, विष्णुकी मूर्तिसे जगत्का पालन होता है और रुद्रकी मूर्तिसे जगत्का संहार होता है ॥ ४७ ॥ हे सिंधु-

न श्रुतन्ते सिन्धुपते विष्णोरद्भुतकर्मणः । कथ्यमानानि मुनिभिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ४८ ॥ जलेन समनुप्राप्ते सर्वतः पृथिवीतले । तदा वैकार्णवे तस्मिन्नेकाकाशे प्रभुश्चरन् । ४६ । निशायामिव खद्योतः प्रावृट्काले समन्ततः । प्रतिष्ठानाय पृथिवीं मार्गमाणस्तदाभवत् ॥५०॥ जले निमग्नां गां दृष्ट्वा चोद्धर्त्तुं मनसेच्छति । किन्नु रूपमहं कृत्वा सलिलादुद्धरे महीम् ॥ ५१ ॥ एवं सञ्चिन्त्य मनसा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा । जलक्रीडाभिरुचितं वाराहं रूपमस्मरत् ।५२। कृत्वा वराहवपर्षं वाङ्मयं वेदसम्मितम् । दशयोजनविस्तीर्णमायतं शतयोजनम् ॥ ५३ ॥ महापर्वतवर्ष्माभं तीक्ष्णदंष्ट्रं प्रदीप्तिमत् । महामेघौघनिर्घोषं नीलजीमूतसन्निभम् ॥ ५४ ॥ भूत्वा यज्ञवराहो

देशके स्वामिन् ! वेदपारंगत, धर्मनिष्ठ मुनियोंके मुखसे क्या तुमने अद्भुत कर्म करनेवाले विष्णुका चरित्र नहीं सुना है ॥ ४८ ॥ प्रलयके समय जब समुद्र चारों ओर घूमता था और आकाश भी एकरूप होगया था तब पृथ्वीके सब भाग पानीसे भरगये थे उस समय जैसे, वर्षाकालकी रात्रिमें पटवीजने आदि उड़ा करते हैं तैसे ही लोकोंकी स्थिति करनेके लिये परमात्मा अकेले ही सब ओर पृथ्वीको खोजने लगे ॥ ४६—५० ॥ इतनेमें उन्होंन पृथ्वीको जलमें डूबीहुई देखा अतः उन्होंने अपने मनमें उसका उद्धार करनेकी इच्छा का और विचार करने लगे कि—मैं कैसा रूप धारण करके पृथ्वीको जलमेंसे बाहर निकालूं ? ॥ ५१ ॥ ऐसा अपने मनमें विचार करकें दिव्य दृष्टिसे देखा तो जलकी क्रीड़ासे प्रेम करनेवाले वराहका रूप उनके ध्यानमें आया, इससे उन्होंने वराहके रूपका स्मरण करके तुरत वेदसमान और वाणीमय वेदात्मक वराहका रूप धारण किया, वह रूप चालीस कोस लम्बा और चारसौ कोस चौड़ा था ॥ ५२—५३ ॥ उसकी काया महापर्वतका समान थी, उसकी डाढ़ें तीक्ष्ण थीं कान्ति बड़ीभारी थी, उसका शब्द मेघमण्डकी गर्जनाकी समान था और शरीर श्यामवर्णके मेघकी समान था ॥ ५४ ॥ ऐसे यज्ञव-

वै अपः संप्राविशत् प्रभुः । दंष्ट्रयैकेन चोद्धृत्य स्वे स्थाने न्यवि-शन्महीम् ॥ ५५ ॥ पुनरेव महाबाहुरपूर्वां तनुमाश्रितः । नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं प्रभुः ॥ ५६ ॥ दैत्येन्द्रस्य सभां गत्वा पाणिं संस्पृश्य पाणिना । दैत्यानामादिपुरुषः सुरारिर्दितिनन्दनः ॥ ५७ ॥ दृष्ट्वा चापूर्ववपुषं क्रोधात् संरक्तलोचनः । शूलोद्यतकरः स्रग्वी हिरण्यकशिपुस्तदा ॥ ५८ ॥ मेघस्तनितनिर्घोषो नीला-भ्रचयसन्निभः । देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥ ५९ ॥ समुपेत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण बलीयसा । नारसिंहेन वपुषा दा-रितः करजैर्भृशम् ॥ ६० ॥ एवं निहत्य भगवान् दैत्येन्द्रं रिपु-घातिनम् । भूयोऽन्यः पुंडरीकाक्षः प्रभुर्लोकहिताय च ॥ ६१ ॥

राह रूपको धारण करके भगवान् जलमें घुसे और जलके भीतर पहुँचीहुई पृथ्वीको अपनी एक डाढ़से उचका कर ऊपर लेआये तथा फिर उन्होंने इसे यथायोग्य स्थान पर स्थापित कर दिया ॥ ५५ ॥ तदनन्तर समर्थ महाभुज भगवान्ने फिर आधा मनुष्यका और आधा सिंहका इस प्रकार अपूर्व शरीर धारण किया ॥ ५६ ॥ और अपने दोनों हाथों को एकको दूसरेसे मिलाकर दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी सभामें गए, तहां दैत्योंका आदिपुरुष, देवताओंका वैरी, पुष्पमालाधारी हिरण्यकशिपु उस अपूर्वक व्यक्तिको देख कर चौंकउठा उसकी आँखें क्रोधसे लाल२ होगईं और काले बादलोंके समूहका समान श्याम कान्तिवाला तथा मेघकी समान महाभयंकर गर्जना करने वाला दैत्यपुत्र वीर हिरण्यकशिपु हाथमेंके त्रिशलको उठाकर नृसिंहके सामनेको दौड़ा ॥ ५७–५९ ॥ उसी समय बलवान् नृसिंहके शरीरमें स्थित भगवान्ने उस दैत्यके पास जाकर अपने तीक्ष्ण नखोंसे उस हिरण्यकशिपुके सम्पूर्ण शरीरको चीरडाला ॥ ६० ॥ इसप्रकार भगवान्ने शत्रुको मारनेवाले दैत्यराज हिर-ण्यकशिपुको मारडाला था, तदनन्तर कमलनेत्र भगवान् लोकों

कश्यपस्यात्मजः श्रीमानदित्या गर्भधारितः । पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रसूता गर्भमुत्तमम् ॥ ६२ ॥ दुर्दिनाम्भोदसदृशो दीप्ताक्षो वामनाकृतिः । दंडी कमण्डलुधरः श्रीवत्सोरसि भूषितः ॥ ६३ ॥ जटी यज्ञोपवीती च भगवान् बालरूपधृक् । यज्ञवाटं गतः श्रीमान् दानवेन्द्रस्य वै तदा॥६४॥ बृहस्पतिसहायोऽसौ प्रविष्टो बलिनो मखे। तं दृष्ट्वा वामनतनुं प्रहृष्टो बलिरब्रवीत्६५ प्रीतोऽस्मि दर्शने विप्र ब्रूहि त्वां किं ददानि ते । एवमुक्तस्तु बलिना वामनः प्रत्युवाच ह ।६६। स्वस्तीत्युक्त्वा बलिं देवः स्मयमानोऽभ्यभाषत । मेदिनीं दानवपते देहि मे विक्रमत्रयम् ॥६७॥ बलिर्ददौ प्रसन्नात्मा विप्रायामिततेजसे । ततो दिव्याद्भुततमं रूपं विक्रमतो हरेः ॥ ६८ ॥ विक्रमैस्त्रि-

---

के हितके लिये कश्यपकी स्त्री अदितिके गर्भमें आये और अदिति ने एक सहस्र वर्ष पूरे होनेपर भगवान्को जन्म दिया॥६१॥६२॥ उनका आकार बौना होनेसे वे जगत्में वामन (बौने) नामसे प्रसिद्ध हैं, उनके शरीरका रंग दुर्दिन समयके जलसे भरेहुए मेघ की समान श्यामवर्णका था और उनकी आँखें प्रकाशमयी थीं उन बालरूपी भगवान्के मस्तक पर जटा थीं वह दण्ड कमण्डलु श्रीवत्सका आभूषण और यज्ञोपवीत आदि सब सामग्रीके साथ श्रीमान् दानवराज बलिके यज्ञमें गये॥६३—६४॥भगवान् वामन बृहस्पतिको साथमें लेकर राजा बलिके यज्ञमें गये थे, उनके ठिगने शरीरको देख कर प्रसन्न हो राजा बलिने उनसे कहा कि—६५ हे ब्राह्मण ! मैं तुम्हारे दर्शनसे प्रसन्न हुआ हूं कहो तुम्हें क्या दूँ ? बलिने ऐसा कहा तब वामनने उससे कहा कि—तेरा कल्याण हो, फिर मुख बनाकर बलिसे कहा कि—हे दानवपते ! तू मुझे तीन पग पृथ्वीका दान दे ॥ ६६—६७ ॥ राजा बलिने मनमें प्रसन्न होकर महातेजस्वी उस ब्राह्मणको तीन पग पृथ्वीका दान दिया, इतनेमें ही क्षोभ न पानेवाले परमात्माने महाअद्भुत रूप धारण करके देखते २ तीन पगमें सब पृथ्वी नांपली, तदनन्तर

भिरक्षोभ्यो जहाराशु स मेदिनीम् । ददौ शक्राय च महीं विष्णुर्देवः सनातनः ६९ एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्त्तितः । येन देवाः प्रादुरासन् वैष्णवश्चोच्यते जगत् ७० असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च । अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये ॥ ७१ ॥ स एवं भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते । अनाद्यंतमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् ॥ ७२ ॥ यं देवं विदुषो गान्ति तस्य कर्माणि सैन्धव । यमाहुरजितं कृष्णं शंखचक्रगदाधरम् ७३ श्रीवत्सधारिणं देवं पीतकौशेयवाससम् । प्रधानं सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥७४॥ सहायः पुंडरीकाक्षः श्रीमानतुलविक्रमः । समानस्यन्दने पार्थमास्थाय परवीरहा ॥ ७५ ॥ न शक्यते तेन जेतुं त्रिदशैरपि दुःसहः । कः पुनर्मानुषो भावो रणे पार्थं वि-

---

सनातन विष्णुने वह पृथ्वी इन्द्रको देदी थी ॥ ६८—६९ ॥ यह तुम्हें वामनावतारकी उत्पत्ति कहकर सुनाई उनसे देवताओं की उत्पत्ति हुई थी और इसीसे सब जगत् विष्णुमय माना जाता है उनसे रहित कोई वस्तु नहीं है ॥ ७० ॥ वे ही परमात्मा विष्णु दुष्ट पुरुषोंको दण्ड देनेके लिये और धर्मका रक्षा करनेके लिये यादवोंके घर मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुए हैं ॥ ७१ ॥ और श्रीकृष्णके नामसे कहेजाते हैं, हे सिंधुराज ! विद्वान् जिनको आदि अंतशून्य, देव, प्रभु सब लोगोंसे नमस्कृत अजेय, शंख चक्र गदा और पद्मधारी देवता कहते हैं और विद्वान् जिनके पवित्र चरित्र का गान करते हैं ॥ ७२—७३ ॥ जो वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न और शरीरपर पीताम्बर धारण करनेवाले तथा अस्त्रवेत्ताओंमें मुख्य हैं, वे श्रीकृष्ण परमातमा अर्जुनकी रक्षा करते हैं ॥७४॥ वह अतुलपराक्रमी श्रीमान्, कमलनेत्र शत्रुका विनाश करनेवाले परमात्मा; अर्जुनके रथपर सारथी बनकर हाँकनेको बैठते हैं और उसकी सहायता करते हैं ॥ ७५ ॥ इससे देवता भी दुःसह अर्जुनका पराजय नहीं करसकते तब ऐसा मनुष्य कौन होस-

जेष्यति ॥ ७६ ॥ तमेकं वर्ज्जयित्वा तु सर्वं यौधिष्ठिरं बलम् । चतुरः पांडवान् राजन् दिनैकं जेष्यसे रिपून् ॥७७॥ वैशम्पायन उवाच । इत्येवमुक्त्वा नृपतिं सर्वपापहरो हरः । उमापतिः पशुपतिर्यज्ञहा त्रिपुरार्दनः ॥ ७८ ॥ वामनैर्विकटैः कुब्जैरुग्रश्रवणदर्शनैः वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥७९॥ त्र्यम्बको राजशार्दूल भगनेत्रनिपातनः । उमासहायो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ८० ॥ जयद्रथोऽपि मन्दात्मा स्वमेव भवनं ययौ । पांडवाश्च वने तस्मिन्न्यवसन् काम्यके तथा ॥ ८१ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि जयद्रथविमोक्षणपर्वणि जयद्रथवरप्राप्तौ द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७२ ॥

समाप्तश्च जयद्रथविमोक्षण पर्व

कता है जो रणमे अर्जुनको हरावे ? ॥ ७६ ॥ अतः हे राजन् ! तू अर्जुनको छोड़कर शेष चार पाण्डवोंको, और युधिष्ठिरकी सब सेनाको केवल एक दिनमें ही हरासकेगा ॥ ७७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि —हे राजसिंह जनमेजय ! इसप्रकार जयद्रथसे कहकर सब भक्तोंके पापोंको हरनेवाले, उमापति, पशुपति, दक्षके यज्ञका विध्वंस करनेवाले, त्रिपुरासुरको मारनेवाले, भगदेवताके नेत्रोंको नष्ट करनेवाले, त्रिनेत्र, तथा ठिगने, टेढ़े, कुबड़े, भयंकर कान तथा नेत्रोंवाले, नाना प्रकारके आयुध जिन्होंने उठाये हैं ऐसे भयंकर पार्षदोंसे घिरेहुए भगवान् शिव, उमाके साथ तहां ही अदृश्य होगये॥७८—८०॥और मन्दबुद्धि राजा जयद्रथ अपने घरको चलागया तथा पाण्डव उस काम्यक वनमें रहनेलगे॥८१॥ दोसौ बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७२ ॥ छ ॥ छ ॥

जयद्रथ विमोक्षणपर्वसमाप्त

अथ रामोपाख्यानपर्व ॥

जनमेजय उवाच । एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् । अत ऊर्ध्वं नरव्याघ्राः किमकुर्वत पांडवाः॥१॥ वैशम्पायन उवाच । एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जद्रथम् । आसाञ्चक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥२॥ तेषां मध्ये महर्षीणां शृण्वतामनुशोचताम् । मार्कण्डेयमिदं वाक्यमब्रवीत् पांडुनन्दनः ॥३॥ युधिष्ठिर उवाच । भगवन् देवऋषीणां त्वं ख्यातो भूतभविष्यवित् । संशयं परिपृच्छामि च्छिधि मे हृदि संस्थितम् ४ द्रुपदस्य सुता ह्येषा वेदिमध्यात् समुत्थिता । अयोनिजा महाभागा स्नुषा पांडोर्महात्मनः ॥ ५ ॥ मन्ये कालश्च भगवान् दैवश्च विधिनिर्मितम् । भवितव्यञ्च भूतानां यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ६ इमां हि पत्नीमस्माकं धर्मज्ञां

॥ अथ रामोपाख्यान पर्व ॥

जनमेजयने वूझा, कि-हे वैशम्पायन ! द्रौपदीके हरी जानेके कारण बड़ भारी दुःखको प्राप्तहुए और मनुष्योंमें सिंहसमान पाण्डवोंने फिर क्या किया ? ॥ १ ॥ वैशम्पायनने उत्तर दिया कि:—धर्मपुत्र युधिष्ठिर जयद्रथको जीत, उससे द्रौपदीको छुड़ाकर आश्रममें आये और मुनिमण्डलियोंके साथ रहनेलगे ॥ २॥ तहां महर्षि द्रौपदीके दुःखको सुनकर दुःखी हुए तब उनके बीचमें बैठेहुए मार्कण्डेयजीसे युधिष्ठिरने वूझा ॥ ३ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे भगवन् ! देवर्षियोंमें आप प्रसिद्ध हैं और भूत भविष्यको जानते हैं, इसकारण मैं तुमसे अपने मनका सन्देह वूझता हूं, सो आप मेरे हृदयके सन्देहको,काटदीजिये॥ ४ ॥ यह द्रुपदराजकुमारी यज्ञकी वेदीमेंसे उत्पन्न हुई है,यह महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू महाभाग्यवती और अयोनिजा (दिव्यरूप) है ॥ ५ ॥ मेरी समझमें भगवान् काल,भले और बुरे कर्मोंसे रचाहुआ दैव और जिसको कोई पलट नहीं सकता ऐसी प्राणियोंकी भवितव्यता हीं बलवान् है ॥ ६ ॥ पवित्र मनुष्यको जैसे चोरीका झूठा दोष

धर्मचारिणीम् । संस्पृशेदीदृशो भावः शुचिं स्तैन्यमिवानृतम् ॥७॥ नहि पापं कृतं किञ्चित् कर्म वा निंदितम् क्वचित् । द्रौपद्या ब्राह्मणेष्वेव धर्मः सुचिरतो महान् ८ तां जहार बलाद्राजा मूढ़बुद्धिर्जयद्रथः । तस्या संहरणात् पापः शिरसः केशपातनम् ॥९॥ पराजयश्च संग्रामे ससहायः समासवान् । प्रत्याहृता तथास्माभिर्हत्वा तत् सैंधवं बलम् १० तद्दारहरणं प्राप्तमस्माभिरवितर्कितम् । दुःखश्चायम् वनेवासो मृगयायाञ्च जीविका ।११। हिंसा च मृगजातीनां वनौकोभिर्वनौकसाम् । ज्ञातिभिर्विप्रवासश्च मिथ्याव्यवसितैरियम् ॥ १२ ॥ अस्ति नूनं मया कश्चिदल्पभाग्यतरो नरः । भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत् ॥ १३ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥

स्पर्श करता है, तैसे ही इस हमारी धर्मको जाननेवाली और धर्माचरण करनेवाली स्त्रीका जयद्रथने हरण करके स्पर्श किया है॥७॥परन्तु द्रौपदीके ऊपर ऐसा दुःख पड़ना उचित नहीं है क्यों कि–द्रौपदीने कभी भी पापका काम नहीं किया है और कुछ निंदित कर्म भी नहीं किया है,किंतु वह ब्राह्मणोंके ऊपर बड़े भारी धर्मभाव का वर्त्ताव रखती है॥८॥मूढबुद्धि राजा जयद्रथ उसको हरकर लेगया था और द्रौपदीका हरण करनेके कारण उस पापीके शिरपरके बाल पांच स्थानमेंसे काटलिये गए थे॥९॥उसके बहुतसे सहायक थे तो भी वह संग्राममें हारगया था और हम सिंधुराजका सेनाका नाश करके द्रौपदीको लौटाकर लाये थे ॥१०॥ इसप्रकार हमारी स्त्रीका अचानक हरण हुआ, हम दुःखदायक वनवासको भोगते हैं, शिकार खेलकर भोजनका निर्वाह करते हैं और सम्बधियों से अलग रहकर तपस्वियोंका वेष धारण करके निरन्तर वनवासी पशुओंकी हिंसा करतेहै ॥ ११-१२ ॥ इसलिये मुझसरीखा कोई दूसरा भाग्यहीन पुरुष आपने आजकल वा पहिले समयमें देखा वा सुना है क्या ?॥१३॥दोसौतिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥२७३॥

मार्कंडेय उवाच । प्राप्तमप्रतिमं दुःखं रामेण भरतर्षभ । रक्षसा जानकी तस्य हृता भार्य्या बलीयसा ॥ १ ॥ आश्रमाद्राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना । मायामास्थाय तरसा हत्वा गृध्रं जटायुषम् । २ । प्रत्याजहार तां रामः सुग्रीवबलमाश्रितः । बध्वा सेतुं समुद्रस्य दग्ध्वा लङ्कां शितैः शरैः ॥ ३ ॥ युधिष्ठिर उवाच । कस्मिन् रामः कुले जातः किंवीर्य्यः किम्पराक्रमः । रावणः कस्य पुत्रो वा किं वैरं कस्य तेन ह ॥४॥ एतन्मे भगवन् सर्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि । श्रोतुमिच्छामि चरितं रामस्याक्लिष्टकर्मणः । ५ । मार्कंडेय उवाच। अजो नामाभवद्राजा महानिक्ष्वाकुवंशजः । तस्य पुत्रो दशरथः शश्वत् स्वाध्यायवाञ्छुचिः ॥ ६ ॥ अभवंस्तस्य चत्वारः पुत्राः

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि–हे भरतवंशश्रेष्ठ ! एक रावण नामका दुष्टात्मा और बलवान् राक्षस राजा था, वह मायावी, संन्यासीका वेष धरकर रामके आश्रममें आया था और जटायु नामके गिज्ज पक्षीको मारकर वह जोरावरी आश्रममेंसे रामकी स्त्री सीताको हरकर लेगया था, इसकारण रामके ऊपर परमदुःख पडा था ॥ १–२ ॥ तब रामने सुग्रीवकी सेनाका आश्रय लेकर समुद्रका पुल बांधा और तीखे बाणोंके प्रहारसे लङ्काको भस्म करडाला तथा सीताको लौटालाये ॥ ३ ॥ युधिष्ठिरने बूझा कि राम किस वंशमें उत्पन्न हुए थे ? उनकी वीरता और पराक्रम कैसा था ? रावण किसका पुत्र था और उसका रामचन्द्रके साथ क्या वैर था ? ॥ ४ ॥ हे भगवन् ! यह सब मुझसे आपको यथावत् कहना चाहिये, क्योंकि–मैं पवित्र कर्मवाले रामका चरित्र सुनना चाहता हूं॥ ५ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि–एक अज नामवाला इक्ष्वाकुवंशी बड़ा राजा था, उसका पुत्र दशरथ सदा पवित्र होकर वेदका स्वाध्याय किया करता था ॥ ६ ॥ उसके महाबलवान् तथा धर्म और अर्थमें प्रवीण राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न

धर्मार्थकाविदाः । रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना भरतश्च महाबलः ७ रामस्य माता कौशल्या कैकेयी भरतस्य तु । सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायाः परन्तपौ ॥७॥ विदेहराजो जनकः सीता तस्यात्मजा विभो । याञ्चकार स्वयं त्वष्टा रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ ९ ॥ एतद्रामस्य ते जन्म सीतायाश्च प्रकीर्त्तितम् । रावणस्यापि ते जन्म व्याख्यास्यामि जनेश्वर ॥१०॥ पितामहो रावणस्य साक्षाद्देवः प्रजापतिः । स्वयम्भूः सर्वलोकानां प्रभुः स्रष्टा महातपाः ॥ ११ ॥ पुलस्त्यो नाम तस्यासीन्मानसो दयितः सुतः । तस्य वैश्रवणो नाम गवि पुत्रोऽभवत् प्रभुः ॥१२॥ पितरं स समुत्सृज्य पितामहमुपस्थितः । तस्य कोपात् पिता राजन् ससर्जात्मानमात्मना ।१३। स जज्ञे विश्रवा नाम तस्यात्मार्द्धेन वै द्विजः । प्रतीकाराय सक्रो-

नामके चार पुत्र थे ॥ ७ ॥ रामकी माता कौशल्या और भरतकी माता कैयेयी थी तथा शत्रुओंको ताप देनेवाले लक्ष्मण और शत्रुघ्न सुमित्राके पुत्र थे ॥ ८ ॥ हे समर्थ राजन् ! उस ही समय विदेह नगरमें जनक नामका राजा राज्य करता था उसका पुत्रीका नाम सीता था, उस सीताको ब्रह्माने स्वयं रामकी प्यारी पटरानी रूप से उत्पन्न किया था ॥ ९ ॥ यह तुम्हे रामका और सीताका भी जन्म सुनादिया, हे जनेश्वर ! अब मैं तुम्हे रावणके जन्मकी कथा भी सुनाता हूं ॥ १० ॥ सब लोकोंको रचनेवाले प्रभु, महातपस्वी स्वयंभू, साक्षात् प्रजापतिदेव उस रावणके पितामह लगते थे ११ उन ब्रह्माजीके एक पुलस्त्य नामका मानसिक पुत्र था, वह उन को बड़ा प्यारा था, उन पुलस्त्यके गो नामकी स्त्रीसे एक वैश्रवण नामका प्रतापी पुत्र हुआ था ॥ १२ ॥ उस पुत्रने अपने पिता को त्यागकर पितामहका आश्रय लिया, तब हे राजन् ! उसके पिताने पुत्रके ऊपर क्रोध करके अपने शरीरमेंसे प्रजाको उत्पन्न किया ॥१३॥ क्रोधके कारण वैश्रवणसे वैरका बदला लेनेके लिये उसके आत्माके आधे भागमेंसे विश्रवा नामका ब्राह्मण उत्पन्न

धस्ततो वैश्रवणस्य वै ॥ १४ ॥ पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य ह । अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ॥ १५ ॥ ईशानेन तथा सख्यं पुत्रञ्च नलकूबरम् । राजधानीनिवेशञ्च लङ्कां रक्षोगणान्विताम् ॥१६॥ विमानं पुष्पकं नाम कामगञ्च ददौ प्रभुः । यक्षाणामाधिपत्यञ्च राजराजत्वमेव च ॥ १७ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणयोर्जन्मकथने चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७४॥

मार्कण्डेय उवाच । पुलस्त्यस्य तु यः क्रोधादर्धदेहोभवन्मुनिः । विश्रवा नाम सक्रोधः स वैश्रवणमैक्षत ॥ १ ॥ बुबुधे तन्तु सक्रोधं पितरं राक्षसेश्वरः । कुवेरस्तत्प्रसादार्थं यतते स्म सदा नृप २ स राजराजो लङ्कायां न्यवसन्नरवाहनः । राक्षसीः प्रददौ तिस्रः पितुर्वै परिचारिकाः ॥ ३ ॥ ताः सदा तं महात्मानं सन्तोषयितु-

---

हुआ ॥ १४ ॥ पितामह प्रभु ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर वैश्रवण (कुवेर) को अमरपना, धनपतिपना, लोकपालपना, महादेवके साथ मित्रता, नलकूबर नामका पुत्र, राजधानीके लिये राक्षसोंसे भरीहुई लङ्कापुरी, इच्छानुसार विचरनेवाला पुष्पक विमान, यक्षों का आधिपत्य और राजराजपना दिया ॥ १५–१७ ॥ दो सौ चौहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७४ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! पुलस्त्यके क्रोधके कारण उनके आधे शरीरमेंसे विश्रवा नामके जो मुनि उत्पन्नहुए थे, वह कुवेरकी ओरको क्रोधभरी दृष्टिसे देखनेलगे ॥ १ ॥ हे राजन् !, राक्षसोंका राजा कुवेर जो राजराज (महाराज) कहलाता था, जो लङ्कामें रहता था और जो मनुष्योंकी सवारी(पालकी) में चला करता था, उस कुवेरको जब मालूम हुआ, कि–मेरे पिता मेरे ऊपर क्रुद्ध होरहे हैं, तब वह नित्य अपने पिताको प्रसन्न करनेके यत्न किया करता था और उसने पिताकी सेवा करनेको तीन राक्षसी दासियें भेजदी थीं ॥ २–३ ॥ हे भरतवंश

सुव्रताः । ऋषिं भरतशार्दूल नृत्यगीतविशारदाः ४ पुष्पोत्कटा च राका च मालिनी च विशाम्पते । अन्योन्यस्पर्द्धया राजन् श्रेयस्कामाः सुमध्यमाः ॥ ५ ॥ स तासां भगवांस्तुष्टो महात्मा प्रददौ वरान् । लोकपालोपमान् पुत्रानेकैकस्या यथेप्सितान् । ६ । पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ । कुम्भकर्णदशग्रीवौ बलेनाप्रतिमौ भुवि ॥ ७ ॥ मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम् । राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा ।८। विभीषणस्तु रूपेण सर्वेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत् । स बभूव महाभागो धर्मगोप्ता क्रियारतिः ९ दशग्रीवस्तु सर्वेषां श्रेष्ठो राक्षसपुङ्गवः । महोत्साहो महावीर्यो महासत्त्वपराक्रमः १० कुम्भकर्णो बलेनासीत् सर्वेभ्योऽभ्यधिको

में सिंह ! नाचने और गानेमें चतुर वे दासियें सदा उन महात्मा ऋषिको सन्तुष्ट करनेके लिये उद्यत रहती थीं ॥ ४ ॥ हे राजन् उनके नाम पुष्पोत्कटा, राका और मालिनी थे, वे सुन्दर उदर वालीं राक्षसियें अपने कल्याणके लिये हे राजन् ! परस्पर स्पर्धा करके उनकी सेवा करती थीं ॥ ५ ॥ महात्मा भगवान् विश्रवा उनकी सेवासे प्रसन्न होगये और उनमेंसे हरएक राक्षसीको उन की इच्छानुसार लोकपालोंकी समान पुत्र होनेके वर दिये ॥६॥ तिससे पुष्पोत्कटाके कुम्भकर्ण और दशग्रीव नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए, वे दोनो भूमण्डलभरमें महाबली और राक्षसोंके राजा हुए ॥७॥ मालिनीने एक विभीषण नामके पुत्रको ही उत्पन्न किया और राकाके गर्भसे पुत्र और पुत्रीका जोड़ा उत्पन्नहुआ, जिसमें पुत्रका नाम खर और पुत्रीका नाम शूपनखा था ॥ ८ ॥ इनमें विभीषण सबसे अधिक रूपवान् था, वह महाभाग धर्मरक्षक तथा अपने धर्मकर्ममें प्रीति रखनेवाला था ॥ ९ ॥ और दशग्रीव सबोंमें उत्तम महाबली राक्षस गिनाजाता था, वह महाउत्साही महाबली, बड़ा दिलेर और परमपराक्रमी था ॥ १० ॥ कुम्भकर्ण युद्धमें सबसे अधिक बलवान् मानाजाता था, इसके सिवाय वह मायावी रण-

युधि । मायावी रणशौण्डश्च रौद्रश्च रजनीचरः ॥११॥खरो धनुषि विक्रान्तो ब्रह्मद्विट् पिशिताशनः। सिद्धिविघ्नकरी चापि रौद्री शूर्पणखा तदा ॥१२॥ सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः। ऊषुः पित्रा सह रता गन्धमादनपर्वते॥१३॥ततो वैश्रवणं तत्र ददृशुर्नरवाहनम्। पित्रा सार्द्धं समासीनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ १४ ॥ जातामर्षास्ततस्ते तु तपसे धृतनिश्चयाः। ब्रह्माणं तोषयामासुर्घोरेण तपसा तदा॥१५॥अतिष्ठदेकपादेन सहस्रं परिवत्सरान्। वायुभक्षो दशग्रीवः पञ्चाग्निः सुसमाहितः ॥ १६ ॥ अधःशायी कुम्भकर्णो यताहारो यतव्रतः। विभीषणः शीर्णपर्णमेकमभ्यवहारयन्॥१७॥ उपवासरतिर्धीमान् सदा जप्यपरायणः। तमेव कालमातिष्ठत्तीव्रं

चतुर और भयानक राक्षस था ॥ ११ ॥ खर धनुषयुद्धमें बड़ा विकराल, ब्राह्मणोंका द्वेषी और कच्चा मांस खाजानेवाला था तथा शूर्पणखा सिद्ध पुरुषोंके तपमें विघ्न डालनेवाली और भयावनी थी ॥ १२ ॥ ये सब पुत्र वेदको जाननेवाले, शूर, सुन्दर आचरण तथा श्रेष्ठ व्रतधारी थे, और पिताके साथ आनन्दपूर्वक गन्धमादन पर्वत पर रहते थे ॥१३॥तदनन्तर उन्होने वहाँ पिताके साथ बैठेहुए बडी सम्पत्तिवाले नरवाहन कुबेरको देखा ॥ १४ ॥ उसको देखकर रावण आदिके हृदयमें डाह उत्पन्न होगया तब उन्होने तप करनेके लिये मनमें निश्चय करके घोर तपस्याके द्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न करना आरम्भ करदिया ॥ १५ ॥ उनमेंसे दशग्रीव एक चरणसे खड़ा होकर वायुका ही आहार करताहुआ तपस्या करनेलगा और सावधानीके साथ पञ्चाग्नि तपनेलगा, इसप्रकार उसने एक हज़ार वर्षतक तपस्या की ॥ १६ ॥ दूसरा कुम्भकर्ण भूमि पर सोकर यम नियमोंको धारण करता हुआ नियमित भोजन करके तपस्या करनेलगा, तीसरा बुद्धिमान और उदारचेता विभीषण,वृक्ष परसे नीचे गिराहुआ एक पत्ता खाकर

तप उदारधीः ॥१८॥ खरः शूर्पणखा चैव तेषां वै तप्यतां तपः। परिचर्याञ्च रक्षांच चक्रतुर्हृष्टमानसौ ॥ १९ ॥ पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्छित्वा दशाननः। जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनातुष्यज्जगत्प्रभुः ॥ २० ॥ ततो ब्रह्मा स्वयं गत्वा तपसस्तान्न्यवारयत्। प्रलोभ्य वरदानेन सर्वानेव पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥ ब्रह्मोवाच। प्रीतोस्मि वो निवर्त्तध्वं वरान् वृणुत पुत्रकाः। यद्यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथास्तु तत् ॥ २२ ॥ यद्यदग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदीप्सया तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सया ॥ २३ ॥ वैरूप्यं च न ते देहे कामरूपधरस्तथा। भविष्यसि रणेऽरीणां विजेता न च

तपस्या करनेलगा तथा उपवास करके जप करनेमें तत्पर रहने लगा, उसने भी एक हजार वर्षतक तपसया की, वे जब इसप्रकार तपस्या कररहे थे, उस समय खर और शूर्पणखा मनमें प्रसन्न होकर उनकी सेवा और रक्षा करनेमें लगे रहते थे॥१७—१९॥ एक हजार वर्ष पूरे होजाने पर किसीसे भी पराजय न पानेवाले रावणने अपने शिर काट २ कर अग्निमें हवन करना आरम्भ करदिया, इससे जगदीश्वर भगवान् ब्रह्माजी उसके ऊपर प्रसन्न होगये और अपने आप उसके पास जाकर उन सबोंको जुदे २ वरदानोका लोभ देकर तपस्या करनेसे रोकदिया और इसप्रकार बोले ॥२०॥२१॥ ब्रह्माने कहा, कि—हे पुत्रों ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआहूं, अतः अब तुम तपस्या करना बन्द करो एक अमरपनेके सिवाय और जो कुछ भी तुम्है प्रिय हो, उसका वरदान मांगलो और तुसहारे मनकी कामनायें पूरी हों ॥ २२ ॥ और उत्तम पदकी इच्छासे तूने अग्निमें अपने जिन २ मस्तकोंका होम किया है, वे सब मस्तक तेरी इच्छाके अनुसार फिर तेरे शरीरमें तैसे ही जुडजायँगे ॥ २३ ॥ इससे तेरे शरीरमें विरूपपना नही रहेगा, और तू इच्छानुसार चाहे तिसका रूप धारण करसकेगा तथा रणभूमिमें शत्रुओंको जीतेगा, इसमें जरा भी सन्देह

संशयः ॥ २४ ॥ रावण उवाच । गन्धर्वदेवासुरतो यक्षराक्षस-
स्तथा । सर्पकिन्नरभूतेभ्यो न मे भूयात्पराभवः॥२५॥ ब्रह्मोवाच॥
य एते कीर्त्तिताः सर्वे न तेभ्योस्ति भयन्तव । ऋते मनुष्याद्भद्रन्ते
तथा तद्विहितं मया ॥ २६ ॥ मार्कण्डेय उवाच । एवमुक्तो दश-
ग्रीवस्तुष्टः समभवत्तदा । अवमेने हि दुर्बुद्धिर्मनुष्यान् पुरुषादकः
॥ २७ ॥ कुम्भकर्णमथोवाच तथैव प्रपितामहः । स वव्रे महतीं
निद्रां तमसा ग्रस्तचेतनः ॥ २८ ॥ तथा भविष्यतीत्युक्त्वा विभी-
षणमुवाचह । वरं वृणीष्व पुत्र त्वं प्रीतोस्मीति पुनः पुनः ॥२९॥
विभीषण उवाच । परमापद्गतस्यापि नाधर्मे मे गतिर्भवेत् ।
अशिक्षितञ्च भगवन् ब्रह्मास्त्रं प्रतिभातु मे ॥ ३० ॥
ब्रह्मोवाच ॥ यस्माद्राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रकर्षण । नाधर्मे

नहीं है ॥ २४ ॥ रावणने कहा, कि–हे भगवन् ! गन्धर्व, देवता,
असुर, यक्ष, राक्षस, सर्प, किन्नर तथा भूत भी मेरा तिरस्कार
न करसकें, यह वर दीजिये ॥ २५ ॥ ब्रह्माजी बोले, कि—तूने
मेरे सामने जिनके नाम लिये हैं, इनमेंसे किसीसे भी तुझे भय
नहीं होगा, केवल मनुष्योंसे तुझे भय रहेगा, इसका कारण यह
है, कि—मैंने तेरे भाग्यमें भी यही बात रची है, तेरा कल्याण
हो ॥ २६ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि–ब्रह्माजीने रावणसे जब
ऐसा कहा तो मनुष्योंका भक्षण करनेवाला दुष्टबुद्धि रावण प्रसन्न
हुआ और मनुष्योंका अपमान करनेलगा ॥ २७ ॥ फिर ब्रह्मा-
जीने कुम्भकर्णसे वर मांगनेको कहा तब अज्ञानके कारण बुद्धि
हीन हुए कुम्भकर्णने महानिद्रा मांगली ॥ २८ ॥ ब्रह्माजी उससे
'तथास्तु' कहकर विभीषणसे वारम्वार कहनेलगे, कि–हे पुत्र !
मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं, तू वर मांग ॥ २९ ॥ इस पर विभी-
षणने मांगा, कि–मेरे परम विपत्तिमें पडजाने पर भी मेरी बुद्धि
अधर्मको अङ्गीकार न करै तथा हे भगवन् ! मुझे अभ्यासके विना
ही ब्रह्मास्त्रका ज्ञान होजाय ॥ ३० ॥ इस पर ब्रह्माजी बोले कि–

धीयते बुद्धिरमरत्वं ददानि ते ॥ ३२ ॥ मार्कण्डेय उवाच । राक्षसस्तु वरं लब्ध्वा दशग्रीवो विशाम्पते । लङ्कायाश्च्यावयामास युधि जित्वा धनेश्वरम् ॥ ३२ ॥ हित्वा स भगवाँल्लंकामाविशद्ग गन्धमादनम् । गन्धर्वयक्षानुगतो रक्षःकिंपुरुषैः सह ॥ ३३ ॥ विमानं पुष्पकं तस्य जहाराक्रम्य रावणः । शशाप तं वैश्रवणो न त्वामेतद्वहिष्यति ॥ ३४ ॥ यस्तु त्वां समरे हन्ता तमेवैतद्वहिष्यति । अवमन्य गुरुं माञ्च क्षिप्रं त्वं न भविष्यसि ॥ ३५ ॥ विभीषणस्तु धर्मात्मा सतां मार्गमनुस्मरन् । अन्वगच्छन्महाराज श्रिया परमया युतः ॥ ३६ ॥ तस्मै स भगवांस्तुष्टो भ्राता भ्रात्रे धनेश्वरः । सैनापत्यं ददौ धीमान् यक्षराक्षससेनयोः ॥ ३७ ॥

हे शत्रुनाशन ! तू राक्षसजातिमें उत्पन्न हुआ है, तो भी तेरी बुद्धि धर्म पर प्रेम रखती है, इसलिये मैं तुझे अमरपना देता हूं ॥ ३१ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—हे पृथ्वीपते ! इसप्रकार वर मिलनेके अनन्तर राक्षस दशग्रीवने कुवेरके साथ युद्ध किया और उसमें कुवेरको हराकर उसको लङ्कापुरीमेंसे बाहर निकालदिया ॥ ३२ ॥ तब महासमर्थ कुवेर लङ्काको त्यागकर गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा किम्पुरुषोंके साथ गन्धमादन पर्वतपर चलागया ॥३३॥ रावणने कुवेरको हराकर उसका पुष्पक विमान भी छीन लिया,तब कुवेरने उसको शाप दिया, कि—यह पुष्पकविमान तुझे सवारी नहीं देगा ॥३४॥किन्तु जो पुरुष युद्धमें तेरा नाश करेगा, उसको सवारी देगा और गुरुका तथा मेरा अपमान करने के कारण थोड़े दिनोमें ही इसलोकमें तेरा पता भी नहीं रहेगा अर्थात् तू माराजायगा ॥ ३५ ॥ हे महाराज ! महासम्पत्तिमान् विभीषण धर्मात्मा था, इसकारण मनमें सत्पुरुषोंके धर्मका विचार करके कुवेरके अनुकूल वर्त्ताव करनेलगा ॥ ३६ ॥ इसकारण बुद्धिमान् धनपति कुवेर अपने भाईके ऊपर प्रसन्न रहनेलगा और उसको यक्षों तथा राक्षसोंका सेनापति बनादिया ॥ ३७ ॥

राक्षसाः पुरुषादाश्च पिशाचाश्च महाबलाः । सर्वे समेत्य राजानमभ्यषिञ्चन्दशाननम् ॥ ३८ ॥ दशग्रीवश्च दैत्यानां देवानां च बलोत्कटः । आक्रम्य रत्नान्यहरत् कामरूपी विहङ्गमः ॥ ३९ ॥ रावयामास लोकान् यत् तस्माद्रावण उच्यते । दशग्रीवः कामबलो देवानां भयमादधत् ॥ ४० ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणादिवरप्राप्तौ पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७५ ॥

मार्कण्डेय उवाच । ततो ब्रह्मर्षयः सर्वे सिद्धा देवर्षयस्तथा । हव्यवाहं पुरस्कृत्य ब्रह्माणं शरणं गताः ॥ १ ॥ अग्निरुवाच । योऽसौ विश्रवसः पुत्रो दशग्रीवो महाबलः । अवध्यो वरदानेन कृतो भगवता पुरा ॥ २ ॥ सम्बाधते प्रजाः सर्वा विप्रकारैर्महाबलः । ततो

मनुष्योंका भक्षण करनवाले महाबली राक्षसोंने और पिशाचोंने इकट्ठे होकर रावणका लङ्काके राजसिंहासन पर अभिषेक किया ३८ रावण महाबली, इच्छानुसार रूपधारी तथा आकाशचारी था, उसने देवता और दैत्योंको जीतकर उनकी उत्तम२ वस्तुएं अपने हाथमें करली थीं॥३९॥वह मनुष्योंको रुवाता था इसकारण रावण कहलाता था, इस रावणके दश शिर थे, उसका बल इच्छानुसार था, वह सदा देवताओंको भय दिया करता था ॥ ४० ॥ दो सौ पिछहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ २७५ ॥छ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—हे युधिष्ठिर ! जब रावण बहुत उपद्रव करनेलगा, तब सब ब्रह्मर्षि, सिद्ध और देवर्षि अग्निदेव को आगे करके ब्रह्माजीकी शरणमें गये और तहां अग्निदेवने ब्रह्माजीसे विनय की, कि—॥ १ ॥ हे ब्रह्मन् ! विश्रवाके महाबलवान् पुत्र रावणको पहिले आपने वरदान देकर अमर बनादिया है ॥ २ ॥ इसकारण वह महाबली दैत्य सब प्रजाको अनेकों प्रकारसे कष्ट देता है, इसलिये हे भगवन् ! आप उससे हमारी

नस्त्रातु भगवान्नान्यस्त्राता हि विद्यते ॥३॥ ब्रह्मोवाच। न स देवा-सुरैः शक्यो युद्धे जेतुं विभावसो। विहितं तत्र यत् कार्य्यमभितस्तस्य निग्रहः ॥ ४ ॥ तदर्थमवतीर्णोसौ मन्नियोगाच्चतुर्भुजः विष्णुः प्रहरतां श्रेष्ठः स तत् कर्म करिष्यति ॥ ५ ॥ मार्कण्डेय उवाच। पितामहस्ततस्तेषां सन्निधौ शक्रमब्रवीत्। सर्वैर्देवगणैः सार्धं सम्भव त्वं महीतले ॥ ६ ॥ विष्णोः सहायानृक्षीषु वानरीषु च सर्वशः। जनयध्वं सुतान् वीरान् कामरूपबलान्वितान् ॥ ७ ॥ ततो भागानुभागेन देवगन्धर्वदानवाः। अवतर्त्तुं महीं सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ॥ ८ ॥ तेषां समक्षं गन्धर्वीं दुन्दुभीं नाम नामतः। शशास वरदो देवो गच्छ कार्य्यार्थसिद्धये॥९॥ पितामहवचः श्रुत्वा

रक्षा करिये, आपको छोड़कर और कोई भी हमारी रक्षा करने वाला नहीं है ॥ ३ ॥ ब्रह्माजी बोले, कि—हे अग्निदेव ! युद्धमें देवता या असुर उसको नहीं जीतसकते, परन्तु इस रावणको दण्ड देना चाहिये, उसके लिये मैंने एक बहुत शीघ्रताका उपाय ठीक करदिया है ॥ ४ ॥ वह यह है, कि—मेरी आज्ञासे योधाओंमें श्रेष्ठ, चतुर्भुज विष्णु भगवान् इस कामको साधनेके लिये अवतीर्ण होगये हैं, वही इस कामको करेंगे ॥ ५ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—इसके अनन्तर पितामह ब्रह्माजीने सब देवताओंके सामने इन्द्रसे कहा, कि—तू सब देवता, गन्धर्व और दानवोंके साथ पृथ्वी पर अवतार ले ॥ ६ ॥ देवता, गन्धर्व तथा दानव रीछ और वानरोंकी स्त्रियोंमें विष्णुकी सहायता करनेवाले और इच्छानुसार रूप तथा बलवाले पुत्रोंको उत्पन्न करें ॥ ७ ॥ ब्रह्माजीकी इस बातको सुनकर देवता, गन्धर्व और वानर ये सब जुदे २ विभागोंमें पृथ्वीपर अवतार लेनेके लिये तुरत विचार करनेको इकट्ठे हुए ॥ ८ ॥ फिर वरदान देनेवाले ब्रह्माजीने देवता और गन्धर्वों के सामने दुंदुभी नामवाली गन्धर्वीको आज्ञा दी कि—तू भी विष्णुका काम सिद्ध करनेके लिये पृथ्वी पर अवतार धार ॥९॥

गन्धर्वी दुन्दुभी ततः । मन्थरा मानुषे लोके कुब्जा समभवत्तदा ॥१०॥ शक्रप्रभृतयश्च व सर्वे ते सुरसत्तमाः । वानरर्त्तवरस्त्रीषु जनयामासुरात्मजान् ॥ ११ ॥ तेन्वर्त्तन् पितॄन् सर्वे यशसा च वलेन च । भत्तारो गिरिशृङ्गाणां शालतालशिलायुधाः ॥ १२ ॥ वज्रसंहननाः सर्वे सर्वे चौघवलास्तथा। कामवीर्य्यवलाश्चैव सर्वे युद्धविशारदाः॥१३॥ नागायुतसमप्राणा वायुवेगसमा जवे । यत्रेच्छकनिवासाश्च केचिदत्र वनौकसः॥१४॥एवं विधाय तत् सर्वं भगवाल्लोकभावनः। मन्थरां वोधयामास यद्यत् कार्यं यथा यथा१५सा तद्वचः समाज्ञाय तथा चक्रे मनोजवा। इतश्चेतश्च गच्छन्ती वैरसन्धुक्षणे रता ।१६। इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि वानरोत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७६ ॥

वह दुंदुभी नामकी गन्धर्वी ब्रह्माकी वात सुनकर मर्त्यलोकमें मन्थरा नामकी कुवड़ी होकर अवतरी थी, ॥१०॥ उन इन्द्र आदि सब श्रेष्ठ देवताओंने पृथ्वी पर अवतार लेकर वानर तथा रीछों की उत्तम स्त्रियोंमें पुत्र उत्पन्न किये ॥११॥ वे सव पुत्र यश और वलमें पिताकी समान हुए, वे पहाड़ोंके शिखरोंको तोडनेवाले और शाल, ताल शिला आदिके शस्त्र धारण करनेवाले थे १२ उन सवोंके शरीर वज्रकी समान दृढ़ थे, सव महावलवान् थे, सवोंमें इच्छानुसार वीर्य तथा वल रहता था, तथा सब ही युद्ध करनेमें प्रवीण थे॥ १३ ॥ सवोंमें दश २ हजार हाथियोंकी समान वल था और सव हीं दौड़नेमें वायुकी समान वेगवान् थे, उनमेंके कितने ही अपनी इच्छानुसार निवास करते थे,और कितने ही वनमें निवास करते थे॥१४॥इसप्रकार जगत्को उत्पन्न करनेवाले भगवान् ब्रह्माजीने सव व्यवस्था करदी तव, जो१काम जैसे२होना चाहिये था उसका मन्थराको उपदेश दिया॥१५॥मनकी समान वेगवाली मंथराने ब्रह्माजीकी वातको समझकर तैसा हीं किया, वह, राजा दशरथके घर इधर ऊधर फिरती हुई वैराग्निको प्रज्वलित करने में तत्पर होगई॥१६॥दोसौ छियत्तरवां अध्याय समाप्त॥ २७६॥

युधिष्ठिर उवाच । उक्तं भगवता जन्म रामादीनां पृथक् पृथक् । प्रस्थानकारणं ब्रह्मन् श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ १ ॥ कथं दाशरथी वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ । संप्रस्थितौ वने ब्रह्मन् मैथिली च यशस्विनी २ मार्कण्डेय उवाच । जातपुत्रो दशरथः प्रीतिमानभवन्नृप । क्रियारतिर्धर्मरतः सततं वृद्धसेविता ।३। क्रमेण चास्य ते पुत्रा व्यवर्धन्त महौजसः । वेदेषु सरहस्येषु धनुर्वेदेषु पारगाः ॥ ४ ॥ चरितब्रह्मचर्य्यास्ते कृतदाराश्च पार्थिव । यदा तदा दशरथः प्रीति मानभवत् सुखी ॥ ५ ॥ ज्येष्ठो रामोऽभवत्तेषां रमयामास हि प्रजाः । मनोहरतया धीमान् पितुर्हृदयनन्दनः ॥ ६ ॥ ततः स राजा मतिमान् मत्वात्मानं वयोऽधिकम् । मन्त्रयामास सचिवैर्धर्मज्ञैश्च पुरोहितैः

युधिष्ठिर बूझते हैं, कि-हे ब्रह्मन् ! आपने राम, सीता, लक्ष्मण और रावण आदिके जन्मोंकी कथा अलग अलग सुनायीं, परंतु मैं रामके वनवासका कारण सुनना चाहता हूं उसको कहिये ॥१॥ दशरथसुत राम और लक्ष्मण ये दोनो वीर भ्राता. तथा यशस्विनी सीता ये वनमें क्यों गये थे ? ॥ २ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि-हे राजन् ! राजा दशरथ क्रियाकाण्ड और धर्मके ऊपर प्रेम रखता था, नित्य वृद्धोंकी सेवा करता था, जब उसके पुत्र हुए तो वह प्रसन्न हुआ ॥ ३ ॥ राजा दशरथके वे महाबली पुत्र धीरे २ बड़े होनेलगे और हे राजन् ! यज्ञोपवीत होजानेपर वे ब्रह्मचर्यका पालन करतेहुए वेद, उपनिषद् तथा धनुर्वेद आदिको पढ़कर उसमें पारंगत होगये और हे राजन् ! फिर जब उन पुत्रोंका विवाह होकर स्त्रियें घर आईं तो राजा दशरथ मनमें प्रसन्न और सुखी हुए ॥ ४ ॥ ५ ॥ इन सब कुमारोंमें राम बड़े थे, बुद्धिमान् कुमार अपने मनोहरपनेके कारण प्रजाके और पिताके मनको आनंद देनेलगे इसकारण वह लोकमें राम कहलाये ।।६।। बुद्धिमान् राजा दशरथ अपने बुढ़ापेको देखकर हे भारत ! अपने धर्मात्मा मंत्री और पुरोहितोंके साथ रामचंद्रका युवराज पद पर अभिषेक करने

॥ ७ ॥ अभिषेकाय रामस्य यौवराज्येन भारत । प्राप्तकालञ्च ते सर्वे मेनिरे मन्त्रिसत्तमाः ॥ ८ ॥ लोहिताक्षं महाबाहुं मत्तमातङ्गगामिनम् । दीर्घबाहुं महोरस्कं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ॥ ९ ॥ दीप्यमानं श्रिया वीरं शक्रादनवरं रणे । पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ ॥ १० ॥ सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम् । जितेन्द्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम् ॥ ११ ॥ नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम् । धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ १२ ॥ पुत्रं राजा दशरथः कौसल्यानन्दवर्द्धनम् । संदृश्य परमां प्रीतिमगच्छत् कुरुनन्दन ॥ १३ ॥ चिन्तयंश्च महातेजा गुणान् रामस्य वीर्यवान् । अभ्यभाषत भद्रन्ते प्रीयमाणः पुरोहितम् ॥ १४ ॥ अद्य पुष्यो निशि ब्रह्मन् पुण्यं योगमुपैष्यति । सम्भाराः संभ्रि-

के लिये एकांतमें विचार करनेलगे, तब सब मंत्रियोंने राजा दशरथकी समयानुकूल बातका मानलिया हे कुरुनंदन ! लाल २ नेत्र विशाल भुजदण्ड, मतवाले हाथीकेसी ठवन, विशाल वक्षःस्थल, श्यामवर्ण और घुंघुराले बालोंवाले, सुंदरतासे शोभायमान, शूर, रणमें इन्द्रका समान पराक्रम करनेवाले, सकल धर्म के पारंगत, बृहस्पतिकी समान बुद्धिमान् सब प्रजाके प्रेमपात्र, सकल विद्याओंमें चतुर, जितेन्द्रिय, शत्रुके मन और नेत्रोंको भी हरनेवाले, दुष्टोंको दण्ड देनेवाले धर्माचरण करनेवालोंके रक्षक, धैर्यधारी, किसीसे न दबनेवाले, किसीसे पराजय न पाकर सबसे विजय पानेवाले और कौशल्याके आनंदको बढ़ानेवाले रामचंद्रकी मनोहर मूर्त्तिको देखकर राजा दशरथने अपने मनमें बड़ा संतोष पाया ॥७–१३॥ महातेजस्वी परमपराक्रमी राजा दशरथ राम के पवित्र गुणोंको सुनकर मनमें प्रसन्न हुए और फिर हे युधिष्ठिर ! तुम्हारा कल्याण हो, उन राजा दशरथने अपने पुरोहितको बुला कर कहा, कि–॥ १४ ॥ हे ब्रह्मन् ! आज रातको पुष्य नक्षत्र पुण्य योगमें आवेगा, इसलिये तुम अभिषेक की सब सामग्रियें

यन्तां मे रामश्चोपनिमन्त्र्यताम् ॥१५॥इति तद्राजवचनं प्रतिश्रुत्वाथ मन्थरा ।.कैकेयीमभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥ अथ कैकेयि दौर्भाग्यं राज्ञा ते ख्यापितं महत् । आशीविषस्त्वां संक्रुद्धश्चण्डो दशतु दुर्भगे ॥ १७ ॥ सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते । कुतो हि तव सौभाग्यं यस्याः पुत्रो न राज्यभाक् ॥ १८ ॥ सा तद्वचनमाज्ञाय सर्व्वाभरणभूषिता । वेदीविलग्नमध्येव बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ १९ ॥ विविक्ते पतिमासाद्य हसन्तीव शुचिस्मिता । प्रणयं व्यञ्जयन्तीव मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥ सत्यप्रतिज्ञ यन्मे त्वं काममेकं निसृष्टवान् । उपाकुरुष्व तद्राजंस्तस्मान्मुच्यस्व सङ्कटात् ॥ २१ ॥ राजोवाच । वरं ददानि ते हन्त तद्

तयार कराओ और रामको यहां बुलाकर राज्याभिषेक कर दो ॥ १५ ॥ इसप्रकारकी राजाकी इन वार्तोंकों सुनकर मन्थरा कैकेयीके पास गई और समय देखकर कहा, कि ॥ १६ ॥ हे सखी कैकेयी ! आज राजाने तेरा बड़ा दुर्भाग्य प्रसिद्ध किया है, इसलिये अरी अभागिन ! तुझे क्रोधमें भराहुआ महाविषैला सर्प डसलेय तो अच्छा है अर्थात् अब तेरा जीवन वृथा है ॥ १७ ॥ अरी ! निःसन्देह कौशल्या बड़भागी है कि- जिसके पुत्रका राज्याभिषेक कियाजायगा, अब तेरा सौभाग्य कैसे होसकेगा ? अब तेरे पुत्रको राजगद्दी नहीं मिलेगी॥ १८ ॥ मन्थराकी इस बातको सुनकर सब अङ्गोंमें आभूषण धारण किये वेदीकी समान पतली कमरवाली तथा मन्द और पवित्र हास्यवाला परमसुन्दरी कैकेयी एकान्तमें बैठेहुए राजा दशरथके पास गयी और मानो मुसकारही हो, इसप्रकार मुख मलकाती तथा प्रेम दिखातीहुई मधुर वचनोंमें राजासे कहनेलगी, कि-॥१९॥ २० ॥ हे सत्य प्रतिज्ञावाले राजन् ! आपने पहिले मुझसे एक वर देनेको कहा था, वह वर मुझे आज दो और उस सङ्कट मेंसे मुक्त होजाओ ॥ २१ ॥ राजा दशरथने कहा, कि-जो वर

गृहाण यदिच्छसि । अवध्यो वध्यतां कोऽद्य वध्यः कोऽद्य विमुच्यताम् ॥ २२ ॥ धनं ददानि कस्याद्य ह्रियतां कस्य वा पुनः । ब्राह्मणस्वादिहान्यत्र यत्किञ्चिद्वित्तमस्ति मे ॥ २३ ॥ पृथिव्यां राजराजोऽस्मि चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता । यस्तेऽभिलषितः कामो ब्रूहि कल्याणि मा चिरम् ॥ २४ ॥ सा तद्वचनमाज्ञाय परिगृह्य नराधिपम् । आत्मनो वलमाज्ञाय तत एनमुवाच ह ॥ २५ ॥ आभिषेचनिकं यत्ते रामार्थमुपकल्पितम् । भरतस्तदवाप्नोतु वनं गच्छतु राघवः ॥ २६ ॥ स तद्राजा वचः श्रुत्वा विप्रियं दारुणोदयम् । दुःखार्त्तो भरतश्रेष्ठ न किञ्चिद् व्याजहार ह ॥ २७ ॥ ततस्तथोक्तं पितरं रामो विज्ञाय वीर्य्यवान् । वनं प्रतस्थे धर्मात्मा राजा सत्यो

मांगना चाहती हो सो मांगले, मैं तुझे वह वर अभी देता हूं तुझे आज किस अवध्य मनुष्यको मारना है ? अथवा किसी वध्य पुरुषको वचाना है क्या ? ॥ २२ ॥ बता आज मैं किसको धन दूँ या बता किसका धन लूटलूं ? भूमण्डल पर ब्राह्मणके धनको छोड़कर दूसरे सब धन पर मेरी प्रभुता है, क्योंकि—मैं पृथ्वी पर महाराज हूं और ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंकी रक्षा करता हूं हे कल्याणी ! तेरे मनमें जो इच्छा हो सो कहडाल, विलम्ब न कर ॥ २३ ॥ २४ ॥ कैकेयी राजाकी बातको सुनकर और उनको वचनमें बांधकर तथा यह जानकर कि-राजाके ऊपर मेरा जोर पड़गया, फिर राजासे कहनेलगी कि-॥२५॥ हे राजन् ! आपने रामचन्द्रके अभिषेकके लिये जो कुछ सामग्री तैयारकी है उससे भरतका अभिषेक हो और रामचन्द्र वनको जायँ॥२६॥ हे भरतवंशश्रेष्ठ ! कैकेयीकी ऐसी कठोर और भयङ्कर परिणामवाली बातको सुनकर राजा दशरथ दुःखसे व्याकुल होगये और उसको कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ २७ ॥ तदनन्तर पराक्रमी रामको मालूम हुआ, कि—पिता दशरथने कैकेयीसे इच्छाअनुसार

भवत्विति ॥ २८ ॥ तमन्वगच्छल्लक्ष्मीवान् धनुष्माँल्लक्ष्मणस्तदा। सीता च भार्य्या भद्रन्ते वैदेही जनकात्मजा ॥ २९ ॥ ततो वनं गते रामे राजा दशरथस्तदा। समयुज्यत देहस्य कालपर्यायधर्मणा ॥ ३० ॥ रामन्तु गतमाज्ञाय राजानञ्च तथागतम्। आनाय्य भरतं देवी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥ गतो दशरथः स्वर्गं वनस्थौ रामलक्ष्मणौ। गृहाण राज्यं विपुलं क्षेमं निहतकण्टकम् ॥३२॥ तामुवाच स धर्मात्मा नृशंसं बत ते कृतम्। पतिं हत्वा कुलञ्चेदमुत्साद्य धनलुब्धया ॥ ३३ ॥ अयशः पातयित्वा मे मूर्ध्नि त्वं कुलपांसने। सकामा भव मे मातरित्युक्त्वा प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥ सचारित्रं विशोध्याथ सर्वप्रकृतिसन्निधौ। अन्वयाद् भ्रातरं रामं

वचन मांगनेको कहा था, सो माताजीने भरतको राज्य और मेरे लिये वनवास मांगलिया है, सो महाराज दशरथका कहना सत्य हो, ऐसा विचार कर धर्मात्मा राम वनको चलेगये ॥ २८ ॥ हे युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो, रूपवान् और धनुपधारी लक्ष्मण तथा जनकदुलारी वैदेही सीता ये दोनो भी उनके पीछे २ गये ॥ २९ ॥ तदनन्तर रामचन्द्रके वनको चलेजाने पर उस समय राजा दशरथने कालचक्रकी गतिके अनुसार अपने शरीरको त्यागदिया ॥ ३० ॥ रामचन्द्र वनको चलेगये और राजा दशरथने प्राण त्यागदिये, यह जानकर पटरानी कैकेयीने भरतको मामाके घरसे बुलवालिया और यह बात कही कि—॥ ३१ ॥ दशरथ स्वर्गको सिधार गये और राम लक्ष्मण वनमें हैं, इसलिये तू बड़े लम्बे चौड़े शत्रुरहित सुखदायक राज्यको अपने हाथमें ले ३२ धर्मात्मा भरतने कैकेयीसे कहा, कि—हाय हाय! तूने धनके लोभमें पड़कर पतिका नाश करडाला और कुलका संहार करडाला यह तूने बड़ा ही नीच काम किया॥३३॥ और हे कुलकलङ्किनी! तूने मेरे शिर पर अपयश लादाला, ओ मेरी माता! अब तो तेरा मनचीता होगया! ऐसा कहकर भरत बड़े जोरसे रोनेलगे ॥ ३४ ॥ फिर सब प्रजामण्डलके सामने कैकेयीकी यह करतूत

विनिवर्त्तनलालसः३५कौसल्याश्च सुमित्राश्च कैकेयीश्च सुदुःखितः। अग्रे प्रस्थाप्य यानैः स शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ ३६ ॥ वसिष्ठ वामदेवाभ्यां विप्रैश्चान्यैः सहस्रशः। पौरजानपदैः सार्धं रामानयनकांक्षया ॥ ३७ ॥ ददर्श चित्रकूटस्थं स रामं सहलक्ष्मणम्। तातापसानामलङ्कारं धारयन्तं धनुर्धरम् ॥ ३८ ॥ विसर्ज्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा। नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके ॥ ३९ ॥ रामस्तु पुनराशंक्य पौरजानपदागमम्। प्रविवेश महारण्यं शरभङ्गाश्रमंप्रति ॥ ४० ॥ सत्कृत्य शरभङ्गं स दण्डकारण्यमाश्रितः। नदीं गोदावरीं रम्यामाश्रितय न्यवसत्तदा ४१ वसतस्तस्य रामस्य तथा शूर्पणखाकृतम्। खरेणासीन्महद्वैरं जन-

कहकर अपना निर्दोषपना सिद्ध किया, फिर लौटालानेकी इच्छा से, भाई राम जिधरको वनमें गये थे उधर ही जानेको उद्यत हुआ ॥ ३५ ॥ परमदुःखको प्राप्तहुआ भरत कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयीको सवारियोंमें आगे भेजकर आप शत्रुघ्नको साथमें लेकर गया ॥ ३६ ॥ वशिष्ठ, वामदेव, अन्य सहस्रों ब्राह्मण, नगरनिवासी और देशके लोगोंके साथ रामको लौटालानेकी इच्छा से जाकर भरतने लक्ष्मणसहित चित्रकूट पर ठहरेहुए धनुषधारी रामको तपस्वियोंका वेष धारण कियेहुए देखा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ तहां भरतने रामसे वहुत ही विनय की परन्तु पिताके वचनका आदर करनेवाले रामने भरतको आज्ञा दी, कि–तुम अयोध्याको लौटजाओ, तब भरत अयोध्यामें तो नहीं गए किन्तु रामकी पादुका (खड़ाऊं) अपने सामने रखकर नन्दिग्राममें राज्य करनेलगे ॥ ३९ ॥ यहां रामके मनमें शङ्का हुई, कि–यहां रहूंगा तो नगरके और देशके लोग वार २ आवेंगे, इसकारण वह वड़ेभारी वनमें घुसकर शरभङ्गके आश्रम पर जापहुंचे ॥ ४० ॥ तहां शरभङ्ग मुनिका सत्कार करके दण्डकारण्यमें गये और तहां गोदावरी नदीके किनारे पर कुटी वनाकर रहनेलगे ॥ ४१ ॥ तहां

स्थाननिवासिना ॥ ४२ ॥ रक्षार्थं तापसानान्तु राघवो धर्मवत्सलः चतुर्दशसहस्राणि जघान भुवि राक्षसान् ॥ ४३ ॥ दूषणञ्च खरञ्चैव निहत्य सुमहाबलौ । चक्रे क्षेमं पुनर्धीमान् धर्मारण्यं स राघवः ॥ ४४ ॥ हतेषु तेषु रक्षःसु ततः शूर्पणखा पुनः । ययौ निकृत्तनासौष्ठी लङ्कां भ्रातुर्निवेशनम् ॥ ४५ ॥ ततो रावणमभ्येत्य राक्षसी दुःखमूर्च्छिता । पपात पादयोर्भ्रातुः संशुष्करुधिराननां । ४६ । तान्तथा विकृतां दृष्ट्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः । उत्पपातासनात्क्रुद्धो दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ ४७ ॥ स्वानमात्यान् विसृज्याथ विविक्ते तामुवाच सः । केनाप्येवं कृता भद्रे मामचिन्त्यावमन्य च ॥ ४८ ॥ कः शूलं तीक्ष्णमासाद्य सर्वगात्रैर्निषेवते । कः

रहतेहुए उन रामचन्द्रका, शूर्पनखाका करायाहुआ, जनस्थाननिवासी खर राक्षसके साथ बड़ाभारी वैर होगया ॥ ४२ ॥ धर्म से प्रेम करनेवाले रामने तपस्वियोंकी रक्षाके लिये पृथ्वीपरके चौदह सहस्र राक्षसोंका संहार किया ॥ ४३ ॥ रामने महाबली खर और दूषणको मारकर ऋषियोंके धर्मारण्यको फिर निर्भय तथा सुखकारी करदिया ॥ ४४ ॥ जब वे सब राक्षस मारेगये तब जिसके नाक और होठ काटलिये थे ऐसी शूर्पणनखा, लङ्कामें रहनेवाले अपने भाई रावणके पास गयी, तहां दुःखसे मूर्छित हुई तथा जिसके मुख पर बहताहुआ लोहू सूखगया था ऐसी शूर्पणखा अपने भाई रावणके पैरोंमें गिरपड़ी ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ रावण शूर्पणखाकी नाक और होठ कटेहुए देखकर क्रोधके मारे अन्धा होगया और क्रोधके मारे दांतोंसे दांतोंको पीसताहुआ अपने आसन परसे खड़ा होगया ॥ ४७ ॥ और अपने मंत्रियोंको विदा करके फिर एकान्तमें शूर्पणखासे बूझने लगा, कि-हे कल्याणी! मुझे कछ न गिनकर तथा मेरा अनादर करके तेरी यह दशा किसने का है?॥४८॥ अरी! ऐसा वह कौन पुरुष है कि-जो अपने अङ्गोंमें मेरे तीखे त्रिशूलका प्रहार सहनेको तयार हुआ है और

शिरस्यग्निमाधाय विश्वस्तः स्वपते सुखम् । ४९ ।आशीविषं घोरतरं पादेन स्पृशतीह कः । सिंहं केसरिणं कश्च दंष्ट्रायां स्पृश्य तिष्ठति ॥ ५० ॥ इत्येवं ब्रुवतस्तस्य श्रोतोभ्यस्तेजसोऽर्चिषः । निश्चेरुर्द्दह्यतो रात्रौ वृत्तस्येव स्वरन्ध्रतः ॥ ५१ ॥ तस्य तत्सर्वमाचख्यौ भगिनी रामविक्रमम् । खरदूषणसंयुक्तं राक्षसानां पराभवम् ॥५२॥ स निश्चित्य ततः कृत्यं स्वसारमुपसान्त्व्य च । ऊर्ध्वमाचक्रमे राजा विधाय नगरे विधिम् । ५३ । त्रिकूटं समतिक्रम्य कालपर्वतमेव च । ददर्श मकरावासं गम्भीरोदं महोदधिम् ॥ ५४ ॥ तमतीत्याथ गोकर्णमभ्यगच्छद्दशाननः । दयितं स्थानमव्यग्रं शूलपाणेर्महात्मनः ॥ ५५ ॥ तत्राभ्यगच्छन्मारीचं पूर्वामात्यं दशाननः पुरा रामभया-

---

अपने शिरपर आग रखकर कौन विश्वासके साथ सुखकी निद्रालेता है?अरी! ऐसा वह कौन पुरुष है जो भयंकर विषैले सांपको अपने पैरसे छूरहा है ? अरी ! कौन-पुरुष केहरी सिंहकी डाढमें हाथ डालकर खड़ा है ? ॥ ५० ॥ जिस समय रावण ये बातें कहरहा था उस समय, जैसे रातमें बलतेहुए वृक्षकी खकोडलोंमेंसे अग्नि की लपटें निकलती हैं तैसे ही उसकी इन्द्रियोंमेंसे तेजकी चिनगारियें निकलरही थीं॥५१॥तदनंतर रावणकी बहिन शूर्पणखाने रामका पराक्रम तथा खरदूषण सहित सब राक्षसोंके तिरस्कार आदिका वृत्तांत सुनाया॥५२॥ तव रावण अपने मनमें सब काम का निश्चय करके बहिनको समझाकर तथा नगरकी रक्षा आदि का प्रबंध करके आकाशमार्गसे उडा ॥ ५३ ॥ और उसने चित्रकूट तथा कालाचलको लांघकर मगर कछुओंके निवासस्थान, गहरे जलसे भरे महासागरको देखा ॥ ५४ ॥ तथा उसको भी लांघकर दशानन, त्रिशूलधारी महात्मा शङ्करके प्रेमपात्र गोकर्ण नामक स्थान पर आगया ॥५५॥ इस आश्रममें, पहिले विश्वामित्र के यज्ञके समय रामके भयसे तपस्वीका वेष धारण करके रहते

देव तपस्यां समुपाश्रितम् ॥ ५६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामवनाभिगमने सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७७ ॥

मार्कण्डेय उवाच । मारीचस्त्वथ संभ्रान्तो दृष्ट्वा रावणमागतम् । पूजयामास सत्कारैः फलमूलादिभिस्ततः ॥ १ ॥ विश्रान्तश्चैनमासीनमन्वासीनः स राक्षसः । उवाच प्रसृतं वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥२॥ न ते प्रकृतिमान् वर्णः कच्चित्क्षेमं पुरे तव । कच्चित्प्रकृतयः सर्वा भजन्ते त्वां यथा पुरा ॥ ३ ॥ किमिहागमने चापि कार्य्यन्ते राक्षसेश्वर । कृतमित्येव तद्विद्धि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ ४ ॥ शशंस रावणस्तस्मै तत् सर्वं रामचेष्टितम् । समासेनैव कार्य्याणि क्रोधामर्षसमन्वितः ॥ ५ ॥ मारीचस्त्वब्रवी

हुए अपने पुराने मंत्री मारीचके पास गया ॥ ५६ ॥ दौसौ सतत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७७ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि–हे राजन् युधिष्ठिर ! रावणको आया हुआ देखकर मारीच घवडागया और फिर उसने फल मूल आदि भेट करके उसका सत्कार किया ॥ १ ॥ जब रावण कुछ देर आराम लेकर वैठा तो मारीच भी उसके पास वैठगया और वातचीत करनेमें चतुर मारीचने बोलनेमें प्रवीण रावणसे वातें करते २ बड़े अर्थभरे वाक्य का आरम्भ करके बूझा, कि–॥ २ ॥ तुम्हारे मुखका रंग वदलाहुआसा क्यों होरहा है ? तुम्हारे नगर में सव कुछ क्षेम तो है ? सव दरवारी लोग तथा प्रजाके लोग पहिलेकी समान तुम्हारी सेवा तो करते हैं ? ॥ ३ ॥ हे राक्षसराज ! आपका यहां पधारना किसकारणसे हुआ है ? आपका काम महाकठिन हो तो भी आप उसको सिद्ध हुआ ही समझना ॥ ४ ॥ यह सुनकर क्रोध और अमर्ष से भरेहुए रावणने वह सव रामकी करतूत और दूसरे काम भी संक्षेपसे कहकर मारीचको वतादिये॥५॥ उसको सुनकर मारीचने भी संक्षेपमें ही

च्छ्रुत्वा समासेनैव रावणम् । अलन्ते राममासाद्य वीर्यज्ञो ह्यस्मि तस्य वै ॥ ६ ॥ बाणवेगं हि कस्तस्य शक्तः सोढुं महात्मनः । मज्ज्यायां हि मे हेतुः स एव पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥ विनाशमुखमेतत्ते केनाख्यातं दुरात्मना । तमुवाचाथ सक्रोधो रावणः परिभर्त्सयन् ॥ ८ ॥ अकुर्वतोऽस्मद्वचनं स्यान्मृत्युरपि ते ध्रुवम् । मारीचश्चिन्तयामास विशिष्टान्मरणं वरम् ॥ ६ ॥ अवश्यं मरणे प्राप्ते करिष्याम्यस्य यन्मतम् । ततस्तं प्रत्युवाचाथ मारीचो रक्षसां वरम् ॥१०॥ किन्ते सह्यं मया कार्यं करिष्याम्यवशोऽपि तत् । तमब्रवीद्दशग्रीवो गच्छ सीतां विलोभय ॥ ११ ॥ रत्नशृङ्गो मृगो भूत्वा रत्नचित्रतनूरुहः । ध्रुवं सीता समालक्ष्य त्वां रामश्चोदयिष्यति ॥ १२ ॥

रावणसे कहा, कि तुम रामके समीप पहुंचनेके विषयमें वस करो क्योंकि—मैं उस रामके पराक्रमको जानता हूं ॥ ६ ॥ अरे! उस महात्माके बाणके वेगको सहै, ऐसी शक्ति किसमें है ? मैं जो देश से भागकर यहां तपस्वी-बनकर बैठा हूं, इसका कारण भी वह महापुरुष ही है और यह नाशका द्वार तुम्हैं किस दुष्टात्माने बताया है ? यह सुनकर रावण क्रोधमें भरगया और उसको ललकारता हुआ कहनेलगा, कि-॥ ८ ॥ यदि तू मेरा कहना नहीं मानेगा तो निःसन्देह तेरा प्राणान्त होगा, यह सुनकर मारीच मनमें विचारनेलगा, कि—श्रेष्ठ पुरुषके हाथसे मरण हो तो ठीक है ॥ ६ ॥ जब मृत्यु अवश्य ही आलगी है तो अब इसके विचारके अनुसार काम करना ही ठीक है, ऐसा विचार कर मारीचने राक्षसोंमें श्रेष्ठ रावणसे कहा कि—॥ १० ॥ कहिये मुझे आपकी क्या सहायता करनी चाहिये ? मैं पराधीन हूं तो भी तुम्हारी सहायता करूँगा । रावणने कहा, कि-तू सोने के सींगोंवाला और रत्नोंकी समान अनेकों रंगोंके रोंगटोंवाला एक सुंदर मृग बनकर सीताके पास जा और उसको लुभा, सीता अनुपम रत्नोंकी समान दमकतेहुए तेरे शरीरको देखकर तुझे मारनेके लिये तेरे पीछेरामको अवश्य ही भेजेगी ।११-१२।

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे सीता वश्या भविष्यति । तामादायापनेष्यामि ततः स न भविष्यति ॥ १३ ॥ भार्य्यावियोगाद्दुर्बुद्धिरेतत् सह्यं कुरुष्व मे । इत्येवमुक्तो मारीचः कृत्वोदकमथात्मनः १४ रावणं पुरतो यान्तमन्वगच्छत् सुदुःखितः । ततस्तस्याश्रमं गत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ १५ ॥ चक्रतुस्तद्यथा सर्वमुभौ यत् पूर्वमन्त्रितम् । रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृत् ॥१६॥ मृगश्च भूत्वा मारीचस्तं देशमुपजग्मतुः । दर्शयामास मारीचो वैदेहीं मृगरूपधृक् ॥ १७॥ चोदयामास तस्यार्थे सा रामं विधिचोदिता । रामस्तस्या प्रियं कुर्वन् धनुरादाय सत्वरः ॥ १८ ॥ रक्षार्थे लक्ष्मणं न्यस्य प्रययौ मृगलिप्सया । स धन्वी बद्धतूणीरः

इसप्रकार रामके तेरे पीछे २ दूर चलेजाने पर मैं भी उसके आश्रममें जाकर सीताको समझाऊँगा और वह मेरे वशमें होजायगी तब मैं उसको लेकर लंकामें चलाआऊँगा और दुष्टबुद्धि राम अपनी स्त्रीके वियोगमें मरजायगा, इसलिये तू इस काममें मेरी सहायता कर, इसप्रकार रावणने कहा तब मारीचने अपनी प्रेत क्रिया करली और फिर खिन्न मनसे रावणके पीछे २ पवित्र चरणवाले रामके आश्रमकी ओरको चलदिया, आश्रमके पास आकर दोनोंने, पहिले कियेहुए विचारके अनुसार काम करना आरंभ करदिया, रावणने त्रिदण्ड कमंडलधारी संन्यासीका रूप धरा और मारीच सोनेका मृग बनगया, फिर दोनोंजने रामके आश्रममें आपहुंचे, तहाँ जाकर मृगरूपधारी मारीचने अपना सोने का शरीर दिखाकर सीताको लुभाया ॥ १३–१७ ॥ तब दैवकी प्रेरणा कीहुई सीतादेवीने उस सोनेके मृगको पकड़कर लानेके लिये रामसे कहा, तब सीताकी रक्षा करनेके लिये लक्ष्मणको आश्रममें छोड़कर राम सीताका प्रिय काम करनेके निमित्त धनुष, बाणोंका तरकस, तलवार और गोहकी खालके हाथोंके दस्ताने आदि धारण करके उस मृगको पकडनेके लिये ऐसी शीघ्रतासे

खड्गगोधांगुलित्रवान् ॥ १९ ॥ अन्वधावन्मृगं रामो रुद्रस्तारामृगं यथा । सोऽन्तर्हितः पुनस्तस्य दर्शनं राक्षसो व्रजन् ॥२०॥ चकर्ष महदध्वानं रामस्तं बुबुधे ततः । निशाचरं विदित्वा तं राघवः प्रतिभानवान् ॥ २१ ॥ अमोघं शरमादाय जघान मृगरूपिणम् । स रामबाणाभिहतः कृत्वा रामस्वरं तदा ॥ २२ ॥ हा सीते लक्ष्मणेत्येवं चुक्रोशार्त्तस्वरेण ह । शुश्राव तस्य वैदेही ततस्तां करुणाङ्गिरम् २३ सा प्राद्रवद्यतः शब्दस्तामुवाचाथ लक्ष्मणः । अलन्ते शङ्कया भीरु को रामं प्रहरिष्यति ॥२४॥ मुहूर्त्ताद् द्रक्ष्यसे रामं भर्त्तारं त्वं शुचिस्मिते । इत्युक्त्वा सा प्ररुदती पर्य्यशंकत लक्ष्मणम् २५ हता व स्त्रीस्वभावेन शुक्लचारित्रभूषणा । सा तं परुषमारब्धा वक्तुं साध्वी पतिव्रता २६ नैष कामो भवेन्मूढ यं त्वं प्रार्थ-

---

दौड़े, कि—जैसे ताराके पीछे प्रजापति दौड़े थे, तब तो मृगरूप धारी मारीच क्षणमें अन्तर्धान होनेलगा और क्षणमें दिखाई देताहुआ दौड़नेलगा ॥ १८–२० ॥ इसप्रकार वह रामको बहुत दूरके मार्गमें लेगया तब बुद्धिमान् रामके ध्यानमें आया, कि—यह तो राक्षस है॥२१॥और फिर उन्होंने निष्फल न जानेवाला बाण लेकर मृगरूपधारी राक्षसके मारा, परंतु ज्यों ही रामका बाण लगा, कि—वह राक्षस उस समय, हा सीते ! हा लक्ष्मण ! इसप्रकार रामके स्वरमें मिलतेहुए स्वरसे कहकर डकरानेलगा उसकी इस करुणामयी वाणीको सुनकर सीता, जिधरसे शब्द आया था उधरको दौडनेलगी, तब तो लक्ष्मणने उससे कहा, कि—अरी डरपोक ! बस तू संदेह न कर, रामको मारनेवाला कौन है ?॥२२–२४॥ हे पवित्रहास्यवाली सीते! तुम एक मुहूर्त्तमें अपने स्वामी रामसे मिलजाओगी, ऐसा लक्ष्मणने कहा, तो भी सीता रोने ही लगी और लक्ष्मणके ऊपर संदेह करनेलगी॥२५॥सीता शुद्ध चरित्रसे भूषित थी, तो भी स्त्रीजातिके स्वभावसे वहममें पड गई और वह पतिव्रता साध्वी सीता, लक्ष्मणको तीखे वचन कहनेलगी, कि—॥२६॥ अरे मूढ ! तू मनसे जिसकामकी चाहना

यसे हृदा । अप्यहं शस्त्रमादाय हन्यामात्मानमात्मना ॥२७॥ पतेयं गिरिशृङ्गाद्वा विशेयं वा हुताशनम् । रामं भर्त्तारमुत्सृज्य न त्वहं त्वां कथञ्चन ॥ २८ ॥ विहीनमुपतिष्ठेयं शार्दूली क्रोष्टुकं यथा । एतादृशं वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः प्रियराघवः ॥ २९ ॥ पिधाय कर्णौ सद्वृत्तः प्रस्थितो येन राघवः । स रामस्य पदं गृह्य प्रससार धनुर्धरः ॥ ३० ॥ अवीक्षमाणो बिम्बोष्ठीं प्रययौ लक्ष्मणस्तदा । एतस्मिन्नन्तरे रक्षो रावणः प्रत्यदृश्यत ॥ ३१ ॥ अभव्यो भव्यरूपेण भस्मच्छन्न इवानलः । यतिवेषप्रतिच्छन्नो जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३२ ॥ सा तमालक्ष्य संप्राप्तं धर्मज्ञा जनकात्मजा । निमन्त्रयामास तदा फलमूलाशनादिभिः ॥ ३३ ॥ अवमन्य ततः

करता है, तेरी वह कामना पूरी नहीं होगी, मैं शस्त्र लेकर अपने आप अपना नाश करडालूंगी, पहाड़की चोटी परसे नीचे गिर कर मरजाऊँगी अथवा अग्निमें प्रवेश करके जलमरूँगी परन्तु जैसे सिंहनी क्षुद्र गीदड़के आश्रयमें नहीं रहती है, तैसे ही मैं राम जैसे पतिको छोड़कर तुझसरीखे क्षुद्रको स्वीकार नहीं करूंगी, जिसको राम प्यारे हैं ऐसे सदाचारी लक्ष्मणने सीताके ऐसे वचनको सुनकर ॥ २७ – २९ ॥ अपने दोनों कान हाथोंसे ढक लिये और जिस मार्गसे राम गये थे उस मार्गमें ही रामके चरणों के चिन्ह देखता २ धनुर्धारी लक्ष्मण पकेहुए बिम्बाफलकी समान ओठवाली सीताकी ओरको दृष्टि भी न डालकर चलागया, इस ही अवसरमें पवित्र चरित्रवाली सीताको हरनेकी इच्छासे रावण सीताके आश्रममें आपहुंचा, रावणका स्वभाव दुष्ट था तो भी इस समय उसने भव्यरूप धारण किया था और जैसे राखके समूहसे अग्नि ढकी होती है तैसे ही वह संन्यासीके वेषमें छिपाहुआ था ॥ ३० — ३२ ॥ धर्म को जाननेवाली जनकनन्दिनी सीताने उस संन्यासीको अपने आश्रममें आयाहुआ देखकर उसको फल कन्द आदिका भोजन करनेके लिये निमन्त्रण दिया ॥ ३३ ॥

सर्वं स्वरूपं प्रतिपद्यते। सान्त्वयामास वैदेहीमिति राक्षसपुङ्गवः ३४ सीते राक्षसराजोऽहं रावणो नाम विश्रुतः। मम लङ्कापुरी नाम्ना रम्या पारे महोदधेः ॥३५॥ तत्र त्वं वरनारीषु शोभिष्यसि मया सह। भार्य्या मे भव सुश्रोणि तापसं त्यज राघवम् ॥ ३६ ॥ एव-मादीनि वाक्यानि श्रुत्वा तस्याथ जानकी। पिधाय कर्णौ सुश्रोणि मैवमित्यब्रवीद्वचः ॥ ३७ ॥ प्रपतेद्द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकली भवेत्। शैत्यमग्निरियान्नाहं त्यजेयं रघुनन्दनम् ॥३८॥ कथं हि भिन्नकरटं पद्मिनं वनगोचरम्। उपस्थाय महानागं करेणुः शूकरं स्पृशेत् ॥ ३९ ॥ कथं हि पीत्वा माध्वीकं पीत्वा च मधुमाधवीम्। लोभं सौवीरके कुर्यान्नारी काचिदिति स्मरे ॥ ४० ॥ इति सा तं समाभाष्य प्रविवेशाश्रमं ततः। क्रोधात् प्रस्फुरमाणौष्ठी विधुन्वाना

परन्तु इस राक्षसराजने उसका अपमान करके अपना असली रूप प्रकट किया और फिर सीताको धीरज देकर समझा नेलगा, कि—॥ ३४ ॥ अरी सीते ! मै राक्षसोंका राजा हूं और मेरा रावण यह नाम प्रसिद्ध है तथा लङ्कानामसे प्रसिद्ध मेरी नगरी समुद्रके परले पार है ॥ ३५ ॥ तहां तू मेरे साथ रहेगी तो श्रेष्ठ स्त्रियोंमें दिपनेलगेगी, अतः ओ सुन्दर नितम्बवाली सीता ! तू मेरी स्त्री बनजा और तपस्वी रामको छोडदे ॥ ३६ ॥ रावणके ऐसे वचनोंको सुनकर सुन्दर नितम्बवाली जानकी, अपने दोनों हाथोंसे दोनों कानोंको ढककर कहउठी, कि—तू ऐसा वचन मत बोल ॥ ३७ ॥ चाहे तारागणों सहित आकाश पृथ्वी पर टूटपड़े पृथिवी फटकर भले ही टुकड़े २ होजाय और चाहे अग्नि ठण्ढी पड़जाय परन्तु मैं रामका त्याग नहीं करूँगी ॥ ३८ ॥ गण्डस्थ-लमेंसे मद टपकाते वनमें घूमतेहुए पद्मीजातिके बड़े हाथीको पति-रूपसे सेवन करके हथिनी क्या फिर सूअरको छुएगी ?॥ ३९ ॥ पुष्पोंके और दाखोंके रसको पीनेके पीछे कौन स्त्री कांजीकी मदिराको पीनेके लिये लुभियावेगी ?॥ ४० ॥ क्रोधके मारे

करो मुहुः ॥ ४१ ॥ तामभिद्रुत्य सुश्रोणीं रावणः प्रत्यपेधयत् । भर्त्सयित्वा तु रूक्षेण स्वरेण गतचेतनाम् ॥४२॥ मूर्धजेषु निजग्राह ऊर्ध्वमाचक्रमे ततः । तां ददर्श ततो गृध्रो जटायुर्गिरिगोचरः । रुदतीं राम रामेति ह्रियमाणां तपस्विनीम् ॥ ४३ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि मारीचवधे सीताहरणे चाष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।२७८।

मार्कण्डेय उवाच । सखा दशरथस्यासीज्जटायुररुणात्मजः । गृध्रराजो महावीरः सम्पातिर्यस्य सोदरः ॥१॥स ददर्श तदा सीतां रावणाङ्कगतां स्नुषाम् । सक्रोधोऽभ्यद्रवत् पक्षी रावणं राक्षसेश्वरम् ॥२॥ अथैनमब्रवीद् गृध्रो मुञ्च मुञ्च त्वमैथिलीम् । ध्रि-

---

जिसके होठ फड़क रहे थे ऐसी सीता, रावणसे ऐसा कहकर उसके भयसे छूटनेके लिये वारंवार अपनी दोनो भुजाओंको वार २ इधर उधरको घुमातीहुई फिर आश्रममें घुसनेलगी ॥४१॥ यह देखकर रावण उस सुन्दर नितम्बवाली सीताके पीछे दौड़ा और उसने रूखे स्वरसे सीताका तिरस्कार करके भीतर जानेसे रोकलिया, उस समय सीता मूर्छित होगयी ॥ ४२ ॥ और हा राम ! हा राम ! ऐसा पुकार कर रोनेलगी,तब तो रावण उस तपस्विनीकी चोटी पकड़कर आकाशमार्गसे उसको हरकर लेचला यह वृत्तान्त पहाड़ पर रहनेवाले जटायु नामके गिद्ध पक्षीने देखा ॥ ४३ ॥ दो सौ अठहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७८ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि-हे राजन् ! युधिष्ठिर ! अरुणका पुत्र गृध्रराज जटायु बड़ा वीर था और उसके भाईका नाम सम्पाती था, यह जटायु दशरथका मित्र लगता था ॥ १ ॥ वह जटायु, रावणकी गोदीमें मित्रके पुत्रकी स्त्री सती सीताको विलाप करती हुइ देखकर बड़े ही क्रोधमें भरगया और राक्षस रावणके पीछे दौड़कर उससे कहनेलगा, कि-अरे हमारी मैथिली

यमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर ॥ ३॥ न हि मे मोक्ष्यसे जीवन् यदि नोत्स्रक्ष्यसे वधूम् । उक्त्वैवं राक्षसेन्द्रं तं चकर्त नखरैर्भृशम् ४ पक्षतुण्डप्रहारैश्च शतशो जर्जरीकृतम् । चक्षार रुधिरं भूरि गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ५ ॥ स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रियहितैषिणा । खड्गमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्रिणः ६ निहत्य गृध्रराजं स भिन्नाभ्रशिखरोपमम् । ऊर्ध्वमाचक्रमे सीतां गृहीत्वांकेन राक्षसः ॥७ ॥ यत्र यत्र तु वैदेही पश्यत्याश्रममण्डलम् । सरो वा सरितो वापि तत्र मुञ्चति भूषणम् ॥८॥ सा ददर्श गिरिप्रस्थे पञ्च वानरपुङ्गवान् । तत्र वासो महद्दिव्यमुत्ससर्ज्ज मनस्विनी॥ ६॥ तत्तेषां वानरेन्द्राणां पपात पवनोद्धुतम् । मध्ये सुपीतं पञ्चानां

को छोड छोड, अरे निशाचर ! मेरे जीतेहुए तू इसको कैसे लेजासकता है ? ॥ २ ॥ ३ ॥ यदि तू सीता वहूको नहीं छोड़ेगा तो मेरे हाथसे जीता छूटकर नहीं जायगा, राक्षसराजसे ऐसा कहकर जटायुने उसके शरीरको नखोंसे बहुत ही खसोटडाला ॥ ४ ॥ और पंखोंके तथा चोंचके सैंकड़ों प्रहार करके उसके शरीरको ढीला करदिया, इसकारण जैसे पहाड़परसे झरने बहते हैं तैसे ही रावणके देहमेंसे रुधिरके पतनाले वहनेलगे॥५॥रामका प्यारा और हित चाहनेवाला गृध्र पक्षी जब रावणके ऊपर प्रहार करने लगा तब राक्षस रावणने तलवार लेकर उसके दोनों पंख काटडाले ॥ ६ ॥ और टूटकर गिरेहुए मेघके शिखरकी समान उस गृध्रराजको मारडाला तथा फिर सीताको गोदीमें लेकर आकाश मार्गसे उड़गया ॥ ७ ॥ सीता मार्गमें जहां २ आश्रम, सरोवर या नदियोंको देखती थी, तहाँ २ अपने अङ्गपरके आभूषणोंको उतारकर फेंकदेती थी ॥ ८ ॥ मार्गमें जातीहुई मनस्विनी सीताने एक पहाड़ पर बड़े २ पांच वानरोंको बैठेहुए देखा, कि–उसने उसी समय अपना एक उत्तम वस्त्र शरीरपरसे उतारकर तहां भी डाल दिया ॥ ६ ॥ वह पीले रङ्गका वस्त्र पवनसे उडता २ जैसे पांच

विद्युन्मेघान्तरे यथा ॥ १० ॥ अचिरेणातिचक्राम खेचरः खेचर-न्निव । ददर्शाथ पुरीं रम्यां बहुद्वारां मनोरमाम् ॥ ११ ॥ प्राका-रवप्रसम्बाधां निर्मितां विश्वकर्मणा । प्रविवेश पुरीं लङ्कां ससीतो राक्षसेश्वरः ॥ १२ ॥ एवं हृतायां वैदेह्यां रामो हत्वा महामृगम् । निवृत्तो ददृशे धीमान् भ्रातरं लक्ष्मणन्तथा ॥१३॥ कथमुत्सृज्य वैदेहीं वने राक्षससेविते । इति तं भ्रातरं दृष्ट्वा प्राप्तोऽसीति व्यगर्हयत् ॥१४॥ मृगरूपधरेणाथ रक्षसा सोऽपकर्षणम् । भ्रातुरागमनञ्चैव चिन्तयन् पर्यतप्यत ॥ १५ ॥ गर्हयन्नेव रामस्तु त्वरितस्तं समासदत् । अपि जीवति वैदेही नेति पश्यामि लक्ष्मण ॥ १६ ॥ तस्य तत् सर्वमाचख्यौ सीताया लक्ष्मणो वचः । यदुक्तवत्यसदृशं

मेघोंके मध्यमें बिजली गिरै, तैसे बड़े२ पांच वानरोंके बीचमें जाकर गिरगया ॥ १० ॥ हे राजन् ! सीताको हरकर पक्षीकी समान आकाशमार्गसे जाताहुआ राक्षसराज रावण, थोड़ी ही देरमें सब मार्गको तय करके बहुतसे द्वारोंवाली मनोहर, भीतर पत्थरोंके और बाहर काठके किले होनेसे जिसके भीतर कोई भी नहीं घुस सकता था ऐसी विश्वकर्माकी बनायीहुई लंकापुरीके पास आप-हुंचा और सीताको साथमें लियेहुए लंकापुरीके भीतर चलागया ॥ ११ ॥ १२ ॥ इसप्रकार रावणके सीताको हरकर लेजाने पर बुद्धिमान् राम मायावी मृगको मारकर आश्रमकी ओरको लौटरहे थे, इतनेमें ही उन्होंने लक्ष्मणको सामनेसे आतेहुए देखा ॥१३॥ तबतो राम उनको ललकारतेहुए लक्ष्मणसे कहनेलगे, कि- तू राक्षसोंके बसोवासवाले वनमें वैदेहीको अकेली छोडकर क्यों चलाआया ? ॥ १४ ॥ फिर मायावी मृगरूप राक्षस मुझे दूरको खेंचकर लेआया तथा भाई लक्ष्मण भी सीताको छोडकर चला आया, यह विचार कर राम बड़े दुःखी हुए ॥१५॥ और लक्ष्मण की निन्दा करतेहुए शीघ्र २ उनके पास आकर बूझनेलगे, कि- अरे लक्ष्मण ! सीता जीती तो है? मुझे तो ऐसा दीखता है, कि वह जीवित नहीं है॥१६॥उस समय लक्ष्मणने सीताके कहेहुए सब

वैदेही पश्चिमं वचः ॥ १७ ॥ दह्यमानेन तु हृदा रामोऽभ्यपतदाश्रमम् स ददर्श तदा गृध्रं निहतं पर्वतोपमम् ॥ १८ ॥ राक्षसं शंकमानस्तं विकृष्य बलवद्धनुः । अभ्यधावत काकुत्स्थस्ततस्तं सहलक्ष्मणः ॥ १९ ॥ स तावुवाच तेजस्वी सहितौ रामलक्ष्मणौ । गृध्रराजोऽस्मि भद्रं वां सखा दशरथस्य वै ॥ २० ॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संगृह्य धनुषी शुभे । कोऽयं पितरमस्माकं नाम्ना हेत्यूचतुश्च तौ ॥ २१ ॥ ततो ददृशतुस्तौ तं छिन्नपक्षद्वयं खगम् । तयोः शशंस गृध्रस्तु सीतार्थे रावणाद्वधम् ॥ २२ ॥ अपृच्छद्राघवो गृध्रं रावणः कान्दिशं गतः । तस्य गृध्रः शिरः कम्पैराचचक्षे ममार च ॥ २३॥ दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वास्य तदिंगितम् । सत्कारं

वचन तथा अन्तमें जो अनुचित बात कही थी वह भी रामसे कही ॥१७॥रामचन्द्र उन सब बातोंको सुनकर मनमें दुःखित होते २ आश्रमकी ओरको दौड़े और देखते हैं तो पहाडकी समान विशाल शरीरवाला पंखरहित एक गिज्जपक्षी अधमराहुआ तहां पडा है ॥ १८ ॥ तदनन्तर ककुत्स्थवंशी राम और लक्ष्मण उस पक्षीको राक्षस मान जोरसे धनुप खेंचकर उसके ऊपरको दौड़े ॥ १९ ॥ तब उस तेजस्वी गृध्रने राम और लक्ष्मणसे कहा, कि–तुम दोनों का कल्याण हो, मैं गृध्र पक्षियोंका राजा हूं, और राजा दशरथसे मेरी मित्रता थी इसमें संदेह न करो ॥ २० ॥ गृध्रकी इस बातको सुनकर दोनों भाइयोंने अपने धनुषोंका रोदा उतारलिया और बोले, कि—हमारे पिताका नाम लेनेवाला यह कौन है ? ॥ २१ ॥ तदनन्तर दोनों भाइयोंने पास आकर देखा तो दोनों पंख कटाहुआ एक पक्षी पड़ा है, उन दोनोंसे गृध्रने कहा, कि मैंने सीताको छुटानेके लिये रावणसे युद्ध किया था वह रावण मेरे पंख काटगया है ॥ २२ ॥ फिर रामने उस गृध्रसे बूझा, कि–रावण किधरको गया है ? तब पक्षीने शिर घुमाकर रावण के जानेकी दिशा बतादी और शरीरको त्यागदिया ॥ २३ ॥

लम्भयामास सखायं पूजयन् पितुः ॥ २४ ॥ ततो दृष्ट्वाश्रमपदं व्यपविद्ध वृसीमठम्। विध्वस्तकलशं शून्यं गोमायुशतसंकुलम्।२५। दुःखशोकसमाविष्टौ वैदेहीहरणार्दितौ। जग्मतुर्दण्डकारण्यं दक्षिणेन परन्तपौ २६ वने महति तस्मिंस्तु रामः सौमित्रिणा सह। ददर्श मृगयूथानि द्रवमाणानि सर्वशः २७ शब्दञ्च घोरं सत्वानां दावाग्नेरिव वर्धतः। अपश्यतां मुहूर्त्ताच्च कवन्धं घोरदर्शनम्।२८। मेघपर्वतसंकाशं शालस्कन्धं महाभुजम्। उरोगतविशालाक्षं महोदरमहामुखम् ॥ २९ ॥ यदृच्छयाथ तद्रक्षः करे जग्राह लक्ष्मणम्। विषादमगमत् सद्यः सौमित्रिरथ भारत ३० सो राममभिसंप्रेक्ष्य

फिर ककुत्स्थवंशी रामने उसके इशारेको समझकर जाना कि-दक्षिणदिशाको लेगया है, फिर उन्होंने अपने पिताके मित्र गध्र-पक्षीकी पूजा करके भलेप्रकारसे उसका दाहकर्म करदिया २४ तदनन्तर आश्रममें जाकर देखा तो तहां कुशाके आसन आदि फटेहुए पड़े थे, विद्यार्थियोंके पढ़नेकी झोंपड़ियें उथलपुथल पड़ी थीं, घड़े आदि फूटे पड़े थे और मढ़ीके भीतरकी सब वस्तुएं जिधर तिधरको बिखरी पड़ी थीं तथा उस सूने आश्रममें सैंकड़ों गीदड़ इधर उधर घूमरहे थे ॥ २५ ॥ फिर वैदेहीके हरणसे पीड़ा पाते और दुःख तथा शोकमें डूबेहुए शत्रुतापी दोनों भाई दण्डक वनकी दक्षिणदिशाकी ओरको चलदिये ॥ २६ ॥ उस बड़े भारी वनमें राम तथा लक्ष्मणने चारों ओर मृगोंको भागतेहुए देखा और दावानल सुलगकर बढरहा हो इसप्रकार प्राणियोंका महाभयानक शब्द उनके सुननेमें आया और जरा ही देर पीछे भयानक दीखनेवाले एक कवन्धनामक राक्षसको उन्होने देखा ॥२७॥२८॥ उसका रङ्ग श्याम और आकार मेघ वा पहाड़की समान था कन्ध शालके वृक्षकी समान थे, भुजा लम्बी थीं, वक्षःस्थलमें विशाल नेत्र था, पेट तथा मुख बडा मोटा था ॥ २९ ॥ उस विकराल राक्षसने अचानक आकर लक्ष्मणका हाथ पकड़लिया, हे भारत! तब सुमित्रानन्दन लक्ष्मण तत्काल दुःख माननेलगे ॥ ३० ॥ फिर

कृष्यते येन तन्मुखम् । विषण्णश्चाब्रवीद्रामं पश्यावस्थामिमां मम ३१ हरणञ्चैव वैदेह्या मम चायमुपप्लवः । राज्यभ्रंशश्च भवतस्तातस्य मरणन्तथा॥३२॥नाहं त्वां सह वैदेह्या समेतं कोसलागतम् । द्रक्ष्यामि पृथिवीराज्ये पितृपैतामहे स्थितम् ॥३३॥द्रक्ष्यन्त्यार्य्यस्य धन्या ये कुशलाजशमीजलैः । अभिषिक्तस्य वदनं सोमं शान्तघनं यथा ॥ ३४ ॥ एवं बहुविधं धीमान् विललाप स लक्ष्मणः । तमुवाचाथ काकुत्स्थः सम्भ्रमेष्वप्यसम्भ्रमः ३५ मा विषीद नरव्याघ्र नैष कश्चिन्मयि स्थिते । छिन्ध्यस्य दक्षिणं बाहुं छिन्नः सव्यो मया भुजः ३६इत्येवं वदता तस्य भुजो रामेण पातितः । खङ्गे-

---

वह राक्षस रामकी ओरको दृष्टि करके लक्ष्मणका हाथ पकड़ उनको अपने मुखकी ओरको खेंचनेलगा, उस समय लक्ष्मणने घवडाकर रामसे कहा, कि–हे राम ! मेरी इस दशाकी ओर देखो ३१ तुम राज्यभ्रष्ट हुए, पिता-परलोकको सिधारे, सीता हरीगई और मैं इस सङ्कटमें आपडा हूं॥३२॥शोक है, कि-अब मैं आपको कोशल देशमें पिता पितामहादिसे प्राप्तहुए राजसिंहासन पर सीतासहित विराजेहुए नहीं देखसकूंगा ॥३३॥ जब दर्भ, खीलें शमीपत्र और पवित्र जलसे अयोध्याके राजसिहान पर आपका अभिषेक किया जायगा उस समय जो पुरुष आप आर्यका मेघमण्डलसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी समान सुन्दर मुख देखेंगे, वास्तवमें वे ही धन्य हैं॥३४॥ बुद्धिमान् लक्ष्मण इसप्रकार वडाभारी विलाप करनेलगे, परन्तु ऐसे घवराहटके समयमें भी राम नहीं घवडाये और वह लक्ष्मण को धीरज देतेहुए कहनेलगे, कि–॥ ३५ ॥ हे नरव्याघ्र ! तू शोक न कर, जवतक मैं जीवित हूं तवतक राक्षस किसी गिनतीमें नहीं है, तू उत्साह करके राक्षसके दाहिने हाथको काटडाल और मैं इसके वायें हाथको काटडालता हूं ॥ ३६ ॥ ऐसा कहकर रामने अति तीक्ष्ण धारवाली तलवारके झटकेसे जैसे तिलके पौन्नेको

न भृशतीक्ष्णेन निकृत्तस्तिलकाण्डवत् ३७ ततोऽस्य दक्षिणं बाहुं खड्गेनाजघ्निवान् बली। सौमित्रिरपि संप्रेक्ष्य भ्रातरं राघवं स्थितम् पुनर्जघान पार्श्वे वै तद्रक्षो लक्ष्मणो भृशम् । गतासुरपतद्भूमौ कबन्धः सुमहांस्ततः ॥ ३९ ॥ तस्य देहाद्विनिःसृत्य पुरुषो दिव्यदर्शनः। ददृशे दिवमास्थाय दिवि सूर्य इव ज्वलन् ४० पप्रच्छ रामस्तं वाग्मी कस्त्वं प्रब्रूहि पृच्छतः। कामया किमिदञ्चित्रमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ॥४१॥ तस्याचचक्षे गन्धर्वो विश्वावसुरहं नृप । प्राप्तो ब्राह्मणशापेन योनिं राक्षससेविताम् ॥ ४२ ॥ रावणेन हता सीता राज्ञा लङ्काधिवासिना । सुग्रीवमभिगच्छस्व स ते सख्यं करिष्यति ।४३। एषा पम्पा शिवजला हंसकारण्डवायुता । ऋष्यमूकस्य शैलस्य

काटते हैं तैसे ही उसके हाथको काटकर भूमिपर गिरादिया ।३७। और सुमित्रानन्दन बली लक्ष्मणने भी सामने खड़ेहुए रामको देखकर खड्गसे राक्षसका दाहिना हाथ काटडाला ॥ ३८ ॥ और फिर राक्षसके करवट पर भी तलवारका एक जोरका झटका मारा, तिससे वह महाकबन्ध प्राणरहित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥ और उसी समय उसके शरीरमेंसे एक दिव्यरूप धारी पुरुष बाहर निकल आकाशमें जाकर खड़ा होगया और सूर्यकी समान दमदमाने लगा ॥ ४० ॥ यह देखकर मधुर बोलने वाले रामने उस पुरुषसे बूझा, कि-बता तू कौन है ? मुझे जानने इच्छा हुई है, अतः बूझता हूं, यह क्या विचित्र बात हुई, मुझे अचरजसा लगरहा है ॥ ४१ ॥ उस दिव्य पुरुषने रामसे कहा, कि-हे राजन् ! मैं विश्वावसु नामवाला गन्धर्व हूं, मैं ब्राह्मणके शापसे राक्षसोंकी सेवाकीहुई योनिमें उत्पन्न होगया था सो आज मेरी आपके हाथसे मुक्तिहुई है ॥ ४२ ॥ अब सीताका समाचार बताता हूं सुनो-लङ्कापुरीमें रहनेवाला राजा रावण सीताको हरकर लेगया है, अब तुम सुग्रीवके पास जाओ, वह तुम्हारी सहायता करेगा ॥ ४३ ॥ यह ऋष्यमूक पहाड़के पास हंस और

सन्निकर्षे तटाकिनी ॥ ४४ ॥ वसते तत्र सुग्रीवश्चतुर्भिः सचिवैः सह । भ्राता वानरराजस्य वालिनो हेममालिनः ॥ ४५ ॥ तेन त्वं सह सङ्गम्य दुःखमूलं निवेदय । समानशीलो भवतः साहाय्यं स करिष्यति ॥ ४६ ॥ एतावच्छक्यमस्माभिर्वक्तुं द्रष्टासि जानकीम् । ध्रुवं वानरराजस्य विदितो रावणालयः ॥ ४७ ॥ इत्युक्त्वान्तर्हितो दिव्यः पुरुषः स महाप्रभः । विस्मयं जग्मतुश्चोभौ प्रवीरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४८ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कवंधहनन ऊनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ ततोऽविदूरे नलनीं प्रभूतकमलोत्पलाम् । सीताहरणदुःखार्त्तः पम्पां रामः समासदत् ॥ १ ॥ मारुतेन सुशीतेन सुखेनामृतगन्धिना । सेव्यमानो वने तस्मिन् जगाम मनसा

कारण्डवोंसे शोभायमान, पवित्र, जलसे भराहुआ एक पम्पा नाम का सरोवर है ॥४४॥ उसके पास ही वानरोंका राजा सुग्रीव चार मंत्रियोंके साथ रहता है, यह सुवर्णमालाधारी सुग्रीव वालीनामके वानरका भाई लगता है॥४५॥इसके ऊपर भी आपकेसा ही दुःख पड़ा है, इसलिये तुम उससे मिलकर अपना दुःख उसके सामने कहो तो वह तुम्हारी सहायता करेगा ॥ ४६ ॥ मैं तुमसे इतना ही कहसकता हूं, कि-तुम जानकीके मुखका दर्शन करोगे, क्योंकि वानरराज सुग्रीवको रावणकी लङ्कापुरीका और उसके महावल का वृत्तान्त मालूम है ॥ ४७ ॥ रामसे इसप्रकार कहकर वह महा-कान्तिवाला दिव्य पुरुष अन्तर्धान होगया और राम तथा लक्ष्मण गन्धर्वकी इस बातको सुनकर वडे अचरजमें होगये ॥ ४८ ॥ दो सौ उन्नासीवां अध्याय समाप्त ॥ २७९ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि-फिर सीता हरीजानेके दुःखसे व्याकुल हुए राम थोड़ी ही दूरपर अनेकों कमलों और कुमुदोंवाले पंपासर पर आगये ॥ १ ॥ उस वनमें शीतल सुखदायक और

प्रियाम् ॥ २॥ विललाप स राजेन्द्रस्तत्र कान्तामनुस्मरन् । कामबाणाभिसन्तप्तः सौमित्रिस्तमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥ न त्वामेवं विधो भावः स्प्रष्टुमर्हति मानद । आत्मवन्तमिव व्याधिः पुरुषं वृद्धशीलिनम् ॥ ४ ॥ प्रवृत्तिरुपलब्धा ते वैदेह्या रावणस्य च । तां त्वं पुरुषकारेण बुद्ध्या चैवोपपादय ॥ ५ ॥ अभिगच्छाव सुग्रीवं शैलस्थं हरिपुंगवम् । मयि शिष्ये च भृत्ये च सहाये च समाश्वस ॥ ६ ॥ एवं बहुविधैर्वाक्यैर्लक्ष्मणेन स राघवः । उक्तः प्रकृतिमापेदे कार्ये चानन्तरोऽभवत् ॥ ७ ॥ निषेव्य वारि पम्पायास्तर्पयित्वा पितॄनपि । प्रतस्थतुरुभौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ८ ॥ तावृष्यमूकमभ्येत्य बहुमूलफलद्रुमम् । गिर्यग्रे वानरान् पञ्च वीरौ ददृशतु-

---

अमृतकीसी मधुर सुगन्धवाले पवनका अनुभव लेतेहुए रामके मनमें परमप्रिया सीताका स्मरण आनेलगा ॥ २ ॥ और प्यारी सीताकी याद आते ही राजेन्द्र राम कामसे सन्ताप पाकर विलाप करनेलगे, उस समय सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उनसे कहा कि- हे मान देनेवाले! वृद्धोंकी सेवा करनेवाले आत्मज्ञानी पुरुषोंको जैसे रोग नहीं छूसकता है तैसे ही ऐसे दीनभावका प्रभाव आपके मन पर नहीं होना चाहिये ॥ ४ ॥ आपको सीताका तथा रावणका समाचार मिला है तो अब तुम पुरुषार्थसे तथा बुद्धिके बलसे सीताको फिर प्राप्त करो ॥ ५ ॥ चलिये हम दोनोंजने पवत पर रहनेवाले वानरराज सुग्रीवसे मिलें, मुझ सेवक और शिष्यके सहायक होतेहुए आप धीरज रखिये ॥ ६ ॥ ऐसी बहुतसी वातें कहकर लक्ष्मणने रामको समझाया, तब रामको धीरज आया और वह काम करने को उद्यतहुए ॥ ७ ॥ फिर राम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंने पंपा सरमें स्नान करके तर्पण आदिसे अपने पितरोंको तृप्त किया और फिर बहुतसे फल कन्द आदि देनेवाले वृक्षोंसे शोभायमान ऋष्यमूक पर्वत पर गये, तब उन्होंने उस पर्वत पर पांच शूर वानरोंको

स्तदा ॥ ९ ॥ सुग्रीवः प्रेषयामास सचिवं वानरं तयोः । बुद्धिमन्तं हनूमन्तं हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ १० ॥ तेन सम्भाष्य पूर्वन्तौ सुग्रीवमभिजग्मतुः । सख्यं वानरराजेन चक्रे रामस्तदा नृप ॥ ११ ॥ तद्वासो दर्शयामासुस्तस्य कार्ये निवेदिते । वानराणां तु यत् सीता ह्रियमाणा व्यपासृजत् ॥ १२ ॥ तत्प्रत्ययकरं लब्ध्वा सुग्रीवं प्लवगाधिपम् । पृथिव्यां वानरैश्वर्ये स्वयं रामोऽभ्यषेचयत् ॥ १३ ॥ प्रतिजज्ञे च काकुत्स्थः समरे वालिनो वधम् । सुग्रीवश्चापि वैदेह्याः पुनरानयनं नृप ॥ १४ ॥ इत्युक्त्वा समयं कृत्वा विश्वास्य च परस्परम् । अभ्येत्य सर्वे किष्किन्धां तस्थुर्युद्धाभिकांक्षिणः ॥ १५ ॥ सुग्रीवः प्राप्य किष्किंधां ननादौघनिभस्वनः । नास्य तं ममृषे वाली

बैठेहुए देखा ॥ ८ ॥ ९ ॥ वानरराज सुग्रीवने दूरसे हीं राम और लक्ष्मणको देखकर हिमाचलकी समान विशाल कायावाले हनुमान् नामक वानर मंत्रीको उनके पास भेजा ॥ १० ॥ हे राजन् ! राम और लक्ष्मणने पहिले हनुमान्के साथ बातचीत करी और फिर वे दोनोंजने सुग्रीवके पास आये तथा उसी समय रामने वानरराजके साथ मित्रता करली ॥ ११ ॥ और अपना काम उस वानरराजको बताया, वे सब बातें सुनकर सुग्रीवने, सीताने जो हरीजाते समय वानरोंके बीचमें एक पीले रङ्गका दिव्य वस्त्र डालदिया था वह रामको दिखाया ॥ १२ ॥ रामने उस वस्त्रको देखकर मनमें निश्चय किया, कि—यह वस्त्र मेरी प्रियाका हीं है, फिर उन्होंने वानरराज सुग्रीवका, पृथ्वीभरके सब वानरोंके राज्यासन पर अभिषेक किया ॥ १३ ॥ और रामने प्रतिज्ञा करी कि—मैं युद्धमें बालीका वध करूंगा और हे राजन् ! सुग्रीवने प्रतिज्ञा करी, कि—मैं सीताको ढूंढकर लाऊँगा ॥ १४ ॥ ऐसा कह कर, प्रतिज्ञा करके और परस्पर विश्वास दिलाकर सबजने युद्ध की इच्छासे किष्किन्धा पर पहुंचकर डटगये ॥ १५ ॥ सुग्रीवने किष्किन्धा नगरीके पास पहुंचते क्षणःहीं जलके प्रवाहकी समान

तारा तं प्रत्यषेधयत् ॥ १६ ॥ यथा नदति सुग्रीवो बलवानेष वानरः । मन्ये चाश्रयवान् प्राप्तो न त्वं निष्क्रान्तुमर्हसि ॥१७॥ हेममाली ततो वाली तारां ताराधिपाननाम् । प्रोवाच वचनं वाग्मी तां वानरपतिः पतिः ॥ १८ ॥ सर्वभूतरुतज्ञा त्वं पश्य बुद्ध्या समन्विता । केन चाश्रयवान् प्राप्तो ममैष भ्रातृगन्धिकः ॥ १९ ॥ चिन्तयित्वा मुहूर्त्तन्तु तारा ताराधिपप्रभा । पतिमित्यब्रवीत् प्राज्ञा शृणु सर्वं कपीश्वर ॥ २० ॥ हृतदारो महासत्त्वो रामो दशरथात्मजः । तुल्यारिमित्रतां प्राप्तः सुग्रीवेण धनुर्धरः ॥ २१ ॥ भ्राता चास्य महाबाहुः सौमित्रिरपराजितः । लक्ष्मणो नाम मेधावी

वहीं भारी गर्जना की, उसको वाली नहीं सहसका और सुग्रीवके साथ लडनेको उद्यत होगया, उस समय तारा नामवाली उसकी स्त्रीने उसको बाहर निकलनेसे रोका ॥ १६ ॥ और कहा, कि-यह बलवान् सुग्रीव महागर्जना कररहा है, इससे प्रतीत होता है, कि-यह दूसरेका आश्रय लेकर यहां लड़नेको आयाहै, अतः तुम नगरीके बाहर निकलते हो, यह ठीक नहीं करते हो ॥ १७ ॥ यह सुनकर सोनेकी माला धारण करनेवाले वाचाल वानरराज वालीने चन्द्रवदनी तारासे कहा, कि-॥ १८ ॥ तू सब प्राणियों के स्वरसे उनको पहिचानलेती है ऐसी बुद्धिमती है, इसलिये तू इनके स्वरको सुनकर बुद्धिसे पहिचान; कि-मेरा छोटा भाई (शत्रु) सुग्रीव किसकी सहायता लेकर यहां आया है ॥ १९ ॥ फिर चन्द्रमाकी समान गौर कांतिवाली बुद्धिमती ताराने कुछ देर विचार कर पतिसे कहा, कि-हे कपिराज ! मैं तुमसे बाहरसे आयेहुए स्वरके अनुसार उनके नाम कहती हूं, वह तुम सुनो २० रावणने राजा दशरथके पुत्र महाबली रामकी स्त्री सीताको हर-लिया है इसलिये धनुषधारी रामने सुग्रीवके साथ मित्रता की है और दोनोंने आपसमें नियम करलिया है, कि-हम दोनोंके मित्रोंको मित्र और शत्रुओंको शत्रु गिनना ॥ २१ ॥ दूसरा रामका भाई सुमित्राका

स्थितः कार्य्यार्थसिद्धये ॥२२॥ मैन्दश्च द्विविदश्चापि हनूमांश्चानिलात्मजः । जाम्बवानृक्षराजश्च सुग्रीवसचिवाः स्थिताः॥२३॥ सर्व एते महात्मानो बुद्धिमन्तो महाबलाः । अलन्तव विनाशाय रामवीर्यबलाश्रयात् ॥ २४ ॥ तस्यास्तदाक्षिण्य वचो हितमुक्तं कपीश्वरः । पर्यशङ्कत तामीर्षुः सुग्रीवगतमानसाम् ॥ २५ ॥ तारां परुषमुक्त्वा तु निर्जगाम गुहामुखात् । स्थितं माल्यवतोऽभ्याशे सुग्रीवं सोऽभ्यभाषत ।२६। असकृत्त्वं मया पूर्वं निर्जितो जीवितप्रियः। मुक्तो ज्ञातिरिति ज्ञात्वा का त्वरा मरणे पुनः ॥२७॥ इत्युक्तः प्राह सुग्रीवो भ्रातरं हेतुमद्वचः । प्राप्तकालममित्रघ्नो रामं सम्बोधयन्निव ॥२८॥ हृतराज्यस्य मे राजन् हृतदारस्य च त्वया ।

पुत्र महाबाहु लक्ष्मण है. उसको भी कोई नहीं जीतसकता और वह काम सिद्ध करनेको तत्पर होरहा है ॥ २२ ॥ इसके सिवाय सुग्रीवके मंत्री मैंद. द्विविद, वायुपुत्र हनुमान् तथा रीछोंका राजा जम्बवान् ये सब युद्ध करनेको तयार खडे हैं ॥ २३ ॥ ये सब महाबली बुद्धिमान् और महात्मा हैं, तथा रामके पराक्रमका आश्रय लेनेके कारण तुम्हारा नाश करसकते हैं ॥ २४ ॥ इसप्रकार ताराने हितकारी वचन कहे, परन्तु कपिराजने उसकी बातका अनादर किया और ईर्षा करनेवाले उस बालीने 'मेरी स्त्रीका मन सुग्रीवके ऊपर आसक्त है. ऐसा मानकर ॥ २५ ॥ ताराको कठोर वचन कहे और फिर वह किष्किन्धापुरीकी गुफाके द्वारमेंसे बाहर निकला और माल्यवान् पर्वतके समीप खडे हुए सुग्रीवके पास आकर उससे कहा कि—॥२६॥अरे सुग्रीव! मैंने पहिले तुझे अनेकों वार हराकर, जिसको प्राण प्यारे हैं ऐसे तुझको भाई जानकर जीताजाने दिया है, फिर भी तू मरनेके लिये इतनी बडीभारी शीघ्रता क्यों करता है ? ॥ २७ ॥ बालीकी इस बातको सुनकर शत्रुका नाश करनेवाला सुग्रीव, रामको सुनाता हुआसा अपने भाईसे समयानुसार हेतुभरे वचन कहनेलगा, कि-॥ २८ ॥

किं मे जीवितसामर्थ्यमिति विद्धि समागतम् ॥ २९ ॥ एवमुक्त्वा बहुविधं ततस्तौ सन्निपेततुः । समरे वालिसुग्रीवौ शालतालशिलायुधौ ॥ ३० ॥ उभौ जघ्नतुरन्योऽन्यमुभौ भूमौ निपेततुः । उभौ ववल्गतुश्चित्रं मुष्टिभिश्च निजघ्नतुः ॥ ३१ ॥ उभौ रुधिरसंसिक्तौ नखदन्तपरिक्षतौ । शुशुभाते तदा वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३२ न विशेषस्तयोर्युद्धे यदा कश्चन दृश्यते। सुग्रीवस्य तदा मालां हनूमान् कण्ठ आसजत् ॥ ३३ ॥ स मालया तदा वीरः शुशुभे कण्ठसक्तया । श्रीमानिव महाशैलो मलयो मेघमालया ॥ ३४ ॥ कृतचिह्नन्तु सुग्रीवं रामो दृष्ट्वा महाधनुः । विचकर्ष धनुःश्रेष्ठं वालिमुद्दिश्य लक्ष्यवत् ॥ ३५ ॥विस्फारस्तस्य धनुषो यन्त्रस्येव तदा बभौ

हे भाई ! तूने स्त्री और राज्यको छीन लिया है, इसलिये अब मुझमें जीवित रहनेकी सामर्थ्य ही क्या है ? तुझे मालूम हो कि–मैं इसलिये ही तेरे साथ युद्ध करनेको आया हूं ॥ २९ ॥ ऐसी बहुतसी बातें कहनेके अनन्तर वाली तथा सुग्रीव शस्त्रके स्थानमें ताल, शालके वृक्ष और शिलायें लेकर लड़ने लगे ॥ ३० ॥ दोनों एक दूसरेके ऊपर प्रहार करने लगे, दोनों भूमिपर गिरने लगे, दोनों विचित्र शब्द करने लगे और घूंसोंकी मार मारनेलगे ॥ ३१ ॥ और एक दूसरेके शरीरको दांतोंसे तथा नखोंसे तोड़ने लगे, उसमें से निकलती हुई रुधिरकी धारोंके कारण लोहूलुहान हुए शरीरवाले वे दोनों फूलेहुए ढाकके वृक्षसे मालूम होते थे ॥ ३२ ॥ इसप्रकार जब दोनोंमें युद्ध होने लगा, उस समय किसीको यह नहीं मालूम होता था, कि–इनमें वाली कौनसा है और सुग्रीव कौनसा है (क्योंकि–वे दोनों एकसी आकृतिके थे) इस कारण उस समय हनुमान् ने सुग्रीवके कण्ठमें एक फूलमाला पहिरादी ॥ ३३ ॥ उस समय जैसे मलयाचल मेघमालासे शोभा पाता है तैसे ही सुग्रीव कण्ठमें पहरी हुई मालासे शोभा पानेलगा ॥ ३४ ॥ रामने सुग्रीवके कण्ठमें माला देखकर बडाभारी धनुष निशानेकी समान वालिको ताककर खेंचा ॥ ३५ ॥ और ज्यों

वितत्रास तदा वाली शरेणाभिहतोरसि ॥ ३६ ॥ स भिन्नहृदयो वाली वक्त्राच्छोणितमुद्वहन् । ददर्शावस्थितं रामं ततः सौमित्रिणा सह ॥ ३७ ॥ गर्हयित्वा स काकुत्स्थं पपात भुवि मूर्च्छितः । तारा ददर्श तं भूमौ तारापतिसमौजसम् ॥ ३८ ॥ हते वालिनि सुग्रीवः किष्किन्धां प्रत्यपद्यत । ताञ्च तारापतिमुखीं तारां निपतितेश्वराम् ॥३९॥ रामस्तु चतुरो मासान् पृष्ठे माल्यवतः शुभे । निवासमकरोद्धीमान् सुग्रीवेणाभ्युपस्थितः ॥ ४० ॥ रावणोऽपि पुरीं गत्वा लङ्कां कामबलात् कृतः । सीतां निवेशयामास भवने नन्दनोपमे ॥४१॥ अशोकवनिकाभ्यासे तापसाश्रमसंन्निभे । भर्तृस्मरणत-

ही छोडा कि—यंत्रकी समान उसका वडाभारी टङ्कारशब्द हुआ और धनुषमेंसे छूटाहुआ वाण जाकर वालीकी छातीमें घुसगया, तब तो वाली भयके मारे सहमगया ॥३६॥और हृदय फूटजानेके कारण मुखमेंको लोहू ओकनेलगा तथा सामने खड़ेहुए राम लक्ष्मणको देखकर उनकी निन्दा करता २ मूर्छित होकर भूमिपर ढहपड़ा उस समय जो गुफाके द्वार पर खड़ी २ युद्ध देखरही थी, उस ताराने चन्द्रमाकी समान बलवान् वालीको मूर्छित होकर गिरते हुए देखा ॥ ३७–३८ ॥ वालीके मारेजाने पर सुग्रीवने जिसका पति मरगया ऐसी चन्द्रवदनी ताराको तथा किष्किन्धा नगरीको अपने अधिकारमें करलिया ॥ ३९ ॥ इसप्रकार सुग्रीवकी विजय कराकर राम माल्यवान् पर्वतके ऊपर रमणीय प्रदेशमें चार मास तक रहे और सुग्रीवने उनका अच्छे प्रकारसे सत्कार किया ४० कामके वशमें हुए रावणने लङ्कापुरीमें जाकर सीताको नन्दनवनकी समान एक सुन्दर भवनमें रक्खा ॥ ४१ ॥ वह भवन अशोकवाटिकाके समीपमें बना था और ऋषि मुनियोंके आश्रम की समान प्रतीत होता था, उपवास तथा तप करनेका जिसको अभ्यास था ऐसी विशाल नेत्रोंवाली सीता भी तपस्विनीका वेष धारण करके अपने पतिका स्मरण करने लगी, उसका शरीर

न्वङ्गी तापसीवेशधारिणी ॥ ४२ ॥ उपवासतपःशीला तत्रास पृथुलेक्षणा । उवास दुःखवसतिं फलमूलकृताशना ॥ ४३॥ दिदेश राक्षसीस्तत्र रक्षणे राक्षसाधिपः । प्रासासिशूलपरशुमुद्गरालातधारिणीः ४४ द्व्यक्षीं त्र्यक्षीं ललाटाक्षीं दीर्घजिह्वामजिह्विकाम् । त्रिस्तनीमेकपादाश्च त्रिजटामेकलोचनाम् ॥ ४५ ॥ एताश्चान्याश्च दीप्ताक्ष्यः करभोत्कटमूर्द्धजाः । परिवार्य्यासते सीतां दिवारात्रमतन्द्रिताः ॥ ४६ ॥ तास्तु तामायतापाङ्गीं पिशाच्यो दारुणस्वराः । तर्ज्जयन्ति सदा रौद्राः परुषव्यञ्जनस्वराः ४७ खादाम पाटयामैनां तिलशः प्रविभज्यताम् । येन भर्त्तारस्माकमवमन्येह जीवति ॥४८॥ इत्येवं परिभर्त्सन्तीस्त्रास्यमाना पुनः पुनः । भर्तृशोकसमाविष्टा

दुःखसे बहुत ही दुबला होगया और वह फल तथा कन्द खाकर दुःखमें दिन बितानेलगी ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ राक्षोंके राजा रावण ने सीताके पास प्रास, तलवार, त्रिशूल, फरसा, मुद्गर और बलतेहए उल्मुक धारण करनेवालीं राक्षसियोंको रक्षा करनेके लिये रखदिया ॥ ४४ ॥ उनमें कितनियोंके दो नेत्र कितनियोंके तीन नेत्र कितनियोंके ललाटमें नेत्र और कितनियोंके लम्बी जीभें थीं, कितनियोंके जीभ थी ही नहीं, कितनियोंके तीन स्तन और एक पैर था तथा कितनियोंके तीन जटा और एक ही नेत्र था कितनियोंके नेत्र फटेहुएसे होरहे थे, हाथियोंके बाल ऊटनी कैसे कड़े और खड़े थे, ये राक्षसियें रात दिन सावधानीके साथ सीताको चारों ओरसे घेरकर रखवाला करती थीं॥ ४५-४६॥ तीखे स्वरसे तीक्ष्णताको प्रकट करनेवाली, भयानक स्वर और विचारवालीं वे पिशाचिनियें नित्य ही विशालनयनी सीताका तिरस्कार करतीहुई कहती थीं, कि-॥४७॥ इस स्त्रीको शस्त्रसे काट तिल तिल भरके टुकड़े करके हम खाये जाती हैं, क्योंकि यह स्त्री हमारे स्वामीका अपमान करके अबतक जीरही है ४८ इसप्रकार वार २ तिरस्कार करके राक्षसियें सीताको डराती थीं

निःश्वस्येदमुवाच ताः ४६ आर्य्याः खादत मां शीघ्रं न मे लोभोऽस्ति जीविते। विना तं पुण्डरीकाक्षं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ॥५०॥ अप्येवाहं निराहारा जीवितप्रियवर्जिता। शोषयिष्यामि गात्राणि व्याली तालगता यथा॥५१॥ न त्वन्यमभिगच्छेयं पुमांसं राघवादृते। इति जानीत सत्यं मे क्रियतां यदनन्तरम्॥५२॥ तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा राक्षस्यस्ताः खरस्वनाः। आख्यातुं राक्षसेन्द्राय जग्मुस्तत् सर्वमादृताः॥५३॥ गतासु तासु सर्वासु त्रिजटा नाम राक्षसी। सान्त्वयामास वैदेहीं धर्मज्ञा प्रियवादिनी॥ ५४ ॥ सीते वक्ष्यामि ते किञ्चिद्विश्वासं कुरु मे सखि। भयं त्वं त्यज वामोरु शृणु चेदं

उस समय पतिके वियोगके कारण उत्पन्न हुए शोकसे खिन्न हुई सीता लम्बे२ श्वास लेकर राक्षसियोंसे कहती थी, कि-४६ हे श्रेष्ठ स्त्रियो! तुम झटपट मुझे खाजाओ क्योंकि—कमलकी समान नेत्रोंवाले, श्यामसुन्दर, घुघंराले केशोंसे शोभायमान राम के विना अब मुझे जीनेका लोभ नहीं है ॥ ५० ॥ कदाचित् तुम मेरे शरीरका नाश न करो किन्तु जीताही रक्खो तो भी, जैसे तालके वृक्षमें रहनेवाली नागिन भोजनके विना सूखकर मरजाती है, तैसे ही अपने प्राणरूप पतिके वियोगसे मैं भी निराहार रहकर अपने शरीरको सुखाडालूंगी ॥ ५१ ॥ परन्तु रामचन्द्रके सिवाय किसी दूसरे पुरुषकी सेवा नहीं करूंगी, तुम मेरी इस बात को सत्य जानना और अब जो कुछ करना हो सो करलो ॥५२॥ सीताके ऐसे वचन सुनकर महाभयानक शब्दवालीं वे सब राक्षसियें आदरके साथ सीताके वचन राक्षसराज रावणसे कहनेके लिये उसके पास गईं ॥ ५३ ॥ उन सब राक्षसियोंके चलेजाने पर सकल धर्ममें चतुर तथा प्रिय बोलनेवाली एक त्रिजटा नामकी राक्षसी सीताके पास बैठी रहगई थी वह, सीताको धीरज देतीहुई कहनेलगी, कि-॥ ५४ ॥ हे सखी सीता! तू मेरे ऊपर विश्वास रख और भयको त्यागदे, हे सुन्दर जंघाओंवाली! तू मेरा कहना

वचो मम ॥ ५५ ॥ अविन्ध्यो नाम मेधावी वृद्धो राक्षसपुङ्गवः । स रामस्य हितान्वेषी त्वदर्थे हि समावदत् ॥ ५६ ॥ सीता मद्वचनाद्वाच्या समाश्वास्य प्रसाद्य च । भर्त्ता ते कुशली रामो लक्ष्मणानुगतो वली ॥५७॥सख्यं वानरराजेन शक्रप्रतिमतेजसा । कृतवान् राघवः श्रीमांस्त्वदर्थे च समुद्यतः ॥ ५८ ॥ मा च तेऽस्तु भयं भीरु रावणाल्लोकगर्हितात् । नलकूवरशापेन रक्षिता ह्यसि नन्दिनि ॥ ५९ ॥ शप्तो ह्येष पुरा पापो वधूं रम्भां परामृशन् । न शक्नोत्यवशां नारीमुपैतुमजितेन्द्रियः ॥ ६० ॥ क्षिप्रमेष्यति ते भर्त्ता सुग्रीवेणाभिरक्षितः । सौमित्रिसहितो धीमांस्त्वाश्चेतो मोक्षयिष्यति ॥ ६१ ॥स्वप्ना हि सुमहाघोरा दृष्टा मेऽनिष्टदर्शनाः । विनाशाया-

---

सुन ॥ ५५ ॥ एक बूढ़ा, बुद्धिमान् रामका हितचिन्तक अविंध्य नाम का वड़ा राक्षस है उसने तेरे पास सन्देशा पहुंचानेके लिये मुझसे कहा है, कि–॥ ५६ ॥ तू सीताके पास जा, उसे धीरज देकर प्रसन्न कर और मेरे कहनेसे उसको समाचार दे कि–तेरे महाबली पति राम तथा बलवान् लक्ष्मण ये दोनोंजने कुशलमङ्गल हैं ॥ ५७ ॥ इस समय श्रीमान् रामने इन्द्रकी समान वली सकल, वानरोंके राजा सुग्रीवके साथ मित्रता की है और तुझे रावणके हाथमेंसे छुटानेके लिये वह उद्योग कररहे हैं ॥ ५८ ॥ इसलिये हे भीरु ! तू जगत्में निन्दाके पात्रहुए रावणसे भय न करना क्योंकि—हे नन्दिनि ! नलकूवरके शापसे तेरी रक्षा होती है ॥ ५९ ॥ पहिले रावणने नलकूवरकी स्त्री रम्भाको हाथ लगाया था, तब उसने पापी रावणको शाप दिया था, कि—अरे पापी ! इन्द्रियके वशमें हुआ तू निराधार परस्त्रीका स्पर्श नहीं करसकेगा अर्थात् परस्त्रीको छूते ही तू मरजायगा, इसकारण यह पापी परस्त्रीको नहीं छूसकता है ॥ ६० ॥ हे सीते ! सुग्रीवके रक्षा कियेहुए तेरे पति राम, थोड़े ही समयके भीतर लक्ष्मणसहित आपहुंचेंगे और इस दुःखमेंसे तेरा उद्धार करेंगे ॥ ६१ ॥ और हे सीता ! पुलस्त्य

स्य दुर्बुद्धेः पौलस्त्यकुलघातिनः ॥ ६२ ॥ दारुणो ह्येष दुष्टात्मा क्षुद्रकर्मा निशाचरः । स्वभावाच्छीलदोषेण सर्वेषां भयवर्धनः ६३ स्पर्धते सर्वदेवर्यः कालोपहतचेतनः । मया विनाशलिङ्गानि स्वप्ने दृष्टानि तस्य वै ॥ ६४ ॥ तैलाभिषिक्तो विकचो मज्जन् पङ्के दशाननः । असकृत् खरयुक्ते तु रथे नृत्यन्निव स्थितः ॥ ६५ ॥ कुंभकर्णादयश्चेमे नग्नाः पतितमूर्धजाः । गच्छन्ति दक्षिणामाशां रक्तमाल्यानुलेपनाः ॥ ६६ ॥ श्वेतातपत्रः सोष्णीषः शुक्लमाल्यानुलेपनः । श्वेतपर्वतमारूढ़ एक एव विभीषणः ॥ ६७ ॥ सचिवाश्चास्य चत्वारः शुक्लमाल्यानुलेपनाः । श्वेतपर्वतमारूढा

के कुलका संहार करनेवाले, दुष्टात्मा रावणके नाशकर्त्ता, भयानक और विपरीत परिणामवाले अनेकों स्वप्न मेरे देखनेमें आये हैं ॥६२॥ यह दुष्ट और दारुण राक्षस रावण नीच काम करता है और शील भङ्ग करनेका दोष तो इसकी रग २ में भराहुआ है, इसकारण सब ही इससे मनमें डरते रहते हैं ।६३॥ और कामवासनाके कारण इसकी बुद्धिका नाश होगया है, इससे यह देवताओंके साथ भी युद्ध किया करता है, परन्तु इसके नाश होनेके लक्षण मैंने स्वप्नमें स्पष्ट देखे हैं ॥ ६४ ॥ मैंने स्वप्नमें रावणको शिर मुँडाकर और शरीर पर तेल मलकर कीचमें डूबतेहुए तथा वारंवार गधे जुतीहुई गाड़ीमें खड़ा होकर नाचतेहुए देखा है ॥ ६५ ॥ कुम्भकर्ण आदिको भी शिर मुंडाकर कण्ठमें लाल फूलोंकी माला तथा शरीर पर लाल चन्दन चुपड़कर नङ्गी दशामें दक्षिण दिशा को ओरको जातेहुए मैंने स्वप्नमें देखा है ॥६६॥ अकेले विभीषण को ही श्वेतवस्त्र, श्वेत पगड़ी, सफेद फूलोंकी माला तथा सफेद चन्दनसे चर्चित और सफेद पहाड़ पर खड़ाहुआ मैंने स्वप्नमें देखा था ॥ ६७ ॥ और विभीषणके चार मंत्री भी सफेद फूलोंकी मालायें पहरकर तथा सफेद चन्दन देहीमें लगाकर सफेद पहाड़ पर खड़े हुए मेरे देखनेमें आये थे, वे ही आगेको आनेवाले महा-

मोच्यन्तेऽस्मान्महाभयात् ॥ ६८ ॥ रामस्यास्त्रेण पृथिवी परिक्षिप्ता ससागरा । यशसा पृथिवीं कृत्स्नां पूरयिष्यति ते पतिः ॥ ६९ ॥ अस्थिसञ्चयमारूढो भुञ्जानो मधुपायसम् । लक्ष्मणश्च मया दृष्टो दिधक्षुः सर्वतो दिशः ॥ ७० ॥ रुदती रुधिरार्द्राङ्गी व्याघ्रेण परिरक्षिता । असकृत्त्वं मया दृष्टा गच्छन्ती दिशमुत्तराम् ॥ ७१ ॥ हर्षमेष्यसि वैदेहि क्षिप्रं भर्त्रा समन्विता । राघवेण सह भ्रात्रा सीते त्वमचिरादिव ॥ ७२ ॥ इत्येतन्मृगशावाक्षी तच्छ्रुत्वा त्रिजटावचः । बभूवाशावती बाला पुनर्भर्तृसमागमे ॥ ७३ ॥ यावदभ्यगता रौद्राः पिशाच्यस्ताः सुदारुणाः । ददृशुस्तां त्रिजटया सहासीनां यथा पुरा ॥ ७४ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि त्रिजटाकृत-
सीतासान्त्वनेऽशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८०॥

भयमेंसे छूटेंगे ॥ ६८ ॥ और मैंने समुद्रसहित सब पृथ्वीको राम के अस्त्रोंसे छायीहुई देखा है, इससे मैं कहती हूं, कि—तेरे पति सब पृथिवी पर यश फैलावेंगे ॥ ६९ ॥ और मैंने सब दिशाओं को जलाडालनेकी इच्छावाले लक्ष्मणको स्वप्नमें एक हड्डियोंके ढेर के ऊपर बैठकर मद्य तथा दूध पीते देखा है, ॥ ७० ॥ और लोहूलुहान हुई तुझको एक बाघसे रक्षा पाती तथा रोते २ उत्तर दिशाकी ओरको भागतीहुई वारंवार स्वप्नमें देखा है ॥ ७१ ॥ इसलिये हे वैदेही सीता ! तू थोडे ही समयमें अपने पति रामचंद्र से और देवर लक्ष्मणसे मिलकर हर्ष पावेगी ॥ ७२ ॥ त्रिजटाकी इन बातोंको सुनकर मृगके बच्चेकेसे नेत्रोंवाली बाली सीताके मनमें फिर भी पतिसे मिलनेकी आशा बँधगई थी ॥ ७३ ॥ इस प्रकार उन दोनोंकी बातें पूरी होते ही रावणके पास गई हुई महादारुण और परमभयानक रूपवाली पिशाचनियें फिर अशोकवाटिकामें सीताके पास आगईं और उन्होंने पहिलेकी समान ही त्रिजटाके साथ बैठीहुई शोकसे व्याकुल सीताको देखा ॥ ७४ ॥ दो सौ अस्सीवां अध्याय समाप्त ॥ २८० ॥ छ ॥

मार्कण्डेय उवाच। ततस्तां भर्तृशोकार्त्तां दीनां मलिनवासलम्। मणिशेषाभ्यलङ्कारां रुदतीञ्च पतिव्रताम् ॥ १ ॥ राक्षसीभिरुपास्यन्तीं समासीनां शिलातले। रावणः कामवाणार्त्तो ददर्शोपससर्प च ॥ २ ॥ देवदानवगन्धर्वयक्षकिम्पुरुषैर्युधि। अजितोऽशोकवनिकां ययौ कन्दर्पपीडितः ॥ ३ ॥ दिव्याम्बरधरः श्रीमान् सुमृष्टमणिकुण्डलः। विचित्रमाल्यमुकुटो वसन्त इव मूर्त्तिमान् ॥ ४ ॥ न कल्पवृक्षसदृशो यत्नादपि विभूषितः। श्मशानचैत्यद्रुमवद्भूषितोऽपि भयंकरः ॥ ५ ॥ स तस्यास्तनुमध्यायाः समीपे रजनीचरः। ददृशे रोहणीमेत्य शनैश्चर इव ग्रहः ॥ ६ ॥ स तामामन्त्र्य सुश्रोणीं पुष्पकेतुशराहतः। इदमित्यब्रवीद्वाक्यं त्रस्तां

मार्कण्डेय कहते हैं, कि हे राजन् युधिष्ठिर ! पतिके वियोगके कारण शोकसे व्याकुल हुई पतिव्रता सीता दीन होगई थी, शरीर पर मैले वस्त्र पहिर रही थी, कण्ठमें सौभाग्यसूचक मङ्गलमणिमात्र धारण कियेहुए थी और एक शिला पर बैठी हुई रोरही थीं तथा राक्षसियें उसकी सेवा कर रही थीं, उस समय कामके बाणोंसे विंधाहुआ रावण अशोकवाटिकामें आया और सीताको देखकर उसके समीप गया, रावणको युद्धमें देवता,दानव गन्धर्व, यक्ष तथा किम्पुरुष भी नहीं जीतसकते थे ॥ १–३॥ वह आज दिव्य वस्त्र पहरकर सजाहुआ था,कानोंमें उज्ज्वल चमकते हुए कुण्डल हिलरहे थे और माथे पर रङ्ग विरङ्गे फूलोंका मुकुट विराजमान था, इसकारण वह मूर्त्तिमान् वसन्तसा प्रतीत होता था ॥ ४ ॥ उसने बड़े ही उद्योगसे शृङ्गार किया था, तो भी वह कल्पवृक्षकी समान रमणीय नहीं दीखता था किन्तु श्मशान भूमिके बड़की समान भयानक दीखता था ॥ ५ ॥ वह रजनीचर जब पतली कमरवाली सीताके समीपको गया तब रोहिणीके पास गयेहुए शनैश्चर ग्रहकी समान दीखनेलगा ॥ ६ ॥ फिर कामके वशमें हुआ रावण सुन्दरकमरवाली और भयभीतहुई

रोहीमिवाबलाम् ॥ ७ ॥ सीते पर्य्याप्तमेतावत् कृता भर्त्तुरनुग्रहः । प्रसादं कुरु तन्वङ्गि क्रियतां परिकर्म ते ८ भजस्व मां वरारोहे महार्हाभरणाम्बरा । भव मे सर्वनारीणामुत्तमा वरवर्णिनी ॥ ९ ॥ सन्ति मे देवकन्याश्च गन्धर्वाणाञ्च योषितः । सन्ति दानवकन्याश्च दैत्यानाञ्चापि योषितः ॥ १० ॥ चतुर्दश पिशाचानां कोट्यो मे वचने स्थिताः । द्विस्तावत् पुरुषादानां रक्षसां भीमकर्मणाम् ११ ततो मे त्रिगुणा यक्षा ये मद्वचनकारिणः । केचिदेव धनाध्यक्षं भ्रातरं मे समाश्रिताः ॥ १२ ॥ गन्धर्वाप्सरसो भद्रे मामापानगतं सदा । उपतिष्ठन्ति वामोरु यथैव भ्रातरं मम ॥ १३ ॥ पुत्रोऽहमपि विप्रर्षेः साक्षाद्विश्रवसो मुनेः । पञ्चमो लोकपालनामिति मे प्रथितं

हरिणीकी समान अबला सीताको पुकारकर इसप्रकार कहनेलगा कि—॥ ७ ॥ सीते ! तूने आजके दिनतक अपने पतिके लिये जो कृपा दिखायी वह बहुत होचुकी है, हे तन्वङ्गी ! अब मेरे ऊपर प्रसन्न हो और मैं उत्तम २ वस्त्र तथा आभूषणोंसे तुझे सजाऊं ॥८॥ तदनन्तर हे सुन्दरअङ्गोंवाली ! तू अधिक मोलके वस्त्र तथा आभूषणोंसे सजकर मेरी सेवा कर और मेरी सब स्त्रियोंमें उत्तम रूपवाली तू पटरानी बन॥९॥मेरी रानियोंमें देवकन्याएं, गन्धर्वकन्याएं दानवकन्याएं तथा दैत्यकन्याए हैं॥१०॥चौदह करोड़ पिशाच मेरी आज्ञामें चलते हैं और इससे दूने, भयानक काम तथा मनुष्यों का भक्षण करनेवाले राक्षस मेरे वशमें हैं ॥ ११ ॥ और उनसे तिगुने यक्ष भी मेरी आज्ञाका पालन करते हैं, जिनमेंके कितने ही मेरे भाई कुबेरके अधिकार में रहते हैं ॥ १२ ॥ हे कल्याणी ! हे सुन्दर जङ्घाओंवाली ! मैं जब मदिरा पीनेके लिये पीनेके स्थानपर जाता हूं उस समय गन्धर्व और अप्सरायें, जैसे मेरेभाई कुबेर की सेवा करते हैं तैसे ही मेरी भी सेवा करते हैं ॥ १३ ॥ और मैं साक्षात् विप्रर्षि मुनिराज विश्रवाका पुत्र हूं, तथा लोकपालोंमें मैं पाँचवां लोकपाल हूं, ऐसा मेरा यश प्रसिद्ध है ॥१४॥

यशः ॥ १४ ॥ दिव्यानि भक्ष्यभोज्यानि पानानि विविधानि च । यथैव त्रिदशेशस्य तथैव मम भामिनि ॥ १५ ॥ क्षीयतां दुष्कृतं कर्म वनवासकृतं तव । भार्य्या मे भव सुश्रोणि यथा मन्दोदरी तथा ॥ १६ ॥ इत्युक्ता तेन वैदेही परिवृत्य शुभानना । तृणमन्तरतः कृत्वा तमुवाच निशाचरम् ॥ १७ ॥ अशिवेनातिवामोरूरजस्रं नेत्रवारिणा । स्तनावपतितौ वाला संहतावभिवर्षती ॥१८॥ उवाच वाक्यं तं क्षुद्रं वैदेही पतिदेवता । असकृद्वदतो वाक्यमीदृशं राक्षसेश्वर ॥ १९ ॥ विषादयुक्तमेतत्ते मया श्रुतमभाग्यया । तद्भद्रसुख भद्रन्ते मानसं विनिवर्त्त्यताम् ॥ २० ॥ परदारास्म्यलभ्या च सततञ्च पतिव्रता । न चैवौपयिकी भार्या मानुषी कृपणा तव २१ विवशां धर्षयित्वा च कां त्वं प्रीतिमवाप्स्यसि । प्रजापति-

---

हे सुन्दराङ्गी ! जैसे इन्द्रको दिव्य भक्ष्य, भोज्य तथा नानाप्रकारकी सवारियें मिली हैं तैसे ही मुझे भी मिले हैं ॥ १५ ॥ अतः हे सुन्दरकमरवाली ! तेरे वनवासमें कियेहुए भयानक दुःखदायक कर्म दूर हों, और तू मन्दोदरीकी समान मेरी स्त्री बनकर रह ॥ १६ ॥ रावणकी ऐसी वातें सुनकर सुन्दरवदनी, पतिको ईश्वर माननेवाली सुन्दर जङ्घाओंवाली पतिव्रता सीता अपना मुख फेरकर बैठगई और अपने तथा निशाचरके बीचमें तृणकी ओट करके वारम्बार अमङ्गलकारी आंसुओंके जलसे अपनी कठिन और न गिरेहुए स्तनोंवाली छातीको भिजोतीहुई, उस क्षुद्र विचारवाले निशाचरसे कहनेलगी, कि–हे राक्षसराज ! तूने मेरे सामने वार २ ऐसी बातें कही हैं और अभागिनी मैंने खेदके साथ वह सुनी भी हैं, इसलिये अब हे श्रेष्ठ सुखवाले निशाचर ! तेरा कल्याण हो और तू मेरे ऊपरसे अपने मनको हटाले ॥ १७–२० ॥ क्योंकि–मैं परस्त्री हूं, पतिव्रता हूं, इसलिये तुझे नहीं मिलसकती, मनुष्यजातिकी दुःखिनी स्त्री तेरे काममें आनेके योग्य नहीं गिनीजाती ॥ २१ ॥ और मुझ अनाथिनीके व्रतको भ्रष्ट

समो विप्रो ब्रह्मयोनिः पिता तव ॥ २२ ॥ न च पालयसे धर्मं लोकपालसमः कथम् । भ्रातरं राजराजानं महेश्वरसखं प्रभुम् २३ धनेश्वरं व्यपदिशन् कथन्त्विह न लज्जसे । इत्युक्त्वा प्रारुदत् सीता कम्पयन्ती पयोधरौ २४ शिरोधराञ्च तन्वङ्गी मुखं प्रच्छाद्य वाससा । तस्यारुदत्या भाविन्या दीर्घा वेणी सुसंयता॥२५॥ददृशे स्वसिता स्निग्धा काली व्यालीव मूर्धनि । श्रुत्वा तद्रावणो वाक्यं सीतयोक्तं सुनिष्ठुरम्२६ प्रत्याख्यातोऽपि दुर्मेधाः पुनरेवाब्रवीद्वचः कामम‌ङ्गानि मे सीते दुनोतु मकरध्वजः २७ न त्वामकामां सुश्रोणीं समेष्ये चारुहासिनीम् । किन्तु शक्यं मया कर्त्तुं यत्त्वमद्यापि मानुषम् २८ आहारभूतमस्माकं राममेवानुरुध्यसे ॥२९॥ इत्युक्त्वा ताम-

करके तुझे क्या सुख मिलेगा ? तेरा पिता ब्रह्माका पुत्र लगता है और साक्षात् प्रजापतिकी समान है ॥ २२ ॥ तथा तू लोकपालोंकी समान है तो भी धर्मकी रक्षा क्यों नहीं करता है ? अरे ! शिवके मित्र, राजराज, महासमर्थ धनपति कुवेरका भाई कहतेहुए तुझे लज्जा नहीं आती ? ऐसा रावणसे कहकर दुर्वलाङ्गी भाविनी सीता, अपने दोनों स्तनोंको कँपानेवाले वस्त्रसे मस्तक तथा मुखको ढककर भूमिकी ओरको देखतीहुई रोनेलगी, उस समय रोतीहुई सुन्दराङ्गी सीताके मस्तक पर मनोहर श्यामवर्णकी, इकट्ठी कीहुई और नीचेको लटकतीहुई लंवी वेणी काली नागिनीकी समान प्रतीत होरही थी, सीताके कहे कठोर वचनोंकोसुनलिया तथा उसके तिरस्कार करने परभी दुष्टबुद्धि रावण सीतासे फिर कहने लगा कि-हे सीते ! भले ही कामदेव मेरे अङ्गोंको पीड़ा देय ।२३-२७। परन्तु हे सुन्दर हास्य और सुन्दर कमरवाली सीता ! जव तक तू कामरहित है तवतक मैं तेरे साथ समागम नहीं करूँगा, मै क्या करसकता हूं ? अभीतक तू हमारे भोजनरूप मनुष्यजातिके रामके ऊपर प्रेम रखती है और उसके ही अनुकूल वोलती है, राक्षसराज रावण सर्वाङ्गसुन्दरी सीतासे ऐसा कहकर तहां हा अन्तर्धान हो-

निन्द्याङ्गी स राक्षसमहेश्वरः। तत्रैवान्तर्हितो भूत्वा जगामाभिमतां दिशम् ३० राक्षसीभिः परिवृता वैदेही शोककर्षिता। सेव्यमाना त्रिजटया तत्रैव न्यवसत्तदा ॥ ३१ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सीतारावण-संवाद एकाशीतयधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥

मार्कण्डेय उवाच। राघवः सह सौमित्रिः सुग्रीवेणाभिपालितः। वसन् माल्यवतः पृष्ठे ददर्श विमलं नभः ॥ १ ॥ स दृष्ट्वा विमले व्योम्नि निर्मलं शशलक्षणम्। ग्रहनक्षत्रताराभिरनुयातममित्रहा ॥ २ ॥ कुमुदोत्पलपद्मानां गन्धमादाय वायुना। महीधरस्थः शीतेन सहसा प्रतिबोधितः३ प्रभाते लक्ष्मणं वीरमभ्यभाषत दुर्मनाः। सीतां संस्मृत्य धर्मात्मा रुद्धां राक्षसवेश्मनि॥४॥गच्छ लक्ष्म-

---

गया और अपनी इच्छानुसार दिशाकी ओरको चलागया तथा राक्षसियोंसे घिरीहुई और शोकसे दुबली हुई वैदेही तहां ही बैठी रहीं, तथा त्रिजटा उसकी सेवा करनेलगी ॥ २८—३१ ॥ दो सौ इक्यासावां अध्याय समाप्त ॥ २८१ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—हे युधिष्ठिर! सुग्रीव से रक्षा किये हुए राम तथा सुमित्रानन्दन लक्ष्मण माल्यवान् पर्वत पर रहते थे, एक दिन राम तथा लक्ष्मण दोनोंजने सोरहे थे, उस समय रामने निर्मल आकाशको देखा ॥ १ ॥ और शत्रुका नाश करने वाले रामने निर्मल आकाशमें ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण जिसके पीछे २ चलते हैं ऐसे निर्मल शशलाञ्छन (चन्द्रमा) को चलते हुए देखा, तदनन्तर कमल, उत्पल और पद्मोंकी सुगन्धि लेकर बहतेहुए शीतल पवनने, पहाड़ पर सोते हुए रामके शरीरका स्पर्श करके उनको एकसाथ जगादिया ॥ २ ॥ ३ ॥ उस समय प्रभात होगया था, धर्मात्मा राम रावणके घरमें कैद हुई सीताको याद करके मनमें खिन्न होगये और उन्होंने वीर लक्ष्मणसे कहा, कि—॥ ४ ॥ हे लक्ष्मण! तू किष्किंधा नगरीमें जाकर कपिराज

ण जानीहि किष्किन्धायां कपीश्वरम् । प्रमत्तं ग्राम्यधर्मेषु कृतघ्नं स्वार्थपण्डितम् ॥ ५ ॥ योऽसौ कुलाधमो मूढो मया राज्येऽभिषेचितः । सर्ववानरगोपुच्छा यमृक्षाश्च भजन्ति वै ॥ ६ ॥ यदर्थं निहतो वाली मया रघुकुलोद्वह । त्वया सह महाबाहो किष्किन्धोपवने तदा ॥ ७ ॥ कृतघ्नं तमहं मन्ये वानरापसदं भुवि । यो मामेवं गतो मूढो न जानीतेऽद्य लक्ष्मण ॥ ८ ॥ असौ मन्ये न जानीते समयप्रतिपालनम् । कृतोपकारं मां नूनमवमन्याल्पया धिया ॥ ९ ॥ यदि तावदनुद्युक्तः शेते कामसुखात्मकः । नेतव्यो वालिमार्गेण सर्वभूतगतिं त्वया ॥ १० ॥ अथापि घटतेऽस्माकमर्थे वानरपुंगवः । तमादायैव काकुत्स्थ त्वरावान् भव मा चिरम् ॥ ११ ॥

का समाचार ला, वह अपने स्वार्थको साधनेवाला कृतघ्नी वानर सांसारिक विषयमें मदमत्त हुआ प्रतीत होता है ॥ ५ ॥ उस नीच कुलके मूढ वानरको मैंने राजसिंहासन पर वैठाया है और सब वानर, गोपुच्छ (लंगूर) तथा रीछ उसकी सेवा करते हैं ॥६॥ हे रघुकुलको धारण करनेवाले लक्ष्मण ! उस दिन मैंने तुझे साथ लेकर किष्किधाके वागमें जिस सुग्रीवके लिये वालिका वध किया था वह सुग्रीव वानर मेरी समझमें पृथ्वी पर कृतघ्नी होगया है, क्योंकि—हे लक्ष्मण ! वह मूर्ख अव मेरी सुध भी नहीं लेता है ॥ ७ ॥ ८ ॥ मेरे विचारमें यह वानर अपनी तुच्छ बुद्धिके कारण इस उपकार करनेवालेका अपमान करके अपनी की हुई प्रतिज्ञा पालनेको मान्य नहीं समझताहै ॥ ९ ॥ वह यदि सीताकी खोज करनेमें तत्पर न हो, किंतु यदि कामसुखमें ही मग्न होकर सोता होय तो तू उसको वालीके मार्गसे सब प्राणियोंके शरणरूप परमात्माके पास पहुंचादेना ॥ १० ॥ परन्तु अब भी यह वानरराज यदि हमारा काम करनेको तयार होय तो हे काकुत्स्थ ! तू उसको लेकर एक साथ खोज करनेके लिये शीघ्रता

इत्युक्तो लक्ष्मणो भ्रात्रा गुरुवाक्यहिते रतः । प्रतस्थे रुचिरं गृह्य स मार्गेण गुणं धनुः ॥ १२ ॥ किष्किन्धाद्वारमासाद्य प्रविवेशानिवारितः । सक्रोध इति तं मत्वा राजा प्रत्युद्ययौ हरिः ॥ १३ ॥ तं सदारो विनीतात्मा सुग्रीवः प्लवगाधिपः । पूजया प्रतिजग्राह प्रीयमाणस्तदर्हया ॥ १४ ॥ तमब्रवीद्रामवचः सौमित्रिरकुतोभयः स तत्सर्वमशेषेण श्रुत्वा प्रह्वः कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥ सभृत्यदारो राजेन्द्र सुग्रीवो वानराधिपः । इदमाह वचः प्रीतो लक्ष्मणं नरकुञ्जरम् ॥ १६ ॥ नास्मि लक्ष्मण दुर्मेधा नाकृतज्ञो न निर्घृणः श्रूयतां यः स यत्नो मे सीतापर्य्येषणे कृतः ॥१७॥ दिशः प्रस्थापिताः सर्वे विनीता हरयो मया । सर्वेषाञ्च कृतः कालो मासेना-

---

करना, विलंब न लगाना ॥११॥ भाईके ऐसे वचन सुनकर बड़ों की बात माननेवाला तथा उनका हितकारी लक्ष्मण प्रत्यंचा चढ़ा हुआ सुन्दर धनुष लेकर किष्किधा नगरीकी ओरको चलदिया ॥१२॥ और किष्किन्धा नगरीके द्वार पर जाकर बेरोक टोक भीतर चलेगये, वानरराज लक्ष्मणजीके मुखके आकारसे ही 'यह क्रोधमें हैं, ऐसा जानकर अपनी रानी तथा सेवकों सहित विनयके साथ उनके सामने आया और पूजा करके लक्ष्मणजीका सत्कार किया सुमित्रानन्दन लक्ष्मण भी वानरराजकी योग्य पूजासे प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥ १४ ॥ और फिर निर्मल लक्ष्मणने सुग्रीवके सामने राम के वचन कहकर सुनाये, उन सब वचनोंको पूर्ण रीतिसे ध्यानके साथ सुनकर, हे राजेन्द्र ! वानरराज सुग्रीवने अपने सेवक और स्त्रीके सहित सरलतापूर्वक दोनों हाथ जोड़कर प्रेमसे नरोंमें हस्तिसमान लक्ष्मणजीसे कहा, कि-॥ १५ ॥ १६ ॥ हे लक्ष्मण ! मेरी बुद्धि भ्रष्ट नहीं हुई है, तथा मैं कृतघ्नी भी नहीं होगया हूं और निर्दयी भी नहीं हुआ हूं, मैंने सीताकी खोज करनेके लिये जो उद्योग करना आरम्भ किया है, उसको तुम सुनो ॥ १७ ॥ मैंने विजयी वानरोंको चारों दिशाओंमें सीताको खोजनेके लिये भेजदिया है,

गमनं पुनः ॥ १८ ॥ यैरियं सवना साद्रिः सपुरा सागराम्बरा । विचेतव्या मही वीर सग्रामनगराकरा ॥ १९ ॥ स मासः पञ्चरात्रेण पूर्णो भवितुमर्हति । ततः श्रोष्यसि रामेण सहितः सुमहत् प्रियम् ॥ २० ॥ इत्युक्तो लक्ष्मणस्तेन वानरेन्द्रेण धीमता । त्यक्त्वा रोषमदीनात्मा सुग्रीवं प्रत्यपूजयत् ॥ २१ ॥ स रामं सह सुग्रीवो माल्यवत्पृष्ठमास्थितम् । अभिगम्योदयं तस्य कार्य्यस्य प्रत्यवेदयत् ॥ २२ ॥ इत्येवं वानरेन्द्रास्ते समाजग्मुः सहस्रशः । दिशस्तिस्रो विचित्याथ न तु ये दक्षिणां गताः ॥ २३ ॥ आचख्युस्तत्र रामाय महीं सागरमेखलाम् । विचितां न तु वैदेह्या दर्शनं रावणस्य वा ॥२४ ॥ गतास्तु दक्षिणामाशां ये वै वानरपुङ्गवाः।

और उन सबोंने एक महीनेके भीतर सीताका पता लगाकर लौट आनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ १८ ॥ हे वीर ! उन वानरोंको वन, पहाड़, नगर, सागर, आकाश, ग्राम, पुर तथा खानोंसहित सब पृथ्वीपर सीताकी खोज करनी चाहिये और एक महीनेके भीतर लौटकर आजाना चाहिये, वह महीना पांच रात बाद पूरा होजायगा तब राम सहित आप बड़े आनन्दका समाचार सुनोगे ॥ १९ ॥ २० बुद्धिमान् वानरराजने लक्ष्मणसे इसप्रकार कहा, तब उदार मनवाले लक्ष्मणने क्रोधको त्यागकर सुग्रीवकी प्रशंसा की ॥ २१ ॥ फिर उसको अपने साथ लेकर माल्यवान् पहाड़ पर रहनेवाले रामके पास आये और सुग्रीवने कामका जो कुछ प्रबन्ध किया था सो सब रामको सुनाया ॥ २२ ॥ सुग्रीवकी ओरसे जो सहस्रों वानर चारों दिशाओंमें सीताका पता लगानेके लिये गये थे, उनमें तीन दिशाओंमेंके वानर तो उन दिशाओंमें सीताको ढूंढकर लौट आये परन्तु दक्षिण दिशामें गयेहुए वानर अभीतक लौटकर नहीं आये ॥ २३ ॥ जो तीनों दिशाओंमेंसे लौटकर आये थे उन्होंने रामसे कहा, कि-हमने समुद्ररूप कटिमेखलासे शोभायमान पृथ्वीपर बहुत ही ढूंढा, परन्तु कहीं भी सीताका वा रावणका

आशावांस्तेषु काकुत्स्थः प्राणानार्त्तोऽभ्यधारयत् ॥ २५॥ द्विमासोपरमे काले व्यतीते प्लवगास्ततः । सुग्रीवमभिगम्येदं त्वरिता वाक्यमब्रुवन् २६ रक्षितं वालिना यत्तत्स्फीतं मधुवनं महत् । त्वया च प्लवगश्रेष्ठैस्तद्भुक्तं पवनात्मजः ॥ २७ ॥ वालिपुत्रोऽङ्गदश्चैव ये चान्ये प्लवगर्षभाः । विचेतुं दक्षिणामाशां राजन् प्रस्थापितास्त्वया ॥ २८ ॥ तेषामनयं श्रुत्वा मेने स कृतकृत्यताम् । कृतार्थानां हि भृत्यानामेतद्भवति चेष्टितम् ॥ २९ ॥ स तद्रामाय मेधावी शशंस प्लवगर्षभः । रामश्चाप्यनुमानेन मेने दृष्टान्तु मैथिलीम् ॥ ३० ॥ हनूमत्प्रमुखाश्चापि विश्रान्तास्ते प्लवंगमाः । अभिजग्मुर्हरीन्द्रं तं

दर्शन नहीं हुआ ॥ २४ ॥ यह सुनकर ककुत्स्थवंशी राम बहुत ही घबड़ानेलगे, परन्तु वह दक्षिण दिशामें गयेहुए श्रेष्ठ वानरोंके ऊपर आशा रखकर अपने प्राणोंको धारण किये रहे ॥ २५ ॥ दो मास बीतजानेपर कितने ही वानर बहुत ही शीघ्रतासे सुग्रीवके पास आकर कहनेलगे, कि-॥ २६ ॥ हे वानरोंमें श्रेष्ठ वानरराज सीताका पता लगनेलगानेके लिये तुम्हारे दक्षिण दिशामें भेजे-हुए पवननन्दन हनुमान्, वालीनन्दन अङ्गद तथा दूसरे बड़े २ वानर पहिले वाली के रक्षा कियेहुए और इस समय आपके रक्षा किये हुए फलोंसे युक्त बड़े मधुवन में पहुंचकर फल फूल खायेजाते हैं, वानरोंके कियेहुए इस अन्यायको सुनकर सुग्रीवने मनमें जाना कि—ये कार्यसिद्धि करके आये होंगे, क्योंकि-अनुचर जब स्वामी का काम सिद्ध करके आते हैं तो ऐसा ही निःशङ्कतासे वर्त्ताव किया करते हैं ॥ २७-२९ ॥ बुद्धिमान् और श्रेष्ठ सुग्रीवने ऐसा विचार करकें रामके पास पहुंच कर यह बात सुनायी, उससमय रामने भी अनुमानसे यही समझा कि-ये वानर अवश्य ही सीताको देखकर आये होंगे ॥ ३० ॥ फिर दक्षिण दिशामेंसे आयेहुए हनुमान् आदि श्रेष्ठ वानर जो

रामलक्ष्मणसन्निधौ ॥३१॥ गतिश्च मुखवर्णञ्च दृष्ट्वा रामो हनूमतः। अगमत् प्रत्ययं भूयो दृष्टा सीतेति भारत ॥ ३२ ॥ हनूमत्प्रमुखास्ते तु वानराः पूर्णमानसाः। प्रणेमुर्विधिवद्रामं सुग्रीवं लक्ष्मणन्तथा ॥ ३३ ॥ तानुवाचानतान् रामः प्रगृह्य सशरं धनुः। अपि मां जीवयिष्यध्वमपि वः कृतकृत्यता ॥ ३४ ॥ अपि राज्यमयोध्यायां कारयिष्याम्यहं पुनः। निहत्य समरे शत्रूनाहृत्य जनकात्मजाम् ॥ ३५ ॥ अमोक्षयित्वा वैदेहीमहत्वा च रणे रिपून्। हृतदारोऽवधूतश्च नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३६ ॥ इत्युक्तवचनं रामं प्रत्युवाचानिलात्मजः। प्रियमाख्यामि ते राम दृष्टा सा जानकी मया ॥ ३७ ॥ विचित्य दक्षिणामाशां सपर्वतवनाकराम्। श्रान्ताः

मधुवनमें विश्राम लेनेको ठहरगये थे वे राम तथा लक्ष्मणके पास बैठेहुए वानरराज सुग्रीवके पास आये ॥ ३१ ॥ हे भारत! हनुमानकी चाल तथा मुखका रङ्ग देखकर रामके मनमें और भी विश्वास होगया, कि–यही वानर सीताको देखकर आयाहुआ मालूम होताहै ॥ ३२ ॥ काम सिद्ध करनेसे मनमें प्रसन्न हुए हनुमान् आदि वानरोंने विधिपूर्वक राम, लक्ष्मण तथा सुग्रीवको प्रणाम किया ॥३३॥ फिर रामने धनुष बाण हाथमें लेकर प्रणाम करतेहुए उन वानरोंसे बूझा, कि-क्या तुम मुझे प्राणदान दोगे? क्या तुम अपने कामको सिद्ध करलाये? ॥ ३४ ॥ क्या मैं युद्धमें शत्रुओंका नाश करके जनकदुलारी सीताको फिर लाकर अयोध्यामें राज्य करूंगा? ॥३५॥ वैदेहीको बन्धनमेंसे विना छुडाये और रणमें शत्रुओं विना मारे, जिसकी स्त्री हरीगई है ऐसा मैं अवधूत दशामें जीवित रहना नहीं चाहता ॥ ३६ ॥ रामचन्द्रजीके इसप्रकार कहनेपर पवनपुत्र हनुमान्ने उनको उत्तर दिया, कि-हे रामजी! मैं आपसे प्रिय बात कहता हूं; कि–मैंने जानकीका दर्शन किया है ॥ ३७ ॥ हम दक्षिण दिशामें जाकर पृथ्वी परके वन पहाड़ गुफाएं और पहाड़ोंकी खानोंमें ढूंढते २ थकगए परन्तु

काले व्यतीते स्म दृष्टवन्तो महागुहाम् ॥ ३८ ॥ प्रविशामो वयं तान्तु बहुयोजनमायताम् । अन्धकारां सुविपिनां गहनां कीटसेविताम् ॥ ३९ ॥ गत्वा सुमहदध्वानमादित्यस्य प्रभान्ततः । दृष्टवन्तः स्म तत्रैव भवनं दिव्यमन्तरा ॥ ४० ॥ मयस्य किल दैत्यस्य तदासद्वेश्म राघव । तत्र प्रभावती नाम तपोऽतप्यत तापसी ॥ ४१ ॥ तया दत्तानि भोज्यानि पानानि विविधानि च । भुक्त्वा लब्धबलाः सन्तस्तयोक्तेन पथा ततः ॥ ४२ ॥ निर्याय तस्मादुद्देशात् पश्यामो लवणाम्भसः । समीपे सह्यमलयौ दर्दुरञ्च महागिरिम् ॥ ४३ ॥ ततो मलयमारुह्य पश्यन्तो वरुणालयम् । विषण्णा

सीताका पता कहीं नहीं मिला और सुग्रीवसे जो एक महीनेके भीतर लौट आनेकी प्रतिज्ञा की थी वह समय भी पूरा होनेको आगया, इतनेमें ही हमको एक बड़ीभारी गुफा दीखगई ॥ ३८ ॥ यह गुफा अनेकों योजन लम्बी थी, उसके भीतर बड़ाभारी अंधेरा था, आस पास घना वन था और उस गंभीर गुफाके भीतर अनेकों कीड़े थे, हम उस गुफाके भीतर घुसगये ॥ ३९ ॥ और चलते २ बहुतसा मार्ग बीतजाने पर तहां हमको सूर्यकीसी कान्ति दीखी और एक दिव्य भवन देखनेमें आया ॥ ४० ॥ हे रघुवंशी राम! वह उत्तम भवन मय दानवका था और उसमें एक प्रभावती नाम की तपस्विनी तपस्या कररही थी ॥ ४१ ॥ उसने हमें अनेकों प्रकारके भोजन और पीनेके रस दिये, उनको खा पीकर हमारी थकन दूर होगयी और हमारे शरीरोंमें बल आगया तब हम प्रभावतीके बताये हुए मार्गसे उस गुफामेंसे बाहर निकले, कि-हमने महासागरको उसके पास ही सह्य पहाड़को, मलयाचलको और दर्दुर पर्वतको देखा ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ फिर हम पासमें ही उस मलयाचलके ऊपर चढ़कर महासागरको देखनेलगे, उस महासागर का चौड़ाव असंख्य योजनोंका था, उसमें मछलियें, नाके, बड़े २ मच्छ, मगरमच्छ, आदि असंख्यों जलके जीव उछल रहे

व्यथिताः खिन्ना निराशा जीविते भृशम् ॥ ४४ ॥ अनेकशतविस्तीर्णं योजनानां महोदधिम् । तिमिनक्रझषावासं चिन्तयन्तः सुदुःखिताः ॥ ४५ ॥ तत्रानशनसङ्कल्पं कृत्वासीना वयं तदा । ततः कथान्ते गृध्रस्य जटायोरभवत् कथा ॥ ४६ ॥ ततः पर्वतशृङ्गाभं घोररूपं भयावहम् । पक्षिणं दृष्टवन्तः स्म वैनतेयमिवापरम्॥४७ सोऽस्मानतर्कयद्भोक्तुमथाभ्येत्य वचोऽब्रवीत्। भोः क एष मम भ्रातुर्जटायोः कुरुते कथाम् ॥ ४८ ॥सम्पातिर्नाम तस्याहं ज्येष्ठो भ्राता खगाधिपः । अन्योऽन्यस्पर्धया रूढावावामादित्यसत्पदम् ॥ ४९ ॥ ततो दग्धाविमौ पक्षौ न दग्धौ तु जटायुषः । तदा मे चिरदृष्टः

थे, उस महासागरको देखकर विचार करने पर हम खिन्न, पीड़ित तथा निराश होगये और जीने की सर्वथा आशा छोड़कर महादुःखी होकर विचार करते हुए वैठगये ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ फिर हमने तो अन्न जल त्यागकर मरजाने का संङ्कल्प करलिया और तहां वैठे २ अनेकों प्रकार की वातें करनेलगे तथा वातें करते करते अन्तमें जटायु नामक गृध्र पक्षीकी कथा कहनेलगे ॥ ४६ ॥ इतनेमें ही पहाड़के शिखर की समान वड़ा, भयङ्कर आकारवाला, भयदायक और मानो दूसरा गरुड ही हो ऐसा एक पक्षी हमको दीखपड़ा ॥ ४७॥ वह गृध्र पक्षी अपने मनमें हमको खाजानेका विचार करता हुआ वैठा था, परन्तु वह हमारी वातोंमें जटायुका नाम सुनकर हमारे पास आया और कहनेलगा, कि—अरे मेरे भाई जटायुकी वातें कौन कररहा है ? ॥४८॥ पक्षियोंका राजा मैं उसका वड़ा भाई लगता हूं और मेरा नाम सम्पाती है, हम दोनों भाई आपसमें होड़ करके सूर्यमण्डलतक आकाशमें उड़कर गये थे ॥ ४९ ॥ तव मेरे पंख सूर्यकी तेजीसे जलगये और जटायुके पंख नहीं जले और मैं पंख जलजानेके कारण इस महापर्वत पर गिरपड़ा तथा

स भ्राता गृध्रपतिः प्रियः ॥ ५० ॥ निर्दग्धपक्षः पतितो ह्यहमस्मिन् महागिरौ । तस्यैवं वदतोऽस्माभिर्हतो भ्राता निवेदितः ॥ ५१ ॥ व्यसनं भवतश्चेदं संक्षेपाद्वै निवेदितम् । स सम्पातिस्तदा राजन् श्रुत्वा समहदप्रियम् ॥ ५२ ॥ विषण्णचेताः पप्रच्छ पुनरस्मानरिन्दमः । कः स रामः कथं सीता जटायुश्च कथं हतः ॥ ५३ ॥ इच्छामि सर्वमेवैतच्छ्रोतुं प्लवगसत्तमाः । तस्याहं सर्वमेवतद्भवतो व्यसनागमम् ॥ ५४ ॥ प्रायोपवेशने चैव हेतुं विस्तरशोऽब्रुवम् सोऽस्मानुत्थापयामास वाक्येनानेन पक्षिराट् ॥ ५५ ॥ रावणो विदितो मह्यं लंका चास्य महापुरी । दृष्टा पारे समुद्रस्य त्रिकूटगिरिकन्दरे॥५६॥भवित्री तत्र वैदेही न मेऽस्त्यत्र विचारणा । इति तस्य

मेरा भाई न जाने कहां चलागया, इस कारण मैंने अपने प्यारे भाई जटायु को बहुत दिन होगये देखा नहीं है, इसप्रकार उस गृध्रने अपनी सब कथा कही, तब हमने उसके प्यारे भाईके मरण का समाचार उसको सुनाया ॥ ५० ॥ ५१ ॥ और आपके ऊपर पड़ाहुआ दुःख भी उसको संक्षेपमें कहकर सुनादिया, हे राजन् ! वह सम्पाती नामवाला गृध्र, अपने भाईके मरणका परम अप्रिय समाचार सुनकर मनमें खेद करनेलगा और हे शत्रुनाशन ! उसने हमसे फिर बूझा, कि–वह राम कौन हैं ? सीताको हरकर कौन लेगया है ? और जटायुका मरण कैसे हुआ ? ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ यह सब मैं सुनना चाहता हूं, इसलिये हे श्रेष्ठ वानरों ! यह सब मुझे सुनाओ, तब मैंने सीताका हरण होनेसे आपके ऊपर पड़ा हुआ कष्ट, जटायुका मरण तथा अपने उपवास करनेका कारण यह सब बात विस्तारसे कहकर उसको सुनादी, तब उस पक्षिराज गृध्रने यह वचन कहकर हमें उपवास करनेसे रोका और सचेत किया ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ उसने कहा, कि-मैं रावणको पहिचानता हूं, वह लङ्का नामकी महानगरीका राजा है, वह नगरी समुद्रके परले किनारे त्रिकूटाचल पर बसीहुई है और मैंने देखी है ॥ ५६ ॥ इसलिये वैदेही निःसन्देह तहां ही होगी, इस उसका

वचः श्रुत्वा वयमुत्थाय सत्वराः॥५७॥सागरक्रमणे मन्त्रं मन्त्रयामः परन्तप । नाध्यवास्यद्यदा कश्चित् सागरस्य विलंघनम् ॥ ५८ ॥ ततः पितरमाविश्य पुप्लुवेऽहं महार्णवम्।शतयोजनविस्तार्णं निहत्य जलराक्षसीम् ॥५९॥ तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती । उपवासतपःशीला भर्तृदर्शनलालसा ॥ ६० ॥ जटिला मलदिग्धाङ्गी कृशा दीना तपस्विनी । निमित्तैस्तामहं सीतामुपलभ्य पृथग्विधैः ॥ ६१ ॥ उपसृत्याब्रुवञ्चार्य्यामभिगम्य रहोगताम् । सीते रामस्य दूतोऽहं वानरो मारुतात्मजः ॥ ६२ ॥ त्वद्दर्शनमभिप्रेप्सुरिह प्राप्तो विहायसा । राजपुत्रौ कुशलिनौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ६३ सर्वशाखामृगेन्द्रेण सुग्रीवेणाभिपालितौ । कुशलं त्वाब्रवीद्रामः सीते

इस बातको सुनकर तहांसे तुरत ही खड़े होगये ॥ ५७ ॥ और हे परन्तप ! समुद्रको लांघनेका विचार करनेलगे, परन्तु हममेंसे किसीने भी समुद्रका तरनेका निश्चय नहीं किया ॥ ५८ ॥ तब मैं अपने पिता वायुके स्वरूपमें प्रवेश करके सौ योजन चौड़े महा सागरके पार चलागया, तहां मार्गमें जलराक्षसी मिली उसका नाश किया ॥ ५९ ॥ और मैं परले किनारेकी लङ्का नगरीमें पहुंचगया, तहां रावणके रणवासके एकान्तभागमें बैठी हुई सती सीताका मैंने दर्शन किया, पतिके दर्शनकी इच्छावाली सीता उपवास और तप करती थी ॥ ६० ॥ उनके शिरके केश जटा बनगये हैं, शरीर मैलसे लिहसाहुआ और दुर्बल होगया है तथा मुख पर दीनता प्रतीत होती है,ऐसे कितने ही लक्षणोंसे एकान्तमें बैठीहुई महारानी सीताको मैंने पहिचान लिया और मैंने उनके पास जाकर कहा,कि–मैं वानर,पवनका पुत्र और रामका दूत हूं॥६१॥ ॥ ६२ ॥ और आपके दर्शनकी उत्कण्ठा होनेसे मैं आकाशमार्ग से यहां आया हूं, राम और लक्ष्मण दोनों भाई कुशल क्षेमसे हैं ॥ ६३ ॥ और सकल वानरोंका राजा सुग्रीव उनकी रक्षा करता

सौमित्रिणा सह ॥ ६४ ॥ सखिभावाच्च सुग्रीवः कुशलं त्वानुपृच्छति । क्षिप्रमेष्यति ते भर्त्ता सर्वशाखामृगैः सह॥६५॥प्रत्ययं कुरु मे देवि वानरोऽस्मि न राक्षसः । मुहूर्त्तमिव च ध्यात्वा सीता मां प्रत्युवाच ह ॥ ६६ ॥ अवैमि त्वां हनूमन्तमविन्ध्यवचनादहम् । अविन्ध्यो हि महाबाहो राक्षसो वृद्धसम्मतः ॥६७॥ कथितस्तेन सुग्रीवस्त्वद्विधैः सचिवैर्वृतः।गम्यतामिति चोक्त्वा मां सीता प्रादादिमं मणिम् ॥ ६८ ॥ धारिता येन वैदेही कालमेतमनिन्दिता । प्रत्ययार्थं कथाश्चेमां कथयामास जानकी ६९ क्षिप्तामिषीकां काकाय चित्रकूटे महागिरौ । भवता पुरुषव्याघ्र प्रत्यभिज्ञानकारणात् ७०

है, हे सीते ! राम और लक्ष्मणने तुम्हारा कुशलसमाचार बूझा है ॥ ६४ ॥ तथा सुग्रीवने भी मित्रताके कारण तुम्हारी कुशल बूझी है, तुम्हारे पति राम वानरोंकी बड़ीभारी सेना लेकर शीघ्र ही आवेंगे ॥ ६५ ॥ हे मातः ! तुम मेरे ऊपर विश्वास रक्खो मै वानर हूं, राक्षस नहीं हूं, तदनन्तर सीताने कुछ देर विचार करके मुझे उत्तर दिया कि-॥ ६६॥ मै अविन्ध्य नामके राक्षसके कहने से जानती हूं, कि-तू हनुमान् नामका वानर है, हे महाबाहु ! इस लङ्का नगरीमें एक अविन्ध्य नामका राक्षस रहता है,उसका वृद्धों में बड़ा आदर है ॥ ६७ ॥ उस अविन्ध्यने मुझसे कहा था, कि सुग्रीवके पास हनुमान् जैसे मंत्री हैं,इससे मै तुझे पहिचानती हूं, अच्छा अब तुम यहांसे रामके पास जाओ, ऐसा कहकर पवित्र चरित्रवाली सीताने मुझे पहिचानके लिये एक मणि दी, कि-जिस मणिके कारण वैदेही सीता अबतक जीवित रही है, अब आप सीताको पानेके लिये शीघ्र ही उद्योग करें और हे पुरुष सिंह ! आपके निश्चयके लिये जानकीने मुझसे यह बात भी कही थी, कि-आप चित्रकूट नामके महापर्वत पर रहते थे तब आपने कौएके ऊपर सींक फेंकी थी ॥ ६८-७० ॥ सीताने आपके

ग्राहयित्वा महात्मानं ततो दग्ध्वा च तां पुरीम् । सम्प्राप्त इति तं रामः प्रियवादिनमार्चयत् ॥ ७१ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि हनुमत्प्रत्यागमने द्वयशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८२ ॥

मार्कण्डेय उवाच । ततस्तत्रैव रामस्य समासीनस्य तैः सह । समाजग्मुः कपिश्रेष्ठाः सुग्रीववचनात्तदा ॥ १ ॥ वृतः कोटिसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् । श्वशुरो वालिनः श्रीमान् सुषेणो राममभ्ययात् ॥२॥ कोटीशतवृतो चापि गजो गवय एव च । वानरेन्द्रौ महावीर्यौ पृथक् पृथगदृश्यताम् ॥३॥ षष्टिकोटिसहस्राणि प्रकर्षन् प्रत्यदृश्यत । गोलांगूलो महाराजा गवाक्षो भीमदर्शनः ॥ ४ ॥ गन्धमादनवासी तु प्रथितो गन्धमादनः । कोटीशतसहस्राणि हरी-

---

निश्चयके लिये जो बात कही थी, उस बातको अपने मनमें याद रखकर और लङ्कापुरीको जलाकर मैं आपके पास आया हूं यह सब सुनकर रामने प्रिय समाचार लानेवाले हनुमान्को धन्यवाद देकर उनका सत्कार किया ॥ ७१ ॥ दो सौ बयासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८२ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि–हे राजन युधिष्ठिर! फिर वह राम वानरोंके साथ तहां ही रहे और सुग्रीवके कहनेसे बड़े २ वानर उस समय रामके पास आनेलगे ॥ १ ॥ बालीका सुसरा श्रीमान् सुषेण, वेगवाले सहस्र करोड़ वानरोंको लेकर रामके पास आ-गया ॥ २ ॥ गज तथा गवय नामके महाबली वानरराज सौ सौ करोड़ वानरोंसे घिरेहुए अलग २ दीखनेलगे ॥ ३ ॥ महाभयानक आकार और लम्बी पूंछवाला गवाक्ष नामका वानर साठ हजार करोड़ वानरोंकी सेनाको साथ लेकर रामके पास आता हुआ दीखा ॥ ४ ॥ गन्धमादन पहाड़ पर रहनेवाला, गन्धमादन नामसे प्रसिद्ध वानर सौ करोड़ तथा एक हजार वानरोंको लेकर

णां समकर्षत ॥ ५ ॥ पनसो नाम मेधावी वानरः सुमहाबलः । कोटीर्दश द्वादश च त्रिंशतञ्च प्रकर्षति ॥ ६ ॥ श्रीमान् दधिमुखो नाम हरिवृद्धोऽतिवीर्य्यवान् । प्रचकर्ष महासैन्यं हरीणां भीमतेजसाम् ॥ ७ ॥ कृष्णानां मुखपुंड्राणामृक्षाणां भीमकर्मणाम् । कोटीशतसहस्रेण जाम्ववान् प्रत्यदृश्यत ॥ ८ ॥ एते चान्ये च बहवो हरियूथपयूथपाः ॥ । असंख्येया महाराज समीयू रामकारणात् ॥९॥ गिरिकूटनिभाङ्गानां सिंहानामिव गर्ज्जताम् । श्रूयते तुमुलः शब्दस्तत्र तत्र प्रधावताम् ॥ १० ॥ गिरिकूटनिभाः केचित् केचिन्महिषसन्निभाः । शरदभ्रप्रतीकाशाः केचिद्धिंगुलकाननाः ॥ ११ ॥ उत्पतन्तः पतन्तश्च प्लवमानाश्च वानराः । उद्धुन्वन्तो

आया ॥ ५ ॥ बुद्धिमान् महाबली पनस नामका वानर सत्तावन करोड़ वानरोंको लेकर आया ॥ ६ ॥ वानरोंमें बूढ़ा महाबली श्रीमान् दधिमुख नामवाला वानरपति, भयानक काम करनेवाले और भयङ्कर तेजस्वी वानरोंकी एक महासेनाको लेकर आया ॥ ७ ॥ और जाम्ववान् काले रङ्गके और मुखपर ऊर्ध्वपुंड्राकार सफेद पट्टावाले भयानक पराक्रमी एक हजार और सौ करोड़ रीछोंको लेकर आया ॥ ८ ॥ हे महाराज ! ये तथा और भी अनेकों वानर सेनापतियोंके स्वामी रामकी सहायता करनेको आये ॥९॥ पहाड़के शिखरोंकी समान बड़ी २ कायावाले वानर तथा रीछ सिंहोंकी समान गर्जना करने लगे और जिधर तिधरको दौडने लगे, उनका महाघोर कोलाहल सुनाई दिया ॥ १० ॥ उन वानरोंमें कितने ही वानर पहाडोंके शिखरोंकी समान ऊँचे और पुष्ट थे, कितने ही भैंसों की समान काले २ थे, कितने ही शरद ऋतुके मेघोंकी समान धोले थे और कितनो हीके मुख सिंदरकी समान लाल लाल थे ॥ ११ ॥ उन वानरोंमें कितने ही ऊपर आकाशमेंको कूदकर नीचे

परे रेणून् समाजग्मुः समन्ततः ॥ १२ ॥ स वानरमहासैन्यः पूर्णसागरसन्निभः । निवेशमकरोत्तत्र सुग्रीवानुमते तदा ॥ १३ ॥ ततास्तेषु हरींद्रेषु समावृत्तेषु सर्वशः । तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे मुहूर्त्ते चाभिपूजिते ॥ १४ ॥ तेन व्यूढ़ेन सैन्येन लोकानुद्वर्त्तयन्निव । प्रययौ राघवः श्रीमान् सुग्रीवसहितस्तदा ॥ १५ ॥ मुखमासीत्तु सैन्यस्य हनूमान्मारुतात्मजः । जघनं पालयामास सौमित्रिरकुतोभयः ॥ १६ ॥ बद्धगोधांगुलित्राणौ राघवौ तत्र जग्मतुः । वृतौ हरिमहामात्यैश्चन्द्रसूर्यौ ग्रहैरिव ॥ १७ ॥ प्रबभौ हरिसैन्यं तत् शालतालशिलायुधम् । सुमहच्छालिभवनं यथा सूर्योदयं प्रति

को गिरपड़ते थे और कितने ही चारों ओरसे धूलि उड़ातेहुए आते थे ॥ १२ ॥ वह वानरोंकी महासेना दूरसे देखनेवालोंको जलसे लबालब भरेहुए महासागरसी प्रतीत होती थी, उस सेनाने सुग्रीवकी संमतिके अनुसार उस पहाड़के पास ही पड़ाव डाल दिया ॥ १३ ॥ उन सब वानरराजोंके आकर इकट्ठे होजाने पर श्रीमान् रामचन्द्रजीने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्त्तमें सुग्रीवके सहित, उस व्यूहरचनावाली वानरोंकी सेनाको लेकर मानो दूसरे लोकोंकी रचना करते हों, इसप्रकार तहाँसे प्रयाण (कूच) करदिया ॥ १४ ॥ १५ ॥ उस सेनामें सबसे आगे २ पवननन्दन हनुमान्जी चलते थे और पिछले भागकी रक्षा, जिन को कहीं भी भय नहीं था ऐसे सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी करते थे ॥ १६ ॥ वानरोंकी महासेनासे घिरेहुए राम तथा लक्ष्मण हाथोंमें चमड़ेके मोजे चढ़ाकर तथा भाथे और धनुष बाण लेकर चले जारहे थे, उस समय वे ग्रहोंसे घिरेहुए सूर्य तथा चन्द्रमाकी समान शोभा पारहे थे ॥ १७ ॥ वह वानरोंकी सेना हाथोंमें साल, ताल और शिलारूपी शस्त्र लिये हुए थी और वह सेना सूर्योदयके समय पकेहुए धानोंके बड़े भारी वनकी समान पीली दीखती थी ॥ १८ ॥ नल, नील, अङ्गद, क्राथ, द्विविद आदि

॥ १८ ॥ नलनीलाङ्गदक्राथमैन्दद्विविदपालिता । ययौ सुमहती सेना राघवस्यार्थसिद्धये ॥१९॥ विविधेषु वनेष्वेषा बहुमूलफलेषु च । प्रभूतमधुमांसेषु वारिमत्सु शिवेषु च ॥२०॥ निवसंती निराबाधा तथैव गिरिसानुषु उपायाद्धरिसेना सा क्षीरोदमथ सागरम् ॥ २१ ॥ द्वितीयसागरनिभं तद्बलं बहुलध्वजम् । वेलावनं समासाद्य निवासमकरोत्तदा ॥ २२ ॥ ततो दाशरथिः श्रीमान् सुग्रीवं प्रत्यभाषत । मध्ये वानरमुख्यानां प्राप्तकालमिदं वचः ॥ २३ ॥ उपायः को नु भवतां मतः सागरलंघने । इयं हि महती सेना सागरश्चातिदुस्तरः ॥ २४ ॥ तत्रान्ये व्याहरन्ति स्म वानरा बहुमानिनः। समर्था लंघने सिन्धोर्न तु तत् कृत्स्नकारकम् ॥ २५ ॥ केचिन्नौभिर्व्यवस्यन्ति केचिच्च विविधैः

बड़े २ वानर इस वानरोंकी महासेनाके आस पास रहकर रक्षा करते थे और वह महासेना रामका काम सिद्ध करनेके लिये बराबर आगेको बढ़ी चलीजाती थी ॥ १९ ॥ वह वानरसेना, उत्तम प्रकारके बहुतसे फलफूलोंवाले, बहुत मांस मदिरावाले और बहुतसे जलवाले सुखदायक प्रदेशोंमें तथा पहाडके शिखरों पर, इसप्रकार अनेकों स्थानोंमें पड़ाव डालती २ खारे समुद्रके समीप आपहुंची ॥ २० ॥२१॥ अनेकों ध्वजाओंसे शोभायमान दीखती हुई वह सेना, अनेकों ध्वजा (मगर मच्छ) वाले महासागरकी समान मालूम होती थी, तदनन्तर उस सेनाने समुद्रके किनारे परके वनमें पडाव डाला ॥ २२ ॥ सबके विश्राम करलेने पर दशरथनन्दनने मुख्य वानरोंके मध्यमें सुग्रीवसे समयानुकूल वचन बोलतेहुए कहा, कि–॥२३॥ हे सुग्रीव ! तुमने सागरके पार होने के लिये क्या उपाय विचारा है ? यह सेना बहुत बड़ी है और समुद्र महादुस्तर है ॥ २४ ॥ रामकी इस बातको सुनकर, तहाँ बैठेहुए कितने ही महाअभिमानी वानर कहने लगे, कि—हम तो सागरको लांघसकते हैं, परन्तु यह काम सबसे नहीं होसकता

प्लवैः । नेति रामस्तु तान् सर्वान् सान्त्वयन्प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥ शतयोजनविस्तारं न शक्ताः सर्ववानराः । क्रान्तुं तोयनिधिं वीरा नैषा वो नैष्ठिकी मतिः ॥ २७ ॥ नावो न सन्ति सेनाया बह्व्यस्तारयितुं तथा वणिजामुपघातञ्च कथस्मद्विधश्चरेत् ॥ २८ ॥ विस्तीर्णं चैव नः सैन्यं हन्याच्छिद्रेण वै परः । प्लवोडुपप्रतारश्च नैवात्र मम रोचते ॥ २९ ॥ अहं त्विमं जलनिधिं समारप्स्याम्युपायतः । प्रतिशेष्याम्युपवसन् दर्शयिष्यति मान्ततः ॥ ३० ॥ न चेद्दर्शयिता मार्गं धक्ष्याम्येनमहं ततः । महास्त्रैरप्रतिहतैरत्यग्निपवनोज्ज्वलैः ॥ ३१ ॥ इत्युक्त्वा सह सौमित्रिरुप-

---

॥ २५ ॥ कितने हा वानर बोले, कि—नौकाओंमें बैठकर परले पार चलेजायँगे और कितने ही बोले, कि—तोंबी तथा घड़े बाँधकर पार पहुंचजायँगे, परन्तु रामने उन सबोंको समझातेहुए कहा, कि—नहीं ऐसा नहीं होसकता ॥ २६ ॥ हे वीरो ! सौ योजन चौड़े सागरको सब वानर नहीं तरसकते, इस लिये तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है ॥ २७ ॥ तथा सेनाको पार पहुंचानेके लिये हमारे पास बहुतसी नौका (जहाज) भी नहीं हैं, हां व्यापारियोंके जहाजोंमें बैठाकर परले पार पहुंचाया जासकता है, परन्तु मुझसा पुरुष व्यापारियोंकी हानि कैसे कर सकता है ? ॥ २८ ॥ और हमारी सेना है भी बहुत, इसकी यदि हम ठीक २ रक्षा नहीं करेंगे तो शत्रु अवसर पाकर कहीं हमारी सेनाका नाश कर न डालें ! इसलिये समुद्रमें तोंबी घड़े आदिकी नौकाओंसे परले पार पहुंचनेका प्रयास करना मुझे उचित नहीं मालूम होता ॥ २९ ॥ मैं तो इस सागरकी किसी युक्तिसे उपासना करूंगा और उपासना करताहुआ इस तटपर सोऊँगा तब वह मुझे मार्ग बतावेगा ॥ ३० ॥ यदि उपासना करने पर भी वह मार्ग नहीं बतावेगा तो फिर पवनकी समान सुसकारियें भरनेवाले अग्निसे भी अधिक दहकतेहुए पीछेको न हटनेवाले शस्त्रोंसे इस समुद्रको जलाकर सुखाडालूंगा ॥ ३१ ॥ ऐसा कहनेके अनन्तर

स्पृश्याथ राघवः। प्रतिशिश्ये जलनिधिं विधिवत् कुशसंस्तरे ॥ ३२ ॥ सागरस्तु ततः स्वप्ने दर्शयामास राघवम्। देवो नदनदीभर्त्ता श्रीमान् यादोगणैर्वृतः ॥ ३३ ॥ कौसल्यामातरित्येवमाभाष्य मधुरं वचः। इदमित्याह रत्नानामाकरैः शतशो वृतः ॥ ३४ ॥ ब्रूहि किन्ते करोम्यत्र साहाय्यं पुरुषर्षभ। ऐक्ष्वाको ह्यस्मि ते ज्ञातिरिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ३५ ॥ मार्गमिच्छामि सैन्यस्य दत्तं नदनदीपते। येन गत्वा दशग्रीवं हन्यां पौलस्त्यपांसनम् ॥ ३६ ॥ यद्येवं याचतो मार्गं न प्रदास्यति मे भवान्। शरैस्त्वां शोषयिष्यामि दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ ३७ ॥ इत्येवं ब्रुवतः श्रुत्वा रामस्य वरुणालयः। उवाच व्यथितो वाक्य-

राम तथा लक्ष्मण समुद्रके जलका आचमन करके विधिपूर्वक समुद्रके समीपमें कुशाके आसन पर लेटे और निद्राके वशमें होगये ॥ ३२ ॥ तदनन्तर हजारों रत्नाकरोंसे घिरेहुए नद और नदियोंके स्वामी श्रीमान् सागरने जलचरों सहित स्वप्नमें आकर रामजीको दर्शन दिया ॥ ३३ ॥ और हे कौसल्यानन्दन ! ऐसे मधुर वचनोंसे रामको पुकार कर सैंकड़ों रत्नोंके भण्डारोंसे घिरेहुए सागरने इसप्रकार कहा, कि—॥ ३४ ॥ हे श्रेष्ठ पुरुष ! कहिये मैं आपकी किसप्रकारकी सहायता करूँ ? मैं भी इक्ष्वाकुवंशमें ही उत्पन्न हुआ हूं और तुम्हारा कुटुम्बी हूं, यह सुनकर रामने समुद्रसे कहा, कि—॥ ३५ ॥ हे नद और नदियोंके स्वामी ! मैं इस समुद्रमें अपनी सेनाके लिये मार्ग चाहता हूं, जिस मार्गसे लङ्कापुरीमें जाकर मैं पुलस्त्यकुलके कलङ्करूप रावणका नाश करूँ ॥ ३६ ॥ यदि तू इसप्रकार याचना करनेपर भी मुझे मार्ग नहीं देगा तो मैं दिव्य अस्त्रोंके मंत्र पढ़कर छोड़े हुए बाणोंसे तुझे सुखाडालूंगा ॥ ३७ ॥ वरुणका भवनरूप समुद्र ऐसा कहतेहुए रामकी बातको सुनकर मनमें दुःखी हुआ और दोनों हाथ जोड़

मिति बद्धाञ्जलिः स्थितः ॥ ३८ ॥ नेच्छामि प्रतिघातन्ते नास्मि विघ्नकरस्तव । शृणु चेदं वचो राम श्रुत्वा कर्त्तव्यमाचर ॥ ३६ ॥ यदि दास्यामि ते मार्गं सैन्यस्य व्रजतोऽज्ञया । अन्येऽप्याज्ञापयिष्यन्ति मामेवं धनुषो बलात् ॥४०॥ अस्ति तत्र नलो नाम वानरः शिल्पसम्मतः । त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान् विश्वकर्मणः ॥ ४१ ॥ स यत् काष्ठं तृणं वापि शिलाम्वा क्षेप्स्यते मयि । सर्वं तद्धारयिष्यामि स ते सेतुर्भविष्यति ॥ ४१ ॥ इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन् रामो नलमुवाच ह । कुरु सेतुं समुद्रे त्वं शक्तो ह्यसि मतो मम ४३ तेनोपायेन काकुत्स्थः सेतुबन्धमकारयत् । दशयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४४ ॥ नलसेतुरितिख्यातो योऽद्यापि प्रथितो भुवि ।

कर खड़ा २ कहनेलगा, कि–॥ ३८ ॥ मैं आपका अपमान करना नहीं चाहता और आपके काममें विघ्न डालनेवाला भी मैं नहीं हूं, हे राम ! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूं उसको सुनलीजिये और फिर जैसी आपकी इच्छा हो सो कीजिये॥ ३६॥मैं यदि तुम्हारी आज्ञासे तुम्हें तथा तुम्हारी सेनाको जानेका मार्ग देदूँगा तो फिर दूसरा भी कोई इसीप्रकार धनुषका बल दिखाकर मुझे मार्ग देनेकी आज्ञा करेगा, इसलिये इस बानको आप रहने दीजिये ॥ ४० ॥ इस तुम्हारी सेनामें ही शिल्पियोंमें प्रतिष्ठा पायाहुआ नल नामका एक वानर है वह बलवान् और देवताओंके शिल्पी विश्वकर्माका पुत्र लगता है ॥ ४१ ॥ वह नल तृण, काठ या शिला जो कुछ भी मेरे ऊपर डालेगा उस सबको मैं तैरताहुआ रक्खूंगा तो एक पुलसा बनजायगा ॥ ४२ ॥ ऐसा कहकर सागर अन्तर्धान हो गया, फिर रामने नलसे कहा, कि–हे नल ! मैं तुझे पुल बनाने की शक्तिवाला मानता हूं, इसलिये तू समुद्रके ऊपर सेतु बना ॥ ४३ ॥ ऐसा कहकर उस उपायसे रामने नलके हाथसे सागर पर दश योजन चौडा और सौ योजन लम्बा एक पुल बँधवाया ॥४४॥ रामचन्द्रजीकी आज्ञाको मानकर बड़ेभारी पर्वतकी समान

रामस्याज्ञां पुरस्कृत्य निर्यातो गिरिसन्निभः ॥ ४५ ॥ तत्रस्थं स तु धर्मात्मा समागच्छद्विभीषणः । भ्राता वै राक्षसेन्द्रस्य चतुर्भिः सचिवैः सह ॥ ४६ ॥ प्रतिजग्राह रामस्तं स्वागतेन महात्मनाः । सुग्रीवस्य तु शङ्काभूत् प्रणिधिः स्यादिति स्म ह ॥ ४७ ॥ राघवः सत्यचेष्टाभिः सम्यक् सुचरितेङ्गितैः । यदा तत्त्वेन तुष्टोऽभूत् तत एनमपूजयत् ॥ ४८ ॥ सर्वराक्षसराज्ये चाप्यभ्यसिञ्चद्विभीषणम् चक्रे च मन्त्रावरजं सुहृदं लक्ष्मणस्य च ॥४९॥ विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम् । ससैन्यः सेतुना तेन मासेनैव नराधिप ॥ ५० ॥ ततो गत्वा समासाद्य लङ्कोद्यानान्यनेकशः । भेदयामास कपिभिर्महान्ति च बहूनि च ॥ ५१ ॥ तत्रस्थौ रावणामात्यौ मन्त्रि-

---

वह पुल अब भी पृथ्वीपर नलसेतुके नामसे प्रसिद्ध है ॥ ४५ ॥ तदनन्तर राक्षसराज रावणका भाई धर्मात्मा विभीषण चार मंत्रियोंको साथ लेकर समुद्रके किनारे पर उतरेहुए रामके पास आया और उदार मनवाले रामने अपने पास आयेहुए विभीषण का स्वागतकरके उसकी प्रतिष्ठा की, सुग्रीवके मनमें सन्देह हुआ, कि–यह कहीं रावणका कोई गुप्त दूत न हो ॥ ४६ ॥४७॥ परन्तु रामने विभीषणके मुखकी ओरको देखा तो उसकी सत्य चेष्टा, उत्तम चरित्र तथा हृदयका शुद्ध भाव यथार्थरूपसे जाननेमें आ-गया, इसकारण वह उसके ऊपर प्रसन्न होगये और विभीषण को सब राक्षसोंके राज्यका अभिषेक करके उसका सत्कार किया और लक्ष्मणके साथ मित्रता कराकर उसको अपना मंत्रसचिव (गुप्त सलाहकार) बनालिया ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ हे राजन्! तद-नन्तर राम विभीषणकी संमति लेकर सेनासहित उस पुलके ऊपर चलते २ एक महीनेमें समुद्रको लांघकर परलेपार जापहुंचे ॥ ५० ॥ और लङ्काकी सीमा पर छावनी डालकर रामने तहां पड़ाव किया, वानरोंसे लङ्कामेंके अनेकों बड़े २ बगीचोंको नष्ट करवाडाला ॥ ५१ ॥ तहां जो शुक तथा सारण नामवाले रावणके

णौ शुकसारणौ । चरौ वानररूपेण तौ जग्राह विभीषणः॥५२॥ प्रतिपन्नौ यदा रूपं राक्षसं तौ निशाचरौ । दर्शयित्वा ततः सैन्यं रामः पश्चादवासृजत् ॥ ५३ ॥ निवेश्योपवने सैन्यं तत्पुरः प्राज्ञ-वानरम् । प्रेषयामास दौत्येन रावणस्य ततोऽङ्गदम् ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सेतुबन्धने त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८३ ॥

मार्कण्डेय उवाच । प्रभूतान्नोदके तस्मिन् बहुमूलफले वने । सेनां निवेश्य काकुत्स्थो विधिवत् पर्य्यरक्षत ॥ १ ॥ रावणः संविधिञ्चक्रे लङ्कायां शास्त्रनिर्मितम् । प्रकृत्यैव दुराधर्षा दृढप्राकार-तोरणा ॥ २ ॥ अगाधतोयाः परिखा मीननक्रसमाकुलाः ।

दो मंत्री वानरोंका रूप धरकर दूत बनेहुए रामकी सेनामें आगये परन्तु विभीषणकी उनके ऊपर दृष्टि पड़गई सो विभीषणने उन दोनोंको कैद करलिया। ५२॥तब उन दोनोंने फिर अपना राक्षस रूप प्रकट करदिया, तब रामने उन दोनोंको अपनी सब सेना दिखाकर छोड़दिया ॥५३॥ फिर रामने अपनी सेना का नगरके बगीचोंमें पड़ाव डाला और फिर बुद्धिमान् अङ्गद नामके वानर को दूत बनाकर रावणके पास भेजा ॥५४॥ दो सौ तिरासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८३ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि हे युधिष्ठिर ! रामने बहुतसे अन्न कन्द, फल तथा जलवाले वनके प्रदेशमें अपनी सेनाका पड़ाव डालकर बहुत ही सावधानीके साथ उसकी रक्षा करना आरम्भ करदिया ॥ १ ॥ दूसरी ओर रावणने भी शास्त्रमें लिखे अनुसार लङ्कापुरीमें युद्धकी सब सामग्रियें इकट्ठी करवाईं, लङ्काके किले और द्वार बड़े मजबूत थे, इसकारण स्वभावसे ही उसमें कोई नहीं घुससकता था ॥ २ ॥ उस लङ्काके चारों ओर सात खाइयें थीं, उनमें अगाध जल भराहुआ था, और मगर मच्छोंसे भरपूर

बभूवुः सप्त दुर्धर्षाः खादिरैः शंकुभिश्चिताः ॥ ३ ॥ कपाटयन्त्रदुर्धर्षाः बभूवुः सगुडोपलाः । साशीविषघटा योधाः ससर्जरसपांसवः ॥ ४ ॥ मुसलालातनाराचतोमरासिपरश्वधैः । अन्विताश्च शतघ्नीभिः समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ५ ॥ पुरद्वारेषु सर्वेषु गुल्माः स्थावरजङ्गमाः । बभूवुः पत्तिबहुलाः प्रभूतगजवाजिनः ॥ ६ ॥ अङ्गदस्त्वथ लङ्काया द्वारदेशमुपागतः । विदितो राक्षसेन्द्रस्य प्रविवेश गतव्यथः ॥ ७ ॥ मध्ये राक्षसकोटीनां बह्वीनां सुमहाबलः । शुशुभे मेघमालाभिरादित्य इव संवृतः ॥ ८ ॥ स समासाद्य पौलस्त्यममात्यैरभिसम्वृतम् । रामसन्देशमामन्त्र्य वाग्मी वक्तुं प्रचक्रमे ।९।

थीं तथा खैरकी कीलें उनमें जहाँ तहाँ पडीहुई थीं ॥३॥ बड़े २ द्वार शस्त्र फेंकनेके यन्त्र, लोहेकी गदायें, गोले, राल तथा विषधर सर्पोंके समूहोंके कारण भी उस नगरीमें कोई नहीं घुससकता था ॥ ४ ॥ मूसल, उल्मुक (बलताहुई बरेठियें) बाण, तोमर, तलवार, फरसे, तोप और मोमके मुद्गरोंके कारणसे भी उस नगरी पर कोई अधिकार नहीं करसकता था ॥ ५ ॥ उस नगरीके सब दरवाजों पर स्थावर (एक ही स्थान पर रहनेवाले) और जङ्गम (इधर उधर फिरकर रक्षा करनेवाले) बहुतसे गुल्म (रिसाले) नियत करदिये थे, जिनमें बहुतसे पैदल, हाथी और घोड़े हरसमय तयार रहते थे ॥ ६ ॥ ऐसी लङ्कापुरीके द्वार पर रामका दूत अङ्गद जाकर खड़ाहुआ उसने पहिले तो राक्षसराजके पास समाचार भेजा और फिर निर्भय होकर घुसाचलागया ॥ ७ ॥ और फिर महाबली अङ्गद करोड़ों राक्षसोंके बीचमें जाकर खडा होगया, उस समय वह मेघमालासे घिरेहुए सूर्यका समान शोभ पारहा था ॥ ८ ॥ वाचाल अङ्गद अपने कारबारियोंकी मण्डलोके बीचमें बैठेहुए रावणके ठीक पास जाकर इसको संबोधन करके इसप्रकार रामका सन्देशा कहने-

आह त्वां राघवो राजन् कोशलेन्द्रो महायशाः । प्राप्तकालमिदं वाक्यं तदादत्स्व कुरुष्व च ॥ १० ॥ अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् । विनश्यन्त्यनयाविष्टा देशाश्च नगराणि च ॥ ११ ॥ त्वयैकेनापराद्धं मे सीतामाहरता बलात् । वधायानपराद्धानामन्येषां तद्भविष्यति ॥ १२ ॥ ये त्वया बलदर्पाभ्यामाविष्टेन वनेचराः । ऋषयो हिंसिताः पूर्वं देवाश्चाप्यवमानिताः १३ राजर्षयश्च निहताः रुदत्यश्च हताः स्त्रियः । तदिदं समनुप्राप्तं फलं तस्यानयस्य ते ॥ १४ ॥ हन्तास्मि त्वां सहामात्यैर्युध्यस्व पुरुषो भव । पश्य मे धनुषो वीर्यं मानुषस्य निशाचर ॥ १५ ॥ मुच्यतां जानकी सीता न मे मोक्ष्यसि

लगा, कि–॥९॥ हे राजन् ! रघुवंशमें उत्पन्न हुए कोसल देशके राजा रामने तुझे मेरे द्वारा समयके योग्य सन्देशा भेजा है, उस को तू सुन और उसमेंका सार ग्रहण करके उसके हा अनुसार वर्त्ताव कर ॥ १० ॥ जिसको अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं होता और जो अन्याय करने लगता है ऐसे राजाके अधिकारमें जो देश और नगर होते हैं वे भी विपत्तिमें पड़कर डूबजाते हैं ॥११॥ अकेले तूने हीं जोरावरी सीताको हरकर मेरा अपराध किया है, परन्तु इसकारणसे दूसरे निरपराधी भी मारेजायंगे ॥ १२ ॥ तूने पहिले बल और घमण्डके वशमें होकर वनवासी ऋषियोंका नाश किया था, देवताओंका अपमान किया था, राजर्षियोंके तथा रोती हुई अबलाओंके प्राण लिये थे, उस अन्यायका फल अब तुझे अच्छे प्रकारसे मिलजायगा ॥ १३ ॥ १४ ॥ मैं तेरा तथा तेरे मंत्रियोंका नाश करूँगा, इसलिये अब तू पुरुष बनकर युद्ध करने के लिये तयार होजा और अपना पुरुषार्थ दिखा, हे निशाचर ! मनुष्य होने पर भी मेरे धनुषमें कितना पराक्रम है, इसको तू अब देखेगा ॥ १५ ॥ तू जनकनन्दिनी सीताको छोड़दे (यदि उसको नहीं छोड़ेगा तो) मैं तुझे कभी भीं नहीं छोडूंगा, मैं तीखे बाणोंके प्रहारसे जगत्में एक भीं राक्षसको जीता नह

कर्हिचित् । अराक्षसमिमं लोकं कर्त्तास्मि निशितैः शरैः ॥ १६ ॥ इति तस्य ब्रुवाणस्य दूतस्य परुषं वचः । श्रुत्वा न ममृषे राजा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥१७॥ इङ्गितज्ञास्ततो भर्त्तुश्चत्वारो रजनीचराः । चतुर्ष्वङ्गेषु जगृहुः शार्दूलमिव पक्षिणः ॥ १८ ॥ तांस्तथाङ्गेषु संसक्तानङ्गदो रजनीचरान् । आदायैव खमुत्पत्य प्रासाद तलमाविशत् ॥ १९ ॥ वेगेनोत्पततस्तस्य पेतुस्ते रजनीचराः । भुवि सम्भिन्नहृदयाः प्रहारवरपीडिताः ॥ २० ॥ संसक्तो हर्म्यशिखरात्तस्मात् पुनरवापतत् । लंघयित्वा पुरीं लंकां स्वबलस्य समीपतः २१ कौसलेन्द्रमथागम्य सर्वमावेद्य वानरः । विशश्राम स तेजस्वी राघवेणाभिनन्दितः ॥ २२ ॥ ततः सर्वाभिसारेण हरीणां वातरंहसाम् । भेदयामास लङ्कायाः प्राकारं रघु-

छोड़ूंगा ॥ १६ ॥ रामके दूतने ऐसी कठोर बात कही, उसको रावण नहीं सहसका और वह क्रोधके मारे मूर्छित होगया॥१७॥ उस समय रावणके गूढ़ अभिप्राय (इशारे)का जाननेवाले चार राक्षसोंने पक्षी जैसे सिंहके चार अङ्गोंको पकडलें तैसे अङ्गदको चार स्थानमें पकड लिया ॥ १८ ॥ अङ्गद अपने अङ्गोंमें लिपटे हुए उन राक्षसोंको लेकर वेगसे आकाशमेंको उड़ा और महलकी छत्तपर जाकर बैठगया ॥ १९ ॥ अङ्गदके वेगसे उड़नेके कारण चारों राक्षस उसके शरीरमेंसे छूटकर भूमिपर गिरपड़े और वे अधिक चोट लगनेके कारण पीडित होगये तथा उनकी छाती फटगई ॥ २० ॥ और अङ्गद जो कूदकर रावणके भवनकी चोटी पर जा बैठा था वह फिर तहांसे कूदकर लङ्काके बाहर समुद्रके किनारे, जहां कोसलदेशके राजा रामचन्द्र विराज रहे थे तहां आगया और रावणसे जो बातें हुई थीं वह सब रामसे कहीं, उसको सुनकर तेजस्वी रामने अङ्गदको धन्यवाद दिया, तब अङ्गद विश्राम लेनेको चलागया ॥ २१ ॥ २२ ॥ तदनन्तर रघुनन्दन रामने वायुकी समान वेगवाले वानरोंके द्वारा एकसाथ लङ्का-

नन्दनः ॥ २३ ॥ विभीषणर्क्षाधिपती पुरस्कृत्याथ लक्ष्मणः । दक्षिणं नगरद्वारमवामृद्नाद्दुरासदम् ॥ २४ ॥ करभारुणपांडूनां हराणां युद्धशालिनाम् । कोटीशतसहस्रेण लङ्कामभ्यपतत्तदा ॥२५॥ प्रलम्बबाहूरुकरजंघान्तरविलम्बिताम् । ऋक्षाणां धूम्रवर्णानां तिस्रः कोट्यो व्यवस्थिताः ॥ २६ ॥ उत्पतद्भिः पतद्भिश्च निपतद्भिश्च वानरैः । नादृश्यत तदा सूर्य्यो रजसा नाशितप्रभः ॥ २७ ॥ शालिप्रसूनसदृशैः शिरीषकुसुमप्रभैः । तरुणादित्यसदृशैः शणगौरैश्च वानरैः ॥ २८ ॥ प्राकारं ददृशुस्ते तु समन्तात् कपिलीकृतम् । राक्षसा विस्मिता राजन् सस्त्रीवृद्धाः समन्ततः ॥ २९ ॥ बिभिदुस्ते मणिस्तम्भान् कर्णाट्ट-

पुरीके ऊपर धावा बोलदिया और लङ्काके किलेको तुड़वाडाला २३ और लक्ष्मणने विभीषण तथा जाम्बवान्को आगे करके जिसके भीतर पहुंचना बड़ा ही कठिन था ऐसे लङ्कापुरीके दक्षिणके द्वार पर चढ़ाई की और उस द्वारके टुकड़े २ करडाले ॥ २४ ॥ तथा हाथीकी समान शरीरवाले लाल और पीले वर्णके रणचतुर सौ करोड़ और एक हजार वानरोंको साथ लेकर लङ्कापर युद्ध करने को पहुंचगये ॥ २५ ॥ उस समय उनके साथ लम्बे हाथ और सांथलों वाले, मोटी और लटकती हुई जांघोंवाले तथा बड़े २ पैरोंवाले धूसर रंगके तीन करोड़ रीछ भी लड़नेके लिये तयार होकर खड़े हुए थे ॥ २६ ॥ करोड़ों वानर ऊपरको कूदकर नीचे गिरते तथा कलाबाजियें खाते थे, उनके पैरोंसे उड़ीहुई धूलके कारण कान्ति छुपजानेसे सूर्य भी नहीं दीखता था ॥२७॥ उस समय सालके फूलोंकी समान पीले रङ्गके, सिरीसके फूलकी समान स्वेतवर्णके और पीले रङ्गके, मध्याह्नके सूर्यकी समान रङ्गके और सनकी समान गौरवर्णके वानर किलेके ऊपर चढ़गये थे. इसकारण लङ्का नगरीका किला चारों ओरसे पीला २ होरहा था, हे राजन् ! चारों ओर ऐसी दशा देखकर स्त्रियों और वृद्धों सहित नगरनिवासी राक्षस अचरजमें होगए ॥ २८ ॥ २९ ॥ लङ्काके

शिखराणि च। भग्नोन्मथितशृंगाणि यन्त्राणि च विचिक्षिपुः ॥ ३०॥ परिगृह्य शतघ्नीश्च सचक्राः सगुडोपलाः। चिक्षिपुर्भुजवेगेन लङ्कामध्ये महास्वनाः ॥ ३१ प्राकारस्थाश्च ये केचिन्निशाचरगणास्तथा। प्रदुद्रुवुस्ते शतशः कपिभिः समभिद्रुताः ॥ ३२॥ ततस्तु राजवचनाद्राक्षसाः कामरूपिणः। निर्ययुर्विकृताकाराः सहस्रशतसंघशः ॥ ३३ ॥ शस्त्रवर्षाणि वर्षन्तो द्रावयित्वा वनौकसः। प्राकारं शोभयन्तस्ते परं विक्रममास्थिताः ॥ ३४ ॥ स माषराशिसदृशैर्बभूव क्षणदाचरैः। कृतो निर्वानरो भूयः प्राकारो भीमदर्शनैः ॥ ३५ ॥ पेतुः शूलविभिन्नांगा बहवो वानरर्षभाः। स्तम्भतोरणभग्नाश्च पेतुस्तत्र निशाचराः ॥ ३६ ॥ केशाकेश्यभव-

गढ़पर फिरते हुए वानर मणियोंके खम्भे, छज्जे और हवेलियोंके ऊपरके शिखर तोड़नेलगे और उन तोड़ेहुए महलोंके शिखर, यन्त्र, तोपें, चक्र, गदा और पत्थरोंको उठा २ कर लङ्काके ऊपर फेंकने लगे, बड़ी २ किलकारियें भरने लगे ॥३०॥ ३१॥ और किलेके ऊपर जो कोई राक्षस रक्षा करते थे, वानरोंके सतानेपर उनमेंके सैंकड़ों भाग निकले ॥ ३२ ॥ उस समय रावणने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंको आज्ञा दी, कि-तुरन्त सैंकड़ों और हजारों भयानकरूपधारी राक्षस लड़नेके लिये बाहर निकल पड़े ॥३३॥ और बाणोंकी वर्षा करके वनवासी पशुओंको तहांसे भगादिया तथा महापराक्रम दिखाकर वे किलेको शोभा देनेलगे, इसप्रकार भयङ्कर दीखनेवाले राक्षसोंने किलेके ऊपरसे वानरोंको भगादिया, तब पहिले वानर जिस किले पर थे वह किला अब उड़दोंका ढेरसा दीखनेलगा ॥ ३४ ॥ ॥ ३५ ॥ परस्पर होनेवाले इस युद्धमें राक्षसोंने बहुतसे बड़े २ वानरोंका त्रिशूलोंसे बींधडाला, तथा खम्भे और बुरज मार २ कर वानरोंने भी अनेकों राक्षस मारडाले, जो कि-प्राणहीन होकर पृथ्वीपर पड़े हुए थे ॥ ३६ ॥ फिर राक्षस तथा वानर

युद्धं रक्षसां वानरैः सह। नखैर्दन्तैश्च वीराणां खादतां वै परस्परम् ॥ ३७ ॥ निघ्नन्तो ह्यभयतस्तत्र वानरराक्षसाः । हता निपतिता भूमौ न मुञ्चन्ति परस्परम्॥३८॥ रामस्तु शरजालानि ववर्ष जलदो यथा । तानि लंकां समासाद्य जघ्नुस्तान् रजनीचरान् ॥ ३९ ॥ सौमित्रिरपि नाराचैर्दृढधन्वा जितक्लमः । आदिश्यादिश्य दुर्गस्थान् पातयामास राक्षसान् ॥४०॥ततः प्रत्यवहारोऽभूत् सैन्यानां राघवाज्ञया । कृते विमर्दे लंकायां लब्धलक्ष्यो जयोत्तरः ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि लंकाप्रवेशे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८४ ॥

मार्कण्डेय उवाच । ततो निविशमानांस्तान् सैनिकान्रावणानुगाः । अभिजग्मुर्गणानेके पिशाचक्षुद्ररक्षसाम् ॥ १ ॥ पर्वणः

आपसमें चोटियें पकड २ कर लड़नेलगे, परस्पर नख और दांतोंसे बुक्के और कचक्के भरकर युद्ध करनेलगे, दोनों ओरके योधा बड़ी गर्जना करने लगे, वे मर २ कर भूमिपर गिरते थे, परन्तु प्राण निकलने तक दूसरेको छोड़ते नहीं थे॥ ३७ ॥ ३८ ॥ दूसरी ओर राम मेघकी समान लङ्कापुरीके ऊपर बाणोंकी वर्षा कररहे थे और वह वर्षा लङ्कामें जाकर राक्षसोंका संहार करती थी ॥ ३९ ॥ तीसरी ओरसे दृढ़ धनुपधारी और दुःखको सहन करनेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण भी किलेके ऊपर खडे हुए राक्षसोंको ताक २ कर बाण मारकर नीचे गिराते थे॥ ४० ॥ ऐसे लङ्काकी रक्षाके कामोंको अस्तव्यस्त करके रामजीकी आज्ञाके अनुसार वानरसेना युद्ध बंद करके विश्राम करनेके लिये छावनीकी ओर को लौटी, इस चढ़ाईमें रामकी सेनाका विजय हुआ और उनके प्रहार भी सफल हुए थे ॥ ४१ ॥ दोसौ तिरासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८३ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि—हे युधिष्ठिर! इसप्रकार रामकी सेना के आराम करनेको चलीजाने पर पर्वण, पतन, जम्भ, खर, क्रोध,

पतनो जम्भः खरःक्रोधवशो हरिः। मरुजश्चारुजश्चैव प्रघसश्चैव वादयः ॥ २ ॥ ततोऽभिपततां तेषामदृश्यानां दुरात्मनाम्। अन्तर्धानवधं तज्ज्ञश्चकार स विभीषणः ॥ ३ ॥ ते दृश्यमाना हरिभिर्बलिभिर्दूरपातिभिः। निहताः सर्वशो राजन् महीं जग्मुर्गतासवः ॥ ४ ॥ अमृष्यमाणः सबलो रावणो निर्ययावथ। राक्षसानां बलैर्घोरैः पिशाचानाञ्च संवृतः ॥ ५ ॥ युद्धशास्त्रविधानज्ञ उशना इव चापरः। व्यूह्य चौशनसं व्यूहं हरीनभ्यवहारयत्॥ ६ ॥राघवस्तु विनिर्यान्तं व्यूढानीकं दशाननम्। बार्हस्पत्यं विधिं कृत्वा प्रत्यव्यूहन्निशाचरम् ॥७॥ समेत्य युयुधे तत्र ततो रामेण राघवः।

वश, हरि, मरुज, अरुज और मघस आदि रावणके अनेकों पिशाच और क्षुद्र राक्षसोंने छावनीमें पड़ाव करके आराम लेते हुए रामके योधाओंके ऊपर चढ़ाई करदी ॥ १ ॥ २ ॥ वे दुष्टात्मा मायासे अदृश्य (बेमालूम) होकर चढ़ आयेथे, परन्तु उनको आतेहुए देखकर अन्तर्धानकी विद्यामें चतुर विभीषणने उनकी अदृश्य विद्याका नाश करदिया ॥ ३ ॥ तब वे प्रत्यक्ष दीखनेलगे और हे राजन् ! बहुत दूरतक ऊँचे उडनेवाले महाबली वानरों ने उन सब दैत्योंका नाश किया और वे प्राणहीन होकर पृथ्वी पर गिरगये ॥४॥ यह बात जब रावणने सुनी तो वह सह नहीं सका, इसकारण पिशाच और राक्षसोंकी भयावनी सेनाको साथ लेकर लड़नेके लिये अपनेआप ही नगरसे बाहर निकल आया ॥ ५ ॥ रावण दूसरे शुक्राचार्यकी समान युद्ध शास्त्रकी कलामें चतुर था, उसने शुक्राचार्यकी कहीहुई व्यूहरचनावाली सेनासे,वानरदलको चारों ओरसे घेरलिया॥६॥परन्तु जब रामने देखा, कि–दशाननने युद्ध करनेके लिये व्यूहरचनावाली अपनी सेनासे हमारे दलको घेरा है तब तो उन्होंने बृहस्पतिकी कही हुई व्यूहरचनावाली सेनासे उन राक्षसोंको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ७॥ फिर रामजी रावणके सामने आकर उसके साथ युद्ध

युयुधे लक्ष्मणश्चापि तथैवेन्द्रजिता सह ॥ ८ ॥ विरूपाक्षेण सुग्रीव-स्तारेण च निखर्वटः। तुण्डेन च नलस्तत्र पटुशः पनसेन च ॥६॥ विपक्षं यं हि यो मेने स स तेन समेयिवान् । युयुधे युद्धवेलायां स्वबाहुबलमाश्रितः ॥१०॥ स संप्रहारो ववृधे भीरूणां भयवर्धनः। लोमसंहर्षणो घोरः पुरा देवासुरे यथा ॥ ११ ॥ रावणो राममा-नर्च्छच्छक्तिशूलासिवृष्टिभिः । निशितैरायसैस्तीक्ष्णै रावणश्चापि माधवः ॥ १२ ॥ तथैवेन्द्रजितं यत्तं लक्ष्मणो मर्मभेदिभिः । इन्द्र-जिच्चापि सौमित्रिं बिभेद बहुभिः शरैः ॥ १३ ॥ विभीषणः प्रहस्तञ्च प्रहस्तश्च विभीषणम् । खगपत्रैः शरैस्तीक्ष्णैरभ्यवर्षद्गत-व्यथः ॥ १४ ॥ तेषां बलवतामासीन्महास्त्राणां समागमः । विव्यथुः

करनेलगे, और लक्ष्मण इन्द्रजीतके साथ युद्ध करनेलगे॥८॥सुग्रीव विरूपाक्षके साथ, निखर्वट तारके साथ, नल तुण्डके साथ और पटश पनसके साथ युद्ध करनेलगा ॥ ६ ॥ इस युद्धमें जिसने अपनेको जिसके साथ युद्ध करनेमें समर्थ जाना वह उसके ही साथ अपने बाहुबलके भरोसे पर जूझने लगा ॥ १० ॥ आपस में लड़ते २ यह संग्राम यहाँतक बढ़गया, कि—पहिले हुए देवा-सुर संग्रामकी समान रोमांच करनेवाला तथा देखनेवालोंको भय उत्पन्न करनेवाला होगया ॥ ११ ॥ रावण, रामके ऊपर शक्ति शूल और तलवारोंके प्रहार कर रहाथा और राम रावणको तेज करेहुए लोहेके तीक्ष्ण बाणोंसे माररहे थे ॥ १२ ॥ दूसरी ओर लक्ष्मण, मर्मभेदी तीखे बाण, युद्ध करनेको तयार होकर आये हुए इन्द्रजीतके माररहे थे और इन्द्रजीत भी तीखे बाणोंसे सुमित्रानन्दन लक्ष्मणके ऊपर प्रहार कररहा था ।। १३ ॥ पीड़ारहित विभीषण प्रहस्तके ऊपर और प्रहस्त विभीषणके ऊपर ऐसे दोनों परस्पर पक्षियोंके परोंवाले तेज बाणोंको बरसारहे थे ॥१४॥ इन सब महाबलियों केबड़े २ अस्त्रोंका आपसमें भिड़ाव होनेलगा, जिससे

सकला येन त्रयो लोकाश्चराचराः ॥ १५ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरक्षसादिद्वंद्वयुद्धे पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥

मार्कण्डेय उवाच। ततः प्रहस्तः सहसा समभ्येत्य विभीषणम्। गदया ताडयामास विनद्य रणकर्कशः ॥ १ ॥ स तयाभिहतो धीमान् गदया भीमवेगया। नाकम्पत महाबाहुर्हिमवानिव सुस्थिरः ॥ २ ॥ ततः प्रगृह्य विपुलां शतघण्टां विभीषणः। अनुमन्त्र्य महाशक्तिं चिक्षेपास्य शिरः प्रति ॥३॥ पतन्त्या स तया वेगाद्राक्षसोऽशनिवेगया। हृतोत्तमाङ्गो ददृशे वातरुग्ण इव द्रुमः ॥ ४ ॥ तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये प्रहस्तं क्षणदाचरम्। अभिदुद्राव धूम्राक्षो वेगेन महता कपीन् ॥ ५ ॥ तस्य मेघोपमं सैन्यमापतद्भीमदर्शनम्। दृष्ट्वैव

कि—तीनों लोकोंके स्थावर जंगम सब प्राणी बड़ी पीडा पानेलगे ॥ १५ ॥ दो सौ पिचासीवां अध्याय समाप्त ॥२८५॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—हे युधिष्ठिर! तिसके पीछे रणमें भयानक पराक्रम करनेवाले प्रहस्तने एकसाथ विभीषणके सामने आ, महागर्जना करके उसके ऊपर गदाका प्रहार किया ॥ १ ॥ भयानक वेगवाली उस गदाकी चोट लगनेपर भी बुद्धिमान् और बड़ी २ भुजाओंवाला विभीषण जरा भी विचलित नहीं हुआ, किन्तु हिमाचलकी समान डटा खड़ारहा ॥२॥ और फिर उसने सौ घंटियें लगीहुई विशाल आकारकी महाशक्ति हाथमें ले मंत्र पढ़कर उसका प्रहस्तके मस्तक पर प्रहार किया ॥ ३ ॥ वज्रकी समान वेगसे पड़ीहुई गदासे उस राक्षसका शिर कुचलगया और जैसे आंधीके झपाटेसे वृक्ष भूमिपर ढहपड़ता है तैसे ही प्रहस्त पृथ्वीपर गिरताहुआ देखागया ॥ ४ ॥ रणमें प्रहस्तको मरते देख कर धूम्राक्ष नामका असुर बड़े वेगसे वानरोंके ऊपर चढ़ आया ॥ ५ ॥ और साथमें ही उसकी घनघटाकी समान भयानक दीख-नेवाली सेना भी चढ़ आयी. बड़े २ वानर उस भयानक सेना

थिम् । धूम्राक्षमवधीत् क्रुद्धो हनूमान् मारुतात्मजः ॥ १४ ॥ ततस्ते निहतं दृष्ट्वा धूम्राक्षं राक्षसोत्तमम् । हरयो जातविश्रम्भा जघ्नुरन्ये च सैनिकान् ॥ १५ ॥ ते वध्यमाना हरिभिर्बलिभिर्जितकाशिभिः । राक्षसा भग्नसङ्कल्पा लङ्कामभ्यपतन् भयात् ॥ १६ ॥ तेऽभिपत्य पुरं भग्ना हतशेषा निशाचराः । सर्वं राज्ञे यथावृत्तं रावणाय न्यवेदयन् ॥१७॥ श्रुत्वा तु रावणस्तेभ्यः प्रहस्तं निहतं युधि । धूम्राक्षञ्च महेष्वासं ससैन्यं वानरर्षभैः ॥ १८ ॥ सुदीर्घमिव निःश्वस्य समुत्पत्य वरासनात् । उवाच कुम्भकर्णस्य कर्मकालोयऽमागतः ॥ १९ ॥इत्येवमुक्त्वा विविधैर्वादित्रैः सुमहास्वनैः । शयानमतिनिद्रालुं कुम्भकर्णमबोधयत् ॥ २० ॥ प्रबोध्य महता

वाले वृक्षोंसे उसको कुचलनेलगा ॥ १३ ॥ इसप्रकार युद्ध होरहा था, इतनेमें ही पवनकुमार हनुमान्को महाक्रोध चढ़आनेसे उन्होंने घोड़े, रथ और सारथी सहित धूम्राक्षको मारडाला ॥ १४ ॥ धूम्राक्षसरीखा श्रेष्ठ राक्षस मारागया, यह देखकर अन्य वानरोंके मनमें धीरज आया और बलवान् वानर राक्षस योधाओंको मारनेलगे ॥ १५ ॥ विजय होनेसे आनन्द मनातेहुए बली वानर जब राक्षसोंका कदन करने पर पिलगये तब राक्षस निराश होगये और जो मरते २ बचरहे थे वे रणभूमिमेंसे भागकर लङ्कापुरीमें घुसगये और उन्होने रावणके आगे आरंभसे अंततक सब बात निवेदन की ॥ १६ ॥ १७ ॥ बड़े वानरोंने युद्धमें महाधनुधारी प्रहस्त और धूम्राक्षको मारडाला है, यह बात राक्षसोंके मुखसे सुनकर ॥ १८ ॥ रावणने लम्बा सांस लिया और आसन परसे खड़ा होकर कहनेलगा, कि-अब कुम्भकर्णके पराक्रम करनेका समय आलगा है, अतः उसको जगाना चाहिये ॥ १९ ॥ इसके अनन्तर बड़े जोरके शब्दोंवाले बाजे बजाकर घोर निद्रामें सोयेहुए निद्राके प्रेमी कुम्भकर्णको बड़े उद्योगोंसे जगाया, जब कुम्भकर्ण नींदसे छूटकर शान्त और स्वस्थ होकर बैठा तब जिसके

चैनं यत्नेनागतसाध्वसः। स्वस्थमासीनमव्यग्रं विनिद्रं राक्षसाधिपः ॥ २१ ॥ ततोऽब्रवीद्दशग्रीवः कुम्भकर्णं महाबलम्। धन्योऽसि यस्य ते निद्रा कुम्भकर्णेयमीदृशी ॥ २२ ॥ य इदं दारुणाकारं न जानीषे महाभयम्। एष तीर्त्वार्णवं रामः सेतुना हरिभिः सह ॥ २३ ॥ अवमन्येह नः सर्वान् करोति कदनं महत्। मया ह्यपहृता भार्य्या सीता नामास्य जानकी ॥ २४ ॥ तां नेतुं स इहायातो बद्ध्वा सेतुं महार्णवे। तेन चैव प्रहस्तादिर्महान्नः स्वजनो हतः ॥ २५ ॥ तस्य नान्यो निहन्तास्ति त्वामृते शत्रुकर्षण। संदंशितोऽभिनिर्याय त्वमद्य बलिनाम्वर ॥ २६ ॥ रामादीन् समरे सर्वान् जहि शत्रूनरिन्दम। दूषणावरजौ चैव वज्रवेगप्रमाथिनौ ॥ २७ ॥ तौ त्वां बलेन महता सहितावनुयास्यतः। इत्युक्त्वा राक्षसपतिः

ऊपर भय आपड़ा था ऐसे राक्षसोंके राजा रावणने महाबली कुम्भकर्णसे कहा, कि-हे भाई! तुझे धन्य है, जो तूने ऐसी निद्राको वरलिया है ॥ २०-२२ ॥ इसके ही कारणसे तू हमारे ऊपर जो महाभय आकर पड़ा है, उसको नहीं जानता है, इस समय राम, समुद्र पर पुल बाँधकर उसके द्वारा वानरोंकी सेनाके साथ समुद्रको लाँधकर यहां आगया है और हम सबोंका अपमान करके महासंहार कररहा है, उसके यहां आनेका कारण यह है, कि-मैं उसकी स्त्री जानकीको हरलाया था ॥ २३ ॥ २४ ॥ इस कारण वह अपनी स्त्री सीताको लेनेके लिये महासागरके ऊपर पुल बांधकर यहां आया है और उसने हमारे प्रहस्त आदि बड़े २ सेवकोंको मारडाला है ॥ २५ ॥ हे शत्रुनाशन! तेरे सिवाय और कोई ऐसा नहीं है जो उसका नाश करसके, इसलिये हे महाबली! तू आज कवच आदि पहरकर युद्ध करनेके लिये नगरके बाहर निकल और हे शत्रुनाशन! युद्धमें राम आदि सब शत्रुओंका नाश कर, दूषणके छोटे भाई वज्रवेग और प्रमाथी भी बड़ी सेना लेकर तेरे पीछे२ जायंगे, राक्षसराज रावणने बली कुम्भकर्णसे

कुम्भकर्णं तरस्विनम् ॥२८॥सन्दिदेशेति कर्त्तव्ये वज्रवेगप्रमाथिनौ। तथेत्युक्त्वा तु तौ वीरौ रावणं दूषणानुजौ। कुम्भकर्णं पुरस्कृत्य तूर्णं निर्ययतुः पुरात् ॥ २९ ॥　　छ　　॥　　छ　　॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्ण निर्गमने षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८६ ॥

मार्कण्डेय उवाच। ततो निर्य्याय स्वपुरात् कुम्भकर्णः सहानुगः। अपश्यत् कपिसैन्यन्तज्जितकाश्यग्रतः स्थितम् ॥ १ ॥ स वीक्षमाणस्तत् सैन्यं रामदर्शनकांक्षया। अपश्यच्चापि सौमित्रिं धनुष्पाणिं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥ तमभ्येत्याशु हरयः परिवव्रुः समन्ततः। अभ्यघ्नंश्च महाकायैर्बहुभिर्ज्जगतीरुहैः ॥ ३ ॥ करजैरतुदंश्चान्ये विहाय भयमुत्तमम्। बहुधा युध्यमानास्ते युद्धमार्गैः प्लवङ्गमाः॥ ४ ॥

ऐसा कहा, फिर वज्रवेग और प्रमाथीको सेवकों के द्वारा रणभूमिमें जानेका सन्देशा भेजा ॥ २६–२८ ॥ तब वे दोनों 'बहुत अच्छा, कहकर कुम्भकर्णको आगे करके तत्काल लङ्कापुरीमेंसे बाहर निकलपड़े ॥ २९ ॥ दोसौ छियासीवां अध्याय समाप्त २८६

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि-हे राजन् युधिष्ठिर! कुम्भकर्ण अपने अनुचरोंके साथ लङ्कापुरीमेंसे बाहर निकला और रणभूमिकी ओरको देखा तो सामने ही दृढ मुट्ठियें बांधकर खड़ी हुई कपिसेना उसको दीखी ॥ १ ॥ फिर कुम्भकर्ण रामका दर्शन करनेकी इच्छासे कपिदलमें चारोंओरको देखनेलगा तो एक ओर हाथमें धनुष धारण कर खड़े हुए सुमित्रानन्दन लक्ष्मण दीखे और दूसरी ओर रामको भी खड़े देखा ॥ २ ॥ इतनेमें ही वानरोंने चारों ओरसे उसके पास आकर उसे घेरलिया और बड़े २ अनेकों वृक्षोंसे कुम्भकर्णको मारनेलगे तथा कितने ही वानर महाभयको त्यागकर कुम्भकर्णके देहको नखोंसे बकोटनेलगे इसप्रकार वानर युद्धकी अनेकों रीतियोंसे कुम्भकर्णके साथ जूझने लगे, इनमेंके

नानाप्रहरणैर्भीमैः राक्षसेन्द्रमताडयन्। स ताड्यमानः प्रहसन् भक्षयामास वानरान् ॥ ५ ॥ बलं चण्डबलाख्यञ्च वज्रबाहुञ्च वानरम् । तद् दृष्ट्वा व्यथनं कर्म कुंभकर्णस्य रक्षसः॥६॥उदक्रोशन् परित्रस्तास्तारप्रभृतयस्तदा । तानुच्चैः क्रोशतः सैन्यान श्रुत्वा सहरियूथपान् ॥ ७ ॥ अभिदुद्राव सुग्रीवः कुंभकर्णमपेतभीः। ततो निपत्य वेगेन कुम्भकर्णं महामनाः ॥ ८ ॥ शालेन अघ्निवान् मूर्ध्नि बलेन कपिकुञ्जरः । स महात्मा महावेगः कुम्भकर्णस्य मूर्धनि॥६॥ बिभेद शालं सुग्रीवो न चैवाव्यथयत् कपिः । ततो विनद्य सहसा शालस्पर्शविबोधितः ॥ १० ॥ दोर्भ्यामादाय सुग्रीवं कुम्भकर्णोऽहरद्बलात्। ह्रियमाणन्तु सुग्रीवं कुम्भकर्णेन रक्षसा ॥ ११ ॥ अवेक्ष्याभ्यद्रवद्वीरः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः । सोऽभिपत्य महावेगं रुक्म-

कितने हीं वानर भयङ्कर शस्त्रोंसे राक्षसराजको मारनेलगे, परन्तु कुम्भकर्णको उनकी मारसे जरा भी पीड़ा नहीं होती थीं, किन्तु वह हँसता२ बल,चण्डबल और वज्रबाहु आदि वानरोंका भक्षण करताथा,कुम्भकर्ण राक्षसके इस दुःखदायक कर्मको देखकर।३-६। तार आदि वानरोंके सेनापति भयभीत होकर बड़ी किल्लियें मारने लगे उन वानर सेनापतियोंको आक्रन्द करते सुनकर॥ ७ ॥कपिकुञ्जर उदारमनवाला सुग्रीव,निर्भयताके साथ झपटकर कुम्भकर्ण के ऊपरको दौड़ा और एक सालका वृक्ष बड़े जोरसे कुम्भकर्णके शिरमें मारा ॥ ८॥ ६ ॥ वह सालका वृक्ष टूटगया परन्तु सुग्रीव वानर कुम्भकर्णको जरा भी पीड़ा नहीं पहुंचासका किंतु कुम्भकर्ण सालका वृक्ष लगनेसे एक साथ जागगया और भयदायक गर्जना करताहुआ अपने दोनों हाथोंसे सुग्रीवको पकड़कर जोरावरीसे उसको लेकर भागनेलगा, परन्तु शत्रु वीरोंका नाश करने वाले और मित्रोंको आनन्द देनेवाले सुमित्रानन्दन वीर लक्ष्मण कुम्भकर्णको सुग्रीवको उठाये लियेजाते हुए देखकर उसकी ओर को दौड़े और उसके पास जाकर उन्होंने कुम्भकर्णके ऊपर सोने

पुंखं महाशरम् ॥ १२ ॥ प्राहिणोत् कुम्भकर्णाय लक्ष्मणः परवीरहा । स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहञ्च सायकः ॥ १३ ॥ जगाम दारयन् भूमिं रुधिरेण समुक्षितः । तथा स भिन्नहृदयः समुत्सृज्य कपीश्वरम् ॥ १४ ॥ कुम्भकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः । अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम् ॥ १५ ॥ तस्याभिपततस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छ्रितौ करौ । चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः ॥ १६ ॥ तानप्यस्य भुजान् सर्वान् प्रगृहीतशिलायुधान् । क्षुरैश्चिच्छेद लघ्वस्त्रं सौमित्रिः प्रतिदर्शयन् ॥ १७ ॥ स बभूवातिकायश्च बहुपादशिरोभुजः । तं ब्रह्मास्त्रेण सौमित्रिर्ददाराद्रिचयोपमम् ॥ १८ ॥ स पपात महावीर्यो दिव्यास्त्रा-

के पंख और बड़े वेगवाला एक ऐसा बाण मारा कि–वह कुम्भकर्णके देहपैके बख्तरको तथा देहको फोडकर लोहूसे सनगा। तथा पृथ्वीको फोड़कर चलागया इसप्रकार महाधनुर्धारी कुंभकर्ण की छाती चिरजाने पर उसने वानरोंके राजा सुग्रीवको छोड़दिया और बड़ीभारी शिलारूप शस्त्र उठाकर लक्ष्मणके ऊपरको दौड़ा ॥ १०–१५ ॥ परंतु कुंभकर्ण ज्यों ही लक्ष्मणके ऊपरको दौड़ कर आया, कि–तुरत लक्ष्मणने तीखे फलकेवाले दो बाण छोड़कर उसके दोनों ऊँचे भुजदण्डोंको काटडाला, उसी समय कुंभकर्ण मायासे चार हाथोंवाला बनगया ॥ १६ ॥ तथा उन चारों हाथों में शस्त्ररूपसे शिलायें उठाकर युद्ध करनेको चढ़ आया, यह देख कर सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने शस्त्र छोड़नेमें अपने हाथकी झड़प दिखाते हुए क्षुर नामक बाणोंके प्रहारसे उसके चारों हाथोंको भी काटडाला ॥ १७ ॥ तब कुंभकर्णने तुरत ही अपनी कायाको बड़ी किया तथा बहुतसे पैर, मस्तक और हाथोंवाला होगया, तब लक्ष्मणने ब्रह्मास्त्र छोड़कर पहाड़के एक समूहकी समान कुंभकर्णको चीरडाला ॥ १८ ॥ तथा अनेकों शाखा व डालेंरूप अंकुरोंवाला वृक्ष जैसे बड़े वज्रके लगनेसे जलकर भूमिपर ढह

भिहतो रणे । महाशनिविनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ १९ ॥ तं दृष्ट्वा वृत्रसंकाशं कुम्भकर्णं तरस्विनम् । गतासुं पतितं भूमौ राक्षसा प्राद्रवन् भयात् ॥ २० ॥ तथा तान् द्रवतो योधान् दृष्ट्वा तौ दूषणानुजौ । अवस्थाप्याथ सौमित्रिं संक्रुद्धावभ्यधावताम् ॥ २१ ॥ तावाद्रावन्तौ संक्रुद्धौ वज्रवेगप्रमाथिनौ । अभिजग्राह सौमित्रिर्विनद्योभौ पतत्रिभिः ॥ २२ ॥ ततः सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् । दूषणानुजयोः पार्थ लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ २३ ॥ महता शरवर्षेण राक्षसो सोऽभ्यवर्षत । तौ चापि वीरौ संक्रुद्धावुभौ तं समवर्षताम् ॥ २४ ॥ मुहूर्त्तमेवमभवद्वज्रवेगप्रमाथिनोः । सौमित्रेश्च महाबाहोः संप्रहारः सुदारुणः ॥ २५ ॥ अथाद्रिशृङ्गमादाय हनूमान्मारुतात्मजः । अभिद्रुत्याददे प्राणान्

पड़ताहै तैसे ही महापराक्रमी कुंभकर्ण भी दिव्य अस्त्रोंकी मार से रणभूमिमें ढहपड़ा ॥ १९ ॥ वृत्रासुर की समान बलवाला, महापराक्रमी कुंभकर्ण प्राणहीन हो भूमिपै ढहगया, यह देख राक्षस योधा भयभीत हो भागने लगे ॥ २० ॥ योधाओंको इस प्रकार भागतेहुए देखकर भी दूषणका छोटा भाई वज्रवेग तथा प्रमाथी डटे खडे रहे और क्रोधमें होकर सुमित्राके पुत्रपर टूटपडे लक्ष्मणने भी जोरसे गरजकर बाणोंसे उन दोनोंको बाँधलिया ॥ २१ ॥ २२ ॥ हे कुंतीनन्दन ! फिर दूषणके छोटे भाई और बुद्धिमान् लक्ष्मण इन दोनोंमें रोमाञ्चजनक तुमुल युद्ध होने लगा ॥ २३ ॥ लक्ष्मण रणमें उन दोनों राक्षसोंके ऊपर बाणोंकी बड़ी वर्षा करनेलगे तथा वे दोनों वीर राक्षस भी क्रोधमें भरकर लक्ष्मणके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करनेलगे ॥ २४ ॥ इसप्रकार वज्रवेग और प्रमाथी तथा महाबाहु सुमित्रानन्दन लक्ष्मणमें दोघड़ी तक महादारुण संग्राम होता रहा। ॥ २५ ॥ फिर पवननंदन हनुमान एक महाभयावना पहाड़ का शिखर उखाड़ लाये और वज्रवेग

वज्रवेगस्य रक्षसः ॥ २६ ॥ नीलश्च महता ग्राव्णा दूषणावरजं हरिः । प्रमाथिनमभिद्रुत्य प्रममाथ महाबलः ॥ २७ ॥ ततः प्रावर्त्तत पुनः संग्रामकटुकोदयः । रामरावणसैन्यानामन्योऽन्यमभिधावताम् ॥२८॥ शतशो नैर्ऋतान् वन्या जघ्नुर्वन्यांश्च नैर्ऋताः । नैर्ऋतास्तत्र वध्यन्ते प्रायेण न तु वानराः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्णादिवधे सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८७ ॥

मार्कण्डेय उवाच । ततः श्रुत्वा हतं संख्ये कुम्भकर्णं सहानुगम् । प्रहस्तञ्च महेष्वासं धूम्राक्षश्चातितेजसम् ॥ १ ॥ पुत्रमिन्द्रजितं वीरं रावणः प्रत्यभाषत । जहि राममित्रघ्न सुग्रीवञ्च सलक्ष्मणम् ॥ २ ॥ त्वया हि मम सत्पुत्र यशो दीप्तमुपार्ज्जितम् । जित्वा वज्रधरं संख्ये सहस्राक्षं शचीपतिम् ॥ ३ ॥ अन्तर्हितः प-

---

राक्षसकी ओरको दौड़कर उसके ऊपर प्रहार करके उसके प्राण लेलिये ॥ २६ ॥ और दूसरी ओर महाबली नील वानरने भी दूषणके छोटे भाई प्रमाथीके ऊपर दौडकर बडीभारी शिला मारी और उसके प्राण लेलिये ॥ २७ ॥ तदनन्तर परस्पर के ऊपर चढाई करनेवाली राम तथा रावणकी सेनाओंमें बड़े ही खोटे फलवाला घोर संग्राम फिर होनेलगा ॥ २८ ॥ इस युद्धमें वानरों ने हजारों राक्षसोंको मारडाला और राक्षसोंने हजारों वानरोंको मारडाला, परन्तु तहां राक्षस ही अधिक मारेगये, वानर अधिक नहीं मरे ॥ २६ ॥ दो सौ सतासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि–हे राजन् युधिष्ठिर ! संग्रामभूमि में अनुगामियों सहित महाधनुषधारी प्रहस्त तथा अतितेजस्वी धूम्राक्ष आदि शूर मारेगये, यह सुनकर ॥ १ ॥ रावणने अपने वीर पुत्र इन्द्रजीतसे कहा, कि–हे शत्रुनाशन ! रामका और लक्ष्मणसहित सुग्रीवका नाश कर॥ २ ॥ हे श्रेष्ठ पुत्र ! तूने युद्ध में वज्रधारी शचीपति इन्द्रको जीतकर प्रकाशवान् यश पाया है

काशो वा दिव्येर्दत्तवरैः शरैः। जहि शत्रूनमित्रघ्न मम शस्त्रभृतां-वर ॥ ४ ॥ रामलक्ष्मणसुग्रीवाः शरस्पर्शं न तेऽनघ। समर्थाः प्रतिसोढुञ्च कुतस्तदनुयायिनः ॥ ५ ॥ अगता या प्रहस्तेन कुम्भ-कर्णेन चानघ। वैरस्यापचितिः संख्ये तां गच्छ त्वं महाभुज ॥ ६ ॥ त्वमद्य निशितैर्वाणैर्हत्वा शत्रून् ससैनिकान्। प्रतिनन्दय मां पुत्र पुरा जित्वेव वासवम् ॥ ७ ॥ इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा रथ-मास्थाय दंशितः। प्रययामिन्द्रजिद्राजंस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥ ८ ॥ ततो विश्राव्य विस्पष्टं नाम राक्षसपुंगवः। आह्वयामास समरे लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ ९ ॥ तं लक्ष्मणोऽभ्यधावच्च प्रगृह्य सशरं धनुः। त्रासयंस्तलघोषेण सिंहः क्षुद्रमृगान् यथा ॥ १० ॥ तयोः समभव-द्युद्धं सुमहज्जयगृद्धिनोः। दिव्यास्त्रविदुषोस्तीव्रमन्योन्यस्पर्धिनो-

॥ ३ ॥ हे शत्रुनाशन! तू शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ है, अतः तू प्रकट रहकर अथवा छुपा रहकर वरदानमें मिलेहुए दिव्य अस्त्रोंसे मेरे शत्रुओंका नाश कर ॥४॥ हे निर्दोष पुत्र! तेरे वाणके स्पर्श-मात्रको राम, लक्ष्मण और सुग्रीव भी नहीं सहसकते, फिर उनके अनुयायी वानर तो सहेंगे ही क्या? ॥५॥ हे महाभुज निर्दोष पुत्र! प्रहस्त वा कुंभकर्ण युद्धमें खरका वदला नहीं लेसके, उसको तू ले और शत्रुका नाश कर॥६॥और हे पुत्र! तूने पहिले जैसे इन्द्रको जीतकर मुझे प्रसन्न किया था तैसे ही अब भी मेरे वैरीका सेना सहित नाश करके मुझै प्रसन्न कर ॥ ७॥ हे राजन्! रावणके ऐसा कहनेपर इन्द्रजीतने कहा, कि—वहुत अच्छा और फिर वह तुरत कवच पहरकर युद्धभूमिमें गया॥८॥और तहां राक्षसोंमें श्रेष्ठ इन्द्रजीतने स्पष्ट रीतिसे अपना नाम जताकर शुभ लक्षणोंवाले लक्ष्मण को रणभूमिमें लडनेके लिये पुकारा॥९॥तव तो लक्ष्मण धनुष और वाण लेकर, जैसे सिंह क्षुद्र मृगोंको त्रास देता है तैसे ही तालीके शब्दसे क्षुद्र दैत्योंको भयभीत करतेहुए इन्द्रजीतके सामनेको दौड़े॥१०॥फिर दिव्य अस्त्रोंको जाननेवाले और परस्पर

स्तदा ॥ ११ ॥ रावणिस्तु यदा नैनं विशेषयति सायकैः । ततो गुरुतरं यत्नमातिष्ठद्बलिनां वरः ॥ १२ ॥ तत एनं महावेगैरर्दयामास तोमरैः । तानागतान् स चिच्छेद सौमित्रिर्निशितैः शरैः ॥ १३ ॥ ते निकृत्ताः शरैस्तीक्ष्णैर्न्यपतन् धरणीतले । तमङ्गदो वालिसुतः श्रीमानुद्यम्य पादपम् ॥ १४ ॥ अभिद्रुत्य महावेगस्ताडयामास मूर्द्धनि । तस्येन्द्रजिदसंभ्रान्तः प्रासेनोरसि वीर्यवान् ॥ १५ ॥ प्रहर्तुमैच्छत्तञ्चास्य प्रासं चिच्छेद लक्ष्मणः । तमभ्याशगतं वीरमंगदं रावणात्मजः ॥ १६ ॥ गदयाऽताडयत् सव्ये पार्श्वे वानरपुंगवम् । तमचिन्त्यप्रहारं स बलवान् वालिनः सुतः ॥ १७ ॥ ससर्ज्जेन्द्रजितः क्रोधाच्छालस्कन्धं तथांगदः । सोऽङ्गदेन रुषोत्सृष्टो वधायेन्द्र-

---

स्पर्धा करनेवाले दोनोंजने महाविजय पानेकी इच्छासे आपसमें युद्ध करनेलगे ॥ ११ ॥ परन्तु उस युद्धमें महाबली इन्द्रजीतके बाणोंने कुछ विशेष पराक्रम नहीं किया, तब शत्रुका नाश करने के लिये वह बड़ाभारी उद्योग करनेलगा ॥ १२ ॥ उसने पहिले तो बड़े वेगवाले तोमर मारकर लक्ष्मणको बहुत दुःख देना आरम्भ करदिया, परन्तु सुमित्रानन्दनने तेज कियेहुए बाणोंसे उसके तोमरोंके टुकड़े २ करडाले ॥ १३ ॥ और वे तोमर तीक्ष्ण बाणों से कटकर भूमिपर गिरपड़े फिर वालीके पुत्र श्रीमान् अङ्गदने एक बहुत बड़ा वृक्ष उखाड बड़े वेगसे दौड़कर इन्द्रजीतके माथेमें मारा उससे पराक्रमी इन्द्रजीतको जरा भी पीडा नहीं हुई किन्तु वह सावधानीके साथ खड़ा रहा और उसने अङ्गदकी छातीमें प्रास मारना चाहा, परन्तु लक्ष्मणने बाण मारकर उसके प्रासके टुकड़े २ करदिये तब रावणकुमारने पासमें खड़े हुए अङ्गदके दाहिने कंधेपर गदाका प्रहार किया, वालिकुमार बड़ा बलवान् था, उसने गदाकी चोटको कुछ भी नहीं गिना १४-१७ और क्रोधमें भरकर एक सालके पेडको भूमिमेंसे उखाडलिया तथा क्रोधसे इन्द्रजीतका नाश करनेके लिये उसके ऊपर

जितस्तरुः ॥ १८ ॥ जघानेन्द्रजितः पार्थ रथं साश्वं ससारथिम् ततो हताश्वात् प्रस्कन्द्य रथात् स हतसारथिः ॥१६॥ तत्रैवान्तर्दधे राजन् मायया रावणात्मजः । अंतर्हितं विदित्वा तं बहुमत्यञ्च राक्षसम् ॥ २० ॥ रामस्तं देशमागम्य तत् सैन्यं पर्य्यरक्षत । स राममुद्दिश्य शरैस्ततो दत्तवरैस्तदा ॥ २१ ॥ विव्याध सर्वगात्रेषु लक्ष्मणस्तं महाबलम् । तमदृश्यं शरैः शूरो माययान्तर्हितं तदा २२ योधयामासतुरुभौ रावणिं रामलक्ष्मणौ । स रुषा सर्वगात्रेषु तयोः पुरुषसिंहयोः ॥ २३ ॥ व्यसृजत् सायकान् भूयः शतशोऽथ सहस्रशः । तमदृश्यं विचिन्वन्तः सृजन्तमनिशं शरान् ॥ २४ ॥ हरयो विविशुर्व्योम प्रगृह्य महतीः शिलाः । तांश्च तौ चात्यदृश्यः स शरैर्विव्याध राक्षसः ॥ २५ ॥ स भृशं ताडयामास रावणि-

---

ऐसा फेंका, कि—उस वृक्षकी चोटसे इन्द्रजीतके रथके घोड़े और सारथीका प्राणान्त होगया, तदनन्तर जिसके घोड़े और सारथीका मरण होगया है ऐसा वह रावणका पुत्र इन्द्रजीत तुरत रथमेंसे नीचे कूदपड़ा और मायाके द्वारा तहां हीं अन्तर्धान होगया, हे राजन् ! उस मायावी राक्षसको अन्तर्धान हुआ जान कर ॥ १८–२० ॥ रामचन्द्रजी स्वयं रणभूमिमें आकर खड़ होगये और चारों ओरसे अपनी सेनाकी रक्षा करनेलगे, फिर मायासे अन्तर्धान हुआ इन्द्रजीत छुपा २ ही वरदानवाले बाणों से महापराक्रमी राम तथा लक्ष्मणको मारनेलगा और दोनोंके देहोंको बाणोंसे बींधडाला, तब तो वीर राम तथा लक्ष्मण भी मायासे अन्तर्धान हुए रावणनन्दन इन्द्रजीतके बाण मारकर युद्ध करनेलगे, तब अदृश्य हुए इन्द्रजीतने क्रोध करके पुरुषोंमें सिंहसमान राम और लक्ष्मणके सब अङ्गों पर तलें ऊपर सैंकड़ों और सहस्रों बाण मारे, फिर छुपा रहकर तलेऊपर बाणोंकी वर्षा करते हुए इन्द्रजीतको खोजनेके लिये वानर बड़ी शिलायें उखाड़२ कर आकाशमें चढ़गये, तब रावणनन्दन राक्षस इन्द्रजीत जो मायासे

र्मायया कृतः । तौ शरैराचितौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ । पेततुर्गगनाद्भूमिं सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ २६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्युद्धेऽष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८८ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ तावुभौ पतितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ बबन्ध रावणिर्भूयः शरैर्दत्तवरैस्तदा ॥ १ ॥ तौ वीरौ शरबन्धनं बद्धाविन्द्रजिता रणे । रेजतुः पुरुषव्याघ्रौ शकुन्ताविव पञ्जरे ॥ २ ॥ तौ दृष्ट्वा पतितौ भूमौ शतशः सायकैश्चितौ । सुग्रीवः कपिभिः सार्द्धं परिवार्य्य ततः स्थितः ॥ ३ ॥ सुषेणमैन्दद्विविदैः कुमुदेनाङ्गदेन च । हनुमन्नीलतारैश्च नलेन च कपीश्वरः ॥ ४ ॥ ततस्तं देशमागम्य कृतकर्मा विभीषणः । बोधयामास तौ वीरौ प्रज्ञास्त्रेण

अदृश्य होरहा था, उसने वानरोंके तथा राम लक्ष्मणके तलेऊपर ऐसे बाण मारना आरंभ किये, कि—राम और लक्ष्मणके शरीर बाणोंसे भरगये और दोनो वीर भाई आकाशमेंसे सूर्य चन्द्रमाके गिरनेकी समान भूमिपर गिरपड़े ॥२१–२६॥ दो सौ अट्ठासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८८ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि-हे राजन् युधिष्ठिर ! दोनो भाई मूर्छित होकर भूमिपर गिरपड़े यह देखकर इन्द्रजीतने फिर वरदानमें मिलेहुए बाण मारकर उन मूर्छित हुए दोनो भाइयोंको बांधलिया ॥ १ ॥ इन्द्रजीतके रणभूमिमें बाणोंके बन्धनसे बन्दी किये हुए पुरुषोंमें व्याघ्रसमान वे दोनो वीर भ्राता, उस समय पींजरेमें बंदहुए दो पक्षियोंकी समान शोभित हुए ॥ २ ॥ जिनके देहोंमें हजारों बाण घुसगये थे ऐसे राम लक्ष्मणको भूमिपर पड़े हुए देखकर कपिराज, सुग्रीव, सुषेण, मैंद, द्विविद, कुमुद, अङ्गद, हनूमान्, नल, नील, तार आदि वानर सेनापति उन दोनो भाइयोंको घेरकर खड़े होगये और विचार करनेलगे कि अब क्या करें ? ॥ ३ ॥ ४ ॥ इतनेमें ही विभीषण अपना काम

प्रबोधितौ ॥ ५ ॥ विशल्यौ चापि सुग्रीवः क्षणेनैतौ चकार ह। विशल्यया महौषध्या दिव्यमन्त्रप्रयुक्तया ॥ ६ ॥ तौ लब्धसंज्ञौ नृवरौ विशल्यावुदतिष्ठताम्। गततन्द्रीक्लमौ चापि क्षणेनैतौ महारथौ ॥ ७ ॥ ततो विभीषणः पार्थ राममिक्ष्वाकुनन्दनम्। उवाच विज्वरं दृष्ट्वा कृतांजलिरिदं वचः ॥ ८ ॥ इदमम्भो गृहीत्वा तु राजराजस्य शासनम्। गुह्यकोऽभ्यागतः श्वेतात्त्वत्सकाशमरिन्दम ॥ ९ ॥ इदमम्भः कुबेरस्ते महाराज प्रयच्छति। अन्तर्हितानां भूतानां दर्शनार्थं परन्तप ॥ १० ॥ अनेन मृष्टनयनो भूतान्यन्तर्हितान्युत। भवान् द्रक्ष्यति यस्मै च प्रदास्यति नरः स तु ॥ ११ ॥ तथेति रामस्तद्वारि प्रतिगृह्याभिसंस्कृतम्। चकार नेत्रयोः शौचं

करके तहां आपहुंचा और उसने दोनों वीरोंको मूर्छा दूर करनेवाले प्रज्ञास्त्रसे सचेत करदिया ॥५॥ और सुग्रीवने दोनोके शरीरों पर दिव्य मंत्रवाली विशल्या नामकी औषधको चुपड़ कर क्षणभरमें राम लक्ष्मणके शरीरोंमेंसे बाणोंको खेंचलिया ॥ ६ ॥ शरीरोंमेंसे बाणोंके निकलजाने पर वे दोनो महारथी आलस्य और क्षीणतारहित होकर क्षणभरमें खड़े होगये ॥ ७ ॥ हे पार्थ ! फिर विभीषणने इक्ष्वाकुवंशी रामको पीडारहित हुए देख दोनों हाथ जोडकर यह बात कही, कि—॥ ८ ॥ हे शत्रुनाशन ! राजराज कुबेरकी आज्ञासे यह गुह्यक जलका कलश लेकर श्वेत पर्वतसे आपके पास आया है ॥ ९ ॥ हे परन्तप महाराज ! इस जलसे आंखे धोलेनेवाला पुरुष, अन्तर्धान हुए प्राणियोंको भी देखसकता है, इसलिये कुबेरने आपके पास यह जल भेजा है ॥ १० ॥ आप इस जलसे अपनी आँखोंको धोलेंगे तो अन्तर्धान हुए प्राणियोंको देखसकेंगे तथा आप जिन मनुष्योंको यह जल देंगे, वे मनुष्य भी अन्तर्धान हुए प्राणियोंको देखेंगे ॥ ११ ॥ यह सुनकर रामने तथा उदारमनवाले लक्ष्मणने कहा, कि—

लक्ष्मणश्च महामनाः ॥ १२ ॥ सुग्रीवजाम्बवन्तौ च हनुमानङ्गद स्तथा । मैन्दद्विविदनीलाश्च मायः प्लवगसत्तमाः ॥ १३ ॥ तथा समभवच्चापि यदुवाच विभीषणः । क्षणेनातीन्द्रियाण्येषां चक्षूंप्यासन् युधिष्ठिर ॥ १४ ॥ इन्द्रजित् कृतवर्मा च पित्रे कर्म तदात्मनः । निवेद्य पुनरागच्छत् त्वरयाजिशिरः प्रति ॥ १५ ॥ तमापतन्तं संक्रुद्धं पुनरेव युयुत्सया । अभिदुद्राव सौमित्रिर्विभीषणमते स्थितः ॥ १६ ॥ अकृताह्निकमेवैनं जिघांसुर्जितकाशिनम् । शरैर्जघान संक्रुद्धः कृतसंज्ञोऽथ लक्ष्मणः ॥ १७ ॥ तयोः समभवद्युद्ध मन्योऽन्यं विजिगीषतोः । अतीव चित्रमाश्चर्यं शक्रप्रह्लाद-

---

ठीक है, फिर उस संस्कार कियेहुए जलको लेलिया और उससे अपनी आंखोंको धोकर पवित्र किया, इसीप्रकार सुग्रीवने जाम्बवान्ने, हनुमान्ने, अङ्गदने, मैंदने, द्विविदने, नीलने, अधिक क्या कहें, मायः सब ही श्रेष्ठ वानरोंने अपनीं २ आँखोंको धोकर स्वच्छ किया ॥ १२ ॥ १३ ॥ तब जैसा विभीषणने कहा था तैसा ही हुआ और हे युधिष्ठिर ! एक क्षणभरमें उनके नेत्र, जो पदार्थ इन्द्रियोंसे न देखे और नजानेजायँ उन पदार्थोंके जाननेको भी समर्थ होगये ॥ १४ ॥ विजय पानेवाले इंद्रजीतने अपना किया हुआ पराक्रम अपने पिताको सुनाया और फिर रणभूमिमें चला आया, तब ॥ १५ ॥ फिर युद्ध करनेकी इच्छासे चढ़कर आये और क्रोधमें भरेहुए इन्द्रजीतको आतेहुए देखकर विभीषणकी सूचनाके अनुसार वर्त्ताव करनेवाले लक्ष्मणने लडनेके लिये उस के ऊपर धावा किया था ॥ १६ ॥ और जिसने नित्य नियम नहीं किया तथा जो अपने विजयको ही वखानता फिरता था ऐसे, इन्द्रजीतका नाश करनेकी इच्छासे लक्ष्मणने क्रोध करके विभीषणके संकेतके अनुसार इन्द्रजीतके बाण मारना आरम्भ करदिये ॥ १७ ॥ उस समय आपसमें विजयकी चाहना वाले इंद्र और प्रह्लादका जैसे बड़े अचरजमें डालनेवाला युद्ध हुआ

योरिव ॥ १८ ॥ अविध्यदिन्द्रजित्तीक्ष्णैः सौमित्रिं मर्मभेदिभिः । सौमित्रश्चानलस्पर्शैरविध्यद्रावणिं शरैः ॥ १९ ॥ सौमित्रिसरशंस्पर्शाद्रावणिः क्रोधमूर्च्छितः । अस्त्रजल्लक्ष्मणायाष्टौ शराना्शीविषोपमान् ॥२०॥ तस्यासून् पावकस्पर्शैः सौमित्रिः पत्रिभिस्त्रिभिः । यथा निरहरद्वीरस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ २१ ॥ एकेनास्य धनुष्मन्तं वाहुं देहादपातयत् । द्वितीयेन स नाराचं भुजं भूमौन्यपातयत् ॥ २२ ॥ तृतीयेन तु वाणेन पृथुधारेण भास्वता । जहार सुनसञ्चापि शिरो भ्राजिष्णुकुण्डलम् ॥ २३ ॥ विनिकृत्य भुजस्कन्धं कवन्धं भीमदर्शनम् । तं हत्वा सूतमप्यस्त्रैर्जघान वलि-

था तैसे ही लक्ष्मण और इन्द्रजीतका भी परस्पर विजयकी इच्छा से महाआश्चर्यकारी युद्ध होनेलगा ॥ १८ ॥ इंद्रजीतने तीखे और मर्मभेदी वाणोंसे लक्ष्मणको वींधडाला और लक्ष्मणने अग्निकी समान तीक्ष्ण स्पर्शवाले वाणोंसे इन्द्रजीतको वींधडाला ॥ १९ ॥ लक्ष्मणके वाण लगनेसे इंद्रजीत क्रोधके मारे मूर्छित होगया और उसने क्रोध करके विषधर सांपकी समान आठ वाण लक्ष्मणके मारे ॥ २० ॥ तव लक्ष्मणने अग्निकी समान तीक्ष्ण स्पर्शवाले तीन वाण मारकर इंद्रजीतके प्राण लेलिये, वह प्राण कैसे लिये थे सो मैं तुमसे कहता हूं सुनो ॥ २१ ॥ लक्ष्मणने एक वाण मार इंद्रजीतका धनुष वाला हाथ काटकर उसके शरीरमें से अलग करदिया, दूसरा वाण मार कर दूसरे वाणवाला हाथ काटकर उसके शरीरमेंसे अलग करदिया ॥ २२ ॥ और फिर तीसरे चमकती हुई धारवाले वाणसे इन्द्रजीतका सुन्दर नासिका और दमकते हुए कुण्डलोंवाला मस्तक भी काटलिया ॥२३॥ इसप्रकार दोनो हाथ तथा मस्तक काटडालनेसे भयानक दीखनेवाले धडरूप रहे इन्द्रजीतका वधकर डालने पर महावली लक्ष्मणने उसके सारथिको भी वाणोंके प्रहार से मार-

नाम्बरः ॥२४॥ लङ्कां प्रवेशयामासुस्तं रथं वाजिनस्तदा । ददर्श रावणस्तञ्च रथं पुत्रविनाकृतम् । २५ । स पुत्रं निहतं दृष्ट्वा त्रासात् संभ्रान्तमानसः । रावणः शोकमोहार्त्तो वैदेहीं हन्तुमुद्यतः ॥ २६ ॥ अशोकवनिकास्थां तां रामदर्शनलालसाम् । खड्गमादाय दुष्टात्मा जवेनाभिपपात ह ॥ २७ ॥ तं दृष्ट्वा तस्य दुर्बुद्धेरविन्ध्यः पापनिश्चयम् । शमयामास संक्रुद्धं श्रूयतां येन हेतुना ॥ २८ ॥ महाराज्ये स्थितो दीप्ते न स्त्रियं हन्तुमर्हसि । हतैवैषा यदा स्त्री च बन्धनस्था च ते वशे ॥ २९ ॥ न चैषा देहभेदेन हता स्यादिति मे मतिः । जहि भर्त्तारमेवास्या हते तस्मिन् हता भवेत् ॥ ३० ॥ न हि ते विक्रमे तुल्यः साक्षादपि शतक्रतुः । असकृद्धि त्वया सेन्द्रा-

डाला ॥ २४ ॥ फिर विना सारथिके उसके घोड़े उस समय उस रथको खेंचकर लङ्कापुरीमें लेगये, तहां रावणने उसके रथको देखा तो उसमें इन्द्रजीतको नहीं पाया ॥२५॥ अपने पुत्रको रण में मराहुआ देखकर रावणका मन त्रासके मारे घूमगया और वह शोक तथा मोहसे आतुर होकर सीताको मारडालनेके लिये तयार हुआ ॥ २६ ॥ और जहां अशोकवाटिकामें रामके दर्शनोंकी लालसावाली सीता बैठी थी तहांको दुष्टात्मा रावण तलवार लियेहुए झपटकर दौड़गया ॥ २७ ॥ परन्तु तिस दुष्टात्माके उस पापी विचारको जानजानेसे अविंध्य नामके राक्षसने क्रोधमें भर कर आयेहुए रावणको इसप्रकार कहकर ठंडा किया था कि — ॥ २८ ॥ तू ऐसे जगत्प्रसिद्ध बड़ेभारी राज्यका स्वामी है, क्या तुझे स्त्रीकी हत्या करना शोभा देता है ? तूने जबसे इस स्त्रीको कैद करके अपने वशमें किया है यह तो तबसे ही मारीगई है २९ मेरी समझमें स्त्रियोंको प्राणान्त दण्ड नहीं दियाजाता है, तो भी यदि तुझे इस स्त्रीको मारडालना ही है तो तू इसके पतिका नाश कर, कि उसके मरने पर यह भी मरजाय ॥ ३० ॥ तेरी समान पराक्रमी तो साक्षात् इन्द्र भी नहीं है, क्योंकि—तूने युद्धमें

त्रासिता त्रिदशा युधि ॥३१॥ एवं बहुविधैर्वाक्यैरविन्ध्यो रावणं तदा। क्रुद्धं स शमयामास जगृहे स च तद्वचः॥ ३२॥ निर्याणे स मतिं कृत्वा निधायासिं क्षपाचरः। आज्ञापयामास तदा रथो मे कल्प्यतामिति॥ ३३॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्वध ऊननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८९ ॥

मार्कण्डेय उवाच। ततः क्रुद्धो दशग्रीवः प्रिये पुत्रे निपातिते। निर्ययौ रथमास्थाय हेमरत्नविभूषितम्॥ १॥ स वृतो राक्षसै-र्घोरैर्विविधायुधपाणिभिः। अभिदुद्राव रामं स योधयन् हरियूथपान् ॥ २॥ तमाद्रवन्तं संक्रुद्धं मैन्दनीलनलांगदाः। हनूमान् जांबवांश्चैव ससैन्याः पर्यवारयन्॥ ३॥ ते दशग्रीवसैन्यं तदृक्षवानर-

---

वारंवार इन्द्रसहित देवताओंको भयभीत किया है॥ ३१॥ इस प्रकार अविंध्यने उस समय अनेकों प्रकारकी बातें कहकर क्रोध में भरेहुए रावणको शान्त किया और रावणने भी उसके कहने को मानलिया॥ ३२॥ फिर रामके ऊपर चढ़ाई करनेका विचार करके राक्षस रावणने तलवारको कमरमें बांधलिया और सेवकों को आज्ञा दी कि-तुम युद्ध में जानेके लिये मेरा रथ तयार करो॥ ३३॥ दो सौ नवासीवां अध्याय समाप्त ॥२८९॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि-हे राजन् युधिष्ठिर! अपने प्यारे पुत्र इन्द्रजीतके रणमें मारेजानेसे दशकण्ठ रावणको क्रोध चढ़-आया और वह रत्नोंसे जड़े सोनेके शोभायमान रथमें बैठकर अ-नेकों प्रकारके आयुध धारण करनेवाली राक्षसोंकी सेनाके साथ लङ्कापुरीके बाहर निकला और वानर सेनापतियोंके साथ युद्ध करता २ रामके साथ लड़नेको आया॥ १॥२॥ परन्तु राम की सेनाके साथ रहनेवाले मैंद, नील, नल, अङ्गद, हनुमान् और जाम्बवान् उसके ऊपर चढ़कर आगये और उस महाक्रोधी रावणको चारों ओरसे घेरलिया॥३॥ और बड़े २ रीछ तथा वानर रावणके देखते

पुङ्गवाः । द्रुमैर्विध्वंसयाञ्चक्रुर्दशग्रीवस्य पश्यतः ॥ ४ ॥ ततः स सैन्यमालोक्य वध्यमानमरातिभिः । मायावी चासृजन्मायां रावणो राक्षसाधिपः ॥ ५ ॥ तस्य देहविनिष्क्रांताः शतशोऽथ सहस्रशः राक्षसाः प्रत्यदृश्यंत शरशक्त्यृष्टिपाणयः ॥ ६ ॥ तान् रामो जघ्निवान् सर्वान् दिव्येनास्त्रेण राक्षसान् । अथ भूयोऽपि मायां स व्यदधाद्राक्षसाधिपः ॥ ७ ॥ कृत्वा रामस्य रूपाणि लक्ष्मणस्य च भारत ।अभिदुद्राव रामञ्च लक्ष्मणञ्च दशाननः॥८॥ ततस्ते राममर्च्छंतो लक्ष्मणञ्च क्षपाचराः । अभिपेतुस्तदारामं प्रगृहीतशरासनाः ९ तां दृष्ट्वा राक्षसेंद्रस्य मायामिक्ष्वाकुनंदनः । उवाच रामं सौमित्रिरसंभ्रान्तो बृहद्वचः १० जहीमान्राक्षसान्पापा

हुए ही उसकी सेनाका वृक्ष आदिके प्रहारसे नाश करनेलगे ४ इसप्रकार शत्रुओंको अपनी सेनाका नाश करतेहुए देखकर राक्षसराज रावणने बडीभारी मायाकी ॥ ५ ॥ वह यह कि-उसके शरीरमेंसे सैंकड़ों और सहस्रों राक्षसोंने हाथोंमें बाण, शक्ति और ऋष्टि धारण कियेहुए दर्शन दिया ॥ ६ ॥ परन्तु रामने दिव्य अस्त्र मारकर उन सब मायावी राक्षसोंका संहार करडाला, हे भारत ! राक्षस रावणने फिर भी माया फैला कर राम तथा लक्ष्मणके असंख्यों रूप प्रकट किये और राम लक्ष्मणके साथ लड़ने को दौड़ा ॥ ७ ॥ ८ ॥ राम और लक्ष्मणका रूप धारण करनेवाले वे राक्षस धनुष लेकर राम लक्ष्मणके सामने ही लडनेको आये ॥ ९ ॥ राक्षसराजकी इस अलौकिक मायाको देखकर इक्ष्वाकुवंशी सुमित्रानंदन लक्ष्मण ने कुछ भी न घबडाकर रामचन्द्रजीसे सार वचन कहा कि-॥ १० ॥ हे बड़े भाई ! इन पापी राक्षसोंने आपके रूप धारण किये हैं, अतः आप अपना रूप धारनेवाले राक्षसोंका तथा दूसरे राक्षसोंका भी नाश करो, लक्ष्मण की यह बात सुनकर

नात्मनः प्रतिरूपकान् । जघान रामस्तांश्चान्यानात्मनः प्रतिरूपकान् ॥ ११ ॥ ततो हर्यश्वयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा । उपतस्थे रणे रामं मातलिः शक्रसारथिः ॥ १२ ॥ मातलिरुवाच ॥ अयं हर्यश्वयुग् जैत्रो मघोनः स्यन्दनोत्तमः । अनेन शक्रः काकुत्स्थ समरे दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥ शतशः पुरुषव्याघ्र रथोदारेण जघ्निवान् । तदनेन नरव्याघ्र मया यत्तेन संयुगे ॥ १४ ॥ स्यन्दनेन जहि क्षिप्रं रावणं मा चिरं कृथाः । इत्युक्तो राघवस्तथ्यं वचोऽशङ्कत मातलेः ॥ १५ ॥ मायैषा राक्षसस्येति तमुवाच विभीषणः । नेयं माया नरव्याघ्र रावणस्य दुरात्मनः ॥ १६ ॥ तदा तिष्ठ रथं शीघ्रमिममैंद्रं महाद्युते । ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थस्तथेत्युक्त्वा विभीषणम् ॥ १७ ॥ रथेनाभिपपाताथ दशग्रीवं रुषान्वितः ।

रामने अपना तथा लक्ष्मणका रूप धारनेवाले राक्षसोंका तथा दूसरे राक्षसोंका भी बाण मारकर संहार करडाला ॥११॥ इसी समय इंद्रका सारथी मातलि, श्यामवर्णके घोडोंवाला और सूर्यकी समान दमकते हुए प्रकाशवाला दिव्य रथ लेकर रणभूमिमें रामके पास आया और उनसे बोला ॥१२॥ मातलिने कहा, कि-यह श्याम घोडोंवाला महाविजयी उत्तम रथ इन्द्रका है और हे ककुत्स्थवंशी ! इंद्रने इस रथमें बैठकर रणभूमिमें हजारों दैत्योंका नाश किया है, इसकारण हे पुरुषसिंह ! आप भी, मेरे तयार करकै लायेहुए इस रथमें बैठिये और युद्धमें रावणका शीघ्र ही नाश करिये, विलम्ब न करिये. मातलिकी इस बातको सुनकर रामके मनमें शङ्काहुई, कि-॥ १३-१५ ॥ कहीं यह राक्षसकी माया न हो ? परन्तु इतनेमें ही विभीषणने रामसे कहा, कि-हे पुरुषसिंह ! यह दुष्टात्मा रावणकी माया नहीं है, किंतु इंद्रका ही भेजाहुआ रथ है ॥ १६ ॥ इसकारण हे महाकांतिमान! आप शीघ्र ही इस इंद्रके रथमें बैठिये, यह सुनकर राम प्रसन्न हुए और विभीषणसे तथास्तु कहकर उस रथमें बैठगये ॥ १७ ॥ और फिर क्रोधमें भरकर रावणके साथ

हाहाकृतानि भूतानि रावणो समभिद्रते ॥ १८ ॥सिंहनादा सपटहा दिवि दिव्यास्तथानदन् । दशकन्धरराजसून्वोस्तथा युद्धमभून्महत् ॥१६॥ अलब्धोपममन्यत्र तयोरेव तथाभवत् । स रामाय महाघोरं विससर्ज निशाचरः॥२०॥शूलमिन्द्राशनिप्रख्यं ब्रह्मदंडमिवोद्यतम् । तच्छूलं सत्वरं रामश्चिच्छेद निशितैः शरैः ॥२१॥तद्दृष्ट्वा दुष्करं कर्म रावणं भयमाविशत् । ततः क्रुद्धः ससर्जाशु दशग्रीवः शिताङ्छरान् ॥२२॥ सहस्रायुतशो रामे शस्त्राणि विविधानि च । ततो भुशुण्डीः शूलानि मुसलानि परश्वधान् ॥२३॥शक्तींश्च विविधाकारा :शतघ्नींश्च शितान् क्षुरान्।तां मायां विकृतां दृष्ट्वा दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २४ ॥ भयात् प्रदुद्रुवुः सर्वे वानराः सर्वतो दिशम् । ततः सुपर्णं सुमुखं हेमपुंखं शरोत्तमम् ॥२५॥ तूणादादाय काकुत्स्थो

लड़नेके लिये धावा किया, उधरसे रावणने भी रामके ऊपर चढाई की, उस समय सब प्राणी हाहाकार करउठे थे ॥ १८ ॥ राम रावणमें युद्ध होनेलगा, उस समय सिंहकी समान गर्जना होनेलगीं, स्वर्गमें ढोलोंके साथ दूसरे दिव्य बाजे बजनेलगे १६ राम और रावणमें जो युद्ध हुआ था उसको किसीकी भी उपमा नहीं दी जासकती थी, आरम्भमें रावणने इंद्रके वज्रकी समान और उद्यत ब्रह्मदण्डकी समान एक भाला रामके ऊपर फेंका तब रामने तेज कियेहुए बाण मारकर तुरत उस भालेके टुकडे २ कर डाले।२०-२१।रामके ऐसे दुष्कर पराक्रमको देखकर रावणको मनमें भय लगा, और फिर उसने क्रोधमें भरकर तुरत तेज किये हुए हजार तथा दश हजार बाण, अनेकों अस्त्र,भुशुंडियें, मूसल, फरसे, नानाप्रकारकी शक्तियें तोपें और तीखी धारवाले छुरीसरीखे शस्त्र रामके ऊपर छोडने आरंभ करदिये, दशकंधर राक्षस रावणकी इस विलक्षण मायाको देखकर सब वानर भयभीत हो गये और चारों ओरको भागनेलगे तब रामने भाथेमेंसे सोनेके परोंवाले और सुन्दर फलकवाले एक श्रेष्ठ बाणको खेंचकर उस

ब्रह्मास्त्रेण युयोज ह । तं बाणवर्यं रामेण ब्रह्मास्त्रेणानुमन्त्रितम् ॥ २६ ॥ जहृषुर्देवगन्धर्वा दृष्ट्वा शक्रपुरोगमाः । अल्पावशेषमायुश्च ततोऽमन्यन्त रक्षसः ॥२७॥ब्रह्मास्त्रोदीरणाच्छत्रोर्देवदानवकिन्नराः । ततः ससर्ज तं रामः शरमप्रतिमौजसम् ॥ २८॥ रावणांतकरं घोरं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् । मुक्तमात्रेण रामेण दूराकृष्टेन भारत ॥ २९ ॥ स तेन राक्षसश्रेष्ठः सरथः साश्वसारथिः । प्रजज्वाल महाज्वालेनाग्निनाभिपरिप्लुतः ॥ ३० ॥ ततः प्रहृष्टास्त्रिदशाः सहगंधर्वचारणाः । निहतं रावणं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ३१ ॥ तत्यजुस्तं महाभागं पञ्चभूतानि रावणम् । भ्रंशितः सर्वलोकेषु स हि ब्रह्मास्त्रतेजसा ॥ ३२ ॥ शरीरधातवो ह्यस्य मांसं रुधिरमेव च ।

को ब्रह्मास्त्रके साथ जोड़ा और फिर उसको ब्रह्मास्त्रके मंत्रसे शक्तिमान् किया ॥ २१–२६ ॥ यह देखकर इन्द्र गन्धर्व आदि देवता प्रसन्न हुए और जब राम ब्रह्मास्त्र मारनेको तयार हुए तब देवता, दानव तथा किन्नर ऐसा समझनेलगे, कि–अब रावणकी थोड़ी ही आयु बची है ॥२७॥ हे भारत ! फिर रामने अनुपम बल और तेजवाला, रावणका नाश करनेको उद्यत ब्रह्म दंडसा, मंत्र पढ़कर शक्तिमान् कियाहुआ ब्रह्मास्त्र धनुष पर चढ़ाकर धनुषको खूब जोरसे खींचा और ज्योंही छोड़ा कि–तुरन्त उस ब्रह्मास्त्रकी महाज्वालावाली अग्निने रथ, घोड़े और सारथि सहित रावणको घेरलिया तब अग्निकी ज्वालामें चारों ओरसे रथसहित रावण जलकर भस्म होगया ॥ २८—३० ॥ पवित्र चरित्र वाले रामने इसप्रकार दुष्टात्मा रावणका नाश किया, यह देखकर गन्धर्व और चारणों सहित देवता बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥ पञ्चभूतोंने महाभाग्यशाली रावणके देहको त्यागदिया अर्थात् रावण मरगया, क्योंकि–रावण ब्रह्मास्त्रके तेजके कारण सब लोकोंमेंसे भ्रष्ट होगया था ॥ ३२ ॥ उसके शरीरका रुधिर, मांस तथा दूसरी सब धातुएं ब्रह्मास्त्रसे जलकर नष्ट होगई थीं, इसकारण

नेशुर्ब्रह्मास्त्रनिर्दग्धा न च भस्माप्यदृश्यत ॥ ३३ ॥ ॥
इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणवधे
नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २९० ॥

मार्कण्डेय उवाच । स हत्वा रावणं क्षुद्रं राक्षसेन्द्रं सुरद्विषम् । बभूव हृष्टः ससुहृद्रामः सौमित्रिणा सह ॥ १ ॥ ततो हते दशग्रीवे देवाः सर्षिपुरोगमाः । आशीर्भिर्जययुक्ताभिरानर्चुस्तं महाभुजम् ॥ २ ॥ रामं कमलपत्राक्षं तुष्टुवुः सर्वदेवताः । गंधर्वाः पुष्पवर्षैश्च वाग्भिश्च त्रिदशालयाः ॥ ३ ॥ पूजयित्वा यथा रामं प्रतिजग्मुर्यथागतम् । तन्महोत्सवसङ्काशमासीदाकाशमच्युत । ४ । ततो हत्वा दशग्रीवं लङ्कां रामो महायशाः । विभीषणाय प्रददौ प्रभुः परपुरञ्जयः॥५॥ ततः सीतां पुरस्कृत्य विभीषणपुरस्कृताम् । अविंध्यो नाम सुप्रज्ञो वृद्धामात्यो विनिर्ययौ॥६॥उवाच च महात्मानं काकुत्स्थं

उसकी भस्म भी देखनेमें नहीं आयी ॥ ३३ ॥ दो सौ नब्बेवां अध्याय समाप्त ॥ २९० ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—हे राजन् युधिष्ठिर ! देवताओंसे द्वेष करनेवाले, राक्षसोंके राजा, नीच रावणका नाश करके राम लक्ष्मण और उनके मित्र प्रसन्नहुए ॥ १ ॥ और इसप्रकार रावण का नाश होजाने पर ऋषि आदि और देवता वारंवार विजयके आशीर्वादोंसे महाभुज रामका सत्कार करनेलगे ॥२॥ सब देवता कमलनयन रामकी स्तुति करनेलगे और गन्धर्व पुष्पोंको वरसाकर रामका पूजन करनेलगे ॥ ३ ॥ फिर सब देवता रामका पूजन करके जैसे आये थे तैसे ही अपने २ स्थानोंको चलेगये, हे अच्युत राजन् ! उस समय प्रसन्न हुए देवताओंकी आवाजाईसे आकाशमें बड़ा उत्सवसा दीखनेलगा ॥ ४ ॥ इसप्रकार वैरीके नगरको जीतनेवाले रामने दशाननका नाश करके बड़ा यश पाया और लङ्काका राज्य विभीषणको देदिया ॥ ५ ॥ फिर बड़ा चतुर अविंध्य नामवाला बूढ़ा मंत्री सीताको आगे २ लेकर विभीषणके साथ रामके पास आया ॥ ६ ॥ और दीनता धारण करके महा-

दैन्यमास्थितः । प्रतीच्छ देवीं सद्वृत्तां महात्मन् जानकीमिति ॥७॥ एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्मादवतीर्य्य रथोत्तमात् । वाष्पेणापिहितां सीतां ददर्शेक्ष्वाकुनन्दनः ८ तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं यानस्थां शोककर्षिताम् मलोपचितसर्वाङ्गीं जटिलां कृष्णवाससम् ॥ ९ ॥ उवाच रामो वैदेहीं परामर्शविशङ्कितः । गच्छ वैदेहि मुक्ता त्वं यत्कार्य्यं तन्मया कृतम् ॥१०॥ मामासाद्य पतिं भद्रे न त्वं राक्षसवेश्मनि । जरां व्रजेथा इति मे निहतोऽसौ निशाचरः ॥ ११ ॥ कथं ह्यस्मद्विधो जातु जानन् धर्मविनिश्चयम् । परहस्तगतां नारीं मुहूर्त्तमपि धारयेत् ॥ १२ ॥ सुवृत्तामसुवृत्तां वाप्यहं त्वामद्य

त्मा ककुत्स्थवंशी रामसे कहनेलगा, कि हे महात्मन् ! इस सदाचार वाली जनकदुलारी सीताको आप स्वीकार करिये ॥ ७ ॥ अविंध्यकी बातको सुनकर तुरत ही राम इन्द्रके रथमेंसे नीचे उतरे और नेत्रोंमेंसे आँसू बहाते हुए सीताको देखनेलगे ॥ ८ ॥ सर्वाङ्गसुन्दरी सीता एक पालकीमें बैठी थी, उसका शरीर वियोगके शोकसे दुबला होगया था, सब शरीर पर मैल चढ़ाहुआ था, जटाओंकी समान शिरकी लटोंमें उलझट्टे पड़गये थे और वह शरीर पर काला वस्त्र पहिरे हुए थी ॥ ९ ॥ ऐसी सीताको देखकर, रावण ने इसको छुआ होगा, इस सन्देहसे रामने सीता से कहा, कि–हे वैदेही ! मुझे जो काम करना था उसको मैं पूर्ण रूपसे पूरा करचुका और तुझे रावणके हाथमें से छुड़ालिया, अब तुझे जहां जाना हो तहां सुखसे चलीजा॥१०॥हे कल्याणि ! तू मेरे साथ विवाही हुई मेरी स्त्री होकर राक्षसके भयावने घरमें बुढ़ापेतक बन्द पड़ी रहे, यह उचित नहीं था, इसकारण ही मैंने उस निशाचरका नाश करदिया ॥ ११ ॥ परन्तु मुझ सरीखा धर्मके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष, परपुरुषके हाथमें गयी हुई स्त्री को जरा देर भी अपने घरमें कैसे रखसकता है ? ॥ १२ ॥ हे मैथिली ! तू सदाचारिणी है या दुराचारिणी है, इस बातको

मैथिलि । नोत्सहे परिभोगाय श्वावलीढं हविर्य्यथा ॥१३॥ ततः सा सहसा बाला तच्छ्रुत्वा दारुणं वचः । पपात देवी व्यथिता निकृत्ता कदली यथा ॥ १४ ॥ योऽप्यस्या हर्षसम्भूतो मुखराग-स्तदाभवत् । क्षणेन स पुनर्नष्टो निःश्वास इव दर्पणे ॥ १५ ॥ ततस्ते हरयः सर्वे तच्छ्रुत्वा रामभाषितम् । गतासुकल्पा निश्चेष्टा बभूवुः सहलक्ष्मणाः ॥ १६ ॥ ततो देवो विशुद्धात्मा विमानेन चतुर्मुखः । पद्मयोनिर्जगत्स्रष्टा दर्शयामास राघवम् ॥ १७ ॥ शक्रश्चाग्निश्च वायुश्च यमो वरुण एव च । यक्षाधिपश्च भगवांस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ १८ ॥ राजा दशरथश्चैव दिव्यभास्वरमूर्तिमान् विमानेन महार्हेण हंसयुक्तेन भास्वता ॥ १९ ॥ ततोऽन्तरिक्षं तत्

जाननेकी मुझे आवश्यकता नहीं है, मुझे तो केवल इतना ही कहना है, कि—कुत्तेका चाटाहुआ हवि जैसे यज्ञ करनेवालों के कामका नहीं रहता है, तैसे ही परपुरुषके घर रहीहुई तुझे मैं अपने उपभोगमें नहीं लाना चाहता ॥ १३ ॥ बाला सीता देवी रामके ऐसे दारुण वचन सुनकर कम्पायमान केलेकी समान एक साथ अचेत होकर भूमिपर गिरपड़ी ॥ १४ ॥ और श्वास लेनेसे जैसे दर्पणमें पड़ाहुआ मुखका प्रतिबिम्ब मलिनसा होजाता है, तैसे ही सीताके मुखपर जो हर्षजनित सुखकी झलक कुछ २ आयी थी वह भी अब क्षणभरमें ही फीकी पड़गई ॥ १५ ॥ तथा लक्ष्मण और दूसरे वानर भी रामकी इस बातको सुनकर प्राण-हीन शवकी समान चेतनताहीन होगये॥१६॥फिर पवित्र मनवाले चतुर्मुख, जगत्को रचनेवाले, कमलयोनि भगवान् ब्रह्माजी ने विमानमें बैठकर रामको प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ १७ ॥ इन्द्र, अग्नि वायु, यम, वरुण, भगवान् कुवेर और निर्मल सप्त ऋषियोंने भी रामको दर्शन दिये ॥१८॥ तथा दिव्य तेजवाले मूर्त्तिमान् राजा दशरथने हंसके विमानमें बैठकर रामको दर्शन दिया ॥१९॥ उस समय देवता तथा गन्धर्वोंसे भराहुआ सब आकाश तारामण्डल

सर्वं देवगंधर्वसंकुलम् । शुशुभे तारकाचित्रं शरदीव नभस्तलम् ॥ २० ॥ तत उत्थाय वैदेही तेषां मध्ये यशस्विनी । उवाच वाक्यं कल्याणी रामं पृथुलवक्षसम् ॥ २१ ॥ राजपुत्र न ते दोषं करोमि विदिता हि ते । गतिः स्त्रीणां नराणाञ्च शृणु वेदं वचो मम॥२२॥ अन्तश्चरति भूतानां मातरिश्वा सदा गतिः । स मे विमुञ्चतु प्राणान् यदि पापञ्चराम्यहम् ॥ २३ ॥ अग्निरापस्तथाकाशं पृथिवी वायरेव च। विमुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापञ्चराम्यहम् २४ यथाहं त्वद्दते वीर नान्यं स्वप्नेऽप्यचिंतयम् । तथा मे देवनिर्दिष्ट-स्त्वमेव हि पतिर्भव । २५॥ ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् सुभगा लोक-साक्षिणी । पुण्या संहर्षणी तेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ २६॥ वायुरुवाच । भो भो राघव सत्यं वै वायुरस्मि सदागतिः ।

से शोभायमान शरद् ऋतुके आकाशकी समान छवि पारहा था ॥ २० ॥ फिर कीर्त्तिवाली वैदेहीने खडी होकर सब देवता तथा लोकपालोंके सामने विशाल वक्षःस्थलवाले रामसे कहा, कि— ॥ २१ ॥ हे राजपुत्र ! मैं आपका कुछ दोष नहीं समझती हूं, क्योंकि—आप स्त्रियोंके और पुरुषोंके आचार विचारको जानते हैं, तो भी आप मेरी बात सुनिये ॥ २२ ॥ नित्य गतिवाला पवनदेव प्राणियोंके हृदयोंमें फिरता है और वह सबके चित्तोंका साक्षी है, इसलिये यदि मैंने पाप किया हो तो वह मेरे प्राणका नाश करें २३ अथवा यदि मैंने पाप किया हो तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश मेरे प्राणोंका नाश करें॥२४॥हे वीर!मैंने स्वप्नमें भी आप के सिवाय परपुरुषका मनसे ध्यान भी नहीं किया हो तो इसमें देवता साक्षी दें तब आप मुझे स्वीकार करें ॥२५॥ सीताने ऐसा कहा,तब महात्मा वानरोंको और लक्ष्मणको हर्ष देनेवाली लोक की साक्षी, सुभगा और पवित्र आकाशवाणी हुई ॥२६॥ वायुने कहा कि हे राघव! मैं निरन्तर विचरनेवाला सबका साक्षी वायु हूं,

अपापा मैथिली राजन् सङ्गच्छ सह भार्य्यया ॥ २७ ॥ अग्निरुवाच । अहमन्तःशरीरस्थो भूतानां रघुनन्दन । ते सूक्ष्ममपि काकुत्स्थ मैथिली नापराध्यति॥ २८॥ वरुण उवाच। रसा वै मत्प्रभूता हि भूतदेहेषु राघव। अहं वै त्वां प्रब्रवीमि मैथिली प्रतिगृह्यताम् ॥२९॥ ब्रह्मोवाच। पुत्र नैतदिहाश्चर्य्यं त्वयि राजर्षिधर्मणि। साधो सद्वृत्त काकुत्स्थ शृणु चेदं वचो मम॥ ३०॥ शत्रुरेष त्वया वीर देवगन्धर्वभोगिनाम्। यक्षाणां दानवानां च महर्षीणाञ्च पातितः॥ ३१ ॥अवध्यः सर्वभूतानां मत्प्रसादात् पुराभवत्। कस्माच्चित् कारणात् पापः कञ्चित् कालमुपेक्षितः ॥ ३२॥

हे राजन्! यह मैथिली निष्पाप है, आप इस स्त्रीको स्वीकार करैं ॥ २७॥ अग्निने कहा, कि — हे रघुनन्दन! मैं प्राणियोंके शरीरोंके भीतर रहता हूं, अतः मैं प्राणियोंकी बहुत गुप्त बात को भी जानता हूं, मैं सत्य कहता हूं, कि–हे ककुत्स्थवंशी! मैथिलीका जरा भी अपराध नहीं है ॥ २८ ॥ वरुणने कहा, कि हे राघव! मैं प्राणियोंके शरीरोंमें रस उत्पन्न करता हूं अतः मैं आपसे सत्य कहता हूं, कि–आप निष्पाप मैथिलीको ग्रहण करिये ॥ २९॥ ब्रह्माबोले कि–हे पुत्र! तुम राजर्षियोंके धर्मका पालन करते हो, अतः आपका ऐसा वर्त्ताव करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, हे ककुत्स्थवंशी सत्पुरुष! तुम्हारे चरित्र उत्तम हैं, इस कारण तुम मेरे कहनेको सुनो ॥३०॥ हेवीर! तुमने देवता गन्धर्व, नाग, यक्ष, दानव और महर्षियोंके वैरियोंका नाश किया है॥३१॥ यह पापी पहिले मेरे दियेहुए वरदानके कारण अवध्य होगया था और घोर काम किया करता था तो भी कितने ही कारणोंसे कितने ही समय तक इस पापीकी मैंने अपेक्षा की, परन्तु इतनेमें इस पापीने अपने आप ही नलकूबरका शाप शिरपर धरलिया और अपना नाश करनेके लिये आप ही सीताको हरलाया परन्तु इस सीता

वधार्थमात्मनस्तेन हृता सीता दुरात्मना। नलकूवरशापेन रक्षा चास्याः कृता मया। ३३। यदि ह्यकामामासेवेत् स्त्रियमन्यामपि ध्रुवम्। शतधास्य फलेन्मूर्द्धा इत्युक्तः सोऽभवत् पुरा। ३४। नात्र शङ्का त्वया कार्य्या प्रतीच्छेमां महाद्युते। कृतं त्वया महत् कार्य्यं देवनाममरप्रभ ॥ ३५ ॥ दशरथ उवाच। प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रन्ते पिता दशरथोऽस्मि ते। अनुजानामि राज्यञ्च प्रशाधि पुरुषोत्तम ॥ ३६ ॥ राम उवाच ॥ अभिवादये त्वां राजेन्द्र यदि त्वं जनको मम। गमिष्यामि पुरीं रम्यामयोध्यां शासनात्तव ॥ ३७ ॥ मार्कंडेय उवाच। तमुवाच पिता भूयः प्रहृष्टो भरतर्षभ। गच्छायोध्यां प्रशाधीति रामं रक्तावलोचनम् ॥ ३८ ॥ सम्पूर्णानीह वर्षाणि चतुर्दश महाद्युते। ततो देवान्नमस्कृत्य सुहृद्भिरभिनन्दितः

की रक्षा मैंने की थी ॥ ३३ ॥ मैंने पहिले रावणसे कहदिया था कि-यदि तू किसी भी परस्त्रीकी इच्छाके विना जोरावरी उसका शीलभङ्ग करेगा तो तेरे शिरके हजारों टुकडे होजायंगे। ३४। इसलिये हे महामती! आप सीताके विषयमें शंका न करें इसको साथ लेजायं, हे देवसमान कान्तिवाले! तुमने रावणका नाश करके देवताओंका बड़ाभारी काम सिद्ध किया है॥ ३५॥ पीछे से दशरथ बोले, कि-हे बेटा! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं तेरा कल्याण हो हे बेटा! मैं तेरा पिता दशरथ हूं और तुझे आज्ञा देता हूं, कि-तू राजसिंहासन पर बैठकर राज्यकी रक्षा कर ॥ ३६ ॥ यह सुनकर राम बोले, कि-हे राजेन्द्र! मैं आपको प्रणाम करता हूं, तुम मेरे पिता हो तो मैं आपकी आज्ञासे रमणीय अयोध्या नगरीमें जाकर राज्य करूँगा ॥ ३७ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि-हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन्! यह सुनकर राजा दशरथ प्रसन्न हुए और उन्होंने फिर कोयों में लालिमायुक्त नेत्रोंवाले रामसे कहा, कि-हे महामती! चौदह वर्षपूरे होगये, इसलिये तू अब अयोध्यापुरामें जा और

॥ ३९ ॥ महेन्द्र इव पौलोम्या भार्यया स समेयिवान । ततो वरं ददौ तस्मै ह्यविन्ध्याय परन्तपः ॥ ४० ॥ त्रिजटाञ्चार्थमानाभ्यां योजयामास राक्षसीम् । तमुवाच ततो ब्रह्मा देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ ४१ ॥ कौशल्यामातरिष्टांस्ते वरानद्य ददानि कान् । वव्रे रामः स्थितिं धर्मे शत्रुभिश्चापराजयम् ॥ ४२ ॥ राक्षसैर्निहतानाञ्च वानराणां समुद्भवम् । ततस्ते ब्रह्मणा प्रोक्ते तथेति वचने तदा ॥ ४३ ॥ समुत्तस्थुर्महाराज वानरा लब्धचेतसः । सीता चापि माहाभागा वरं हनुमते ददौ ॥ ४४ ॥ रामकीर्त्या समं पुत्र जीवितं ते भविष्यति । दिव्यास्त्वामुपभोगाश्च मत्प्रसादकृताः सदा ॥४५॥

राजसिंहासन पर बैठकर राज्यकी रक्षा कर, पिता दशरथकी इस बातको सुनकर रामने उनको प्रणाम करके कहा, कि-हे पिताजी ! आप मुझे आज्ञा देते हैं तो मैं आपकी आज्ञाके अनुसार अयोध्यामें जाकर राज्य करूँगा, ऐसा कहकर देवताओंको प्रणाम किया और फिर जैसे इंद्र इंद्राणीसे मिलता है तैसे ही राम सीतासे मिले और उसको अपने पास बैठाया, तदनंतर मित्रोंने रामका अभिनन्दन करके सत्कार किया, यह सब होजाने पर परंतप रामने अविंध्य राक्षसको उसकी इच्छाके अनुसार वर दिया और त्रिजटा नामकी राक्षसीको धन तथा मानसे संतुष्ट किया फिर ब्रह्माजीने इंद्रादि देवताओंके साथ मिलकर रामसे कहा, कि-॥ ३८-४१ ॥ हे कौसल्यानन्दन ! अब हम तुम्हें क्या इच्छित वर दें सा कहिये, इस पर रामने यह वर माँगा, कि-मेरी धर्म पर अटल श्रद्धा रहै, शत्रुका पराजय हो और शत्रुओंके मारेहुए वानर फिर जीवित होजायँ, यह वर दीजिये, इस पर ब्रह्माने कहा कि-'तथास्तु' और ऐसा कहते क्षण ही ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ वानर सावधान होकर खड़े होगये, फिर सीताने हनुमान्को वर दिया, कि-हे पुत्र ! रामकी पवित्र कीर्त्तिके साथ तेरा जीवन भी चिर-

उपस्थास्यन्ति हनुमन्निति स्म हरिलोचन । ततस्ते प्रेक्षमाणानां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ ४६ ॥ अन्तर्द्धानं ययुर्देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः । दृष्ट्वा रामन्तु जानक्या सङ्गतं शक्रसारथिः॥ ४७ ॥ उवाच परमः प्रीतः सुहृन्मध्य इदं वचः । देवगन्धर्वयक्षाणां मानुषासुरभोगिनाम् ॥ ४८ ॥ अपनीतं त्वया दुःखमिदं सत्यपराक्रम सदेवासुरगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ४६ ॥ कथयिष्यन्ति लोकास्त्वां यावद्भूमिर्धरिष्यति । इत्येवमुक्त्वानुज्ञाप्य रामं शस्त्रभृतांवरम् ॥ ५० ॥ सम्पूज्यापाक्रमत्तेन रथेनादित्यवर्चसा । ततः सीतां पुरस्कृत्य रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५१ ॥ सुग्रीवप्रमुखैश्चैव सहितः सर्ववानरैः । विधाय रक्षां लङ्कायां विभीषणपुरस्कृतः ५२ सन्ततार पुनस्तेन सेतुना मकरालयम् । पुष्पकेण विमानेन खेचरेण

काल तक जुड़ा रहेगा, और हे हरिलोचन हनुमान् ! मेरी कृपासे नित्य दिव्य ऐश्वर्य अपने आप तेरे पास विद्यमान रहेंगे, ऐसी बातचीत होरही थी, कि–उसी समय पवित्र कर्मवाले राम आदि के देखतेहुए इंद्र आदि देवता अंतर्धान होगये, इंद्रका सारथि मातलि, राम तथा सीताको पास २ बैठेहुए देखकर मनमें बड़ा ही प्रसन्न हुआ और उसने सब मित्रमंडलीके सामने यह बात कही, कि–हे सत्यपराक्रमी राम ! आपने रावणका नाश करके देवता, गंधर्व, यक्ष, मनुष्य, असुर तथा नागोंका बडाभारी दुःख दूर किया है, इसकारण जब तक यह पृथ्वी रहेगी तबतक देवता, असुर,गन्धर्व, यक्ष,राक्षस,नाग आदि सब लोग आपके चरित्रकी प्रशंसा किया करेंगे, ऐसा कहकर मातलिने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ रामका पूजन किया, फिर उनकी आज्ञा मांग, सूर्यकी समान प्रकाशवान् रथमें बैठकर वह स्वर्गमें चलागया, फिर विभीषणने जिनका सत्कार किया था ऐसे रामने लङ्कापुरीमें चारों ओरसे रक्षाका प्रबन्ध कराया और लक्ष्मण, सीता, सुग्रीव आदि वानर तथा

विराजता ॥५३॥ कामगेन यथा मुख्यैरमात्यैः संवृत्तो वशी । तत्-स्तीरे समुद्रस्य यत्र शिश्ये स पार्थिवः ॥५४॥ तत्रैवोवास धर्मात्मा सहितः सर्ववानरैः। अथैनान् राघवः काले समानीयाभ्यपूज्य च ॥ ५५ ॥ विसर्ज्जयामास तदा रत्नैः सन्तोष्य सर्वशः । गतेषु वानरेन्द्रेषु गोपुच्छर्क्षेषु तेषु च ॥५६॥ सुग्रीवसहितो रामः किष्कि-न्धां पुनरागमत् । विभीषणेनानुगतः सुग्रीवसहितस्तदा ॥ ५७ ॥ पुष्पकेण विमानेन वैदेह्या दर्शयन् वनम् । किष्किन्धान्तु समासाद्य रामः प्रहरतांवरः ॥ ५८ ॥ अङ्गदं कृतकर्माणं यौवराज्येऽभ्यषे-चयत् । ततस्तैरेव सहितो रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५९ ॥ यथा गतेन मार्गेण प्रययौ स्वपुरं प्रति । अयोध्यां स समासाद्य पुरीं

विभीषण सहित राम, पहिले,बनायेहुए पुल पर होकर समुद्रको उलांघ आये और फिर जितेन्द्रिय राम, सीता, लक्ष्मण तथा मुख्य २ मंत्रियोंके साथ शोभायमान आकाशचारी पुष्पक विमान में बैठकर समुद्रके तटपर, पहिले आप जहां सोये थे तहां आपहुंचे तहाँ आने पर धर्मात्मा रामने सब वानरोंके साथ पडाव डाल दिया और फिर उन्होंने सब वानरोंको अपने पास बुलाकर उन की प्रशंसा की ॥ ४४–५५ ॥ और रत्नोंकी भेटोंसे उनको पूर्ण रीतिसे सन्तुष्ट करके घर जानेकी आज्ञा दी, तब लंगूर, वानर तथा रीछ अपने २ घरोंको चलेगये, फिर सीता और लक्ष्मण सहित राम पुष्पक विमानमें बैठकर किष्किंधा नगरीकी ओरको चले, उस समय विभीषण और सुग्रीव भी उनके साथ गये, मार्ग में बड़े २ योधा राम सीताको वनकी अनुपम सुन्दरता बताते २ किष्किंधा नगरीमें आपहुंचे ॥ ५६–५८ ॥ तहां रामने लक्ष्मण तथा अन्य वानरोंके साथ रहकर अपना काम सिद्ध करनेवाले अङ्गदका युवराज पद पर अभिषेक करदिया, फिर वे सब वानर तथा लक्ष्मणसहित कोशलपति राम जिस मार्गसे आये थे, उस

राष्ट्रपतिस्ततः ॥६०॥ भरताय हनूमन्तं दूतं प्रास्थापयत्तदा । लक्ष-यित्वेङ्गितं सर्वं प्रियं तस्मै निवेद्य वै ॥ ६१ ॥ वायुपुत्रे पुनः प्राप्ते नन्दिग्राममुपागमत् । स तत्र मलदिग्धांगं भरतं चीरवाससम् ॥६२॥ अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने । संगतो भरतेनाथ शत्रुघ्नेन च वीर्यवान्॥६३ राघवः सह सौमित्रिर्मुमुदे भरतर्षभ । ततो भरतशत्रु-घ्नौ समेतौ गुरुणा तदा॥६४॥वैदेह्या दर्शनेनोभौ महर्षं समवापतुः । तस्मै तद्भरतो राज्यमागतायातिसत्कृतम् । न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा ॥ ६५ ॥ ततस्तं वैष्णवे शूरं नक्षत्रेऽभिमतेऽहनि । वसिष्ठो वामदेवश्च सहितावभ्यषिञ्चताम् ॥ ६६ ॥ सोऽभिषिक्तः कपिश्रेष्ठं सुग्रीवं ससुहृज्जनम् । बिभीषणञ्च पौलस्त्यमन्वजानाद्गृ

ही मार्गमें होकर अपनी नगरी अयोध्याको चलेगये ॥ ५९॥६०॥ तहां जाते ही उन्होंने हनुमान्को दूतरूपसे भरतके पास भेजा, हनुमान् भरतके पास गये और उनके मनका सब भाव समझ कर उन्होंने रामके आनेका प्रिय समाचार सुनाया ॥६१॥ फिर पवननन्दन हनुमान् रामके पास लौटआये, तब रामसबको साथ में लिये हुए अयोध्याके पास नन्दिग्राममें गये और देखा तो भरत फटेहुए वस्त्र पहिरे, अपने आगे रामकी पादुकाओंको धरेहुए बैठे थे, उनके शरीर पर धूल अटरही थी, हे भरतवंशी राजन् ! ऐसे भरतको देखकर पराक्रमी राम तथा लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्नको छातीसे लगाकर मिले और प्रसन्न हुए तथा हे भरतवंशश्रेष्ठ राजन् ! भरत और शत्रुघ्न भी अपने बड़े भाइयोंसे चिपटकर मिले ॥ ६२–६४ ॥ और सीताके दर्शन करके वे दोनों भाई बहुत ही प्रसन्नहुए, तदनन्तर भरतने धरोहड़की समान अपनेको सौंपाहुआ राज्य वनसे लौटकर आये हुए रामको बड़े हर्षके साथ और बड़े सत्कारके साथ लौटादिया ॥ ६५ ॥ फिर वसिष्ठने और वामदेवने इकट्ठे होकर श्रवण नामके शुभ नक्षत्रवाले दिन रामका राज्याभिषेक करदिया॥६६॥ अपना

गृहान् प्रति ॥ ६७ ॥ अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैः प्रीतियुक्तौ मुदा युतौ समाधायेतिकर्त्तव्यं दुःखेन विससर्ज्ज ह ॥ ६८ ॥ पुष्पकञ्च विमानं तत् पूजयित्वा स राघवः । प्रादाद्वैश्रवणायैव प्रीत्या स रघुनन्दनः ॥ ६९ ॥ ततो देवर्षिसहितः सरितं गोमतीमनु । दशाश्वमेधानजहे जारूथ्यान् स निरर्गलान् ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामाभिषेके एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥

मार्कण्डेय उवाच । एवमेतन्महाबाहो रामेणामिततेजसा । प्राप्तं व्यसनमत्युग्रं वनवासकृतं पुरा ॥ १ ॥ मा शुचः पुरुषव्याघ्र क्षत्रियोऽसि परन्तप । बाहुवीर्याश्रिते मार्गे वर्त्तसे दीप्तनिर्णये ॥ २ ॥ न हि ते वृजिनं किञ्चिद्वर्त्तते परमण्वपि । अस्मिन्मार्गे निषीदेयुः

राज्याभिषेक होजानेपर रामने वानरोंमें श्रेष्ठ परम स्नेही सुग्रीवको तथा पुलस्त्यके पुत्र विभीषणको अनेकों वैभवोंसे सत्कार करके प्रसन्न किया, फिर वे दोनों भी राजवैभवोंको भोगकर प्रसन्न हुए फिर रामने उन दोनोंको 'इस २ प्रकारसे काम करना, इत्यादि कितने ही उपदेश दे उनके मनको सन्तुष्ट करके, जुदा होनेके दुःख से उदास होतेहुए उनको विदा करदिया ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ रघुवंशमें उत्पन्न हुए रामने पुष्पक विमानकी पूजा करके वह प्रेमके साथ कुबेरको भेट करदिया ॥ ६९ ॥ तथा इन रामने देवर्षियोंकी सहायतासे गोमती नदीके किनारे पर असंख्य दक्षिणावाले दश अश्वमेध यज्ञ किये और अन्नके भूखोंको पेट भरने योग्य अन्न देकर संतुष्ट किया ॥ ७० ॥ दो सौ इक्यानवेवां अध्याय समाप्त

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—हे महाबाहु युधिष्ठिर ! इसप्रकार पहिले रामके ऊपर वनवासके कारण महाभयानक दुःख पड़ा था ॥ १ ॥ इसलिये हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम शोक न करो हे परन्तप ! तुम क्षत्रिय हो और भुजदण्डके पराक्रमके भरोसे पर अतितेजस्वी मार्गमें विचरते हो ॥ २ ॥ रामके दुःखके सामने तुम्हारा दुःख

सेन्द्राअपि सुरासुराः ॥३॥ संहत्य निहतो वृत्रो मरुद्भिर्वज्रपाणिना। नमुचिश्चैव दुर्धर्षो दीर्घजिह्वा च राक्षसी ॥४॥सहायवति सर्वार्थाः सन्तिष्ठन्तीह सर्वशः।किन्तु तस्याजितं संख्ये यस्य भ्राता धनञ्जयः ॥५॥अयञ्च बलिनां श्रेष्ठो भीमो भीमपराक्रमः। युवानौ च महेष्वासौ वीरौ माद्रवतीसुतौ॥६॥न निःसहायैः कस्मात्त्वं विषीदसि परन्तप। य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ॥ ७ ॥ त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः। विजेष्यसि रणे सर्वानमित्रान् भरतर्षभ ८ इतश्च त्वमिमां पश्य सैन्धवेन दुरात्मना। बलिना वीर्यमत्तेन हृतामेभिर्महात्मभिः ९ आनीतां द्रौपदीं कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम्

अणुमात्र भी नहीं है, इन्द्र देवता तथा असुर भी इस क्षत्रिय धर्मका ही पालन करते हैं ॥ ३ ॥ वज्रपाणि इंद्रने मरुत्गणों की सहायतासे वृत्रासुरका नाश किया था, किसीसे न दबनेवाले नमुचिका नाश किया था तथा दीर्घजिह्वा राक्षसीका भी नाश किया था ॥४॥ इसलिये सहायकोंकी आवश्यकता है, इस जगत् में जिस मनुष्यको सहायता मिली है, उस मनुष्यके वशमें सब ही वस्तुएं रहती हैं ॥ ५ ॥ तो अब जिसका भाई अर्जुन है वह युद्ध में किस वस्तुको नहीं जीतसकता है ? तथा यह भयानक पराक्रमवाला भीम भी महाबली है, माद्रीके पुत्र भी महाधनुषधारी, वीर और तरुण हैं ॥ ६ ॥ हे परन्तप ! तुम्हें इतने पुरुषोंकी सहायता है तो भी तुम शोक क्यों करते हो? यदि तुम्हारे भाई चाहें तो मरुत्गणोंवाली इन्द्रकी सेनाको भी जीतसकते हैं ॥ ७ ॥ हे भरत वंशश्रेष्ठ ! तुम भी अपने इन देवरूप भाइयोंकी सहायतासे अवश्य ही अपने शत्रुओंको जीतोगे ॥ ८ ॥ हे राजन् ! तुम इस द्रौपदीकी ओरको तो देखो कि–जिसको, शारीरिक बलसे मदमत्तहुआ बलवान् दुष्टात्मा सिंधुराज हरकर लेगया था, परंतु तुम्हारे यह महात्मा भाई अतिकठिन पराक्रम करके द्रौपदीको लौटाकर लाये और राजा जयद्रथको जीतकर उसको तुम्हारा

जयद्रथश्च राजानं विजितं वशमागतम् ॥ १० ॥ असहायेन रामेण वैदेही पुनरागता । हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीमविक्रमम् ११ यस्य शाखामृगा मित्राण्यृक्षाः कालमुखास्तथा। । जात्यन्तरगता राजन्नेतत् बुद्ध्यानुचिन्तय॥१२॥तस्मात् सर्वं कुरुश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ । त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचन्ति परन्तप ॥ १३ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमाश्वासितो राजा मार्कण्डेयेन धीमता । त्यक्त्वा दुःखमदीनात्मा पुनरप्येनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरा-
श्वासने द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९२ ॥
समाप्तञ्च रामोपाख्यानपर्व ॥

अथ पतिव्रतामाहात्म्यपर्व ।

युधिष्ठिर उवाच । नात्मानमनुशोचामि नेमान्भ्रातॄन्महामुने ।

दास बनादिया ॥९॥१०॥ देखो अकेले ही राम भयानक पराक्रम के द्वारा युद्धमें राक्षस रावणका नाश करके सती सीताको लौटाकर लाये उनके चरित्रकी ओर तो देखो ॥ ११ ॥ इन राम के तो पशु जातिके वानर तथा काले मुखके रीछ मित्र हुए थे, हे राजन् ! इसको भी बुद्धिसे विचारकर देखो॥१२॥ हे भारत ! हे कुरुवंशमें श्रेष्ठ ! ऐसे दृष्टान्तोंको देखकर तुम शोक न करो, हे परन्तप ! आपसरीखे महात्मा आपत्तिके समयमें शोक नहीं करते हैं ॥ १३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! इसप्रकार बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीने राजा युधिष्ठिरको उपदेश देकर शान्त किया था, फिर उदार मनवाले युधिष्ठिरने दुःखको त्यागकर उनसे यह प्रश्न किया ॥ १४ ॥ दोसौ बयानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९२ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा कि—हे महामुने ! मुझे जैसा शोक इस द्रौपदी के लिये होता है तैसा शोक अपने आपका भी नहीं है, इन भाइयों

हरणञ्चापि राज्यस्य यथेमां द्रुपदात्मजाम् ॥ १ ॥ द्यूते दुरात्मभिः क्लिष्टाः कृष्णया तारिता वयम् । जयद्रथेन च पुनर्वनाच्चापि हृता बलात् ॥२॥ अस्ति सीमन्तिनी काचिद्दृष्टपूर्वापि वा श्रुता । पतिव्रता महाभागा यथेयं द्रुपदात्मजा ॥ ३ ॥ मार्कंडेय उवाच । शृणु राजन् कुलस्त्रीणां महाभाग्यं युधिष्ठिर । सर्वमेतद्यथाप्राप्तं सावित्र्या राजकन्यया४ आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा राजा परमधार्मिकः । ब्रह्मण्यश्च महात्मा च सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ॥ ५ ॥ यज्वा दानपतिर्दक्षः पौरजानपदप्रियः । पार्थिवोश्वपतिर्नाम सर्वभूतहिते रतः ॥ ६ ॥ क्षमावाननपत्यश्च सत्यवाग्विजितेन्द्रियः । अतिक्रान्तेन वयसा सन्तापमुपजग्मिवान् ॥७॥ अपत्योत्पादनार्थञ्च तीव्रं नियममास्थितः

का नहीं है और शत्रुओंने मेरा राज्य छीनलिया उसका भी नहीं है ॥ १ ॥ दुष्टात्मा कौरवोंने जब हमें जुएमें महाकष्ट दिया तब इस द्रौपदीने ही हमारा उद्धार किया था, फिर अब जयद्रथने इस द्रौपदीको वनमें बलात्कारसे हरलिया ॥ २ ॥ हे महाराज ! इस पतिव्रता द्रौपदी सरीखी कोई दूसरी भाग्यवती पतिव्रता है क्या ? अथवा ऐसी कोई सती आपने पहिले कहीं देखी वा सुनी है ? ॥ ३ ॥ मार्कण्डेयने उत्तर दिया कि—हे राजन् युधिष्ठिर ! कुलीन स्त्रियोंके महाभाग्यको सुनो यह सब महाभाग्य राजकुमारी सावित्रीने जिसप्रकार पाया था सो मैं कहता हूं ॥ ४ ॥ मद्रदेश में एक अश्वपति नामका धर्मात्मा राजा हुआ है, वह धर्मपर बड़ी श्रद्धा रखनेवाला ब्राह्मणोंका भक्त, महात्मा, सच्ची प्रतिज्ञा करने वाला, जितेन्द्रिय, यज्ञ करनेवाला, दानेश्वरी, चतुर, नगरके और देशके लोगोंका प्यारा, भूमिका रक्षक सकल प्राणियोंका हित करनेमें तत्पर, क्षमाशील, इन्द्रियोंको जीतनेवाला और सत्यवादी था, इसप्रकार सब सुख होनेपर भी उसके कोई संतान नहीं थी, इस कारण जब बहुतसी अवस्था बीतकर बुढ़ापा आया तब वह अपने मनमें बड़ा दुःख माननेलगा ॥ ५-७ ॥ और उसने

काले नियमिताहारो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥८॥ हुत्वा शतसहस्रं स सावित्र्या राजसत्तम । षष्ठे षष्ठे तदा काले बभूव मितभोजनः ॥ ६ ॥ एतेन नियमेनासीद्वर्षाण्यष्टादशैव तु । पूर्णे त्वष्टादशे वर्षे सावित्री तुष्टिमभ्यगात् ॥ १० ॥ रूपिणी तु तदा राजन् दर्शयामास तं नृपम् । अग्निहोत्रात् समुत्थाय हर्षेण महतान्विता । उवाच चैनं वरदा वचनं पार्थिवं तदा ॥ ११ ॥ सावित्र्युवाच। ब्रह्मचर्येण शुद्धेन दमेन नियमेन च । सर्वात्मना च भक्त्या च तुष्टास्मि तव पार्थिव ॥ १२ ॥ वरं वृणीष्वाश्वपते मद्रराज यदीप्सितम् । न प्रमादश्च धर्मेषु कर्त्तव्यस्ते कथञ्चन ॥ १३ ॥ अश्वपतिरुवाच । अपत्यार्थः समारम्भः कृतो धर्मेप्सया मया । पुत्रा मे बहवो देवि भवेयुः कुलभावनाः ॥ १४ ॥ तुष्टासि यदि मे देवि वरमेतं वृणो-

सन्तान पानेके लिये बड़े कठिन नियमोंका पालन करना आरंभ करदिया, नियत समय पर निर्वाह मात्रको थोड़ा भोजन करता हुआ इन्द्रियोंको वशमें करके ब्रह्मचर्यसे रहनेलगा॥८॥ और हे श्रेष्ठ राजन् ! गायत्री मंत्रके द्वारा एक लक्ष हवन करके दिनके छटे भागमें थोडासा आहार करनेलगा ॥ ६ ॥ ऐसे नियमसे रहतेहुए उसको अठारहवर्ष होगए और जिसदिन अठारहवां वर्ष पूरा होने को हुआ उस दिन सावित्री देवी उसके ऊपर प्रसन्न होगई १० हे राजन् ! मूर्त्तिमती हुई उस वरदायिनी सावित्री देवीने, बड़े हर्षके साथ अग्निहोत्रके कुण्डमेंसे प्रकट होकर राजाको दर्शन दिया और इस राजासे यह वचन कहा ॥ ११ ॥ सावित्रीने कहा, कि-हे राजन् ! मैं तेरे शुद्ध ब्रह्मचर्य, दम, नियम, पूर्ण यत्न और भक्तिभावसे तेरे ऊपर प्रसन्न हुई हूं॥ १२ ॥ सो हे मद्रदेशके राजा अश्वपते ! तेरे मनको जो अच्छा लगता हो वह वर माँगले, हे राजन् ! तू धर्मके कामोंमें किसीप्रकार भी असावधानी न करना ॥ १३ ॥ अश्वपतिने कहा, कि—हे देवि ! मैंने धर्मकी इच्छासे सन्तानके लिये यह व्रतका आरम्भ किया है, सो मेरे वंशको चलानेवाले बहुतसे पुत्र हों ॥ १४ ॥ हे देवि ! यदि तू मेरे

म्यहम् । सन्तानं परमो धर्म इत्याहुर्मां द्विजातयः ॥ १५ ॥ सावित्र्युवाच । पूर्वमेव मया राजन्नभिप्रायमिमं तव । ज्ञात्वा पुत्रार्थमुक्तो वै भगवांस्ते पितामहः ॥ १६ ॥ प्रसादाच्चैव तस्मात्ते स्वयम्भुविहिताद्भवि । कन्या तेजस्विनी सौम्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १७॥ उत्तरञ्च न ते किञ्चिद् व्याहर्त्तव्यं कथञ्चन । पितामहनिसर्गेण तुष्टा ह्येतद् ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥ मार्कण्डेय उवाच । स तथेति प्रतिज्ञाय सावित्र्या वचनं नृपः । प्रसादयामास पुनः क्षिप्रमेतद्भविष्यति ॥१९॥ अन्तर्हितायां सावित्र्यां जगाम स्वपुरं नृपः स्वराज्ये चावसद्वीरः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ २० ॥ कस्मिंश्चित्तु गते काले स राजा नियतव्रतः । ज्येष्ठायां धर्मचारिण्यां महिष्यां गर्भमादधे ॥ २१ ॥ राजपुत्र्यास्तु गर्भः स मालव्या भरतर्षभ ।

ऊपर प्रसन्न हुई है तो मैं यही वरदान मांगता हूं, क्योंकि— सन्तान ही परमधर्म है, ऐसा मुझसे ब्राह्मणोंने कहा है ॥ १५ ॥ सावित्रीने कहा, कि–हे राजन् ! मैंने तेरे इस अभिप्रायको पहिले ही जानकर भगवान् ब्रह्माजीसे तुझे पुत्र देनेके लिये कहदिया है ॥ १६ ॥ और हे सौम्य ! उन ब्रह्माजीके प्रसादसे तेरे यहां शीघ्र ही एक तेजस्विनी कन्या होगी ॥ १७ ॥ मैं ब्रह्माजीकी आज्ञासे तेरे ऊपर प्रसन्न होकर यह बात कहरही हूं, इसमें तुझे किसी प्रकारका कुछ भी उत्तर नहीं देना चाहिये ॥ १८ ॥ मार्कण्डेय कहते हैं, कि हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर अश्वपतिने 'अच्छा यही हो' ऐसा कहकर सावित्रीके वचनको स्वीकार करलिया और यह काम शीघ्र ही सिद्ध होजाय, इसके लिये उसने सावित्रीको फिर प्रसन्न किया ॥ १९ ॥ इसके अनन्तर सावित्री अन्तर्धान होगई और वीर राजा अपने राज्यमें आकर धर्मानुसार प्रजाका पालन करताहुआ रहनेलगा ॥ २० ॥ तदनन्तर कितना ही समय बीतजाने पर नियमसे व्रत करनेवाले उस राजाकी बड़ी धर्मपत्नी जो पटरानी थी उसके गर्भ रहा ॥ २१ ॥ हे भरतवंशमें

व्यवर्द्धत तदा शुक्ले तारापतिरिवाम्बरे ॥ २२ ॥ प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम् । क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे स नृपसत्तमः ॥ २३ ॥ सावित्र्या प्रीतया दत्ता सावित्र्या हुतया ह्यपि । सावित्रीत्येव नामास्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ॥ २४ ॥ स विग्रहवतीव श्रीर्व्यवर्धत नृपात्मजा । कालेन चापि सा कन्या यौवनस्था बभूव ह ॥ २५ ॥ तां सुमध्यां पृथुश्रोणीं प्रतिमां काञ्चनीमिव । प्राप्तेयं देवकन्येति दृष्ट्वा संमेनिरे जनाः ॥ २६ ॥ तान्तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा । न कश्चिद्वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ॥ २७ ॥ अथोपोष्य शिरःस्नाता देवतामभि-

श्रेष्ठ राजन् ! शुक्लपक्षमें जैसे आकाशमें चन्द्रमा दिन प्रतिदिन बढ़ा करता है तैसे ही उस राजाकी पुत्रीका गर्भ भी दिन दिन बढ़नेलगा और जब दश महीने पूरे हुए तब रानीने एक कमलनयनी कन्याको उत्पन्न किया, उस कन्याके जातकर्म आदि संस्कार उन महाराजने बड़े आनन्दसे किये ॥२२।२३॥ और फिर सावित्रीके मन्त्रको पढ़कर होम करने पर सावित्रीने प्रसन्न होकर यह कन्या दी है, ऐसा मानकर ब्राह्मणोंने तथा राजाने उस कन्याका नाम सावित्री रक्खा ॥ २४ ॥ मूर्त्तिमती लक्ष्मीकी समान देदीप्यमान वह राजकन्या दिन प्रतिदिन बढ़नेलगी और कुछ समयके अनंतर वह कन्या युवा अवस्थामें पहुंचगई॥२५॥सुन्दर कमर और विशाल नितम्बवाला सोनेकी पुतलीकी समान शोभायमान उस कन्याको देखकर लोग यह समझनेलगे, कि—यह कोई देवकन्या राजाके यहाँ उत्पन्न होगई है॥ २६ ॥ श्यामकमलके दलकी समान नेत्र और दमकतेहुए तेजस्वी शरीरवाली उस कन्याके तेजसे चौंधा जानेके कारण उसको कोई भी नहीं वरता था॥ २७॥ किसी एक पर्वके दिन देवी सावित्री मस्तक पर्यन्त जलमें स्नान करके शुद्ध हुई और उपवास करके अपने इष्टदेवके समीपमें जाकर उसने शास्त्रमें कही रीतिसे अग्निमें होम करके ब्राह्मणोंसे स्वस्ति-

गम्यसा । हुत्वाग्नि विधिवद्विमान् वाचयामास पर्वणि॥ २८ ॥ ततः सुमनसः शेषः प्रतिगृह्य महात्मनः । पितुः समीपमगमद्देवी श्रीरिव रूपिणी ॥ २९ ॥ साभिवाद्य पितुः पादौ शेषाः पूर्वं निवेद्य च । कृताञ्जलिर्वरारोहा नृपतेः पार्श्वमास्थिता ॥३०॥ यौवनस्थान्तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणीम् । अयाच्यमानाञ्च वरैर्नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥३१ ॥ राजोवाच । पुत्रिप्रदानकालस्ते न च कश्चिद्वृणोति माम् । स्वयमन्विच्छ भर्त्तारं गुणैः सदृशमात्मनः ३२ प्रार्थितः पुरुषो यश्च स निवेद्यस्त्वया मम । विमृश्याहं प्रदास्यामि वरय त्वं यथेप्सितम् ॥ ३३ ॥ श्रुतं हि धर्मशास्त्रेषु पठ्यमानं द्विजातिभिः । तथा त्वमपि कल्याणि गदतो मे वचः श्रृणु ॥ ३४ ॥

वाचन करवाया ॥ २८ ॥ और इष्टदेवको अर्पण कीहुई निर्माल्य रूप फूलोंकी मालाको लेकर मूर्त्तिमती लक्ष्मी देवीकी समान सावित्री अपने महात्मा पिताके पास आई॥ २९ ॥ सुन्दर शरीर वाली सावित्रीने पिताके चरणोंमें प्रणाम करके इष्टदेवका प्रसाद रूप वह फूलोंकी माला पिताको दी और फिर वह दोनों हाथ जोड़कर राजाके एक करवटकी ओर खड़ी होगई ॥ ३० ॥ देवताकी समान अपनी पुत्रीको जवानीमें पहुंचीहुई देख कर और कोई वर उसके लिये याचना नहीं करता है यह विचार कर अश्वपतिके मनमें उस समय खेद होनेलगा ॥ ३१ ॥ और फिर राजा अश्वपति कहनेलगा, कि–हे बेटी ! यह समय तेरा विवाह होनेका है, परन्तु कोई भी पुरुष तेरे लिये मुझसे याचना नहीं करता है, इसलिये तू अपने आप अपनी समान वरको खोजले ॥ ३२ ॥ तुझे जिस पुरुषके साथ विवाह करनेकी इच्छा हो उस पुरुषको तू मुझे बताना तू अपनी इच्छानुसार वरको खोजले मैं उस वरके साथ तेरा विवाह भलेप्रकार करदूँगा ॥ ३३ ॥ मैंने ब्राह्मणोंसे धर्मशास्त्रके जो वचन सुने हैं, हे कल्याणी ! वे वचन मैं तुझे सुनाता हूं, उनको तू सुन धर्मशास्त्रमें कहा है, कि

अप्रदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः। मृते भर्तरि पुत्रश्च वाच्यो मातुररक्षिता॥३५॥ इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्त्तुरन्वेषणे त्वर। देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु॥ ३६ ॥ मार्कण्डेय उवाच। एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धांश्च मन्त्रिणः। व्यादिदेशानुयात्रञ्च गम्यतांश्चेत्यचोदयत्॥ ३७ ॥ साभिवाद्य पितुः पादौ व्रीडितेव तपस्विनी। पितुर्वचनमाज्ञाय निर्जगामाविचारितम् ३८ सा हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता। तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह॥ ३९ ॥ मान्यानां तत्र वृद्धानां कृत्वा पादाभिवादनम्। वनानि क्रमशस्तात सर्वाण्येवाभ्यगच्छत॥ ४० ॥

॥ ३४ ॥ कन्याका विवाहकाल होजाने पर भी जो पिता उस कन्या का विवाह नहीं करता है वह अपराधी ठहरता है, जो पति ऋतु कालमें अपनी स्त्रीसे समागम नहीं करता है, वह भी दोषका पात्र ठहरता है और पतिका मरण होनेपर उस विधवाका पुत्र अपनी माताकी रक्षा न करे तो वह भी दोषको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ इसलिये हे वेटी! तू मेरे इस कहनेको सुनकर शीघ्रतासे वरकी खोज कर और जिसप्रकार देवता मुझै दोषका पात्र न मानैं तैसा कर ॥ ३६ ॥ मार्कण्डेय कहते हैं, कि—हे राजन्! युधिष्ठिर! अपनी कन्यासे ऐसा कहकर राजा अश्वपतिने अपने बूढे मंत्रियों को आज्ञा दी, कि—तुम सवारी आदि लेकर सावित्रीके साथ जाओ ॥ ३७ ॥ जब पिताने ऐसा कहा तब तपस्विनी सावित्रीने लजाते २ पिताको प्रणाम किया और उनके कहनेको माथे पर चढाकर स्वीकार किया तथा उसके विषयमें किसीप्रकारका विचार न करके वह वरकी खोज करनेके लिये जानेको तयार होगई, वह सुवर्णके रथमें वैठकर बूढ़े मंत्रियोंके साथ पतिकी खोज करनेको चल दी, हे तात! वह कन्या पहिले सुन्दर तपोवनोंमें गई और तहां रहनेवाले बूढ़े २ माननीय राजर्षियोंके चरणोंमें प्रणाम किया तहांसे चलकर वह धीरे २ दूसरे सब वनोंमें घूमी ॥३८-४० ॥

एवं तीर्थेषु सर्वेषु धनोत्सर्गं नृपात्मजा । कुर्वती द्विजमुख्यानां तं देशं जगाम ह ॥ ४१ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥ अथ मद्राधिपो राजा नारदेन समागतः । उपविष्टः सभामध्ये कथायोगेन भारत ॥ १ ॥ ततोऽभिगम्य तीर्थानि सर्वाण्येवाश्रमांस्तथा । आजगाम पितुर्वेश्म सावित्री सह मन्त्रिभिः ॥ २ ॥ नारदेन सहासीनं सा दृष्ट्वा पितरं तदा । उभयोरेव शिरसा चक्रे पादाभिवादनम् ॥ ३ ॥ नारद उवाच ॥ क्व गताऽभूत् सुतेयन्ते कुतश्चैवागता नृप । किमर्थं युवतीं भर्त्रे न चैनां संप्रयच्छसि ॥ ४ ॥ अश्वपतिरुवाच ॥ कार्येण खल्वनेनैव प्रेषिताद्यैव

इसप्रकार राजकन्या सावित्री सब तीर्थोंमें निवास करनेवाले मुख्य २ ब्राह्मणोंका धनसे सत्कार करके अनेकों देशोंमें विचरती रही थी ॥४१॥ दोसौ तिरानवेवां अध्याय समाप्त ॥२९३॥

मार्कण्डेय कहते हैं, कि-हे भरतवंशी राजन् ! एक दिन मद्र देशका राजा अश्वपति सभामें बैठाहुआ नारदजीके साथ बातें कररहा था ॥१॥ उस समय सावित्री सब तीर्थोंकी तथा आश्रमोंकी यात्रा करके मंत्रियोंके साथ फिर अपने पिताके घर आपहुंची॥२॥ तहां अपने पिताको नारदजीके साथ बातें करते बैठेहुए देखते ही कल्याणी सावित्रीने उन दोनोंके चरणोंमें मस्तक नमाकर प्रणाम किया॥३॥उस समय नारदजीने बूझा, कि-हे राजन् ! तेरी पुत्री यह सावित्री कहांगई थी ? और अब कहांसे आरही है, यह कन्या जवान होगई तो भी तू योग्य वरके साथ इसका विवाह क्यों नहीं करता है ॥४॥ राजा अश्वपतिने कहा कि-हे महाराज वर ढूंढ़नेके कामके लिये ही मैंने इसको परदेशमें भेजा था सो यह आज ही अपना काम सिद्ध करके लौटकर आई है, हे देवर्षि !

ऽऽगता । एतस्याः शृणु देवर्षे भर्त्तारं योऽनया वृतः ॥ ५ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ सा ब्रूहि विस्तरेणेति पित्रा संचोदिता शुभा । तदैव तस्य वचनं प्रतिगृह्येदमब्रवीत् ॥ ६ ॥ सावित्र्युवाच ॥ आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः । द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चाच्चान्धो बभूव ह ॥७॥ विनष्टचक्षुषस्तस्य बालपुत्रस्य धीमतः सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन् पूर्ववैरिणा ॥८। स बालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम् । महारण्यं गतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ॥ ९ ॥ तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने । सत्यवाननुरूपो मे भर्त्तेति मनसा वृतः ॥१०॥ नारद उवाच ॥ अहो बत महत्पापं

इस कन्याने जो अपना वर ढूंढा है,उसके समाचारको आप सुनिये ॥ ५ ॥ मार्कण्डेय कहते हैं कि–ऐसा कहकर पिताने अपनी मङ्गलमयी पुत्रीसे कहा, कि – हे बेटी ! तूने जो वर खोजा हो, उसका सब समाचार विस्तारके साथ सुना ॥६॥ यह सुनते ही सावित्री अपने पिताकी आज्ञाको माथे पर चढ़ाकर कहनेलगी ॥ ७ ॥ सावित्री बोली कि–शाल्वदेशमें बुद्धिमान् और धर्मात्मा द्युमत्सेन नामका एक क्षत्रिय राजा राज्य करता था, वह राजा बुढ़ापेमें आकर अन्धा होगया है ॥ ७ ॥ वह बुद्धिमान् राजा जब अन्धा हुआ तब उसका पुत्र बालक अवस्थाका था, इसकारण उसकी सीमाके पास रहनेवाले, उसके पहिलेके वैरी राजाने यह विपत्ति का अवसर देखकर उसके राज्यको छीन लिया और उस द्युमत्सेन को राज्यमेंसे निकालदिया ॥ ८ ॥ तब वह अन्धा राजा अपने कुमार और स्त्रीको साथ लेकर तपोवनमें चलागया और तहां वह बड़ाभारी व्रत धारण करके तपस्या करता है, उसके पुत्रका जन्म तो नगरमें हुआ है,परन्तु वह तपोवनमें पलकर बड़ा हुआ है और उसका नाम सत्यवान् है, वह राजकुमार मेरे योग्य भर्त्ता है, ऐसा मानकर मैंने उसको अपने पतिरूपसे स्वीकार करलिया है॥९॥१०॥ राजकुमारीकी इस बातको सुनकर नारदजी बोल उठे, कि–अरेरे

सावित्र्या नृपते कृतम् । अजानंत्या यदनया गुणवान् सत्यवान् वृतः ॥११॥ सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते । तथास्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत् सत्यवानिति॥१२॥बालस्याश्वाः प्रियाश्चास्य करोत्यश्वांश्च मृन्मयान् । चित्रेपि विलिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते ॥ १३ ॥ राजोवाच ॥ अपीदानीं स तेजस्वी बुद्धिमान् वा नृपात्मजः । क्षमावानपि वा शूरः सत्यवान पितृवत्सलः॥१४ ॥ नारद उवाच॥ विवस्वानिव तेजस्वी बृहस्पतिसमो मतौ । महेन्द्र इव वीरश्च वसुधेव क्षमान्वितः॥१५ ॥ अश्वपतिरुवाच॥अपिराजात्मजो दाता ब्रह्मण्यश्चापि सत्यवान्। रूपवानप्युदारोवा प्यथवा प्रियदर्शनः १६ नारद उवाच।सांकृते रन्तिदेवस्य स्वशक्त्या दानतः समः।ब्रह्म-

हे राजन् ! सावित्रीने गुणवान् सत्यवान्को वरा तो है, परन्तु उसको और एक बातकी खबर नहीं है, इसने अनजानमें यह काम करलिया सो ठीक नहीं किया ॥ ११ ॥ उस कुमारके माता पिता सत्य बोलते हैं, इसकारण ब्राह्मणोंने उसका नाम सत्यवान् धरदिया है ॥ १२ ॥ यह कुमार जब बालक था, तब घोड़ों के ऊपर इसका बड़ा ही प्रेम था और यह मट्टीके घोड़े बनाया करता था तथा चित्रोंमें भी घोड़े ही खेंचा करता था,इसकारण यह चित्राश्व नामसे भी प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥ अश्वपति राजाने बूझा, कि–हे ऋषिजी ! पिताका लडैता वह राजकुमार इस समय तेजस्वी, बुद्धिमान् क्षमावान् शूर और सत्यवादी है या नहीं यह बताओ ॥ १४ ॥ नारदजी कहनेलगे, कि—वह सूर्यकी समान तेजस्वी बृहस्पतिकी समान बुद्धिमान् महेन्द्रका समान वीर और पृथ्वीकी समान क्षमाधारी है ॥ १५ ॥ राजा अश्वपतिने बूझा, कि—हे नारदजी ! राजकुमार सत्यवान् दाता, ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाला, रूपवान् उदार और प्रियदर्शन है या नहीं सो कहो १६ नारदबोले, कि–द्युमत्सेनका बलवान् पुत्र संकृतिके पुत्र रन्तिदेवका समान दाता और उशीनरके पुत्र शिबिकी समान सत्य-

एव: सत्यवादी च शिविरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥ ययातिरिव चोदार: सोमवत् प्रियदर्शन: । रूपेणान्यतमोऽश्विभ्यां द्युमत्सेनसुतो बली॥१८॥स दान्त:समृदु: शूर: स सत्य: संयतेन्द्रिय:।स मैत्र: सोऽनसूयश्च:स ह्रीमान् द्युतिमांश्च स: ।१९। नित्यशश्चार्जवं तस्मिन् स्थितिस्तस्यैव च ध्रुवा । संक्षेपतस्तपोवृद्धै: शीलवृद्धैश्च कथ्यते ।२०। अश्वपतिरुवाच । गुणैरुपेतं सर्वैस्तं भगवन् प्रब्रवीषि मे । दोषानप्यस्य मे ब्रूहि यदि सन्तीह केचन ॥ २१ ॥नारद उवाच । एक एवास्य दोषो हि गुणानाक्रम्य तिष्ठति । स च दोष: प्रयत्नेन न शक्यश्चातिवर्तितुम् ॥ २२ ॥ एको दोषोऽस्ति नान्योऽस्य सोऽद्यप्रभृति सत्यवान् । सम्वत्सरेण क्षीणायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥२३॥ राजोवाच । एहि सावित्रि गच्छस्व अन्यं वरय शोभने । तस्य

वादी है ॥ १७ ॥ ययातिकी समान उदार, चंद्रमाकी समान मनुष्योंके मनोंको आनन्द देनेवाला और अश्विनीकुमारकी समान अनुपम रूपवान् है ॥ १८ ॥ और वह मनको वशमें रखनेवाला, कोमल, शूर, सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, सबके साथ मित्रता रखनेवाला, ईर्षारहित, लज्जाशील और कांतिमान् है ॥ १९ ॥ तथा तपस्वी और शीलवान् ब्राह्मण उसके लिये संक्षेपमें कहते हैं, कि–उसमें सरलताने नित्य निवास करलिया है और उसकी मर्यादा भी अचल है ॥ २० ॥ राजा अश्वपतिने कहा कि–हे भगवन् ! जब तुम उसको सकल गुणोंवाला कहते हो तो अब उसमें जो कोई दोष हो उसको भी कह दीजिये ॥ २१ ॥ नारद जी बोले, कि--उसमें एक ही बड़ा भारी दोष है, कि--जो दोष उसके सब गुणोंको ढकरहा है, वह दोष उद्योग करने पर भी दूर नहीं होसकता ॥ २२ ॥ वह एक ही दोष है, उसके सिवाय दूसरा कोई दोष नहीं है, वह दोष यह है, कि--आजसे एकवर्ष पीछे सत्यवान्की आयु पूरी होजायगी और वह मरजायगा २३ राजाने यह बात सुनते ही सावित्रीको बुलाकर कहा, कि-हे बेटी!

दोषो महानेको गुणानाक्रम्य च स्थितः ॥ २४ ॥ यथा मे भगवानाह नारदो देवसत्कृतः । सम्वत्सरेण सोऽल्पायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २५ ॥ सावित्र्युवाच॥ सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते । सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥ २६ ॥ दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा । सकृद्वृतो मया भर्त्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥ २७ ॥ मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते । क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः ॥ २८ ॥ नारद उवाच । स्थिरा बुद्धिर्नरश्रेष्ठ सावित्र्या दुहितुस्तव । नैषा वारयितुं शक्या धर्मादस्मात् कथञ्चन ॥ २९ ॥ नान्यस्मिन् पुरुषे

यहां आ, और तू दूसरे किसी वरको खोजले, क्योंकि-सत्यवान् में एक ऐसा वड़ा दोष है, कि-उसने उसके सब गुणोंको ढक दिया है ॥ २४ ॥ देवताओंमें सन्मान पायेहुए भगवान् नारदजीने मुझसे कहा है कि-सत्यवानकी आयु थोडीसी है, वह एक वर्ष पीछे मरजायगा ॥ २५ ॥ यह सुनते हीं सावित्री बोलउठीं, कि-अंश कहिये पिता आदिके धनके विभागका निर्णय करते समय जो चिट्ठी आदि डाली जाती है वह एक हीं वार पडती है, कन्या का दान भी एक हीं वार कियाजाता है और 'मैं देता हूं' ऐसा भी एक ही वार कहा जाताहै, ये तीनों वातें एक हीं वार कीजाती हैं ॥ २६ ॥ इसलिये सत्यवान् चिरायु हो चाहे अल्पायु हो, गुणवान् हो चाहे निर्गुण हो, परन्तु मैं उसको एक वार वरचुकी हूं इसलिये मैं अव दूसरे किसीको भी पति नहीं करूंगी ॥ २७ ॥ मनुष्य यदि कुछ काम करना विचारता है तो पहिले मनमें उस का निश्चय करता है. फिर वाणीसे कहकर वताता है और कर्म से उसको वर्त्तावमें लाता है, इसलिये इस काममें मेरा मन ही प्रमाण है ॥ २८ ॥ सावित्रीकी इस वातको सुनकर नारदजी वोले, कि-हे नरेन्द्र ! तुम्हारी पुत्री सावित्रीकी बुद्धि स्थिर है,इस लिये इसको इस सत्यधर्मसे नहीं हटासकोगे ॥ २९ ॥ तथा सत्य

सन्ति ये सत्यवति वै गुणाः । प्रदानमेव तस्मान्मे रोचते दुहितुस्तव ॥ ३० ॥ राजोवाच । अविचाल्यमेतदुक्तं तथ्यञ्च भवता वचः । करिष्याम्येतदेवञ्च गुरुर्हि भगवान्मम ॥ ३१ ॥ नारद उवाच ।अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव । साधयिष्याम्यहं तावत् सर्वेषां भद्रमस्तु वः ३२मार्कण्डेय उवाच । एवमुक्त्वा समुत्पत्य नारदस्त्रिदिवं गतः । राजापि दुहितुः सर्ज्जं वैवाहिकमकारयत् ॥ ३३ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने चतुर्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २९४ ॥

मार्कण्डेय उवाच । अथ कन्याप्रदाने स तमेवार्थं विचिन्तयन् । समानिन्ये च तत्सर्वं भाण्डं वैवाहिकं नृपः ॥ १ ॥ ततो वृद्धान्

वान्में जो गुण हैं वे गुण दूसरे किसी मनुष्यमें देखनेमें नहीं आते, इस लिये मुझे भी यह अच्छा मालूम होताहै, कि--तू उस को अपनी कन्या विवाहदे ॥ ३० ॥ राजा बोला, कि--आपने मुझसे जो बात कही है वह मेरे हितकी है, और टालनेके योग्य नहीं है तथा मैं आपके कहनेके अनुसार ही करूंगा, क्योंकि--आप मेरे गुरु हो ॥ ३१ ॥ नारदजीने कहा, कि--हे राजन्! तू अपनी पुत्री सावित्रीका निर्विघ्नरूपसे विवाह कर, तुम सबोंका कल्याण हो, अब मैं अपने स्थानको जाता हूं ॥ ३२ ॥ मार्कण्डेय कहते हैं, कि—ऐसा कहकर नारदजी आकाशमार्गसे उड़े और स्वर्गमेंको चलेगए तथा राजा अपनी कन्याके विवाहकी सब सामग्रियें तयार करनेलगा ॥ ३३ ॥ दो सौ चौरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९४ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि-हे राजन् युधिष्ठिर ! राजा अश्वपतिने नादरजीके कहनेके अनुसार ही सब कुछ करनेका विचार किया और विवाहकी सब सामग्रियें मँगवाकर इकट्ठा करीं ॥ १ ॥ वृद्ध ब्राह्मणोंको सब ऋत्विजोंको और पुरोहितोंको निमंत्रण देकर

द्विजान् सर्वानृत्विजः सपुरोहितान् । समाहूय दिने पुण्ये प्रययौ सह कन्यया ॥ २ ॥ मेध्यारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः । पद्भ्यामेव द्विजैः सार्धं राजर्षिन्तमुपागमत् ॥ ३ ॥ तत्रापश्यन्महाभागं शालवृक्षमुपाश्रितम् । कौश्यां वृष्यां समासीनं चक्षुर्हीनं नृपं तदा ॥ ४ ॥ सराजा तस्य राजर्षेः कृत्वा पूजां यथार्हतः । वाचा सुनियतो भूत्वा चकारात्मनिवेदनम् ॥ ५ ॥ तस्यार्घमासनं चैव गाञ्चावेद्य स धर्मवित् । किमागमनमित्येनं राजा राजानमब्रवीत् । तस्य सर्वमभिप्रायमिति कर्त्तव्यताञ्च ताम् । सत्यवन्तं समुद्दिश्य सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ ७ ॥ अश्वपतिरुवाच । सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना । तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्नुषार्थे त्वं

बुलवाया तथा उन सब ब्राह्मणोंके साथ राजा अश्वपति शुभ दिनमें सावित्रीको साथ लेकर द्युमत्सेनके आश्रमकी ओरको चल दिया और पवित्र वनमें द्युमत्सेनका आश्रम आया तब सब ब्राह्मणोंके साथ पैदल चलता हुआ उन राजर्षिके पास गया ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥ तहां एक शालके वृक्षके नीचे महाभाग, आंखोंसे अन्धे राजा द्युमत्सेनको उन्होंने कुशाके आसन पर बैठेहुए देखा ॥४॥ राजा अश्वपतिने उस राजाके पास जाकर उसकी समयके अनुसार पूजा करी और फिर विनयभरी वाणीमें उससे निवेदन किया कि–मैं राजा अश्वपति हूं ॥ ५ ॥ राजर्षि द्युमत्सेन अतिथियोंका सत्कार करनेमें वड़ा चतुर था इसकारण उसने अतिथि राजा अश्वपतिको पैर धोनेको जल दिया, बैठनेको आसन दिया और एक वृषभ अर्पण करके बूझा कि–'आपका यहां पधारना किस कारणसे हुआ है ?' इस पर राजाने अपना सब प्रयोजन और जो कुछ कर्त्तव्य है सो सब सत्यवान्के विषयमें ही है, यह जताकर इसप्रकार कहा, ॥ ७ ॥ राजा अश्वपति बोला कि–मेरे सावित्री नामकी एक परमरूपवती कन्या है, हे धर्मात्मन् ! उस को आप अपने धर्मके अनुसार पुत्रवधू रूपसे ग्रहण करिये, मैं अपनी

गृहाण मे ॥ ८ ॥ द्युमत्सेन उवाच । च्युताः स्मः राज्याद्वनवा- समाश्रिताश्चराम धर्मं नियतास्तपस्विनः । कथं त्वनर्हा वनवास- माश्रमे निवत्स्यते क्लेशमिमं सुता तव ॥ ९ ॥ अश्वपतिरुवाच । सुखञ्च दुःखञ्च भवाभवात्मकं यदा विजानाति सुताहमेव च । न मद्विधे युज्यति वाक्यमीदृशं विनिश्चयेनाभिगतोऽस्मि ते नृप ॥१०॥ आशां नार्हसि मे हन्तुं सौहृदात् प्रणतस्य च । अभित- श्चागतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न मार्हसि॥ ११ ॥ अनुरूपो हि युक्तश्च त्वं ममाहं तवापि च। स्नुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्यां सत्यवतः ततः ॥ १२ ॥ द्युमत्सेन उवाच ॥ पूर्वमेवाभिलषितः सम्ब-

पुत्रीका आपके पुत्रके साथ विवाह करना चाहता हूं, इसको आप स्वीकार करलीजिये ॥ ८ ॥ द्युमत्सेनने कहा, कि–हे राजन् ! हम राज्यसे भ्रष्ट होकर यहां वनमें अपने दिन बिताते हैं, तथा यहां रहकर धर्माचरण और तपस्या करते हैं, आपकी यह पुत्री वनमें रहनेके योग्य नहीं है, यह इस आश्रमके दुःखोंको सहन करके कैसे रहसकेगी ? ॥ ९ ॥ अश्वपतिने कहा, कि–हे राजन् सुख और दुःख दोनों अनित्य हैं, क्योंकि-वे कभी उत्पन्न होते हैं और कभी नष्ट होजाते हैं, इस बातको मैं और मेरी पुत्री जानते हैं, इस लिये आपको मुझसरीखे पुरुषसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, मैंने पहिले ही इस बातका पक्का निश्चय करलिया है तब तुम्हारे पास आया हूं ॥१०॥ मैं आपको प्रणाम करता हूं आपको स्नेहके कारणसे मेरी आशा भङ्ग नहीं करनी चाहिये तथा मैं आपकेपास प्रेमवश आया हूं इसलिये भी आपको मेरी प्रार्थनाका अनादर नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥ आप मेरे योग्य सम्बन्धी हैं और मैं भी आपका योग्य सम्बन्धी हूं, इसकारण आप मेरी पुत्रीके साथ सत्यवानका विवाह करिये, मेरी पुत्रीको पुत्रवधूरूप से ग्रहण करिये, यही आपसे मेरा निवेदन है ॥ १२ ॥ द्युमत्सेनने कहा, हे राजन् ! मैंने पहिले ही आपके साथ सम्बन्ध

न्धो मे त्वया सह । भ्रष्टराज्यस्त्वहमिति तत एतद्विचारितम् १३ अभिप्रायस्त्वयं यो मे पूर्वमेवाभिकांक्षितः । स निर्वर्त्ततु मेद्यैव कांक्षितो ह्यसि मेऽतिथिः ॥ १४ ॥ ततः सर्वान् समानाय्य द्विजानाश्रमवासिनः । यथाविधि समुद्वाहं कारयामासतुर्नृपौ ॥ १५ ॥ दत्त्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्हं सपरिच्छदम् । ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ॥१६॥ सत्यवानपि तां भार्यां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम् । मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्त्तारं मनसेप्सितम्॥१७॥गते पितरि सर्वाणि सन्न्यस्याभरणानि सा। जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ॥१८॥परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च । सर्व-

---

करनेका विचार किया था,परन्तु राज्यभ्रष्ट होजानेके कारण अब मैंने अपने उस विचारको वदलदिया था ॥ १३ ॥ परन्तु पहिले जिस वातकी मेरी इच्छा थी,वही वानक आज वनता है तो अच्छी वात है और मैं जो अतिथिकी इच्छाकरता था,सो आप सरीखा अतिथि मेरे यहां पधारा यह वहुत ही अच्छा हुआ॥ १४॥ इस प्रकार दोनों राजे परस्पर वातें करचुके तव उस आश्रममें रहने वाले सव ब्राह्मणोंको वुलाया और शास्त्रमें लिखीहुई रीतिसे वर कन्याका विवाह करदिया ॥ १५ ॥ राजा अश्वपतिने शास्त्र में कहीहुई रीतिसे कन्याका दान दिया और यथायोग्य रीतिसे वरकन्याको आभूषण आदि भी दिये;फिर राजा वड़े हर्षके साथ अपने घरको लौटआया॥ १६॥ उधर सावित्री भी मनचाहा पति मिलजानेसे परम प्रसन्न हुई और सत्यवान् भी सकल श्रेष्ठ गुणों वाली स्त्रीको विवाहकर परम संतुष्ट हुआ ॥१७॥सावित्रीने अपने पिताके चले जानेपर उत्तम वस्त्र और सव गहने उतारडाले तथा वल्कल वस्त्र और गेरुआ वस्त्रोंको पहरने ओढ़ने लगी ॥ १८ ॥ सेवा आदि शीलसे, सत्यवादीपन आदि गुणोंसे, प्रेमसे, जितेन्द्रियपनेसे तथा सवोंकी इच्छानुसार कामकाज करके

कामक्रियाभिश्च सर्वेषां तुष्टिमादधे ॥१९॥ श्वश्रूशरीरसत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः। श्वशुरं देवसत्कारैर्वाचा संयमनेन च ॥ २० ॥ तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च। रहश्चैवोपचारेण भर्त्तारं पर्य्यतोषयत्॥२१॥एवं तत्राश्रमे तेषां तदा निवसतां सताम्। कालस्तपस्यतां कश्चिदपाक्रामत भारत ॥२२॥ सावित्र्या ग्लायमानायास्तिष्ठन्त्यास्तु दिवानिशम्। नारदेन यदुक्तं तद्वाक्यं मनसि वर्त्तते ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥

मार्कण्डेय उवाच। ततः काले बहुतिथे व्यतिक्रान्ते कदाचन। प्राप्तः स कालो मर्त्तव्यं यत्र सत्यवता नृप ॥१॥ गणयन्त्याश्च सा-

---

सावित्री सबोंके मनोंको प्रसन्न करने लगी ॥ १९ ॥ उसने शरीरकी सेवा टहल आदि करके तथा अपने पास जो कुछ पहरनेके वस्त्र आभूषण थे सो सब सासूजीको सौंपकर उनको भी सन्तुष्ट किया, देवताकी समान सेवा करके तथा वाणीको वशमें रखकर अर्थात् थोड़ा बोलकर ससुरजीको सन्तुष्ट किया ॥ २० ॥ और मधुर वचन बोलकर, चतुराई दिखाकर, क्षमा रखकर तथा एकान्तमें सेवा करके पतिको संतुष्ट किया ॥ २१ ॥ हे भरतवंशी राजन्! इसप्रकार उस आश्रममें रहकर तपस्या करते २ उन महात्माओंको कितना ही समय वीतगया ॥ २२ ॥ परन्तु नारद जीने जो बात कही थी वह बात सावित्रीके अन्तःकरणमें रात दिन जागती ही रहती थी,क्या सोतेमें क्या बैठतेमें किसी समय भी सावित्री उस बातको भूलती नहीं थी, इस कारण उसका मन खिन्न रहा करता था ॥ २३ ॥ दोसौ पिचानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९५ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं कि–हे राजन् युधिष्ठिर! फिर बहुत से दिन वीतजानेपर एक समय सत्यवान्के मरणका दिन समीप आने लगा ॥ १ ॥ सावित्री नारदकी कहाहुई बातका नित्य मन

त्रिया दिवसे दिवसे गते । यद्वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ॥२॥ चतुर्थेऽहनि मर्त्तव्यमिति सञ्चिन्त्य भाविनी । व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताऽभवत् ॥३॥ तं श्रुत्वा नियमं तस्य भृशं दुःखान्वितो नृपः । उत्थाय वाक्यं सावित्रीमब्रवीत् परिसान्त्वयन् ॥४॥ द्युमत्सेन उवाच । अतितीव्रोऽयमारम्भस्त्वयारब्धो नृपात्मजे । तिसृणां वसतीनां हि स्थानं परमदुश्चरम् ॥ ५ ॥ सावित्र्युवाच । न कार्य्यस्तात सन्तापः पारयिष्याम्यहं व्रतम् । व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायश्च कारणम् ॥६॥ द्युमत्सेन उवाच । व्रतं भिन्धीति वक्तुं त्वां नास्मि शक्तः कथञ्चन । पारयस्वेति वचनं युक्तमस्मद्विधो वदेत्

में मनन किया करती थीं और एक दिन गया, दूसरा दिन गया, इसप्रकार दिनोंकी गिनती किया करती थी॥२॥ सौभाग्यवती सावित्रीने इसप्रकार दिनोंको गिनते २ जाना, कि-आजसे चौथे दिन सत्यवान्का मरण होगा, इस कारण उसने तीन दिन पहिलेसे व्रत धारण करलिया और निराहार रहकर रातदिन उस व्रतके नियमोंको पालनेमें तत्पर होगई ॥ ३ ॥ सावित्रीके आरम्भ किये हुए व्रतका नियम बड़ा ही कठिन है, यह बात जब राजा द्युमत्सेनने सुनी तो उसके मनमें बड़ा दुःख होनेलगा और राजा अपने आप उठकर सावित्रीके पास आया तथा उसने सावित्रीको धीरज देकर कहा, कि-॥ ४ ॥ हे राजपुत्री ! तूने बड़े कठिन नियमका व्रत धारण किया है, क्योंकि-तीन रात तक भोजन करना ही नहीं यह बडा कठिन नियम है ॥ ५ ॥ सावित्री बोली कि हे पिताजी! आप इसके लिये जरा भी दुःख न मानिये मैं इस व्रतको पूर्ण रीतिसे करसकूंगी, केवल अटल उत्साहसे ही व्रत पूरा हुआ करताहै सो मैंने अटल उत्साहसे ही इस व्रत का आरम्भ कियाहै ॥ ६ ॥ द्युमत्सेनने कहा, कि— तू व्रतको बीचमें ही छोडदे, यह बात तो मैं तुझसे किसीप्रकार भी नहीं कहसकता, किंतु मुझ सरीखा पुरुष तो यही उचित बात कहेगा

७ मार्कण्डेय उवाच । एवमुक्त्वा द्युमत्सेनो विरराम महामनाः । तिष्ठति चैव सावित्री काष्ठभूतेव लक्ष्यते ॥ ८ ॥ श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ । दुःखान्वितायास्तिष्ठन्त्याः सा रात्रिर्व्यत्यवर्त्तत ॥ ९ ॥ अद्य तद्दिवसश्चेति हुत्वा दीप्तं हुताशनम् । युगमात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ॥ १० ॥ ततः सर्वान् द्विजान् वृद्धान् श्वश्रूं श्वशुरमेव च । अभिवाद्यानुपूर्व्येण प्राञ्जलिर्नियता स्थिता ॥ ११ ॥ अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः । ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः ॥ १२ ॥ एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा ।

कि—तू व्रतको पूर्ण कर ॥ ७ ॥ मार्कण्डेय कहते हैं, कि—हे राजन् युधिष्ठिर ! उदारचित्त राजा द्युमत्सेन पुत्रवधूसे इसप्रकार कहकर चुप होगया और उधर निराहार व्रतका आरंभ करके बैठी हुई सावित्री काठकी पुतलीकी समान अचल दीखनेलगी ॥८॥ हे भरतवंशी राजन् ! कलको स्वामीका मरण होगा, इस विचार से अन्नजल त्यागनेवाली सावित्रीने उस दिनकी सारी रात शोकमें बितायी ॥ ९ ॥ और दूसरे दिन भोर होते ही उठी और वह नारदजीके कहनेसे इस बातको जानती थी, कि—आज मेरे प्राणनाथ पतिके मरणका दिन है, इस कारण स्नान आदिसे निवटकर उसने प्रज्वलित हुए अग्निमें होम किया और जब सूर्यनारायण चार हाथ ऊपरको चढ़आये तबतक पूर्वाह्ण के सब धर्मकर्मसे निवटगई ॥ १० ॥ और तदनन्तर सब वृद्ध ब्राह्मणोंको, तपस्वियोंको और सास सुसरको क्रमसे प्रणाम करके उन सबोंके सामने व्रतके नियमोंको धारण करनेवाली सावित्री दोनों हाथ जोडकर खड़ी होगई ॥ ११ ॥ तब सब गुरु जनोंने तथा तपोवनके तपस्वियोंने सावित्रीको हितकारी आशीर्वाद देतेहुए कहा, कि—हे सावित्री ! तेरा सौभाग्य अखण्ड रहै ॥ १२ ॥ पतिके चरण कमलोंके ध्यानमें मग्नहुई सावित्रीने

मनसा ता गिरः सर्वाः प्रत्यगृह्णात्तपस्विनाम् ॥१३॥ तं कालं तं मुहूर्त्तञ्च प्रतीक्षन्ती नृपात्मजा। यथोक्तं नारदवचश्चिंतयन्ती सुदुःखिता॥ १४॥ ततस्तु श्वश्रूश्वशुरावूचतुस्तां नृपात्मजाम्। एकान्तमास्थितां वाक्यं प्रीत्या भरतसत्तम॥ १५॥ श्वशुरावूचतुः॥ व्रतं यथोपदिष्टं तु तथा तत् पारितं त्वया। आहारकालः संप्राप्तः क्रियतां यदनन्तरम्॥ १६॥ सावित्र्युवाच। अस्तं गते मयादित्ये भोक्तव्यं कृतकामया। एवं मे हृदि सङ्कल्पः समयश्च कृतो मया॥१७॥ मार्कण्डेय उवाच। एवं सम्भाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति। स्कन्धे परशुमादाय सत्यवान् प्रस्थितो वनम्॥ १८॥ सावित्री त्वाह भर्त्तारं नैकस्त्वं गन्तुमर्हसि। सह त्वया गमिष्यामि न हि त्वां हातुमुत्सहे॥ १९॥ सत्यवानुवाच। वनं न गतपूर्वं ते

'तथास्तु' कहकर अन्तःकरणसे तपस्वियोंके सब आशीर्वादोंको ग्रहण किया॥ १३॥ फिर वह एकान्त स्थानमें गई और नारद जी के कहेहुए समयकी तथा मुहूर्त्तकी बाट देखनेलगी और अत्यन्त दुःखिनी वह सावित्री नारदजीके कहेहुए वचनका ही मनमें विचार करनेलगी॥१४॥ राजकन्याको एकान्तमें बैठ चिंता करतीहुई देखकर, हे राजन्! सास सुसरने प्रेमके साथ यह बात कही॥ १५॥ सास सुसर बोले कि—शास्त्रमें जिसप्रकार व्रतकी विधि लिखी है तैसे ही यह व्रत तूने पूरा करलिया और अब भोजनका समय होगया है, इसलिये तू भोजन कर॥ १६॥ सावित्रीने उत्तर दिया, कि—मैं इस काम्यव्रत को करते समय ऐसा निश्चय करचुकी हूं, कि—चौथे दिन सूर्य अस्त होजाने पर पारणा करूंगी और मेरे मनका सङ्कल्प अभीतक यही है॥ १७॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—हे युधिष्ठिर! इसप्रकार सावित्री भोजनके विषयमें बातें कर रही थी, उस ही समय कुमार सत्यवान् कंधेपर कुल्हाड़ी लेकर समिधा लानेके लिये वनमें जानेको उद्यत हुआ॥ १८॥ यह देखकर

दुःखपन्थाश्च भाविनि ।व्रतोपवासक्षामा च कथं पद्भ्यां गमिष्यसि ॥२०॥ सावित्र्युवाच । उपवासान्न मे ग्लानिर्नास्ति चापि परिश्रमः । गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न मार्हसि ॥ २१ ॥ सत्यवानुवाच । यदि ते गमनोत्साहः करिष्यामि तव प्रियम् । मम त्वामन्त्रय गुरून्न मां दोषः स्पृशेदयम् ॥२२॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ साभिवाद्याब्रवीच्छ्वश्रूं श्वशुरञ्च महाव्रता । अयं गच्छति मे भर्त्ता फलाहारो महावनम् ॥ २३ ॥ इच्छेयमभ्यनुज्ञाता आर्य्यया श्वशुरेण ह । अनेन सह निर्गन्तुं न मेऽद्य विरहः क्षमः॥२४॥गुर्व-

सावित्रीने स्वामीसे कहा. कि–खड़े रहो, आज तुम अकेले वनमें मत जाओ. मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूं, आज तुम्हें वनमें अकेला भेजनेको मेरा जी नहीं चाहता ॥ १९ ॥ सत्यवान्ने कहा, कि–हे कल्याणि ! तू पहिले किसी दिन भी वनमें नहीं गई है और वनका मार्ग भी बड़ा विकट है तथा निराहार व्रत करनेके कारण तेरे अङ्ग भी शिथिल होरहे हैं, इसकारण तू पैरों २ चलकर वनमें कैसे पहुंच सकेगी॥२०॥सावित्रीने कहा, कि–निराहार व्रत करनेसे मुझे कुछ भी ग्लानि नहीं हुई है तथा मुझे परिश्रम भी कुछ भी नहीं मालूम होता. उलटा आज तुम्हारे साथ वनमें जानेका उत्साह होरहा है, इसलिये आपको उचित है, कि मुझे रोकिये नहीं ॥ २१ ॥ यह सुनकर सत्यवान् बोला, कि–यदि तुझे वनमें जानेका चाव ही है तो मैं अवश्य ही तेरा मनचीता काम करूँगा अर्थात् तुझे साथ लेजाऊँगा, परन्तु तुझे मेरे माता पितासे आज्ञा लेलेनी चाहिये, कि–जिससे मुझे उलाहना न मिले ॥ २२ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि–पतिकी इस बातको सुनकर महाव्रतधारिणी सावित्री सास ससुरके पास जा उनको प्रणाम करके यह बात कहनेलगी, कि-मेरे स्वामी फल और यज्ञकाष्ठ लानेके लिये महावनमें जाते हैं॥२३॥इसलिये हे श्रेष्ठ सासूजी और ससुरजी ! आप यदि जानेकी आज्ञादें तो मैं भी उनके साथ जाना चाहती हूं, आज मुझसे स्वामीका विरह नहीं सहाजायगा

ग्निहोत्रार्थकृते प्रस्थितश्च सुतस्तवान निवार्यो निवार्य्यः स्यादन्यथा प्रस्थितो वनम् ॥ २५ ॥ सम्वत्सरः किंचिदूनो न निष्क्रान्ताहमाश्रमात् । वनं कुसुमितं द्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे ॥ २६ ॥ द्युमत्सेन उवाच । यतः प्रभृति सावित्रि पित्रा दत्ता स्नुषा मम । नानयाभ्यर्थनायुक्तमुक्तपूर्वं स्मराम्यहम् ॥ २७॥ तदेषा लभतां कामं यथाभिलषितं वधूः । अप्रमादश्च कर्त्तव्यः पुत्रि सत्यव्रतः पथि ॥ २८ ॥ मार्कण्डेय उवाच । उभाभ्यामभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी । सह भर्त्रा हसन्तीव हृदयेन विदूयता ॥ २९ ॥ सा वनानि विचित्राणि रमणीयानि सर्वशः । मयूरगणजुष्टानि ददर्श

॥ २४ ॥ आपके पुत्र आज गुरुजनोंके लिये तथा अग्निहोत्रके लिये फल, फूल और समिधा लानेके लिये वनमें जानेको तयार हैं, इसलिये उन्हें जानेसे रोकना आपको उचित नहीं है, हां यदि किसी दूसरे कामके लिये जाते होते तो आपका रोकलेना उचित भी था ॥ २५ ॥ मुझे विवाह होकर यहां आयेहुए एक वर्षमें कुछ ही कमहुआ होगा, इतने समयमें मैं आश्रमके बाहर कभी नहीं निकली हूं, परन्तु आज वन खिल उठा है,उसको देखनेकी मुझे बड़ी उत्कण्ठा है ॥ २६ ॥ राजर्षि द्युमत्ससेनने कहा, कि जबसे राजा अश्वपतिने सावित्रीका हमारे पुत्रके साथ विवाह किया है तबसे सावित्री बहू बनकर हमारे आश्रममें रही है और आजके दिनतक इसने किसी बातकी याचनाकी हो, इसकी मुझे तो याद नहीं ॥ २७ ॥ इसलिये आज सावित्री बहूकी इच्छा अवश्य पूरी होनी चाहिये, हे बेटी! तू मार्गमें सत्यवान्की सम्हाल रखना ॥ २८ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—इसप्रकार कहकर सास और सुसरने सावित्रीको भी जानेकी आज्ञा देदी, तब यश पानेवाली सावित्री, मानो हँस रही है इस प्रकार मुखपर हर्ष दिखातीहुई,परन्तु आनेवाले भयके कारण मनमें दुःखित होतीहुई पतिके साथ वनमेंको चलदी ॥ २९ ॥ विशाल

निपुलेक्षणा ॥ ३० ॥ नदीः पुण्यवहाश्चैव पुष्पितांश्च नगोत्तमान् सत्यवानाह पश्येति सावित्रीं मधुरं वचः ॥ ३१ ॥ निरीक्षमाणा भर्त्तारं सर्वावस्थामनिन्दिता । मृतमेव हि भर्त्तारं काले मुनिवचः स्मरन् ॥ ३२ ॥ अनुव्रजन्ती भर्त्तारं जगाम मृदुगामिनी । द्विधेव हृदयं कृत्वा तञ्च कालमवेक्षती ॥ ३३ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने पण्यवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९६ ॥

मार्कण्डेय उवाच । अथ भार्य्यासहाय स फलान्यादाय वीर्य्यवान् । कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपातयत् ॥ १ ॥ तस्य

नेत्रोंवाली सावित्री मार्गमें अनेकोंप्रकारके पुष्पोंसे विचित्र दीखने वाले, मोरोंकी मीठी कूकोंसे आनन्द उपजानेवाले रमणीय वनों को देखतीहुइ जानेलगी ॥ ३० ॥ मार्गमें सत्यवान्ने मधुर वाणी में कहा, कि–हे प्यारी ! इन पवित्र जलसे भरीहुईं नदियोंकी ओरको देख तथा इन पुष्पोंवाले श्रेष्ठ वृक्षों पर दृष्टि डाल आहा! ये कैसे सुन्दर हैं? ॥ ३१ ॥ परंतु पवित्र आचरणवाली सावित्री नारदमुनिके वचनको याद करके अपने पतिकी सब अवस्थाकी ओर ही ध्यान देकर देखरही थी और समय पर मेरे पतिका मरण अवश्य ही होगा. इस बातका निश्चय करचुकी थी ॥३२॥ इस कारण वह अपने हृदयके दो भाग करके मरणकालकी बाट देखतीहुई पतिके पीछे २ जारही थी अर्थात् हृदयके एक भागसे तो समीपमें आयेहुए पतिके मरणके समयका विचार करती जाती थी और दूसरे भागसे पतिके साथ बातें करती चली जाती थी ॥ ३३ ॥ दो सौ छियानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते है, कि–हे युधिष्ठिर ! वनमें पहुंचजाने पर महाबलवान् सत्यवान्ने अपनी स्त्रीके साथ वनमेंसे फल बीनकर एक टोकरीमें भरे और फिर वह कुल्हाड़ीसे काठ काटनेलगा

पातयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत । व्यायामेन च तेनास्य जज्ञे शिरसि वेदना ॥ २ ॥ सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः । सत्यवानुवाच । व्यायामेन ममानेन जाता शिरसि वेदना ॥३॥ अङ्गानि चैव सावित्रि हृदयं दूयतीव च । अस्वस्थमिव चात्मानं लक्षये मितभाषिणि ॥ ४ ॥ शूलैरिव शिरोविद्धमिदं संलक्षयाम्यहम् । तत् स्वप्तुमिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे ॥ ५ ॥ सा समासाद्य सावित्री भर्त्तारमुपगम्य च । उत्सङ्गेऽस्य शिरः कृत्वा निपसाद महीतले ॥ ६ ॥ ततः सा नारदवचो विमृशन्ती तपस्विनी । तं मुहूर्त्तं क्षणं वेलां दिवसञ्च युयोज ह ॥७॥ मुहूर्तादिव चापश्यत् पुरुषं रक्तवाससम् । बद्धमौलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम् ॥ ८ ॥ श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम् ।

॥ १ ॥ काठ काटते २ परिश्रमके कारण उसके शरीरमेंसे पसीना टपकने लगा तथा शिरमें पीड़ा होनेलगी ॥ २ ॥ तब परिश्रमसे पीड़ा पातेहुए सत्यवान्ने अपनी प्रियाके पास जाकर उससे कहा, सत्यवान्ने कहाकि-इस परिश्रमके करनेसे मेरे शिरमें दर्दसा होनेलगाहै ॥ ३ ॥ और हे थोडा बोलनेवाली सावित्री ! मेरे सब अङ्गोंमें और हृदयमें आग पडती है और प्राण अकुलाये जाते हैं ॥ ४ ॥ ऐसा मालूम होता है, कि-मेरे माथेमें मानो कोई भाले छेदरहा है, और अब मुझमें जराएक खड़े रहने तककी शक्ति नहीं है, इसलिये हे कल्याणि ! अब मेरा जी सोनेको चाहताहै ॥ ५ ॥ यह सुनते ही सावित्री अपने पतिके समीप आ कर भूमिपर बैठगई और अपने पतिका शिर अपनी गोदीमें रख कर जो बात नारदजीने कही थीं उसको याद करके उस मुहूर्त्त, उस क्षण और उस दिनका विचार करनेलगी ॥ ६ ॥ ७ ॥ एक मुहूर्त्त पीछे लाल वस्त्रवाले,मुकुटधारी सूर्यकी समान तेजस्वी एक पुरुषको अपने समीप आतेहुए देखा ॥ ८ ॥ उसका शरीर शुद्ध

स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च ॥९॥ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्त्तुर्न्यस्य शनैः शिरः । कृताञ्जलिरुवाचार्ता हृदयेन प्रवेपती ॥ १० ॥ सावित्र्युवाच । दैवतं त्वाभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम् । कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किञ्च चिकीर्षसि॥११॥ यम उवाच ॥ पतिव्रतासि सावित्रि तथैव च तपोऽन्विता । अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम् ॥१२॥अयं ते सत्यवान भर्त्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः । नेष्यामि तमहं बद्ध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम् ॥ १३ ॥ सावित्र्युवाच । श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान् । नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयंप्रभो ॥ १४ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ इत्युक्तः पितृराजस्तां भगवान्

श्यामवर्ण था, आँखे लाल२ थीं, उसके हाथमें पाशी थी, देखनेमें बड़ा भयङ्कर था और वह पुरुष सत्यवान्के पास खड़ा होकर उसको ही देखरहा था उस पुरुषको देखते ही सावित्रीका हृदय कांपनेलगा और वह भौचक्कीसी बनगई, तदनन्तर पतिके शिरको धीरेसे भूमिमें रखकर एकसाथ खड़ी होगई और दोनों हाथ जोड़कर उस पुरुषसे कहनेलगी ॥ १० ॥ सावित्री बोली, कि—यह आपका शरीर मनुष्योंकेसा नहीं है, इससे मुझे प्रतीत होता है, कि—आप देवता हैं, इसलिये अपनी इच्छासे कहो, कि—हे देवेश ! आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं ? ॥ ११ ॥ यमराज बोले, कि-हे सावित्रि ! तू पतिव्रता और तपस्विनी है, इसकारण मैं तेरे साथ बातें कररहा हूं, हे कल्याणि ! तू मुझे यमराज जान ॥ १२ ॥ इस तेरे पति राजकुमारकी आयु पूरी होनेको है,इसकारण मैं इसको इस फाँसीसे कैद करके लेजाऊँगा, तुझे मालम हो, कि—यही मेरा कर्तव्य है ॥ १३ ॥ सावित्रीने यमराजसे बूझा, कि—हे भगवन् ! मैंने सुना है, कि- प्राणियोंको लेनेके लिये आपके दूत आया करते हैं तब हे प्रभो ! सत्यवान्को लेनेके लिये आप क्यों आये हैं ?

स्वचिकीर्षितम् । यथावत् सर्वमाख्यातुं तत् प्रियार्थं प्रचक्रमे १५
अयञ्च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः । नार्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ॥ १६ ॥ ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशङ्गतम् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ १७ ॥ ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम् । निर्विचेष्टं शरीरं तद् बभूवाप्रियदर्शनम् ।१८। यमस्तु तं ततो बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः । सावित्री चैव दुःखार्त्ता यममेवान्वगच्छत । नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता । १६ ॥
यम उवाच । निवर्त्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्यौर्ध्वदेहिकम् ।

॥ १४ ॥ मार्कण्डेय कहते हैं, कि- इसप्रकार पितृराज यमराजसे बूझा, तब भगवान् यमने सावित्रीको प्रसन्न करनेके लिये अपना जो कुछ कर्त्तव्य था सो सब यथार्थरीतिसे उसको सुनाना आरम्भ करदिया ॥ १५ ॥ यमराज कहनेलगे, कि--यह सत्यवान् धर्मात्मा, रूपवान् और गुणोंका समुद्र है, इसकारण इसको लेजानेकी योग्यता मेरे दूतोंमें नहीं है यह विचार कर. मैं अपने आप ही इसको लेनेके लिये आया हूं ॥ १६ ॥ ऐसा कहकर यमराजने सत्यवान्के शरीरमें अंगुष्ठमात्र पुरुषको पाशसे कैद करके जोरावरी उसके शरीरमेंसे बाहरको खेंचलिया ॥ १७ ॥ शरीरमें से प्राण निकलजाने पर उस शरीरका श्वास बन्द होगया, उसकी कान्ति फीकी पडगई और उसका शरीर सब प्रकारकी क्रियासे रहित तथा देखनेमें भयावना होगया ॥ १८ ॥ फिर यमराज कैद कियेहुए सत्यवान्के अभिमानी जीवको लेकर दक्षिण दिशाकी ओरको जाने लगे, तब नित्य नियम और व्रत धारण करनेसे सिद्धहुई महाभाग्यवती पतिव्रता सावित्री भी विलाप करती हुई यमराजके पीछे २ चलदी ॥ १९ ॥ यह देखकर यमराज बोले, कि हे सावित्रि! तू पीछेको लौटजा और आश्रममें पहुंचकर सत्यवान्की उत्तर क्रिया कर. तू पतिसेवाके ऋण से मुक्त होगई है और जहांतक पतिके पीछे२आना चाहिये, तहाँ तक भी आचुकी है, इसलिये अब

कृतं भर्त्तुस्त्वयानृण्यं यावद्‌ गम्यं गतं त्वया ॥ २० ॥ सावित्र्युवाच । यत्र मे नीयते भर्त्ता स्वयं वा यत्र गच्छति । मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥ तपसा गुरुभक्त्या च भर्त्तुः स्नेहाद्व्रतेन च । तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहिता गतिः ॥ २२ ॥ प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः । मित्रताञ्च पुरस्कृत्य किंचिद्वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २३ ॥ ना नात्मवन्तस्तु वने चरन्ति धर्मञ्च वासञ्च परिश्रमञ्च । विज्ञानतो

पीछेको लौटजा ॥ २० ॥ सावित्री बोली कि--हे यमराज ! आप जहाँ पर मेरे पतिको लियेजाते हैं अथवा वह अपने आप ही जहां जाते हैं, तहां ही मुझे भी जाना चाहिये यह पतिव्रताओंका सनातनधर्म है ॥ २१ ॥ मैं चलनेसे थकूंगीं नहीं क्योंकि--तपस्या गुरुभक्ति, पतिका प्रेम, व्रतोंके आचरण और आपके अनुग्रहसे मेरी गति कहीं रुकसकती, इसकारण मैं चलनेमें जरा भी नहीं थकूंगी ॥ २२ ॥ हे यमराज ! तत्त्वके अर्थको जाननेवाले विद्वान् कहते हैं कि--सत्पुरुषोंके साथ सात पग चलनेसे ही मित्रता होजाती है, सो इस नियमके अनुसार आपसे भी मित्रता होगई है, उस मित्रताको आगे करके मैं तुमसे कुछ कहना चाहती हूं, उसको सुनलीजिये ॥ २३ ॥ हे यमराज ! इन्द्रियोंके वशमें हुए विषयी पुरुष वनमें रहकर भी गृहस्थोंके करनेयोग्य यज्ञयाग आदि कर्म नहीं करसकते, तैसे ही गुरुकुलमें निवास करके ब्रह्मचर्य व्रतको भी नहीं पालसकते तथा संन्यास आश्रमको भी नहीं पालसकते परन्तु जितेन्द्रिय पुरुष वनमें रहैं चाहे घरमें रहैं, स्त्री और पुरुष दोनोंके साध्य यज्ञयाग आदि कर्मोंको करते हैं, गुरुकुलमें रहकर ब्रह्मचर्यको पालते हैं और वनमें जाकर वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमको ग्रहण करते हैं, परन्तु वे कहते हैं, कि--पहिले कहेहुए गृहस्थ धर्मसे ही ज्ञान मिलता है, इसकारणसे महात्मा पुरुष

धर्ममुदाहरन्ति तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २४ ॥ एकस्य धर्मेण सतां मतेन सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः। मा वै द्वितीयं मा तृतीयञ्च वाञ्छे तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २५ ॥ यम उवाच। निवर्त्त तुष्टोऽस्मि तवानया गिरा स्वराक्षरव्यञ्जनहेतुयुक्तया। वरं वृणीष्वेह विनास्य जीवितं ददानि ते सर्वमनिन्दिते वरम् ॥ २६ ॥ सावित्र्युवाच। च्युतः स राज्याद्वनवासमाश्रितो विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे। स लब्धचक्षुर्बलवान् भवेन्नृपस्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसन्निभः ॥ २७ ॥ यम उवाच । ददानि तेऽहं

गृहस्थाश्रम धर्मको ही और आश्रमोंकी अपेक्षा मुख्य मानते हैं ॥ २४ ॥ इन तीनों आश्रमोंमेंसे सत्पुरुषोंके मान्य गृहस्थाश्रमके धर्मोंका पालन करनेसे सब लोग ज्ञानमार्गको पाजाते हैं, इसलिये ही मनुष्य ब्रह्मचर्यकी वा संन्यासकी इच्छा नहीं करता है, किन्तु गृहस्थाश्रमकी इच्छा करता हैं और महात्मा पुरुष गृहस्थाश्रमके धर्मको मुख्य मानते हैं ॥ २५ ॥ यमराज बोले कि-स्वर, अक्षर, व्यञ्जन और युक्तिभरे कारणोंवाली तेरी वाणीको सुनकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ, अब तू यहांसे पीछेको लौट और जानेसे पहिले हे पवित्र शरीरवाली स्त्रि ! इस सत्यवान्के जीवनके सिवाय और चाहे सो वर मांगले मैं तुझे सब प्रकारके वर दूँगा ॥ २६ ॥ सावित्री वर मांगती हुई बोली, कि-मेरे सुसर अपने राज्यसे भ्रष्ट हो वनमें आकर रहते हैं और इस समय आश्रममें रहकर अन्धे होगए हैं, वह राजा आपकी कृपासे समाखे होजायँ, बलवान् होजायँ तथा अग्नि और सूर्यका समान तेजस्वी होजायँ ॥२७॥ यमराज बोले, कि-हे पवित्र आचरणवाली स्त्रि ! तूने जैसा वर मांगा है तैसा ही वर मैं तुझे देता हूं तूने जैसा वर मांगा है ऐसा ही होगा, मुझे प्रतीत होता है, कि-बहुत दूरतक मार्गमें चलनेसे तू व्याकुल होगई है, इसलिये तू यहांसे पीछेको

तदानिंदिते वरं यथा त्वयोक्तं भविता च तत्तथा। तवाध्वना ग्लानिमिमोपलक्षये निवर्त्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥ २८ ॥ सावित्र्युवाच। श्रमः कुतो भर्तृसमीपतो हि मे यतो हि भर्त्ता मम सा गतिर्ध्रुवा। अतः पतिं जेष्यसि तत्र मे गतिः। सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे ॥ २९ ॥ सतां सकृत् सङ्गतमीप्सितं परं ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते। न चाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं ततः सतां सन्निवसेत्समागमे ॥ ३० ॥ यम उवाच। मनोऽनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम्। विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥ ३१ ॥ सावित्र्युवाच। हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः। जह्यात् स्वध-

---

लौटकर अपने आश्रममें जा, कि-जिससे तुझे परिश्रम न हो ॥ २८ ॥ सावित्री बोली, कि-पतिके पास रहने पर मुझे परिश्रम कैसे होसकता है? मैं चाहती हूं, कि-जहां मेरे भर्त्ता हों तहां ही मेरी अविचल गति हो, हे देवदेव! तुम मेरे पतिको लेकर जहां जाते हो तहां ही मैं भी आऊँगी, तुम मेरी प्रार्थनाको फिर सुनो ॥ २९ ॥ पण्डित कहते हैं, कि-सज्जनोंके साथ एक बार भी समागम हो, ऐसे सौभाग्यको सब ही चाहते हैं, तिसमें भी उनके साथ प्रेमभाव होना यह परम इच्छित विशेष सौभाग्य है, सत्पुरुषोंका समागम कभी भी निष्फल नहीं होता है, सदा सत्पुरुषों के समागमोंमें ही रहना चाहिये ॥ ३० ॥ यमराज बोले कि-हे सावित्रि! तूने जो बात कही यह बात मुझे बड़ी ही अच्छी लगती है, यह बात तूने विद्वानोंकी बुद्धिको बढ़ानेवाली और युक्तियोंसे भरीहुई कही है, इसकारण अब तू सत्यवान्के जीवनके सिवाय दूसरा और कोई वर मांगले ॥ ३१ ॥ सावित्री कहनेलगी, कि-मेरे बुद्धिमान् ससुरजीका राज्य पहिले शत्रुओंने छीन लिया है, वह राज्य मेरे ससुरजीको फिर मिलजाय तथा

र्मान्न च मे गुरुर्यथा- द्वितीयमेतद्वरयामि ते वरम् ॥ ३२ ॥ यम उवाच। स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यते चिरान्न च स्वधर्मात्परिहास्यते नृपः। कृतेन कामेन मया नृपात्मजे निवर्त्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥३३॥ प्रजास्त्वयैता नियमेन संयता नियम्य चैतानयसे निकामया ततो यमत्वं तव देवविश्रुतं निबोध चेमां गिरमीरितां मया३४अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानञ्च सतां धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥ एवम्प्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः। सन्तस्ते चाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥ ३६ ॥ यम उवाच। पिपासितस्येव भवेद्यथा पयस्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम्। विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि ॥ ३७ ॥ सावित्र्युवाच। ममानपत्यः पृथिवीपतिः

मेरे ससुरजी अपने धर्मका त्याग न करें, यह वर मैं आपसे मांगती हूं ॥ ३२ ॥ यमराज बोले, कि-तेरे ससुर थोड़े समयमें अपने राज्यको फिर पाजायँगे तथा अपने धर्मसे भ्रष्ट भी नहीं होंगे, हे राजपुत्रि! मैंने तुझे तेरे कहनेके अनुसार वर देकर कृतार्थ किया है, इसलिये अब तू अपने आश्रमको लौटजा, कि-जिससे तुझे परिश्रम न पडे ॥ ३३ ॥ सावित्रीने कहा, कि-हे यमराज! तुम इस सब प्रजाको नियममें रखते हो, और कर्मके अनुसार दण्ड देनेके अनन्तर उनको कर्मोंके फल भी देते हो, इसलिये हे देव! तुम्हारा नाम यम पडा है और इसकारण ही मैं आपसे जो बात कहती हूं, उसको सुनिये ॥ ३४ ॥ हे यमराज! कर्मसे, मनसे और वाणीसे किसीका भी द्रोह नहीं करना चाहिये, किन्तु मन, वाणी और कायासे सबोंके ऊपर अनुग्रह करना चाहिये और शक्तिके अनुसार दान देना चाहिये यह सत्पुरुषोंका सनातनधर्म है ॥३५॥ और इस संसारमें भी अधिकतर ऐसी रीति है, मनुष्य भी अपनी शक्तिभर कोमल होसकते हैं, परन्तु सत्पुरुष तो अपने यहां आयेहुए शत्रुओंके ऊपर भी अनुग्रह करते हैं ॥ ३६ ॥ यम-

पिता भवेत् पितुः पुत्रशतं तथौरसम् । कुलस्य सन्तानकरञ्च यद्व-
चेत्तृतीयमेतद्वरयामि ते वरम् ॥३८॥ यम उवाच । कुलस्य सन्ता-
नकरं सुवर्चसं शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे । कृतेन कामेन न-
राधिपात्मजे निवर्त्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥३९॥ सावित्र्युवाच ।
न दूरमेतन्मम भर्तृसन्निधौ मनो हि मे दूरतरं प्रधावति । अथ
व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां मयोच्यमानां शृणु भूय एव च ॥ ४० ॥
विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवांस्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः । समेन
धर्मेण चरन्ति ताः प्रजास्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता ।४१। आत्मन्यपि
न विश्वासतस्तथा भवति सत्सु यः । तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः

राज बोले, कि–हे कल्याणि ! प्याससे व्याकुल हुए मनुष्यको
जैसे पानी आनन्द देता है,तैसे ही तेरी कहीं हुई मीठी बातोंको
सुनकर मेरा अन्तःकरण सन्तुष्ट हुआ है, इसलिये तू फिर भी
सत्यवान्के जीवनको छोड़कर और जो भी वर चाहे वह मांगले
॥ ३७ ॥ सावित्री बोली, कि–मेरे पिता राजा अश्वपति पुत्रहीन
हैं, इसलिये उनके कुलकी वृद्धि करनेवाले सौ औरस पुत्र हों,
यही तीसरा वर माँगती हूं ॥ ३८ ॥ यमराज बोले, कि—हे
कल्याणि ! तेरे पिताके कुलकी वृद्धि करनेवाले और सदाच-
रणी सौ पुत्र तेरे पिताके होंगे और वे बड़े तेजस्वी होंगे, हे राज-
पुत्रि ! तूने अपना काम पूरा करलिया है अब तू यहाँसे पीछेको लौट
क्योंकि–अब तू बहुत दूरके मार्गमें आपहुंची है ॥ ३९ ॥ सावित्री
बोली, कि–मैं पतिके पास खड़ी हूं, इसलिये मुझे यह सब दूर
नहीं मालूम होता, मेरा मन तो इससे भी अधिक दूरके स्थानमें
को दौड़रहा है ॥ ४० ॥ तुम विवस्वान्के प्रतापी पुत्र हो, इस
लिये,विद्वान् आपको वैवस्वत कहते हैं और तुम शत्रु तथा मित्र
आदिका पक्षपात छोडकर मनुष्योंको शिक्षा करते हो. इसकारण
सब प्रजा मर्यादामें रहकर धर्माचरण करती है, इससे हे ईश्वर !
तुम 'धर्मराज' इस नामसे प्रसिद्ध हो ॥ ४१ ॥ इसके सिवाय
मनुष्य संसारमें जितना विश्वास अपने आपेका नहीं करता है

प्रणयमिच्छति॥४२॥ सौहृदात् सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते। तस्मात् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः४३यम उवाच। उदाहृतं ते वचनं यदङ्गने शुभे न तादृक् त्वदृते श्रुतं मया। अनेन तुष्टोऽस्मि विनास्य जीवितं वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च॥४४॥सावित्र्युवाच। ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं भवेदुभाभ्यामिह यत् कुलोद्वहम्। शतं सुताना बलवीर्यशालिनामिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम् ।४५।यम उवाच। शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे निवर्त्त दूरं हि पथस्त्वमागता॥४६॥ सावित्र्युवाच। सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति। सतां सद्भिर्नाफलः संगमोऽस्ति सद्भ्यो भयं नानु-

---

उतना विश्वास सत्पुरुषका करता है, इसलिये ही सब मनुष्य सत्पुरुषके पास प्रार्थना करते हैं॥ ४२॥ इसके सिवाय सब प्राणी भी सच्चे हृदयका प्रेम देखकर उसका विश्वास करते हैं और ऐसा प्रेम सत्पुरुषोंमें देखनेमें आता है, इसकारण मनुष्य सत्पुरुषोंका अधिक विश्वास करते हैं॥४३॥ यमराज बोलेकि–हे श्रेष्ठ स्त्रि! तूने जो बात कही यह बात मैंने तेरे सिवाय दूसरे किसीसे भी नहीं सुनी मैं तेरे इस कथनसे प्रसन्न हुआ हूं और तुझसे कहता हूं कि–तू सत्यवान्के जीवनके सिवाय और चाहे सो चौथा वर मांगले फिर अपने आश्रम को लौटजा॥ ४४॥ सावित्री बोली, कि–मेरे और सत्यवान्के समागमसे बलवान् तथा पराक्रमी सौ औरस पुत्र हों और उनसे मेरे वंशकी वृद्धि हो, यही चौथावर मैं आपसे मांगती हूं॥ ४५॥ यमराजने कहा कि–हे अबले!तेरे बलवान्, पराक्रमी और प्रेम उत्पन्न करनेवाले सौ पुत्र होंगे अब हे राजकुमारी! तू बहुत दूरके मार्गतक आगई है, अतः अब तू थक न जाय इसलिये तू यहांसे पीछेको लौटकर अपने आश्रममें चलीजा४६ सावित्री,बोली,कि–सत्पुरुष सदा दृढ़ता के साथ सनातनधर्मका वर्त्ताव करते हैं, और सत्पुरुष जोबात कहते हैं

नर्त्तन्ति सन्तः ॥ ४७ ॥ सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्य्यं सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति । सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन् सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥ ४८ ॥ आर्य्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम् । सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम् ॥ ४९ ॥ न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः । यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं तस्मात् संतो रक्षितारो भवन्ति ५० यम उवाच । यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत् । तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा वरं वृणीष्वाप्रतिमं

उसको सब प्रकारसे पूरी करतेहैं, परन्तु वचन देकर, फिर उसका पछ-तावा वा दुःख नहीं करतेहैं, सतपुरुषोंका सतपुरुषोंके साथ जो समा-गम होता है वह निष्फल नहीं जाता है तथा सत्पुरुष सतपुरुषोंसे डरते भी नहीं हैं ॥ ४७ ॥ और हे राजन् ! सत्पुरुष अपने सतयके प्रभावसे सूर्यको भी अपने समीप बुलासकते हैं तपस्याके प्रभावसे पृथ्वीको भी धारण करसकते हैं तथा सतपुरुष भूत और भविष्यत् की भी गति अर्थात् आधाररूप हैं, इसकारण सतपुरुष सतपुरुषोंमें रहनेसे दुःखी नहीं होते हैं॥४८॥इस सनातन कालके व्यवहारके अनुसारही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्यवहार होताहै, ऐसा जानकर सत्पुरुष परोपकार करते हैं, परन्तु उपकार करते समय प्रत्युपकारकी ओर दृष्टि नहीं रखते हैं ॥ ४९ ॥ इसके सिवाय प्रसन्नता धन और मान ये तीन वस्तुएं भी सत्पुरुषोंके पाससे पूर्णरूपसे मिलती हैं दूसरोंके पाससे पूर्णरूपसे नहीं मिलतीहैं किन्तु एक२वस्तु अपूर्ण ही रहती है, जैसे कि-दरिद्रीकी मनुष्यके ऊपर प्रसन्नता कृपा होती है, परन्तु उससे धनकी प्राप्ति नहीं होती, धनवान् कृपा करके धन देता है, परन्तु उससे मान नहीं मिलता है, परन्तु सत्पुरुषोंसे ये तीनों वस्तुएं पूर्ण रीतिसे मिलती हैं और उनमें ये तीनों वस्तुएँ रहती हैं, इसलिये सत्पुरुष ही जगत्की रक्षा करसकते हैं॥५०॥ यमराज बोले कि-हे पतिव्रता ! मेरे मनको अच्छा लगनेवाला धर्म

पतिव्रते ॥ ५१ ॥ सावित्र्युवाच । न तेऽपवर्गः सुकृताद्विना कृतस्तथा यथा यथान्येषु वरेषु मानद । वरं वृणे जीवतुसत्यवानयं यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना ॥ ५२ ॥ न कामये भर्तृविना कृता सुखम् । न कामये भर्तृकृता विना दिवम् न कामये भर्तृविना कृता श्रियं न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥ ५३ ॥ वरातिसर्गः शतपुत्रता मम त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः । वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं तवैव सत्यं वचनं भविष्यति॥५४॥ मार्कण्डेय उवाच । तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमः । धर्मराजः महृष्टात्मा

भरा अच्छे पद और गम्भीर अर्थसे युक्त भाषण तू ज्यों २ मेरे आगे करती है, त्यों२ तेरे ऊपर मेरी उत्तम भक्ति होती जाती है, इस लिये मैं तुझसे कहता हूं, कि-तू मुझसे अनुपम वर माँगले॥५१॥ सावित्री बोली कि-हे मान देनेवाले यमराज कुछ आपने मुझे पति-पत्नी संयोग विना परपुरुषसे पुत्र उत्पन्न करनेका वरदान नहीं दिया है किन्तु मुझै सत्यवान्से ही पुत्र उत्पन्न करनेका वरदान दिया है, सो अब यह आपका दिया हुआ वर मेरे पतिके विना व्यर्थ है, इसलिये मैं यह वर माँगती हूं, कि—मेरा पति सत्यवान् जीवित होजाय, पतिके विना तो मरीहुई सी होरही हूं ॥ ५२ ॥ मुझे पतिके विना सुखकी इच्छा नहीं है, पतिके विना मैं स्वर्ग में जाना भी नहीं चाहती, पतिके विना मैं धनको भी नहीं चाहती तथा पतिके विना मैं जीती भी नहीं रहसकती ॥५३॥ हे यमराज आपने ही अपने आप मुझे वरदिया है, कि—सत्यवान्से सौ पुत्र उत्पन्न होंगे, फिर भी तुम अपने आप ही मेरे पति को पाशीसे बांधकर लियेजाते हो, इसलिये मैं वरदान माँगती हूं कि-मेरा पति सत्यवान् जीवित होजाय तब ही आपका कहना भी सत्य होगा ॥५४॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—हे युधिष्ठिर ! सावित्री की इस वातको सुनकर सूर्यपुत्र धर्म नामवाले यमराज मनमें प्रसन्न हुए और 'तथास्तु' कहकर सत्यवान्को पाशीके बंधनमेंसे खोल

सावित्रीमिदमब्रवीत् ॥ ५५ ॥ एष भद्रे मया मुक्तो भर्त्ता ते कुलनन्दिनि । अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति ॥५६॥ चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति । इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ५७ ॥ त्वयि पुत्रशतश्चैव सत्यवान् जनयिष्यति । ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः ॥५८॥ ख्याता त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः । पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ॥ ५९ ॥ मालव्यां मालवा नाम शाश्वताःपुत्रपौत्रिणः । भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ ६० ॥ एवं तस्यै वरं दत्वा धर्मराजः प्रतापवान् । निवर्त्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ॥ ६१ ॥ सावित्र्यपि यमे याते भर्त्तारं प्रतिलभ्य च । जगाम तत्र यत्रास्या भर्त्तुः शावं कलेवरं ॥ ६२ ॥ सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्त्ता-

---

दिया और सावित्रीसे कहा, कि-॥ ५५ ॥ हे कल्याणी ! हे कुलनन्दिनी । मैं तेरे इस पतिको अपनी पाशीके बंधनमेंसे खोलता हूं, अब तू आरोग्य हुए पतिको अपने घर लिवाजा, तेरे पतिके मनोरथ सिद्ध होंगे ॥ ५६ ॥ इसकी आयु चारसौ वर्षकी होगी और यह तेरे साथ बहुतसे यज्ञ करके तथा धर्मके काम करके जगत्में प्रसिद्ध होगा ॥ ५७ ॥ और यह सत्यवान् तेरे विषैं सौ पुत्रोंको उत्पन्न करेगा और उन सब क्षत्रिय राजाओंके भी पुत्र पौत्र होंगे तथा वे इस लोकमें चिरकाल तक तेरे नामके आधार पर सावित्र नामसे जगत्में प्रसिद्ध होंगे और तेरे पिता तेरी माता मालवीके विषैं सौ पुत्रोंको उत्पन्न करेंगे और वे सब भाई मालव क्षत्रियके नामसे जगत्में सदाको प्रसिद्ध होंगे तथा देवताओंकी समान उन सबोंको भी पुत्रोंकी और पौत्रोंकी प्राप्ति होगी ॥५८-६० ॥ इसप्रकार प्रतापी यमराजने सावित्रीको वरदान दिये और फिर उसको घर भेजकर आप भी अपने लोकको चले गए ।६१। यमराजके चलेजाने पर सावित्री भी अपने पतिको पाकर जहां पतिका श्याम शरीर पड़ा था तहां गई ॥ ६२ ॥ और भूमि पर

रमुपसृत्योपगृह्य च। उत्संगे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह ॥ ६३ ॥ संज्ञाञ्च स पुनर्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत । प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ॥ सत्यवानुवाच । सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नावबोधितः । क्व चासौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां सञ्चकर्ष ह ॥ ६५ ॥ सावित्र्युवाच । सुचिरं त्वं प्रसुप्तोऽसि ममाङ्के पुरुषर्षभ । गतः स भगवान् देवः प्रजासंयमनो यमः ६६ विश्रान्तोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज । यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम् ॥ ॥ ६७ ॥ मार्कण्डेय उवाच । उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः । दिशः सर्वा वनान्तांश्च निरीक्ष्यो-

पड़े हुए अपने पतिको देखकर उसके समीपमें पृथ्वीपर बैठी, फिर पतिके शिरको हाथसे उठाकर अपनी गोदीमें लेलिया ६३ कुछ देर पीछे सत्यवान्को फिर चेत हुआ, कि—वह जागगया, और मानो परदेश जाकर बहुत दिनोंमें लौटकर आया हो, इस प्रकार सावित्रीकी ओरको प्रेमभरी दृष्टिसे वार वार देखकर कह नेलगा ॥ ६४ ॥ कि—ओहो! सावित्री! मैं बहुत देरसे सोरहा हूं, तूने मुझे जगाया क्यों नहीं? वह काले रङ्गका पुरुष कहाँ गया? कि—जो मुझे पाशीसे बाँधकर घसीटे लियेजाता था ॥६५॥ सावित्री बोली, कि—हे पुरुषश्रेष्ठ! तुम मेरी गोदीमें बहुत देरसे शिरधर कर सोरहे हो, तुम्हे पकड़नेके लिये जो काले रङ्गका पुरुष आया था वह प्रजाको भलीप्रकार शिक्षा देनेवाले भगवान् यमराज थे, और वह अब अपने लोकको लौटगए हैं ॥ ६६ ॥ हे महाभाग राजकुमार! तुम्हें बड़ा परिश्रम पड़ा है, तो भी तुम जाग उठे हो, इसकारण यदि आपमें शक्ति हो तो उठ बैठो और रात्रि गाढ़े अन्धकारसे छागई है, इसको देखो ॥ ६७ ॥ मार्कण्डेय जी कहते हैं, कि—हे युधिष्ठिर! तदनन्तर सत्यवान् सचेत हुआ और मानो सुखसे सोरहा हो इसप्रकार जागउठा तथा खड़ा होकर

वाच सत्यवान् ॥६८॥ फलाहारोऽस्मि निष्क्रान्तस्त्वया सह सुमध्यमे । ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजाभवत् ॥ ६९ ॥ शिरोऽभितापसन्तप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन् । तत्रोत्सङ्गे मसुप्तोऽस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे ॥ ७० ॥ त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयोपहृतं मनः । ततोऽपश्यन्तमो घोरं पुरुषं च महौजसम् । ७१ । तद्यदि त्वं विजानासि किं तद् ब्रूहि सुमध्यमे । स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो मयि वा सत्यमेव तत् ॥ ७२ ॥ तमुवाचाथ सावित्री रजनी व्यवगाहते । श्वस्ते सर्वं यथावृत्तमाख्यास्यामि नृपात्मज ॥ ७३ ॥ उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रन्ते पितरौ पश्य सुव्रत । विगाढा रजनी चेयं निवृत्तश्च दिवाकरः ॥ ७४ ॥ नक्तञ्चराश्चरन्त्येते हृष्टाः क्रूराभिभाषिणः । श्रूयन्ते

सब दिशा और वनों में चारों ओरको देखकर बोल उठा कि-६८ हे सुन्दर कमर वाली स्त्री ! मैं फल खाकर तेरे साथ वनमें चला आया था, मैंने भोजन नहीं किया था, इसकारण वनमें लकड़ियें काटते काटते मेरे शिरमें दरद होनेलगा था ॥ ६९ ॥ उस शिरकी पीड़ासे ही मेरा शरीर गरम होगया था और मैं वहुत देर तक खड़ा नहीं रहसका था, इसकारण तेरी गोदीमें मस्तक रखकर सोगया था, इन सब बातोंकी हे सुन्दरी ! मुझे याद आती है ॥ ७० ॥ तेरी गोदीमें लेटनेके बाद मेरा मन निद्राके वशमें होगया और स्वप्नमें मैंने भयानक अन्धकार तथा एक महाबली पुरुषको देखा ॥ ७१ ॥ हे सुन्दरी ! यह बात यदि तू जानती हो तो मैंने यह क्या देखा था ? क्या मैंने यह स्वप्न देखा था ? अथवा यह बात सच्ची ही थी, सो तू मुझे बता ? ॥ ७२ ॥ इसपर सावित्री सत्यवान्से कहनेलगी, कि-हे राजकुमार ! इस समय रात्रि धीरे २ गाढ़ी होतीं चलीजाती है, इसलिये मैं तुमसे कलको प्रातःकालके समय सब बात जैसे २ हुई है सो कहूंगी ॥ ७३ ॥ हे सुव्रत ! आपका कल्याण हो, अब तुम खड़े होजाओ और चलकर पवित्र माता पिताके दर्शन करो, सूर्यनारायण अस्त होगए और रात्रि भी गाढ़ी होगई है ॥ ७४ ॥ इसकारण इस वनमें राक्षस मनमें

पर्णशब्दाश्च मृगाणाञ्चरतां वने ॥ ७५ ॥ एतान् घोराञ्छिवानादान् दिशं दक्षिणपश्चिमाम् । आस्थाय विरुवन्त्युग्राः कम्पयन्त्यो मनो मम॥७६॥ सत्यवानुवाच । वनं प्रति भयाकारं घनेम तमसा वृतम् । न विज्ञास्यसि पन्थानं गन्तुं चैव न शक्ष्यसि ॥ ७७ ॥ सावित्र्युवाच । अस्मिन्नद्य वने दग्धे शुष्कवृक्षः स्थितो ज्वलन् । वायुना धम्यमानोऽत्र दृश्यतेऽग्निः क्वचित् क्वचित् ॥७८॥ ततोऽग्निमानयित्वेह ज्वालयिष्यामि सर्वतः । काष्ठनीमानि सन्तीह जहि सन्तापमात्मनः ॥ ७९ ॥ यदि नोत्सहसे गन्तुं सरुजं त्वां हि लक्षये । न च ज्ञास्यसि पन्थानं तमसा संवृते वने ॥ ८० ॥ श्वः प्रभाते वने दृश्ये यास्यावोऽनुमते तव । वसावेह क्षपामेकां-

---

प्रसन्न होकर जहां तहां फिर रहे हैं और डरावने शब्द करते हैं इसके सिवाय वृक्षोंके पत्तोंकी खड़खड़ाहट सुनाई आरही है, तथा वनमें फिरते हुए पशुओंका शब्द भी सुनाई आरहा है ॥ ७५ ॥ ये भयानक दीखनेवालीं गीदड़ियें दक्षिण और पश्चिम दिशामें खड़ी होकर भयङ्कर शब्दसे रोकर मेरे मनको कंपायमान कररही हैं ॥ ७६ ॥ सत्यवान् बोला, कि-घोर अन्धकार छाजानेसे यह वन भयानक दीखरहा है, इसकारण तुझै मार्ग भी नहीं सूझेगा तथा तू चल भी नहीं सकेगी ॥ ७७ ॥ सावित्री कहने लगी, कि-इस वनमें आज दावानल लगगई थी, इसकारण एक सूखाहुआ बहुत बड़ा वृक्ष खड़ा २ जल रहा है, उस वृक्षमें जब २ पवनका झोका लगता है तब २ उसमेंसे गिराहुआ अग्नि जहां तहां दहकता हुआ दीखता है॥७८॥इसलिये मैं तहां जाकर अग्नि लेआऊँगी और हमारे पास जो ये लकड़ियें हैं इन सबको बाललूंगी, तुम इसकी मनमें चिन्ता न करो ॥ ७९ ॥ परन्तु यह सब प्रबन्ध आपकी जानेकी इच्छा न हो तो कियाजाय, तुम अशक्तसे (नातागतसे) मालूम होते हो और इस वनमें भी चारों ओर अन्धेरा छारहा है, इसकारण तुम्हैं मार्ग नहीं सूझेगा ॥ ८० ॥

रुचितं यदि तेऽनघ ॥ ८१ ॥ सत्यवानुवाच । शिरोरुजा निवृत्ता मे स्वस्थान्यङ्गानि लक्षये । मातापितृभ्यामिच्छामि सङ्गमं त्वत्प्रसाद-जम् ॥८२॥ न कदाचिद्विकाले हि गतपूर्वो ममाश्रमः । अनागतायां सन्ध्यायां माता मे प्ररुणद्धि माम् ॥ ८३ ॥ दिवापि मयि निष्क्रांते सन्तप्येत गुरू मम । विचिनोति हि मां तातः सहैवाश्रमवासिभिः ॥ ८४ ॥ मात्रापित्रा च सुभृशं दुःखिताभ्यामहं पुरा । उपालब्धश्च बहुशश्चिरेणागच्छसीति हि ॥ ८५ ॥ का त्ववस्था तयोरद्य मदर्थमिति चिन्तये । तयोरदृश्ये मयि च महद्दुःखं भविष्यति ॥ ८६॥ पुरा मामूचतुश्चैव रात्रावस्रायमाणकौ । भृशं सुदुःखितौ वृद्धौ बहुशः

इसलिये आपके विचारके अनुसार हम दोनोंजने कल सवेरेको जब वनमें उजाला होजायगा तब चलेंगे, हे निर्दोष नाथ! यदि आपकी इच्छा हो तो आजकी एक रात हम दोनोंजने यहां ही रहैं ॥ ८१ ॥ सत्यवान्ने कहा कि—अब मेरे शिरमें दरद नहीं है और मेरे अङ्ग भी पीड़ारहित स्वस्थ हुए प्रतीत होते हैं अतः मैं तेरी कृपासे अपने माता पितासे मिलनेकी इच्छा रखता हूं ॥८२॥ मैं पहिले किसी दिन भी देर करके आश्रममें नहीं जाता था, किन्तु सायंकालसे पहिले ही मेरी माता मुझे बाहर जानेसे रोक लेती था ॥ ८३ ॥ मैं दिनमें भी जब आश्रमके बाहर जाता था तब मेरे माता पिता मेरे लिये लिये बड़ी चिन्ता करते थे और मेरे माता पिता आश्रमवासियोंके साथ मुझे ढूंढनेको चलदेते थे ॥ ८४ ॥ इसके सिवाय पहिले मेरे माता पिताने अत्यन्त दुःखी होकर मुझे अनेकों वार ताना देकर कहा भी था, कि—तू बाहर से घरमें बड़ी अबेरी आताहै ॥ ८५ ॥ मैं इस ही विचारमें हूं कि-मेरे ऊपर प्रेम रखनेवाले मेरे माता पिताकी मेरे लिये आज क्या दशा हुई होगी? वे मुझे नहीं देखेंगे तो उनके मनमें बड़ा ही दुःख होगा ॥ ८६ ॥ मेरे ऊपर बड़ाभारी प्रेम रखनेवाले और मेरे दुःखसे महादुःखी होनेवाले मेरे बूढ़े माता पिताने मुझसे

प्रीतिसंश्रुतौ ॥ ८७ ॥ त्वया हीनौ न जीवाव मुहूर्त्तमपि पुत्रक । यावद्धरिष्यसे पुत्र तावन्नौ जीवितं ध्रुवम् ॥ ८८ ॥ वृद्धयोरन्धयोर्दृष्टिस्त्वयि वंशः प्रतिष्ठितः । त्वयि पिण्डश्च कीर्त्तिश्च सन्तानञ्चावयोरिति ॥ ८९ ॥ माता वृद्धा पिता वृद्धस्तयोर्यष्टिरहं किल तौ रात्रौ मामपश्यंतौ कामवस्थां गमिष्यतः ॥९०॥ निद्रायाश्चाभ्यसूयामि यस्या हेतोः पिता मम।माता च संशयं प्राप्ता मत्कृतेऽनपकारिणी ॥९२॥ अहञ्च संशयं प्राप्तः कृच्छ्रमापदमास्थितः । मातापितृभ्यां हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे९२व्यक्तमाकुलया बुद्ध्या प्रज्ञाचक्षुः पिता मम एकैकमस्यां वेलायां पृच्छत्याश्रमवासिनं९३नात्मानमनुशोचामि यथाहं पितरं शुभे । भर्त्तारं चाप्यनुगतां मातरं परिदुर्वलाम् ९४

पहिले रोते २ कहा था कि-॥ ८७ ॥ हे वेटा ! हम तेरे विना जरा देर भी जीवित नहीं रहसकते, किंतु हे वेटा ! जवतक तू जीवित है, तवतक ही हम भी जीवित हैं, इस वातको तू निश्चय ही जानना ॥ ८८ ॥ क्योंकि—तू हम बूढ़े और अंधोंकी आँख है, तुझ पर ही हमारे वंशका आधार है तथा हम दोनोंके पिण्डका, कीर्त्तिका और वंशका भार भी तेरे ही ऊपर है ॥ ८९ ॥ जिसके कारणसे मेरे निरपराधी माता पिताने मेरे लिये दुःख पाया और मैं भी दुःखदायक आपत्तिमें पडकर दुःखी होगया ऐसी निद्रादेवीको में धिक्कार देताहूं, मेरे माता पिता वूढ़े हैं और एक मैं ही उनके हाथकी लकड़ी हूं, हायरे ! उन मेरे वूढ़े माता पिताने जव रात्रि होजाने पर भी मुझे आयाहुआ न पाया होगा तो न जाने उन की क्या दशा हुई होगी, और मैं भी अपने माता पिताके विना जीता नहीं रहसकूंगा ॥ ९०–९२ ॥ मेरे अन्धे माता पिता की बुद्धि व्याकुल होगई होगी और वह इस समय आश्रममें रहने वाले हरएक पुरुषसे मेरे लिये वूझते होंगे ॥ ९३ ॥ इसलिये हे कल्याणि स्त्रि ! मुझे जितनी अपने अन्धे पिताकी और उनकी सेवामें लगी रहनेसे अत्यन्त दुर्वल हुई अपनी माताकी चिन्ता होरही है, उतनी चिंता मुझे अपने शरीरकी भी नहीं है ॥९४॥

मत्कृतेन हि तावद्य सन्तापं परमेष्यतः । जीवन्तावनुजीवामि भर्त्तव्यौ तौ मयेति ह ॥ ९५ ॥ तयोः प्रियं मे कर्त्तव्यमिति जानामि चाप्यहम् । मार्कण्डेय उवाच । एवमुक्त्वा स धर्मात्मा गुरुभक्तो गुरुप्रियः ॥ ९६ ॥ उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्त्तः सुस्वरं प्ररुरोद ह । ततोऽब्रवीत्तथा दृष्ट्वा भर्त्तारं शोककर्षितम् ॥ प्रमृज्याश्रूणि नेत्राभ्यां सावित्री धर्मचारिणी यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि ॥ ९८ ॥ श्वश्रूश्वशुरभर्तॄणां मम पुण्यास्तु शर्वरी । न स्मराम्युक्तपूर्वं वै स्वैरेष्वप्यनृतं गिरम् ॥ ९९ ॥ तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वशुरौ मम । सत्यवानुवाच । कामये दर्शनं पित्रोर्याहि सावित्रि मा चिरम् ॥ १०० ॥ पुरा मातुः पितुर्वापि यदि पश्यामि

वे मेरे परमपवित्र माता पिता मेरे लिये आज बड़ा सन्ताप करते होंगे जबतक मेरे माता पिता जीते हैं तबतक ही मैं जीवित हूं और मुझे उनका भरण पोषण करना चाहिये ॥ ९५ ॥ मैं तो केवल इतना हीं जानता हूं कि-मुझे उनका प्रियकार्य करना चाहिये मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि-युधिष्ठिर ! धर्मात्मा, गुरुभक्त और गुरुजनोंका प्यारा वह सत्यवान् ऐसा कहकर दुःखसे बावलासा बनगया और दोनों हाथ ऊपरको उठाकर ऊँचे स्वरसे रोनेलगा शोकसे विह्वल हुए पतिको रोतेहुए देखकर धर्मचारिणी सावित्री ने पतिके नेत्रोंमेंसे बहतीहुई आंसुओंकी धारको पोंछदिया और फिर कहनेलगी, कि-मने जो तपस्याकी हो, दान दिया हो तथा होम किया हो तो उसके प्रभावसे मेरे सास ससरकी तथा मेरे पतिकी सब रात्रि आनन्दमें बीतै, मैं पहिले कभी साधारण बात चीतमें भी झूंठ बोली होऊं, इसकी मुझे याद नहीं आती ॥ ९६—९९ ॥ उस सत्यके प्रभावसे आज मेरे सास सुसर जीवित रहैं सत्यवान् बोला, कि-हे सावित्रि मुझे अपने माता पिताके दर्शन करनेकी इच्छा होरही है, इसलिये तू शीघ्र चल देरी न कर ॥ १०० ॥ हे सुन्दराङ्गि ! हमारे पहुंचनेसे पहिले यदि मेरे

विप्रियम् । न जीविष्ये वरारोहे सत्येनात्मानमालभे ॥१०१॥ यदि धर्मे च ते बुद्धिर्मांश्चेज्जीवन्तमिच्छसि । मम प्रियं वा कर्त्तव्यं गच्छावाश्रममन्तिकात् ॥१०२॥ मार्कण्डेय उवाच । सावित्री तत उत्थाय केशान् संयम्य भाविनी । पतिमुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै ॥१०३॥ उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्याङ्गानि पाणिना सर्वा दिशः समालोक्य कठिने दृष्टिमादधे ॥ १०४ ॥ तमुवाचाथ सावित्री श्वः फलानि हरिष्यसि । योगक्षेमार्थमेतन्ते नेष्यामि परशुन्त्वहम् ॥१०५॥कृत्वा कठिनभारं सा वृक्षशाखावलम्बिनम् गृहीत्वा परशुं भर्त्तुः सकाशे पुनरागमत् ॥१०६॥ वामे स्कन्धे तु वामोरू भर्तृर्बाहुं निवेश्य च। दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम गजगामि-

---

माता पिता मरजायंगे तो मैं तेरे सामने सच्ची शपथ खाकर कहता हूं कि–तो जीवित नहीं रहसकूंगा ॥ १०१ ॥ इसलिये यदि तेरी बुद्धि धर्मके ऊपर है और यदि तू मुझे जीवित देखना चाहती है तथा मेरा हित करना चाहती है तो चल हम दोनोंजने शीघ्र ही आश्रमको चलैं ॥१०२॥ मार्कण्डेयजीने कहा, कि–हे युधिष्ठिर! तदनन्तर कल्याणी सावित्रीने खड़ी होकर अपने विखरेहुए शिर के बालोंको चोटा बांधलिया और फिर दोनों हाथोंसे पतिको सहारा देकर खड़ा किया ॥ १०३ ॥ सत्यवान् भी सावित्रीके हाथका सहारा लेकर खड़ा होगया और हाथसे अपने शरीरमें लगीहुई धूल झाड़डाली तथा चारों ओरको दृष्टि डालकर देखा तो फलोंसे भराहुआ वह पात्र देखनेमें आया ॥ १०४ ॥ उस समय सावित्री पतिके मनका भाव समझकर तुरन्त बोल उठी, कि–हे नाथ ! आप कलको आकर इस फलोंके पात्रको लेजाना और तुम्हैं कुछ श्रम पड़ेगा इसलिये तुम्हारी इस कुल्हाड़ीको मैं लेचलूंगी ॥१०५॥ ऐसा कहकर वह फलोंसे भराहुआ पात्र एक वृक्षका डालीमें लटकादिया और कुल्हाड़ी हाथमें उठाकर सावित्री पतिके पास लौट आई ॥ १०६ ॥ और गजगामिनी सुन्दर जंघा

नी१०७सत्यवानुवाच । अभ्यासगमनाद्भीरु पन्थानो विदिता मम। वृक्षान्तरालोकितया ज्योत्स्नया चापि लक्षये१०८आगतौ स्वः पथा येन फलान्यवचितानि च। यथागतं शुभे गच्छ पन्थानं मा विचारय १०६ पलाशखण्डे चैतस्मिन् पन्था व्यावर्त्तते द्विधा । तस्योत्तरेण यःपन्थास्तेन गच्छ त्वरस्व च११०स्वस्थोऽस्मि वलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ। ब्रुवन्नेव त्वरायुक्तः संप्रायादाश्रमं प्रति ॥ १११ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६७॥

मार्कण्डेय उवाच। एतस्मिनेव काले तु द्युमत्सेनो महावलः। लब्धचक्षुः प्रसन्नायां दृष्ट्या सर्वं ददर्श ह ॥१॥ स सर्वानाश्र-

---

श्रोंवाली सावित्री अपने वाएं कन्धेपर भर्त्ताका हाथ रख दाहिनी भुजासे पतिके शरीरको आलिङ्गन देकर आश्रमकी ओरको चलदी ॥ १०७ ॥ मार्गमें सत्यवान्ने कहा, कि–हे भीरु ! मुझे निरन्तर यहां आनेका अभ्यास है, इसकारण मैं इन सव मार्गोंको जानताहूं,इसके सिवाय चन्द्रमाकी किरणें वृक्षोंके भीतर होकर भूमि पर पड़रही हैं, उसके प्रकाशसे भी मैं मार्गको देखसकता हूं ॥ १०८ ॥हे कल्याणी स्त्री ! हम कल जिस मार्गसे आये थे और जिस मार्गमें फल वीने थे, उसी मार्गसे तू चलीआ विचार मत करै ॥ १०६ ॥ इस ढाककी झाड़ीमेंसे दो मार्ग फटे हैं, उनमें जो उत्तर दिशाकी ओरका मार्ग है, उस मार्गसे ही झट चलना आरम्भ करदे ॥ ११० ॥ मैं अव स्वस्थ, वलवान् और माता पिताके दर्शनके लिये व्याकुल होगया हूं, ऐसा कहताहुआ सत्यवान् झपट २ कर अपने आश्रमकी ओरको जानेलगा १११ दोसौ सत्तानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २६७ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि–हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् युधिष्टिर! उसी समय महावलवान् राजा द्युमत्सेन सनाखा होगया और दृष्टि विमल होजानेसे वह सव कुछ देखनेलगा ॥ १ ॥ इसकारण

मान् गत्वा शैव्यया सह भार्यया । पुत्रहेतोः परामार्त्तिं जगाम भरतर्षभ ॥२॥ तावाश्रमान्नदीश्चैव वनानि च सरांसि च । तस्यां निशि विचिन्वन्तौ दम्पती परिजग्मतुः ॥ ३ ॥ श्रुत्वा शब्दन्तु यं कञ्चिदुन्मुखौ सुतशङ्कया । सावित्र्या सहितोऽभ्येति सत्यवानित्य भाषताम् ॥ ४ ॥ भिन्नैश्च परुषैः पादैः सव्रणैः शोणितोक्षितैः । कुशकण्टकविद्धाङ्गावुन्मत्ताविव धावतः ॥ ५ ॥ ततोऽभिसृत्य तैर्विप्रैः सर्वैराश्रमवासिभिः । परिवार्य्य समाश्वास्य तावानीतौ स्वमाश्रमम् ॥ ६ ॥ तत्र भार्य्यासहायः स वृतो वृद्धैस्तपोधनैः । आश्वासितो विचित्रार्थैः पूर्वराज्ञां कथाश्रयैः ॥ ७ ॥ ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया । बाल्यवृत्तानि

पुत्रको खोजनेके लिये शैव्या रानीके साथ सब आश्रमोंमें घूम आया और पुत्रके न मिलनेसे परम दुःखको प्राप्त हुआ ॥ २ ॥ वे बूढ़ी और बूढा दोनों उस रात भर आश्रम, वन, नदी और सरोवरों पर सबजगह सत्यवान्को खोजते फिरे ॥ ३ ॥ ढूंढते समय किसी प्रकारका शब्द भी उनके कानोमें पडता, कि–तत्काल मुख उठाकर कहने लगते कि–ओ सावित्रीके साथ सत्यवान् आरहा है क्या ? ॥ ४ ॥ वन आदिमें घूमनेसे उनके पैर घायल होकर रूक्ष होगए, जहां तहाँ फटजानेके कारण उनमेंसे लोहू बहनेलगा ऐसा कष्ट होने पर भी वे पागलोंकी समान वनमें इधर उधर दौड़ते फिरते थे, इसकारण उनके शरीर भी कुश, कांस और कांटे छिदकर लोहूलुहान होगए ॥ ५ ॥ वे बूढे स्त्री पुरुष इसप्रकार थोडी देर वनमें ठोकरें खाते फिरे, तदनन्तर आश्रममें रहनेवाले सब ब्राह्मण उनके पास आये और उनको चारों ओरसे घेरकर धीरज देतेहुए अपने आश्रममें लेआये ॥ ६ ॥ और स्त्री ही जिसकी सहायक थी ऐसे बूढ़े राजाके चारों ओर बैठकर वृद्ध तपस्वी पुराने राजाओंकी अनेकों चरित्रोंवाली कथायें कहकर उसको धीरज देने लगे ॥७॥ तो भी वे दोनों राजा रानी

पुत्रस्य स्मरन्तौ भृशदुःखितौ॥८॥पुनरुक्त्वा च करुणां वाचं तौ शोककर्शितौ।हा पुत्र हा साध्वि वधूः क्वासि क्वासीत्यरोदताम्।ब्राह्मणः सत्यवाक् तेषामुवाचेदं तयोर्वचः। ९। सुवर्चा उवाच। यथा स भार्य्या सावित्री तपसा च दमेन च। आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १० ॥ गौतम उवाच। वेदाः साङ्गा मयाधीतास्तपो मे सञ्चितं महत्। कौमारं ब्रह्मचर्यञ्च गुरवोऽग्निश्च तोषितः ॥ ११ ॥ समाहितेन चीर्णानि सर्वाण्येव व्रतानि मे। वायुभक्षोऽपवासश्च कृतो मे विधिवत् सदा ॥ १२ ॥ अनेन तपसा विद्मि सर्वं परिचिकीर्षितम्। सत्यमेतन्निबोधध्वं ध्रियते सत्यवानिति ॥ १३ ॥ शिष्य उवाच। उपाध्यायस्य मे वक्त्राद्यथा वाक्यं विनिः

पुत्रसे मिलनेकी इच्छा होनेके कारण उसके बालपनके चरित्रोंको याद कर २ के उस समय बड़े ही दुःखी होने लगे ॥ ८ ॥ और वे दोनोंजने शोकसे व्याकुल होकर हा बेटा ! सत्यवान् ! हा ! पतिव्रता बहू सावित्री तुम कहां हो ? ऐसी करुणारस उपजाने वाली वाणी बोलकर रोते हुए महाविलाप करने लगे, उससमय तहां आयाहुआ एक सुवर्चा नामका सत्यवादी ब्राह्मण जो उन तपस्वियोंमें बैठा था वह इन बूढ़े राजा रानीसे इसप्रकार कहने लगा ॥ ९ ॥ सुवर्चा बोला, कि—सत्यवान्की स्त्री सावित्री तप दम और सदाचारवाली है, उसके प्रभावसे तुम्हारा बेटा सत्यवान् अवश्य ही जीवित है, उसके लिये तुम चिन्ता मत करो१० फिर मुनि गौतम कहने लगे, कि—मैंने वेद और उसके छः अङ्गों को भलेप्रकार पढ़ा है, मैंने बड़ी भारी तपस्या की है तथा कुमार अवस्थामें ब्रह्मचर्य व्रतका पालन भी किया है,गुरुओंकी सेवा की है और अग्निको तृप्त किया है ॥ ११ ॥ और मैंने सब व्रत भी सावधान मनसे किये हैं तथा नित्य विधिके साथ वायुका भक्षण भी किया है और उपवास भी किये हैं ॥१२॥ उस तपके प्रभावसे मैं दूसरोंके सब कार्योंको जानसकता हूं और इसी कारण आपसे कहता हूं, कि—सत्यवान् जीवित है ॥ १३ ॥ इस प्रकार

स्रुतम् । नैव जातु भवेन्मिथ्या तथा जीवति सत्यवान् ॥ १४ ॥ ऋषय ऊचुः ॥ यथास्य भार्य्या सावित्री सर्वैरेव सुलक्षणैः । अवैधव्यकरैर्युक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १५ ॥ भरद्वाज उवाच । यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च । आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १६ ॥ दाल्भ्य उवाच यथा दृष्टिः प्रवृत्ता ते सावित्र्याश्च यथा व्रतम् । गताहारमकृत्वा च तथा जीवति सत्यवान् ॥ १७ ॥ आपस्तम्ब उवाच । यथा वदन्ति शान्तायां दिशि वै मृगपक्षिणः । पार्थिवी च प्रवृत्तिस्ते तथा जीवति सत्यवान् ॥ १८ ॥ धौम्य उवाच । सर्वैर्गुणैरुपेतस्ते यथा पुत्रो जनप्रियः । दीर्घायुर्लक्षणोपेतस्तथा जीवति सत्यवान् ।१९। मार्कण्डेय उवाच । एवमाश्वासितस्तैस्तु सत्यवाग्भिस्तपस्विभिः ।

गुरुकी वात पूरी होनेपर उनके शिष्यने कहा, कि–मेरे गुरुके मुख में से जो वात निकलती है वह कभी मिथ्या नहीं होती, तुम्हारा सत्यवान् निःसन्देह जीवित है ॥१४॥ इसके अनन्तर सब ऋषि कहने लगे, कि–सत्यवान्की स्त्री सावित्रीमें सौभाग्य देनेवाले सव ही उत्तम लक्षण हैं, इस कारण सत्यवान् जीवित है ॥१५॥ फिर भरद्वाज बोले,कि सत्यवान्की भार्या सावित्री तप, दम और सदाचारवाली है,उसके प्रभावसे सत्यवान् जीवित है॥१६॥दाल्भ्य वोले, कि–हे राजन्! जव कि तुम्हें नेत्र मिले हैं और सावित्री उत्तम व्रत करके पारणा किये विना ही वनमें पतिके साथ गई है, इससे आपको निश्चय रखना चाहिये कि--सत्यवान् जीवित है ॥ १७ ॥ फिर आपस्तम्ब कहने लगे, कि–जब सव दिशाओं में मृग और पक्षी किलोलें कररहे हैं और तुम्हारी राजाके योग्य धर्ममें निरन्तर प्रवृत्ति रहती है, इससे प्रतीत हाता है कि–सत्यवान् जीवित है ॥ १८ ॥ इनके पीछे धौम्य कहने लगे, कि–तुम्हारा पुत्र सतयवान् सकल गुणोंवाला है,सब मनुष्योंका प्यारा है और उसमें चिरायु होनेके सव लक्षण हैं, इससे प्रतीत होता है कि–वह अवश्य ही जीवित है ॥ १९ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि–

तांस्तान् विगणयन् सर्वांस्ततः स्थिर इवाभवत् ॥ २० ॥ ततो मुहूर्तात् सावित्री भर्त्रा सत्यवता सह। आजगामाश्रमं रात्रौ प्रहृष्टा प्रविवेश ह ॥ २१ ॥ ब्राह्मणा ऊचुः। पुत्रेण संगतं त्वान्तु चक्षुष्मन्तं निरीक्ष्य च। सर्वे वयं वै पृच्छामो वृद्धिं वै पृथिवीपते ॥२२॥ समागमेन पुत्रस्य सावित्र्या दर्शनेन च। चक्षुषश्चात्मनो लाभात् त्रिभिर्दिष्ट्या विवर्धसे ॥२३॥ सर्वैरस्माभिरुक्तं यत् तथा तन्नात्र संशयः। भूयो भूयः समृद्धिस्ते क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ २४॥ ततोऽग्निं तत्र संज्वाल्य द्विजास्ते सर्व एव हि। उपासांचक्रिरे पार्थ द्युमत्सेनं महीपतिम् ॥ २५ ॥ शैब्या च सत्यवांश्चैव सावित्री चैकतः स्थिताः। सर्वैस्तैरभ्यनुज्ञाता विशोकाः समुपाविशन् ॥ २६ ॥ ततो राज्ञा सहासीनाः सर्वे ते वनवासिनः। जातकौतू-

---

सत्यवादी तपस्वियोंने इस प्रकार कहकर राजा द्युमत्सेनको समझाया, तब उसने सब तपस्वियोंकी बातका आदर किया और कुछ देर बाद वह स्थिर होकर बैठगया ॥ २० ॥ कुछ ही समय बाद सावित्री अपने पति सत्यवान्के साथ तहां आपहुंची और प्रसन्न होती २ आश्रममें घुसी ॥ २१ ॥ सावित्री और सत्यवान्को आतेहुए देखकर ब्राह्मण बोलउठे, कि–लो भूपाल ! तुम्हें पुत्र मिलगया और नष्ट हुए नेत्र भी फिर मिलगए ।यह देखकर हम सब आपसे हर्षके साथ कुशल समाचार बूझते हैं ॥ २२ ॥ हे राजन् ! तुम्हें पुत्रका समागम, सावित्रीका दर्शन तथा नेत्रोंकी प्राप्ति हुई इसप्रकार तीन वस्तुओंके प्राप्त होनेसे आपका अभ्युदय हुआ है ॥ २३ ॥ हम सबोंने आपसे पहिले जैसा कहा था, तैसा हीं हुआ है, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा और अब आगेको भी बराबर आपकी उन्नति ही हुआ करेगी ॥ २४ ॥ हे युधिष्ठिर ! ऐसा कहनेके अनन्तर सब ब्राह्मण तहां आग बालकर राजा द्युमत्सेनके पास बैठे॥२५॥और फिर शैब्या सत्यवान् तथा सावित्री एक ओर खड़े थे, वे शोकरहित होकर सबोंकी आज्ञासे बैठगए ॥ २६ ॥ इसप्रकार जब सब वनवासी राजाके साथ बैठ-

हत्वाः पार्थ पप्रच्छुर्नृपतेः सुतम् ॥२७॥ ऋषय ऊचुः प्रागेव नागतं कस्मात् सभार्य्येण त्वया विभो । विरात्रे चागतं कस्मात् कोऽनुबन्धस्तवाभवत् ॥ २८ ॥ सन्तापितः पिता माता वयश्चैव नृपात्मज कस्मादिति न जानीमस्तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ २९॥ सत्यवानुवाच । पित्राहमभ्यनुज्ञातः सावित्री सहितो गतः । अथ मेऽभूच्छिरोदुःखं वने काष्ठानि भिन्दतः ॥३०॥ सुप्तश्चाहं वेदनया चिरमित्युपलक्षये । तावत्कालं न च मया सुप्तपूर्वं कदाचन ॥३१॥ सर्वेषामेव भवतां सन्तापो मा भवेदिति । अतो चिरायागमनं नान्यदस्तीह कारणम् ॥ ३२ ॥ गौतम उवाच । अकस्माच्चक्षुषः प्राप्तिर्द्युमत्सेनस्य ते पितुः । नास्य त्वं कारणं वेत्सि सावित्री

गए तब कुतूहलमें भरेहुए सब सत्यवान्से बूझनेलगे ॥ २७ ॥ ऋषियोंने बूझा, कि—हे महासमर्थ सत्यवान् ! तू अपनी स्त्रीके साथ वनमें गया था, तहांसे रात होनेसे पहिले ही क्यों नहीं आया? तू अधिकरात करके क्यों आया? मार्गमें तुझे क्या अड़चन पड़ी थी ? ॥ २८ ॥ हे द्युमत्सेनके पुत्र ! तूने हमें तथा अपने माता पिताको दुःखी करडाला, इसका कारण हमारी समझमें नहीं आता इसकारण वह सब तुझे हमसे कहना चाहिये ॥ २९ ॥ सत्यवान् बोला, कि—हे तपस्वी ब्राह्मणो ! मैं अपने पिताकी आज्ञा लेकर सावित्रीके साथ वनमें गया था, तहाँ लकड़ियें काटते २ मेरे शिरमें पीड़ा होनेलगी ॥ ३० ॥ उसकी वेदनासे मैं अपना शिर सावित्रीकी गोदमें रखकर बहुत देरतक सोता रहा था, इससे पहिले मैं कभी ऐसा सोया ही नहीं था ॥ ३१ ॥ मैंने जागकर देखा तो सूर्य अस्त होगया था और रात भी होगई थी, तो भी आप सबोंको दुःख न होय, इसलिये मैं उस समय ही आपके पासको चला आया हूं, इसके सिवाय और कोई कारण नहीं है ॥ ३२ ॥ गौतम बोले, कि—हे सत्यवान् ! तेरे पिता अकस्मात् अन्धेसे सझाखे होगए, इसका कारण तू नहीं

वक्तुमर्हति ॥३३॥ श्रोतुमिच्छामि सावित्रि त्वं हि वेत्सि परावरम् । त्वां हि जानामि सावित्री सावित्रीमिव तेजसा॥३४॥त्वमत्र हेतुं जानीषे तस्मात् सत्यं निरुच्यताम् । रहस्यं यदि ते नास्ति किंचिदत्र वदस्व नः ॥ ३५ ॥ सावित्र्युवाच । एवमेतद्यथा वेत्थ सङ्कल्पो नान्यथा हि वः । न हि किञ्चिद्रहस्यं मे श्रूयतां तथ्यमेव यत् ॥ ३६ ॥ मृत्युर्मे पत्युराख्यातो नारदेन महात्मना । स चाद्य दिवसः प्राप्तस्ततो नैनं जहाम्यहम् ॥३७॥ सुप्तञ्चैनं यमः साक्षादुपागच्छत्सकिंकरः ।

जानता है, परन्तु तेरी स्त्री सावित्री जानती है, इसलिये वह हमें इसका सब कारण कहकर सुनावे ॥३३॥ ऐसा कहकर सावित्री की ओरको देखतेहुए फिर कहा, कि –हे सावित्री ! तू बीतेहुए तथा होनेवाले वृत्तांतको जानती है, और मैं तुझे सावित्री (ब्रह्माकी स्त्री) की समान तेजस्विनी जानता हूं,इसलिये मैं तुझसे उस समाचारको सुनना चाहता हूं ॥ ३४ ॥ इसके कारणको तू जानीहुई है, अतः इसमें यदि कोई बात छिपी रखने योग्य न होय तो तू इसका सच्चा कारण कहकर हमें सुना ॥ ३५ ॥ सावित्रीने कहा, कि–हे गौतम ! आप जैसा समझ रहे हैं, ऐसा ही है, आपका विचार कभी भी मिथ्या नहीं होसकता तथा मेरी कोई भी बात आपसे छिपी नहीं है, अतः जो बात सत्य है वही है तुमसे कहती हूं, उसको सुनो ॥ ३६ ॥ हे ब्राह्मणों ! महात्मा नारदजीने मेरे पतिका अमुक दिन मरण होगा, ऐसा जो मुझसे कहा था, वह दिन आज ही आया था, इस कारण ही मैंने अपने पतिको वनमें अकेला नहीं जाने दिया किन्तु मैं उनके साथ वनमें गई थी॥ ३७ ॥ तहां लकड़ियें काटते काटते मेरे पतिके शिरमें दरद होने लगा, तब वह मेरी गोदीमें शिर रखकर सोगए, इतनेमें ही यमराज अपने दूतोंको लेकर तहां आये और मेरे पतिके देहमें से उसके अभिमानी जीवको कैद

स एनमनयद्बद्ध्वा दिशं पितृनिषेविताम् ॥ ३८ ॥ अस्तौषं तमहं देवं सत्येन वचसा विभुम् । पञ्च वै तेन मे दत्ता वराः शृणुत तन्मम ॥ ३९ ॥ चक्षुषी च स्वराज्यञ्च द्वौ वरौ श्वशुरस्य मे । लब्धं पितुः पुत्रशतं पुत्राणां चात्मनः शतम् ॥ ४० ॥ चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्त्ता लब्धश्च सत्यवान् । भर्त्तुर्हि जीवितार्थन्तु मया चीर्णन्त्विदं व्रतम् ॥ ४१ ॥ एतत् सर्वं मयाख्यातं कारणं विस्तरेण वः । यथावृत्तं सुखोदर्कमिदं दुःखं महन्मम ॥ ४२ ॥ ऋषय ऊचुः । निमज्ज्यमानं व्यसनैरभिद्रुतं कुलं नरेन्द्रस्य तमोमये ह्रदे । त्वया सुशीलव्रतपुण्यया कुलं समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ॥ ४३॥ मार्कण्डेय उवाच । तथा प्रशस्य ह्यभिपूज्य चव

करके उसको, जहां पितर रहते हैं उस दक्षिण दिशाकी ओरको लेकर चलदिये ॥३८॥ उस समय मैं खड़ी होकर व्यापक यमराज की सत्य वचनोंसे स्तुति करनेलगी तब उन्होंने मुझे पाँच वर दिये, वह वर मैं तुम्हे सुनाती हूं सुनो ॥ ३९ ॥ मेरे ससुरजीको नेत्रोंकी प्राप्ति तथा राज्यका लाभ ये दो वर, मेरे पिताको एक सौ पुत्रकी प्राप्ति तथा मुझे एक सौ पुत्रकी प्राप्ति ये दो वर और मेरे पतिकी चार वर्षकी आयु ये पांच वर मुझे यमराजसे मिले हैं, मेरे पति जीवित रहें, इस निमित्तसे ही मैंने ऐसे कठोर व्रतका आरंभ किया था, उस व्रतको करनेसे ही मैंने अपने पति सत्यवान्को पाया है ॥ ४० ॥ ४१ ॥ यह सब वृत्तान्त जैसे हुआ था तैसे ही सब मैंने आपके सामने कहकर सुनादिया है, यद्यपि इसमें मुझे बड़ा कष्ट उठाना पड़ा है, परन्तु इसको परिणाम बड़ा ही सुखदायक निकला है ॥ ४२ ॥ ऋषियोंने कहा, कि- हे पतिव्रते ! राजा द्युमत्सेनका दुखोंसे तिरस्कारको प्राप्त हुआ कुल दुःखरूपी अन्धकारसे भरे कुण्डमें डूबगया था, उत्तम, शील, व्रत तथा पुण्यवाले उच्चकुलमें उत्पन्न हुई तूने फिर इसका उद्धार करदिया है ॥ ४३ ॥ मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि-इसप्रकार इकट्ठे

न्वरस्त्रियं तामृषयः समागताः । नरेन्द्रमामंत्र्य सपुत्रमञ्जसा शिवेन जग्मुर्मुदिताः स्वमालयम् ॥ ४४ ॥ छ ॥ छ ॥
इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्यानेऽष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९८ ॥
मार्कण्डेय उवाच। तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते सूर्यमण्डले कृतपूर्वाह्णिकाः सर्वे समेयुस्ते तपोधनाः॥१॥ तदेव सर्वं सावित्र्या महाभाग्यं महर्षयः। द्युमत्सेनाय नातृप्यन् कथयन्तः पुनः पुनः ॥ २ ॥ ततः प्रकृतयः सर्वाः शाल्वेभ्योऽभ्यागता नृप। आचख्युर्निहतश्चैव स्वेनामात्येन तं द्विषम् ॥ ३ ॥ तं मन्त्रिणा हतं श्रुत्वा ससहायं सबान्धवम् । न्यवेदयन् यथावृत्तं विद्रुतं च द्विषद्बलम्

हुए ऋषियोंने कुलवती स्त्री सावित्रीकी प्रशंसा करके उसका सत्कार किया और फिर सब तपस्वी राजाकी तथा राजकुमार की आज्ञा लेकर प्रसन्न होतेहुए निर्विघ्नरूपसे शीघ्रताके साथ अपने २ घरोंको चलेगए ॥ ४४ ॥ दो सौ अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९८ ॥ छ ॥ छ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं, कि—हे राजन् युधिष्ठिर ! सब मुनि कुछ एक रात रहे घर जाकर सोरहे और थोड़ी देर पीछे रात्रि वीतजाने पर प्रभात होकर सूर्यमण्डलका उदय होते ही वे तप को धन माननेवाले सब महर्षि अपने २ प्रातःकालके कर्मसे निवट कर द्युमत्सेनके पास आये और सावित्रीका वही सब सौभाग्य राजा द्युमत्सेनके आगे वार वार कहनेलगे ॥१॥२॥ वे सावित्री की वातें वार२ कहने पर भी तृप्त नहीं हुए, हे राजन् ! इतने में ही दैवगतिसे शाल्वदेशकी राजसभाकी मण्डली द्युमत्सेनके पास आयी और राज्यमें जो कुछ हुआ था उसका वर्णन करते हुए कहने लगे, कि—हे महाराज ! अपने मंत्रीने राज्य छीन लेनेवाले शत्रु राजाको उसके सहायकोंका तथा उसके वान्धवोंको

॥ ४ ॥ ऐकमत्यञ्च सर्वस्य जनस्याथ नृपं प्रति। सचक्षुर्वाण्यचक्षुर्वा स नो राजा भवत्विति ॥ ५ ॥ अनेन निश्चयेनेह वयं प्रस्थापिता नृप। प्राप्तानीमानि यानानि चतुरंगं च ते बलम्। प्रयाहि राजन् भद्रन्ते घुष्टस्ते नगरे जयः। अध्यास्व चिररात्राय पितृपैतामहं पदम् ॥ ७ ॥ चक्षुष्मन्तञ्च तं दृष्ट्वा राजानं वपुषान्वितम् मूर्ध्ना निपतिताः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ८ ॥ ततोऽभिवाद्य तान् वृद्धान् द्विजानाश्रमवासिनः। तैश्चाभिपूजितः सर्वैः प्रययौ नगरं प्रति ॥९॥ शैव्या च सह सावित्र्या स्वास्तीर्णेन

मारडाला है, शत्रुकी सेना भागगई है और सब प्रजाने आपको राज्य पर वैठालनेके विषयमें एकमति होकर कहा है, कि-राजा द्युमत्सेन आंखोंसे देखसकते हों चाहे न देखसकते हों, परंतु ऐसा प्रयत्न करो, कि-वह हमारे राजा होजायँ॥४-५॥हेराजन्! इसप्रकार प्रजाका निश्चय होजाने पर हमें मंत्रियोंने भेजा है और आपके लिये ये वाहन और चतुरङ्गिणी सेना भी यहां आकर खड़ी हुई है ॥ ६ ॥ इसलिये हे राजन्! पधारिये आपका कल्याण हो, दरवारी लोगोंने नगरमें आपकी विजयका ढँढोरा पिटवादिया है इसलिये अब आप नगरमें पधारिये और चिरकालतक पिता तथा पितामहके राजसिंहासनपर विराजिये॥७॥इसप्रकार कहनेके अनन्तर दिव्य शरीरवाले राजा द्युमत्सेनको अन्धेपनसे छूटाहुआ देखकर आयेहुए राजदरवारके पुरुषोंके नेत्र आनन्दसे प्रफल्लित होगए और उन्होंने मस्तक झुकाकर राजाको प्रणाम किया॥८॥ तदनन्तर राजा द्युमत्सेन अपने नगरको जानेके लिये उद्यत हुआ उसने चलते समय उस आश्रममें रहनेवाले वृद्ध ब्राह्मणोंको प्रणाम किया तव उन सव वृद्ध ब्राह्मणोंने भी उस राजाका आदर किया,फिर राजा द्युमत्सेन वाहनमें वैठकर अपने नगरको चलागया॥९॥उस समय शैव्या और सावित्री भी सुन्दर दमकतेहुए विछौनेवाली पालकीमें वैठकर सेनासे घिरीहुई नगरकी ओर चल दीं और

च सुवर्चसा । नरयुक्तेन यानेन प्रययौ सेनया वृता ॥ १० ॥ततो-भिषिषिचुः प्रीत्या द्युमत्सेनं पुरोहिताः । पुत्रञ्चास्य महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ११ ॥ ततः कालेन महता सावित्र्या कीर्त्तिवर्धनम् । तद्वै पुत्रशतं जज्ञे शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ १२ ॥ भ्रातॄणां सोदराणाञ्च तथैवास्याभवच्छतम् । मद्राधिपस्याश्वपते-र्मालव्यां सुमहद्बलम् ॥ १३॥ एवमात्मा पिता माता श्वश्रूश्वशुर एव च भर्त्तुः कुलञ्च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात्समुद्धतम् ॥ १४॥ तथैवैषापि कल्याणी द्रौपदी शीलसम्मता । तारयिष्यति वः सर्वान् सावित्रीव कुलांगना ॥ १५ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवं स पाण्डवस्तेन अनुनीतो महात्मना । विशोको विज्वरो राजन् काम्यके न्यवसत्तदा ॥ १६ ॥ यश्चेदं शृणुयाद्भक्त्या सावित्र्या-

थोड़े ही समयमें सब नगरमें जापहुंचे ॥१०॥ नगरमें पहुंचने पर पुरोहितोंने राजाका राज्यपरे अभिषेक किया और उसके पुत्र महात्मा सत्यवान्का युवराजके पदपर अभिषेक किया ॥ ११ ॥ जब बहुतसा समय बीतगया तब सावित्रीके गर्भसे सत्यवान्के एक सौ वीरपुत्र उत्पन्न हुए, जो युद्धमें पीठ न दिखानेवाले और कुलकी कीर्त्तिको बढ़ानेवाले थे ॥ १२ ॥ और उधर मद्र देशके राजा अश्वपतिकी स्त्री मालवीके गर्भसे भी सावित्रीके सगे सौ भाई उत्पन्न हुए, वे भी बड़ेभारी बलवान् थे ॥ १३ ॥ इसप्रकार सावित्रीने अपना, पिताका, माताका, ससुरका, सासका तथा अ-पने पतिके सब कुलका दुःखसे उद्धार किया ॥ १४ ॥ ऐसी ही यह शीलवती कल्याणी द्रौपदी है, यह कुलवती सावित्रीकी समान आप सबोंका उद्धार करेगी ॥ १५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि हे राजन् ! इसप्रकार महात्मा मार्कण्डेयने युधिष्ठिरको समझाया तब वह शोक तथा सन्तापसे छूटकर काम्यक वनमें रहनेलगे ॥ १६ ॥ जो मनुष्य इस सावित्रीकी उत्तम कथाको भक्तिके साथ सुनता है, वह सुखी होता है, उसके सब मनोरथ सिद्ध होते हैं,

ख्यानमुत्तमम् । स सुखी सर्वसिद्धार्थो न दुःखं प्राप्नुयान्नरः १७

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६६ ॥

समाप्तञ्च पतिव्रतामाहात्म्यपर्व ॥

॥ अथ कुण्डलाहरणपर्व॥

जनमेजय उवाच । यत्तत्तदा महत् ब्रह्मन् लोमशो वाक्यमब्रवीत् इन्द्रस्य वचनादेव पाण्डुपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ यच्चापि ते भयं तीव्रं न च कीर्त्तयसे क्वचित् । तच्चाप्यपहरिष्यामि धनञ्जय इतो गते ॥ २ ॥ किन्तु तज्जयतां श्रेष्ठ कर्णं प्रति महद्भयम् । आसीन्न च स धर्मात्मा कथयामास कस्यचित्॥३॥ वैशम्पायन उवाच । अथ ते राजशार्दूल कथयामि कथामिमाम् । पृच्छतो भरतश्रेष्ठ शुश्रूषस्व गिरं मम ॥४॥ द्वादशे समतिक्रान्ते वर्षे प्राप्ते त्रयोदशे । पाण्डूनां

और उसको दुःख प्राप्त नहीं होता है ॥ १७ ॥ दो सौ निन्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २६६ ॥

॥ कुण्डलाहरणपर्व ॥

जनमेजय बूझते हैं, कि–हे विप्र वैशम्पायन ! पहिले इंद्रके कहनेसे लोमश ऋषिने पाण्डुके पुत्र राजा युधिष्ठिरके पास आकर उनसे कहा था, कि—हे युधिष्ठिर ! इन्द्रने तुमसे कहलाकर भेजा है, कि–तुम्हारे मनमें जो बड़ाभारी भय है, उस भयको तुम किसी के सामने कहते नहीं हो, परन्तु तुम्हारे उस भयको अर्जुनके स्वर्गमेंसे तुम्हारे पास आजाने पर मैं दूर करदूंगा, हे जप करने वालोंमें श्रेष्ठ ! युधिष्ठिरको कर्णके विषयका वह बड़ाभारी भय कौनसा था ? कि–जिस भयकी बात महात्मा युधिष्ठिर किसीके सामने नहीं कहते थे, उसको मुझसे कहो ॥ १–३ ॥ वैशम्पायनने उत्तर दिया, कि–हे राजाओंमें सिंहसमान, भरतवंशश्रेष्ठ जनमेजय ! तू मुझसे उस कथाका प्रश्न करता है, इसकारण वह कथा मैं तुझसे कहता हूं, तू मेरी वाणीको सुन ॥ ४ ॥ हे

हितकृच्छक्रः कर्णं भिक्षितुमुद्यतः ॥ ५ ॥ अभिप्रायमथो ज्ञात्वा महेन्द्रस्य विभावसुः । कुण्डलार्थे महाराज सूर्यः कर्णमुपागतः ॥६॥ महार्हे शयने वीरं स्पर्ध्यास्तरणसंवृते । शयानमतिविश्वस्तं ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ॥७॥ स्वप्नान्ते निशि राजेन्द्र दर्शयामास रश्मिवान् । कृपया परयाविष्टः पुत्रस्नेहाच्च भारत ।८। ब्राह्मणो वेदविद्भूत्वा सूर्यो योगर्धिरूपवान् । हितार्थमब्रवीत् कर्णं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ९ कर्ण मद्वचनं तात शृणु सत्यभृतां वर । ब्रुवतोऽद्य महाबाहो सौहृदात् परमं हितम् ॥ १० ॥ उपायास्यति शक्रस्त्वां पाण्डवानां हितेप्सया । ब्राह्मणच्छद्मना कर्ण कुण्डलोपजिहीर्षया ॥ ११ ॥ विदितं तेन शीलन्ते सर्वस्य जगतस्तथा ।

राजन् ! पाण्डवोंको वनमें गयेहुए बारह वर्ष बीतगए और तेरहवां वर्ष आरम्भहुआ तब पाण्डवोंका हित करनेवाला इन्द्र, कर्णके पासके कवच और कुण्डल मांगनेको तयार हुआ था।५। इन्द्रका यह अभिप्राय तेजस्वी सूर्यको मालूम होगया, तब कर्णके कुण्डलोंको इन्द्र हरकर न लेजाय, इस अभिप्रायसे वह कर्णके पास जानेको उद्यत हुए ॥ ६ ॥ हे भरतवंशी राजेन्द्र ! योगके प्रभावसे नाना प्रकारके रूपधारी भगवान् सूर्यने कर्णके पास जाते समय वेदवेत्ता ब्राह्मणका रूप धारण किया और रातमें एक उत्तम बिछौनेवाली बहुमूल्य शय्या पर सोतेहुए, परमविश्वासी, ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी कर्णके पासगये और परम दयालु हो पुत्रप्रेमसे स्वप्नमें दर्शन देकर उसके हितके लिये उसको समझाते हुए इसप्रकार कहनेलगे कि–हे तात कर्ण ! हे श्रेष्ठ सत्यवादी ! हे महाबाहो ! मित्रताके स्नेहके कारण आज मैं तुझसे तेरे परम हितकी जो बात कहता हूं, उसको तू सुन ॥७-१०॥ हे कर्ण ! इन्द्र, पाण्डवोंका हित करनेके लिये ब्राह्मणका कपटी रूप धारण करके तेरे पाससे कवच और कुंडलोंको छीनकर लेजानेकी इच्छासे आवेगा ॥ ११ ॥ क्योंकि–तेरा दाता स्वभाव

यथा त्वं भिक्षितः सद्भिर्ददास्येव न याचसे १२ त्वं हि तात ददास्येव ब्राह्मणेभ्यः प्रयाचितम्। वित्तं यच्चान्यदप्याहुर्न प्रत्याख्यासि कस्यचित् ॥ १३ ॥ त्वां तु चैवंविधं ज्ञात्वा स्वयं वै पाकशासनः। आगन्ता कुण्डलार्थाय कवचश्चैव भिक्षितुम् ॥ १४ ॥ तस्मै प्रयाचमानाय न देये कुण्डले त्वया। अनुनेयः परं शक्त्या श्रेय एतद्धि ते परम् ॥ १५ ॥ कुण्डलार्थेऽब्रुवंस्तात कारणैर्बहुभिस्त्वया। अन्यैर्बहुविधैर्वित्तैः स निवार्य्यः पुनः पुनः १६ रत्नैः स्त्रीभिस्तथा गोभिर्धनैर्बहुविधैरपि। निदर्शनैश्च बहुभिः कुण्डलेप्सुः पुरन्दरः ॥ १७ ॥ यदि दास्यसि कर्ण त्वं

उसको मालूम होगया है तथा इस बातको सब जगत् भी जानता है, कि-तेरे पास आकर सत्पुरुष जो कुछ मांगते हैं, उनको तू उनकी इच्छा के अनुसार वस्तु देता ही है, परन्तु तू किसीके भी पास जाकर याचना नहीं करता है॥ १२ ॥ हे तात ! ब्राह्मण तुझसे धन अथवा कोई दूसरी वस्तु मांगते हैं तो तू उनको वही वस्तु देता है और तू किसीको भी निषेध नहीं करताहै ॥१३॥ ऐसे तेरे दाताशनके स्वभावको जानकर इन्द्र स्वयं तेरे कवच और कुंडलोंकी भिक्षा मांगनेके लिये तेरे पास आनेवाला है ॥१४॥ इसलिये इंद्र तुझसे कुंडल माँगे तो भी तू उसको वह कुंडल न देना, किन्तु शक्तिके अनुसार दूसरी वस्तुएं देनेके लिये तू उसको समझाना, ऐसा करनेमें तेरा परमकल्याण है ॥ १५ ॥ हे तात ! जब इन्द्र तुझसे कुण्डल माँगे तो तू बहुतसे कारण बताकर तथा धन आदि और बहुतसी वस्तुएं देनेके लिये कह कर उसको कुंडलोंके मांगनेसे रोकना ॥१६॥ तू अनेकों प्रकार के रत्न, स्त्रियें, गौएं तथा धन आदि देकर और बहुतसे दृष्टान्त एवं युक्तियें दिखाकर कुंडल लेनेके लिये आयेहुए इन्द्रको बारं बार कुंडलोंकी याचना करनेसे रोकना ॥ १७ ॥ हे कर्ण ! यदि तू अपने जन्मके समय साथ ही उतपन्न हुए यह कल्याणकारी

सहजे कुण्डले शुभे। आयुषः प्रक्षयं गत्वा मृत्योर्वशमुपैष्यसि ॥ १८ ॥ कवचेन समायुक्तः कुण्डलाभ्याञ्च मानद। अवध्यस्त्वं रणेऽरीणामिति विद्धि वचो मम ॥ १९ ॥ अमृतादुत्थितं ह्येतदुभयं रत्नसम्भवम्। तस्माद्रक्ष्यं त्वया कर्ण जीवितं चेत् प्रियं तव ॥ २० ॥ कर्ण उवाच। को मामेवं भवान् प्राह दर्शयन् सौहृदं परम्। कामया भगवन् ब्रूहि को भवान् द्विजवेषधृत् ॥ २१ ॥ ब्राह्मण उवाच। अहं तात सहस्रांशुः सौहृदात्त्वां निदर्शये। कुरुष्वैतद्वचो मे त्वमेतच्छ्रेयः परं हि ते ॥ २२ ॥ कर्ण उवाच। श्रेय एव ममात्यंतं यस्य मे गोपतिः प्रभुः। प्रवक्ताद्य हितान्वेषी शृणु चेदं वचो मम ॥ २३ ॥ प्रसादये त्वां वरदं प्रणयाच्च

कुण्डल इन्द्रको देदेगा, तो तेरी आयु क्षीण होजायगी और तू मरण को प्राप्त होजायगा ॥ १८ ॥ हे मान देनेवाले कर्ण! तेरे पास जबतक कवच और कुण्डल रहेंगे तबतक शत्रु तुझे मार नहीं सकेगा, इस मेरी बातको तू याद रखना ॥१९॥ ये रत्नजड़े दोनों कुण्डल अमृतमेंसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये हे कर्ण! यदि तुझे प्राण प्यारे हों तो तू इन कुण्डलोंकी रक्षा करना ॥ २० ॥ कर्ण बोला, कि-आप मेरे ऊपर ऐसा बड़ाभारी प्रेम दिखाते हैं, कहिये आप कौन हैं? हे भगवन्! आप इच्छापूर्वक मुझसे कहिये कि-ब्राह्मणका रूप धारण करनेवाले आप कौन हैं? ॥ २१ ॥ ब्राह्मण बोला, कि-हे तात! मैं सूर्य हूं और तेरे ऊपर प्रेम होनेके कारण तुझे सच्ची संमति देता हूं, तू मेरे कहनेके अनुसार वर्त्ताव करेगा तो तेरा परम कल्याण होगा ॥ २२ ॥ कर्णने कहा, कि—आप सूर्यनारायण देव आज मेरा हित करनेकी इच्छा से मुझे संमति देरहे हो, इससे मेरा परमकल्याण हुआ है, परंतु आप मेरी बात सुनिये ॥ २३ ॥ वरदान देनेवाले आपको प्रसन्न करके मैं प्रेमपूर्वक कहता हूं कि—यदि मैं आपको प्यारा हूं तो

अर्थान्यहम् । न निवार्यो व्रतादस्मादहं यद्यस्मि ते प्रियः ॥२४॥ व्रतं वै मम लोकेऽमुं वेत्ति कृत्स्नं विभावसो । यथाहं द्विजमुख्येभ्यो दद्यां प्राणानपि ध्रुवम् ॥ २५ ॥ यद्यागच्छति मां शक्रो ब्राह्मणच्छद्मना वृतः । हितार्थं पांडुपुत्राणां खेचरोत्तम भिक्षितुम् २६ दास्यामि विबुधश्रेष्ठ कुण्डले वर्म चोत्तमम् । न मे कीर्त्तिः प्रणश्येत त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २७॥ मद्विधस्य यशस्यं हि न युक्तं प्राणरक्षणम् । युक्तं हि यशसा युक्तं मरणं लोकसम्मतम् ॥२८॥ सोऽहमिन्द्राय दास्यामि कुण्डले सह वर्मणा । यदि मां बलवृत्रघ्नो भिक्षार्थमुपयास्यति ॥ २६ ॥ हितार्थं पाण्डुपुत्राणां कुण्डले मे प्रयाचितुम् । तन्मे कीर्त्तिकरं लोके तस्याकीर्त्तिर्भविष्यति ॥ ३०॥ वृणोमि कीर्तिं लोके हि जीवितेनापि भानुमन् । कात्तिमानश्नुते

आप मुझे अपना व्रत पालनेसे न रोकिये ॥ २४ ॥ हे सूर्यदेव! मैं ब्राह्मणोंको अपने प्राण भी देदूं तो थोड़े हैं, इस मेरे पूर्ण व्रतको सारा संसार जानता है ॥ २५ ॥ हे देवश्रेष्ठ दिवाकर! इन्द्र ब्राह्मणका वेष धरकर पाण्डवोंके हितके लिये मेरे पास भिक्षा मांगनेको आवेगा ॥ २६ ॥ तो हे पण्डितोंमें श्रेष्ठ! मैं अपना कवच और दोनों कुण्डल उसको देदूँगा, कि—जिससे तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हुई मेरी कीर्त्ति नष्ट न होनेपावै ॥ २७॥ मुझसरीखे मनुष्योंको प्राणोंकी रक्षा करके अपयश लगालेना उचित नहीं है, किन्तु यश प्राप्त करतेहुए मरना ही उचित है और जगत्में मान्य गिनाजाता है॥२८॥इसलिये यदि बल और वृत्रका नाश करनेवाला इंद्र पाण्डुके पुत्रोंका हित करनेके लिये मेरे पास कवच और कुण्डल मांगनेको आवेगा तो मैं उसको अपने कुण्डल और कवच देदूँगा, ऐसा करनेसे जगत्में मेरा यश और उसका अपयश होगा ॥२६॥३०॥ हे सूर्य! मैं प्राण देकर भी कीर्त्तिको प्राप्त करना चाहता हूं, इसका कारण यह है, कि—कीर्त्तिमान्

स्वर्गं हीनकीर्त्तिस्तु नश्यति ॥ ३१ ॥ कीर्त्तिर्हि पुरुषं लोके सञ्जीवयति मातृवत् । अकीर्त्तिर्जीवितं हन्ति जीवतोऽपि शरीरिणः ॥ ३२ ॥ अयं पुराणः श्लोको हि स्वयं गीतो विभावसो। धात्रा लोकेश्वर यथा कीर्त्तिरायुर्नरस्य ह ॥ ३३ ॥ पुरुषस्य परे लोके कीर्त्तिरेव परायणम् । इह लोके विशुद्धा च कीर्त्तिरायुर्विवर्द्धिनी ॥ ३४ ॥ सोऽहं शरीरजे दत्त्वा कीर्त्तिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् । दत्त्वा च विधिवद्दानं ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ३५ ॥ हुत्वा शरीरं संग्रामे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् । विजित्य च परानाजौ यशः प्राप्स्यामि केवलम् ॥ ३६ ॥ भीतानामभयं दत्त्वा संग्रामे जीविता-थिनाम् । वृद्धान् बालान् द्विजातींश्च मोक्षयित्वा महाभयात् ॥३७॥ प्राप्स्यामि परमं लोके यशः स्वर्ग्यमनुत्तमम् । जीवितेनापि मे रक्ष्या

मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है और कीर्त्तिहीन पुरुष पृथ्वीपर पड़ा रहता है ॥ ३१ ॥ कीर्त्ति संसारमें मनुष्यको माताकी समान जीवन देती है और अपकीर्त्ति जीवित मनुष्यको भी माराहुआसा करदेती है ॥ ३२ ॥ हे लोकेश्वर दिवाकर ! यह श्लोक पुरातन है और स्वयं ब्रह्माजीका कहाहुआ है, शुद्ध कीर्त्ति इस लोकमें पुरुषकी परम आयु गिनीजाती है ॥ ३३ ॥ और कीर्त्ति ही परलोकमें पुरुषको श्रेष्ठ स्थान देनेवाली है, इसलिये मैं अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए कवच और दोनों कुण्डल देकर सनातन रहनेवाली कीर्त्तिको पाऊँगा इसके सिवाय मैं शास्त्रमें कहीहुई रीतिके अनुसार ब्राह्मणोंको दान देकर और युद्धरूपी अग्निमें अपने शरीरका होम करके महाभयानक कर्म करूँगा और युद्धमें शत्रुओंको जीतकर पूर्ण यश पाऊँगा ॥ ३४-३६ ॥ इसके सिवाय मैं संग्राममें जीवनकी प्रार्थना करनेवाले भयभीत पुरुषोंको अभय देकर तथा बूढ़े बालक और द्विजोंको महाभयमेंसे छुटाकर इस लोकमें स्वर्ग देनेवाले अनुपम श्रेष्ठ यशको पाऊँगा प्राण देकर

कीर्त्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम् ॥ ३८ ॥ सोऽहं दत्त्वा मघवते भिक्षामेतामनुत्तमाम् । ब्राह्मणच्छद्मिने देव लोके गन्ता परां गतिम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्य्यकर्ण-
संवादे त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०० ॥

सूर्य उवाच । माऽहितं कर्ण कार्षीस्त्वमात्मनः सुहृदां तथा । पुत्राणामथ भार्य्याणामथो मातुरथो पितुः ॥ १ ॥ शरीरस्याविरोधेन प्राणिनां प्राणभृद्वर । इष्यते यशसः प्राप्तिः कीर्त्तिश्च त्रिदिवे स्थिरा २ यस्त्वं प्राणविरोधेन कीर्त्तिमिच्छसि शाश्वतीम् सा ते प्राणान् समादाय गमिष्यति न संशयः॥३॥ जीवतां कुरुते कार्यम् पिता माता सुतस्तथा । ये चान्ये बांधवाः केचिल्लोकेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ॥४॥ राजानश्च नरव्याघ्र पौरुषेण निबोध तत् । कीर्त्तिश्च

भी कीर्त्तिकी रक्षा करना यह मेरा व्रत है,इसबातको आप जानलें ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ इसलिये हे आदित्यदेव ! मैं ब्राह्मणके वेशमें छुपेहुए इन्द्रको सबसे उत्तम प्रकारकी भिक्षा देकर इस लोकमें कीर्त्ति और परलोकमें श्रेष्ठ गति पाऊँगा ॥ ३९ ॥ तीनसौवां अध्याय समा ॥ ३०० ॥ छ ॥ छ ॥

सूर्य कहनेलगे, कि—हे कर्ण ! क्या तुम्है अपना, अपने पुत्रोंका, मित्रोंका, स्त्रीका, माताका तथा पिताका भी हित नहीं करना है ? ॥ १ ॥ हे मनुजेन्द्र ! जो मनुष्य शरीरकी रक्षा करते हुए जगत्में वर्त्ताव करते हैं उन मनुष्योंको यश मिलता है और शरीरका नाश करलेने पर स्वर्गमें अविचल कीर्त्ति रहती है ॥२॥ परन्तु तू जो प्राणोंका नाश करके सनातन कीर्त्ति पाना चाहता है वह कीर्त्ति तो उलटी तेरे प्राणोंका ही निःसंदेह नाश करदेगी ॥ ३ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस लोकमें माता, पिता, पुत्र तथा दूसरे सगे सम्बन्धी जीतेहुए मनुष्योंसे अनेकों प्रकारके लाभ उठाते हैं परन्तु मरेहुए मनुष्यसे तो किसी प्रकारका भी लाभ नहीं उठा सकते ॥ ४ ॥ तथा हे नरव्याघ्र ! राजे भी पुरुषार्थसे जीवित

जीवतः साध्वी पुरुपस्य महाद्युते ॥५॥ मृतस्य कीर्त्या किं कार्यं भस्मीभूतस्य देहिनः । मृतः कीर्तिं न जानीते जीवन् कीर्त्तिं समश्नुते ॥६॥ मृतस्य कीर्त्तिर्मर्त्यस्य यथा माला गतायुपः । अहन्तु त्वां ब्रवीम्येतद्भक्तोऽसीति हितेप्सया ।७। भक्तिमन्तो हि मे रक्ष्या इत्येतेनापि हेतुना । भक्तोऽयं परया भक्त्या मामित्येव महाभुज॥८॥ममापि भक्तिरुत्पन्ना स त्वं कुरु वचो मम ।अस्ति चात्र परं किञ्चिदध्यात्मं दैवनिर्मितम् । अतश्च त्वां ब्रवीम्येतत् क्रियतामविशङ्कया॥९॥देवगुह्यं त्वया ज्ञातुं न शक्यं पुरुपर्पभ । तस्मान्नाख्यामि

मजाके कार्य करसकते हैं, इस वातका तू अपने मनमें विचार कर और हे महाकान्तिवाले कर्ण ! पुरुष जीवित होता है तो उसकी कीर्तिभी शोभा पाती है ॥ ५ ॥ परन्तु जो मनुष्य मरगया और जिसका शरीर भस्म होगया उसको कीर्त्तिकी क्या आवश्यकता है ? जो मरगया वह अपनी कीर्त्तिको नहीं जानता किन्तु जो जीवित होता है वह ही कीर्त्तिको भोग सकता है ॥ ६ ॥ जैसे मरेहुए मनुष्यको फूलोंकी माला पहरादो तो उसकी शोभा व्यर्थ होती है तैसे ही मरेहुए मनुष्यकी कीर्त्ति भी व्यर्थ होजाती है, तू मेरा भक्त है इसलिये तेरा हित करनेकी इच्छासे मैं तुझसे यह वात कहता हूं ॥ ७॥ हे महाभुज कर्ण ! जो भक्त परमभक्ति के साथ मेरी सेवा करता है, इत्यादि कारणोंसे भी मुझे अपने भक्तिमान् भक्तोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ८ ॥ इसकारण मेरे मनमें भी तेरे ऊपर भक्ति उत्पन्न होगई है,अतः मैं तुझसे कहने को आया हूं, सो तू मेरे कहनेको मानले और इस विपयमें कुछ देवरचित आध्यात्मिक विपय भी समाया हुआ है, इसलिये मैं तुझसे कहता हूं, कि-तू मेरे कहनेको निःशङ्क होकर कर ॥ ९ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! तू देवताओंकी गुप्त वातको नहीं जानसकता है, इसलिये मैं तुझसे छिपीहुई वात नहीं कहता हूं, तो भी तू समय

ते गुह्यं काले वेत्स्यति तद्भवान् १० पुनरुक्तश्च वक्ष्यामि त्वं राधेय निबोध तत् । मास्मै ते कुण्डलेऽदास्त्वं भिक्षिते वज्रपाणिना ॥ ११॥ शोभसे कुण्डलाभ्यां च रुचिराभ्यां महाद्युते। विशाखयोर्मध्यगतः शशीव विमले दिवि ॥ १२ ॥ कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्येति विद्धि तत् । प्रत्याख्येयस्त्वया तात कुण्डलार्थे सुरेश्वरः ॥ १३ ॥ शक्या बहुविधैर्वाक्यैः कुण्डलेप्सा त्वयानघ । विहन्तुं देवराजस्य हेतुयुक्तैः पुनः पुनः ॥ १४ ॥ हेतुमदुपपन्नार्थैर्माधुर्यकृतभूषणैः । पुरन्दरस्य कर्ण त्वं बुद्धिमेतामपानुद ॥१५॥ त्वं हि नित्यं नरव्याघ्र स्पर्धसे सव्यसाचिना । सव्यसाची त्वया चेह युधि शूरः समेष्यति ॥ १६ ॥ न तु त्वामर्जुनः शक्तः कुण्डलाभ्यां समन्वि-

---

पर इस बातको जानसकेगा ॥ १० ॥ हे महाकान्तिवाले कर्ण ! निर्मल आकाशमें दो विशाखा नक्षत्रोंके मध्यमें विराजमान चन्द्रमा की समान तू इन दोनों कुण्डलोंसे शोभा पारहा है ॥ ११ ॥ हे राधाके पुत्र कर्ण ! मैं फिर भी तुझसे जो कुछ कहता हूं उसको तू सुन, कि इन्द्र कुण्डलोंकी भिक्षा मांगे तो भी तू उसको कुण्डल न देना ॥ १२ ॥ तू जान रख, कि—पुरुष जीता रहता है तो उसकी कीर्त्ति शोभा पाती है, इसलिये तू इन्द्रसे कुण्डलोंके लिये स्पष्ट निषेध करदेना ॥ १३ ॥ और हे निर्दोष कर्ण! तू बारम्बार कारणभरे अनेकों वाक्य कहकर इन्द्रकी जो कुण्डल लेनेकी इच्छा है उस इच्छाका नाश करना॥१४॥हे कर्ण ! तू युक्तिभरे, सच्चे प्रतीत होनेवाले, मीठे और जिनके कहनेमें शोभा हो ऐसे वचन कहकर इन्द्रकी कुण्डल लेनेकी बुद्धिमें उलटफेर करदेना ॥ १६ ॥ हे नरव्याघ्र ! तू निरन्तर अर्जुनके साथ युद्ध करने की स्पर्धा किया करता है, इसकारण वीर अर्जुन रणभूमिमें तेरे साथ युद्ध करनेको चढ़कर आवेगा ॥ १६ ॥ परन्तु उस समय यदि तेरे शरीरपर जन्मकालमें शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कवच और कुण्डल होंगे तो अर्जुन अथवा उसका सखा स्वयं इन्द्र

तम् । विजेतुं युधि यद्यस्य स्वयमिन्द्रः सखा भवेत् १७ तस्मान्न देये शक्राय त्वयैते कुण्डले शुभे । संग्रामे यदि निर्जेतुं कर्ण कामयसेऽर्जुनम् ॥ १८ ॥　　छ　　॥　　छ　　॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि सूर्य्यकर्णसंवादे एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०१ ॥

कर्ण उवाच । भगवन्तमहं भक्तो यथा मां वेत्थ गोपते । तथा परमतिग्मांशो नास्त्यदेयं कथञ्चन ॥ १ ॥ न मे दारा न मे पुत्रा न चात्मा सुहृदो न च । तथेष्टा वै सदा भक्त्या यथा त्वं गोपते मम २ इष्टानां च महात्मानो भक्तानाञ्च न संशयः । कुर्वन्ति भक्तिमिष्टाञ्च जानीषे त्वञ्च भास्कर ॥ ३ ॥ इष्टो भक्तश्च मे कर्णो न चान्यद्दैवतं दिवि । जानीत इति वै कृत्वा भगवानाह मद्धितम्

भी युद्धमें तुझे नहीं जीत सकेगा ॥ १७ ॥ इसलिये हे कर्ण ! युद्धमें यदि अर्जुनको जीतना चाहता है तो ये कल्याणकारी कवच और कुंडल इन्द्रको न देना ॥ १८ ॥ तीनसौ एकवां अध्याय समाप्त ॥ ३०१ ॥　　छ　　॥　　छ　　॥

कर्णने कहाकि—हे आदित्य ! आप मुझे जानते हैं तैसा ही मैं आपका भक्त हूं तैसे ही हे तीक्ष्ण किरणोंवाले दिवाकर ! मेरी किसीप्रकार की कोई भी वस्तु अदेय नहीं है ॥ १ ॥ हे सूर्य ! मैं जिसप्रकार निरन्तर आपकी भक्ति करता हूं और तुम मुझे जैसे प्यारे हो तैसी मुझे स्त्री भी प्यारी नहीं है, पुत्र, अपना आत्मा तथा मित्र भी तैसे प्यारे नहीं हैं ॥ २ ॥ हे भास्कर ! महात्मा भी अपने अभीष्ट भक्तोंके ऊपर निरन्तर प्रेम करते हैं, इस बात को भी मैं जानता हूं और इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है ॥ ३ ॥ पृथ्वीपर कर्ण ही मेरा बड़ाभारी भक्त है और मेरा परम देवता है उसके सिवाय दूसरा मेरा उपास्य देव नहीं है, ऐसा जानकर तुम मुझसे मेरे हितकी जो बात कहने आये हो और

॥ ४ ॥ भूयश्च शिरसा याचे प्रसाद्य च पुनः पुनः । इति नर्दोगि तिग्मांशो त्वन्तु मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ५ ॥ बिभेमि न तथा मृत्योर्यथा बिभ्येऽनृतादहम् । विशेषेण द्विजातीनां सर्वेषां सर्वदा सताम् ॥ ६॥ प्रदाने जीवितस्यापि न मेऽत्रास्ति विचारणा । यच्च मामात्थ देव त्वं पाण्डवं फाल्गुनं प्रति ७ व्येतु सन्तापजं दुःखं तव भास्कर मानसम् । अर्जुनं प्रति माञ्चैव विजेष्यामि रणेऽर्जुनम् ८ तवापि विदितं देव ममाप्यस्त्रबलम्महत् । जामदग्न्यादुपात्तं यत् तथा द्रोणान्महात्मनः ॥ ९ ॥ इदम् त्वमनुजानीहि सुरश्रेष्ठ व्रतं मम । भिक्षते वज्रिणे दद्यामपि जीवितमात्मनः ॥ १० ॥ सूर्य उवाच । यदि तात ददास्येते वज्रिणे कुण्डले शुभे

कहते हो ॥ ४ ॥ उसके लिये मैं आपको शिर नवाकर प्रणाम करता हूं और वारंवार आपको प्रसन्न करके आपसे यही मांगता हूं, कि—हे तीक्ष्ण किरणोंवाले सूर्यदेव ! आप मेरे अपराधको क्षमा करना ॥ ५ ॥ हे महाराज ! मैं असत्यभाषणसे जितना डरता हूं उतना मृत्युसे भी नहीं डरता और विशेष विनय यह है, कि—सकल श्रेष्ठ और सद्गुणी ब्राह्मणोंको मैं अपने प्राण देते समय भी कुछ विचार नहीं करता हूं, हे देव ! आपने पांडु-पुत्र अर्जुनके विषयमें मुझसे यह बात कही, कि—॥ ६ ॥ ७ ॥ वह तेरा पराजय करदेगा, परन्तु हे भास्कर ! इस विषयका आप का सन्तापजनित दुःख दूर हो, मैं रणभूमिमें अर्जुनको जीतूंगा ही ॥ ८ ॥ हे देव ! आप जानते हैं, कि-मैंने परशुरामजीसे और महात्मा द्रोणाचार्यजीसे जो अस्त्रविद्याका ज्ञान पाया है वह अस्त्र बल मेरे पास बहुत बड़ा है ॥ ९ ॥ और देवश्रेष्ठ ! मेरा यह एक व्रत भी आपको जानलेना चाहिये, कि—इन्द्र मेरे पास आकर प्राणों की भी भिक्षा मांगेगा तो मैं उसको अपने प्राण भी देदूँगा ॥ १० ॥ सूर्यने कहा, कि—हे तात कर्ण ! तू इन्द्रको अपने सुन्दर कुंडल और कवच देय तो तू भी महाबली इन्द्रसे अपनी विजयके लिये

त्वमप्येनमथो ब्रूया विजयार्थे महाबलम् ॥ ११ ॥ नियमेन प्रदद्यां ते कुंडले वै शतक्रतो। अवध्यो ह्यसि भूतानां कुंडलाभ्यां समन्वितः ॥ १२ ॥ अर्जुनेन विनाशं हि तव दानवसूदनः। प्रार्थयानो रणे वत्स कुण्डले ते जिहीर्षति ॥१३॥स त्वमप्येनमाराध्य सूनृताभिः पुनः पुनः। अभ्यर्थयेथा देवेशममोघार्थं पुरन्दरम् १४ अमोघां देहि मे शक्तिममित्रविनिर्हिणीम् । दास्यामि ते सहस्राक्ष कुंडले वर्म चोत्तरम् ॥१५ ॥ इत्येव नियमेन त्वं दद्याः शक्राय कुण्डले। तया त्वं कर्ण संग्रामे हनिष्यसि रणे रिपून् ॥ १६ ॥ नाहत्वा हि महाबाहो शत्रूनेति करं पुनः। सा शक्तिर्देवराजस्य शतशोऽथ सहस्रशः१७ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा सहस्रांशुः

प्रार्थना करना, कि-॥ ११ ॥ हे इंद्र! तुम मेरे पास कुंडल माँगनेको आये हो, परन्तु मैं एक बातका ठहराव करके आपको अपने कुंडल देता हूं, ऐसा कहना, क्योंकि—इन कुंडलोंके कारण ही प्राणी तुझे मार नहीं सकते हैं॥१२॥और इसकारण हीं अर्जुनने रणभूमिमें तेरा नाश करनेकी इच्छासे इन्द्रसे प्रार्थना की है, इसीसे इन्द्र तेरे दोनों कुंडल और कवच हरलेना चाहता है ॥ १३ ॥ अतः तू भी सुंदर और मधुर वाणीसे वारम्वार इन्द्रको प्रसन्न करके, कृतकृत्य हुए पुरन्दर इन्द्रसे इच्छित वस्तु की प्रार्थना करताहुआ कहना, कि—हे सहस्राक्ष! तुम मुझे शत्रुओंका नाश करनेवाली अमोघ शक्ति दो और मैं उसके वदले आपको उत्तम कवच और कुंडल देता हूं ॥ १४ ॥ १५ ॥ इसप्रकार परस्पर ठहराव होजाय तब इन्द्रको कवच और कुण्डल देना, क्योंकि—हे कर्ण! तू उस शक्तिसे रणमें शत्रुओंका संहार करेगा॥ १६ ॥ हे महाबाहु कर्ण! इंद्रकी शक्ति वड़ी वलवती है वह सहस्रों और सैकड़ों वैरियोंका नाश किये विना छोडनेवाले के हाथमें लौटकर नहीं आती है ॥ १७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय! ऐसा कहकर सहस्रों किरणोंवाले आदित्य

सहसांतरधीयत । ततः सूर्याय जप्यांते कर्णः स्वप्नं न्यवेदयत् १८ यथा दृष्टं यथातत्वं यथोक्तमुभयोर्निशि । तत्सर्वमानुपूर्व्येण शशंसास्मै वृषस्तदा ॥ १६ ॥ तच्छ्रुत्वा भगवान् देवो भानुः स्वर्भानुसूदनः । उवाच तं तथेत्येव कर्णं सूर्य्यः स्मयन्निव २० ततस्तत्वमिति ज्ञात्वा राधेयः परवीरहा ॥ शक्तिमेवाभिकांक्षन्वै वासवं प्रत्यपालयत् ॥ २१ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्ण-सम्वादे ऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

जनमेजय उवाच । किं तद्गुह्यं न चाख्यातं कर्णायेहोष्णरश्मिना । कीदृशे कुण्डले ते च कवचश्चैव कीदृशम् ॥ १ ॥ कुतश्च कवचं तस्य कुंडले चैव सत्तम । एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि तपोधन । २ ।

देव एकायकी अन्तर्धान होगए, तदनन्तर कर्ण जागा और उस ने स्नान करके जप करनेके अनन्तर सूर्यके समाने अपने स्वप्नकी बात निवेदनकी ॥ १८ ॥ उस रात्रिमें कर्ण और सूर्यका जिस प्रकार परस्पर दर्शन और संभाषण हुआ था सो सब कर्णने यथावत् क्रमसे सूर्यके सामने निवेदन किया ॥ १६ ॥ राहुका दमन करनेवाले भगवान् आदित्यदेव कर्णकी बातको सुनकर मन्दहास्य करके बोले, कि—ठीक है, तेरी कहीहुई ये सब बातें स्वप्नरूप नहीं हैं किंतु सत्य हैं ॥ २० ॥ सूर्यके कहनेसे राधानन्दन कर्णने भी मनमें जाना, कि—यह बात सत्य है, इसकारण इंद्रसे शक्ति लेना चाहता हुआ वह इंद्रकी बाट देखनेलगा ॥ २१ ॥ तीनसौ दोवां अध्याय समाप्त ॥ ३०२ ॥ छ ॥

जनमेजयने प्रश्न किया, कि—हे मुनियोंमें श्रेष्ठ तपोधन वैशम्पायन ! सूर्यने कर्णसे कहा था, कि—मैं तुझसे गुप्त बात नहीं कहूंगा, क्योंकि—उस बातको तो देवता भी नहीं जानते हैं, सो वह गुप्तबात क्या थी? और वे कवच कुण्डल कैसे थे और उसको कहाँ से मिले थे यह मैं सुनना चाहता हूं, मुझसे कहिये ॥ १ ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच । अथ राजन् ब्रवीम्येतत्तस्य गुह्यं विभावसोः । यादृशे कुण्डले ते च कवचञ्चैव यादृशम् ३ कुन्तिभोजं पुरा राजन् ब्राह्मणः पर्युपस्थितः । तिग्मतेजा महाप्रांशुः श्मश्रुदण्डजटाधरः ॥ ४ ॥ दर्शनीयोऽनवद्याङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव । मधुपिंगो मधुरवाक् तपःस्वाध्यायभूषणः ॥ ५ ॥ स राजानं कुन्तिभोजम ब्रवीद् सुमहातपाः । भिक्षामिच्छामि वै भोक्तुं तव गेहे विमत्सरः ।६। न मे व्यलीकं कर्त्तव्यं त्वया वा तव चानुगैः । एवं वत्स्यामि ते गेहे यदि ते रोचतेऽनघ ॥७॥यथाकामञ्च गच्छेयमागच्छेयं तथैव च। शय्यासने च मे राजन्नापराध्येत कश्चन॥८॥तमब्रवीत् कुन्ति-

वैशंपायन कहते हैं हे राजन्! मैं तुझसे सूर्यकी गुप्त बात अब कहता हूं तथा कवच और कुंडलोंका स्वरूप और उनका आना भी तुझसे कहता हूं, सुन ॥३॥ हे राजन्! पहिले कोई एक दुर्वासा नामके महातेजस्वी ब्राह्मण एक समय कुन्तीभोज राजाके पास जाकर खड़ेहुए, यह ब्राह्मणदेव शरीरमें वड़े ऊँचे और वड़ी २ जटा तथा डाढ़ीमूछोंवाले थे, हाथमें दंड था और उनका रूप वड़ा दर्शनीय था, किसी अङ्गमें किसीप्रकारकी कमी नहीं थी तेज दमदमा रहा था, शहदकी समान पीले वर्णके थे, उनकी वाणीमें मिठास था और तपस्या में तथा वेदके अध्ययनमें नित्य तत्पर रहते थे ॥ ४ ॥ ५ ॥ उन महातपस्वी ब्राह्मणने राजा कुन्तीभोजसे कहा कि–हे मत्सरता रहित राजन्! मैं तेरे घर भिक्षा मांगनेको आया हूं और उससे ही अपना निर्वाह करनेकी इच्छा रखता हूं ॥ ६ ॥ परन्तु हे निर्दोष राजन्! मैं तेरे घर पर एक वर्ष पर्यन्त रहूंगा उस समय तक तू या तेरे मनुष्य मेरा अपराध न करें, यह वात यदि तुझे रुचै तो मैं तेरे यहां रहनेको प्रसन्न हूँ ॥ ७ ॥ मैं तेरे घरसे जव जीमें आवेगा वाहर जाऊँगा तथा जव जी चाहेगा तव आऊँगा इसमें मुझे किसी प्रकारकी वाधा न पड़े तथा हे राजन्! किसी

भोजः प्रीतियुक्तमिदं वचः।एवमस्तु परञ्चेति पुनश्चैनमथाब्रवीत् ९ मम कन्या महाप्राज्ञ पृथा नाम यशस्विनी । शीलवृत्तान्विता साध्वी नियता चैव भाविनी ॥ १० ॥ उपस्थास्यति सा त्वां वै पूजयानवमन्य च । तस्याश्च शीलवृत्तेन तुष्टिं समुपयास्यसि ॥ ११ ॥ एवमुक्त्वा तु तं विप्रमभिपूज्य यथाविधि । उवाच कन्यामभ्येत्य पृथां पृथुललोचनाम् १२ अयं वत्से महाभागो ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति । मम गेहे मया चास्य तथेत्येवं प्रतिश्रुतम् ॥ १३ ॥ त्वयि वत्से पराश्वस्य ब्राह्मणस्याभिराधनम् । तन्मे वाक्यममिथ्या त्वं कर्त्तुमर्हसि कर्हिचित् ॥ १४ ॥ अयं तपस्वी भगवान् स्वाध्यायनि-

---

भी मनुष्यको, मैं अपने बिस्तर पर बैठा होऊँ उस समय अथवा आसन पर बैठा होऊँ उस समय मेरा अपराध नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥ दुर्वासाकी इस बातको सुनकर राजा कुन्तीभोजने प्रेमके साथ कहा, कि-हे महाराज ! सब बात आपकी इच्छाके अनुसार ही होजायगी, ऐसा कहकर उसने तपस्वीसे फिर कहा, कि-॥९॥ हे महाबुद्धिमान् मुने ! मेरी तपस्विनी पुत्री पृथा है, वह सुशीला सदाचारवती, भक्तिमती और नियमसे वर्त्ताव करनेवाली है, वह नित्य आदरके साथ आपकी सेवा करेगी और आप उसके शील तथा सदाचारसे सन्तोष पावेंगे ॥ १० ॥ ११ ॥ इसप्रकार कहकर विधिपूर्वक उस ब्राह्मणकी सेवा करी और घरमें ठहरादिया, तदनन्तर अपनी पुत्री विशालनयना पृथाके पास आकर राजाने कहा कि-॥ १२ ॥ हे महाभाग बेटी ! यह महाभाग्यशाली ब्राह्मण हमारे घर रहना चाहता है और मैंने भी तेरे ऊपर पूरा २ भरोसा रखकर इस महात्मा ब्राह्मणकी सेवा करनेकी प्रतिज्ञा करली है, और इन महाराजके कहनेको मानलिया है, इसलिये मेरी बात वृथा न जाय,ऐसा तू कभी न करना,इतना ही मुझे तुझसे कहना है ॥ १३ ॥ १४ ॥ यह भगवान् मुनि महाराज नित्य स्वाध्यायमें तत्पर रहते हैं, इसलिये यह महामुनि जो २ वस्तु मांगें वह२वस्तु

यतो द्विजः । यद्यद् ब्रूयान्महातेजास्तत्तद्देयममत्सरात् ॥ १५ ॥ ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः । ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते ॥ १६ ॥ अमानयन् हि मानार्हान् वातापिश्च महासुरः । निहतो ब्रह्मदण्डेन तालजंघस्तथैव च ।१७। सोऽयं वत्से महाभाग आहितस्त्वयि साम्प्रतम् । त्वं सदा नियता कुर्या ब्राह्मणस्याभिराधनम् १८ जानामि प्रणिधानन्ते बाल्यात् प्रभृति नंदिनि । ब्राह्मणेष्विह सर्वेषु गुरुबन्धुषु चैव ह ॥ १९ ॥ यथा प्रेष्येषु सर्वेषु मित्रसम्बन्धिमातृषु । मयि चैव यथावत्त्वं सर्वमाहृत्य वर्तसे ॥ २० ॥ न ह्यतुष्टो जनोऽस्तीह पुरे चान्तःपुरे च ते । सम्यग्वृत्त्यानवद्याङ्गि तव भृत्यजनेष्वपि ॥ २१ ॥ सन्देष्टव्यान्तु मन्ये त्वां द्विजातिं कोपनं प्रति । पृथे बालेति कृत्वा वै सुता

तू इनके पास विना अनखनाये लाकर पहुंचाना ॥ १५ ॥ क्योंकि—ब्राह्मण परमतेज हैं, ब्राह्मण परमतेजकी मूर्त्ति हैं, ब्राह्मणोंको प्रणाम करनेसे ही सूर्यदेव भी प्रकाशित होते हैं ॥ १६ ॥ सन्मान करनेयोग्य ब्राह्मणोंका अपमान करनेके कारण वातापी नामका महाभारी असुर तथा तालजंघ नामवाला महाअसुर ब्राह्मणके शापसे मरणको प्राप्त हुआ था ॥ १७ ॥ इसलिये हे बेटी ! अब यह सेवारूपी बड़ाभारी भार तेरे ही हाथमें सौंपता हूं, अतः तू नित्य नियमसे इस तपस्वी ब्राह्मणकी सेवा किया करना ॥१८॥ हे बेटा ! तू बालकपनसे ही ब्राह्मणोंकी, गुरुजनोंकी, बन्धुवर्गकी, सब सेवकोंकी, मित्रोंकी, संबंधियोंकी, माताओंकी, और मेरी इस प्रकार सबकी यथायोग्य रीतिसे मनको एकाग्र करके सेवा करती है, इस बातको मैं जानता हूं ॥ १९ ॥ २० ॥ हे निर्दोष अङ्गोंवाली पुत्री ! तेरे उत्तम प्रकारके व्यवहारसे इस नगरमें वा रणवासमें कोई भी मनुष्य अप्रसन्न नहीं रहता है ॥ २१ ॥ हे पृथा ! तू अवस्थामें छोटी है और मेरी पुत्री है, यह विचार कर मैं इस क्रोधी ब्राह्मणकी सेवाके विषयमें तुझे उपदेश देना

चासि ममेति च ॥ २२ ॥ वृष्णीनाञ्च कुले जाता शूरस्य दयिता सुता । दत्ता प्रीतिमता मह्यं पित्रा वाला पुरा स्वयम् ॥ २३ ॥ वसुदेवस्य भगिनी सुतानां प्रवरा मम । अग्रयमग्रे प्रतिज्ञाय तेनासि दुहिता मम ॥२४ ॥ तादृशे हि कुले जाता कुले चैव विवर्धिता । सुखात् सुखमनुप्राप्ता हृदात् हृदमिवागता २५ दौष्कुलेया विशेषेण कथञ्चित् प्रगृहं गताः । वालभावाद्विकुर्वन्ति प्रायशः प्रमदाः शुभे ॥२६॥ पृथे राजकुले जन्म रूपञ्चापि तवाद्भुतम् । तेन तेनासि सम्पन्ना समुपेता च भाविनी ॥ २७ ॥ सा त्वं दर्पं परित्यज्य दम्मानञ्च भाविनि आराध्य वरदं विप्रं श्रेयसा योक्ष्यसे पृथे ॥ २८ ॥

उचित समझता हूं, उसको सुन ॥ २२ ॥ तू वृष्णिवंशमें उतपन्न हुई है, शूर नामके यादवकी प्यारी पुत्री है और तेरे पिताने प्रसन्न होकर पहिले मुझे पुत्रीरूपसे अर्पण करदी थी ॥ २३ ॥ तू वसुदेवकी वहिन लगती है और अपनी पुत्रियोंमें मैंने तुझे बड़ी पुत्री गिना है, तेरे जन्मसे पहिले शूरने मुझसे प्रतिज्ञा की थी, कि-मेरी पहिली सन्तान होगी वह मैं तुम्हे देदूंगा और उस प्रतिज्ञा के अनुसार उसने तू मुझे सौंपदी है, इसकारण तू मेरी पुत्री होती है इसप्रकार तू एक बड़े कुलमें उत्पन्न हुई है और दूसरे बड़े कुलमें पलकर वड़ी हुई है और जैसे कमल एक सरोवरमेंसे दूसरे सरोवरमें जाय तैसे ही तू भी एक सुखी घरमेंसे दूसरे सुखी घरमें आयी है ॥ २५ ॥ हे कल्याणी ! दुष्कुलमें उत्पन्न हुई स्त्रियें अंकुशमें रक्खाजाने पर भी प्रायः बालकपनके कारण दूषित काम करडालती हैं॥ २६ ॥ परन्तु हे पृथा ! तू तो राजकुलमें उत्पन्न हुई है, तेरा रूप भी राजकुलके योग्य तथा आश्चर्यमें डालनेवाला है और तू स्त्रियोंको शोभा देनेवाले सकलगुणोंसे युक्त तथा चतुर है ॥ २७ ॥ इसकारण हे वेटी ! तू गर्व, दम्भ तथा अभिमानको त्यागकर इस वरदाता ब्राह्मणकी सेवाकर, ऐसा करने पर तुझे

एवं प्राप्स्यसि कल्याणि कल्याणमनघे ध्रुवम् । कोपिते च द्विजश्रेष्ठे कृत्स्नं दह्येत मे कुलम् ॥ २९ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथोपदेशो त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

कुन्त्युवाच । ब्राह्मणं यन्त्रिता राजन्नुपस्थास्यामि पूजया । यथाप्रतिज्ञं राजेन्द्र न च मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥ एष चैव स्वभावो मे पूजयेयं द्विजानिति । तव चैव प्रियं कार्य्यं श्रेयश्च परमं मम ॥ २ ॥ यद्यैवेष्यति सायान्हे यदि प्रातरथो निशि । यद्यर्धरात्रे भगवान्न मे कोपं करिष्यति ॥ ३ ॥ लाभो ममैष राजेन्द्र यद्वै पूजयती द्विजान् । आदेशे तव तिष्ठन्ती हितं कुर्य्यान्नरोत्तम ॥ ४ ॥ विश्रब्धो भव राजेन्द्र न व्यलीकं द्विजोत्तमः । वसन् प्राप्स्यति

अवश्य ही कल्याणकी प्राप्ति होगी ॥ २८ ॥ हे निर्दोष स्त्री ! हे कल्याणी ! तू मेरे कहनेके अनुसार करेगी तो अवश्य ही तेरा भला होगा, परन्तु यह श्रेष्ठ ब्राह्मण यदि कोपायमान होगये तो मेरा सब कुल भस्म होजायगा ॥ २९ ॥ तीनसौ तीनवां अध्याय समाप्त ॥ ३०३ ॥ छ ॥ छ ॥

कुन्तीने कहा; कि-हे राजेंद्र ! मैं आपकी प्रतिज्ञाके अनुसार नियम धारण करके नानाप्रकारकी पूजा करती हुई इन ब्राह्मण की आराधना करूंगी, यह बात मैं आपके सामने मिथ्या नहीं कहती हूं ॥ १ ॥ ब्राह्मणोंकी सेवा करना तो मेरा अपना स्वभाव ही है और आपका हित करना मेरा परम कल्याण करनेवाला है, इस बातको मैं समझती हूं ॥ २ ॥ भगवान् तपोधन भले ही सायङ्कालको आवें, चाहे प्रातःकालके समय आवें, चाहे रातमें आवें और चाहे आधी रातके समय आवें, हरएक समय में इनकी ऐसी सेवा करूंगी, कि-जिससे यह तपोधन मेरे ऊपर कोप नहीं करेंगे ॥३॥ हे राजेन्द्र ! हे नरोत्तम! मैं आपकी आज्ञामें रहकर ब्राह्मणों का पूजन करूँ तथा आपका हित किया करूँ यह मुझे बडाभारी लाभ है ॥ ४ ॥ हे राजेन्द्र ! आप मेरे ऊपर विश्वास रखिये,

ते गेहे सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥ यत् प्रियश्च द्विजस्यास्य हितञ्चैव तवानघ । यतिष्यामि तथा राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ६ ॥ ब्राह्मणा हि महाभागाः पूजिताः पृथिवीपते । तारणाय समर्थाः स्युर्विपरीते वधाय च ॥ ७ ॥ साहमेतद्विजानन्ती तोषयिष्ये द्विजोत्तमम् । न मत्कृते व्यथां राजन् प्राप्स्यसि द्विजसत्तमात् ॥ ८ ॥ अपराधेऽपि राजेन्द्र राज्ञामश्रेयसं द्विजाः । भवन्ति च्यवनो यद्वत् सुकन्यायाः कृते पुरा ॥ ९ ॥ नियमेन परेणाहमुपस्थास्ये द्विजोत्तमम् । यथा त्वया नरेन्द्रेदं भाषितं ब्राह्मणं मयि ॥ १० ॥ एवं ब्रुवन्तीं बहुशः परिष्वज्य समर्थ्य च । इति चेति च

क्योंकि-मैं आपसे सत्य कहती हूं, कि-यह श्रेष्ठ ब्राह्मण आपके घरमें रहकर जरा भी अप्रसन्न नहीं होंगे ॥ ५ ॥ हे निर्दोष राजन् ! इन ब्राह्मणको जो बात अच्छी लगती होगी और जिस प्रकार आपका हित होगा तैसा ही करनेका मैं उद्योग करूंगी इसलिये आपके मनमेंसे इस विषयका सन्देह दूर हो ॥ ६ ॥ हे भूपाल ! हे महाभाग ! ब्राह्मणोंकी यदि भले प्रकार सेवा की हो तो वे पार करदेते हैं और यदि उनका अपमान किया हो तो वे नाश भी करसकते हैं ॥ ७ ॥ इस बातको मैं जानती ही हूं, इस कारण मैं इन श्रेष्ठ ब्राह्मणको प्रसन्न ही करूंगी, हे राजन् ! मेरी उपेक्षा (लापरवाही) के कारण इस श्रेष्ठ ब्राह्मणसे आपका अहित नहीं होगा ॥ ८ ॥ हे राजेंद्र ! राज्यके मनुष्य ब्राह्मणों का अपराध करते हैं तो भी ब्राह्मण राजाओंका अनिष्ट करते हैं, पहिले सुकन्याके अपराधसे च्यवन ऋषि उसके पिताके ऊपर क्रोधित हुए थे, यह बात मुझे मालूम है ॥ ९ ॥ अतः हे नरेंद्र ! आपने मुझसे जैसा कहा है मैं तिसीप्रकार उत्तम नियमोंका पालन करके इन श्रेष्ठ मुनिराजकी सेवामें रहूंगी ॥ १० ॥ इसप्रकार कहती हुई कुन्तीको राजा कुन्तीभोजने वार २ हृदयसे लगाया और फिर उसको उत्साह देकर जो २ काम करनेका था वह सब

कर्त्तव्यं राजा सर्वमथादिशत् ॥ ११ ॥ राजोवाच । एवमेतत्त्वया भद्रे कर्त्तव्यमविशंकया । मद्धितार्थं तथात्मार्थं कुलार्थञ्चाप्यनिन्दिते ॥ १२ ॥ एवमुक्त्वा तु तां कन्यां कुन्तिभोजो महायशाः । पृथां परिददौ तस्मै द्विजाय द्विजवत्सलः ॥ १३ ॥ इयं ब्रह्मन् मम सुता बाला सुखविवर्द्धिता । अपराध्येत यत् किञ्चिन्न कार्यं हृदि तत्त्वया ॥ १४ ॥ द्विजातयो महाभाग वृद्धबालतपस्विषु । भवन्त्यक्रोधनाः प्रायो ह्यपराद्धेषु नित्यदा ॥ १५ ॥ सुमहत्यपराधेऽपि क्षान्तिः कार्या द्विजातिभिः । यथाशक्ति यथोत्साहं पूजा ग्राह्या द्विजोत्तम ॥ १६ ॥ तथेति ब्राह्मणेनोक्ते स राजा प्रीतमानसः हंसचन्द्रांशुसंकाशं गृहमस्मै न्यवेदयत् ॥ १७ ॥ तत्राग्निशरणे

उसको समझादिया ॥ ११ ॥ राजाने उपदेश देतेहुए कहा, कि-हे कल्याणी! हे बेटी! तुझे मेरे और अपने हितके लिये मेरे कहने के अनुसार निःशङ्क होकर इनकी सेवा करना चाहिये ॥ १२ ॥ महायशस्वी कुन्तिभोजने इसप्रकार अपनी कन्याको उपदेश दिया और फिर ब्राह्मणोंपर भक्ति रखनेवाले उस राजाने वह कन्या दुर्वासा मुनिको सौंपदी और सौंपते समय उनसे कहा, कि— ॥ १३ ॥ हे मुनिजी ! यह मेरी पुत्री छोटी उमरकी है और सुखमें पली है, इसलिये किसी समय इससे आपका अपराध बनजाय तो उसको अपने मनमें न लाना ॥ १४ ॥ क्योंकि—महाभाग्यवाले ब्राह्मण प्रायः वृद्ध, बालक और तपस्वी कोई बड़ाभारी अपराध करें तो भी उनके ऊपर कभी क्रोध नहीं करते हैं, ॥१५॥ ब्राह्मणोंको चाहिये कि—कोई बड़ाभारी अपराध करै तो भी उसके ऊपर क्षमा करैं, अतः हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! आप मेरी शक्तिके अनुसार पूजाको ग्रहण करैं ॥ १६ ॥ यह सुनकर ब्राह्मणने कहा, कि-बहुत अच्छा यह सुनकर राजा मनमें बड़ा प्रसन्न हुआ, फिर हंस और चन्द्रमाकी किरणोंकी समान श्वेत भवन उन मुनिको रहनेके लिये सौंपा ॥१७॥ और अग्निशालामें उन मुनिके लिये

क्लृप्तमासनं तस्य भानुमत् । आहारादि च सर्वं तत् तथैव प्रत्यवेदयत् ॥१८॥ निक्षिप्य राजपुत्री तु तन्द्रीं मानं तथैव च । आतस्थे परमं यत्नं ब्राह्मणस्याभिराधने ॥ १९ ॥ तत्र सा ब्राह्मणं गत्वा पृथा शौचपरा सती । विधिवत् परिचारार्हं देववत् पर्यतोपयत् ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाद्विजपरिचर्यायां चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

वैशम्पायन उवाच । सा तु कन्या महाराज ब्राह्मणं संशितव्रतम् । तोषयामास शुद्धेन मनसा संशितव्रता ॥ १ ॥ प्रातरेष्याम्यथेत्युक्त्वा कदाचिद् द्विजसत्तमः । तत आयाति राजेन्द्र सायं रात्रावथो पुनः ॥२॥ तञ्च सर्वासु वेलासु भोज्यभोज्यप्रतिश्रयैः ।

एक तेजस्वी आसन विछाया तथा भोजन आदि सब वस्तुएं भी उनको तिसीप्रकार निवेदन कीगई ॥ १८ ॥ और राजकन्या पृथा भी आलस्य और अभिमानको छोडकर उन ब्राह्मणकी सेवा करने के लिये बड़ा यत्न करनेलगी ॥ १९ ॥ शौच और सदाचारसे रहनेवाली साध्वी पृथा अग्निशालामें पूजा करनेयोग्य उन ब्राह्मण के पास जाकर देवताकी समान सेवा करके उनको विधिपूर्वक सन्तुष्ट करती थी ॥ २० ॥ तीनसौचारवां अध्याय समाप्त ३०४

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजन् ! जनमेजय ! तदनन्तर सराहना करनेयोग्य आचरण करनेवाली उस कन्याने शुद्ध अन्तःकरणसे उन उत्तमव्रतधारी ब्राह्मणकी सेवा करके उनको बहुत कुछ प्रसन्न करलिया ॥ १ ॥ हे राजेन्द्र ! वह तपस्वी महाराज किसीदिन कहते कि-मैं प्रातःकालको आऊंगा परन्तु वह सायङ्कालको वा रातमें ही अचानक आपहुंचते थे ॥ २ ॥ परन्तु वह कन्या सब समय उत्तम २ भक्ष्य भोज्य आदि नानाप्रकारके भोजनके पदार्थोंसे तथा उत्तम २ शय्या, आसन आदि वस्तुओंसे

पूजयामास सा कन्या वर्द्धमानैस्तु सर्वदा ॥ ३ ॥ अन्नादिसमुदाचारः शय्यासनकृतस्तथा। दिवसे दिवसे तस्य वर्धते न तु हीयते ॥ ४ ॥ निर्भर्त्सनापवादैश्च तथैवाप्रियया गिरा। ब्राह्मणस्य पृथा राजन् न चकाराप्रियन्तदा ॥ ५ ॥ व्यस्ते काले पुनश्चैति न चैति वहुशो द्विजः सुदुर्लभमपि ह्यन्नं दीयतामिति सोऽब्रवीत् ।६। कृतमेव च तत्सर्वं पृथा तस्मै न्यवेदयत्। शिष्यवत् पुत्रवच्चैव स्वसृवच्च सुसंयता॥ ७॥ यथोपजोषं राजेन्द्र द्विजातिप्रवरस्य सा प्रीतिमुत्पादयामास कन्यारत्नमनिन्दिता ॥ ८ ॥ तस्यास्तु शीलवृत्तेन तुतोष द्विजसत्तमः। अवधाने च भूयोऽस्या परं यत्नमथा-

---

निरन्तर उनकी सेवा करती थी ॥३॥ दिन प्रतिदिन अन्न आदि में तथा शयन आसन आदिके सत्कारमें उन मुनिको वृद्धि ही मालूम होती थी, कमी कुछ भी देखनेमें नहीं आती थीं ॥ ४ ॥ हे राजन् ! वह ब्राह्मण किसी दिन उस कन्याको ललकारते, कभी उसके भोजनकी निंदा आदि करते और कभी अप्रिय वाणी भी कहते थे, परंतु इससे कुंती किसी समय भी मुनिको अप्रिय लगनेवाला कोई काम नहीं करती थी ॥ ५ ॥ वह ब्राह्मण कभी अनिश्चित (वेसानगुमानके) समय आकर खड़े होजाते थे और कभी वहुत दिनोंतक आते ही नहीं थे और किसी समय वड़ी कठिनाईसे मिलनेवाला भोजन मांगते थे॥ ६ ॥ परंतु उस समय वह सव मानो तयार ही कररक्खा हो,इसप्रकार उन मुनिको वह कन्या निवेदन करती थी और शिष्यकी समान पुत्रकी समान तथा वहिनकी समान उनकी सेवामें तत्पर रहती थी ७ हे राजेंद्र! वह निर्दोष रत्नरूपा कन्या इसप्रकार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणके चित्तके अनुकूल सव काम करके उनको प्रसन्न करनेलगीं ॥ ८ ॥ वह श्रेष्ठ ब्राह्मणभी उस कन्याकी शम दम आदिक सेवा तथा एकनिष्ठाको देखकर प्रसन्न होगए और समाधिके समय, इस कन्याका कल्याण किसप्रकार हो, इस वातका प्रयत्न करके

करोत् ॥६ ॥ तां प्रभाते च सायञ्च पिता पप्रच्छ भारत। अपि तुष्यति ते पुत्रि ब्राह्मणः परिचर्यया ॥ १० ॥ तं सा परममित्येव प्रत्युवाच यशस्विनी । ततः प्रीतिमवापाग्र्यां कुन्तिभोजो महामनाः ॥ ११॥ ततः सम्वत्सरे पूर्णे यदासौ जपताम्वरः। नापश्यद्दुष्कृतं किञ्चित् पृथायाः सौहृदे रतः ॥ १२॥ ततः प्रीतमना भूत्वा स एनां ब्राह्मणोऽब्रवीत् । प्रीतोऽस्मि परमं भद्रे परिचारेण ते शुभे॥१३॥ वरान् वृणीष्व कल्याणि दुरापान्मानुषैरिह । यैस्त्वं सीमन्तिनीः सर्वा यशसाभिभविष्यसि ॥ १४ ॥ कुन्त्युवाच । कृतानि मम सर्वाणि यस्या मे वेदवित्तम । त्वं प्रसन्नः पिता चैव कृतं विप्रवरैर्मम ॥१५॥

विचार करनेलगे ॥ ६ ॥ हे भारत ! पृथाके पिता भी सायङ्काल और प्रातःकालके समय उससे पूछा करते थे, कि-हे वेटी ! तेरी सेवासे यह ब्राह्मणदेवता प्रसन्न तो रहते हैं? ॥ १० ॥ यह सुन कर यशस्विनी कुन्ती अपने पिताको उत्तर देती थी, कि-हां मेरी सेवासे श्रेष्ठ ब्राह्मण परम प्रसन्न रहते हैं,यह सुनकर उदार स्वभाव वाले कुन्तिभोजको परम आनंद प्राप्त हुआ ॥ ११ ॥ इसप्रकार एक वर्ष वीतगया, परंतु जप करनेमें श्रेष्ठ और कुंती के ऊपर स्नेह करनेमें परायण उन ब्राह्मणने जव कुंतीमें किसी प्रकार का दोष नहीं देखा तव उन्होंने मनमें प्रसन्न होतेहुए कुंतीसे कहा, कि हे कल्याणी ! हे भाग्यवती पुत्री ! मैं तेरी सेवासे वहुत ही प्रसन्न हुआ हूं ॥ १२ ॥ १३ ॥ इसलिये हे कल्याणी ! इस लोकमें मनुष्योंको न मिलसकनेवाले वरदान मांगले, कि-जिन वरदानोंके प्रभावसे तेरा यश वढ़ेगा और उस यशसे तू सव सौभाग्यवती स्त्रियोंको दवालेगी ॥ १४ ॥ कुंती वोली, कि-हे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ मुनिराज ! तुम तथा मेरे पिता मेरे ऊपर प्रसन्न हुए, मैं समझती हूं कि-इससे ही मेरे सव काम सफल होगए, हे ब्राह्मण ! मुझे वरदानोंकी कुछ आवश्यकता नहीं है ॥ १५ ॥ यह सुनकर वह ब्राह्मण वोले, कि-हे भद्रे !

ब्राह्मण उवाच। यदि नेच्छसि मत्तस्त्वं वरं भद्रे शुचिस्मिते। इमं मंत्रं गृहाण त्वमाह्वानाय दिवौकसाम् ॥ १६ ॥ यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि। तेन तेन वशे भद्रे स्थातव्यन्ते भविष्यति ॥ १७ ॥ अकामो वा सकामो वा स समेष्यति ते वशे। विबुधो मन्त्रसंशांतो भवेद्भृत्य इवानतः ॥ १८ ॥ वैशम्पायन उवाच। न शशाक द्वितीयं सा प्रत्याख्यातुमनिन्दिता। तं वै द्विजातिप्रवरं तदा शापभयान्नृप ॥ १९ ॥ ततस्तामनवद्याङ्गीं ग्राहयामास स द्विजः। मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ॥ २० ॥ तं प्रदाय तु राजेन्द्र कुंतिभोजमुवाच ह। उषितोऽस्मि सुखं राजन् कन्यया परितोषितः ॥ २१ ॥ तव गेहेषु विहितः सदा सुमतिपूजितः

हे पवित्र हास्यवाली ! तुझे मुझसे वर लेनेकी चाहना न हो तो तू देवताओंको बुलानेके लिये मुझसे मंत्रको सीखले ॥ १६ ॥ हे भद्रे ! मेरे दियेहुए मंत्रको पढ़कर तू जिस२ देवताको बुलावेगी, उस २ ही देवताको तेरे वशमें होना पड़ेगा ॥ १७ ॥ देवताको आनेकी इच्छा हो चाहे न हो वह तेरे मंत्रसे शांत हो सेवककी समान तेरे सामने आकर नम्रताके साथ तेरे वशमें होजायगा १८ वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे जनमेजय ! पवित्र चरित्रवाली उस कन्याने पहिले तो वरलेने को ना करदी थी, परंतु उस ब्राह्मण ने जब दूसरी बार वर लेनेको कहा तब शापके डरसे वह उस ब्राह्मणसे वरदानके विषयमें निषेध नहीं करसकी ॥ १९ ॥ तब उस ब्राह्मणने अथर्ववेदके शिरोभागमेंके मंत्रका उस निर्दोष अङ्गोंवाली कन्याको उपदेश दिया ॥ २० ॥ और हे राजेंद्र ! फिर उस ब्राह्मणने राजा कुन्तिभोजसे कहा, कि–हे राजन् ! मैं तेरे घर पर आनंदसे रहा हूं और तेरी पुत्रीने सेवा करके मुझे सब प्रकारसे संतुष्ट किया है ॥ २१ ॥ तेरे घरमें मेरी बडी उत्तमतासे पूजा हुई इसलिये मैं तृप्त होगया हूं,अब मैं अपने स्थानको जाऊँगा

साधयिष्यामहे तावदित्युक्त्वान्तर्धीयत ॥ २२ ॥ स तु राजा द्विजं दृष्ट्वा तत्रैवान्तर्हितं तदा । वभूव विस्मयाविष्टः पृथाञ्च समपूजयत् २३

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथामंत्रप्राप्तौ पंचाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०५ ॥

वैशम्पायन उवाच । गते तस्मिन् द्विजश्रेष्ठ कस्मिंश्चित्कारणान्तरे । चिंतयामास सा कन्या मंत्रग्रामवलावलम् ॥ १ ॥ अयं वै कीदृश-स्तेन मम दत्तो महात्मना । मंत्रग्रामो वलं तस्य ज्ञास्ये नातिचिरादिति ॥ २ ॥ एवं सञ्चिंतयंती सा ददर्शर्त्तुं यदृच्छया । व्रीडिता साभवद्वाला कन्याभावे रजस्वला ॥ ३ ॥ ततो हर्म्यतलस्था सा महार्हशयनोचिता । प्राच्यां दिशि समुद्यंतं ददर्शादित्यमंडलम् ॥ ४ ॥ तत्र

ऐसा कहकर वह श्रेष्ठ ब्राह्मण देवता उसी समय तहाँ ही अंतर्धान होगए ॥ २२ ॥ उस ब्राह्मणको तहां ही उसी समय अंतर्धान हुआ देखकर राजा कुन्तिभोजने अपने मनमें वडा आश्चर्य माना और उसने पृथाका वडा ही सन्मान किया ॥ २३ ॥ तीनसौ पांचवां अध्याय समाप्त ॥ ३०५ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि- हे जनमेजय ! वह ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ तपोधन महाराज़ किसी कार्यवश तहांसे चलेगए तब वह कन्या ब्राह्मणके दिये मंत्रोंके वलावलका विचार करनेलगी ॥ १ ॥ उन महात्माने मुझे जो मन्त्र दिये हैं, वे मन्त्र न जाने कैसे होंगे ? तथा उनका पराक्रम कैसा होगा, इसकी परीक्षा मैं थोड़े ही समय में करना चाहती हूं ॥ २ ॥ वह कन्या इसप्रकार विचारकर रही थी, उसीसमय दैववश उस कन्याको रजोदर्शन हुआ, अपनेको वालक अवस्थामें रजोदर्शन हुआ देखकर पृथा लज्जित होगई ॥ ३ ॥ और रजोदर्शन वीतजाने पर वड़ी ही उत्तम शय्याके विषै शयन करने योग्य वह कन्या एक समय राजमहलकी छतपर खड़ी थी, इतनेमें ही उसको पूर्वदिशामें उदय होता हुआ सूर्यमंडल दीखा ॥ ४ ॥ उसको देखते ही सुन्दर कटिवाली उस कन्याका मन

वद्धमनोदृष्टिरभवत् सा सुमध्यमा । न चातप्यत रूपेण भानोः संध्यागतस्य सा ॥ ५ ॥ तस्यादृष्टिरभूद्दिव्या सा पश्यद्दिव्यदर्शनम् । आमुक्तकवचं देवं कुण्डलाभ्यां विभूषितम् ॥ ६ ॥ तस्या कौतूहलं त्वासीन्मंत्रं प्रति नराधिप । आह्वानमकरोत् साथ तस्य देवस्य भामिनी ७ प्राणानुपस्पृश्य तदा ह्याजुहाव दिवाकरम् । आजगाम ततो राजंस्त्वरमाणो दिवाकरः ८ मधुपिङ्गो महाबाहुः कम्बुग्रीवो हसन्निव । अङ्गदीबद्धमुकुटो दिशः प्रज्वालयन्निव ॥ ९ । योगात् कृत्वा द्विधात्मानमाजगाम तताप च । आबभाषे ततः कुन्तीं साम्ना परमवल्गुना ॥ १० ॥ आगतोऽस्मि वशं भद्रे तव मन्त्रबलात् कृतः

तथा दृष्टि उस सूर्यमंडलके ऊपर आसक्त होगये, उस समय सूर्य नारायण पृथ्वीकी धुरीमें से बाहर निकल रहे थे, इसलिये उन के रूपसे कुन्तीको ताप नहीं लगा ॥ ५ ॥ सूर्यमंडलको देखते समय कुन्तीकी दृष्टि दिव्य बनगई और उसने दिव्यरूपधारी, कवच पहिरे तथा दो कुण्डलोंसे शोभायमान सूर्यदेवके दर्शन किये ॥ ६ ॥ इसी समय हे राजन् ! उस सुन्दरीके मनमें ब्राह्मण के दिये हुए मंत्रके बलाबलकी परीक्षा करनेकी इच्छा हुई, इस कारण उस कन्याने विधिपूर्वक आचमन और प्राणायाम करके मन्त्र पढ़ते हुए सूर्यदेवका आवाहन किया, कि–हे राजन् ! दिवा कर सूर्यनारायण तत्काल ही कुन्तीके पास आगए ॥ ७ ॥ ८ ॥ उनके शरीरका वर्ण शहदकी समान पीला, बाहु विशाल, कण्ठ शंखका समान और मुखकी आकृति हँसती हुईसी थी, वह हाथों में बाजूबन्द और माथे पर मुकुट धारण किये हुए थे और मानो दिशाओंको जलाये देती हो ऐसी दमदमाती हुई कान्तिसे दिप रहे थे ॥ ९ ॥ आदित्यदेव, उस समय योगविद्याके बलसे अपने शरीरके दो भाग करके एक भागसे सकल संसारको तपानेलगे और दूसरे भागसे पृथाके पास आकर परमकोमल शान्तिभरी वाणीमें उससे कहने लगे कि ॥ १० ॥ हे भद्रे ! तेरे मंत्रके बल

किं करोमि वशो राज्ञि ब्रूहि कर्त्ता तदस्मि ते ॥ ११ ॥ कुन्त्युवाच । गम्यतां भगवंस्तत्र यत एवागतो ह्यसि । कौतूहलात् समाहूतः प्रसीद भगवन्निति ॥ १२ ॥ सूर्य उवाच । गमिष्येऽहं यथा मा त्वं ब्रवीषि तनुमध्यमे । न तु देवं समाहूय न्याय्यं प्रेषयितुं वृथा ॥१३॥ तवाभिसंधिः सुभगे सूर्य्यात् पुत्रो भवेदिति । वीर्येणाप्रतिमो लोके कवची कुंडलीति च ॥ १४ ॥ सा त्वमात्मप्रदानं वै कुरुष्व गजगामिनि । उत्पत्स्यति हि पुत्रस्ते यथासङ्कल्पमङ्गने ॥ १५ ॥ अथगच्छाम्यहं भद्रे त्वया सङ्गम्य सुस्मिते । यदि त्वं वचनं नाद्य करिष्यसि मम प्रियम् ॥ १६ ॥ शपिष्ये त्वामहं क्रुद्धो ब्राह्मणं पितरञ्च ते । त्वत्कृते तान् प्रधक्ष्यामि सर्वानपि न संशयः ॥१७॥ पितरं

से मैं तेरे वशमें होगया हूं, इसलिये बता क्या करूँ ? तू मुझसे जो कुछ कहै मैं वही करनेको तयार हूं॥११॥ कुन्तीने कहा, कि–हे भगवन् ! आप जहां से पधारे हैं तहां को ही लौट जाइये, हे भगवन् ! मैंने तो कुतूहलकी समान आपको बुलालिया था, इसलिये हे भगवन् ! मेरे ऊपर कृपा करो ।। १२ ॥ यह सुनकर भास्करने कहा कि–हे पतली कमरवाली स्त्री ! तू मुझसे जानेको कहती है सो मैं चला तो जाऊँगा, परन्तु देवताको बुलाकर उसको निष्फल पीछेको लौटादेना यह उचित नहीं है ॥ १३ ॥ हे सौभाग्यवती ! तेरे मनमें इच्छा थी, कि–मेरे सूर्यसे जगत्में अनुपम बली, कवच और कुण्डलधारी पुत्र होय, सो ठीक है, इस कारण हे गजगामिनी ! मैं तेरे पास आया हूं, अतः तू अपना शरीर मुझै अर्पण कर, हे अङ्गना ! तेरे सङ्कल्पके अनुसार ही तुझै पुत्र प्राप्त होगा ॥ १४ ॥ १५ ॥ हे सुन्दर हास्यवाली शुभ स्त्री ! मैं तेरे साथ समागम करके जाऊँगा, समागम किये विना नहीं जाऊँगा, और आज यदि तू मेरा कहना नहीं मानेगी तथा मेरी इच्छा पूरी नहीं करेगी तो मैं क्रोधमें भरकर तुझै तेरे पिताको और दुर्वासाको शाप दूंगा, और तेरे अपराधके कारण इन सबोंको जलाकर भस्म करडालूंगा, इसमें तू जरा सन्देह न समझना १६।१७

चैव तें मूढं यो न वेत्ति तवानयम् । तस्य च ब्राह्मणस्याद्य योऽसौ मंत्रमदात्तव॥१८॥ शीलवृत्तमविज्ञाय धास्यामि विनयं परम् । एते हि विबुधाः सर्वे पुरंदरमुखा दिवि ॥१९॥ त्वया मलब्धं पश्यंति स्मयन्त इव भाविनि । पश्य चैतान् सुरगणान् दिव्यश्चक्षुरिदं हि ते पूर्वमेव मया दत्तं दृष्टवत्यसि येन माम् ॥ २०॥ वैशम्पायन उवाच । ततोऽपश्यत्त्रिदशान् राजपुत्री सर्वानेव स्वेषु धिष्ण्येषु खस्थान् । प्रभासन्तं भानुमंतं महान्तं यथादित्यं रोचमानांस्तथैव च ॥२१ ॥ स तान् दृष्ट्वा व्रीडमानेव वाला सूर्य्यं देवी वचनं प्राह भीता गच्छ त्वं वै गोपते स्वं विमानं कन्याभावाद्दुःख एषोपचारः॥२२॥पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये देहस्यास्या प्रभवन्ति प्रदाने नाहं धर्मं लोपयि-

तेरा मूर्ख पिता जो तेरे विनयहीन मनको नहीं जानता है उसको जलाकर भस्म करडालूंगा और तेरे शील तथा सदाचारको जाने विना जिसने तुझे मंत्रका उपदेश दिया है, उस ब्राह्मणको भी मैं पूरा २ दण्ड दूँगा क्योंकि–हे स्त्री ! ये इंद्र आदि सव देवता जो आकाशमें खड़े हैं वे तेरी ठगाईमें आयेहुए मुझको देखकर हँस रहे हैं, मैंने तुझे पहिलेसे ही दिव्यदृष्टि दी है, कि–जिस दिव्य दृष्टिसे तूने मुझे देखा था, उस ही दिव्यदृष्टिसे देख कि—ये देवता मेरी हँसी कररहे हैं ॥ १८–२० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे जनमेजय ! यह सुनकर राजपुत्री अपने २ लोकोंमें विद्यामान सव देवताओंको दिव्यदृष्टिसे देखनेलगी, वे सव देवता किरणोंवाले कान्तिमान् आदित्यदेवकी समान ही अत्यन्त दिप-रहे थे ॥ २१ ॥ उनको देखकर वालक अवस्थावाली कुंती भय-भीत होगई, और लजातीहुईसी सूर्य नारायणसे विनय करनेलगी कि–किरणोंके स्वामी!हे भास्कर! आप अपने विमानमें बैठकर अपने लोकको पधारो, मैंने वालभावसे आपका अपराध किया है, उसको क्षमा करो ॥ २२ ॥ मेरे माता पिता तथा दूसरे गुरुजन मेरे इस शरीरके स्वामी हैं. वे ही मेरे शरीरका दान करसकते हैं, अतः मैं

प्यामि लोके स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा ॥ २३ ॥ मया मन्त्रबलं ज्ञातुमाहूतस्त्वं विभावसो । बाल्याद्बालेति तत् कृत्वा क्षन्तुमर्हसि मे विभो ॥ २४ ॥ सूर्योवाच । बालेति कृत्वानुनयम् तवाहम् ददानि नान्यानुनयं लभेत । आत्मप्रदानं कुरु कुन्तिकन्ये शांतिस्तवैव हि भवेच्च भीरु ॥ २५ ॥ न चापि गन्तुयुक्तं हि मया मिथ्याकृतेन वै । असमेत्य त्वया भीरु मन्त्राहूतेन भाविनि ॥ २६ ॥ गमिष्याम्यनवद्याङ्गि लोके समवहास्यताम् । सर्वेषां विबुधानां च वक्तव्यः स्यां तथा शुभे ॥ २७ ॥ सा त्वं मया समागच्छ पुत्रं लप्स्यसि मादृशम् । विशिष्टा सर्वलोकेषु भविष्यसि न संशयः ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथासूर्याह्वाने षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०६ ॥

अपने धर्मका नाश नहीं करूँगी, इस जगत्में अपने शरीरकी पवित्रताको बनाये रखना, यही स्त्रियोंका सदाचार गिनाजाता है और इससे ही स्त्री जगत्में पूजाजाती है ॥ २३ ॥ हे भास्कर ! मैंने मूर्खतासे मंत्रके बलकी परीक्षा करनेके लिये आपको बुलालिया था, परंतु हे विभो । आपको बालक जानकर मेरे ऊपर कृपा करनी चाहिये ॥ २४ ॥ सूर्यने कहा, कि—तू बालक है, यह जानकर ही मैं तेरी विनयको स्वीकार करता हूं, परंतु दूसरी स्त्रीकी विनयको मैं स्वीकार नहीं करता, हे डरपोक कुमारी कुन्ती ! तू मुझे अपना शरीर दे तो तुझे शांति मिलेगी ॥ २५ ॥ हे डरपोक स्त्री ! तूने मंत्र पढ़कर मुझे बुलाया है, इसकारण मैं तेरे पास आया हूं अतः तेरे साथ समागम किये विना वृथा लौटजाना, यह मुझे उचित नहीं मालूम होता ॥ २६ ॥ हे कल्याणी और निर्दोष शरीरवाली स्त्री ! यदि मैं यहांसे निष्फल चलाजाऊंगा तो मेरी हँसी होगी और सब देवता मेरी निंदा करेंगे ॥ २७ ॥ इसकारण तू मेरे साथ समागम कर, मेरे साथ समागम करनेसे तेरे मुझसा तेजस्वी पुत्रहोगा और सब लोकोंमें तेरी श्रेष्ठ कीर्त्ति फैलेगी इस बातको तू निश्चय मान ॥ २८ ॥ तीनसौ छः वां अध्याय समाप्त ॥ ३०६ ॥ छ ॥

वैशम्पायन उवाच । सा तु कन्या बहुविधं ब्रुवंती मधुरं वचः। अनुनेतुं सहस्रांशुं न शशाक मनस्विनी ॥ १ ॥ न शशाक यदा बाला प्रत्याख्यातुं तमोनुदम् । भीता शापात्ततो राजन् दध्यौ दीर्घमथांतरम् २ अनागसः पितुः शापो ब्राह्मणस्य तथैव च । मन्निमित्तः कथं न स्यात् क्रुद्धादस्माद्विभावसोः ॥ ३ ॥ बालेनापि सता मोहाद्भृशं पापकृतान्यपि। नाभ्यासादयितव्यानि तेजांसि च तपांसि च ॥ ४ ॥ साऽहमद्य भृशं भीता गृहीतवा चकरे भृशम् । कथन्त्वकार्यं कुर्यां प्रदानं ह्यात्मनः स्वयम् ॥ ५ ॥ वैशम्पायन उवाच । सा वै शापपरित्रस्ता बहु चिंतयती हृदा । मोहेनाभिपरीतांगी स्मयमाना पुनः पुनः ॥६॥ तं देवमब्रवीद्भीता

वैशम्पायन कहते हैं कि–हे जनमेजय ! उस जितेंद्रिय कन्याने सूर्यको समझानेके लिये अनेकों प्रकारके मीठे वचन कहे, परंतु वह समझा नहीं सकी ॥ १ ॥ वह बाला जब सूर्यसे ना नहीं करसकी, तब उनके शापसे भयभीत हुई वह बहुत देरतक विचार करती रही, कि–मेरे कारणसे मेरे निरपराधी पिता और निरपाधी ब्राह्मणको कोपायमान हुए सूर्य शाप न दें, यह बानक कैसे बने ? ॥ २ ॥ ३ ॥ सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थ तथा दुर्वासा आदि तपस्वी पुरुष जो कि-पापोंका नाश करनेवाले है, परन्तु बालक मनुष्यको मूर्खतासे उनके पास जाना उचित नहीं है ॥ ४ ॥ मैं भी अज्ञानके कारण ही ऐसा काम करके भयभीत होरही हूं और सूर्यने मुझे सब प्रकारसे अपने वशमें करलिया है परंतु मैं अपने शरीरका देनारूप अकाज गुरुजनोंकी आज्ञाके विना कैसे करूं ? ॥ ५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे राजन् ! शापसे भयभीत हुई पृथा, हृदयमें ऐसे अनेकों विचार करने लगी और अज्ञानके कारण व्याकुल अङ्गोंवाली होकर वारम्वार सोचमें गोते खानेलगी, कि--मुझे अब क्या करना चाहिये ? ॥ ६ ॥ हे राजन् ! उस अकाजको करनेमें बांधवोंका भय मान

बंधूनां राजसत्तम । व्रीडाविह्वलया वाचा शापत्रस्ता विशाम्पते ७ कुन्त्युवाच । पिता मे ध्रियते देव माता चान्ये च बान्धवाः । न तेषु ध्रियमाणेषु विधिलोपो भवेदयम् ॥८॥ त्वया तु संगमो देव यदि स्याद्विधिवर्ज्जितः । मन्निमित्तं कुलस्यास्य लोके कीर्त्तिर्नशेंत्ततः ।९। अथवा धर्ममेतं त्वं मन्यसे तपताम्वर । ऋते प्रदानाद्बंधुभ्यस्तव कामं करोम्यहम् १० आत्मप्रदानं दुर्धर्ष तव कृत्वा सती त्वहम् । त्वयि धर्मो यशश्चैव कीर्त्तिरायुश्च देहिनाम् ॥ ११ ॥ सूर्य्य उवाच । न ते पिता न ते माता गुरवो वा शुचिस्मिते । प्रभवन्ति वरारोहे भद्रं ते शृणु मे वचः ॥१२॥ सर्वान् कामयते यस्मान् कमेर्धातोश्च भाविनि । तस्मात् कन्ये; सुश्रोणि स्वतन्त्रा

कर और सूर्यसे ना करती हूं तो यह मुझे शाप देदेंगे, ऐसे विचारसे बड़ी ही घवड़ाई और अन्तमें लज्जावश अड़खड़ाती हुई वाणीमें आदित्यदेवसे कहनेलगी ॥ ७ ॥ कुंती बोली कि हे देव ! मेरे माता पिता और दूसरे बांधव जीते हैं, उनकी जीवित दशामें विधिका कहिये सनातन रीतिका लोपकरना उचित नहीं है ॥ ८ ॥ हे देव ! यदि मैं शास्त्रकी मर्यादाको भङ्ग करके आपके साथ समागम करूँगी तो मेरे कारणसे जगत्में मेरे कुलकी कीर्त्तिका नाश होजायगा ॥ ९ ॥ अथवा हे तपानेवालोंमें श्रेष्ठ भास्कर ! आप ऐसे वर्त्तावको धर्म मानते हों तो मैं अपने बाधवोंके दान किये विना ही आपकी कामनाको पूरी करूँ ॥ १० ॥ परन्तु हे तेजस्वी ! मैं अपना आपा आपको देनेसे जगत् में सती कहलाऊँ ऐसा होसके तो मैं अपना शरीर आपको निवेदन करूँ, क्योंकि—मनुष्योंका धर्म यश, कीर्त्ति और आयुका आधार आपके ही ऊपर है ॥ ११ ॥ सूर्य बोले कि—हे पवित्र हास्यवाली स्त्री ! हे सुन्दर अङ्गोंवाली स्त्री ! तेरा कल्याण हो तेरे ऊपर तेरे पिताका तेरी माताका तथा गुरुजनोंका स्वामीपना नहीं है, इस विषयमें मैं तुझसे कहता हूं सो सुन ॥ १२ ॥ हे स्त्री ! कन्या शब्द

दरवर्णिनि १३ नाधर्मश्चरितः कश्चित्त्वया भवति भाविनि । अधर्मं कुत एवाहं चरेयं लोककाम्यया ।१४।अनावृता स्त्रियः सर्वा नराश्च वरवर्णिनि । स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः ।१५। सा मया सह सङ्गम्य पुनः कन्या भविष्यसि । पुत्रश्च ते महाबाहुर्भविष्यति महायशाः ॥१६॥ कुंत्युवाच। यदि पुत्रो मम भवेत्त्वत्तः सर्वतमोनुद । कुण्डली कवची शूरो महाबाहुर्महाबलः ॥ १७ ॥ सूर्य उवाच । भविष्यति महाबाहुः कुण्डली दिव्यवर्मभृत् । अभेद्यश्चामृतमयं तस्य भद्रे भविष्यति १८ कुन्त्युवाच । यद्येतदमृता

'कम, (इच्छा) धातुसे बना है और 'सर्वान् कामये सा कन्या, अर्थात् जो सामान्य रीतिसे सबकी कामना पूरी करे उसको कन्या कहते हैं, हे सुन्दराङ्गी ! हे सुन्दर कमर वाली ! इस जगत्में कन्या स्वतंत्र मानीजाती है ॥ १३ ॥ हे सुंदरी ! तू अपना शरीर मुझे अर्पण करनेसे किसी प्रकारका अधर्म करनेवाली नहीं मानीजायगी तथा मैं भी लोकोंका हित करनेकी इच्छासे अधर्म कैसे करसकता हूं ? ॥ ४ ॥ हे सुन्दर रङ्गवाली स्त्री ! सब स्त्रियें और पुरुष स्वतंत्र हैं और मनुष्योंका स्वभाव भी ऐसा ही है और इसीसे जो प्रत्येक कुलका नियम है वह तो स्वभाव एक विकार माना जाता है ॥ १५ ॥ अतः तू मेरे साथ समागम करनेके पीछे भी कन्या ही होजायगी और तेरा पुत्र महाबाहु तथा बड़ा कीर्त्तिमान् होगा ॥ १६ ॥ कुन्तीबोली, कि–हे सब प्रकारके अन्धकारका नाश करनेवाले भास्कर ! मेरे जो आपसे पुत्र होय वह कुण्डल कवच धारण किये, वीर, महाबाहु और महाबली होना चाहिये ॥ १७ ॥ सूर्यने कहा, कि—हे कल्याणि ! तेरे बड़ी २ भुजाओंवाला, दिव्य कुण्डल और दिव्य कवचधारी पुत्र होगा तथा उसके कुण्डल और कवच जन्मकालमें स्वाभाविक रीतिसे उसके शरीरके साथ ही होंगे ॥ १८ ॥ कुन्तीने कहा, कि–आप मुझसे जिस पुत्रका उत्पन्न करनेवाले

दस्ति कुण्डले वर्म चोत्तमम् । मम पुत्रस्य यं वै त्वं मत्त उत्पादयिष्यसि १९ अस्तु मे संगमो देव यथोक्तं भगवंस्त्वया । तद्वीर्यरूपसत्त्वौजा धर्मयुक्तो भवेत् स च ॥ २० ॥ सूर्य्य उवाच । अदित्या कुंडले राज्ञि दत्ते मे मत्तकाशिनि । तेऽस्य दास्यामि वै भीरु वर्म चैवेदमुत्तमम् ॥ २१ ॥ कुन्त्युवाच । परमं भगवन्नेवं संगमिष्ये त्वया सह । यदि पुत्रो भवेदेवं यथा वदसि गोपते २२ वैशम्पायन उवाच तथेत्युक्त्वा तु तां कुन्तीमाविवेश विहङ्गमः । स्वर्भानुशत्रुर्योगात्मा नाभ्यां पस्पर्श चैव ताम् ॥ २३ ॥ ततः स विह्वलेवासीत् कन्या सूर्य्यस्य तेजसा । पपात चाथ सा देवी शयने मूढचेतना ॥२४॥ सूर्य उवाच । साधयिष्यामि सुश्रोणि पुत्रं वै जनयिष्यसि । सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं कन्या चैव भविष्यसि ॥ २५ ॥ वैशम्पायन

हैं, उसके कुण्डल और कवच यदि जन्मकालमें स्वाभाविक ही होनेवाले हों ॥ १९ ॥ तो हे देव ! हे भगवान् ! आपके कहनेके अनुसार भले ही मेरे साथ आपका समागम होय और आपकी समान ही वीरता, रूप, सत्य, वल तथा धर्मयुक्त पुत्र मुझे प्राप्त हो ॥ २० ॥ सूर्यने कहा, कि-कामके मदसे शोभायमान भीरु रानी ! मुझे मेरी माता अदितिने सुवर्णके कुण्डल और कवच दिये हैं, वह अपने उत्तम कुण्डल और श्रेष्ठ कवच मैं इसको दूँगा ॥२१॥ कुन्ती वोली, कि-हे भगवन् ! हे कांतिके स्वामी भास्कर! यदि आपके कहनेके अनुसार मेरे पुत्र होय तो मैं आपके साथ परम प्रेमसे समागम करूंगी ॥ २२ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! कुंतीके ऐसे वचन सुनकर आकाशचारी राहुके शत्रु योगमूर्त्ति सूर्य कुन्तीके साथ पलँग पर पौढ़े और हाथसे उसकी नाभिको छुआ ॥ २३ ॥ कि-उसीसमय वह कन्या व्याकुल होगई और सूर्यके तेजसे अचत होकर शय्या पर गिरपड़ी तव सूर्यने उससे कहा॥२४॥ सूर्य वोले कि-सुन्दर कमरवाली! मैं तेरे मनकी कामना पूरी करूँगा और तुझे सकल धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ एक पुत्र दूँगा और तू पुत्र होनेके अनन्तर भी तू कन्या ही रहेगी

उवाच। ततः सा व्रीडिता वाला तदा सूर्यमथाब्रवीत्। एवमस्त्विति राजेन्द्र प्रस्थितं भूरिवर्चसम् ॥ २६ ॥ इति स्मोक्त्वा कुन्तिराजात्मजा सा विवस्वतं याचमाना सलज्जा। तस्मिन् पुण्ये शयनीये पपात मोहाविष्टा भज्यमाना लतेव ॥ १७ ॥ तिग्मांशुस्तां तेजसा मोहयित्वा योगेनाविश्यात्मसंस्थाञ्चकार। न चैवैनां दूषयामास भानुः संज्ञां लेभे भूय एवाथ वाला ॥ २८ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकुन्तीसमागमे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७॥

वैशम्पायन उवाच ॥ ततो गर्भः समभवत् पृथायाः पृथिवीपते शुक्ले दशोत्तरे पक्षे तारापतिरिवाम्बरे ॥ १ ॥ सा वान्धवभयाद्वाला गर्भं तं विनिगूहती। धारयामास सुश्रोणी न चैनां बुबुधे

॥ २५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे राजेन्द्र ! सूर्यके वचन सुनकर वह वाला लज्जित होगई और समागम करनेको उद्यत हुए महातेजस्वी भास्करसे कहनेलगी कि—अच्छा सो आपकी इच्छानुसार हो ॥ २६ ॥ इसप्रकार लज्जावाली कुन्तिभोज राजाकी पुत्री कुंती, सूर्यसे पुत्रकी याचना करनेलगी और मोहमें पड कर टूटीहुई लताकी समान उसही पवित्र शय्या पर लेटगई २७ तब किरणोंवाले भास्करने अपने तेजसे उसको मोहित (अचेत) करदिया और योगके प्रभावसे उसके शरीरमें प्रवेश करके उसको गर्भाधान करदिया, परंतु उस कन्याके कन्यापनको भङ्ग करके दूषित नहीं किया, और गर्भाधान होनेके अनन्तर वह कन्या फिर सचेत(सावधान)होगई॥२८॥तीनसौ सातवां अध्याय समाप्त३०७

वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे पृथ्वीपते जनमेजय ! तदनन्तर जैसे आकाशमें चंद्रमाका उदय होताहै तैसे ही कुंतीके पवित्र उदरमें भी ग्यारहवें महीने अर्थात् माघशुक्ला प्रतिपदाके दिन गर्भाधान हुआ था ॥ १ ॥ परन्तु सुंदर कमर और वालक अवस्थावाली वह कुंती, अपने सम्बंधियोंके भयसे उस गर्भका इतना

जनः ॥ २ ॥ न हि तां वेद नार्यन्या काचिद्धात्रेयिकामृते । कन्या पुरगतां बालां निपुणां परिरक्षणे ॥ ३ ॥ ततः कालेन सा गर्भं सुषुवे वरवर्णिनी । कन्यैव तस्य देवस्य प्रसादादमरप्रभम् ॥ ४ ॥ तथैवाबद्धकवचं कनकोज्ज्वलकुण्डलम् । हर्यक्षं वृषभस्कंधं यथास्य पितरं तथा ॥ ५ ॥ जातमात्रञ्च तं गर्भं धात्र्या सम्मन्त्र्य भाविनी मञ्जूषायां समाधाय स्वास्तीर्णायां समंततः ॥ ६ ॥ मधूच्छिष्टस्थितायां सा सुखायां रुदती तथा । श्लक्ष्णायां सुपिधानायामश्वनद्या-मवासृजत् ॥ ७ ॥ जानती चाप्यकर्त्तव्यं कन्याया गर्भधारणम् ।

छुपा रखनेलगी, कि-कोई भी पुरुष उसको गर्भवती नहीं जानसका ॥ २ ॥ कन्याके अन्तःपुरमें रहनेवाली और कन्याकी रक्षा करने में चतुर एक बालकपनकी धाईके सिवाय दूसरी कोई भी स्त्री इस बातको नहीं जानती थी ॥ ३ ॥ उस सुन्दरांगी कन्याने दशवें महीने सूर्यके प्रसादसे देवताकी समान कांतिमान् पुत्रको उत्पन्न किया, परन्तु वह कन्या अवस्थामें ही रही ॥ ४ ॥ इस पुत्रके शरीर पर सोनेका कवच था, कानोंमें सोनेके कुण्डल चमक रहे थे, नेत्र सिंहकेसे विशाल थे, गर्दन बैलकी समान विशाल थी और वह सूर्यकी समान तेजस्वी था ॥ ५ ॥ ऐसे उत्तम पुत्रको जनकर कुन्तीने धाईसे बहुत कुछ संमति करी और फिर उससे एक पिटारी मंगवाई, उसमें चारों ओर कपड़े विछादिये और किधर ही चुभे नहीं इसप्रकार चारों ओरको वि-छाकर पिटारीके भीतरका भाग गुदगुदा करदिया और उसमें तुरन्तके जन्मेहुए बालकको लिटादिया, फिर ऊपरसे पिटारीका मुख बन्द करके उसमें चारों ओर मोम चुपड़ दिया, कि-जिससे उसमें पानी न घुससकै इसप्रकार पिटारीका ठीक २ प्रबन्ध करके वह उस पिटारीको अश्वनदीमें डालनेको उद्यत हुई ॥ ६ ॥ ७ ॥ हे राजन् ! वह कुमारी जानती थी, कि – कन्याका गर्भधारण करना कुकर्म गिनाजाता है, तो भी नदीमें पिटारीको छोड़ते समय

पुत्रस्नेहेन सा राजन् करुणं पर्यदेवयत् ॥ ८ ॥ समुत्सृजंती मञ्जूषामश्वनद्यां तदा जले। उवाच रुदती कुंती यानि वाक्यानि तच्छृणु ॥ ९ ॥ स्वस्ति ते चांतरीक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च पुत्रक। दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यस्तथा तोयचराश्च ये॥ १० ॥ शिवास्ते सन्तु पन्थानो मा च ते परिपंथिनः। आगताश्च तथा पुत्र भवन्त्वद्रोहचेतसः॥ ११ ॥ पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः। अंतरिक्षेऽन्तरिक्षस्थः पवनः सर्वगस्तथा ॥१२॥ पिता त्वां पातु सर्वत्र तपनस्तपतांवरः। येन दत्तोऽसि मे पुत्र दिव्येन विधिना किल ॥१३॥ आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वे च देवताः। मरुतश्च सहेन्द्रेण दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ १४ ॥ रक्षन्तु त्वां सुराः सर्वे समेषु विषमेषु च। वेत्स्यामि त्वां विदेशेऽपि कवचेनाभिसूचितम् ॥ १५ ॥ धन्यस्ते पुत्र जनको देवो भानु-

---

पुत्रप्रेमके कारण करुणाजनक रोदन करनेलगी ॥ ८ ॥ और फिर बंद करीहुई उस पिटारीको अश्वनदीके जलमें तैरतीहुई छोड़दिया, पिटारीको नदीमें छोड़ते समय रोते२ कुंतीने जो वाक्य कहे थे उन को सुनो ॥९॥ कुंती कहनेलगी, कि-हे पुत्र! अंतरिक्षके प्राणी, भूतलके प्राणी, दिव्यप्राणी तथा जलके प्राणी तेरा कल्याण करैं ॥ १० ॥ मार्गमें तेरा कल्याण होय और हे पुत्र! शत्रुमार्ग में तेरा विघ्न न करें और कदाचित् विघ्न करनेको आवें तो उन के मनमेंसे द्रोहभाव दूर होजाय ॥ ११ ॥ जलमें जलपति वरुण देवता तेरी रक्षा करै, आकाशमें आकाशचारी और सर्वव्यापी पवन तेरी रक्षा करैं ॥ १२ ॥ तेजोंमें श्रेष्ठ तेरा पिता सूर्य, कि-जिसने हे पुत्र! दिव्यविधिसे तुझै उत्पन्न किया है वह देवता तेरी सब स्थानोंमें रक्षा करै ॥ १३ ॥ इंद्र, आदित्य, वसु, रुद्र, साध्यदेवता, विश्वेदेवता, मरुत्गण, दिशायें तथा दिक्पाल आदि सब देवता सुखमें तथा दुःखमें तेरी रक्षा करैं, मैं परदेशमें भी तेरे कवच और कुण्डलोंसे तुझे पहिचानलूंगी ॥ १४ ॥ १५ ॥

विभावसुः । यस्त्वां द्रक्ष्यति दिव्येन चक्षुषा वाहिनीगतम् ॥१६॥ धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति । यस्यास्त्वं तृषितः पुत्र स्तनं पास्यसि देवज ॥ १७ ॥कोऽनु स्वप्नस्तया दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम् । दिव्यवर्मसमायुक्तं दिव्यकुण्डलभूषितम् ॥ १८॥ पद्मायतविशालाक्षं पद्मताम्रदलोज्ज्वलम् । सुललाटं सुकेशान्तं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ॥ १९ ॥ धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां भूमौ संसर्पमाणकम् । अव्यक्तकलवाक्यानि वदन्तं रेणुगुण्ठितम् ।२०। धन्या द्रक्ष्यंति पुत्र त्वां पुनर्यौवनगोचरम् । हिमवद्वनसम्भूतं सिंहं केशरिणं यथा ॥ २१ ॥ एवं बहुविधं राजन् विलप्य करुणं पृथा अवासृजत मञ्जूषामश्वनद्यां तदा जले ॥ २२ ॥ रुदती पुत्रशोकार्त्ता निशीथे कमलेक्षणा । धात्र्या सह पृथा राजन् पुत्रदर्शन-

हे पुत्र ! तेरे पिता भानुदेवको धन्यवाद है, कि–जो नदीमें बहते हुए तुझे अपनी दिव्यदृष्टिसे देखेंगे ॥ १६ ॥ तथा हे पुत्र ! वह स्त्री भी धन्य है, कि—जो स्त्री अपने पुत्ररूपसे तुझे ग्रहण करेगी और जिसके स्तनको तू पियेगा ॥ १७ ॥ अरे ! उस स्त्राने न जाने कैसा शुभ स्वप्न देखा होगा, कि – जो स्त्री सूर्यकी समान तेजस्वी, दिव्य कवच और कुण्डलोंसे शोभायमान, कमलकी समान विशालनेत्रवाले,कमलकी लाल पंखडी समान सुंदर गौर-रक्त रङ्गके सुंदर ललाटवाले और सुंदर केशोंसे शोभायमान तुझे अपना पुत्र करेगी ॥ १८ ॥ हे पुत्र ! जो भाग्यशाली होंगे वे मनुष्य ही तुझे पृथ्वीपर घुटनों चलता और धूलिसे मैलाहुआ देखेंगे तथा तेरे तोतले मनोहर शब्दोंको सुनेंगे ॥ १९ ॥ हे पुत्र जो भाग्यवान् होंगे वे ही हिमालयके वनमें उत्पन्न होकर तरुण हुए केसरी सिंहकी समान तरुण हुए तुझको देखेंगे ॥ २० ॥ पृथाने ऐसे २ बहुतसे करुणाजनक शब्द कहकर विलाप किया और फिर हे राजन् ! पुत्रको शोकसे व्याकुल हो रुदन करता और पुत्रके मंद२हँसतेहुए मुखको देखनेकी इच्छावाली कुंती आधी

लालसा ॥ २३ ॥ विसर्जयित्वा मञ्जूषां सम्बोधनभयात् पितुः । विवेश राजभवनं पुनः शोकातुरा ततः ॥ २४ ॥ मंजूषा त्वश्वनद्याः सा ययौ चर्मएवतीनदीम् । चर्मएवत्याश्च यमुनां ततो गङ्गां जगाम ह ॥ २५ ॥ गंगायाः सूतविषयं चम्पामनुययौ पुरीम् । स मंजूषागतो गर्भस्तरङ्गैरुह्यमानकः ॥ २६ ॥ अमृतादुत्थितं दिव्यं तनु वर्म सकुण्डलम् । धारयामास तं गर्भं दैवश्च विधिनिर्मितम् ॥ २६ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनवर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि कर्णपरित्यागेऽष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

वैशम्पायन उवाच । एतस्मिन्नेव काले तु धृतराष्ट्रस्य वै सखा सूतोऽधिरथ इत्येव सदारो जान्हवीं ययौ ॥ १ ॥ तस्य भार्याभवद्राजन् रूपेणासदृशी भुवि । राधा नाम महाभागा न सा पुत्रम-

---

रातके समय धाईके साथ अश्वनदीके किनारे पर गई थी उसने मेरे पिताको मालूम न होजाय,इस भयसे उस वंद कीहुई पिटारीको अश्वनदीके जलमें तैरतीहुई छोडदिया और फिर शोकसे व्याकुल हुई पृथा अपनी धाई के साथ लौटकर राजमहलमें पहुंचगई १२-२४ वह पिटारी तैरती २ अश्वनदीमेंसे चर्मएवती नदीमें जापहुंची और तहांसे प्रवाहमें वहती २ गङ्गानंदीमें पहुंचगई ॥ २५ ॥ और गङ्गाकी तरङ्गोंकी टक्करोंसे वालकसहित वह पिटारी गङ्गाकी सीमापर सूतके अधिकारवाली चम्पापुरी नगरीके पास आपहुंची ॥२६॥ इस पिटारीमें ईश्वरका उत्पन्न कियाहुआ दिव्य वालक अमृतसे उत्पन्न हुए कवच और कुण्डलोंको कारण पिटारीके भीतर किंसीप्रकारकी पीडा न पाकर जीवित रहा ॥ २७॥ तीन सौ आठवां अध्याय समाप्त ॥ ३०८ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे जनमेजय ! वह पिटारी गङ्गाकी तरङ्गोंमें टकराती २ जिस समय चम्पा नगरीके समीप आकर पहुंची उसीसमय धृतराष्ट्रका मित्र अधिरथ नामका सूत, अपनी स्त्रीके साथ गङ्गाके तटपर टहलनेको आया था ॥ १ ॥ हे राजन्

प्य तं बालं भार्य्यां वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥ इदमत्यद्भुतं भीरु यतो जातोऽस्मि भाविनी । दृष्टवान् देवगर्भोऽयं मन्येऽस्माकमुपागतः ॥ ९ ॥ अनपत्यस्य पुत्रोऽयं दैवैर्दत्तो ध्रुवं मम । इत्युक्त्वा तं ददौ पुत्रं राधायै स महीपते ॥ १० ॥ प्रतिजग्राह तं राधा विधिवद्दिव्यरूपिणम् । पुत्रं कमलगर्भाभं देवगर्भं श्रियावृतम् ॥ ११ ॥ पुपोष चैनं विधिवद्ववृधे स च वीर्यवान् । ततः प्रभृति चाप्यन्ये प्राभवन्नौरसाः सुताः ॥ १२ ॥ वसुवर्मधरं दृष्ट्वा तं बालं हेमकुण्डलम् । नामास्य वसुषेणेति ततश्चक्रुर्द्विजातयः ॥ १३ ॥ एवं स सूतपुत्रत्वं जगामामितविक्रमः । वसुषेण इति ख्यातो वृष इत्येव च प्रभुः ॥ १४ ॥ सूतस्य ववृधेऽङ्गेषु श्रेष्ठः पुत्रः स वीर्यवान् । चारेण विदितश्चासीत् पृथया

लगा, कि—॥ ८ ॥ हे भीरु स्त्री! मैंने जबसे जन्म लिया है तबसे आजके दिनतक ऐसा अचरजमें डालनेवाला बालक आज ही मेरे देखने में आया है, मेरी समझमें यह दिव्य बालक आप ही हमारे पास आगया है, मेरे पुत्र नहीं है इसलिये देवताओंने यह दिव्य पुत्र निःसन्देह मुझे प्रसादरूपसे दियाहै, इसप्रकार कहकर हे राजन्! सूतने वह दिव्यबालक राधाके हाथमें सौंपदिया ॥ ९ ॥ १० ॥ तब राधाने सावधान होकर विधिपूर्वक दिव्यरूपधारी, कमलकी गर्भकी समान गौरवर्ण, महाकांतिमान् और दिव्य गर्भमेंसे उत्पन्न हुए पुत्रको ग्रहण करलिया ॥ ११ ॥ और विधिपूर्वक उसको पालनेलगी, वह पराक्रमी पुत्र भी क्रम २ से बड़ा होनेलगा, पीछे से सूतके और भी औरस पुत्र हुए थे ॥ १२ ॥ उस बालकको सोनेका कवच और सोनेके कुण्डलोंवाला देखकर ब्राह्मणोंने उसका वसुषेण नाम रक्खा ॥ १३ ॥ इसप्रकार अपार पराक्रमी समर्थ कर्ण सूतका पुत्र कहलाया और जगत्में वसुषेण तथा वृष नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥ १४ ॥ वह अङ्ग देशमेंकी चम्पा नगरीमें सूतके घर बड़ा होनेलगा और पृथाने उस दिव्यकवचधारी पुत्रकी दूतोंसे खोज कराकर इस बातका

दिव्यवर्मभृत् ॥ १५ ॥ सूतस्त्वधिरथः पुत्रं विवृद्धं समयेन तम् । दृष्ट्वा प्रस्थापयामास पुरं वारणसाह्वयम् ॥ १६ ॥ तत्रोपसदनं चक्रे द्रोणस्येष्वस्त्रकर्मणि । सख्यं दुर्योधनेनैवमगमत् स च वीर्यवान् ॥ १७ ॥ द्रोणात् कृपाच्च रामाच्च सोऽस्त्रग्रामं चतुर्विधम् । लब्ध्वा लोकेऽभवत् ख्यातः परमेष्वासतां गतः १८ सन्धाय धार्त्तराष्ट्रेण पार्थानां विप्रिये रतः । योद्धुमाशंसते नित्यं फाल्गुनेन महात्मना ॥१९॥ सदा हि तस्य स्पर्द्धासीदर्जुनेन विशाम्पते । अर्जुनस्य च कर्णेन यतो दृष्टो वभूव सः ॥ २० ॥ एतद्गुह्यं महाराज सूर्यस्यासीन्न संशयः । यः सूर्य्यसम्भवः कर्णः कुंत्यां सूतकुले तथा २१ तं तु कुंडलिनं दृष्ट्वा वर्मणा च समन्वितम् । अवध्यं

पता चलालिया, कि-अमुक स्थान पर है ॥ १५ ॥ अधिरथ सूतने जब अपने पुत्रको समयानुसार तरुण अवस्थामें देखा तब उसे अस्त्रविद्या सीखनेके लिये हस्तिनापुरमें भेजदिया ॥१६॥तहां पराक्रमी कर्ण अस्त्रविद्या सीखनेके लिये द्रोणाचार्यके पास रहनेलगा और दुर्योधनके साथ मित्रता करली ॥ १७॥ द्रोणाचार्य कृपाचार्य और परशुरामसे चार प्रकारकी अस्त्रविद्याका अभ्यास करके कर्ण जगत्में महाधनुषधारी नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ १८ ॥ वह कौरवोंके साथ मित्रता करके पाण्डवोंका अहित करनेके लिये तत्पर रहनेलगा और नित्य महात्मा अर्जुनके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करनेलगा ॥ १९ ॥ हे राजन् ! उसने जबसें अर्जुनको देखा तबसे नित्य वह अर्जुनके साथ ही स्पर्धा (हिर्स) करता था ॥२०॥ हे महाराज ! सूर्यसे कुंतीके गर्भमें कर्णकी उत्पत्ति हुई थी और कर्ण एक सूतके यहां पलकर वड़ा हुआ था, यही निःसंदेह सूर्यके गुप्तचरित्रकी बात है ॥ २१ ॥ और सोनेके दिव्य कुण्डल तथा कवच धारण करनेवाला इंद्र, युद्धमें कवचके कारणसे अवश्य ही अवध्य (जिसको कोई न मारसके ऐसा) है, यह मानकर राजा युधिष्ठिर संताप किया करते थे, उनके मनके

समरे मत्वा पर्यतप्यद्युधिष्ठिरः ॥२२॥ यदा च कर्णो राजेंद्र भानुमन्तं दिवाकरम् । स्तौति मध्यनिंदने प्राप्ते प्राञ्जलिं सलिलोत्थितः ॥ २३ ॥ तत्रैनमुपतिष्ठन्ति ब्राह्मणा धनहेतुना । नादेयं तस्य तत्काले किञ्चिदस्ति द्विजातिषु २४ तमिंद्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षां देहीत्युपस्थितः । स्वागश्चेति राधेयस्तमथं प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि राधाकर्णप्राप्तौ नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०९ ॥

वैशम्पायन उवाच । देवराजमनुप्राप्तं ब्राह्मणच्छद्मना वृतम् । दृष्ट्वा स्वागतमित्याह न बुबोधास्य मानसम् ॥१॥ हिरण्यकण्ठीः प्रमदा ग्रामान् वा बहुगोकुलान् । किं ददानीति तं विप्रमुवाचाधिरथस्ततः

इस संतापको दूर करनेके लिये इंद्रने लोमशको भेजकर युधिष्ठिर से कहलाया था, कि—अर्जुनके स्वर्गमेंसे विदा होजाने पर मैं तुम्हारे भयको दूर करूँगा ॥२२॥ हे राजेन्द्र ! यह कर्ण मध्याह्न के समय जब दोनों हाथ जोड़े हुए जलमें खड़ा होकर भानुमान् दिवाकरकी स्तुति किया करता था ॥२३॥ उस समय जो ब्राह्मण कर्णके पास धन मांगनेको आया करते थे, उनको वे जो मांगते थे, वही दिया करता था ॥ २४ ॥ इसलिये इंद्र भी ब्राह्मणका कपटरूप धारण करके मध्यान्हके समय कर्णके पास जाकर कहने-लगा, कि—हे राजन् ! 'भिक्षां देहि, यह सुनकर कर्णने उनका आदर स्वागत करके इसप्रकार कहा ॥ २५ ॥ तीनसौ नौवां अध्याय समाप्त ॥ ३०९ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! इन्द्र ब्राह्मणका कपट रूप धारण करके कर्णके पास आया उसको देखकर अधिरथकेपुत्र कर्णने उसके मनका अभिप्राय जानजानेके कारण आदर सत्कार करके बूझा, कि -हे ब्राह्मण ! मैं आपको सोनेकी मालाएं धारण करनेवाली सुन्दर स्त्रियें दूं ? या बहुतसी गौओंके समूहवाले ग्राम

॥ २ ॥ ब्राह्मण उवाच । हिरण्यकण्ठ्यः प्रमदा यच्चान्यत् प्रीति-वर्द्धनम् । नाहं दत्तमिहेच्छामि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् । ३ । यदेतत् सहजं वर्म कुण्डले च तवानघ । एतदुत्कृत्य मे देहि यदि सत्यव्रतो भवान् ॥ ४ ॥ एतदिच्छाम्यहं क्षिप्रं त्वया दत्तं परंतप । एष मे सर्वलाभानां लाभः परमको मतः ।५। कर्ण उवाच । अवनिं प्रमदा गाश्च निर्वापं बहुवार्षिकम् । तत्ते विप्र प्रदास्यामि न तु वर्म सकुण्डलम् । ६ । वैशम्पायन उवाच । एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानः स तु द्विजः । कर्णेन भरतश्रेष्ठ नान्यं वरमयाचत ७ सान्त्वितश्च यथा-शक्ति पूजितश्च यथाविधि । न चान्यं स द्विजश्रेष्ठः कामयामास वै वरम् ॥ ८ ॥ यदा नान्यं प्रवृणुते वरं वै द्विजसत्तमः । तदैनम-

---

दूँ ? कहिये क्या दूँ ?॥ १ ॥ २ ॥ उस ब्राह्मणने कहा, कि--सोने की मालावालीं स्त्रियें वा और कोई आनन्ददायक वस्तुएं लेनेकी मेरी इच्छा नहीं है, उन वस्तुओंकी जिसको चाहना हो उसको देना ॥ ३ ॥ किंतु हे निर्दोष ! यदि तू वास्तवमें सत्यवादी और दानी होय तो तेरे शरीरपर जो यह जन्मकालके ही कुण्डल और कवच हैं इनको मुझे दे ॥ ४ ॥ हे परन्तप ! मुझे तुझसे ये ही लेनेकी इच्छा है अतः ये वस्तुएं तू मुझे शीघ्र दे और मेरी इच्छा पूरी कर, मैं सब लाभोंमें इस लाभको ही बड़ा मानता हूं ॥ ५ ॥ कर्णने कहा, कि-हे ब्राह्मण ! मैं तुम्हें घर बनानेके लिये भूमि तरुण स्त्रियें, गौएं तथा जिससे आप जीवनभर निर्वाह किया करें ऐसा खेत दूं, परन्तु कुण्डलों सहित कवच आप न मांगें ॥ ६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि -हे भरतवंशमें श्रेष्ठ जनमेजय ! इसप्रकार कर्णने अनेकों वस्तुएं देनेके लिये कहकर उस ब्राह्मण को समझाया, परंतु उस ब्राह्मणने दूसरी वस्तु मांगी ही नहीं ॥ ७ ॥ कर्णने उसको जहांतक बनसका समझाया और शास्त्र में लिखी विधिसे पूजा करी तो भी उस ब्राह्मणने दूसरा वर मांगनेकी इच्छा ही नहीं करी॥८॥उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने जब दूसरा वर

ब्रवीद्भूयो राधेयः प्रहसन्निव ॥ ९ ॥ सहजं वर्म मे विप्र कुण्डले चामृतोद्भवे । तेनावध्योऽस्मि लोकेषु ततो नैतज्जहाम्यहम् । विशालं पृथिवीराज्यं क्षेमं निहतकण्टकम् । प्रतिगृह्णीष्व मत्तस्त्वं साधु ब्राह्मणपुंगव ॥११॥ कुण्डलाभ्यां विमुक्तोऽहं वर्मणा सहजेन च । गमनीयो भविष्यामि शत्रूणां द्विजसत्तम ॥१२॥ वैशम्पायन उवाच यदन्यं न वरं वव्रे भगवान् पाकशासनः । ततः प्रहस्य कर्णस्तं पुनरित्यब्रवीद्वचः ॥ १३ ॥ विदितो देवदेवेश प्रागेवासि मम प्रभो । न तु न्याय्यं मया दातुं तव शक्य वृथा वरम्॥१४॥त्वं हि देवेश्वरः साक्षात् त्वया देयो वरो मम । अन्येषां चैव भूतानामीश्वरो ह्यसि भूतकृत्॥१५॥ यदि दास्यामि ते देव कुण्डले कवचं तथा ।

नहीं मांगा, तब कर्णने हँसतेर उस ब्राह्मणसे फिर कहा कि—॥९॥ हे विप्र ! अमृतमेंसे उत्पन्न हुए ये सोनेके कुण्डल और सोनेका कवच जन्मसे मैं उत्पन्न हुआ हूं तबसे स्वयंसिद्ध मेरे शरीरके ऊपर हैं, इन दोनों वस्तुओंके प्रभावसे जगत्में मुझे कोई नहीं मारसकता, इसकारण ये दोनों वस्तुएं अपने शरीर परसे उतार कर मैं किसीको नहीं देता हूं ॥ १० ॥ इसलिये हे विप्र ! तुम मुझसे सुखकारी, शत्रुरहित पृथ्वी का विशाल राज्य लेलो ॥ ११ ॥ हे द्विजवर ! यदि मैं जन्मसे स्वयंसिद्ध शरीरके साथ उत्पन्न हुए कवच कुण्डलोंको अलग करदूंगा तो शत्रु मुझे जीतलेंगे ।१२। वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! इसप्रकार कर्णने बहुत कुछ कहा, तो भी भगवान् इंद्रने दूसरा कोई भी वर नहीं मांगा, तब कर्णने हँसकर फिर इंद्रसे कहा, कि—॥ १३ ॥ हे प्रभो ! हे देवदेवेश ! मैं आपको पहिलेसे ही पहिचानता हूं, मैं आपको वृथा वर दूं, यह कभी उचित नहीं होसकता ॥ १४ ॥ क्योंकि—आप साक्षात् देवराज, प्राणियोंको रचनेवाले और सकल प्राणियोंके ईश्वर हो, अतः आपको भी इसके बदलेमें मुझे वरदान देना

वध्यतामुपयास्यामि त्वञ्च शक्रावहास्यताम् ॥१६॥ तस्माद्विनिमयं कृत्वा कुण्डले वर्म चोत्तमम्। हरस्व शक्र कामं मे न दद्यामयहमन्यथा ॥ १७ ॥ शक्र उवाच । विदितोऽहं रवेः पूर्वमायाने वै तवांतिकम् । तेन ते सर्वमाख्यातमेवमेतन्न संशयः ॥ १८ ॥ काममस्तु तथा तात तव कर्ण यथेच्छसि। वर्जयित्वा तु मे वज्रं प्रवृणीष्व यथेच्छसि ॥ १९ ॥ वैशम्पायन उवाच। ततः कर्णः प्रहृष्टस्तु उपसङ्गम्य वासवम् । अमोघां शक्तिमभ्येत्य वव्रे सम्पूर्णमानसः ॥ २० ॥ कर्ण उवाच । वर्मणा कुण्डलाभ्याञ्च शक्तिं मे देहि वासव । अमोघां शत्रुसङ्घानां नाशिनीं पृतनामुखे ॥ २१ ॥ ततः सञ्चिन्त्य-मनसा मुहूर्त्तमिव वासवः शक्त्यर्थं पृथिवीपाल कर्णं वाक्यमथाब्र-वीत् ॥ २२ ॥ कुण्डले मे प्रयच्छस्व वर्म चैव शरीरजम् । गृहाण

चाहिये ॥ १५ ॥ १६ ॥ अतः हे इंद्रदेव ! आप अपने वरदानके वदलेमें मेरा उत्तम कवच और कुण्डल लेजाइये, विना वरदान लिये मैं अपने कुण्डल और कवच नहीं दूंगा ॥ १७ ॥ इंद्रने कहा, कि–मैं तेरे पास आनेवाला हूं, यह वात सूर्यने पहिले ही जानली थी, अतः उसने तुझसे सव वात कही होगी, इसमें जरा संदेह नहीं है ॥ १८ ॥ सो हे तात कर्ण ! तेरी जैसी इच्छा हो अव तैसा ही हो, परन्तु मेरे वज्रको तो छोडदे और जिस वस्तु की तुझे इच्छा हो, वह मांगले ॥ १९ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–तदनन्तर कर्ण प्रसन्न मनसे वासवके पासको गया और इन्द्रकी अमोघ शक्ति पानेकी इच्छासे मनमें प्रसन्न होता हुआ प्रार्थना करनेलगा ॥२०॥ कर्ण वोला, कि–हे इंद्र ! मेरे कुण्डल और कवच लेकर वदलेमें मुझे सेनाके मुहाने पर शत्रुओंके समूह का नाश करनेवाली और कभी निष्फल न जानेवाली अपनी शक्ति दो ॥२१॥ यह सुनकर इंद्रने क्षणभर अपने मनमें विचार किया और फिर हे राजन् ! शक्तिके विषयमें कर्णसे इसप्रकार कहने लगा, कि–॥ २२ ॥ हे कर्ण ! तू अपने शरीरके साथ उत्पन्न

शक्तिन्त्वमनेन समयेन च ॥ २३ ॥ अमोघा हन्ति शतशः शत्रून् मम करच्युता । पुनश्च पाणिमभ्येति मम दैत्यान् विनिघ्नतः॥२४॥ सेयं तव करप्राप्ता हत्वैकं रिपुमूर्जितम् । गर्जन्तं प्रतपन्तञ्च मामेवैष्यति सूतज ॥ २५ ॥ कर्ण उवाच । एकमेवाहमिच्छामि रिपुं हन्तुं महाहवे । गर्जन्तं प्रतपन्तञ्च यतो मम भयं भवेत् ॥ २६ ॥ इन्द्र उवाच । एकं हनिष्यसि रिपुं गर्जन्तं बलिनं रणे । त्वन्तु यं प्रार्थयस्येकं रक्ष्यते स महात्मना ॥२७॥ यमाहुर्वेदविद्वांसो वाराहमपराजितम् । नारायणमचिंत्यञ्च तेन कृष्णेन रक्ष्यते ।२८। कर्ण उवाच । एवमप्यस्तु भगवन्नेकवीरवधे मम । अमोघां देहि मे शक्तिं यथा हन्यां प्रतापिनम् २६ उत्कृत्य तु प्रदास्यामि कुण्डले कवचञ्च

हुए कुण्डल तथा कवच मुझे दे और बदलेमें तू मेरी शक्तिको ग्रहण कर, परंतु उसमें जो नियम मैं तुझसे कहता हूं उसको सुन, जिस नियमके अनुसार तुझे शक्ति दीजायगी ॥ २३ ॥ मैं अपनी अमोघ शक्तिसे दैत्योंका संहार करता हूं तब वह शक्ति मेरे हाथमेंसे छूटकर सैंकड़ों शत्रुओंका संहार करती है, वह शक्ति तेरे हाथमें आजाने पर हे सूतपुत्र कर्ण ! गरजकर चढ़ आयेहुए एक महातेजस्वी वैरीका नाश करनेके अनन्तर फिर मेरे हाथमें ही आजायगी, यह नियम तुझे स्वीकार है क्या ? ॥ २४॥ २५॥ कर्णने कहा, कि—मैं महायुद्धमें गर्जना करके चढ़नेवाले एक ही वैरीका नाश करना चाहता हूं, कि—जिस वैरीसे मुझे भय रहता है ॥ २६ ॥ इंद्रने कहा, कि—तू रणभूमिमें गरजकर चढ़ाइ करनेवाले जिस वैरीका नाश करना चाहता है, उसकी तो महात्मा श्रीकृष्ण रक्षा करते हैं, जिन श्रीकृष्णको वेदके ज्ञाता पुरुष, अजित, वराहमर्त्ति और अचिन्त्य नारायण कहते हैं ॥ २७ ॥ ॥२८॥ कर्णने कहा, कि—हे भगवन् ! यह चाहे सो हो परंतु तुम मुझे एक वीरपुरुषका नाश करनेवाली अपनी अमोघ शक्ति दो कि—जिससे रणभूमिमें मैं एक प्रतापी पुरुषका नाश करूँ ॥२६॥

ते। निकृत्तेषु तु गात्रेषु न मे वीभत्सता भवेत् ॥३०॥ इन्द्र उवाच। न ते वीभत्सता कर्ण भविष्यति कथञ्चन। व्रणश्चैव न गात्रेषु यस्त्वं नानृतमिच्छसि ॥ ३१ ॥ यादृशस्ते पितुर्वर्णस्तेजश्च वदताम्वर। तादृशेनैव वर्णेन त्वं कर्ण भविता पुनः ॥३२॥ विद्यमानेषु शस्त्रेषु यद्यमोघामसंशये। प्रमत्तो मोक्ष्यसे चापि त्वय्येवैषा पतिष्यति ॥३३॥ कर्ण उवाच। संशयं परमं प्राप्य विमोक्ष्ये वासवीमिमाम्। यथा मामात्थ शक्र त्वं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥३४॥ वैशम्पायन उवाच। ततः शक्तिं प्रज्वलितां प्रतिगृह्य विशाम्पते। शस्त्रं गृहीत्वा निशितं सर्वगात्राण्यकृन्तत ॥ ३५ ॥ ततो देवा मानवा दानवाश्च निकृन्तन्तं कर्णमात्मानमेवम्। दृष्ट्वा सर्वे सिंहनादान् प्रणेदुर्न

मैं सोनेके कुण्डल और कवच शरीर परसे उतारकर आपको दूँगा और ऐसा करनेसे मेरा शरीर उधड़ जायगा, परन्तु मैं चाहता हूं कि--ऐसा होनेपर मेरा शरीर बुरा न मालूम हो ॥ ३० ॥ इन्द्र ने कहा, कि--हे कर्ण ! तू सत्यवादी है, इसकारण तेरे शरीरमें किसी प्रकारका विकार नहीं होगा ॥ ३१ ॥ किंतु हे श्रेष्ठवक्ता ! तेरे पिताके शरीरका जैसा रंग है जैसा तेज है तैसा ही रङ्ग और तेज तेरे शरीरका भी फिर होजायगा ॥ ३२ ॥ परन्तु तू मेरी एक बात सुन जब तेरे पास दूसरे शस्त्र विद्यमान् हो और तेरे ऊपर प्राणान्तकारी सङ्कट आकर न पड़ा हो, उस समय मदमत्त होकर यदि इस शक्तिको छोड़ेगा तो निश्चय यह शक्ति तेरे ऊपर पड़कर तेरा ही नाश करदेगी ॥ ३३ ॥ कर्णने कहा, कि--हे इन्द्र ! आपके कहनेके अनुसार जब ऊपर सङ्कट आवेगा तब ही मैं आपकी दीहुई इस शक्तिको छोडूंगा, यह मैं आपसे सत्य कहता हूं ॥३४॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि--हे राजन् ! तदनन्तर कर्णने इंद्रसे वह दमदमाती हुई शक्ति ग्रहण करी और तेज करेहुए शस्त्रसे अपने शरीर परसे कवच उतार दिया ॥ ३५ ॥ जिस समय कर्ण शस्त्र से अपने शरीरके अङ्गोंमेंसे कवचको अलग कर रहाथा, उस समय

ऽस्यासीन्मुखजो वै विकारः ॥ ३६ ॥ ततो दिव्या दुंदुभयः प्रणेदुः पपातोच्चैः पुष्पवर्षश्च दिव्यम् । दृष्ट्वा कर्णं शस्त्रसंकृत्तगात्रं मुहुश्चापि स्मयमानं नृवीरम् ॥ ३७॥ ततश्छित्त्वा कवचं दिव्यमङ्गात्तथैवार्द्रं प्रददौ वासवाय । तथोत्कृत्य प्रददौ कुण्डले ते कर्णस्तस्मात् कर्मणा तेन कर्णः ३८ ततः शक्रः प्रहसन् वञ्चयित्वा कर्णं लोके यशसा योजयित्वा । कृतं कार्यं पांडवानां हि मेने ततः पश्चाद्दिवमेवोत्पपात ॥ ३९ ॥ श्रुत्वा कर्णं मुषितं धार्त्तराष्ट्रा दीनाः सर्वे भग्नदर्पा इवासन् । तां चावस्थां गमितं सूतपुत्रं श्रुत्वा पार्था जहृषुः काननस्थाः ॥४० ॥ जनमेजय उवाच । क्वस्था वीराः पांडवास्ते

देवता मनुष्य और दानव सब सिंहकी समान हुकारें भरनेलगे, क्योंकि–उस समय कर्णके मुख पर जरा भी विकार नहीं मालूम होता था ॥३६॥मनुष्योंमें वीर कर्ण शस्त्रसे अपने शरीरके अङ्गोंको काटनेलगा और वारंवार हँसनेलगा यह देखकर देवताओंकी दिव्य दुन्दुभियें बजनेलगीं, और आकाशमें अच्छेप्रकारसे दिव्य फूलों का वर्षा होनेलगी॥३७॥कर्णने अपने शरीर परसे दिव्य कवच उधेड़ कर लोहूसे भीगाका भीगा ही इंद्रको दिया और कानोंमेंके दोनों कुण्डल भी शस्त्रसे काटकर इन्द्रको देदिये,इसप्रकार शरीरके अङ्गोंको काटनेसे वह जगत्में कर्ण नामसे प्रसिद्ध होगया ॥ ३८ ॥ तदनन्तर इन्द्रने, कर्णको धोखा देकर और उसको संसारमें यशस्वी बनाकर यह समझा कि अब पाण्डवोंका काम सिद्ध होगया और वह हँसता हुआ ही स्वर्गलोकको चलागया ॥ ३६ ॥ जब यह समाचार दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने सुना कि—कर्ण ठगागया तो वे सब सुस्त होगये, और ऐसे प्रतीत होने लगे कि-मानो इनका अभिमान ढहगया, और जब वनमें रहनेवाले पाण्डवोंने कर्णका यह समाचार सुना तो वे बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४० ॥ जनमेजयने बूझा, कि हे वैशम्पायन ! जब सूतपुत्र इसप्रकार ठगागया था उससमय पांडव कहां थे ? और

बभूवुः कुतश्चैते श्रुतवंतः प्रियं तत् । किं वाकार्षुर्द्वादशेऽब्दे व्यतीते तन्मे सर्वं भगवन् व्याकरोतु ॥ ४१ ॥ वैशम्पायन उवाच । लब्ध्वा कृष्णां सैंधवं द्रावयित्वा विप्रैः सार्धं काम्यकादाश्रमात्ते । मार्कंडेयाच्छ्रुतवंतः पुराणं देवर्षीणाञ्चरितं विस्तरेण ॥ ४२ ॥ प्रत्याजग्मुः सरथाः सानुयात्राः सर्वैः सार्धं सूतपौरोगवैश्च । ततः पुण्यं द्वैतवनं नृवीराः निस्तीर्योग्रं वनवासं समग्रम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुंडलाहरणपर्वणि कवचकुंडलदाने दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१० ॥

समाप्तश्च कुंडलाहरणपर्व ।

अथारणेयपर्व ।

जनमेजय उवाच । एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् । प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पांडवाः ॥१॥ वैशम्पायन उवाच ।

उन्होंने इस प्रिय समाचारको किससे सुना था ? और बारहवर्ष वीतजाने पर उन्हों ने क्या किया था, यह सब हे भगवन मुझै विस्तारसे सुनाओ ॥४१॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! पांडवोंने सिंधुराज जयद्रथका पराजय करके द्रौपदीको लेलिया तदनन्तर महर्षि मार्कण्डेयजी से देवताओं और ऋषियोंकी पुरातन कथा विस्तार के साथ सुनी और फिर सब ब्राह्मण तथा सेवकों सहित वे काम्यक आश्रममेंसे निकलकर द्वैतवनमें चलेगए ॥४२—४३ ॥ तीनसौ दशवां अध्याय समाप्त ॥ ३१० ॥ छ ॥

कुंडलाहरणपर्व समाप्त

॥ अथ आरणेय पर्व ॥

जनमेजय बूझते हैं, कि—हे वैशम्पायन मुने ! जब जयद्रथ द्रौपदीको हरकर लेगया था तब पांडवोंके ऊपर बड़ा कष्ट पड़ा था और जयद्रथका पराजय करके द्रौपदीको लौटालेने पर पांडवों ने क्या किया था, सो मुझसे कहो ॥ १ ॥ वैशम्पायन कहते हैं,

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्। विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ २ ॥ पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः। स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥ ३ ॥ अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः न्यवसन् पांडवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ॥४॥ वसन् द्वैतवने राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पांडवौ ॥ ५ ॥ ब्राह्मणार्थे पराक्रांता धर्मात्मानो यतव्रताः। क्लेशमार्च्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः॥६॥ तस्मिन् प्रतिवसंतस्ते यद् प्रापुः कुरुसत्तमाः। वने क्लेशं सुखोदर्कं तत् प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥ ७ ॥ अरणीसहितं मंथं ब्राह्मणस्य तपस्विनः मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ८ तदादाय गतो राजंस्त्व-

---

कि—हे जनमेजय! द्रौपदीका हरण होनेसे पांडव बड़े ही दुःखी होगये थे, इसकारण धर्मशील धर्मराज अपने भाइयोंके साथ काम्यक वनको छोडकर अनेकों प्रकारके बहुतसे वृक्षोंवाले, स्वादिष्ट फल फूल तथा कन्दसे भरपूर और रमणीय द्वैतवनमें फिर आगये ॥ २ ॥ ३ ॥ व्रतधारी, फलाहार करनेवाले और थाडा भोजन करनेवाले धर्मराज, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव ये पाँचों पांडव द्रौपदीके साथ द्वैतवनमें रहनेलगे ॥ ४ ॥ ५ ॥ पराक्रमी, उदारचित्त, शत्रुओंको ताप देनेवाले और नियमोंको धारण करनेवाले पांडवोंने अन्तमें सुख देनेवाले बड़ेभारी दुःखोंको भोगा था ॥ ६ ॥ उन कुरुवंशमें श्रेष्ठ पांडवोंने इसप्रकार वनमें वसकर अन्तमें सुख देनेवाले जोर कष्ट सहे थे उनको मैं तुमसे कहता हूं, सुनो ॥७॥ किसी एक तपस्वी ब्राह्मणने अग्निमथनेकी अरणीके काठवाला एक यन्त्र वृक्षकी शाखामें लटका दियाथा, ऐसा बानक बना. कि—एक हिरन तहाँ आकर उस वृक्षमें टंगे हुए काठसे अपने सींगोंको रगड़ने लगा, तब तो वह अग्नि उत्पन्न होनेका यन्त्र अरणीके सहित उसके सींगोंमें अटकगया ॥ ८ ॥ हे राजन्! वह मृग शरीरमें बड़ा था और बड़े वेगसे

रमाणो महामृगः । आश्रमांतरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ।९। ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम । त्वरितोऽभ्यागमत्तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ।१०। अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने । आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥११॥ अरणीसहितं मंथं समासक्तं वनस्पतौ । मृगस्य घर्षणमास्य विषाणे समसज्जत १२ तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः । आश्रमात्त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ १३ ॥ तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम् । अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ॥ १४ ॥ ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः । धनुरादाय कौंतेयः प्राद्रवद् भ्रातृभिः सह ॥१५॥ सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन्नरपुं-

---

दौड़सकता था, सो वह मृग अग्निमथनेके उस काठको लेकर शीघ्रतासे दौड़ता २ दूसरे आश्रममें चलागया ॥ ९ ॥ हे कुरुवंश में श्रेष्ठ राजन् ! अग्निमथनेके अरणीकाठवाला यन्त्र सींगोंमें अटकगया था, उसको लेकर हिरन भागगया, यह देखकर अग्निहोत्रकी रक्षा करनेकी इच्छासे वह ब्राह्मण घवड़ाता हुआ जहां पांडव थे तहाँ आया ॥ १० ॥ उससमय अजातशत्रु युधिष्ठिर भाइयोंके साथ वनमें बैठेहुए थे, उनके पास वह ब्राह्मण आया और दुःखित होताहुआ इसप्रकार कहनेलगा, कि-॥ ११ ॥ दो अरणियों सहित अग्नि मथनेका यन्त्र मैंने एक वृक्षमें टांगदिया था, तहां एक मृग आकर अपने सींग घिसनेलगा, इससे वह यन्त्र उसके सींगोंमें अटकगया ॥ १२ ॥ तब महावेगवाला वह वड़ाभारा हिरन हे राजन् ! मेरे अग्नि मथनेके यन्त्रको लेकर वड़े वेगसे चौकड़ियें भरताहुआ मेरे आश्रममेंसे भागगया ॥ १३ ॥ इसकारण हे पाण्डवो ! तुम उसके पैरोंके चिन्होंको देखकर उस महामृगका पीछा पकड़ो और मेरा अग्निहोत्र वन्द न होजाय, इसलिये उस मृगको शीघ्र ही पकड़लो और अग्नि मथनेका यन्त्र लाकर मुझे दो ॥ १४ ॥ ब्राह्मणकी इस वातको सुनकर युधिष्ठिर मनमें दुःखी हुए और सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ वे पाण्डव धनुष और

गताः । ब्राह्मणार्थे यतंतस्ते शीघ्रमन्वगमन्मृगम् ॥१६॥ कर्णिना-लीकनाराचानुत्सृजंतो महारथाः । नाविध्यन् पाण्डवास्तत्र पश्यंतो मृगमन्तिकात् ॥१७॥ तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः । अपश्यंतो मृगं शांता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥ शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने । क्षुत्पिपासापरीतांगाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥ १९ ॥ तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा अब्रवीद् भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात् कुरुनन्दनम् ॥ २० ॥ नास्मिन् कुले जातु ममज्ज धर्मो न चालस्याद्धर्मलोपो बभूव ह। अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः सम्प्राताः स्मः संशयं किन्नु राजन् ॥ २१ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वण्यारण्यपर्वणि मृगान्वेषण
एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

बाण लेकर तयार होगए तथा उस ब्राह्मणका काम करनेके लिये शीघ्रतासे भागतेहुए मृगके पीछे पड़गए ॥ १५ ॥ १६ ॥ महारथी पाण्डव जब वह मृग समीप दीखनेलगा तब उसके ऊपर कर्णि, नालीक और नाराच आदि बाण मारनेलगे परन्तु वे उस मृग को घायल नहीं करसके ॥ १७ ॥ इसप्रकार मृगके पीछे दौड़कर बहुतसा उद्योग करने पर भी वह महामृग थोड़ी ही देरमें अन्तर्धान होगया तब थककर शान्त पड़ेहुए पाण्डव खिन्न होगए १८ भूख और प्याससे उनके शरीर शिथिल पड़गए थे, इसकारण वे उस महावनमें एक शीतल छायावाले बडके वृक्षके नीचे जाकर विश्राम लेनेको बैठगए ॥ १९ ॥ फिर दुःखित हुए नकुलने तहां बैठेहुए भाइयोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिरसे क्रोध करके कहा, कि-॥ २० ॥ हे राजन् ! हमारे कुलमें कभी भी आलस्यके कारणसे धर्मका लोप वा अर्थका नाश नहीं हुआ है, किन्तु हम चिरकालसे हमसे जो कोई जो कुछ भी मांगता है उस को प्रायः हम निषेधके शब्दसे उत्तर नहीं देते हैं,तो भी आज हम किस कारणसे ब्राह्मणके धर्मलोपसे होनेवाले दोषमें भागीहुए हैं ॥ २१ ॥ तीनसौ ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ३११ ॥ छ ॥

युधिष्ठिर उवाच । नापदामास्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥ भीम उवाच । प्रातिकाम्यनयत् कृष्णां सभायां प्रेष्यवत्तदा न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ २ ॥ अर्जुन उवाच । वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः । अतितीव्रा मया क्षान्तास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ३ ॥ सहदेव उवाच । शकुनिस्त्वां यदाजैषी दक्षघतेन भारत स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् । आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥ पानीयमन्तिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान् । एते हि भ्रातरः श्रान्ता-

युधिष्ठिर बोले, कि—हे नकुल ! दुःखका वारापार नहीं है तथा इसका कोई कारण वा निमित्त भी नहीं है, केवल धर्म (प्रारब्ध कर्म) ही पुण्य और पापके फल मनुष्योंको बांटकरदेता है ।१। भीमसेनने कहा, कि—अरे ! जिस समय दुर्योधनने कौरवसभामें प्रातिकामीको भेजकर द्रौपदीको दासीकी समान सभामें बुलवाया था, उस समय मैंने उसका नाश नहीं किया, इसकारण ही हमारे ऊपर यह दुःख पड़ा है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १ ॥ ॥ २ ॥ अर्जुनने कहा, कि—अरे भाई ! कौरवोंकी सभामें कर्णने हड्डियोंतकको तोड़ डालनेवाले तीखे वचन कहे थे, उन तीखे वचनोंको मैंने सहलिया इसकारण ही निःसन्देह हम दुःख उठा रहे हैं ॥ ३ ॥ सहदेवने कहा, कि—हे भरतवंशी राजन् ! सभा में शकुनिने तुम्हे कपटके जुएसे जीतलिया, उस समय मैंने उसको मार नहीं डाला, इसीसे निःसन्देह आज हमारे ऊपर दुःखपड़ा है ४ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! इसप्रकार भाइयोंमें परस्पर बातें होनेके अनन्तर राजा युधिष्ठिरने नकुलसे कहा, कि—हे नकुल ! तू इस बड़के वृक्ष पै चढ़कर दशों दिशाओंमेंको दृष्टि डाल ॥ ५ ॥ और देख, कि—समीपमें कहीं जलाशय है क्या ?

स्तव तात पिपासिताः ॥ ६ ॥ नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् । अब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ७ ॥ पश्यामि बहुलान् राजन् वृक्षानुदकसंश्रयान् । सारसानाञ्च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥ ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । गच्छसौम्य ततः शीघ्रं तूणैः पानीयमानय ॥ ९ ॥ नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् । प्राद्रवद्यत्र पानीयं शीघ्रञ्चैवान्वपद्यत॥१०॥स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् पातुकामस्ततो वाचमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥ ११ ॥ यक्ष उवाच मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः । प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥ १२ ॥ अनादृत्य तु तद्वाक्यं नकुलः सुपि-

---

क्योंकि–हे तात ! ये तेरे भाई थकगये हैं और पिलासे होरहे हैं ॥ ६ ॥ वड़े भाईके वचनको सुनते ही 'बहुत अच्छा' कहकर नकुल तुरत वड़के वृक्ष पर चढ़गया और चारों ओरको देखकर अपने वड़े भाईसे कहा, कि–॥७॥ हे राजन् ! जलाशयके किनारे पर उगेहुए बहुतसे वृक्ष यहाँसे दीखरहे हैं, इसलिये तहां पानी अवश्य ही होगा ॥ ८ ॥ यह सुनकर सत्य पर आधार रखनेवाले कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने नकुलसे कहा, कि–हे सौम्य ! तू शीघ्र ही जलाशय पर जा और वाणोंके भाथोंमें पानी भरला ॥ ९ ॥ इस प्रकार वड़े भाईके आज्ञा देते ही नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर जहाँ पानी था उधरको तुरत दौड़ाहुआ गया और शीघ्र ही जलाशयके पास पहुंचगया ॥ १० ॥ तहाँ सारस पक्षियोंसे सेवित निर्मल पानीको देखकर नकुल उसको पीनेकी इच्छा करने लगा, परन्तु उस समय उसने यह आकाशवाणी सुनी ॥ ११ ॥ यक्ष बोला, कि--हे तात माद्रीपुत्र ! तू साहसका काम न कर, यह स्थान मेरा है और मैंने पहिलेसे ही एक नियम कर रक्खा है, उस नियमके अनुसार मेरे प्रश्नोंके उत्तर दे और पीछेसे जल पी तथा जल भरकर भी लेजा ॥ १२ ॥ परन्तु नकुलको बहुत

पासितः । अपिवच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १३ ॥ चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । अब्रवीत् भ्रातरं वीरं सहदेवमरिन्दमम् ॥ १४ ॥ भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः । तथैवानय सोदर्यं पानीयञ्च त्वमानय ॥ १५ ॥ सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत । ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥ भ्रातृशोकाभिसन्तप्तस्तृषया च प्रपीडितः । अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥ मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः । प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥ १८ ॥ अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः । अपिवच्छी-

---

ही प्यास लगरही थी, इसकारण उसने यक्षके कहनेका अनादर करके जलाशयका शीतल जल पीलिया और ज्योंही उस जल को पीकर निवटा कि--भूमि पर ढहपड़ा ॥ १३ ॥ जब नकुलको आनेमें देरहुई तो कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने शत्रुका दमन करने वाले वीर सहदेवसे कहा, कि--॥ १४ ॥ हे सहदेव ! तेरा बड़ा भाई नकुल बहुत देरहुई पानी लेनेको गया है, परन्तु अभीतक नहीं आया, इसकारण तू जा अपने भाई सहदेवको लिवाकर ला और जल लेता आ ॥ १५ ॥ तुरत ही सहदेव भी 'बहुत अच्छा' कहकर उधरको ही चलागया और जलाशयके पास जाकर देखता है तो तहाँ भाई नकुलको पृथ्वीपर मरणकी दशामें पड़ाहुआ पाया ॥१६॥ और भाईके शोकसे बड़ा सन्ताप करनेलगा, परंतु सहदेव प्यासके मारे बड़ा घबड़ारहा था, इसकारण पानीकी ओरको दौड़ा तब आकाशवाणीने उससे कहा, कि--॥ १७ ॥ हे तात ! तू पानी पीनेका साहसका काम न करना, मेरा पहिलेसे ही नियम है, कि--जो प्रश्नोंका उत्तर देय वह इस जलाशयका पानी पिये, इसलिये तू मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर इच्छानुसार जल पी और भरकर भी लेजा ॥ १८ ॥ सहदेवको पियास लगरही

गलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १६ ॥ अथाब्रवीत् स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । भ्रातरौ ते परिगतौ बीभत्सो शत्रुकर्षण ॥ २० ॥ तौ चैवानय भद्रं ते पानीयञ्च त्वमानय । त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः ॥ २१ ॥ एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः । आमुक्तखड्गो मेधावी तत्सरः प्रत्यपद्यत ॥ २२॥ ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ । तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २३ ॥ प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः । धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद्वनम् ॥ २४ ॥ नापश्यत्तत्र किंचित् स भूतमस्मिन्महावने । सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥ २५ ॥ अभिधावंस्ततो वाक्यमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे

थीं, अतः उसने उसके कहनेका तिरस्कार करके शीतल जल पीलिया, परन्तु वह जल पीरहा था, कि- तुरंत ही मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिरपड़ा ॥ १६ ॥ तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा, कि-हे शत्रुमर्दन ! तेरे दोनों भाई जल लेनेको गये हैं, परन्तु वे अभीतक नहीं आये ॥ २० ॥ इसलिये हे भाई ! तू उन दोनोंको बुलाकर ला, और पानी भी भरता ला, क्योंकि-हे तात ! तू हम सब दुःखियोंका आधाररूप है ॥ २१ ॥ इसप्रकार बुद्धिमान् गुडाकेशसे कहा, तब वह धनुष, बाण और तलवार धारण करके उस सरोवरकी ओरको चल-दिया ॥ २२ ॥ श्वेतवाहन अर्जुनने तहां जाकर देखा तो पानी लेनेके लिये गयेहुए अपने दोनों पुरुषसिंह भाई मरेहुए पड़े हैं ॥ २३ ॥ उन दोनों भाइयोंको मानो सोरहे हों, ऐसी दशामें पड़े हुए देखकर मनुष्योंमें सिंहसमान अर्जुन बड़ा ही खिन्न होगया और धनुष पर बाण चढ़ाकर उस वनमें चारों ओरको देखनेलगा ॥ २४ ॥ परन्तु उस बड़ेभारी वनमें उसको कोई भी प्राणी नहीं दीखा, सव्यसाची अर्जुन यद्यपि थकगया था तो भी जलकी ओरको गया ॥ २५ ॥ परन्तु पानीकी ओरको जातेहुए उसने

किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात्त्वया ॥ २६ ॥ कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान्मयोक्तान् प्रतिपत्स्यते।ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥२७॥ वारितस्त्वब्रवीत् पार्थो दृश्यमानो निवारय । यावद्वाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि । २८ । एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः । प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधञ्च दर्शयन्२९ कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ । स त्वमोघानिषून्मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः ॥ ३० ॥ अनेकैरिपुसङ्घातैरन्तरिक्षे ववर्ष ह । यक्ष उवाच । किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ॥ ३१ ॥ अनुक्त्वा च पिबन् प्रश्नान् पीत्वैव न भविष्यसि । एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ॥ ३२ ॥ अवज्ञायैव तां वाचं

आकाशवाणी सुनी, कि–तू पानीकी ओर किसलिये जाता है ? तू बलसे इस पानीको नहीं पीसकेगा ॥ २६ ॥ हे भरतवंशी अर्जुन ! यदि तू मेरे बूझे हुए प्रश्नोंके उत्तर देदेगा तो तू पानी पीसकेगा और लेभी जासकेगा ॥ २७ ॥ इसप्रकार जब अर्जुन को निषेध किया तब अर्जुनने कहा, कि–तू दर्शन देकर मुझे पानी पीनेसे रोक तो मैं तुझे बाणोंसे चीरडालूं कि–जिससे तू फिर ऐसा न कहसके ॥ २८ ॥ ऐसा कहकर अर्जुनने अस्त्रोंके मंत्रोंसे शस्त्रोंका अभिमंत्रण करके सब ओरको शस्त्रोंकी वर्षा करी और अपना शब्दवेधीपन दिखाडाला ॥ २९ ॥ तथा हे भरतवंशी राजन् ! प्याससे बहुत ही पीडित हुआ अर्जुन कर्णिक नालीक नाराचोंकी तथा अनेकों बाणोंकी अन्तरिक्षमें अदृश्य रूप से स्थित शत्रुके ऊपर वर्षा करनेलगा, उस समय यक्ष कहनेलगा कि–तू इसप्रकार वृथा उद्योग क्यों करता है ? मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर पीछेसे पानी भले ही पी ले॥३०॥३१॥यदि तू मेरे प्रश्नोंको उत्तर दिये बिना जल पियेगा तो निःसन्देह तेरा मरण होजायगा इसप्रकार सव्यसाची धनञ्जय अर्जुनसे यक्षने कहा ॥ ३२ ॥ तो भी अर्जुनने उसके कहनेका अनादर करके जलाशयमेंसे पानी

पीत्वैव निपपात ह। अथाब्रवीद् भीमसेनं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥३३॥नकुलः सहदेवश्च वीभत्सुश्च परन्तपः । चिरङ्गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत॥३४॥ तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत॥३५॥ यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः । तान् दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ॥ ३६ ॥ अमन्यत महाबाहुः कर्म तद्यक्षरक्षसाम् । स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै॥३७॥पास्यामि तावत् पानीय-मिति पार्थो वृकोदरः । ततोऽभ्यधावत् पानीये पिपासुः पुरुषर्षभः ॥३८॥यक्ष उवाच । मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः । प्रश्ना-नुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥३९॥वैशम्पायन उवाच।

पीलिया परन्तु उस पानीके पीते ही तुरन्त मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिरपड़ा जब अर्जुन भी नहीं आया तो कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने भीमसेनसे कहा कि-॥ ३३ ॥ हे शत्रुनाशी भीम ! नकुल सह-देव और अर्जुन पानी लेनेके लिये गए हैं उनको बहुत देर होगई, परन्तु अभीतक आये नहीं ॥ ३४ ॥इसलिये हे भाई ! तू उनको लिवानेको जा और जल भी भरकर लेता आ, यह सुनकर भीम-सेनने कहा, बहुत अच्छा फिर जिधरको अपने भाई गये थे, उधरको ही चलदिया ॥ ३५ ॥ तहां पुरुषोंमेंसे सिंहसमान अपने भाइयोंको भूमि पर पड़ेहुए देखकर प्यासले बहुत ही घबड़ाया हुआ भीमसेन खिन्न होगया ॥ ३६ ॥और उस महाबाहुने समझा, कि-यह काम यक्षोंका वा राक्षसोंका है, फिर उसने मन में विचारा, कि-आज उनके साथ अवश्य युद्ध करूँगा ॥ ३७॥ परन्तु लड़नेसे पहिले पानी तो पीलूं, ऐसा विचार करके हे भर-तवंशश्रेष्ठ राजन् ! वह वृकोदर प्यासके मारे पानीकी ओरको दौड़ा ॥ ३८ ॥ तब वह यक्ष कहनेलगा. कि-हे तात ! तू पानी पीनेका साहसका काम न कर, परंतु मेरा पहिलेका जो नियम है, उसके अनुसार तू मेरे प्रश्नोंके उत्तर देकर फिर पीले और

एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा। अनुक्त्वैव तु तान् प्रश्नान् पीत्वैव निपपात ह ॥ ४० ॥ ततः कुन्तीसुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुषर्षभः। समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन तेजसा ॥ ४१ ॥ व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम्। रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ॥ ४२ ॥ नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम्। भ्रमरैरुपगीतञ्च पक्षिभिश्च महायशाः ॥ ४३ ॥ स गच्छन् कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम्। ददर्श तत् सरः श्रीमान् विश्वकर्मकृतं यथा ॥ ४४ ॥ उपेतं नलिनीजालैः सिंधुवारैः सचेतसैः। केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम्। श्रमार्त्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाथ विस्मयः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वण्यारण्येयपर्वणि नकुलादिपतने द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१२ ॥

पानी ले भी जा॥३९॥ अपार तेजवाले यक्षने इसप्रकार भीमसेन से कहा, तो भी भीम उसके प्रश्नोंके उत्तर दिये विना ही पानी पीने लगा और पीकर निवटते ही वह भी पृथ्वी पर ढहपड़ा ॥४०॥ उधर महाबाहु कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर, बैठेहुए भीमसेनकी वाट देखरहे थे, परंतु वहुत समय होगया, तब भी भीमसेन नहीं आया, इसकारण शोकसे खिन्न हुए युधिष्ठिर तहां से खड़े होगए और रुरुमृग, वराह तथा पक्षियोंसे सेवित, काले वर्णके तथा चमकदार श्वेतवर्णके वृक्षोंसे शोभायमान, पक्षियोंकी कुहुक तथा भौरोंकी मधुर गुञ्जारसे प्रतिध्वनित हुए उस महावनमें घुसे, इस वनमें किसी मनुष्यका शब्द सुनाई नहीं आता था, किंतु वह वन चारों ओरसे शून्याकार ही प्रतीत होता था ॥ ४१-४३ ॥ उस महावनमें जातेही युधिष्ठिरने, विश्वकर्माके वनाये हुएसे, सुनहरी रङ्गके पुष्पोंके केसरोंसे शोभायमान एक सरोवर देखा ४४ इस सरोवरका तट, बहुतसी कमलनियें. बेंत, केवड़े, कनेर और पीपलके वृक्षोंसे घिरा हुआ था, परिश्रमके कारण व्याकुल हुए राजा युधिष्ठिर उसको देखकर वड़े ही अचरजमें पडगए ॥ ४५॥ तींनसौ वारहवां अध्याय समाप्त ॥ ३१२ ॥ छ ॥

वैशम्पायन उवाच। स ददर्श हतान् भ्रातॄन् लोकपालानिव च्युतान्। युगान्ते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान्॥ १ ॥ विनिकीर्ण-धनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम्। भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान् गतायुषः॥ २ ॥ स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकवाष्पपरिप्लुतः तान् दृष्ट्वा पतितान् भ्रातॄन् सर्वांश्चिन्तासमन्वितः॥ ३ ॥ धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम्। ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥ ४ ॥ सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे। व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीरे निपातिते ॥ ५ ॥ महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्त्तिवर्धन। मनुष्यसम्भवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ॥ ६ ॥ भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवंतु कथं मृषा। देवाश्चापि यदाऽ-

वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे राजन् जनमेजय! राजा युधिष्ठिर ने जलाशयके पास जाकर देखा तो जैसे युगकी प्रलयके समय लोकपाल स्वर्गमेंसे नीचेको गिरते हैं, तैसे ही इन्द्रकी समान गौरववाले अपने भाइयोंको मरण पाकर पृथ्वी पर पड़ेहुए देखा ॥ १ ॥ नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीमसेन प्राण और चेष्टा-रहित होकर पृथ्वी पर पड़े थे तथा उनके धनुष और बाण भी आसपास पड़ेहुए थे ॥ २ ॥ इसप्रकार अपने सब भाइयोंको पृथ्वी पर पड़े हुए देखकर राजा युधिष्ठिरने गरम और लम्बे श्वास छोड़े, उनकी आखें शोकके आंसुओंसे छागईं और धर्मके पुत्र महावाहु युधिष्ठिर, चितामें पडकर बड़े जोरके शब्दसे विलाप करनेलगे, कि—हे बडे २ भुजदंडोंवाले भीम! तूने प्रतिज्ञा की थी, कि–॥ ३ ॥ ४ ॥ मैं रणमें गदाकी मारसे दुर्योधनकी जंघाओंको तोडडालूंगा, परन्तु हे वीर! वह तेरी प्रतिज्ञा आज तेरे मरजानेसे निष्फल होगई ॥५॥ हे महावाहु! तू कुरुओंकी कीर्त्तिको बढ़ानेवाला और महात्मा है, इसकारण मनुष्य जो वाणीकी प्रतिज्ञा करै, वह वाणी तो कदाचित् मिथ्या भी होजाय, परन्तु तेरे विषयमें तो देवताओंने भी ऐसी ही वाणी कही है,

वोचन् सूतके त्वां धनञ्जय ॥ ७ ॥ सहस्राक्षादनवरः कुन्तिपुत्र-स्तवेति वै । उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥ ८ ॥ विप्रनष्टां श्रियञ्चैषामाहर्त्ता पुनरञ्जसा । नास्य जेता रणे कश्चिदजेता नैव कस्यचित् । ९ ॥ सोऽयं मृत्युवशं यातः । कथं जिष्णुर्महाबलः । अयं ममाशां संहृत्य शेते भूमौ धनञ्जयः ॥१०॥ आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्ते तानि सेहिम । रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥ ११ ॥ कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ । यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनञ्जयौ ॥ १२ ॥ अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः । यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ॥ १३ ॥ शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः ।

वह वाणी कैसे मिथ्या होगई ? हे अर्जुन ! तेरे जन्मके समय देवताओंने तेरे विषयमें कुंतीसे कहा था, कि–हे कुंती ! तेरा पुत्र इंद्रकी समान होगा तथा उत्तरपारियात्र नामके पर्वत पर भी सब प्राणियोंने कहा था, कि –यह पुरुष कौरवोंकी नष्ट हुई लक्ष्मीको विना ही परिश्रमके फिर लौटालेगा और रणभूमिमें इसको कोई नहीं जीतसकेगा, तथा यह किसीको न जीतसके ऐसा भी नहीं होगा ॥ ८--९ ॥ ऐसा विजयपानेवाला और महा बलवान् जिष्णु आज कैसे मरणको प्राप्त होगया ? हायरे ! हमने अपने स्वामीकी समान जिस धनञ्जयका आश्रय लेकर इतने दुःख सहे हैं, वह अर्जुन आज हमारी आशाका नाश करके भूमि पर सोरहा है, रणमें मदमत्त होकर शत्रुओंका नाश करनेवाला, वीर, महाबली, सबप्रकारके अस्त्रोंको पूर्णरीतिसे विना हिचके छोडनेवाले कुंतीनंदन भीमसेन और अर्जुन शत्रुके हाथसे किसप्रकार मारेगये ?॥ १०–१२ ॥ हाय ! मेरा हृदय दुष्ट है, क्योंकि–आज नकुल और सहदेवको मरण पाकर पृथ्वी पर पड़े हुए देखनेपर भी फट नहीं जाता, वास्तवमें यह पत्थरके सारमें से बनाया हुआ प्रतीत होताहै ॥ १३ ॥ हे महापुरुषो ! तुम शास्त्र,

अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥ अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः । असंज्ञा भुवि सङ्गम्य किं शेध्वमपराजिताः ॥ १५ ॥ सानूनिवाद्रेः संसुप्तान् दृष्ट्वा भ्रातॄन्महामतिः । सुखं प्रसुप्तान् प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ॥ १६ ॥ एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः । शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ॥ १७ ॥ इति कर्त्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् । नाभिपेदे महाबाहुश्चिन्तयानो महामतिः ॥ १८ ॥ अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदात्मानं तपःसुतः । एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥ बुद्ध्या विचिंतयामास वीराः केन निपातिताः ॥ २० ॥

देश तथा कालको जाननेवाले, तपस्वी और क्रियाकुशल हो, तो भी तुम अपनी योग्यताके अनुसार पराक्रम किये विना पृथ्वीपर पड़ेहुए क्यों सोरहे हो ? ॥ १४ ॥ हे भाइयों ! तुम्हारे शरीरोंमें किसीप्रकारका घाव नहीं हुआ है, तुम्हारे बाण भी तयार किये हुए नहीं हैं, इसलिये तुम-किसीसे हारेहुए नहीं प्रतीत होते हो, तथापि अचेत होकर भूमिपर पड़ेहुए कैसे सोरहे हो?॥१५॥महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरको पहाड़के शिखरोंकी समान अपने भाइयोंको पृथ्वीपर गिरकर सुखमें सोतेहुए देखकर बड़ा ही खेद हुआ, शरीरमें पसीना आगया और वह महादुःखदायक दशामें पड़गये, हायरे ! यह ऐसा न जाने कैसे होगया ? ऐसा कहते और शोकसागरमें डूबेहुए धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर व्याकुल होकर भाइयोंके मरणके विषयमें विचार करनेलगे ॥ १७ ॥ देश कालके विभागको जाननेवाले महाबुद्धिमान् और महाबाहु युधिष्ठिरने बहुत कुछ विचार किया, परन्तु इस समय क्या करना चाहिये ? इस बातका वह निश्चय नहीं करसके ॥ १८ ॥ धर्मात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अपने मनको स्थिर करके बड़ाभारी विलाप किया ॥ १९ ॥ और फिर वह अपनी बुद्धिसे विचार करनेलगे, कि-मेरे शूर भाइयोंको

नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् । भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ॥ २१ ॥ एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् । स्यात्तु दुर्योधनेनेदमुपांशु विहितं कृतम् ॥ २२॥ गांधारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना । यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥ २३ ॥ कस्तस्य विश्वसेद्वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः । अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥ २४ ॥ भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिन्तयत् । तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ॥ २५ ॥भूतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते । मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातृणामित्यचिंतयत् ॥ २६ ॥ एकैकशश्चौघबलानिमान् पुरुषसत्तमान् । कोऽन्यः प्रतिसमासीत कालांतक-

---

न जाने किसने मारडाला ? ॥ २० ॥ चारोंमेंसे किसीके भी शस्त्र की चोट नहीं लगी है, तथा यहां किसीके पैरोंके चिन्ह भी पडे हुए नहीं मालूम होते, इसलिये मेरी समझमें तो किसी महाशक्तिमान् प्राणीने इनको मारडाला है ॥ २१ ॥ इस विषयका मैं एकाग्रचित्त होकर विचार करूँ अथवा पहिले पानी पीलूं. पीछे इसके कारणको खोजूंगा, कपटभरी बुद्धिवाले दुर्योधनने शकुनिके द्वारा हमसे छुपाकर यह विषैला सरोवर तो नहीं बनवादिया है ? जो कार्य अकार्यको एकसा समझता है उस पापकर्म करनेवाले दुष्टात्माका विश्वास कौन वीर पुरुष करसकता है ? यदि ऐसा न हो तो गुप्त पुरुषोंके द्वारा उस दुष्टात्माने कहीं यह दुष्कर्म न करवाया हो ?. इस प्रकार परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने बहुत कुछ विचार किया, परन्तु कुछ निश्चय नहीं करसके और वह फिर विचार करनेलगे कि-यह पानी विषसे विगड़ाहुआ हो, ऐसा भी प्रतीत नहीं होता और इन मरेहुए मेरे भाइयोंमें कुछ विकार भी नहीं हुआ है, किन्तु इनके मुखोंका रंग प्रसन्न दीखरहा है ॥ २२–२६ ॥ ये हरएक महापुरुष जलके प्रवाहके वेगकी समान बलवान् हैं, इनके साथ कालका नाश करनेवाले यमराजके सिवाय दूसरा कौन पुरुष

यमाहृते २७ एतेन व्यवसायेन तत्तोयं व्यवगाढवान् । गाहमानश्च तत्तोयमंतरिक्षात् स शुश्रुवे॥२८॥यक्ष उवाच । अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षी नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः । त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र न चेत्प्रश्नान्पृच्छतो व्याकरोषि २९ मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः । प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३० ॥ युधिष्ठिर उवाचारुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक्। पृच्छामि को भवान् देवो नैतच्छकुनिना कृतम्३१हिमवान् पारियात्रश्च विंध्यो मलय एव च । चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः । ३२ । अतीव ते महत् कर्म कृतश्च बलिनाम्वर । यान्न देवा न गन्धर्वा

युद्ध करसकता है ? ॥ २७ ॥ ऐसा निश्चय करनेके अनन्तर राजा युधिष्ठिर उस सरोवरके जलकी ओरको गये,परन्तु वे ज्यों ही सरोवर में उतरनेको हुए उसी समय उनको आकाशवाणी सुनाई आयी ॥ २८ ॥ यक्षबोला, कि —मैं सिवार और मछलियोंसे आजीविका चलानेवाला वगला हूं और मैंने ही तेरे भाइयोंको मारडाला है, हे राजपुत्र ! मैं तुझसे प्रश्न करता हूं, उनके उत्तर नहीं देगा तो इन चारोंकी समान तू पांचवां भी मृत्युको प्राप्त होगा ॥२९॥ हे तात कुन्तीनन्दन ! तू पानी पींनेका साहसका काम न करेना, मेरे पहिलेसे कियेहुए नियमके अनुसार प्रश्नोंके उत्तर देकर पानी पीना और भरकर ले भी जाना ॥ ३० ॥ यधिष्ठिर बोले कि–मैं तुमसे बूझता हूं, कि–तुम कौन देवता हो ? तुम रुद्र वसु या पवन देवता हो क्या ? अथवा यह काम शकुनिने तो नहीं किया है ? ॥ ३१ ॥ हिमालय, पारियात्र, विन्ध्याचल और मलयाचल पहाडोंकी समान वड़े और महातेजस्वी मेरे भाइयोंको किस ने मारडाला है ॥ ३२ ॥ हे महाबली ! तूने वड़ा ही भारी काम किया है, कि जिनको वडे भारी युद्धमें देवता, गंधर्व, असुर और राक्षस भी नहीं सहसकते थे, उनको तूने मारडाला, इसलिये

नासुराश्च न राक्षसाः३३ विषहेरन् महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् । न ते जानामि यत् कार्य्यं नाभिजानामि कांक्षितम् ॥ ३४ ॥ कौतूहलं महज्जातं साध्वसञ्चागतं मम । येनास्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ॥३५॥ पृच्छामि भगवंस्तस्मात् को भवानिह तिष्ठति यक्ष उवाच । यक्षोऽहमस्मि भद्रन्ते नास्मि पक्षी जलेचरः मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः । वैशम्पायन उवाच ॥ ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं सपरुषाक्षराम् ॥ ३७ ॥ यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः । विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ॥३८॥ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् । वृक्षमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३९ ॥ मेघगम्भीरनादेन तर्जयन्तं महास्वनम् ।यक्ष उवाच। इमे ते भ्रातरो राजन् वार्य्यमाणा

यह काम तूने बड़ा ही अचरजभरा किया है, परन्तु तुम्हारा कर्त्तव्य वा इच्छा क्या है, यह बात मेरे जाननेमें नहीं आई ।३३। ॥ ३४ ॥ इसको जाननेके लिये मुझे बड़ा कुतूहल होरहा है तथा भय भी लगता है, अरे मेरा हृदय उद्विग्न होगया और शिरमें दरद होनेलगा ॥ ३५ ॥ इसलिये हे भगवन् ! यहां रहनेवाले आप कौन हैं ? यक्षने कहा, कि—तेरा कल्याण हो, मैं जलचर पक्षी नहीं हूं, किन्तु यक्ष हूं और मैंने ही तेरे इन महाबली सब भाइयोंको मारडाला है, वैशम्पायन कहते हैं, कि—उस यक्षकी अमङ्गलभरी और कठोर अक्षरोंवाली वाणीको सुनकर, यक्ष अपनी बातको पूरी भी नहीं करने पाया उससे पहिले ही भरतवंशमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर उसके पास जाकर खड़े होगये और उन्होंने देखा तो तालके वृक्षकी समान ऊँचा, अग्नि और सूर्यकी समान तेजस्वी, भयानक नेत्रोंवाला, महाशरीरधारी, दुराधर्ष और पर्वत की समान ऊँचा एक यक्ष वृक्ष पर बैठकर मेघकी समान गम्भीर शब्दसे चिल्लाकर तिरस्कार कर रहा था, वह यक्ष बोला, कि हे राजन् ! मैंने तेरे इन भाइयोंसे जल पीनेका और लेजाने

मयाऽसकृत्॥४०॥बलात्तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै सूदिता मया। न पेय-मुदकं राजन् प्राणानिह परीप्सता।४१। पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः। प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च॥ ४२ ॥ युधिष्ठिर उवाच। न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम्। कामं नैतत् प्रशंसन्ति संतो हि पुरुषाः सदा। ४३। यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत् पुरुषर्षभ। यथाप्रज्ञन्तु ते प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम्। ४४ यक्ष उवाच। किंस्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः। कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति॥ ४५ ॥ युधिष्ठिर उवाच। ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः। धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये

का बारंबार निषेध किया था, तो भी॥ ३९-४० ॥ ये जोरावरी जल लेजानेकी इच्छा करनेलगे,तब मैंने इनको मारडाला है,हे राजन्! यदि तू भी अपने प्राणोंको बचाना चाहता हो तो यहाँ पानी न पीना ॥ ४१ ॥ हे पृथानन्दन! तू पानी पीनारूप साहसका काम न करना, यह स्थान पहिलेसे ही मेरा है और मैं पहिलेसे ही निश्चय करचुका हूं, कि–जो कोई मेरे प्रश्नोंका उत्तर देय वही इसमेंका जल पिये इस लिये तू मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे और फिर हे कुंतीपुत्र! जल पी और भरकर लेजा ॥ ४२ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि – हे यक्ष! जो वस्तु पहिलेसे ही तेरे अधिकारमें चली आती है उसके ऊपर मैं अधिकार चलाना नहीं चाहता, हे पुरुष श्रेष्ठ! अपने आप अपनी सराहना करना, इसको महात्मा पुरुष किसीप्रकार भी अच्छा नहीं मानते, किंतु ऐसा करनेको बड़ा-धिक्कार देते हैं, तो भी मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तेरे प्रश्नोंके उत्तर दूँगा, तू भले ही मुझसे प्रश्न कर॥ ४३ ॥ ४४ ॥ यक्ष बोला, कि –आदित्यका उदय कौन करता है? उसके चारों ओर कौन २ फिरता है? उसका अस्त कौन करता है? और वह किस वस्तुमें रहता है? ॥ ४५ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि–ब्रह्म सूर्यका उदय करता है, देवता सूर्यके आसपास फिरते

च प्रतितिष्ठति ॥ ४६ ॥ यक्ष उवाच । केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति

हैं, धर्म उसका अस्त करता है और वह सत्यमें रहता है, इसका तात्पर्य यह है, कि–आदित्य शब्दके दो अर्थ हैं सूर्य और जीवात्मा, ब्रह्म कहिये प्रजापति, वेद और स्वात्मज्ञान जीवात्मा श्रोत्र आदिके द्वारा शब्द आदिका ग्रहण करने पर आदित्य नामसे कहा जाता है और वह मैं वड़ा हूं, मैं गौर रङ्गका हूं, मैं अन्धा हूं इत्यादि अनुभवके कारण देहको आत्मा मानकर जगत् में देहरूपसे भासता है और वादी भी उसके विपयमें अनेकों प्रकारकी कल्पनायें करते हैं, उस जीवको ब्रह्म कहिये वेद देह आदिसे जुदा करताहै मानो यही उसका उदय करता है अर्थात् श्रुति ही आत्मतत्त्वका निर्णय करनेमें प्रमाण होती है, देवभाव को प्राप्त शम दम आदि जब उस जीवकी सहायता करते हैं तव साक्षात् अथवा परम्परा संवन्धसे कर्म और उपासनारूप धर्म उस आदित्य नामक जीवको अस्त करदेते हैं अर्थात् हृदयाकाश रूप पवित्र स्थानमें लेजाते हैं, जो हृदयाकाश आठ प्रकारके दोषों से वचा रहता है, इसप्रकार सगुण ब्रह्मभावको प्राप्त होजाने पर अन्तमें ज्ञानके संवन्धसे वह भाव भी दूर होजाने पर सकल निपेधोंकी अवधिरूप शुद्ध चैतन्यमात्र सतयमें लय पाता है, इससे समझना यह है–यक्षने बूझा, कि–अविद्यासे घिरे हुए आत्मा का उत्कर्परूप उदय (इस लोकके संवन्धका त्याग) कौन करता है ? इस पर युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि-ब्रह्मज्ञान । दूसरा प्रश्न किया, कि-उस उदयमें सहायता कौन करता है ? उत्तर दिया, कि-संयम नियम आदि । तीसरा प्रश्न किया, कि--आत्माको अपने स्थानपर कौन पहुंचाता है ? उत्तर दिया, कि–कर्म और उपासनारूप धर्म । चौथा प्रश्न किया, कि—आत्मा कहां वसता है ? इसका उत्तर दिया, कि–सत्य ज्ञानरूप ब्रह्ममें पहिले शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरी वस्तु शम दम

केनस्विद्विन्दते महत्। केनस्विद्द्वितीयवान् भवति राजन् केन च बुद्धिमान्॥४७ युधिष्ठिर उवाच। श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विंदते महत्। धृत्या द्वितीयवान् भवति बुद्धिमान् वृद्धसेवया॥ ४८॥

आदि सम्पत्ति रूप योग है, जिस योगके बलसे जीवका देहाभिमान दूर होजाता है और फिर स्वर्ग कहिये सगुण ब्रह्मका दर्शन होता है और पीछेसे मुक्ति पाजाता है॥ ४६ ॥ यक्षने बूझा, कि—हे राजन्! किस वस्तुके द्वारा मनुष्य श्रोत्रिय होसकता है? किस वस्तुके द्वारा मनुष्य महत् पदार्थको पासकता है किस वस्तुके द्वारा मनुष्य द्वितीयवान् अर्थात् दूसरेकी सहायता वाला होता है? और किस वस्तुके द्वारा बुद्धिमान् होता है? ॥ ४७ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि—वेदशास्त्रका अभ्यास करनेसे मनुष्य श्रोत्रिय होसकता है, तपस्याके द्वारा महत् पदार्थ को पाता है, धीरजसे दूसरेकी सहायतावाला होता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे बुद्धिमान् बनता है। तात्पर्य यह है, कि—वेद का अध्ययन करनेवाला पुरुष आचार्यके मुखसे वेदका अर्थ पढ़कर श्रोत्रिय होसकता है, परन्तु केवल वेदके अक्षरोंको कण्ठस्थ करलेनेसे श्रोत्रिय नहीं होसकता, इसलिये आचार्यके पास वेदका अर्थ पढ़कर श्रोत्रिय बनेकी आवश्यकता है और श्रवण करेहुए वेदके अर्थका तपस्या तथा युक्तिके द्वारा विचार करनेसे परब्रह्मके स्वरूपका निश्चय होता है, तदनन्तर निदिध्यासनके द्वारा प्रत्यगात्माका अविद्यासे प्राप्त किया हुआ असमर्थपने आदिवाला जो जीवका स्वरूप है उसके विपरीत विद्यासे प्राप्त होसकने वाले दूसरे स्वरूपको प्राप्त होता है। इन श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीनों विषयोंका निश्चय करने वाली बुद्धि गुरुके उपदेशसे मिलती है। श्रुति भी कहती है—'आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् गुरुके पाससे पुरुषको ज्ञान

यक्ष उवाच। किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव। कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ४९ युधिष्ठिर उवाच। स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव। मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव॥ ५०॥ यक्ष उवाच। किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव। कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव॥ ५१॥ युधिष्ठिर उवाच। इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव। भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव॥ ५२॥ यक्ष उवाच॥ किमेकं

मिलता है॥ ४८॥ यक्षने बूझा, कि—हे राजन्! ब्राह्मणोंमें देवतापन क्या है? और उनमें सत्पुरुषोंकेसा धर्म क्या है? उनमें मनुष्यपना क्या है और दुर्जनोंकेसा आचरण क्या है? ॥ ४९॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि—अङ्गोंके साथ वेदोंका अध्ययन करना ब्राह्मणोंमें देवतापन है, तपस्या करना उनमें सत्पुरुषोंकेसा धर्म है, मरजाना यह मनुष्यपना है और निन्दा करना यह दुर्जनोंकेसा धर्म है, तात्पर्य यह है, कि—वेदोंका अध्ययन करनेसे ब्राह्मण स्वर्गमें जासकता है, सम दम आदि ब्राह्मणोंका सदाचार है, देह आदिका अभिमान करना यह ब्राह्मणोंमें मनुष्यपना माना जाताहै और उससे जन्म मरणके चक्कर में पड़ते हैं तथा देवता और ब्राह्मणोंकी निन्दा करना यह दुर्जनोंका आचरण कहलाता है, इसमें पहिले कहीहुई दो बातें (देवतापन और सज्जनता) ब्राह्मणोंको ग्रहण करनी चाहियें और पिछली दो बातें (मनुष्यपन और दुर्जनता) त्यागनी चाहियें॥ ५०॥ यक्षने बूझा; कि—हे राजन्! क्षत्रियोंका देवतापन क्या है? उनका सत्पुरुषोंकेसा धर्म क्या है? उनका मनुष्यपना क्या है और दुर्जनोंकेसा आचरण क्या है?॥ ५१॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि—धनुर्वेद (शस्त्रविद्या) का सीखना क्षत्रियोंका देवतापन है, यज्ञ करना इनका सज्जनोंकेसा धर्म है. डरजाना इनका मनुष्यपना है और शरणागत दुःखी मनुष्यकी रक्षा न करना इनका दुर्जनोंकेसा दुराचरण है॥ ५२॥ यक्ष बोला, कि—कौन

यज्ञियं यजुः। का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्त्तते५३युधिष्ठिर उवाच। प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियंयजुः।ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्त्तते॥५४॥ यक्ष उवाच। किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निवपतांवरम्। किंस्वित् प्रतिष्ठमानानां किंस्वित् प्रसवतां वरम् ५५युधिष्ठिर उवाच। वर्षमावपतां श्रेष्ठं वीजं निवपतां वरम्। गावः

एकवस्तु यज्ञमें गायाजानेवाला सामरूप है? कौन एक वस्तु यज्ञ में उपयोगी यजूरूप है? इनमेंसे कौनसी वस्तु यज्ञको वरती है और यज्ञ किस वस्तुका उल्लंघन नहीं करता है ?॥ ५३॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि—निःसन्देह प्राण ही यज्ञसम्बन्धी साम है, मन ही यज्ञसंबंधी यजु है और एक ऋचा ही यज्ञको वरती है तथा यज्ञ उसका उल्लंघन नहीं करता है, तात्पर्य यह है, कि सामवेद और यजुर्वेद जैसे काम्य यज्ञके उपकारक हैं तैसे ही प्राण और मनको यदि नियममें रक्खाजाय तो ये दोनो ज्ञानयज्ञमें उपयोगी होते हैं। जैसे ऋचाके विना काम्ययज्ञ व्यर्थ है तैसे ही शुद्ध प्रार्थनाके विना आत्मज्ञान भी वृथा है, और वाणीके द्वारा परमात्माकी प्रार्थना करनेसे सत्य वस्तु प्राप्त होती है सबमें श्रेष्ठ ऋग्वेद ज्ञानको श्रेष्ठ बताता है, इसलिये उसका उल्लंघन करनेसे कभी भी ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि—वेदमें कितने ही स्थानोमें कहा है, कि—तुम मन, वाणी और प्राणको नियममें रखकर आत्माके हितमें लगजाओ,प्रजापतिने भी इन मन,वाणी तथा प्राण तीनोकी उत्पत्ति आत्माके हितके लिये की है और इनमें प्राण तथा मनकी अपेक्षा वाणी अर्थात् वेदका श्रेष्ठपना कहा है॥ ५४॥ यक्षने,बूझा, कि—आवपन करनेवालोंको कौनसी वस्तु श्रेष्ठ है? निर्वपन करनेवालोंको कौनसी वस्तु श्रेष्ठ है,प्रतिष्ठा पानेवालों को कौनसी वस्तु श्रेष्ठ है; और सन्तान उत्पन्न करनेवालोंको कौनसी वस्तु श्रेष्ठ है?॥५५॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, आवपन करने वालों (खेतमें ऊपर २ वीज वोनेवालों) में जलकी वृष्टि श्रेष्ठ

प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरम् ॥ ५६ ॥ यक्ष उवाच । इन्द्रियार्थाननुभवन् बुद्धिमान् लोकपूजितः । सम्मतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन् को न जीवति ॥ ५७ ॥ युधिष्ठिर उवाच ॥ देवतातिथिभृ·

गिनीजाती हैं । निर्वपन करनेवालों (भूमि खोदकर भीतर बीज बोनेवालों) में बीज श्रेष्ठ गिनाजाता है । प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवालों में गौएं श्रेष्ठ मानीजाती हैं और सन्तान उत्पन्न करनेवालोंमें पुत्र श्रेष्ठ गिनाजाता है । तात्पर्य यह है, कि–देवताओंको तृप्त करने का नाम आवपन है, देवताओंको किसप्रकार तृप्त करें, इसके विषयमें कहते हैं, कि–अग्निमें विधिविधानसे जो आहुति दीजाती है वह आदित्यको पहुंचती है, आदित्य पानीकी वर्षा करता है, पानीकी वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे प्रजाका निर्वाह हुआ करताहै, इसप्रकार जो यज्ञके द्वारा देवताओंका आवपन कहिये तृप्ति करते हैं उनको सबका उपकार करनेवाली जलकी वर्षा ही श्रेष्ठ फल मानीजाती है । निर्वपन नाम पितृतर्पण करनेका है, निवापाञ्जलि देनी चाहिये, जा निवापाञ्जलि देते हैं, उनको पितामह प्रसन्न होकर आयु सन्तान, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, सुख तथा राज्य देते हैं, इस आशीर्वचनके अनुसार बीज कहिये आत्माका उपकार करनेवालों ये सब वस्तुएं श्रे फलरूप गिनीजाती हैं और जो इस लोकमें प्रतिष्ठा पाना चाहते हैं उनके लिये अतिथियोंको तृप्त करनेवाली गौएं श्रेष्ठ फल मानीजाती हैं और जो सन्तानका लाभ प्राप्त करना चाहते हों उनको श्राद्ध तर्पण आदि कर्ममें मुख्य अधिकारी रूपसे पुत्र ही दौहित्र (धेवते) आदिकी अपेक्षा श्रेष्ठ फल मानाजाता है ॥ ५६ ॥ यक्षने बूझा, कि– बुद्धिमान्; लोकमें प्रतिष्ठा पायाहुआ और सब प्राणियोंमें आदर पायाहुआ कौन पुरुष है, कि–जो इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंका अनुभव करताहै और श्वांस लेता हुआ भी जीवित नहीं है ५७ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि–जो पुरुष देवताओंका, अतिथियोंका

स्थानां पितृणामात्मनश्च यः। न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ५८ ॥ यक्ष उवाच। किंस्विद्गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरञ्च खात्। किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद बहुतरं तृणात् ॥ ५९ ॥ युधिष्ठिर उवाच। माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा। मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरा तृणात् ॥ ६० ॥ यक्ष उवाच। किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति।

माता पिता आदिका, सेवक आदि पोष्यवर्गका, पितरोंका तथा अपना पोषण नहीं करता है वह श्वास लेताहुआ भी जीवित नहीं है अर्थात् मराहुआ है, तात्पर्य यह है, कि-पुरुष शुभ अशुभ विचार करसकता हो, बहुतसे धनके कारण लोकमें पूजाजाता हो और दान देनेकी शक्ति होनेके कारण याचक उसकी आशा करते हों तो भी यदि वह दान आदि धर्मोंको न करता हो, श्राद्ध तर्पण आदिसे पितरोंको तृप्त न करता हो, अतिथियोंकी सेवा न करता हो, काम करनेवाले सेवकोंका योग्यताके अनुसार सतकार न करता हो तथा अपनेआप भी ऐश्वर्यका सुख न भोगता हो ऐसे पुरुषका केवल जीवन ही दुःखरूप नहीं होताहै, किंतु ऐसे को जीतेहुए ही मराहुआ जानो ॥ ५८ ॥ यक्षने बूझा, कि—भूमिसे भी अधिक भारी क्या है? आकाशसे भी ऊँचा क्या है? वायुसे भी अधिक वेगवान् क्या है? और तृणोंसे भी अधिक संख्यावाला क्या है? ॥ ५९ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि—माता पृथ्वीसे भी अधिक भारी है, पिता आकाशसे भी अधिक ऊँचा है, मन वायुसे भी अधिक वेगवाला है और चिंता तृणोंसे भी अधिक है, अर्थात् पीछे वेदका अध्ययन आदि जो कहा है वह जिससे न बनसके वह माता पिताकी सेवा करै और मनके वेगको रोकै तथा चिंताओंमें कमी करै ॥ ६० ॥ यक्षने बूझा, कि—ऐसा कौन है जो सोने पर भी आंखें नही मीचता है? वह कौन है जो जन्म लेनेपर भी चलायमान नहीं होता है, किसके

कस्यस्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते ॥६१॥ युधिष्ठिर उवाच ।
मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डजातं न चोपति। अश्मनो हृदयं नास्ति

हृदय नहीं है ? और वेगसे कौनसी वस्तु बढ़ती है ? ॥ ६१ ॥
युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि–मच्छी सोतेमें भी आँख नहीं मूंदती है, अण्डा उतपन्न होजाने पर भी चलायमान नहीं होता है, किंतु एक स्थान पर स्थिर पडा रहता है, पत्थरके हृदय नहीं होता है और नदी जलके वेगसे बढ़ती है, तात्पर्य यह है, कि–व्यावहारिक पक्षमें मछली जैसे दोनों तटोंपर फिरा करती है और अपने सथान पर निद्रा लेते समय आंखें नहा मूँदती है तैसे ही आध्यात्मिक पक्षमें मत्स्य कहिये जीव स्वप्नावस्थामें और जाग्रत् अवस्थामें अथवा इस लोकमें और परलोकमें फिरा करता है, और समान रूप तथा स्वरूपभूत परब्रह्मको प्राप्त होने पर भी जीवकी दृष्टि मुंदती नहीं है, अर्थात् जीवके ज्ञानका नाश नहीं होता है, इस लिये मनका विनाश होने पर भी जीवका नाश नहीं होसकता, ऐसे ही जीवके अविनाशी होनेसे जीवकी उत्पत्ति भी नहीं होसकती । अण्डका अर्थ है पिंड और ब्रह्माण्ड । ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, परन्तु वह चलायमान नहीं होता है, पुरुषरूप परमात्माकी प्रेरणा होनेसे अहङ्कार आदि सब जड़ पदार्थ चेष्टावाले कहिये क्रियावाले होते हैं । यह अनुत्पन्न और उत्पन्नरूप जीव तथा पिण्ड ब्रह्माण्डका संयोगरूप जो दुःख उस दुःखकी निवृत्ति, केवल स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीन शरीरोंके आक्षेपकी निवृत्ति करनेसे होती है । अश्मका अर्थ है पत्थर और योगी । ऊपर कहेहुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनो शरीरोंके अध्याससे रहित योगीको हृदय कहिये शोकका स्थान नहीं होता है, योगियोंका समाधिमें जो व्युत्थान होता है वह केवल चित्तके विक्षेपके कारणसे ही होता है। योगियोंकी चित्तरूप नदी बाहरी पदार्थोंके दर्शन आदि आवेगके कारणसे

नदी वेगेन वर्धते ६२ यक्ष उवाच। किंस्वित् प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः । आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥ ॥ ६३ ॥ युधिष्ठिर उवाच । सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्य्या मित्रं गृहे सतः । आतुरस्य भिषङ् मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ ६४ ॥ यक्ष उवाच । कोऽतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद्धर्मः सनातनः । अमृतं किंस्विद्राजेन्द्र किंस्वित् सर्वमिदं जगत् ॥ ६५ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् । सनातनो

वृद्धिको प्राप्त होती है, परन्तु जैसे सुपुप्तिमेंसे उठेहुएको स्वप्नका दीखना, जबतक स्वप्न देखा हो उतने समय ही रहता है, तैसे ही समाधिमेंसे उठेहुए योगीको यह प्रपञ्च जबतक दीखता है तबतक ही रहता है, परन्तु पीछे उसका तुरन्त ही लय होजाता है ॥ ६२ ॥ यक्षने बूझा, कि--परदेशीका मित्र कौन है ? घरपर रहनेवालेका मित्र कौन है ? आतुर (रोगी) का मित्र कौन है ? और मरनेको उद्यत हुए प्राणीका मित्र कौन है ? ॥ ६३ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि--साथमें यात्रा करनेवालोंका समूह प्रवासीका मित्र है, घरपर रहनेवालेका मित्र स्त्री है ? रोगीका मित्र वैद्य है और मरनेको उद्यत हुएका मित्र दान है, तात्पर्य्य यह है कि--प्रवास करनेवालोंको जैसे यात्रियोंका समूह हितकारी होता है ऐसे ही मनका निरोध करनेमें असमर्थ और मरनेको तयार हुए पुरुषका दान ही हितकारी गिनाजाता है ॥ ६४ ॥ यक्षने बूझा कि--हे राजेन्द्र ! सब प्राणियोंका अतिथि कौन है ? सनातन धर्म क्या है? अमृत क्या है और यह सब जगत् क्या है? । ६५ । युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि--अग्नि सब प्राणियोंका अतिथि है गौका दूध अमृत कहलाता है, अमृत सनातन धर्म है और वायु सब जगत्रूप कहलाता है, तात्पर्य यह है, कि--दान चित्तको शुद्ध करके यज्ञ आदिमें प्रवृत्ति करानेवाला है और यज्ञ आदि चित्तकी एकाग्रताके द्वारा समष्टिकी उपासनामें प्रवृत्ति कराता है, इसलिये यज्ञमें

ऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ॥ ६६ ॥ यक्ष उवाच । किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः । किंस्विद्धिमस्य भैषज्यं किंस्विदावपनं महत् ॥६७॥ युधिष्ठिर उवाच । सूर्य्य एको विचरते

साधनरूप आहवनीय आदि अग्निको ही अतिथिकी समान सब लोगोंको पूजा करनी चाहिये, इसीसे अग्निको सब प्राणियोंका मित्र कहा है । अमावास्याका चन्द्रमा एक कलामात्र शेष रहता है, वह प्रातःकालमें आदित्यमण्डलमें, मध्याह्नमें वनस्पतिमें और सायङ्कालके समय जलमें प्रवेश करके तृण, गुल्म, लता, वृक्ष और औषधियोंको उत्पन्न करता है और गौएं औधियोंमेंके तथा जलमेंके चन्द्रमाका भक्षण तथा पान करती हैं, इस कारण चन्द्रमाके शरीरमेंका अमृत गौओंके शरीरोंमें प्रवेश करके दूधके रूपमें होजाता है, इसकारण दूध अमृत है । उस दूधको ब्राह्मण मंत्रोंके द्वारा पवित्र करके अग्निमें देवताओंके लिये उसकी आहुति देकर फिर चंद्रमाकी वृद्धि करते हैं, इसलिये गौका दूध ही सोम कहिये अमृत कहलाता है और मोक्षका कारणरूप होनेसे यह अमृत ही सनातनधर्म मानाजाता है और श्रुति कहती है कि-वायु ही समष्टि है और वायु ही व्यष्टि है, इस श्रुतिके प्रमाणसे वायु ही पिण्डरूप और ब्रह्माण्डरूप है, इसकारण वायु ही मोक्षका द्वार कहलाता है ॥ ६६ ॥ यक्षने कहा, कि -अकेला कौन विचरता है ? एक वार उत्पन्न होकर फिर कौन उत्पन्न होता है ? ठण्डकी औषध क्या है ? और बड़ाभारी आवपन (क्षेत्र) क्या है ? ॥ ६७ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि-सूर्य आकाशमें अकेला विचरा करता है, चन्द्रमा एक वार जन्मकर फिर जन्म लेता है, ठण्ढकी औषध अग्नि है और पृथ्वी बड़ाभारी आवपन है, तात्पर्य यह है, कि जब पिण्ड ब्रह्माण्डरूप वायुका भी नाश होजाता है तब लौकिक दृष्टान्तमें जैसे एक प्रकाश करनेवाला सूर्य आकाशमें फिरता है, तैसे ही चैतन्यरूप एक आतमा ही शेष रहता है और तीन अव

चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ ६८ ॥ यक्ष उवाच । किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः । किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम् ६९ युधिष्ठिर उवाच । दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः । सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शील-

स्थाओंमें तथा उनके अभावमें कहिये तुरीयावस्थामें जैसे आकाश में सूर्य प्रकाशता है तैसे ही सब अवस्थाओंमें परमात्माका प्रकाश होता है, इसलिये प्रपञ्चका भान नहीं होगा, तो भी युधिष्ठिरसे यक्षने बूझा, कि—तुम प्रपञ्चका भान होनेके विषयमें कैसे कहते हो ? इसके उत्तरमें युधिष्ठिर कहते हैं, कि—जैसे लोकमें चन्द्रमा वारंवार उत्पन्न हुआ करता है तैसे ही मन भी अविद्याके कारण वारंवार उत्पन्न होता है और वह दुःखदायक जगत्की कल्पना किया करता है, अतः उस अविद्याके नाशका उपाय करना चाहिये, जैसे हिम कहिये कुहर सूर्यको ढकलेता है, तैसे ही अविद्या आत्माको ढकलेती है, इसलिये उसका नाश करनेका उपाय अग्नि कहिये 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य हैं, जैसे अग्निसे कुहर और ठण्डका नाश होता है, तैसे ही 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो, इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे अविद्याका नाश होता है। लौकिक उदाहरणमें जैसे यह भूमि बड़ाभारी क्षेत्र गिनीजाती है तैसे ही अध्यात्मपक्ष में भूमि कहिये यह शरीर विद्या और अविद्याका वड़ाभारी क्षेत्र है, क्योंकि इस शरीरसे जैसे संसारीपनेका तैसे ही असंसारी-पनेका कहिये ब्रह्मभावका भी साक्षात्कार किया जासकता है ॥ ६८ ॥ यक्षने बूझा कि—धर्मका मुख्य स्थान कौनसा है ? यश का मुख्य स्थान कौनसा है ? स्वर्गका मुख्य स्थान कौनसा है और सुखका मुख्य स्थान क्या है ? ॥ ६९ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि—धर्मका मुख्य स्थान चतुरता है, यशका मुख्य स्थान दान है, स्वर्गका मुख्य स्थान सत्य है और सुखका मुख्य स्थान शील है, तात्पर्य यह है कि—जिनको धर्म, यश, स्वर्ग और सुख

मेकपदं सुखम् ॥ ७० ॥ यक्ष उवाच । किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किं स्विद्दैवकृतः सखा । उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम् ॥ ७१ ॥ युधिष्ठिर उवाच । पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा । उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ ७२ ॥ यक्ष उवाच । धन्यानामुत्तमं किंस्विद्धनानां स्यात् किमुत्तमम् । लाभाना-मुत्तमं किं स्यात् सुखानां स्यात् किमुत्तमम् ॥ ७३ ॥ युधिष्ठिर उवाच । धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् । लाभानां श्रेष्ठ

पानेकी इच्छा हो वे यदि चतुराई दान सत्य और शीलका अव लम्बन करते हैं तो अपने काममें सिद्धि पाते हैं, क्योंकि-चतुराई आदिमें ही धर्म आदिका पर्यवसान होता है ॥ ७० ॥ यक्षने बूझा कि-मनुष्यका आत्मा कौन है ? मनुष्यका दैवकृत मित्र कौन है ? मनुष्यका उपजीवन क्या है ? और मनुष्यका आश्रय कौन है ? ॥ ७१ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि—पुत्र मनुष्यका आत्मा कहलाता है, स्त्री मनुष्यका दैवकृत मित्र है, मेघ मनुष्यका जीवन है और दान मनुष्यका परम आश्रय स्थान है, तात्पर्य यह है. कि पहिले कहे चतुराई आदिमें दान श्रेष्ठ कहलाता है, क्योंकि—दान करनेसे पुत्र सरीखा आत्मा, स्त्री सरीखा मित्र, मेघसरीखा जीवन, यह सब मिलता है 'नादत्तं उपतिष्ठति' दिये विना कुछ नहीं मिलता, इस वचनके अनुसार किसी वस्तुका दान किये विना वह भोगनेको नहीं मिलती, इस लिये दान अवश्य करै ॥ ७२ ॥ यक्षने बूझा, कि-धनकी साधन सब वस्तुओंमें उत्तम वस्तु कौन है ? सब धनोंमें उत्तम धन क्या है ? लाभोंमें उत्तम लाभ क्या है ? और सुखोंमें उत्तम सुख क्या है ? ॥ ७३ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि-धन पानेके सब सा-धनोंमें उत्तम साधन चतुराई है, धनोंमें उत्तम धन शास्त्रका ज्ञान है, लाभोंमें उत्तम लाभ आरोग्य है, सुखोंमें उत्तम सुख सन्तोष है, तात्पर्य यह है, कि-सोना चांदी आदि धातुएं विद्याके सामने

मारोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ७४ ॥ यक्ष उवाच । कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः । किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्न जीर्यते ॥ ७५ ॥ युधिष्ठिर उवाच । आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः । मनो यम्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भिर्न

तुच्छ मानीजाती हैं, इसलिये शास्त्रज्ञानरूप चतुराई पानेके अनन्तर उचित उद्योगका आरंभ करै, शास्त्रज्ञानका प्रयोजन केवल धर्म ज्ञानके लिये तथा धर्मसंग्रह करनेके लिये होता है, परन्तु यदि रोगी होय तो धर्मसाधन नहीं कियाजासकता, अतः धर्मसाधनसे पहिले आरोग्य चाहिये, इसकारण ही आरोग्य सबसे बढ़कर लाभ है। तथा वासना दुःखका मूल है, वासना दूर होजाने पर दुःख नहीं रहता है, वासना दूर होनेका नाम ही सच्चा संतोष है और यह संतोष ही श्रेष्ठ सुख मानाजाता है। वेदादिका पढ़ना और आरोग्य ये केवल संतोपके द्वारा ही ज्ञानमें उपकारी होते हैं ॥ ७४ ॥ यक्षने बूझा, कि-इस लोकमें श्रेष्ठ धर्म क्या है ? नित्य फल वाला धर्म क्या है ? किसको वशमें रखनेसे मनुष्यको शोक नहीं करना पड़ता है ? और किनके साथ कीहुई सन्धि नष्ट नहीं होती है ? ॥ ७५ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि—अभयदान वा दया परम धर्म है, तीनों वेदोंके अनुसार कियाहुआ धर्म नित्यफल देता है, मनको वशमें रखनेसे मनुष्यको शोक नहीं करना पडता है तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ की हुई संधि (मित्रता) नष्ट नहीं होती है। तातपर्य यह है, कि—विषयोंका त्याग करके त्यागीहुए मनुष्यों को किसी भी प्राणीसे भय नहीं लगता है, इसलिये संन्यासधर्म ही सबसे उत्तम और आश्रय करने योग्य है, अभयदान कहिये दया ही परम धर्म है, इससे श्रेष्ठ दूसरा कोई धर्म नहीं है, जो मनुष्य प्राणीमात्रके ऊपर दयालु रहता है वही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ धर्मका आचरण करता है। अकार, उकार और मकार ये तीन प्रणवरूप त्रयीधर्म कहलाताहै, इन अकार आदि तीन अक्षरोंका

जीर्यते॥७६॥यक्ष उवाच। किन्नु हित्वा प्रियो भवति किन्नु हित्वा न शोचति। किन्नु हित्वार्थवान् भवति किन्नु हित्वा सुखी भवेत्७७ युधिष्ठिर उवाच। मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति।

अर्थ क्रमसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण हैं, ये तीनों आत्माकी उपाधि हैं, इनमें अगले २ का पहिले२ में लय करके आधीमात्रा के अर्थरूप तुरीय ब्रह्ममें स्थिति करनेसे मोक्ष होती है, अतः त्रयीधर्मके फलको अविनाशी कहा है और इस त्रयीधर्मको पाने के लिये मनका निग्रह करना चाहिये, क्योंकि- मनका निग्रह करनेसे आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है और उसके होने पर जीव शोकसे छूटजाता है, परन्तु मनका निग्रह किसप्रकार करना चाहिये ? इसके लिये दयापरायण साधु महात्मा पुरुषोंका आश्रय (सन्धि-मित्रता-सङ्ग) करनेकी आवश्यकता है, क्योंकिमहात्मा पुरुषोंका सङ्ग और उनके वताये हुए उपायका आश्रय लेनेसे मनुष्य अवश्य कृतकृत्य होजाता है॥ ७६ ॥ यक्षने बूझा, कि--मनुष्य किस वस्तुका त्याग करनेसे प्रिय होता है? किस वस्तुको त्यागनेसे शोक नहीं करता है ? किस वस्तुको त्यागनेसे धनवान् होता है और किस वस्तुका त्याग करनेसे सुखी होता है ? ॥ ७७॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि- मनुष्य मानका त्याग करनेसे लोगोंका प्रिय होजाता है, क्रोधको त्यागनेसे शोक नहीं करता है,कामवासनाको त्यागनेसे धनवान् होता है और लोभ को त्यागनेसे सुखी होता है। तात्पर्य यह है,कि-अभिमान आदिको त्यागनेसे मनका निग्रह होसकता है क्योंकि-वही उसका साक्षात् उपाय है इसलिये मनुष्यको अभिमानका त्यागकरते हुए मनका निग्रह करके धर्म आदिकी प्राप्ति करनेके लिये सावधान रहना चाहिये। क्रोध पहिले दूसरोंको पीड़ा दिलवाता है और फिर क्रोध करनेवालेको पीड़ा देता है और उससे क्रोध करनेवालेको शोक करना पड़ता है। कामी पुरुष धनको खोता है, जितेन्द्रिय धनवान्

कामं हित्वार्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ७८ यक्ष उवाच । किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्त्तके । किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ७९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । धर्मार्थं ब्राह्मणेदानं यशोऽर्थं नटनर्त्तके । भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥८०॥ यक्ष उवाच । केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते । केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ८१ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अज्ञाने-नावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते । लोभात्त्यजति मित्राणि सङ्गात्

रहता है,लोभीको सुखनहीं होता है,लोभको त्यागनेवाला ही सुखी होता है, क्योंकि-नई २ तृष्णायें सदा दुःख दिया करती हैं॥७८॥ यक्षने बूझा कि- ब्राह्मणको दान क्यों दियाजाता है ? नट और नर्त्तकोंको दान क्या दियाजाता है ? सेवकोंको दान किसलिये दियाजाता है और राजाओंको दान क्यों दियाजाता है ? ॥७९॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि-धर्मके लिये ब्राह्मणोंको दान दिया-जाता है, यशके लिये नटोंको और नाचनेवालोंको दान दियाजाता है, भरण पोषणके लिये सेवकआदिको दान दियाजाता है और भयके कारणसे राजाओंको दान दियाजाता है ॥ ८० ॥ यक्षने बूझा, कि–जगत् किस वस्तुसे ढकाहुआ है ? किसके कारणसे प्रकाशित नहीं होता है ? किस वस्तुके कारणसे पुरुष मित्रोंको छोड़देता है ? और किस वस्तुके कारणसे मनुष्य स्वर्गमें नहीं जाता है ? ॥ ८१ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि-यह मनुष्य-लोक अज्ञानसे ढकाहुआ है और तमोगुणके कारणसे प्रकाशित नहीं होता है,पुरुष लोभके कारण मित्रोंको त्यागदेता है और सङ्ग करनेसे मनुष्य स्वर्गमें नहीं जासकता, तात्पर्य यह है कि– जैसे रस्सीमें सर्पकी प्रतीति होनेसे रस्सीका स्वरूप अन्तर्धान होजाता है तैसे ही जरा, मरण, शोक, मोह आदिके आश्रयभूत अज्ञानके कार्यरूप स्थूल सूक्ष्म शरीरके द्वारा लोक कहिये साक्षात्कारका

स्वर्गं न गच्छति ॥ ८२ ॥ यक्ष उवाच । मृतः कथं स्यात् पुरुषः

विषयीभूत आत्मा तिरोभावको प्राप्त होता है, अतः इस अज्ञानका नाश करनेके लिये पूर्वोक्त प्रविलापनरूप मोक्षधर्मका आश्रय अवश्य करना चाहिये अर्थात् स्थलका सूक्ष्ममें और सक्ष्मका कारण शरीरमें लय करना चाहिये, यही त्रयीधर्म है, दान आदिके प्रभावसे मान आदिको जीतकर मनको वशमें करलेनेसे दुःखका आत्यन्तिक (सदा को) नाश होजाता है इसलिये त्रयीधर्मका क्या प्रयोजन है? ऐसा निश्चय करके निश्चिन्त बैठ रहना उचित नहीं है तथा सुषुप्तिकालमें स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों की प्रतीति नहीं होती है इसलिये अपने आप ही अज्ञानका नाश होजायगा इसकारण प्रविलापनरूप त्रयीधर्मका प्रयोजन नहीं है, ऐसा निश्चय कर बैठना भी कामका नहीं है, क्योंकि-तम कहिये मूल अज्ञानरूप अविद्याके द्वारा सुषुप्तिकालका आत्मा ढकारहता है, इसकारण वह जरा भी प्रकाशित नहीं होता है इसासे अज्ञान के नाशके लिये स्थूल सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरोंका उत्तरोत्तर लय करना चाहिये अर्थात् स्थूलका सूक्ष्ममें, सूक्ष्मका कारणमें और कारणशरीरका परमात्मामें लय करै। ज्ञान और अज्ञान इन दोनों पदार्थोंमें पूरा २ विरोध है, अतः मनको केवल बाहरके विषयोंमें जानेसे रोकलेने पर ही अज्ञानको खड़ा कियेहुए संसारका नाश होजायगा। ऐसा किसी भी क्रमसे नहीं होसकता किन्तु सर्पकी भ्रान्ति दूर होकर रस्सीका निश्चय होता है उसी समय भ्रान्तिमूलक भय भी दूर होजाता है तथा देहको मिथ्या जानने पर आत्मस्वरूपकी प्रतीति होती है और उसी समय संसारका जड़मूलसे नाश होजाता है इसलिये जो लोग अज्ञानका नाश करनेके भीतरी साधनरूप शम दम आदि की सहायताको छोड़बैठते हैं वे संसारके बंधनमेंसे नहीं छूट-सकते, इसका कारण केवल लोभ और आसक्तियें दो ही वस्तु हैं।

कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् । श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥ ८३ ॥युधिष्ठिर उवाच। मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् । मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ ८४ ॥ यक्ष उवाच । का दिक् किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किञ्च वै विषम् । श्राद्धस्यकाल-माख्याहि ततः पिब हरस्व च ८५ युधिष्ठिर उवाच । सन्तो दिग्-जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् । श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः

इसलिये सकल प्रयत्नोंसे लोभ और कामके सङ्गको त्यागकर साम का ही साधन करना चाहिये ॥ ८२ ॥ यक्षने प्रश्न किया, कि-पुरुष किस प्रकार जीताहुआ भी मरा होता है ? देश किसप्रकार मरा हुआ प्रतीत होता है ? श्राद्ध मराहुआ कैसे होता है ? और यज्ञ कैसे मराहुआ होता है ? ८३ युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि-दरिद्र पुरुष जीवित ही मरा मानाजाता है, विना राजाका देश मराहुआ होता है,वेदवेत्ता ब्राह्मणसे शून्य श्राद्ध मराहुआ मानाजाता है और विना दक्षिणा का यज्ञ मराहुआ होता है, तात्पर्य यह है कि–प्राण-रूपी राजाके विचरनेका स्थान शरीररूपी एक देश है, यह शरीर प्राणके वियोगसे निकम्मा होजाता है और वेदवेदांतवेत्ता ब्राह्मण के न होनेसे जैसे श्राद्ध निष्फल होजाता है और दक्षिणा न देनेसे जैसे यज्ञ निष्फल होता है, तैसे ही लोभी मनवाला और दान आदि देनेमें असमर्थ जो दरिद्री पुरुष है वह जीवित भी मराहुआ ही है ८४ यक्षने बूझा, कि–कौनसी वस्तु दिशा है ? कौनसी वस्तु जल है ? कौन वस्तु अन्न और कौन वस्तु विष है ? तथा-श्राद्ध करनेका समय कौन है ? यह कहो और फिर जल पियो तथा भरकर लेभी जाओ॥८५॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि-सत्पुरुष दिशा हैं, आकाश जल है, गौ अन्न है, याचना करना विष है, और श्राद्धका समय ब्राह्मण हैं, हे यक्ष ! तू इस विषयमें क्या मानता है ? तात्पर्य यह है कि वेदके प्रमाणके अनुसार वर्त्ताव रखनेवाले महात्मा पुरुष, ब्रह्म

कथं वा यक्ष मन्यसे । ८६ । यक्ष उवाच । तपः किंलक्षणं प्रोक्तं

ज्ञानके सच्चे उपदेशक हैं और आचार्य उपदेश देकर परब्रह्मका स्वरूप बताते हैं, इसलिये सत्पुरुष महात्मा दिशा कहिये मार्गरूप कहलाते हैं, श्रुतिके प्रमाणके अनुसार जलशब्दमें पिंड ब्रह्मांड रूप कार्यके अभिमानी ईश्वरकी लक्षणा की जाती है और आकाश शब्दमें अव्याकृत कारणके अभिमानी ईश्वरकी लक्षणा की है, परन्तु उपाधि के भेदके कारण इन दोनोंकी अलग २ प्रतीति होती है। क्योंकि–जैसे 'वही यह देवदत्त है' इस वाक्यमें उस देशमें रहनेवाले उस कालके देवदत्तके और इस देशमें रहनेवाले वर्त-मान कालके देवदत्तके देश तथा काल आदि उपाधिभागका त्याग करनेसे सकल भेदका नाश होकर केवल शुद्ध देवदत्तकी ही प्रतीति होती है, तैसे ही जीवत्व और ईश्वरत्व इन दोनों उपाधि रूप अंशका त्याग करनेसे दोनोंमें केवल शुद्ध चैतन्यकी ही प्रतीति होती है, इसकारण उस उपाधिका त्याग करनेके लिये उपाय करनेकी आवश्यकता है और उसका उपाय केवल, गो कहिये इन्द्रियोंका अथवा इन्द्रियोंसे ग्रहण कियेजानेवाले सब विषयोंका लय करना है, इसलिये गौको अन्न माना है । अब जलमें डालेहुए सेंधे लवणकी समान विषयोंका लय भी विना प्रयत्नके ही होसकता है, परन्तु उनका लय जो अनायासमें नहीं होता है, इसका कारण केवल एक प्रार्थना कहिये काम है, यह काम जन्म मरणका कारण होनेसे विषकी समान अनर्थ करडा-लता है, इसलिये कामको त्यागकर गुरुके उपदेशसे सकल प्रपंच का लय करताहुआ, जीव और ब्रह्मके अभेदको साक्षात्कार करना आवश्यक होनेसे, कामको विषरूप गिना है, क्योंकि–विष मनुष्यके प्राणोंका नाश करता है। जो श्रद्धाके साथ दान आदि करते हैं उनका समय केवल ब्राह्मण कहिये ब्रह्मवेत्ता पुरुष है, तात्पर्य यह है, कि-जिस समय सुपात्र वेदवेत्ता पुरुष आकार प्राप्त हो

को दमश्च प्रकीर्तितः ॥ ८७ ॥ युधिष्ठिर उवाच । तपः स्वधर्मवर्त्तित्वं मनसो दमनं दमः । क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्त्तनम् ॥८८॥ यक्ष उवाच । किं ज्ञानमुच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्त्तितः ।

जाय उस समयही धर्म ज्ञान आदिकी चर्चा करै। ज्ञानका उपदेश देना तथा ज्ञानका उपदेश सुनना यह एक श्राद्ध है। दूसरे पक्षमें युधिष्ठिरने कहा है, कि–गौ मुख्य अन्न मानीजाती है, इसका कारण यह है, कि–गौ दूध देती हैं, उसमेंसे मक्खन और घी बनता है, इसप्रकार होम होता है और होमसे प्रसन्न होकर इन्द्र आदि देवता वर्षा छोड़ते हैं, इसलिये भी गौको मुख्य अन्न कहा है और श्राद्धके विषयमें जो कुछ कहा उसका तात्पर्य यह है कि—श्राद्ध का कोई समय निश्चय नहीं किया है, किंतु जब विद्वान् ब्राह्मण मिलै तब ही श्राद्ध करदेय ॥ ८६ ॥ यक्षने बूझा, कि–तप, दम, क्षमा और लज्जा के उत्तम लक्षण कौन २ से हैं, सो कहो? ॥८७॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि–अपने धर्ममें रहनेका नाम तपस्या है, मनको दबानेका नाम दम है, सुख दुःख सहनेका नाम क्षमा है, और अकाज करने से रुकजानेका नाम लज्जा है। तात्पर्य यह है, कि—कितने ही पुरुष गरमियोंमें खुले मैदानमें बैठकर पञ्चाग्नि आदि तपकर शीतकालमें जलमें बैठकर तप करते हैं, ऐसे तपकी अपेक्षा भी इन्द्रियोंको वशमें रखना और मनको खोटे मार्गमें जानेसे रोकना यही सच्ची तपस्या है। दूसरेके किये अपमान आदिको सहलेना ही क्षमा नहीं है किन्तु अपने ऊपर पड़े दुःख आदि और क्रोध आदिको सहलेना ही क्षमा है। अकाज करनेसे बचनेका नाम लज्जा है, लोगोंसे अपने मनकी बात कहतेहुए डरनेका नाम लज्जा नहीं है वह तो डरपोकपना है, परन्तु जो काम खोटा है और उसको चाहे कोई भी न देखता हो तो भी सर्वव्यापक परमात्माका भय मानकर उस खोटे कामको न करनेका नाम ही लज्जा है ॥ ८८ ॥यक्षने कहा

दया च का परामोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम्॥८९॥युधिष्ठिर उवाच। ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशांतता। दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता।९०।यक्ष उवाच। कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः। कीदृशश्च स्मृतःसाधुरसाधुःकीदृशःस्मृतः॥९१॥युधिष्ठिर उवाच। क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः। सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥९२॥ यक्ष उवाच। को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्त्तितः। किमालस्यञ्च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्त्तितः॥९३॥युधिष्ठिर उवाच। मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता।धर्मनिष्क्रियतालस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते९४यक्ष उवाच।

कि–हे राजन्! ज्ञान क्या वस्तु कहाती है? परमदया कौनसी कही है? और आर्जव किसको कहा है?॥ ८९ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि–तत्त्वके अर्थका यथार्थ जो बोध हो उसका नाम ज्ञान है, चित्तके परमशान्तपनका नाम शम है, सबोंको सुख देने की इच्छा रखनेका नाम दया है, और चित्तको सदा एकसमान रखनेका नाम आर्जव है ॥ ९० ॥ यक्षने बूझा, कि—मनुष्योंका दुर्जय वैरी कौन है?अपार रोग क्या है? साधुपुरुष किसे बताया है और असाधु कैसे पुरुषको कहा है? ॥९१॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि–क्रोध मनुष्योंका दुर्जय वैरी है, लोभ बिना ओर छोरका अनन्त रोग है, जो सब प्राणियोंका हित चाहै वह साधु है और निर्दयीको असाधु कहा है ॥ ९२ ॥ यक्षने बूझा कि– हे राजन् मोह किसको कहते हैं? मान किसको कहा है? आलस्य किसको समझना चाहिये और और शोक किसको कहा है?॥ ९३ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि-धर्ममें मूर्खता करनेका नाम मोह है, अपना अभिमानीपना मान है धर्म कर्म न करनेका नाम आलस्य है और शोक करना अज्ञान कहलाता है॥ ९४ ॥ यक्षने बूझा, कि-ऋषियोंने स्थिरता किसको

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम्। स्नानञ्च किं परं प्रोक्तं दानञ्च किमिहोच्यते॥ ९५ ॥ युधिष्ठिर उवाच। स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः। स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥९६॥ यक्ष उवाच। कः पण्डितः पुमान् ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते। को मूर्खः कश्च कामः स्यात् को मत्सर इति स्मृतः ९७ युधिष्ठिर उवाच। धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते।कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ ९८ ॥ यक्ष उवाच। कोऽहङ्कार इति प्रोक्तः कश्च दम्भः प्रकीर्त्तितः। किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किन्तत् पैशुन्यमुच्यते ॥ ९९ ॥ यधिष्ठिर उवाच। महाज्ञानमहङ्कारो

कहा है? परमस्नान किसको कहा है और इस संसारमें दान क्या कहाता है ॥ ९५ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि–अपने धर्मसे न डिगनेका नाम स्थिरता है, इन्द्रियोंको वशमें रखनेका नाम धैर्य है, मनके मैलको दूर करनेका नाम श्रेष्ठ स्नान है और प्राणियों की रक्षा करनेका नाम श्रेष्ठ दान है ॥ ९६ ॥ यक्षने बूझा कि–किस पुरुषको पण्डित जाने? नास्तिक पुरुष कौन कहाता है? मूर्ख कौन है? काम क्या है? और मत्सर नामसे किसको कहा है? ॥ ९७ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि–धर्म जाननेवालेको पण्डित जानो, मूर्ख पुरुष नास्तिक और नास्तिक मूर्ख कहाता है, जन्म मरणरूप संसार देनेवाली वासनाका नाम काम है और हृदयके सन्तापका (किसीकी उन्नति देखकर मनमें कुढ़नेका) नाम मत्सरता है ॥ ९८ ॥ यक्षने बूझा, कि–अहङ्कार इस नामसे किसको कहा है? और दम्भ किसको कहा है? जिसको परमदैव कहा है वह क्या है? और पैशुन्य क्या कहलाता है? ॥ ९९ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि–महा अज्ञान अहङ्कार है, लोकमें प्रसिद्धिके लिये मिथ्या धर्माचरण करनेका नाम दम्भ है, दानके फलका नाम दैव कहा है और दूसरेको दोष लगानेका नाम पैशुन्य है. तात्पर्य यह है, कि—दर्प, दम्भ और खलपनेको दूर करके दैवाधीनता

दम्भो धर्मध्वजोच्छ्रयः। दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम्॥१००॥ यक्ष उवाच। धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः। एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र सङ्गमः॥ १०१॥ युधिष्ठिर उवाच। यदा धर्मश्च भार्य्या च परस्परवशानुगौ। तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः॥१०२॥ यक्ष उवाच। अक्षय्यो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ। एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि॥१०३॥ युधिष्ठिर उवाच।

से जो कुछ मिले उस पर सन्तोष मानकर निष्कामभावसे धर्मका आचरण करना चाहिये॥ १००॥ यक्षने बूझा, कि-धर्म, अर्थ और काम ये परस्पर विरोधी हैं, इसकारण नित्यविरुद्ध रहने वाले धर्म आदिका एक स्थान पर समागम कैसे हो ?॥१०१॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि-यदि धर्म और स्त्री परस्पर वशमें हों तो धर्म अर्थ और काम इन तीनों वस्तुओंका एकत्र समागम होता है अर्थात् अग्निहोत्र आदि धर्म संन्यासीके धर्मकी समान स्त्रियों का विरोधी नहीं होता है, संन्यासीके साथ स्त्री हो तो उस का संन्यास नहीं निभसकता, परन्तु जो धर्मको जानता है जो अग्निहोत्र आदि धर्माचरण करता है, उसके साथमें स्त्री हो तो उसकी कुछ हानि नहीं है, क्योंकि—अग्निहोत्र और स्त्री दान आदिके विषयमें बाधा नहीं डालते हैं, किन्तु ये साथमें हों तो भी बराबर धर्म हुआ करता है, तब धर्म सब प्रकारके अर्थोंको उत्पन्न करता है, इसमें स्त्री कामना पूरी करती है और उस समय धर्म, अर्थ तथा काम तीनों एकसाथ होजाते हैं, इसलिये अर्थ और काम धर्मके विरोधी होते हैं अतः धर्माचरण कष्टसाध्य है ऐसा नहीं समझना चाहिये, किन्तु गृहस्थोंको भी धर्मके द्वारा मोक्षका अधिकार है॥१०२॥ यक्षने बूझा, कि-हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन्! अक्षय नरकको कौन पाता है, यह मैं बूझता हूं, इसका उत्तर आप मुझे शीघ्र ही दीजिये॥ १०३॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिञ्चनम् । पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् १०४ वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु । देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥१०५॥ विद्यमाने धने लोभाद्दानभोगविवर्जितः । पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् १०६ यक्ष उवाच । राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा । ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ॥ १०७॥ युधिष्ठिर उवाच । शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् । कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥ १०८ ॥ वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं

कि-भीख मांगता हो और जिसके पास कुछ भी न हो ऐसे ब्राह्मणको अपने आप बुलाकर फिर उससे जो पुरुष यह कहता है, कि-अब तुझे नहीं देता वह पुरुष अक्षय नरकमें पड़ता है, ॥ १०४ ॥ जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता और पितरो के धर्मोंपर मिथ्याबुद्धि रखता है वह अक्षय नरकमें पड़ता है १०५ और पासमें धन होने पर भी जो पुरुष लोभसे दान तथा उपभोग नहीं करता है और किसीको निमन्त्रण देकर पीछेसे 'मैं नहीं दूँगा, ऐसा उत्तर देदेता है वह पुरुष अक्षय नरकमें पड़ता है, तात्पर्य यह है. कि-किसी भी मनुष्यको आशा देकर फिर निराश करना, वेद आदि पवित्र वस्तुओंपर अश्रद्धा रखना तथा लोभ आदिके कारणसे आत्माको दुःख देना, यह सब आसुरी सम्पत्ति कहलाती है और ऐसी सम्पत्तिकी सेवा करनेवालेकी दुर्गति ही होती है ॥ १०६ ॥ यक्षने बूझा, कि-हे राजन् ! कुल, सदाचार, वेदादिका पढ़ना और शास्त्रोंको सुनना इनमेंसे कौनसी बातसे ब्राह्मणपना आता है, इसका अच्छेप्रकारसे निश्चय करके मुझसे कहो ॥१०७॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि-हे तात यक्ष ! सुन कुल स्वाध्याय अथवा शास्त्रका श्रवण इनमें कोई भी ब्राह्मणपने का कारण नहीं है. किन्तु सदाचार(उत्तम नीति,धर्मका सत्य ज्ञान इंद्रियों को वशमें रखना और सत्यभाषण) ही (ब्राह्मणपनेमें मुख्यकारण) है इसमें सन्देह नहीं है॥१०८॥ इसलिये ब्राह्मणको

ब्राह्मणेन विशेषतः । अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ १०६ ॥ पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः । सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥११०॥ चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः न शूद्रादतिरिच्यते । योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ १११ ॥ यक्ष उवाच । प्रियवचनवादी किं लभते विमृशितकार्यकरः किं लभते । बहुमित्रकरः किं लभते धर्मे रतः। किं

विशेष उद्योगसे आचरणकी रक्षा करनी चाहिये जिसका आचरण क्षीण नहीं होता वह भी क्षीण नहीं होता है और जिसका आचरण क्षीण होजाता है वह नष्ट होजाता है ॥ १०६ ॥ शिष्य गुरु (आचार्य सन्त) तथा दूसरे शास्त्रका विचार करनेवाले पुरुष यदि व्यसनी (संसारके भोगकी तृष्णावाले (हों तो उन सबोंको मूर्ख जानो और यदि क्रियावान् (संसारके भोगोंसे विरक्त और प्रेमके साथ ईश्वरकी आराधना करनेवाले) हों तो उनको पण्डित जानो॥११०॥ चारों वेद पढ़ा (ब्राह्मण भी) हो तो भी जो पुरुष दुराचारी (संसारको सत्य माननेवाला और सत्त्वगुणसे रहित) हो तो वह शूद्रसे भी नीच है, परन्तु जो अग्निहोत्रकी क्रियामें परायण (छः शत्रुओंका होम करनेवाला) और जितेन्द्रिय (संसारके क्षणभंगुर सुखको जीतनेवाला अर्थात् उसको वशमें रखनेवाला और स्वयं उसके वशमें न होनेवाला) हो तो उसको ब्राह्मण जानै तात्पर्य यह है, कि–ब्राह्मणके कुलमें जन्मलेने मात्रसे सच्चा ब्राह्मण नहीं होता या केवल जनेऊ पहर लेनेमें ही ब्राह्मणपना नहीं है तथा बहुत शास्त्र पढ़लेनेसे भी कोई ब्राह्मण नहीं होसकता, किन्तु ब्राह्मणके घर जन्म लेकर त्यागी कहिये संसारकी मायाका त्याग करनेवाला पवित्र आचरणवाला और सत्य तत्त्वको जाननेवाला ही ब्राह्मण होता है ॥ १११ ॥ यक्षने बूझा कि—प्रियवचन बोलनेवालेको क्या मिलता है ? विचारके साथ काम करनेवालेको क्या मिलता है ? बहुतसे मित्र

लभते कथय ॥ ११२ ॥ युधिष्ठिर उवाच ॥ प्रियवचनवादी प्रियो भवति विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति । बहुमित्रकरः सुखं वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥ ११३ ॥ यक्ष उवाच । को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्था का च वार्त्तिका । वद मे चतुरः प्रश्नान् मृता जीवन्तु बान्धवाः ॥ ११४ ॥ युधिष्ठिर उवाच । पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे । अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर

करनेवालेको क्या मिलता है और धर्म पर प्रेम करनेवालेको क्या मिलता है? कहो ॥ ११२ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि प्रिय वचन बोलनेवाला लोगोंका प्रिय होता है, विचारके साथ काम करनेवाला अधिक विजय पाता है, बहुतसे मित्र करनेवाला सुखमें जीवन बिताता है और जो धर्मपर प्रेम रखता है वह शुभ गति पाता है ॥ ११३ ॥ यक्षने बूझा, कि—कौन मनुष्य सुखी है? आश्चर्य करनेवाली वस्तु कौनसी है? मार्ग क्या है? और वार्त्ता क्या है? मेरे इन चार प्रश्नोंका उत्तर दो तो तुम्हारे ये मरेहुए भाई जीवित होजायँ ॥ ११४ ॥ युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि—हे जलचरप्राणी! जिस पुरुषके ऊपर ऋण नहीं होता है और जो परदेशमें नहीं रहता है वह पुरुष यदि दिनके पांचवें वा छठे भागमें भी अपने घर शाक पकालेता है अर्थात् शाकसे ही अपना निर्वाह करलेता है वही सुखी है तात्पर्य यह है कि—देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण ये तीन ऋण जिसने चुकाये हों वही अनृणी होता है, जो मनुष्य इन तीन ऋणोंसे रहित होय अर्थात् गीताके कथनानुसार जिसने कर्म मात्रका त्याग किया है ऐसा अनृणी होय और जल थलमें यात्रा न करता फिरता हो तथा स्त्री और धनकी इच्छासे रहित होकर सारे दिन परमात्माके ध्यानमें रहतेहुए सायंकालके समय जो दैवयोगसे मिला हो वह परमात्माको अर्पण करके सन्तोषके साथ भोजन करता हो वही सच्चा सुखी है, व्यवहारमें भी जिस

मोदते ॥ ११५॥ अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् । शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ११६ ॥ तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् । धर्मस्य तत्त्वं निहितं

को दमडीका भी देना नहीं है, धन इकट्ठा करनेके लिये तृष्णा नहीं है और धनके लिये जहां तहां मारा २ भी नहीं फिरता है, किंतु घरमें ही रहकर जो रूखी सूखी रोटी मिलजाय उससे निर्वाह करलेता है वह ही सुखी है, इसप्रकार सन्तोपीको ही परमसुखी कहा है, क्योंकि -ऐसा सन्तोषी ही ईश्वरमें चित्तको जुटासकता है, अतः संतोपीको सुखी कहाहै ॥ ११५ ॥ प्राणी प्रतिदिन यम-लोकमें जाते हैं, इसबातको नित्य देखते हैं तो भी बाकी बचेहुए पुरुष सदा जीवित रहना चाहते हैं, इससे अधिक आश्चर्यकी वात और क्या होगी ? तात्पर्य यह है, कि–जगत्में बहुतसे आश्चर्य हैं लोग अपने सामने सैकड़ों और सहस्रों मनुष्योंको यमलोक को सिधारतेहुए देखते हैं, और देखते हैं कि-कोई आज कोई कल इस प्रकार सबको ही मरना है तो भी हरएक मनुष्य मेरा तेरा किया करते हैं मानों हमें किसी दिन मरना ही नहीं है, ऐसा मानकर प्रतिदिन नई २ वस्तुओंको पानेकी तृष्णाको बढ़ाया करते हैं, यह तृष्णा ही आश्चर्यकारक है ॥ ११६ ॥ तर्कसे निश्चय नहीं होसकता, श्रुतियें भिन्न २ है, एक ऋपि नहीं है, कि— जिसका वचन प्रमाण मानाजाय, धर्मका तत्त्व गुहामें स्थित है, अतः महात्माजन जिस मार्गसे जायं उसको ही मार्ग जानो, तात्पर्य यह है कि–यदि धर्मका तत्त्व निर्णय करनेकी इच्छा हो तो तर्क, श्रुति और ऋपियोंके वाक्य इन सबको उपाय मानकर स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि–तर्ककी स्थिरता नहीं है, श्रुतियें परस्पर विरुद्ध अर्थको कहती हैं और ऋपियोंके मत भी भिन्न २ हैं, इस कारण उनका, इच्छा पूरी करना दुःसाध्य है,इसलिये धर्मके तत्त्व का निरूपण करनेके लिये धर्मशास्त्र आदि अनन्त शास्त्रोंको पढ़ने

शुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ ११७॥ अस्मिन् महामोह-गये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।.मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥ ११८ ॥ यक्ष उवाच। व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परन्तप । पुरुषन्त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ॥ ११९ ॥ युधिष्ठिर उवाच। दिवं स्पृशति

में परिश्रम न करके बहुतसे मनुष्योंके मानेहुए मार्गको ही ग्रहण करना चाहिये, इसलिये ही सबोंने यही निचोड़ किया है. कि-परमात्मा का जो दर्शन करना यही मार्ग उत्तम है ॥११७॥ यह महामोहमय ब्रह्माण्डरूप कढ़ाव है, उसमें काल सब प्राणियोंको डालकर और सूर्यरूपी अग्निको उसके नीचे बालकर रात्रि दिन रूपी ईंधनको उसमें झोंका करता है और महीने तथा ऋतुरूपी कर्छलीसे वह प्राणियोंको ऊपर नीचे पलटकर रांधता है इसको ही वार्त्ता कहते हैं,तात्पर्य यह यह है कि–यक्षने जो बूझा है कि-वार्त्ता क्या है, इसका तात्पर्य है, कि–नई वार्त्ता क्या है ? युधिष्ठिरने बताया, कि–और नई बात क्या होगी, इस जगत्में आया हुआ जीव देखता है, कि–रात और दिन, बारह महीने और छः ऋतुओंके साथ वर्षों बहे चलेजाते हैं और समय पूरा होने पर प्राणी कालके मुखमें पड़कर कुचलजाता है, इसप्रकार कुचलते हुए अनेकोंको देखता है, परन्तु स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदिके ऊपरसे इसकी प्रीति दूर होकर ऐसा तीव्र वैराग्य इसको नहीं आता, कि–जिससे यह सब मिथ्या व्यवहारको छोड़कर ईश्वरपरायण होजाय, यही नई बात है. अतः स्त्री आदि भोगके पदार्थ सदा रहनेवाले नहीं हैं, ऐसा जानकर जीव, इनको त्यागता हुआ वैराग्यको धारण करे, यही उचित है ॥ ११८ ॥ यक्षने कहा, कि–हे परन्तप ! तूने मेरे प्रश्नोंके उत्तर यथार्थरूपसे विस्तारके साथ देदिए, अब यह और बता कि- पुरुष कौन है? और कौन पुरुष धनका अधिकारी है उसका लक्षण बता ११९ युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि – जिसके पुण्यकर्मकी प्रशंसाका शब्द

भूमिञ्च शब्दः पुण्येन कर्मणा। यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥ १२० ॥ तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च। अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥ १२१ ॥ यक्ष उवाच। व्याख्यातः पुरुषो राजन् यश्च सर्वधनी नरः। तस्मात्त्वमेकं भ्रातृणां यमिच्छसि स जीवतु॥ १२२ ॥ युधिष्ठिर उवाच। श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः। व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो

जहां तक आकाश और भूमिपर सुनाजाता है तहांतक वह पुरुष कहलाता है जिसको भला और बुरा समान है तथा सुख और दुःख भी जिसको समान है तथा भूत और भविष्य दो काल भी जिसको समान हैं वह मनुष्य ही सब धनका अधिकारी होनेके योग्य है, तात्पर्य यह है कि-जीवकी सकाम और निष्काम कर्म करने से जो एक कीर्त्ति उत्पन्न होती है वह भूलोक और स्वर्ग-लोकमें फैलजाती है, जबतक उस कीर्त्ति शब्द का नाश नहीं होता है तबतक कर्म करनेवाला पुरुष जीवित रहता है और कर्मफल निबड़जाता है तब इस लोकमें पहिली वासनाके अनुसार जन्म लेकर जीव फिर कर्म करने लगता है, इसप्रकार सोपाना-रोह (सींढी पर चढ़ने के) क्रमसे निष्काम कर्म करनेवालोंकी मुक्ति होजाती है और सोपानावरोह (सींढीसे उतरनेके) क्रम से कर्म करनेवाले मिथ्या वासनाओंसे पूरे २ बँधजाते हैं, और जो मनुष्य सर्वत्र समान भाव रखता है वही ब्रह्मज्ञानी माना जाता है और उस को ही सकल धनका अधिकारी अर्थात् पूर्ण काम जानो ॥ १२० ॥ १२१ ॥ यक्षने कहा कि-हे राजन्! तुमने पुरुष की व्याख्या की तथा सकल धनके अधिकारी पुरुष का लक्षण भी कहा, इसलिये तुम अपने भाइयोंमेंसे जिस एकको जीवित करना चाहते हो वह जीवित होजाय ! ॥१२२ ॥ युधि-ष्ठिरने कहा, कि-हे यक्ष ! श्यामवर्ण, लाल २ नेत्रोंवाला, बड़े

यक्ष जीवतु ॥१२३॥ यक्ष उवाच ॥ प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् । स कस्मान्नकुलो राजन् सापत्नं जीवमिच्छसि १२४ यस्य नागप्रसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् । तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥ १२५ ॥ अथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव । अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ १२६ ॥ यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः समुपासते । अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥१२७॥ युधिष्ठिर उवाच । धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १२८॥ आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् । आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष

शालके वृक्षकी समान शरीरवाला विशालहृदय और लंबी भुजाओंवाला यह जो नकुल पड़ा है यह जीवित होजाय ॥ १२३ ॥ यक्षने कहा, कि–हे राजन् ! यह भीमसेन तुझै प्यारा है और यह अर्जुन तुझै परम विश्राम देनेवाला है तो भी तू अपने सौतेले भाई नकुलको क्यों जीवित करना चाहता है ? ॥१२४॥ जिसमें दश हजार हाथियोंकी समान बल है ऐसे भीमसेन को छोड़कर तू नकुलको जीवित करना क्यों चाहता है ? ॥ १२५ ॥ सब लोग भी कहते हैं, कि–यह भीमसेन तुझे प्यारा है तो भी तू किस अभिप्रायसे सौतेली माताके पुत्रको जीवित करना चाहता है ? ॥ १२६ ॥ जिसके बाहुबलका सब पांडव भरोसा करते हैं उस अर्जुनको छोड़कर तू नकुलको जीवित करना क्यों चाहता है ? ॥ १२७ ॥ युधिष्ठिर बोले कि- यदि धर्मका नाश कियाजाय तो वह नाश, कर्त्ताको नष्ट करदेता है और यदि धर्मकी रक्षा की जाय तो वह रक्षा, कर्त्ताकी रक्षा करती है, इस कारण मैं धर्म को नहीं छोड़ता हूं जिससे कि–वह नष्ट किया हुआ धर्म मेरा नाश न करडाले ॥ १२८ ॥ हे यक्ष ! सबके ऊपर समानभाव रखना परमधर्म है और इसको मैं परमार्थसे भी श्रेष्ठ मानता हूं, अतः हे यक्ष ! मैं समानभाव रखना चाहता हूं इसलिये नकुल जीता हो

जीवतु ॥ १२६ ॥ धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः। स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १३० ॥ कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम। उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥ १३१ ॥ यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः। मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १३२ ॥ यक्ष उवाच यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्। तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥ १३३ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वण्यारण्येयपर्वणि यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१३ ॥

वैशम्पायन उवाच। ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पांडवाः। क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥ १ ॥ युधिष्ठिर उवाच

जाय ॥ १२६ ॥ हे यक्ष! धर्मराज सदा धर्मपरायण रहता है, यह बात मनुष्य मेरे विषयमें जानते हैं, अतः मैं अपने धर्म से भ्रष्ट नहीं होऊँगा, इसकारण नकुल जीवित होजाय ॥१२६॥ मेरे पिताकी कुन्ती और माद्री दो स्त्रियें थीं, सो दोनों पुत्रवती रहें, यह मेरा निश्चय विचार है ॥ १३१ ॥ मेरे लिये जैसी मेरी माता कुन्तीजी हैं, तैसे ही माद्री भी हैं, उन दोनों में मुझे कोई न्यूनाधिक नहीं है हे यक्ष! मैं दोनों माताओं पर समानभाव रखना चाहता हूं, इसकारण नकुल जीवित होजाय ॥ १३२ ॥ यक्षने कहा, कि—हे भरतवंशश्रेष्ठ राजन्! तुम अर्थ और कामसे भी समदृष्टिपनेको उत्तम मानते हो, इसकारण तुम्हारे सब भाई जीवित होजायँ ॥ १३३ ॥ तीनसौ तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ ३१३ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय! तदनन्तर यक्षके कहनेसे सब पाण्डव जीवित होगये और एक क्षणमें ही सब पाण्डवोंकी भूख और प्यास जाती रही ॥ १ ॥ तदनन्तर युधिष्ठिरने

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम् । पृच्छामि को भवान् देवो न मे यक्षो मतो भवान् ॥ २ ॥ वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान् । अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ॥ ३ ॥ मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः । तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः ॥ ४ ॥ सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये । स भवान् सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान् ॥ ५ ॥ यक्ष उवाच । अहन्ते जनकस्तात धर्मो मृदु पराक्रम । त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥ ६ ॥ यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ ७ ॥ अहिंसा समता शान्तिस्तपः शौचममत्सरः । द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि

अपने भाइयोंकी ओरको देखकर कहा कि--इस सरोवरमें एक चरणसे खड़ेहुए उस अजित पुरुषसे मैं बूझदेखूं, कि--वह कौन है ? भाइयोंसे ऐसा कहकर युधिष्ठिरने यक्षसे बूझा, कि--आप कौन देवता हैं ? आप यक्ष हैं इस बातका मेरे मनको विश्वास नहीं होता ॥ २ ॥ आप वसुदेवताओंमेंके कोई देवता हैं अथवा आप रुद्रदेवोंमेंके कोई देवता हैं ? अथवा आप पवनोंमेंके कोई श्रेष्ठ पवनदेव हैं या देवताओंके राजा इन्द्र हैं ? यह मुझे बताइये ॥ ३ ॥ मेरे ये भाई एक लाख योधाओंके साथ युद्ध करसकते हैं, मैंने आजतक ऐसा कोई योधा नहीं देखा, कि--जिसने मेरे इन सब भाइयोंको रणभूमिमें गिरादिया हो ॥ ४ ॥ और इस समय मेरे इन सब भाइयोंकी इन्द्रियें ऐसी मालूम होती हैं, कि--मानो ये सब सुखकी निद्रामें सोकर जागउठे हैं, इसलिये आप हमारे मित्र है या पिता हैं ? ॥ ५ ॥ यक्षने उत्तर दिया, कि--हे कोमलपराक्रमी युधिष्ठिर ! मैं तेरा पिता धर्म हूँ और हे भरतवंशश्रेष्ठ ! मैं यहां तुझसे मिलनेकी इच्छासे आया हूँ ऐसा जान ॥ ६ ॥ यश, सत्य, दम, शौच, आर्जव, लज्जा, अचपलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य इतनी वस्तुएं मेरा शरीर हैं ॥ ७ ॥ और अहिंसा, समदृष्टि, शान्ति, तप, शूरता तथा सरलता इन

सदा मम ॥८॥ दिष्ट्या पञ्चसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता। द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते साम्परायिके ॥ ९ ॥ धर्मोऽहमस्मि भद्रन्ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः। आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥ १० ॥ वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ। ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर उवाच। अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति। तस्याग्नयो न लुप्येरन् प्रथमोऽस्तु वरो मम ॥ १२ ॥ यक्ष उवाच। अरणीसहितं यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया। मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं

वस्तुओंको मेरा (धर्मका) द्वार जान और तू मुझे सदा प्यारा है, यह भी जानले ॥ ८ ॥ बड़े आनन्दकी बात है कि—आत्मदर्शनके साधनभूत शम दम, उपरति तितिक्षा और समाधि इन पांच वस्तुओंके ऊपर तू प्रेम रखता है और दूसरी यह भी बड़े हर्षकी बात हैं, कि—तूने भूख, प्यास, शोक, मोह जरा और मृत्यु इस षट्पदीको विजय करलिया है, भूख और प्यास जबसे मनुष्य जन्म लेता है तबसे ही उसमें प्रवेश करजाती हैं, तरुणावस्था आनेपर शोक और मोह प्रवेश करता है और अन्तमें मरणका समय आनेपर जरा और मृत्यु ये दो वस्तुएं शरीरमें प्रवेश करता हैं ॥ ९ ॥ तेरा कल्याण हो मैं राजा धर्म हूँ और तेरे वर्त्तावको जाननेकी इच्छासे यहां तेरे पास आया हूँ हे निर्दोष राजन्! मैं तेरी समदृष्टिको देखकर प्रसन्न हुआ हूँ और तुझे वरदान देता हूं ॥ १० ॥ हे निर्दोष राजेन्द्र! तू इच्छानुसार वर मांगले तू मांगेगा वही वर मैं तुझे दूंगा जो पुरुष मेरे भक्त हैं वे कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ते हैं ॥ ११ ॥ युधिष्ठिरने कहा कि—हे पिताजी! मैं आपसे पहला वर यह मांगता हूं कि—पड़ा मृग एक ब्राह्मणके अग्नि मथनेके यंत्रको अरणीसहित लेकर वन में को भागगया है सो उस ब्राह्मणकी अग्नियें नित्य प्रज्वलित रहें यह वर आप मुझे दीजिये ॥ १२ ॥ यक्षने कहा, कि—हे कुन्तीपुत्र राजन्! तेरी परीक्षा लेनेके लिये

तत्र प्रभो ॥ १३ ॥ वैशम्पायन उवाच । ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत । अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर उवाच । वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदशमुपस्थितम् । तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥ १५ ॥ वैशम्पायन उवाच । ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत । भूयाश्चाश्वासयामास कौन्तेयम् सत्यविक्रमम् ॥ १६ ॥ यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम् न वो विज्ञास्यते कश्चित् त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १७ ॥ वर्षम् त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात् कुरूद्वहाः । विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ १८ यद्वः सङ्कल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम् । तादृशं तादृशं सर्वे

में मृगका वेश धारण करके उस ब्राह्मणका अग्नि मथनेका यंत्र अरणी सहित लेकर वनमेंको भागगया था ॥ १३ ॥ वैशम्पायन कहतेहैं, कि–हे जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् धर्मने उत्तर दिया कि–वह अग्नि मथनेका अरणी का काठवाला यन्त्र तुझे देता हूं, इसप्रकार यमराजने धर्मराज कहकर फिर कहा, कि–हे देवतासमान युधिष्ठिर ! तू दूसरा वर मांगले तेरा कल्याण हो ॥ १४ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–हम बारह वर्षतक वनमें रहे अब तेरहवां वर्ष आलगा है, अतः तेरहवें वर्षमें हम जहां रहैं तहां कोई भी पुरुष हमको पहिचाने नहीं, यह वर आप मुझे दीजिये ॥ १५ ॥ हे जनमेजय ! यह सुनकर भगवान् धर्म बोले कि–मैं यह वर भी तुझे देता हूं, ऐसा कहकर सत्यपराक्रमी कुन्तीपुत्र को वारंवार धीरज देतेहुए धर्मने कहा, कि–॥ १६ ॥ हे भरत वंशी ! तुम अपने ही रूपमें इस भूमि पर फिरोगे तो भी तुम्हे त्रिलोकी का कोई पुरुष नहीं पहिचानसकेगा ॥ १७ ॥ हे कुरुवंश को धारण करनेवाले पाण्डवों ! तुम मेरी कृपाके प्रभावसे इस तेरहवें वर्षमें विराटनगरमें गुप्तरीतिसे रहना, तुम्हे वहांकोई भी नहीं पहिचानसकेगा ॥ १८ ॥ तुम अपने मनमें सङ्कल्प किया हुआ जिसका जैसा रूप धारण करना चाहोगे तैसा २ ही रूप

छन्दतो धारयिष्यथ॥ १९॥अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत । जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥ २० ॥ प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते । न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन् वै वरांस्तथा ॥ २१ ॥तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत् । त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः ॥ २२ ॥ युधिष्ठिर उवाच । देवदेवो मया दृष्टो भवान् साक्षात् सनातनः । यं ददासि वरं तुष्टस्तं गृहीष्याम्यहं पितः ॥ २३ ॥ जयेयं लोभमोहौ च क्रोधश्चाहं सदा विभो । दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥ २४ ॥ धर्म उवाच । उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव । भवान् धर्मः

तुम अपनी इच्छानुसार धारण करसकोगे ॥ १९ ॥ मैं मृगका रूप धारण करके तुम्हारी परीक्षा करनेकी इच्छासे यह अरणी का अग्नि मथने का यन्त्र लेगया था, उसको तुम यह लो और तिस ब्राह्मणको देदो ॥ २० ॥ हे सौम्य युधिष्ठिर ! अपनी इच्छानुसार तू दूसरा वर मांगले, मैं तुझे और वर दूँगा, क्योंकि-हे नरश्रेष्ठ ! तुझे वर देनेमें मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ २१ ॥ और हे पुत्र ! तू तीसरा भी अनुपम और बड़ा वर मांगले क्योंकि-हे राजन् ! तू मेरा पुत्र लगता है और विदुर भी मेरे अंशसे ही उत्पन्न हुआ है इसकारण मैं तुम दोनोंको एक ही मानता हूं ॥ २२ ॥ युधिष्ठिर बोले कि-हे पिताजी ! सनातन देवदेव आपके दर्शन हुए इससे मैं कृतार्थ होगया हूं अब आप प्रसन्न होकर मुझे जो वर देंगे उसको मैं प्रसन्न होकर ग्रहण करूँगा ॥ २३ ॥ हे विभो ! मैं लोभ, मोह काम और क्रोधको जीतूँ तथा मेरा मन सदा दान तप और सत्यधर्मपर भक्ति करनेवाला रहै यह वर आप मुझे दीजिये॥ २४ ॥ धर्मने कहा, कि-हे पाण्डव ! तूने जो कुछ मांगा है ये सब गुण तुझमें स्वभावसे ही हैं तू स्वयं ही धर्म है तो भी तेरे कहनेके अनुसार

पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥ २५ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्त्वान्तर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः । समेताः पाण्डवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः ॥२६॥ उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः । आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥ २७ ॥ इदं समुत्थानसमागतं महत् पितुश्च पुत्रस्य च कीर्त्तिवर्धनम् । पठेन्नरः स्याद्विजितेन्द्रियो वशी सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग् भवेत् ॥ २८ ॥ न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने परस्वहारे परदारमर्षणे । कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् ॥ २९ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वण्यारणेयपर्वणि नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१४ ॥

वैशम्पायन उवाच । धर्मेण तेऽभ्यनुज्ञाताः पाण्डवाः सत्यवि

तुझे सब वस्तुएं प्राप्त होंगी ॥ २५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि--हे जनमेजय ! ऐसा कहकर जगत्का कल्याण करनेवाले भगवान् धर्म अन्तर्धान होगये फिर सुखकी निद्रालेकर जागेहुए और परिश्रम रहित हुए सब धैर्यवान् वीर पाण्डव इकट्ठे होकर आश्रममें आये और अरणीवाला वह अग्निमथनेका यन्त्र उसतपस्वी ब्राह्मणको देदिया ॥ २६--२७ ॥ भीम आदिके जीवनकी कथावाले तथा पिता धर्म और पुत्र युधिष्ठिरके सम्वादरूप कीर्त्तिको बढानेवाले इस बड़ेभारी उपाख्यान को जो कोई पढ़ता है वह जितेन्द्रिय, मनको वशमें रखने वाला पुत्र पौत्र वाला और सौ वर्षकी आयुवाला होता है ॥ २८ ॥ जो मनुष्य इस पवित्र कथाको अच्छे प्रकारसे सुनकर हृदयमें उसका मनन करते हैं उनका मन, अधर्मके ऊपर प्रेमियोंमें परस्पर भेद डलवानेमें परस्त्रीके साथ व्यभिचार आदि करनेमें और कृपणपनेमें कभी भी प्रेम नहीं रखता है ॥ २९ ॥ तीनसौ चौदहवां अध्याय समाप्त॥ ३१४ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि--हे जनमेजय ! सत्यपराक्रमी पाण्डवों

क्रमाः। अज्ञातवासं वत्स्यन्तश्छन्ना वर्षं त्रयोदशम् ॥ १ ॥ उपोपविश्य विद्वांसः सहिता संशितव्रताः। ये तद्भक्ता वसन्ति स्म वनवासे तपस्विनः ॥ २ ॥ तानब्रुवन्महात्मानः स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा। अभ्यनुज्ञापयिष्यन्तस्तं निवासं धृतव्रताः ॥ ३ ॥ विदितं भवतां सर्वं धार्त्तराष्ट्रैर्यथा वयम्। छद्मना हृतराज्याश्चानयाश्च बहुशः कृताः ॥ ४ ॥ उषिताश्च वने कृच्छ्रे वयं द्वादशवत्सरान्। अज्ञातवाससमयं शेषं वर्षं त्रयोदशम् ॥ ५ ॥ तद्वसामो वयं छन्नास्तदनुज्ञातुमर्हथ। सुयोधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सह सौवलः ॥६॥ जानन्तो विषमं कुर्युरस्मास्वत्यन्तवैरिणः। युक्तचाराश्च युक्ताश्च पौरस्य

को, धर्मराजके मांगनेपर धर्मदेवने वरदान दिया, कि तुम तेरहवें वर्षमें छुपकर अज्ञातवास करोगे अर्थात् तेरहवें वर्षमें तुम्हें कोई भी मनुष्य नहीं पहिचान सकेगा पिताकी इस आज्ञाको शिरपर चढ़ाकर पाण्डव अपने आश्रममें आगये ॥ १ ॥ फिर उत्तम प्रकार के व्रत करने वाले विद्वान् वनमें अपने साथ रहनेवाले तथा अपने ऊपर भक्ति करनेवाले जो तपस्वी थे उनके पास गुप्तवास करनेकी आज्ञा मांगनेको गये और व्रतधारी महात्मा पाण्डव दोनों हाथ जोड़कर उन तपस्वियोंसे कहनेलगे, कि—॥ २ ॥ ३॥ धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कपट करके हमारा राजपाट हरलिया है तथा बड़े अन्याय किये हैं, सो सब आप जानते ही हैं ॥ ४ ॥ हम बारह वर्षतक दुःखदायक वनमें दुःख भोगते हुए रहे हैं अब हमारे छुपकर रहनेका तेरहवां वर्ष आलगा है, इसलिये हम इस तेरहवें वर्षमें छुपकर रहेंगे, इसलिये आपको छुपकर निवास करनेकी आज्ञा हमें देना चाहिये, दुष्टात्मा दुर्योधन, कर्ण और शकुनि हमारे कट्टर वैरी हैं, उन्होंने बहुतसे दूत हमारे पीछे लगादिये हैं और वे अपने आप भी सावधान रहते हैं इसलिये यदि वे इस बातको जानजायँगे, कि—हम अमुकका आश्रय लेकर अमुक

स्वजनस्य च॥ ७॥ अपि नस्तद्भवेद्भूयो यद्वयं ब्राह्मणैः सह। समस्ताः स्वेषु राष्ट्रेषु स्वराज्यस्था भवेमहि ८ वैशम्पायन उवाच। इत्युक्त्वा दुःखशोकार्तः शुचिर्धर्मसुतस्तदा। संमूर्च्छितोऽभवद्राजा साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥ तमथाश्वासयन् सर्वे ब्राह्मणा भ्रातृभिः सह। अथ धौम्योऽब्रवीद्वाक्यं महार्थं नृपतिं तदा॥ १० ॥ राजन् विद्वान् भवान् दान्तः सत्यसन्धो जितेंद्रियः। नैवंविधाः प्रमुह्यंते नराः कस्याञ्चिदापदि॥ ११ ॥ देवैरप्यापदः प्राप्ताश्छन्नैश्च बहुशस्तथा। तत्र तत्र सपत्नानां निग्रहार्थं महात्मभिः ॥ १२ ॥ इंद्रेण निषधान् प्राप्य गिरिप्रस्थाश्रमे तदा। छन्नेनोष्य कृतं कर्म द्विषतांश्च विनिग्रहे ॥ १३ ॥ विष्णुनाश्वशिरः प्राप्य तथादित्यां

स्थान पर रहते हैं तो हमे आश्रय देनेवाले पुरवासियोंका और हमारे कुटुंबियोंका बुरा करनेमें वे कुछ कमी नहीं करेंगे, इस लिये हमें इस देशको छोड़कर दूसरे देशमें जाना आवश्यक है, क्या कभी फिर भी हम सब इकहे होकर ब्राह्मणोंके साथ अपने देशके राज्यमें आनन्दसे रहेंगे ? ॥ ५-८ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! शुद्ध स्वभावके धर्मपुत्र युधिष्ठिर इसप्रकार कहकर दुःख और शोकसे आतुर होतेहुए गद्गद कण्ठके साथ मूर्छित होगये ॥ ९ ॥ उस समय भाइयोंने और ब्राह्मणोंने राजा युधिष्ठिरको धीरज देकर शान्त किया और फिर धौम्यने उस समय राजा युधिष्ठिरसे बड़े २ अर्थभरे वचन कहना आरंभ किये॥१०॥ उन्होंने कहा, कि—हे राजन् ! तुम मनको वशमें रखने वाले, सत्यप्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय हो, अतः तुमसरीखे विद्वान् पुरुष चाहे तैसी विपत्तिमें भी नहीं घबड़ाते हैं ॥११॥ बड़े २ देवताओंने भी अनेकोंवार आपत्तियें भोगी हैं, और शत्रुओंका निग्रह करनेके लिये वे छुपे वेशमें रहे हैं ॥१२ ॥ इन्द्र शत्रुओंका निग्रह करनेके लिये निषध देशमें जाकर गिरिप्रस्थाश्रममें छुपकर रहा था और तहां रहकर उसने अपना काम सिद्ध किया था॥१३॥ विष्णु वामन

निवत्स्यता । गर्भे वधार्थं दैत्यानामज्ञातेनोषितं चिरम् ॥ १४ ॥ प्राप्य वामनरूपेण प्रच्छन्नं ब्रह्मरूपिणा । बलेर्यथाहृतं राज्यं विक्रमैस्तच्च ते श्रुतम् ॥ १५ ॥ हुताशनेन यच्चापः प्रविश्य च्छन्नमासता । विबुधानां कृतं कर्म तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ १६ ॥ प्रच्छन्नश्चापि धर्मज्ञ हरिणारिविनिग्रहे । वज्रं प्रविश्य शक्रस्य यत् कृतं तच्च ते श्रुतम् ॥ १७ ॥ और्वेण वसताच्छन्नमूरौ ब्रह्मर्षिणा तदा । यत् कृतं तात देवेषु कर्म तत्तेऽनघ श्रुतम् ॥ १८ ॥ एवं विवस्वतातात च्छन्नेनोत्तमतेजसा । निर्दग्धा शात्रवाः सर्वे वसता भुवि सर्वशः ॥ १९ ॥ विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै । दशग्रीवो हतश्छन्नं संयुगे भीमकर्मणा ॥ २० ॥ एवमेव महात्मा

अवतार रूपसे अदितिके गर्भमें निवास करनेसे पहिले हयग्रीवका अवतार धारण करके दैत्योंका नाश करनेके लिये बहुत वर्षों तक छुपेरहे थे ॥ १४ ॥ और फिर ब्राह्मणरूप बौनेके आकारमें छुपे रहकर राजा बलिके यज्ञमें गये थे और तहाँ तीन पग भूमि माँगकर राजा बलिका राज्य हरलिया था, यह बात तुमने सुनी होगी ॥ १५ ॥ और अग्निने पानीमें छुपे रहकर देवताओंका जो काम किया था वह सब भी तुमने सुना ही होगा ॥ १६ ॥ और हे धर्मराज युधिष्ठिर ! हरिने शत्रुओंको दण्ड देनेके लिये छुपकर इन्द्रके वज्रमें प्रवेश करके जो काम किया था वह काम भी तुमने सुना ही है ॥ १७ ॥ हे तात निर्दोष राजन् ! ब्रह्मर्षि और्वने माताकी सांथलमें छुपी रीतिसे निवास करके देवताओंके लिये जो काम किया था वह भी उसने सुना ही है ॥ १८ ॥ हे तात इसप्रकार ही उत्तम तेजवाले सूर्यने छुपी रीतिसे पृथ्वीके सब भागोंमें निवास करके सब शत्रुओंको जलाकर भस्म करडाला था ॥ १९ ॥ तथा भयंकर कर्म करनेवाले विष्णुने दशरथके घर छुपी रीतिसे रहकर युद्धमें दश शिरवाले रावणका नाश किया था ॥ २० ॥ इसप्रकार बहुतसे महात्माओंने अनेकों स्थानोंमें

नः प्रच्छन्नास्तत्र तत्र ह । अजयञ्छात्रवान् युद्धे तथा त्वमपि जेष्यसि ॥ २१ ॥ तथा धौम्येन धर्मज्ञो वाक्यैः संपरितोषितः । शास्त्रबुद्ध्या स्वबुद्ध्या च न चचाल युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥ अथाब्रवीन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः । राजानं बलिनां श्रेष्ठो गिरा संपरिहर्षयन् ॥ २३ ॥ अवेक्षया महाराज तव गाण्डीवधन्वना । धर्मानुगतया बुध्या न किञ्चित् साहसं कृतम् ॥ २४ ॥ सहदेवो मया नित्यं नकुलश्च निवारितौ । शक्तौ विध्वंसने तेषां शत्रूणां भीमविक्रमौ ॥ २५ ॥ न वयं तत् प्रहास्यामो यस्मिन् योक्ष्यति नो भवान् । भवान् विधत्तां तत्सर्वं क्षिप्रं जेष्यामहे रिपून् ॥२६॥ इत्युक्ते भीमसेनेन ब्राह्मणाः परमाशिषः । प्रयुज्यापृच्छ्य

छुपे रहकर युद्धमें शत्रुओंका पराजय किया है, तैसे ही तुम भी शत्रुओंका पराजय करोगे ॥ २१ ॥ इसप्रकार धौम्यने अनेकों वाक्य कहकर धर्मराजको अच्छे प्रकारसे सन्तुष्ट किया, परन्तु धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिरने शास्त्रसे तथा अपनी बुद्धिसे विचार करके कपटसे शत्रुओंका नाश करना स्वीकार नहीं किया ॥ २२ ॥ तदनन्तर महाबली और महाबाहु भीमसेन राजा युधिष्ठिरको वाणीसे सन्तुष्ट करता हुआ इसप्रकार बोला, कि—॥ २३ ॥ हे महाराज ! गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुनने आपकी देखभालके कारणसे तथा धर्मानुकूल बुद्धिके कारणसे कुछ भी साहसका काम नहीं किया है ॥ २४ ॥ तथा भयानक पराक्रम वाले सहदेव और नकुल शत्रुओंका नाश करसकते हैं, तो भी उन दोनोंको मैं सदा रोकता रहा हूं ॥ २५ ॥ मेरे कहनेका सार यह है, कि—आप हमें जिस काममें लगावेंगे, उस कामको हम नहीं छोड़ेंगे, किंतु अन्ततक करेंगे, इसलिये आप उस सब काम का आरम्भ करिये, हम एक झपाटेमें सब शत्रुओंका नाश कर डालेंगे॥२६॥ भीमसेनके इसप्रकार कहनेके अनन्तर सब ब्राह्मण भरतवंशके पुत्र पाण्डवोंको उत्तम आशीर्वाद दे, उनकी संमति

भरतान् यथा स्वान् स्वान् ययुर्गृहान् ॥ २७ ॥ सर्वे वेदविदो मुख्या यतयो मुनयस्तथा। आसेदुस्ते यथान्यायं पुनर्दर्शनकांक्षया ॥ २८ ॥ सह धौम्येन विद्वांसस्तथा पञ्च च पाण्डवाः। उत्थाय मययुर्वीराः कृष्णामादाय धन्विनः ॥ २९ ॥ क्रोशमात्रमुपागम्य तस्माद्देशान्निमित्ततः। श्वोभूते मनुजव्याघ्राश्छन्नवासार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥ पृथक् शास्त्रविदः सर्वे सर्वे मन्त्रविशारदाः। सन्धि-विग्रहकालज्ञा मन्त्राय समुपाविशन् ॥ ३१ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वण्यरण्येयपर्वण्यज्ञातवासमंत्रणे पंचदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१५ ॥

॥ आरण्येयपर्व समाप्तम् ॥

समाप्तञ्च वनपर्व.

लेकर अपने २ घर चलेगये ॥ २७ ॥ और सब वेदोंको जानने वाले मुख्य २ यति और मुनि भी पाण्डवोंका फिर दर्शन करने की इच्छासे उनको यथोचित आशीर्वाद देकर तहाँसे अपने स्थान को विदा होगये, फिर शूरवीर विद्यावान् पाँचों पाण्डव भी धनुष धारण करके खड़ेहुए और द्रौपदीको लेकर धौम्यके साथ उस वनमेंसे चलदिये ॥ २९ ॥ मनुष्योंमें सिंहसमान बलवान् वे सब पाण्डव शास्त्रके ज्ञाता, राजकीय विचारमें कुशल और संधि तथा विग्रहके समयको जाननेवाले थे, वे दूसरे दिनसे ही अज्ञात वास करनेको तत्पर होगये थे, अतः उसके विषयमें गुप्तविचार करनेके लिये उस स्थानसे एक कोस दूर आ इकट्ठे होकर बैठे ॥ ३० ॥ ३१ ॥ तीनसौ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३१५ ॥

श्रीमहाभारतका वनपर्व, मुरादाबादनिवासी भारद्वाजगोत्र गौड़वंश्य पण्डित भोलानाथात्मज-ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा द्वारा सम्पादित हिन्दी भाषानुवाद सहित समाप्त.

इति वनपर्व समाप्त.